वैदिक साहित्य, संस्कृति और समाजदर्शन

(डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के व्यक्तित्व और कृतित्व का प्रामाणिक विवेचन)

प्रकाशक

स्वामी श्रद्धानंद अनुसंधान प्रकाशन केंद्र

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वैदिक साहित्य, संस्कृति और समाजदर्शन

संरक्षक

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

कुलाधिपति

श्री सोमनाथ मरवाह, एडवोकेट

परिद्रष्टा

प्रेरक

प्रो० रामचन्द्र शर्मा

कुलपति

दिशा-दर्शक

पद्मभूषण डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन'

पद्मभूषण श्री अमृतलाल नागर

डा० प्रभात शास्त्री □ डा० नित्यानंद शर्मा

श्री र० शौरिराजन □ डा० सरगू कृष्णमूर्ति

सम्पादक

डा० विष्णुदत्त राकेश

हिन्दी विभागाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

अनुक्रमणिका

प्रचेता के स्वर

शुभकामनाएँ और स्नेहांजलियाँ

प्रज्ञालोक

जीवन-यात्रा

आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार प्रणीत ग्रंथों का परिचय

पंडित सत्यव्रत का लेखन-परिदृश्य

आर्यसमाज : साहित्यिक परिदृश्य

गुरुकुल के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द

गुरुकुल के आधार स्तम्भ

दायें से—**प्रो॰** रामचन्द्र शर्मा, कुलपति, **श्री** सोमनाथ मरवाह, परिद्रष्टा,

पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार तथा श्री बलभद्र कुमार हुजा पूर्व कुलपति

अर्चना के स्वर

मंगलायतन

ॐ इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय।
त्वामवस्युराचके॥

—यजुर्वेद २१/१

पदार्थ : हे (वरुण) उत्तम विद्यावान् जन ! जो (अवस्यु) अपनी रक्षा की इच्छा करनेहारा मैं (इमम्) इस (त्वाम्) तुझको (आ, चके) चाहता हूँ वह तू (मे) मेरी (हवम्) स्तुति को (श्रुधि) सुन (च) और (अद्य) आज मुझको (मृडय) सुखी कर।

भावार्थ : सब विद्या की इच्छा वाले पुरुषों को चाहिए कि अनुक्रम से उपदेश करने वाले बड़े विद्वान् की इच्छा करें, वह विद्यार्थियों के स्वाध्याय को सुन और उत्तम परीक्षा करके सबको आनन्दित करे।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

ॐ प्राग्नये वाचमीरय, वृषभाय क्षितीनाम् ।
स नः पर्षद् अतिद्विषः ।।

—ऋक् १०/१८७/१

आओ, गायें मंगल गान।
जिसकी महिमा देख अचभित विश्वमौन, मानो निष्प्राण।
अर्धचेतना अर्धज्ञान मे शिशु सा बनकर के अनजान ।।
आओ, गाये उसका गान।

जो देता केवल देता है, सबकी नाव सदा खेता है।
जिसके स्मरण मात्र से सारे द्वेषों का होता अवसान ।।
आओ, गाये उसका गान।

जिसका अमृतमय जल पीकर, ज्योतिर्मय रविचन्द्र दिवाकर।
महामहिम उस वृषभ अग्नि से ही सब पाते है हम प्राण ।।
आओ, गायें उसका गान।

ॐ एह्यूषु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः ।
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ।।

—यजु० २६/१३

ज्योति अभिनन्दन तुम्हारा।

आज नयनो के छलकते अश्रुओ से—
ही करूँगा मौन मैं वन्दन तुम्हारा।

गीत मेरे थम गए हैं,
गान में अक्षम हुए हैं।

हे हृदयवासी निकट अपने बुलाओ,
कर सकूँ जिससे कि पद-वन्दन तुम्हारा ।।

—सत्यकाम विद्यालंकार

चिति-कण

विश्वदेव, सविता या पूषा
सोम, मरुत, चंचल पवमान,
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन मे अम्लान ?

हे अनन्त रमणीय, कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो, क्या हो, इसका तो
भार विचार न सह सकता।

—जयशंकर प्रसाद

सुपथ, अग्नि, हमको दिखलाओ,
वह्नि, विश्व-सत्यो की ज्ञाता।
ऊर्ध्व-दृष्टि अंतस्थ अभीप्से,
जीवन यज्ञ शिखे, विख्याता।

—सुमित्रानन्दन पंत

सत्य महत, संकल्प, यज्ञ, तप, ज्ञान अचल ऋत,
जिस पृथिवी को धारण करते रहते अविरत,
भूत और भवितव्य हमारा जिससे अधिकृत,
वह धरती दे हमें लोक-हित आँगन विस्तृत।

—महादेवी वर्मा

प्रभा-निर्झर

ॐ यस्येमे हिमवन्तो महित्वा, यस्य समुद्ररसया सहाहुः
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

—ऋक् १०, १२१, ४

हिम से ढके शिखर करते हैं, नित जिसकी महिमा का गान,
नील जलधि की तरल तरंगें, करती जिसका शौर्य बखान,
अन्तहीन अनिमेष दिशाएँ, लगती जिसकी भुजा समान,
हरित धरा दर्पण मे बिम्बित, जिसकी मधुरजित मुस्कान,
सृष्टि मूल मे विद्यमान जो, रहा प्रकृति सँग ज्योतिर्मान,
उसी ब्रह्म की सेवा मे हम, करते श्रद्धा हविष प्रदान,

ॐ यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।

—अथर्व० १०, ७, ३२

यह धरणी जिसके विशाल पग, अन्तरिक्ष है उदर समान,
व्योम विटप फल तारक मण्डित द्यु जिसका मणिमुकुट महान,
अनल, अनिल, सविता से होती, जिसके नयनो की पहचान,
भूत, भविष्यत्, वर्तमान का अधिष्ठान, अमृत की खान,
ऋषि-मुनियो की योगभूमि पर, करता जो करुणा निक्षेप,
नमस्कार उस ज्येष्ठ ब्रह्म को, जो है निराकार निर्लेप।

—विष्णुदत्त राकेश

वैदिक साहित्य संस्कृति और समाजदर्शन

प्ररोचना

प्रो० वेदव्यास
प्रधान, डी० ए० वी० कालेज मैनेजिंग कमेटी
एवं
आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, पंजाब

यह ग्रंथ डॉ० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार के प्रति गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के संचालकों का आभार प्रदर्शित करने के लिए प्रकाशित किया जा रहा है, परन्तु मेरी सम्मति मे इस आभार प्रदर्शन में सम्पूर्ण आर्य-जगत् सम्मिलित है, जिसमे आर्यसमाजों द्वारा संचालित सब गुरुकुल तथा उनकी शाखाएँ एवं डी० ए० वी० मैनेजमेंट द्वारा संचालित सब शिक्षा-संस्थाएँ अपने को धन्य मान रही हैं। मेरा निजी सम्बन्ध विशेष तौर पर डी० ए० वी० मैनेजमेंट से माना जाता है, परन्तु मैं अपने-आपको गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली से उतना ही निकट का मानता हूँ, जितना डी० ए० वी० शिक्षा प्रणाली के साथ। क्योंकि मैं दोनों के साथ निकटता के सम्बन्ध से बँधा हूँ, शायद इसीलिए इस अभिनन्दन-ग्रंथ के निर्माताओं ने मुझसे इसकी भूमिका लिखने का आग्रह किया है।

मैं डॉ० सत्यव्रत जी तथा उनके क्रिया-कलाप को तीन दृष्टियों से देखता हूँ। पहली दृष्टि उनके प्रारंभिक जीवन एवं वैयक्तिक जीवन की है; दूसरी दृष्टि में उन्होंने गुरुकुल को स्वावलम्बी बनाने में जो कार्य किया; तीसरी दृष्टि में उन्होंने गुरुकुल को वर्तमान शिक्षा-संस्थाओ के समकक्ष खड़ा करने मे जो प्रयास किया जिससे उन्होने गुरुकुल विश्वविद्यालय को अन्य सरकारी विश्वविद्यालयों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर खड़ा करने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकरण में मैं उक्त तीनों दृष्टियो पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करूँगा।

डॉ० सत्यव्रत जी का प्रारंभिक जीवन

डॉ० सत्यव्रत जी ५ मार्च १८९८ में एक कर्मठ आर्यसमाजी के यहाँ उत्पन्न हुए। उनका जन्म ऐसे युग में हुआ जब आर्यसमाज अपने उच्च शिखर पर था। परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत साधारण थी, परन्तु महात्मा मुंशीराम के आशीर्वाद से, जो आगे चलकर स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से विख्यात हुए, उन्होंने गुरुकुल शिक्षा समाप्त की। उनकी जीवन-कथा जो पढ़ेंगे उन्हें ज्ञात हो जाएगा कि मानव-जीवन किन ऊँचाइयों तथा नीचाइयों में से गुजरता हुआ कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है। सत्यव्रत जी ने जीवन में बहुत उतराव तथा चढ़ाव देखे, परन्तु अन्त में वे अपने उद्योग से शैक्षणिक तथा राष्ट्रीय उस शिखर पर पहुँच गए जो किसी भी युवक का लक्ष्य हो सकता है।

सत्यव्रत जी सात-आठ साल की आयु में गुरुकुल काँगड़ी में प्रविष्ट हुए, १४ साल वहाँ तपस्या तथा ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुए सब शास्त्रों का वर्तमान विज्ञान के साथ अध्ययन करते हुए स्नातक बने, फिर २० वर्ष तक दयानन्द-सेवा-सदन के सदस्य होकर गुरुकुल की निर्वाह मात्र पर सेवा करते हुए वहाँ से निवृत्त हुए। इस सेवा-काल के अन्तिम दिनों में ये छः साल तक गुरुकुल के कुलपति भी रहे।

डॉ० सत्यव्रत जी की विद्वत्ता को आर्य-जगत् ने ही नहीं, आर्य-जगत् से बाहर के समाज ने भी पहचाना। उन्होंने वेदों, उपनिषदों, संस्कारों तथा गीता आदि पर जो ग्रंथ लिखे उन सब पर आर्यसमाजों तथा भिन्न-भिन्न

संस्थाओं ने उन्हें सम्मानित किया। उनकी वैदिक विद्वत्ता का सम्मान करते हुए राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने उन्हें राज्य-सभा का सभासद मनोनीत किया, और राष्ट्रपति श्री रेड्डी ने उन्हें आजीवन ५,००० रुपये की प्रतिवर्ष भेंट देने की योजना को क्रियान्वित किया। इस अरसे में उन्होंने हिन्दी तथा अंग्रेजी में जो ग्रंथ लिखे, उन्हें आर्यसमाज की विभूति कहा जा सकता है, वे आर्य-विचारों की स्थिर निधि रहेंगे। उनका कोई ग्रंथ ऐसा नहीं जिसे विद्वत् समाज से मान्यता न प्राप्त हुई हो। उन्होंने वेदों, उपनिषदों, संस्कारों आदि पर जो ग्रंथ लिखे उनकी संख्या ४० तक पहुँच गई है। उनके ग्रंथ हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं में हैं, अनेक का अन्य भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है।

डॉ० सत्यव्रत जी की गुरुकुल को स्वावलम्बी बनाने की योजना

गुरुकुल को आर्थिक दृष्टि से पं० सत्यव्रत जी का योगदान रहा है—यह मैं पहले लिख चुका हूँ। इस विषय की चर्चा करते हुए 'आर्यसमाज का इतिहास' के लेखक डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार उक्त पुस्तक के पृष्ठ ३४८ पर लिखते हैं—"सन् १९३५ से १९४२ तक पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार गुरुकुल के प्रमुख पदाधिकारी व संचालक रहे। गुरुकुल के इतिहास में यह काल बड़े महत्त्व का है। उस समय गुरुकुल का खर्च चलाने के लिए प्रधानतया दान पर निर्भर रहना पड़ता था, और दान को चन्दे द्वारा ही प्राप्त किया जाता था। केवल गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता व आचार्य ही नहीं, अपितु प्राध्यापक व अन्य कर्मचारी भी प्रतिवर्ष चन्दे के लिए जाया करते थे, और वार्षिकोत्सव के आधार पर जो धन एकत्र हो जाए, उसी से गुरुकुल का खर्च चलता था। स्थायी निधि में धन की बहुत कमी थी। चन्दा करना कितना कष्टसाध्य है, इसे पण्डित सत्यव्रत भली भाँति जानते थे, क्योंकि वह भी धन एकत्र करने के लिए जाया करते थे। उन्होंने प्रयत्न प्रारम्भ किया, कि किसी प्रकार आर्थिक दृष्टि से गुरुकुल स्वावलम्बी बन जाए, और अपने खर्च के लिए उसे चन्दे पर निर्भर न करना पड़े। उनका ध्यान गुरुकुल फार्मेसी की ओर गया। आयुर्वेद की शिक्षा गुरुकुल में सन् १९१९ में शुरू हो चुकी थी, और विद्यार्थियों को औषधि-निर्माण का क्रियात्मक ज्ञान देने के लिए शास्त्रोक्त विधि से आयुर्वेदिक दवाइयाँ भी बनायी जाने लगी थीं। गुरुकुल फार्मेसी द्वारा निर्मित दवाइयों की बहुत माँग थी, क्योंकि लोगों को उनकी शुद्धता पर विश्वास था। गुरुकुल का अपना प्रिंटिंग प्रेस भी था, और प्रकाशन विभाग भी। उन दिनों गुरुकुल महाविद्यालय में रसायनशास्त्र के प्राध्यापक प्रो० फकीरचन्द नेहन थे, जिन्हें औद्योगिक रसायन (Industrial Chemistry) में बहुत रुचि थी। वह सियाही, फिनाइल और साबुन आदि अपने विद्यार्थियों से बनवाया भी करते थे। पण्डित सत्यव्रत ने विचार किया कि यदि आयुर्वेदिक फार्मेसी, प्रिंटिंग प्रेस, पुस्तक प्रकाशन और रासायनिक उत्पादन को समुन्नत करने का प्रयत्न किया जाए, तो इनसे इतनी आमदनी प्राप्त की जा सकती है कि गुरुकुल का सब खर्च चलने लगे और चन्दा माँगने की आवश्यकता न रह जाए। उन्होंने फार्मेसी की उन्नति पर विशेष रूप से ध्यान देने का निश्चय किया। इसी प्रयोजन से उन्होंने पृथक् व्यवसाय-पटल का संगठन किया, जिसके कारण फार्मेसी के अधिकारी सभा के अनावश्यक हस्तक्षेप के बिना समुचित स्वतंत्रता के साथ औषधियों की बिक्री बढ़ाने के लिए आवश्यक पग उठाने में समर्थ हो गए। पण्डित सत्यव्रत से प्रोत्साहन पाकर प्रोफेसर फकीरचन्द नेहन ने फिनाइल, सियाही आदि का बड़े पैमाने पर निर्माण प्रारम्भ किया। क्योंकि इनके निर्माण में शुद्धता और गुणों की उत्कृष्टता पर विशेष ध्यान दिया जाता था, अतः बाजार में इनकी माँग भी बढ़ने लगी, और अनेक म्युनिसिपैलिटियों, बैंकों तथा व्यापारिक संस्थानों ने अपनी आवश्यकता की पूर्ति गुरुकुल में बनी वस्तुओं से करनी प्रारम्भ कर दी। इसी प्रकार प्रेस एवं प्रकाशन विभाग की उन्नति पर भी पं० सत्यव्रत ने ध्यान दिया। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में, जब गुरुकुल ऐसे स्थान पर था जहाँ बिजली उपलब्ध नहीं थी, गुरुकुल मुद्रणालय में न केवल सद्धर्म-प्रचारक, श्रद्धा और वैदिक मैगजीन सदृश पत्र-पत्रिकाओं की ही छपाई की जाती थी, अपितु अनेक पुस्तकें भी उस द्वारा

छापी जाती थीं। महर्षि दयानन्द के पत्र, भौतिकी, रसायन, भारतवर्ष का इतिहास (तीन भाग), पुराण मत पर्यालोचन और आर्यभाषा पाठावली आदि कितनी ही पुस्तकें गुरुकुल के प्रेस में ही छपी थीं, और वहीं से प्रकाशित हुई थी। अब गुरुकुल ऐसे स्थान पर आ गया था, जहाँ बिजली आदि की सब सुविधाएँ थी, जिनके कारण प्रेस में उन्नत मशीनों को प्रयुक्त कर सकना भी संभव हो गया था। पण्डित सत्यव्रत चाहते थे कि गुरुकुल के प्रेस तथा प्रकाशन विभाग को इतना उन्नत कर दिया जाए, कि वे भी आमदनी के महत्वपूर्ण साधन बन जाएँ। रासायनिक उत्पादन, प्रिंटिंग प्रेस तथा प्रकाशन विभाग के विकास में पण्डित सत्यव्रत को विशेष सफलता नहीं मिली। रासायनिक उत्पादन विभाग तो कुछ समय बाद बन्द भी हो गया। पर आयुर्वेदिक फार्मेसी की उन्नति व विकास में उन्हे बहुत सफलता प्राप्त हुई। सन् १९३९ मे फार्मेसी से गुरुकुल को १३,३४२ रुपयों का शुद्ध लाभ हुआ था, जो उस समय सात प्रोफेसरों के वेतन के लिए पर्याप्त था। बाद मे फार्मेसी से प्राप्त होने वाले मुनाफे की मात्रा में निरन्तर वृद्धि होती गयी। यह स्वीकार करना होगा, कि मुख्याधिष्ठाता के अपने सात साल के कार्यकाल में पं० सत्यव्रत ने आर्थिक दृष्टि से गुरुकुल को पर्याप्त रूप से आत्मनिर्भर बना दिया था।

डॉ० सत्यव्रत जी का गुरुकुल काँगड़ी को विश्वविद्यालय की समकक्ष मान्यता दिलाना

पं० सत्यव्रत जी ने १५ नवम्बर १९४१ को गुरुकुल से विदा ली थी। तदनन्तर ४ जून १९६० को दोबारा उन्हे सभा ने मुख्याधिष्ठाता का पद सँभालने की प्रार्थना की। १९६० से १९६६ के बीच छः साल मे उन्होंने जो कार्य किया उसमे से एक कार्य का उल्लेख पहले कर चुका हूँ। इस समय की उनकी दूसरी सबसे बड़ी देन गुरुकुल को सरकार द्वारा अन्य विश्वविद्यालयों के समकक्ष मान्यता दिलाना रहा। वैसे तो गुरुकुल के अधिकारी स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद १९४८ से ही गुरुकुल को अन्य विश्वविद्यालयों की तरह चार्टर्ड यूनीवर्सिटी बनवाने के प्रयास मे लगे थे, परन्तु वे इसमे सफल नहीं हुए। अंत में डॉ० सत्यव्रत जी के प्रयत्न से १९६२ में संस्था को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन) ने यूनीवर्सिटी की स्थिति की राष्ट्रीय महत्व की संस्था स्वीकार कर लिया। इस सम्बन्ध मे डॉ० सत्यव्रत जी ने जो प्रयत्न किया उसका उल्लेख स्वयं उन्होंने अपनी पुस्तक 'सत्य की खोज' (पृ० १९२) मे निम्न प्रकार किया है :

"इस समय मैंने जो विशेष कार्य किया वह गुरुकुल काँगड़ी को विश्वविद्यालय की मान्यता दिलाने का था। इस समय शिक्षा-मंत्री श्रीमाली थे। लोक-सभा के सदस्य श्री प्रकाशवीर शास्त्री थे। मैंने एक मैमोरैंडम छपवाकर पार्लियामेंट के सब सदस्यों के पास भेजा था जिसमें गुरुकुल की विशेषताओं को दर्शाते हुए पार्लियामेंट द्वारा गुरुकुल काँगड़ी को विश्वविद्यालय की मान्यता देने का आग्रह किया था। पार्लियामेंट के सदस्यों पर उसका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा था। इस प्रसंग में श्री प्रकाशवीर शास्त्री शिक्षा-मंत्री श्रीमाली से मिले और ज्वालापुर महाविद्यालय के लिए जिसके वे स्नातक थे अपील की। श्रीमाली जी ने मुझे तथा प्रकाशवीर जी को बुलाया और इस सम्बन्ध मे चर्चा की। मैंने कहा कि अगर प्रकाशवीर जी समझते हैं कि ज्वालापुर महाविद्यालय की ऐसी स्थिति है कि उसे विश्वविद्यालय घोषित कर दिया जाय तो मुझे कोई आपत्ति नहीं, मैं तो सिर्फ गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की सरकार द्वारा मान्यता चाहता हूँ। इस युक्ति पर प्रकाशवीर शास्त्री ढीले पड़ गए और सरकार ने तय किया कि एक नया बिल बनाया जाय जो उन संस्थाओं का निरीक्षण करे जिन्होंने स्वतंत्रता-युग में योगदान दिया है और उन्हें विश्वविद्यालय की मान्यता दी जाय और यूनीवर्सिटी-ग्रांट्स कमीशन द्वारा भरपूर सहायता दी जाय। इस उद्देश्य को सामने रखकर सरकार ने गुरुकुल काँगड़ी की मान्यता के सम्बन्ध में एक कमीशन बनाया जिसके प्रधान सुप्रीम कोर्ट के रिटायर्ड चीफ जज श्री पतंजलि शास्त्री थे और दो अन्य सदस्य थे—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा डॉ० बी० डी० शुक्ल। ये लोग गुरुकुल पधारे। मैं तथा पण्डित धर्मपाल जी विद्यालंकार जो मेरे सहायक थे उन्हें लेने स्टेशन पर गए। श्री पतंजलि शास्त्री से

मेरी बहुत देर तक बातचीत हुई । वे मुझसे पूछने लगे कि आप गुरुकुल के लिए विश्वविद्यालय की मान्यता क्यों चाहते हैं ? अगर कोई छात्र इतिहास, अर्थशास्त्र या कोई अन्य विषय पढ़ना चाहता है तो हिन्दू यूनीवर्सिटी चला जाय, मेरठ कॉलेज चला जाय, देहरादून में डी० ए० वी० कॉलेज में चला जाय, गुरुकुल की आप यूनीवर्सिटी के तौर पर क्यों मान्यता चाहते हैं ? मैंने उन्हें गुरुकुल के सम्बन्ध में बनी फिल्म दिखलाई जो पंडित इन्द्र जी के पुत्र जयन्त ने बनायी थी जिसमें विद्यार्थी गुरुकुलीय वेश में खड़ाऊँ पहने, डंडे हाथ में लिए गुरुकुल में प्रवेश के लिए गंगा के पुल पर से चले आ रहे थे । मैंने उन्हे कहा कि हम इतिहास आदि पढाने के लिए मान्यता नहीं चाहते, हम प्राचीन संस्कृति को आधुनिक युग में आधुनिक विज्ञान तथा चितन के साथ मिलाकर उसमें वैदिक संस्कृति का पुट देकर उसमें भारतीयता की भावना के साथ उसे स्थिर रखना चाहते हैं । हमारी संस्कृति नष्ट होती जा रही है, हम उस संस्कृति को इस संस्था द्वारा जीवित रखना चाहते हैं । मेरे इन विचारों का उन पर प्रभाव पड़ा और इस कमीशन ने जो रिपोर्ट दी उसके परिणामस्वरूप गुरुकुल काँगड़ी को १९६२ में विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त हो गयी ।"

यद्यपि गुरुकुल काँगड़ी को १९६२ में विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त हो गई थी और जो प्रोफेसर नियुक्त हुए थे उन्हें २,००० रुपये प्रतिमास यूनीवर्सिटी के ग्रेड मिलने लगे थे तथापि डॉ० सत्यव्रत जी ने, जो वाइस चांसलर की हैसियत से अपने पद के लिए स्वीकृत ग्रेड ले सकते थे, उन्होंने अपने कुलपतित्व काल में न तो अपने रहने का मकान बदला और न किसी प्रकार का वेतन लिया । अपने इन छह सालों मे गुरुकुल की निर्वेतन सेवा करते रहे । प्रो० सत्यव्रत जी के लिए यह गौरव की बात है कि जिस संस्था मे उन्होंने अपना जीवन बिताया, उसके पहले 'दयानन्द-सेवा-सदन' का सदस्य होकर, और बाद को छः साल तक वहाँ के कुलपति रह-कर संस्था की निःस्वार्थ सेवा की, उस संस्था की निःस्वार्थ सेवा की जिसे उन्होंने विश्वविद्यालय के स्तर की सरकार द्वारा प्रमाणित संस्था बनवाया और जिसके प्रोफेसरों को अन्य विश्वविद्यालयों की तरह सरकारी वेतन दिये जाने लगे ।

डॉ० सत्यव्रत जी का गुरुकुल के सम्बन्ध में स्वप्न

डॉ० सत्यव्रत जी ने गुरुकुल को विश्वविद्यालय की मान्यता दिलवाने में अधिक कार्य किया, परन्तु जिस उद्देश्य को लेकर वे चले थे वह उन्ही के शब्दों में पूरा न हो सका । जब गुरुकुल को विश्वविद्यालय की मान्यता दिलाने वाला सरकारी कमीशन गुरुकुल को देखने आया, तब कमीशन के चेयरमैन श्री शास्त्री ने उनसे पूछा था कि आप गुरुकुल को विश्वविद्यालय की मान्यता दिलाना क्यों चाहते हैं ? प्रोफेसर साहब ने उत्तर दिया था कि हम इसे सांस्कृतिक केन्द्र बनाना चाहते हैं । वैदिक संस्कृति, जो विदेशी शिक्षा से लुप्तप्राय होती जा रही है वह वर्तमान वैज्ञानिक शिक्षा के साथ-साथ जीवित रहे—हम यह चाहते हैं । प्रोफेसर सत्यव्रत जी का कथन है कि उनका वह स्वप्न पूरा नहीं हुआ । गुरुकुल उसी रास्ते पर चल पड़ा है जिस पर अब तक की सब शिक्षा-संस्थाएँ चल रही हैं । इसका वे क्या हल चाहते हैं ?

प्रोफेसर सत्यव्रत जी का कथन है कि गुरुकुल-प्रणाली की शिक्षा तभी सफल हो सकती है जब गुरुकुल की नींव से उसे सुधारा जाय, नींव को सींचा जाय । गुरुकुल की नींव वे बालक हैं जो बचपन में यहाँ विद्याध्ययन के लिए आते हैं । वे बालक विद्याध्ययन करते-करते जब उच्च कक्षाओं मे आयेंगे तब वे गुरुकुल की संस्कृति से ओत-प्रोत होंगे । तब हमें बाहर से छात्र भरती करने की आवश्यकता न होगी, उच्च कक्षाओं में वही छात्र भर्ती होंगे जो बचपन से गुरुकुल में प्रविष्ट हुए होंगे । इसलिए गुरुकुल को विश्वविद्यालय की मान्यता का, या सरकार से गुरुकुल के लिए आर्थिक सहायता लेने का यह अभिप्राय कभी नहीं था कि हम अन्य शिक्षा-संस्थाओं की तरह इस संस्था को भी वैसा ही रूप दे दें जो चालू संस्थाओं का है । गुरुकुल का अर्थ सिर्फ एक शिक्षा-संस्था ही नहीं है, गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की एक दिशा है, यह मौन्टेसरी, प्रोजेक्ट सिस्टम या तालीमी शिक्षा-

पद्धति की तरह प्राचीन काल से चली आ रही वैदिक शिक्षा-प्रणाली है। हमें उसी को जीवित रखना है, इसे चालू शिक्षा-पद्धति का डुप्लीकेट बनाना नहीं है। इस उद्देश्य से वे यू० जी० सी० के कर्णधारों से सदा कहते रहे हैं कि बी० ए०, एम० ए०, पी-एच० डी० या डॉक्टरेट के स्टाफ रखने तथा उनको वेतन देने की जगह उन्हें गुरुकुल की नींव को दृढ़ करने के लिए आर्थिक सहायता दी जाय ताकि बचपन में गुरुकुल के आदर्शों से पले बालक ही गुरुकुल के कालेजों में आयें और गुरुकुल के बाहर से विद्यार्थी भरने न पड़े। सत्यव्रत जी का कहना है कि इन्हीं भावनाओं को लेकर उन्होंने प्रारम्भ से प्रयत्न किया था। वैदिक शिक्षा-प्रणाली का जो धीरे-धीरे लोप होता जा रहा है उस पर वे प्राचीन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली को सरकार द्वारा धन प्राप्त कर रोक लगाना चाहते थे, जो उनकी दृष्टि में पूरी नहीं हो रही है। उनका गुरुकुल के सम्बन्ध मे जो सपना था, और अब तक बना हुआ है, जिस सपने को साकार बनाने का वे प्रयत्न करते रहे, वह यही था कि गुरुकुल एक ऐसी संस्था बन जाये जिसमे अध्यापक तथा विद्यार्थी पुरातन तथा आधुनिक विद्याओ मे निष्णात हो, जिनका जीवन सदाचारमय हो, जो वैदिक संस्कृति तथा संस्कारो मे सराबोर हों, जो प्राचीन तथा अर्वाचीन का मेल हो। यही बात उन्होंने उस कमीशन के सामने रखी थी जो गुरुकुल को सरकारी मान्यता देने की सिफारिश करने के लिए यू० जी० सी० द्वारा भेजा गया था।

प्रो० सत्यव्रत जी के सम्बन्ध मे यह जो अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है, उसकी भूमिका लिखने मे मैं अपने को धन्य मानता हूँ। मैंने अपने कुछ टूटे-फूटे शब्दो मे सत्यव्रत जी के विचारो को सक्षेप मे रखने का प्रयत्न किया है। मैं समझता हूँ कि मैंने उनकी गुरुकुल के प्रति जिन सेवाओं का उल्लेख किया है वे चिरस्मरणीय रहेगी और गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध मे उनके जिन विचारो का मैंने वर्णन किया है वे भारतीय शिक्षा-पद्धति का मार्गदर्शन करेंगे। मुझे आशा है कि प्रो० सत्यव्रत जी का गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में सपना, सिर्फ सपना बनकर नहीं रहेगा, वह समयान्तर मे कार्यान्वित होगा, और अपने देश के शिक्षाविशो के लिए वह मार्गप्रदर्शन करेगा।

आधुनिक गुरुकुल के निर्माता
पंडित सत्यव्रत सिद्धांतालंकार

प्रो० आर० सी० शर्मा
(अवकाश प्राप्त आई० ए० एस)
कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

समाज में प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति कम ही होते हैं और जो मिलते हैं वे प्रायः एकांगी प्रतिभा लिये होते हैं जैसे कोई विशिष्ट कला मे, कोई व्यापार में, कोई खेल में, तो कोई लेखन मे। लेकिन अनेक गुणो के पुज, अति उत्कृष्ट प्रतिभा वाले विरले ही होते हैं। वे विभिन्न क्षेत्रो मे कार्य करते हैं और सभी मे सफलता का मापदण्ड स्थापित करते हैं। असफलता जैसी चीज़ उनसे बहुत दूर रहती है। ऐसे व्यक्तियो के बारे मे कहा जाता है :

ऐ जज्बये दिल गर मैं चाहूँ हर चीज़ मुकाबिल आ जाये।
मंज़िल की तरफ दो गाम बढ़ूं दो गाम ही मंजिल रह जाये॥

ऐसी ही विविध प्रतिभाओं के प्रतीक हैं हमारे श्रद्धेय पंडित सत्यव्रत सिद्धांतालंकार।

छात्र जीवन में सभी परीक्षायें और वृताभ्यास उच्च श्रेणी मे उत्तीर्ण करके जब पंडितजी ने शिक्षक का कार्य प्रारम्भ किया तो प्रशासनीय कार्य के साथ-साथ इन्होंने विश्वविद्यालय स्तर के कई विषय पढ़ाये।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के मुख्याधिष्ठाता, कुलपति (दो बार) और परिद्रष्टा के पदो पर रहकर इन्होंने संस्था को उत्तरोत्तर उन्नति के शिखर पर पहुँचाया। इस संस्था को विश्वविद्यालयीय स्तर इनके कुलपतित्व में १९६३ में प्राप्त हुआ। इतना ही नही, कन्या गुरुकुल देहरादून, महादेवी कन्या पाठ-शाला, डिग्री कालेज देहरादून आदि कितनी ही शिक्षण संस्थाओं का भी इन्होंने सुचारु रूप से संचालन किया और उनको आगे बढ़ाया। शिक्षा के क्षेत्र मे तो मानो पंडित जी का एकाधिकार है। शिक्षा और प्रशासन की सामयिक समस्याओं का इन्होंने सदैव धैर्यपूर्वक तत्परता से, सीधा सामना किया और सुदृढ़ व्यवस्था स्थापित करने मे इन्हें कभी देर नहीं लगी।

नवीन और विचित्र परिस्थितियों में समायोजन करने की क्षमता पंडित जी में अद्वितीय है। कर्नल के सैनिक वेश में जब ये देहरादून के प्रसिद्ध परेड ग्राउण्ड में स्वतंत्रता और गणतंत्र दिवसों की परेडों की सलामी लेते और निरीक्षण करते तो इनका व्यवहार किसी भी रेगुलर आर्मी कर्नल से कम नहीं होता था और हर्षोल्लास में दर्शक करतल ध्वनि से वातावरण को गुंजायमान कर देते थे।

आप प्रसिद्ध स्वतंत्रता संग्राम सेनानी हैं। राज्यसभा का मनोनीत एम० पी० का आदरणीय पद १९६४ में जब भारतीय सरकार ने इन्हें अर्पित किया तो इन्होंने देश की समस्याओं के समाधान में सक्रिय योगदान ही नहीं दिया बल्कि निजी बिल भी पेश किये। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं पर समान अधिकार होने के कारण राज्य सभा में इनके भाषण अत्यन्त प्रभावकारी, तर्कपूर्ण और समस्या की वास्त-विकता को लिये होते थे। जब गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में डॉ० एस० राधाकृष्णन द्वारा अंग्रेजी में

दीक्षान्त भाषण दिया गया, साथ-साथ पंडित जी ने उसका अनुवाद हिन्दी मे बगैर रुके व बिना किसी त्रुटि के कर दिया तो उपस्थित व्यक्ति उनकी इस योग्यता और विद्वत्ता को देख दाँतों तले उँगली दबा गये।

लेखन के क्षेत्र में तो पंडित जी इतने सिद्धहस्त हैं कि जो भी विषय, चाहे वह कितना ही दुरूह और दूर का हो, इन्होंने उठाया वही सरलता और पूर्णता को प्राप्त कर गया। यही कारण है कि शिक्षा के क्षेत्र में समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र और ब्रह्मचर्य पर उनकी लिखी पुस्तकें विश्वविद्यालय के छात्रों का मार्गदर्शन करती हैं। दर्शन और आर्यसमाज के क्षेत्र में वेद, उपनिषद और गीता की पुस्तकें जिज्ञासुओं की ज्ञानपिपासा को संतुष्ट करती हैं, चिकित्सा के क्षेत्र में डॉक्टरों का निर्देशन करती हैं होमियोपैथिक की विशाल पुस्तकें और पारिवारिक क्षेत्र में वृद्ध व्यक्तियों को शक्ति और क्षमता प्रदान करती हैं बूढ़ों के लिये लिखी पुस्तकें। इन पुस्तकों की सर्वप्रियता और रोचकता इससे प्रकट होती है कि अधिकांश पुस्तकों के संस्करण अंग्रेजी, हिन्दी और अन्य भाषाओं में उपलब्ध हैं। आपने बहुत पुस्तकें लिखी हैं जो वेद, दर्शन, उपनिषद, समाजशास्त्र, समाज-कल्याण और सुरक्षा, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र, शिक्षा, ब्रह्मचर्य, होमियोपैथी, बुढ़ापा, आर्य संस्कृत, बालकल्याण, आर्यसमाज आदि विस्तृत विषयों पर हैं।

उच्च कोटि के विद्वान होने के नाते भारतीय संस्कृति, वेद और आर्यसमाज पर भाषण देने के लिये आपको हालैण्ड, बेल्जियम, जर्मनी, इंग्लैंड, नैरोबी आदि देशों में आमंत्रित किया गया और वहाँ वे अपनी चहुँमुखी प्रतिभा की अमिट छाप छोड़ कर आये।

मान्य पंडित जी की अद्‌भुत प्रतिभाओं के लिये देश-विदेश की विभिन्न सरकारी और सामाजिक संस्थाओं ने इन्हें तरह-तरह से सम्मानित किया जिनमें से मुख्य इस प्रकार हैं—मंगलाप्रसाद पारितोषिक १९६०, पंजाब सरकार द्वारा सम्मानित १९६२, गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार १९७६, उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा सम्मानित १९७७, इन्टरनेशनल आर्यन कान्फ्रेंस नैरोबी मे सभापतित्व १९७८, दिल्ली प्रशासन द्वारा सम्मानित १९७८, सर्वेन्ट्स आफ पीपुल्स सोसायटी नई दिल्ली द्वारा सम्मानित १९७९, रामकृष्ण हजारीमल डालमिया पुरस्कार १९८०, भारतीय विद्याभवन द्वारा सम्मानित १९८१, कान्स्टीट्यूशन क्लब दिल्ली द्वारा सम्मानित १९८२, राष्ट्रपति भारत सरकार द्वारा रु० ५,०००/- की वार्षिक राशि से जीवनभर के लिये सम्मानित १९८१, लुधियाना आर्यसमाज द्वारा सम्मानित १९८५, डी० ए० वी० कालेज ट्रस्ट द्वारा सम्मानित १९८७ इत्यादि।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि श्रद्धेय पंडित सत्यव्रत सिद्धांतालंकार सर्वतोमुखी अति उत्कृष्ट प्रतिभाओं के प्रतीक हैं और आशा ही नही पूर्ण विश्वास है कि आगे आने वाले समय मे उन्हे और अधिक मान-सम्मान मिलेगा। गुरुकुल के लिये तो इनके इतने योगदान हैं कि गुरुकुल सदैव इनका ऋणी रहेगा। जब भी संकट के बादलों ने गुरुकुल को आच्छादित किया है तभी पंडित जी ने अपनी, शक्ति और क्षमता से उसकी रक्षा की और उसका मार्ग प्रशस्त बनाया। उनके दिल मे गुरुकुल काँगड़ी के लिये सदैव एक वास्तविक कसक रही है। उन्हीं के परिश्रम से गुरुकुल काँगड़ी को डीम्ड यूनिवर्सिटी का स्तर प्राप्त हुआ है। स्वामी श्रद्धानंद जी की आकांक्षाओं के वह मूर्तरूप हैं तथा आधुनिक गुरुकुल के निर्माण का उन्हे पूर्ण श्रेय प्राप्त है।

पंडित जी एक लगनशील व्यक्ति हैं जो हर समस्या की गहराई में पहुँच कर उसका समाधान ढूँढ़ने का पूर्ण प्रयास करते हैं। जब तक उसका हल न मिल जाये वे शान्ति के साथ नहीं बैठ सकते। अपने असूलों के पक्के हैं और उनसे वे आसानी से नही डिगते। जो मन में ठान लेते हैं उसे पूरा करके ही मानते हैं। वह किसी धनी परिवार में पैदा नहीं हुए थे परन्तु जीवन भर उनका असूल रहा कि कड़े परिश्रम से ही सफलता सम्भव है। इसी असूल से वे आगे बढ़े और कामयाबी के उच्चतर शिखर पर पहुँचे। सफलता ने हर समय उनके कदम चूमे। कड़े परिश्रम से वह एक विद्वान, धनी और प्रतिभाशाली व्यक्ति हो गये।

पंडित जी ९० वर्ष की आयु के स्वस्थ बुजुर्ग हैं जो शान के साथ कह सकते हैं, "अभी तो मैं जवान

हूं।" सुबह ४ बजे उठते हैं। नित्य क्रिया से निवृत्त होकर प्रतिदिन व्यायाम एवं योगाभ्यास करते हैं। उनके लिये हर जोड़ की कसरत १०० बार करना लाजमी है। शरीर की पूरी कसरत के साथ मालिश भी करते हैं। बरामदे में तेजी के साथ टहलते हैं। सूक्ष्म परन्तु संतुलित आहार लेते हैं। रात में २५ बादाम भिगो देते हैं, सुबह उनका छिलका उतार कर खरल में घोट कर पी जाते हैं। साथ ही एक गिलास दूध भी लेते हैं। फलस्वरूप वह बीमार नहीं पड़ते और जोड़-दर्द के रोग से भी बचे हुए हैं। दोपहर में खाना खाने के बाद भी वह आराम नहीं करते, बल्कि कुछ न कुछ—कभी अपनी किसी प्रकाशनाधीन पुस्तक की प्रूफ़ रीडिंग, कभी लेखन कार्य—करते ही रहते हैं। यह ही तो उनकी सेहत का राज है। इस उम्र में इस प्रकार की सेहत और तेजी देखकर ईर्ष्या होती है। ऐसे नेक, खुशनसीब और सेहतमन्द मनीषी के लिए तो दिल से अपने आप यही दुआ निकलती है :

तुझे नजर न लगे किसी की
तू जिये हजारों साल!

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के निर्माण तथा विकास में प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार का अनुपम कर्तृत्व

डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार डी० लिट०
कुलाधिपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित शिक्षा विषयक सिद्धान्तो को क्रियान्वित करने के लिए महात्मा मुशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने सन् १९०२ मे जिस गुरुकुल काँगडी की स्थापना की थी, उसकी दो मुख्य विशेषताएँ थी - उसके विद्यार्थियों तथा अध्यापको की एक विशिष्ट प्रकार की जीवनचर्या और उसकी अपनी पाठविधि। गुरुकुल के विद्यार्थियों के लिए यह अनिवार्य था, कि वे छात्रावास (आश्रम) मे गुरुओं के सान्निध्य मे रहकर ब्रह्मचर्यपूर्वक सादा, तपस्यामय तथा अनुशासित जीवन व्यतीत करे, गुरुकुल को ही अपना घर समझें और गुरुजनों के साथ उनका वही सम्बन्ध हो जो सन्तान का अपने माता-पिता के साथ होता है। विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण तथा उनकी अन्तर्निहित शक्तियों के विकास पर गुरुकुल मे विशेष ध्यान दिया जाता था, और सबका रहन-सहन व खानपान आदि एक सदृश होता था। गरीब-अमीर, ऊँच-नीच व छूत-अछूत का गुरुकुल मे कोई भेद नहीं किया जाता था। वस्तुतः, विद्यार्थियों को यह ज्ञात ही नही होता था, कि उनके माता-पिता धनी हैं या निर्धन हैं, और उनकी जाति कौन-सी है। अध्यापक तथा अन्य कर्मचारी भी प्रायः सादगी से रहते थे, और त्याग भावना से काम करते थे। गुरुकुल के कुलवासियो की एक ऐसी अनुपम जीवनचर्या थी, जो उस समय संसार की किसी भी शिक्षण-संस्था मे नहीं थी। गुरुकुल की पाठविधि में संस्कृत भाषा, वेद-वेदांग तथा आर्ष ग्रन्थो को प्रमुख स्थान दिया जाता था, पर साथ ही अंग्रेजी तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की पढाई की भी वहाँ समुचित व्यवस्था थी। गुरुकुल के विद्यालय विभाग में संस्कृत, व्याकरण और दर्शनशास्त्र के साथ अंग्रेजी का पढ़ना भी अनिवार्य था, और गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान (रसायन और भौतिकी) व नागरिक शास्त्र भी सबको पढने होते थे। महाविद्यालय विभाग में भी अंग्रेजी सबके लिए अनिवार्य थी, और उसके अतिरिक्त इतिहास, पाश्चात्य दर्शन, रसायनशास्त्र, मनोविज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र आदि आधुनिक विषयों में किसी एक का उच्चस्तरीय अध्ययन प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आवश्यक था। गुरुकुल की इन दो विशेषताओं का यह परिणाम था, कि चौदह वर्ष गुरुकुल में नियमपूर्वक शिक्षा प्राप्त कर जो विद्यार्थी स्नातक बनते थे, प्राच्य और पाश्चात्य तथा प्राचीन और अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान में उनकी एक समान गति होती थी। वे जहाँ संस्कृत के पण्डित तथा वेदशास्त्रों के ज्ञाता होते थे, वहाँ साथ ही अंग्रेजी भाषा तथा किसी एक आधुनिक विषय का भी उन्हें समुचित ज्ञान होता था। गुरुकुल की स्थापना का एक मुख्य उद्देश्य यह भी था, कि वहाँ के स्नातक वेदशास्त्रों के विद्वान होने के साथ-साथ वैदिक धर्म के प्रचारक भी हों, और देश, धर्म तथा समाज में नवजीवन व शक्ति का संचार करने के महर्षि दयानन्द सरस्वती के महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए समर्पित भाव से काम करें। गुरुकुल की जीवनचर्या इस ढंग की थी और वहाँ का वातावरण ऐसा था, कि विद्यार्थी देशभक्ति, धर्म के प्रति आस्था तथा आर्य संस्कृति के लिए गौरव की प्रेरणा प्राप्त करते थे, और समाज की

सेवा के लिए उत्साह अनुभव करते थे ।

समय तथा परिस्थितियों के अनुसार गुरुकुल की आश्रम पद्धति तथा पाठविधि में अनेकविध परिवर्तन आते रहे। यह स्वाभाविक भी था। पर आधी सदी से भी अधिक समय तक उसकी वे विशेषताएँ न्यूनाधिक रूप से कायम रही, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। इस काल में गुरुकुल काँगड़ी में शिक्षा प्राप्त कर जो विद्यार्थी स्नातक बने, उनकी एक पृथक् पहचान थी। उनकी कुछ ऐसी विशेषताएँ थी, जो अन्य कालेजो व यूनिवर्सिटियों के ग्रेजुएटों में प्राय: नही पायी जातीं। यदि इन विशेषताओ को मूर्त रूप मे स्पष्टतया देखना चाहें, तो पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार पर दृष्टिपात कीजिये। वे सन् १९१९ में स्नातक हुए थे। पण्डित जी संस्कृत के गम्भीर विद्वान् हैं। वे संस्कृत में व्याख्यान दे सकते हैं, निबन्ध लिख सकते हैं। वेदशास्त्रों मे उनकी अबाध गति है। वेदों, उपनिषदों, गीता तथा अन्य शास्त्रों पर उन्होंने कितने ही मौलिक व उच्च स्तर के ग्रन्थ लिखे हैं और उनके ज्ञान को आधुनिक वैज्ञानिक रीति से प्रतिपादन करने मे उन्हें सराहनीय सफलता प्राप्त हुई है। पर अंग्रेजी भाषा तथा आधुनिक ज्ञान पर भी उनका पूरा अधिकार है। वे अंग्रेजी मे व्याख्यान देते हैं। उच्चकोटि के कितने ही ग्रन्थ उन्होंने अंग्रेजी में लिखे हैं। पाश्चात्य दर्शन (फिलोसोफी), मनोविज्ञान (साइकोलोजी) और समाजशास्त्र (सोशियोलोजी) सदृश आधुनिक विषयो के वे माने हुए विद्वान् हैं। हिन्दी भाषा के सुलेखकों में उन्हें उच्च स्थान प्राप्त है। सरकार ने भी उनके गम्भीर पाण्डित्य का सम्मान किया है और राष्ट्रपति द्वारा उन्हें राष्ट्रीय स्तर का विद्वान् स्वीकार किया गया है। आर्यसमाज गुरुकुल के स्नातको से जो अपेक्षाएं रखता है, पण्डितजी ने उन्हें भी पूरा किया है। वैदिक धर्म के प्रचार के लिए वे विदेशों मे गये हैं, और आर्य विद्वानों व नेताओं में उन्हें प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। कितने ही सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलनों मे वे वेद सम्मेलन व अन्य सम्मेलनों की अध्यक्षता कर चुके हैं। और नैरोबी (केनिया — पूर्वी अफ्रीका) में आयोजित सार्वभौम आर्य महासम्मेलनों के वे प्रधान निर्वाचित हुए थे। वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के क्रियाकलाप के अतिरिक्त देश की स्वाधीनता के लिए भी पण्डित सत्यव्रत जी ने उत्साह के साथ कार्य किया है। सत्याग्रह मे वे जेल गये और स्वतन्त्रता सेनानियों में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किया। उनका रहन-सहन सादा व तपस्यामय है। ६० वर्ष की आयु में भी वे ग्रन्थ प्रणयन में संलग्न रहते हैं। अपनी अनुशासित जीवनचर्या के कारण वे एक ऐसा मन्त्र सिद्ध करने में समर्थ हुए हैं, जिससे बुढ़ापे में भी युवा रहा जा सकता है। गुरुकुल की स्थापना करते हुए महात्मा मुंशीराम तथा पंजाब आर्यप्रतिनिधि सभा को उसके स्नातकों के सम्बन्ध में जो कल्पना थी, पण्डित सत्यव्रत जी प्रायश: उनके अनुरूप हैं। भविष्य में भी गुरुकुल का विकास किस ढंग से होना चाहिए, इसके लिए भी वे प्रकाश-स्तम्भ का काम कर सकते हैं।

गुरुकुल काँगड़ी के निर्माण तथा विकास मे अनेक महानुभावों का प्रमुख कर्तृत्व रहा है। महात्मा मुंशीराम उसके संस्थापक थे। सन् १९०२ से सन् १९२६ तक पूरी एक चौथाई शताब्दी के सुदीर्घ काल मे वही इस संस्था का संचालन करते रहे। शुरू मे उनके प्रधान सहायक पण्डित गंगादत्त (स्वामी शुद्धबोधतीर्थ) थे। बाद में आचार्य रामदेव ने इसे एक नई शिक्षा प्रदान की, और महाविद्यालय एव विश्वविद्यालय के रूप में इसे विकसित किया। उसके बाद फिर पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति और पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार चिर काल तक इस संस्था का संचालन करते रहे। यह सही है, कि गुरुकुल के निर्माण तथा विकास मे अनेक महानुभावों का महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व है, पर यह भी स्वीकार करना होगा कि गुरुकुल का जो विशाल व शानदार स्वरूप इस समय विकसित हो गया है, उसमें पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का कर्तृत्व सबसे व्यापक महत्त्व का है। सन् १९१९ में स्नातक होने के समय से अब तक किसी न किसी रूप में गुरुकुल के संचालन में उनका हाथ रहा है। वे वर्षों तक गुरुकुल में प्रोफेसर रहे, प्रस्तोता (कुलसचिव) के रूप मे उसकी शिक्षानीति व पाठविधि का संचालन किया, अनेक वर्ष मुख्याधिष्ठाता के पद पर रहे, जब गुरुकुल को यूनिवर्सिटी की स्थिति प्राप्त हो गई, तो वही उसके प्रथम वाइस चान्सलर बने, और फिर सात साल के लगभग उसके परिद्रष्टा

(विजिटर) गुरुकुल काँगड़ी के विकास की प्रायः सभी दशाओं में पण्डित सत्यव्रत जी का असाधारण कर्तृत्व रहा।

वे सन् १९३५ में गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता नियुक्त हुए थे। सन् १९४२ तक वे इस पद पर रहे। गुरुकुल के इतिहास मे सात साल का यह काल बड़े महत्त्व का है। गुरुकुल का खर्च चलाने के लिए पहले प्रधानतया दान पर निर्भर रहना पड़ता था, और धन एकत्र करने के लिए चन्दा माँगा जाता था। केवल गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता और आचार्य ही नहीं, अपितु प्राध्यापक व कतिपय अन्य कर्मचारी भी प्रतिवर्ष चन्दे के लिए जाया करते थे और वार्षिकोत्सव के अवसर पर जो धन एकत्र हो जाए, उसी से संस्था का खर्च चलता था। गुरुकुल की स्थायी निधि मे बहुत कम धन था। चन्दा करना कितना कष्टसाध्य है। इसे पण्डित सत्यव्रत भली भाँति जानते थे, क्योंकि वे भी चन्दे के लिए जाया करते थे। उन्होंने प्रयत्न प्रारम्भ किया, कि आर्थिक दृष्टि से गुरुकुल किसी प्रकार स्वावलम्बी बन जाए, और अपने खर्च के लिए उसे चन्दे पर निर्भर न रहना पड़े। उनका ध्यान गुरुकुल की फार्मेसी की ओर गया। आयुर्वेद की शिक्षा गुरुकुल में सन् १९१९ में शुरू हो चुकी थी, और विद्यार्थियों को औषधि निर्माण का क्रियात्मक ज्ञान देने के लिए शास्त्रोक्त विधि से आयुर्वेदिक दवाइयाँ भी बनायी जाने लगी थी। गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी द्वारा निर्मित औषधियों की बहुत माँग थी, क्योंकि जनता को उनकी शुद्धता पर विश्वास था। गुरुकुल का अपना मुद्रणालय भी था, और पुस्तक प्रकाशन विभाग भी। उन दिनों गुरुकुल महाविद्यालय में रसायनशास्त्र के प्रोफेसर श्री फकीरचन्द लेहन थे, जिन्हे औद्योगिक रसायन (Industrial Chemistry) में बहुत रुचि थी। वह सियाही, फिनाइल और साबुन आदि विद्यार्थियों से बनवाया भी करते थे। पण्डित सत्यव्रत ने विचार किया, कि यदि आयुर्वेदिक फार्मेसी, प्रिंटिंग प्रेस, पुस्तक प्रकाशन और रासायनिक उत्पादन को समुन्नत करने का प्रयत्न किया जाए, तो इनसे इतनी पर्याप्त आमदनी प्राप्त की जा सकती है, कि गुरुकुल का सब खर्च उससे पूरा हो जाये और चन्दा माँगने की आवश्यकता न रह जाए। उन्होंने फार्मेसी की उन्नति पर विशेष ध्यान देने का निश्चय किया। इसी प्रयोजन से उन्होंने पृथक् व्यवसाय-पटल का गठन किया, जिसके कारण फार्मेसी के अधिकारी समुचित स्वतन्त्रता के साथ औषधियों के निर्माण तथा उनकी बिक्री को बढ़ाने के लिए आवश्यक पग उठा सकने मे समर्थ हो गए। प्रोफेसर फकीरचन्द लेहन को सियाही, फिनाइल, साबुन आदि बड़ी मात्रा मे बनाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। क्योंकि इनके निर्माण में शुद्धता और गुणवत्ता पर विशेष ध्यान दिया जाता था, अतः बाजार मे इनकी माँग भी बढ़ने लगी, और अनेक म्युनिसिपैलिटियों, बैंकों तथा व्यापारिक संस्थानों ने इन वस्तुओं को गुरुकुल से खरीदना प्रारम्भ कर दिया। इसी प्रकार प्रेस और पुस्तक-प्रकाशन विभाग की उन्नति पर भी पण्डित सत्यव्रत ने ध्यान दिया। रासायनिक उत्पादन तथा पुस्तक व्यवसाय के विकास में तो पण्डित सत्यव्रत को अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई, पर आयुर्वेदिक फार्मेसी के विकास मे उन्हें बहुत सफलता प्राप्त हुई। उनके प्रयत्न से सन् १९३९ में फार्मेसी से गुरुकुल को १३,३४२ रुपये का शुद्ध लाभ प्राप्त हुआ था, जो उस समय सात प्रोफेसरों के वार्षिक वेतन के लिए पर्याप्त था। बाद मे फार्मेसी से प्राप्त होने वाले मुनाफे की मात्रा में निरन्तर वृद्धि होती गई। कुछ ही समय में यह स्थिति आ गई, कि गुरुकुल काँगड़ी के खर्च का बहुत बड़ा भाग फार्मेसी द्वारा किया जाने लगा। गुरुकुल काँगडी फार्मेसी ने एक व्यावसायिक व व्यापारिक संस्थान का रूप प्राप्त कर लिया, और उसमें कार्य करने वाले कर्मचारियों की संख्या सैकड़ों में पहुँच गई। फार्मेसी ने जो यह उन्नति की, उसका प्रधान श्रेय पण्डित सत्यव्रत को ही दिया जाना चाहिए। यह उनकी ही कल्पना एवं दूरदृष्टि थी, जो गुरुकुल ने आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने के लिए फार्मेसी को साधन बनाया। प्रिंटिंग प्रेस, पुस्तक प्रकाशन तथा रासायनिक उत्पादन के विकास पर भी यदि समुचित ध्यान दिया जाता, तो सम्भवतः गुरुकुल को सरकारी अनुदान की आवश्यकता ही नहीं रहती, और यह शिक्षण-संस्था अपनी विशेषताओं को कायम रखती हुई स्वतन्त्र रूप से यथेष्ट उन्नति कर सकती।

सन् १९४२ में पण्डित सत्यव्रत ने गुरुकुल काँगड़ी के मुख्याधिष्ठाता पद से त्यागपत्र दे दिया था। उनके स्थान पर अब पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति मुख्याधिष्ठाता नियुक्त हुए और सन् १९५६ तक इस पद पर कार्य करते रहे। इस बीच में भारत अंग्रेजी शासन से मुक्त होकर स्वाधीन हो गया था। देश की नई राष्ट्रीय सरकारों ने गुरुकुल की अलंकार डिग्री को मान्यता प्रदान करनी प्रारम्भ कर दी थी, और ६ मई, १९४९ को भारत की केन्द्रीय सरकार ने भी गुरुकुल के स्नातकों को सामयिक रूप से सरकारी यूनिवर्सिटियों के ग्रेजुएटों के समकक्ष मान लिया था। विविध सरकारी सर्विसों के लिए केन्द्रीय लोकसेवा आयोग तथा विविध राज्यों के लोकसेवा आयोगों द्वारा जो परीक्षाएँ ली जाती हैं, उनमें बैठ सकने में अब गुरुकुल के स्नातकों के लिए कोई बाधा नहीं रह गई थी। सरकारी सर्विस प्राप्त करने का मार्ग अब उनके लिए भी खुल गया था। सरकार से आर्थिक अनुदान प्राप्त करने में भी अब गुरुकुल को कोई एतराज नहीं था, क्योंकि अब देश में राष्ट्रीय सरकार स्थापित थी। पर गुरुकुल के पदाधिकारी केवल इतने से ही संतोष अनुभव नहीं करते थे। स्वराज्य के पश्चात् भारत में जो नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी, उससे लाभ उठाने के लिए गुरुकुल के संचालकों ने विचार किया, कि उसे एक चार्टर्ड यूनिवर्सिटी बनाने का प्रयत्न किया जाए। विधानसभा ने इस सम्बन्ध में प्रस्ताव भी स्वीकार कर लिया और उस बिल का प्रारूप भी तैयार कर लिया गया जिसके द्वारा गुरुकुल को चार्टर्ड यूनिवर्सिटी बनवाया जाना था। पर गुरुकुल काँगड़ी को चार्टर्ड यूनिवर्सिटी बनाने के प्रयत्न सफल नहीं हुए। सन् १९५६ में भारत सरकार द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन) के गठन के लिए जो कानून स्वीकृत किया गया, उसकी धारा ३ के अनुसार यह व्यवस्था की गई थी कि देश मे राष्ट्रीय महत्त्व के उच्च शिक्षा के जो आंकड़े शिक्षणालय में विद्यमान हैं, उन्हें यूनिवर्सिटी की स्थिति की संस्था (Deemed to the University) स्वीकृत करने का आयोग को अधिकार हो। इसी धारा के अधीन आयोग ने काशी विद्यापीठ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया और गुजरात विद्यापीठ आदि अनेक शिक्षा-संस्थाओं को यूनिवर्सिटी की स्थिति के शिक्षणालय स्वीकार किया गया था। १९ जून, १९६२ के नोटिफिकेशन द्वारा गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय को भी आयोग द्वारा यही स्थिति प्रदान कर दी गई।

सन् १९५६ मे पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति की मृत्यु हो गई थी, और उनके स्थान पर पण्डित सत्यव्रत पुनः गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता पद पर नियुक्त हुए थे। सन् १९४७ में स्वराज्य की स्थापना के अनन्तर देश की नई राजनीतिक परिस्थिति मे गुरुकुल को एक चार्टर्ड यूनिवर्सिटी बनाने के सम्बन्ध मे जो प्रयत्न किए गये, पण्डित सत्यव्रत का उनमें भी महत्त्वपूर्ण योगदान था, पर सन् १९६२ में उसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा जो यूनिवर्सिटी की स्थिति का शिक्षणालय स्वीकार किया गया, उसका प्रधान श्रेय तो पण्डित सत्यव्रत को ही प्राप्त है। १९५६ में मुख्याधिष्ठाता नियुक्त हो जाने पर उनका यह निरन्तर प्रयत्न रहा, कि स्वराज्य की नई परिस्थिति का गुरुकुल समुचित लाभ उठा सके। और अन्त में उसे यूनिवर्सिटी की स्थिति प्रदान कराने में उन्हें सफलता प्राप्त हो ही गई। यूनिवर्सिटी की स्थिति प्राप्त हो जाने पर यह आवश्यक था कि गुरुकुल के नये संविधान तथा नई नियमावली का निर्माण किया जाए। इस महत्त्वपूर्ण कार्य में भी पण्डित सत्यव्रत का प्रमुख कर्तृत्व था। उनके प्रयत्न से गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का जो नया संविधान बना, उसमें सीनेट, सिण्डीकेट, चान्सलर, विजिटर, वाइस चान्सलर, रजिस्ट्रार आदि की व्यवस्था की गई, जिसके कारण गुरुकुल की प्रबन्ध व्यवस्था ने एक सर्वथा नया रूप प्राप्त कर लिया। यह सर्वथा समुचित एवं स्वाभाविक था कि यूनिवर्सिटी की स्थिति प्राप्त हो जाने पर गुरुकुल के संचालन की उत्तरदायिता पण्डित सत्यव्रत पर ही रहे। क्योंकि उन्हीं के प्रयत्न से गुरुकुल को यह स्थिति प्राप्त हुई थी। सन् १९६२ में वे गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता थे ही, अब उन्हें ही उसका वाइस चान्सलर (कुलपति) भी नियुक्त कर दिया गया। गुरुकुल को जो नई उच्च स्थिति प्राप्त हो गई थी, उसमें उसके स्वरूप मे परिवर्तन आना भी आवश्यक था। गत साठ वर्षों मे गुरुकुल

काँगड़ी का एक विशिष्ट प्रकार से विकास हुआ था। पर अब उसने एक नई दिशा में प्रगति प्रारम्भ की थी। इस दशा में उसका कर्णधार एक ऐसा ही व्यक्ति होना चाहिए था, जो गुरुकुल शिक्षा पद्धति की विशेषताओं से भली भाँति परिचित हो, और उन्हें कायम रखने तथा समय व परिवर्तन के अनुसार उन्हें परिवर्तित कर सकने की भी जिसमें क्षमता हो। पण्डित सत्यव्रत गुरुकुल के पुराने व सुयोग्य स्नातक थे। स्वामी श्रद्धानन्द के सान्निध्य में रहकर शिक्षा प्राप्त की थी, और उनके जीवन का बड़ा भाग गुरुकुल के विद्यार्थी, प्राध्यापक, मुख्याधिष्ठाता व संचालक के रूप मे व्यतीत हुआ था। उनसे अधिक योग्य वाइस चान्सलर गुरुकुल के लिए मिल सकना सम्भव नही था। १९६३ से १९६६ तक तीन वर्ष उन्होंने वाइस चान्सलर के रूप मे गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय का संचालन किया, तथा उन परम्पराओ एवं व्यवसायो का निर्माण व विकास किया, जिनके अनुसार भविष्य मे इस शिक्षा-संस्था का संचालन किया जाना होगा। वर्तमान समय में गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का जो स्वरूप है, वह जिस ढंग से प्रगति कर रहा है—उसके लिए पण्डित सत्यव्रत ही मुख्यतया उत्तरदायी हैं।

सन् १९६६ मे गुरुकुल के वाइस चान्सलर पद से उन्होने अवकाश प्राप्त कर लिया, पर इससे इस संस्था के संचालन एवं नीतिनिर्धारण में उनके कर्तृत्व मे कमी नही आई। सीनेट तथा विधान सभा के सदस्य की स्थिति मे वे गुरुकुल की गतिविधि के निर्धारण मे भाग लेते रहे। इस बीच मे गुरुकुल मे जो अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसका उल्लेख करने की यहाँ कोई आवश्यकता नही है। अनेक वर्षों के संघर्ष के पश्चात् जब स्थिति सामान्य हुई, तो पण्डित सत्यव्रत गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के विजिटर (परिद्रष्टा) नियुक्त किए गए, और इस पद के कारण विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर की नियुक्ति पूर्णतया उनके हाथों मे आ गई। १९८० से अप्रैल १९८७ तक वे विजिटर के महत्त्वपूर्ण पद पर रहे, और इस काल मे गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपतियों की नियुक्ति उन्ही के द्वारा की गई। सन् १९८२ मे श्री बलभद्र कुमार हूजा को उन्होने ही कुलपति नियुक्त किया, फिर सितम्बर १९८५ मे डॉ० सत्यकाम वर्मा को और फिर मार्च, १९८६ में श्री रामचन्द्र शर्मा को। विश्वविद्यालय को प्रशासन व संचालन यथार्थ मे कुलपति (वाइस चान्सलर) के ही हाथों में रहता है, अतः उसकी नियुक्ति जिस व्यक्ति के अधिकार मे हो, परोक्ष रूप से वही संस्था का भाग्यविधाता होता है। इस दृष्टि से अप्रैल, १९८७ तक गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का भाग्य पण्डित सत्यव्रत जी के ही हाथों मे रहा। सम्प्रति के विजिटर के पद पर नहीं हैं, पर अब भी वे सीनेट (विशिष्ट परिषद्) के सदस्य हैं। इस स्थिति में अब भी उन्हे गुरुकुल की भावी प्रगति व रीति-नीति के निर्धारण का पूरा-पूरा अवसर है। सस्या मे उनका जो सम्मान है, उनका जो अनुभव है और देश एवं आर्यसमाज के विस्तृत क्षेत्र मे उनकी जो प्रतिष्ठित स्थिति है, उसके कारण वे अब भी गुरुकुल के भविष्य के निर्माण में पथप्रदर्शन कर सकते हैं।

गुरुकुल की वर्तमान दशा से वे संतुष्ट नही हैं। उसके विषय में जो विचार उन्होंने आर्यन हेरीटेज पत्र (जुलाई, १९८७) में प्रकट किए थे, वे ध्यान देने योग्य हैं—"वह शानदार संस्था जो कभी शिक्षा जगत् के लिए स्पृहणीय थी, आज जीर्णशीर्ण होकर नष्ट हो गई है। मैंने अपनी आँखो से इसे नष्ट होते हुए देखा है। संस्था पर कब्जा करने के लिए पार्टियाँ घटित की गईं, और इन पार्टियों ने संस्था की उन्नति करने के बजाय उसे पूरी तरह से बरबाद कर दिया। गुरुकुल मे पहले कभी जात-पाँत का नाम भी नही सुना जाता था, पर आज उसका बोलबाला है। वहाँ कोई शर्मा है, कोई वर्मा है। वहाँ लोग जाति से ही जाने जाते हैं, नाम से नही।

वहाँ की दशा इतनी अधिक बिगड़ गई है, कि मैं यह सोचने लगा हूँ, कि गुरुकुल काँगड़ी गुरुकुल की शिक्षा पद्धति का प्रतिनिधित्व नहीं करता। गुरुकुल शिक्षा पद्धति की सब विशेषताएँ अब इस संस्था से लुप्त हो गई हैं। अब यह संस्था नाम को ही गुरुकुल है, गुरुकुल की कोई पुरानी विशेषता अब इसमे रही ही नही

है। इसका स्वरूप एक साधारण स्कूल एवं कालिज का हो गया है। अब इसमें कोई भी ऐसी बात नहीं रह गई है जिससे आकृष्ट होकर लोग इसे देखने के लिए आएँ, और गुरुकुल शिक्षा पद्धति को समझने का प्रयत्न करें।"

गुरुकुल की वर्तमान दशा से असंतुष्ट होते हुए भी पण्डित सत्यव्रत जी उसके भविष्य के बारे में निराश नहीं हैं। उन्होंने बडे विस्तार के साथ वे विचार प्रकट किए हैं, जिन्हे क्रियान्वित कर गुरुकुल कांगड़ी के लुप्त गौरव को पुन: स्थापित किया जा सकता है। उनके ये विचार तथा गुरुकुल की भावी प्रगति के सम्बन्ध में उनकी योजना इस ग्रन्थ मे अन्यत्र दी गई है। मुझे विश्वास है कि पण्डित जी इन्हे क्रियान्वित करने के लिए कोई कसर उठा नही रखेंगे, और अपनी प्रतिभा तथा कार्यशक्ति का प्रयोग कर स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज द्वारा स्थापित इस महान् शिक्षण-संस्था में शक्ति का सचार कर इसे सही मार्ग पर ले आएँगे। स्वामी जी महाराज के जो शिष्य अभी उनके मिशन को आगे बढ़ाने की स्थिति मे हैं, पण्डित सत्यव्रत जी का उनमें मूर्धन्य स्थान है। मुझे पूर्ण विश्वास है, कि वे अपने कर्तव्य का अवश्य पालन करेंगे।

सम्पादकीय

पण्डित सत्यव्रतजी : प्रज्ञा-पुरुष

डॉ० विष्णुदत्त राकेश, डी० लिट०
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गुरुकुल विश्वविद्यालय

गुरुकुल विश्वविद्यालय के ६८ वर्षों का यदि शैक्षिक तथा साहित्यिक इतिहास लिखा जाये तो पंडित सत्यव्रत जी शलाका पुरुष के रूप में खड़े हुए दिखाई देंगे। स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज के संकल्पों के जीते-जागते प्रतिनिधि पण्डित जी ने जहाँ गुरुकुल को विश्वविद्यालय का दर्जा दिलाकर वैदिक सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, भारतीय भाषा और साहित्य, पुरातत्व, इतिहास और विज्ञान के क्षेत्र मे उच्चतर अध्ययन और अनुसंधान की सुविधा दिलाई, वहीं मुख्याधिष्ठाता, कुलपति और परिद्रष्टा के रूप मे काम करते हुए अनुशासन, शोध-संवलित लेखन तथा आर्यसमाज और साहित्य की सेवा को भी बढ़ावा दिलाया। अंग्रेजी राज मे गुरुकुल ने सरकारी अनुदान न लेकर राष्ट्रभक्त ऐसे नवयुवक तैयार करने का काम शुरू किया था जो अपनी योग्यता, चरित्र और कार्यदक्षता से देश के नवनिर्माण मे सहायक हो सकते थे। महात्मा गांधी जैसे लोकनायक और महामना मदनमोहन मालवीय तथा महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे शिक्षाविद् इसीलिए गुरुकुल को प्राचीन आश्रमों और ऋषियों की ज्ञान-परम्परा के उद्धारक रूप मे देखते थे। आज़ादी के बाद राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र-प्रसाद जी पुनः गुरुकुल पधारे और उन्होंने इसे विश्वविद्यालय के रूप में देखने की उत्कट अभिलाषा व्यक्त की। इस कार्य को पण्डित सत्यव्रत जी ने अपने हाथ में लिया। विश्वविख्यात दार्शनिक और भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन जी ने पण्डित जी को राज्यसभा का सदस्य मनोनीत किया। गुरुकुल के कुलपति को भारत भर से चुने गये बारह अग्रगण्य व्यक्तियो मे अग्रस्थान देखकर डॉ० राधाकृष्णन जी ने जो सम्मान दिया वह गुरुकुल के लिए गौरव की बात थी। इस स्थिति का लाभ उठाकर पण्डित जी ने गुरुकुल को विश्वविद्यालय का दर्जा दिलाने का अभियान चलाया। उन्होंने गुरुकुल की सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और शैक्षिक उपलब्धियों को दर्शाते हुए एक परिपत्र संसद् के सब सदस्यों के पास भेजा। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली पर सरकारी मुहर लगवाने के लिए पण्डित जी यह उद्यम कर रहे थे। तत्कालीन शिक्षामंत्री डॉ० कालूलाल श्रीमाली इससे बड़े प्रभावित हुए। सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश श्री पतंजलि शास्त्री, सुप्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० सुनीतकुमार चाटुर्ज्या तथा श्री वी० डी० शुक्ल सरकार की ओर से गुरुकुल पधारे और पण्डित जी के यह कहने पर कि हम वर्तमान ढर्रे पर चलने वाले विश्वविद्यालयों की तरह इतिहास आदि पढ़ाने के लिए मान्यता नहीं चाहते, हम प्राचीन संस्कृति को आधुनिक युग मे आधुनिक विज्ञान तथा चिंतन के साथ मिलाकर उसमें वैदिक संस्कृति का पुट देकर, भारतीयता की भावना के साथ उसे सुरक्षित रखना चाहते हैं। क्षीण होती हुई संस्कृति की रक्षा इस संस्था द्वारा करना चाहते हैं—आयोग के सदस्य प्रभावित हुए और उनकी संस्तुति पर १९६२ में गुरुकुल को विश्वविद्यालय की मान्यता मिल गई। इस प्रकार गुरुकुल के आधुनिक निर्माण में पण्डित जी की भूमिका 'कुलपुरुष' की तरह है। कुलपिता स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज के वह उत्तमर्ण शिष्य हैं जिन्होंने स्वामी जी के आदर्शों और विचारों को प्रासंगिक और कालव्यापी बनाने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग किया तथा गुरुकुल से वेतन के रूप में कुछ न लेकर गुरुकुल की निष्काम सेवा की।

निष्कारण षडंगवेद का अध्ययन और मातृ संस्था की अकाम सेवा करते हुए उन्होंने महाभाष्यकार पतंजलि की इस आशा को पूर्ण किया—

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षंडगो वेदोऽध्येयो ज्ञेय इति।

पण्डित जी का जन्म ५ मार्च १८९८ में लुधियानान्तर्गत सबद्दीग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम पण्डित बालकराम तथा माता का नाम ईश्वरी देवी था। आर्यसमाज के विचारों के कारण पण्डित जी ने कभी भी अपने जन्मना वर्ण का संकेत अपने नाम के साथ नही रखा १७ वर्ष की आयु में पण्डित जी गुरुकुल मे प्रविष्ट हुए और ब्रह्मचर्य, तप, त्याग, तितिक्षा और साधना का जीवन जीते हुए १९१९ में स्नातक बने। यों तो पण्डित जी संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी के असाधारण वक्ता और लेखक हैं पर 'आर्यसिद्धान्त' विषय की विशेषज्ञता के कारण वह भारतीय और भारतीयेतर धर्मों तथा दर्शनो के भी प्रौढ़ ज्ञाता हैं। पण्डित जी के साथ जुड़ी सिद्धान्तालंकार उपाधि इसी तथ्य की सूचक है।

पण्डित जी ने हिन्दी में उस समय लेखन कार्य प्रारंभ किया जब पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्री शुकदेव बिहारी मिश्र, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन तथा प्रेमचंद जी साहित्यिक जगत् मे छाए हुए थे। पण्डित जी की विदुषी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती जी भी हिन्दी की सुविदित लेखिका रही हैं। 'स्त्रियो की स्थिति' पुस्तक पर उन्हें १९३४ मे सेकसरिया तथा 'शिक्षा मनोविज्ञान' ग्रन्थ पर १९३५ मे मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुए थे। महात्मा गांधी ने पुरस्कार प्रदान करते हुए उनकी साहित्यिक सेवाओ की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। भारतीय दर्शन, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, वैदिक विज्ञान, होमियोपैथी, संस्कृति तथा योग पर हिन्दी मे प्रौढ़ ग्रन्थ लिखकर पण्डित जी ने यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दी मे कविता, कहानी, उपन्यास ही नही, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और मानविकी के विषयों को भी अधिकारपूर्वक लिखा जा सकता है। ३ जनवरी १९६० को 'समाजशास्त्र के मूल तत्व' ग्रन्थ पर जब आपको मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला, तब सम्मेलन के मंच पर यह सुखद घोषणा की गई कि इन विषयो पर हिन्दी में उच्चकोटि के विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा पण्डित जी से लेनी चाहिए। शिक्षा मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र, समाज कल्याण तथा सुरक्षा, भारतीय सामाजिक सगठन, समाजशास्त्र के मूल सिद्धान्त, सामाजिक विचारों का इतिहास, व्यावहारिक मनोविज्ञान, भारत की जनजातियाँ तथा संस्थाएँ एवं मानवशास्त्र पण्डित जी की हिन्दी मे लिखी अन्य रचनाएँ हैं। इन विषयों पर ससार भर के विचारको की विचारधाराओं को हृदयंगम कर सुबोध शैली में हिन्दी ग्रन्थ लिखना पण्डित जी की ऐसी विशेषता है जिसने सभी विश्वविद्यालयों के विद्वानो तथा विद्यार्थियों को आकृष्ट किया। पाश्चात्य दृष्टि से लिखे गए ग्रन्थ तो हिन्दी मे बहुत थे पर वर्णाश्रम व्यवस्था आदि पर प्रचलित सरणि की अपेक्षा शुद्ध भारतीय किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से ओत-प्रोत व्याख्या पण्डित जी ने ही सर्वप्रथम हिन्दी ग्रन्थों मे दी। विश्वविद्यालयों की स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में देश के हजारों विद्यार्थियो ने इन हिन्दी ग्रन्थो को पढ़ा है। सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री तथा आगरा के समाजशास्त्र संस्थान के निदेशक डॉ० रामनारायण सक्सेना ने इन ग्रन्थों की उपयोगिता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा था—"प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार एक प्रतिभाशाली सिद्धहस्त लेखक और उत्कृष्ट कोटि के विद्वान् हैं। उन्होंने सामाजिक विज्ञान की अन्य शाखाओं के सम्बन्ध में भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। हिन्दी मे समाजशास्त्र पर अब तक जो साहित्य प्रकाशित हो चुका है, जो लगभग न के बराबर है, उसे देखते हुए यह पुस्तक निश्चित रूप से हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि का कारण बनेगी और समाजशास्त्र का गहराई से अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों तथा शास्त्र के आधारभूत तत्त्वो से परिचय प्राप्त करने वाले जिज्ञासुओं के लिए वरदान सिद्ध होगी।"

डॉ० मजूमदार, डॉ० इरावती कर्वे जैसे भारतीय विचारकों ने इस दिशा में बड़ा काम किया पर हिन्दी में समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक विवेचन और उसके विभिन्न पक्षों के प्रतिपादन पर पण्डित जी के ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। फिर तो डॉ० रघुराज गुप्त ने समाजशास्त्र तथा भारत में समाज-कल्याण, हरिदत्त वेदालंकार

ने भारतीय जनता तथा संस्थाएँ एवं मानव विज्ञान पर ऋषिदेव विद्यालंकार ने ग्रन्थ लिखे। गुरुकुल काँगड़ी के आचार्यों तथा स्नातकों ने समाजशास्त्र, राजनीति, इतिहास, विज्ञान तथा शिक्षा पर हिन्दी में उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थों की रचना की है। स्वामी श्रद्धानन्द जी इन विषयों पर उच्च कोटि के ग्रन्थ लेखन तथा अध्यापन की प्रेरणा देते रहे और गुरुकुल को ही इस बात का श्रेय है कि जब हिन्दी को अशक्त समझा जाता था तब यहाँ हिन्दी ज्ञान-विज्ञान के विषयों का अध्यापन-माध्यम ही नहीं, ग्रन्थ लेखन का माध्यम, सशक्त माध्यम सिद्ध हो चुकी थी। बाद में हिन्दी में समाजशास्त्र विषय पर ही रामबिहारी सिंह तोमर (हिन्दू विवाह एवं परिवार की समस्याएँ), पूरनचंद जोशी (आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन), के० एम० पणिक्कर (हिन्दू समाज निर्माण के द्वार पर) तथा परिपूर्णानंद वर्मा ने (अपराध, अपराधी और अभियुक्त) ग्रन्थों की रचना की, हिन्दी में अंग्रेजी की अपेक्षा इस विषय पर ग्रन्थ बहुत कम लिखे गए हैं और स्तरीय ग्रन्थों की संख्या तो और भी कम है पर पण्डित सत्यव्रत जी ने परिमाण और गुण दोनों की दृष्टि से अच्छे ग्रन्थ लिखे हैं। यह संतोषजनक स्थिति है।

दर्शन भारतीय चिन्तकों का प्रिय विषय रहा है। भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों पर हिन्दी में अच्छे ग्रन्थ लिखे गए हैं। भारतीय दर्शनों पर डॉ० राधाकृष्णन, अरविन्द घोष, आचार्य बलदेव उपाध्याय, राहुल, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० उमेश मिश्र महामहोपाध्याय, पण्डित गोपीनाथ कविराज, डॉ० देवराज तथा आचार्य नरेन्द्रदेव के ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो गए हैं। पाश्चात्य दर्शन और पश्चिम के अनेक प्रमुख दार्शनिकों पर भी हिन्दी मे मौलिक तथा अनूदित ग्रन्थ उपलब्ध हैं। पण्डित सत्यव्रत जी ने उपनिषद् और गीता को आधार बनाकर भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों का मंथन किया है तथा शंकर, रामानुज, मध्व, अरविन्द, तिलक, दयानंद, डॉ० राधाकृष्णन और विनोबा के साथ-साथ शापेनहावर, कांट तथा मार्क्स आदि के विचारों की ऊहापोह की है। आर्यसमाज और उसके मूल सिद्धान्तों के प्रिरप्रेक्ष्य में प्रस्थान-त्रयी के इन दो प्रस्थान-ग्रन्थों का विमर्श पण्डित जी की निजी विशेषता है। पण्डित जी आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में भारतीय सिद्धान्तों का अध्ययन कर उनकी सार्वभौमिकता प्रतिपादित करते हैं। इस दृष्टि से एकादशोपनिषद् भाष्य, गीता भाष्य, उपनिषद्प्रकाश तथा वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इन ग्रन्थो मे पण्डित जी की दृष्टि विशद, सर्वांगीण तथा समन्वयवादी रही है।

'एकादशोपनिषद् भाष्य' धारावाही हिन्दी में लिखी गई रचना है। प्रत्येक मंत्र का शब्दार्थ देकर अर्थ स्पष्ट किया गया है तथा भौतिक यथार्थ और आध्यात्मिक यथार्थ के धरातल पर वस्तु का विवेचन हुआ है। उपनिषद् वस्तुत: मानव चेतना का सर्वोच्च फल है। फ्रेडरिक श्लेगल की यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि उपनिषदों के सामने यूरोपीय तत्वज्ञान प्रचण्ड मार्त्तण्ड के सामने टिमटिमाता दिया है। शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ ने अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैत जैसे सिद्धान्तों के प्रतिष्ठापन में उपनिषदों का आश्रय ग्रहण किया है। सूफियों का रहस्यवाद तथा ईसाइयों के रहस्यात्मक देवतावाद के सूत्र भी उपनिषदों में खोजे गए हैं। उपनिषदो का प्रतिपाद्य उपासना और ज्ञान है। आरण्यक और उपनिषदें ज्ञान और उपासना प्रधान होने के कारण विचारकों के लिए प्रस्थान सिद्ध हुई हैं। आज तो 'उपनिषद्-वाक्य-महाकोश' में २२३ उपनिषदों की सूची उपलब्ध है तथा मुक्तिकोपनिषद् १०८ उपनिषदों की सूची प्रस्तुत करता है पर शंकर ने ईश, कोन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा श्वेताश्वतर ही भाष्य किया है और मध्व ने समुदाय विरुद्ध होने के कारण श्वेताश्वतर छोड़ दिया है, पर पण्डित जी ने शंकर की तरह श्वेताश्वतर को लेकर ११ उपनिषदों पर भाष्य किया है। महर्षि दयानन्द ने वेदार्थ के लिए दो आधार बताए हैं : (१) वेदों का अर्थ यौगिक पद्धति से करो, रूढ़ि से नहीं। (२) प्रमाण के लिए आर्ष ग्रन्थों का उपयोग करो अनार्ष का नहीं। निरुक्तकार के समय भी यद्यपि वेदाख्यान कहने वाले ऐतिहासिक पक्ष के समर्थक थे पर वह स्वयं इन व्याख्याकारों से सहमत न थे। यौगिक अर्थ प्रयोग के कारण ही निरुक्तकार ने

वेद में इतिहास का निराकरण किया था। पण्डित जी भी इसी धारणा के हैं कि वेद के मंत्रों के यौगिक पद्धति के अनुसार अनेक अर्थ हो सकते हैं। आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ तो हर एक मंत्र का किया जाता है। इनके अतिरिक्त भी एक ही मंत्र के अनेक अर्थ हो जाते हैं—वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि। जो विद्वान वेद में जिस प्रकार का विषय स्पष्ट पा जाता है वह उस मंत्र का ऋषि तथा जो विषय पा जाता है, वह उस मंत्र का देवता समझना चाहिए। मंत्रों के जो ऋषि तथा देवता लिखे हुए हैं, किसी समय विद्वानों ने वह विषय उन मंत्रों में देखा था; आज का विद्वान उस अर्थ से भिन्न अर्थ देख सकता है, इसलिए हमारे विचार के अनुसार मंत्र का ऋषि तथा देवता बदल सकते हैं। जिसका जितना ज्ञान होगा, उसी के अनुसार वह मंत्र में अर्थ को देखेगा। इस दृष्टि से विचार किया जाए और मंत्रार्थ करते हुए यौगिकवाद का सहारा लिया जाए तो हम गर्वपूर्वक कह सकते हैं कि वेद सब सत्य विद्याओं का ही नहीं, सब विद्याओं का मूल पुस्तक है।'

यह दृष्टि उपनिषदों के भाष्य मे पूर्णतया स्वीकार की गई है। पण्डित जी उपनिषदों में आए देवताओं का यौगिक दृष्टि से ही विवेचन करते हैं। महर्षि दयानंद से पूर्व शंकर प्रभृति आचार्य सर्वत्र ऐसा नहीं करते। उदाहरण के लिए केनोपनिषद् में आई यक्ष, इन्द्र, उमा संवाद की घटना लीजिए। उमा और इन्द्र परम्परावादियों के लिए दो भिन्न देवताओं के नाम हैं पर पण्डित जी यौगिक अर्थ के द्वारा इनका भिन्न अर्थ लेते हैं और इस आख्यान का वह भौतिक अर्थ न करके आध्यात्मिक और प्रतीकात्मक अर्थ करते हैं। इस अर्थ से यह कथा व्यापक हो जाती है। स्वयं उपनिषद्कार भी अधिदैवत और अध्यात्म अर्थ के पक्षधर हैं। अतः पण्डितजी का अर्थ उपनिषदानुगामी सिद्ध होता है। 'इत्यधिदैवतम्' तथा 'अथाध्यात्मं यदेतद्' कहकर उपनिषद्कार अपनी मंशा जाहिर कर देते हैं। पण्डित जी लिखते हैं—"इन्द्र उस आकाश में 'यक्ष' को ढूंढने लगा। ढूंढते-ढूंढते उसे एक स्त्री दिखलाई दी, अत्यन्त शोभायमान, सुवर्णालंकरणों से युक्त, हिम के समान शुभ्र—'उमा' उसका नाम। उमा दो अक्षरों से बना है—'उ' तथा 'मा'। उ का अर्थ है 'क्या' तथा मा का अर्थ है 'नहीं'। (अनेकार्थ संग्रह-कार तथा संस्कृत कोशकार आप्टे ने भी उ को प्रश्नवाचक बताया है।) उमा का अर्थ हुआ—क्या नहीं ? क्या है या नहीं—यह तर्क का, बुद्धि का काम है, इसलिए उमा का अर्थ है बुद्धि। यक्ष के तिरोहित होने पर इन्द्र अर्थात् जीव की उमा अर्थात् बुद्धि से बातचीत हुई। इन्द्र ने उमा से पूछा—यह यक्ष कौन था ?

"अग्नि तथा वायु—ये दोनों इस कथानक मे भौतिक शक्तियों के प्रतिनिधि तत्त्व हैं। अग्नि दृश्यमान भौतिक तत्त्व है, वायु अदृश्यमान भौतिक तत्त्व है। परन्तु दोनों अचेतन हैं, जड़ हैं। इन्द्र का अर्थ है जीवात्मा, अर्थात् चेतन तत्त्व अचेतन तथा चेतन जगत् ब्रह्म की शक्ति के कारण ही महिमाशाली है—इस बात को अग्नि, वायु तथा इन्द्र ने, जो क्रमशः अचेतन तथा चेतन जगत् के प्रतिनिधि हैं, भुला दिया। अचेतन तो जड़ है, इसलिए यक्ष ने एक तिनका सामने रखकर अग्नि तथा वायु के घमण्ड को शिथिल कर दिया परन्तु चेतन को—जीवात्मा को इन्द्र को यह समझाने के लिए कि उसकी विजय, उसकी महिमा भी ब्रह्म के कारण है, यक्ष उसके सामने से तो हट गया परन्तु उमा को अर्थात् बुद्धि को भेज दिया। हृदय के आकाश मे जो यक्ष तिरोहित हो गया था उसका पता उमा ने इन्द्र को अर्थात् बुद्धि ने जीवात्मा को दिया।"

इस निर्वचन के बाद पण्डित जी टिप्पणी करते हैं कि उपनिषदों का रहस्य समझने के लिए यह समझ लेना होगा कि उनकी दृष्टि में जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। इसलिए उनकी वर्णन शैली में भी वह जिस नियम को पिण्ड में घटाते हैं, उसी को ब्रह्माण्ड में भी घटाकर दिखलाते जाते हैं। इस उपनिषद् के प्रथम खण्ड में पिण्ड को लक्ष्य में रखकर कहा कि आँख, कान, मन आदि पिण्ड के अंग ब्रह्म नहीं हैं, ब्रह्म इनसे भिन्न है, इस खंड में ब्रह्माण्ड को लक्ष्य मे रखकर कहा कि ब्रह्माण्ड के अग्नि, वायु, इन्द्र आदि अंग ब्रह्म नहीं हैं, ब्रह्म इनसे भिन्न है। जैसे आँख, कान, मन आदि से भिन्न पिण्ड की आधारभूत शक्ति को प्रतिबोध से जाना जा सकता है वैसे ही अग्नि, वायु, इन्द्र आदि से भिन्न ब्रह्माण्ड की आधारभूत शक्ति को उमा-बुद्धि से जाना जा सकता है।

'प्रतिबोध' तथा 'उमा' का एक अर्थ है। इस प्रकार आप देखेंगे कि सम्पूर्ण उपनिषद् के आख्यानों का सांकेतिक-आध्यात्मिक अर्थ कर पण्डितजी निरुक्तकार और दयानन्दजी की पद्धति पर आर्ष साहित्य के विवेचन-विश्लेषण की परम्परा को आगे बढाते हैं। इसी आधार पर त्रिणाचिकेत अग्नि, नचिकेता यम, यज्ञ आदि शब्दों का अर्थ करते हैं तथा समानान्तर अंग्रेजी शब्द देकर विषय को स्पष्ट करते हैं। उपनिषद् मे आए शब्दों का आधुनिक विज्ञान-सम्मत शब्दार्थ करते हैं। जैसे ऐतरेय उपनिषद् में हृदय के लिए 'इमोशन' तथा मन लिए के 'रीजन' शब्द का प्रयोग, माण्डूक्योपनिषद् में बहिःप्रज्ञ को एक्स्ट्रोवर्ट तथा अन्त प्रज्ञ को इन्ट्रोवर्ट, वैश्वानर को इन्डिविज्यूलिटी, हिरण्यगर्भ को नेबुला तथा प्राज्ञ को अनकांशस कहना आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र का सहारा लेना है। तैत्तिरीय में प्राणतत्व या 'लाइफ सब्सटेन्स' का विवेचन करते हुए वैशेषिक दर्शन और सर आलिवर लाज जैसे वैज्ञानिक को उद्धृत किया गया है। तात्पर्य यह कि पण्डित जी ने उपनिषदों की व्याख्या करते हुए भारतीय पाश्चात्य दर्शनो के अतिरिक्त मनोविज्ञान तथा पदार्थ विज्ञान का भी उपयोग किया है, यह भाष्य की दूसरी विशेषता है।

भाष्य की तीसरी विशेषता है कि अश्लील तथा आपत्तिजनक समझे जाने वाले प्रसंगो की भी बुद्धि-ग्राह्य आध्यात्मिक व्याख्या पण्डितजी ने की है। उदाहरण के लिए बृहदारण्यक उपनिषद् के छठे अध्याय के चौथे ब्राह्मण की 'गर्भाधान' विधि लीजिए। यहाँ आया है कि यदि माता-पिता चाहें कि उनके यहाँ वेदो का ज्ञाता पुत्र उत्पन्न हो तो मांस और चावल पकवा कर औक्ष से या आर्षभ से घृत सहित खाएँ अर्थात् बैल का मांस खाएँ।

मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ
जनयितव्य औक्षेण वार्षभेण वा।

पण्डितजी का कथन है कि कुछ लोगों ने ऐसा अर्थ किया है पर मांसभक्षण के वैदिक एवं आर्य मर्यादा के विरुद्ध होने तथा उपनिषदों में अन्यत्र मांसभक्षण के प्रत्यक्ष निषिद्ध होने के कारण यह पाठ प्रक्षिप्त है। वह मांसौदन को 'माषौदन' पढ़ना ठीक समझते हैं। वस्तुतः चावल, उड़द और घी की खिचड़ी खाने से माता-पिता ऐसी समर्थ संतान पैदा करते हैं जो शरीर मे बैल के समान और ज्ञान में ऋषियों के समान हो। औक्ष का अर्थ उक्षा या जीवक नामक औषधि का गूदा भी है तथा आर्षभ ऋषभ नामक औषधि का गूदा है। अर्थात् जैसे अंग्रेजी मे स्टोन का अर्थ फल की गुठली होता है, वैसे ही आयुर्वेद में मांस का अर्थ औषधि का कोमल गूदा होता है। यदि 'मांसौदन' पाठ रखना ही है तब यह अर्थ करना होगा। इसके लिए पण्डितजी ने आयुर्वेद के ग्रन्थ 'भावप्रकाश निघंटु' के हरीतक्यादि वर्ग से यह श्लोक उद्धृत किया है :

जीवकर्षभकौ बल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ
मधुरौ पित्त दाहास्रकार्श्यवातक्षयापहौ। (१२५)

यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है कि जितने उपनिषद् के परम्परावादी भाष्य हैं, उनमे आयुर्वेद का प्रमाणभूत श्लोक उपलब्ध नहीं है। शांकरभाष्यानुसारी विद्यानन्दी मिताक्षरा संवलित एक परम्परित उपनिषद् भाषा में केवल इतना लिखा है — 'पति-पत्नी हलके फल के गूदे से मिश्रित चावल को पकाकर उसमें घी मिलाकर खावें। इससे वे उच्च योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं। उक्षा या ऋषभ नामक औषधि के गूदे के साथ खाने का नियम किया गया है न कि सांड़ या बैल के मांस के साथ।' (पृष्ठ ४२२) पण्डित जी ने इस तरह का अर्थ तो आयुर्वेदशास्त्र के आधार पर संपुष्ट कर ही दिया है पर 'माषौदन' का सुझाव देकर पहले प्रकरणो से उसका तालमेल भी बैठा दिया है। दूध-चावल-घी, दही-चावल-घी, तिल-चावल-घी पकाकर खाने का विधान क्रमशः १४, १५, १७ मंत्रों मे है अतः १८वें मंत्र में चावल-उड़द-घी का विधान

उचित ही है। यह प्रकरणसंगत अर्थ है। पण्डितजी यहाँ पाठ-सम्बन्धी भूल मानते हैं। जैसे तैत्तिरीय में शिक्षा के स्थान पर 'शीक्षा', तत् के स्थान पर 'त्यत्', निष्काम के स्थान पर 'नीकाम' पाठ चल रहा है, उसी तरह यहाँ 'माषौदन' पाठ रहा होगा जो किसी कारण 'मांसौदन' हो गया। अतः यह पाठ सुधार लेना चाहिए।

उपनिषदों का साम्प्रदायिक अर्थ भी हुआ है। पण्डित जी ने वैसे अर्थ से सर्वथा बचने की कोशिश की है। उनका भाष्य उपनिषद्कार के सही विचार और दृष्टिकोण का प्रतिनिधि है। उदाहरण के लिए छान्दोग्य में नारद और सनत्कुमार प्रसंग में आए एकायन शब्द को लीजिए। पण्डितजी ने इसका अर्थ नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र किया है। वैष्णवाचार्यों ने इसका अर्थ पाञ्चरात्र सम्बन्धी किया है। सेंट पीटर्सबर्ग शब्दकोश मे ऐक्य का सिद्धान्त अर्थात् एकेश्वरवाद बतलाया गया है। मैक्समूलर इसका अर्थ आचरण-शास्त्र करते हैं। संभूति तथा असंभूति का अर्थ क्रमशः समष्टिवाद तथा व्यक्तिवाद किया गया है। शंकरानुसारी आचार्यों ने संभूति का अर्थ हिरण्यगर्भ ब्रह्म तथा असंभूति का अर्थ अव्यक्त प्रकृति या बीजभूत अविद्या किया है। डॉ० सूर्यकान्त ने असंभूति का अर्थ अनस्तित्व और अभाव किया है तथा संभूति का अर्थ सत्ता या भाव किया है। पण्डित जी क्योंकि इस उपनिषद् को (ईशावास्य) कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादक मानते हैं अतः व्यक्तिवाद और समष्टिवाद के माध्यम से वह व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं। उनका कथन है कि जो संभूति अर्थात् समष्टिवाद तथा असंभूति अर्थात् व्यक्तिवाद इन दोनों को एकसाथ जानते हैं, वे असंभूति (अपना भला देखने की दृष्टि) अर्थात् व्यक्तिवाद से मृत्यु के प्रवाह को तो तैर लेते है, परन्तु अमृत को संभूति (सबका भला देखने की दृष्टि) अर्थात् समष्टि भाव से चखते हैं। असंभूति अथवा व्यक्तिवाद (इनडुवेलिज्म) विनाशमूलक है, इसलिए असंभूति का दूसरा नाम विनाश है। पण्डित जी टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि व्यक्तिवाद से क्या होता है? व्यक्ति अपने लिए खाने-पीने आदि के साधन जुटाकर अपनी रक्षा मात्र कर सकता है, परन्तु अगर यह स्वार्थ भावना बढ़ जाए, अपने को ही मुख्य रखा जाए तो इसका परिणाम विनाश के अतिरिक्त कुछ नही होता। यह स्वार्थ भावना समाज में व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है और व्यक्तिवाद नष्ट हो जाता है—इसीलिए कहा कि व्यक्तिवाद से मृत्यु को तो तर लेते हैं, मरने से बच जाते है परन्तु इससे अधिक इससे कुछ नहीं मिलता, इसमें ही फँसे रहने से व्यक्तिवाद का विनाश हो जाता है। असंभूति या व्यक्तिवादी गहरे अंधकार में है और संभूति या समष्टिवादी उससे भी गहरे अंधकार मे है। कहना न होगा कि पण्डित जी का अर्थ समाज-सापेक्ष व्याख्या के कारण अधिक उपयोगी और जीवन के निकट है।

जिस प्रकार याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी को उपनिषद् विद्या पढ़ाई थी, उसी प्रकार पण्डित सत्यव्रत जी ने विदुषी श्रीमती चन्द्रावती जी को उपनिषद् विद्या पढ़ाई। वे मनोविज्ञान की पण्डिता तथा उच्च कोटि के ग्रन्थों की लेखिका थी। पति द्वारा पत्नी को उपनिषद् पढ़ने-पढ़ाने का क्रम ही इस भाष्य के लेखन की प्रेरणा है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन जी ने इसकी भूमिका में लिखा है कि 'मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि प्रो० सत्यव्रत ने जो कई वर्षों तक गुरुकुल विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे हैं, धारा-वाही हिन्दी मे उपनिषदों का विस्तृत तथा गहन परिचयात्मक ग्रन्थ लिखा है जिसमें उपनिषदो का शब्दार्थ सहित मूल तथा उसकी धारावाही स्वतंत्र व्याख्या दी गई है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी-जगत् मे इस ग्रन्थ का स्वागत होगा, विस्तृत रूप में इस ग्रन्थ का अध्ययन होगा, सबका इससे भला होगा और इसके द्वारा पाठकों को आध्यात्मिक प्रसाद प्राप्त होगा।'

उपनिषदों पर पण्डित जी का दूसरा ग्रन्थ 'उपनिषद्प्रकाश' है। श्वेताश्वतर और मैत्रायणीयोप-निषद् पर आचार्य विज्ञान भिक्षु ने कभी 'उपनिषदालोक' नामक टीका लिखी थी। पण्डित जी ने ११ उप-निषदों पर 'उपनिषद्प्रकाश' नाम से ऐसा ही गहन विवेचन किया है। पण्डित जी का यह कथन महत्त्व का है कि वैदिक विचारधारा को समझने के लिए जितनी सामग्री उपनिषदों से मिलती है, उतनी अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं। अतः यह ग्रन्थ विश्लेषणात्मक हो गया है। पण्डित जी का चिंतन-मनन यहाँ पग-पग पर दिखाई देता

है। पण्डित जी यह मानते हैं कि उपनिषदों का मार्ग ज्ञान-प्रधान है, कर्मकाण्ड का मार्ग अकर मार्ग है। मुण्डक की व्याख्या करते हुए उन्होंने कर्मकाण्ड की पूर्व पक्ष मे तथा ज्ञानकाण्ड की उत्तर पक्ष मे चर्चा की है। अंगिरा ऋषि का मत ज्ञानकाण्ड] की प्रशंसा में ही उद्धृत है। जो लोग यज्ञादि कर्मों से स्वर्ग-प्राप्ति की बात कहते हैं वह उपनिषद्कार को स्वीकार नहीं। 'प्लवा: हि एते अदृढाः यज्ञ रूपाः' तथा 'अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः' जैसे मंत्रों की व्याख्या का तात्पर्य यही है। स्वर्ग-नरक की जैसी पौराणिक कल्पना ने उपनिषदों के इस प्रकरण को रँगा है तथा प्रश्नोपनिषद् में उत्तरायण-दक्षिणायन के प्रसंग मे जिस स्वर्ग-नरक की चर्चा परम्परावादी आचार्य करते रहे हैं, पण्डित जी वैसा नही मानते। महर्षि दयानन्द भी स्वर्ग-नरकादि नही मानते। पापात्मा की गति असुर लोक, पुण्यात्मा की गति उत्तरायण तथा साधारण आत्मा की गति दक्षिणायन मानी गई है। ईशोपनिषद् के तीसरे मंत्र 'असुर्यानाम ते लोकाः' तथा बृहदारण्यक के 'अनन्दा नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः' मंत्रों मे भी अविद्वान् तथा आत्महन्ता लोगों के मरने के बाद शून्य तथा अंधकारमय लोकों में जाने का वर्णन मिलता है। डा० भण्डारकर ने असुरलोक का अर्थ असीरिया किया है। उनके अनुसार आर्य लोग पापात्माओं को जीवन काल में ही या तो असीरिया की तरफ निकाल दिया जाता था या यह समझा जाता था कि मर कर वे असुर अर्थात् अंधकारमय लोक मे जाते थे। पण्डित जी ने इस धारणा के विरुद्ध अपनी सम्मति दी है। वह कहते हैं कि इस प्रकार के अर्थ इसलिए किए जाते हैं क्योंकि अनेक धर्मों मे पापात्माओं के लिए नरक तथा पुण्यात्माओं के लिए स्वर्ग की कल्पना पायी जाती है। हमारी सम्मति मे इन उद्धरणो मे स्वर्ग-नरक का वर्णन नहीं है। इन वर्णनों को न समझकर अन्य धर्मों मे इनके आधार पर स्वर्ग-नरक की कल्पना कर ली गई है। इनमें तो इतना ही लिखा है कि जो आत्महन् हैं, अविद्वान् हैं, अबुध है, अविद्या की उपासना करते हैं, वे आनंदरहित लोको में जाते हैं, अंधकारमय लोकों मे। जब इसी भूमि पर आनन्दरहित तथा अंधकारमय जीवन बिता सकते हैं, तब किसी दूसरे लोक की कल्पना करने की आवश्यकता क्या रहती है?" पण्डितजी तिलक की मान्यता को भी पूर्णतया स्वीकार नही करते। तिलक उत्तरायण-दक्षिणायन का सम्बन्ध ध्रुवप्रदेश से मानते है। उनका कहना है कि आर्य लोग पृथ्वी के ध्रुव बिंदु पर रहते थे। वहाँ छह महीने का दिन और छह महीने की रात होती है। सूर्य जब पृथ्वी की उत्तर दिशा में होता है, तब वहाँ छह महीने का दिन होता है और जब दक्षिण दिशा में होता है तब वहाँ छह महीने की रात होती है। जब वे कहते थे कि अविद्या के उपासक अंधकार मे प्रवेश करते हैं तब उनका अभिप्राय यह था कि जो अविद्या की उपासना करते हैं वे ध्रुव प्रदेश के अंधकारमय प्रदेश में धकेल दिए जाने योग्य हैं। तिलक की यह धारणा विचारणीय है। पण्डितजी कहते हैं कि तिलक का यह कथन तभी संगत है जब यह मान लिया जाय कि आर्य लोगों का मूल स्थान ध्रुव प्रदेश था। अगर सप्त सैंधव प्रदेश—जहाँ पश्चिमी पंजाब के सातों दरिया मिलते हैं—वह आर्यो का मूल स्थान रहा हो, अगर वे बाहर से न आकर यही के निवासी रहे हो, तब तिलक की विचारधारा कट जाती है और उत्तरायण तथा दक्षिणायन का वही अर्थ करना पड़ता है जो उपनिषदों ने, गीता ने तथा पिप्पलाद ऋषि ने किया है। उपनिषद् में उत्तरायण को प्राण तथा दक्षिणायन को रयि कहकर प्रथम को सृष्टि का धनात्मक पक्ष तथा दूसरे को ऋणात्मक पक्ष माना गया है। आत्मा की धनात्मक स्थिति ही स्वर्ग है और आत्मा की ऋणात्मक स्थिति नरक है। पहली को देवलोक तथा दूसरी को अवान्तर लोक कह सकते हैं। इसी द्वित्व का विस्तार सृष्टि मे भी दिखाई देता है। अंधकार-प्रकाश, जीवन-मृत्यु, सुख-दुःख, दिन-रात्रि ऐसे ही द्वित्व हैं। ऋग्वेद (१०/८८/१५) के 'द्वे सृती अशृणवं पितृणां अहम् देवानां उतमर्त्यानाम्' मंत्र में आए पितृमार्ग तथा देवमार्ग का भी यही तात्पर्य है यद्यपि डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने 'आर्यों का आदि देश' ग्रन्थ में इसका अर्थ भिन्न किया है। वह कहते हैं कि देवयान का अर्थ है—देवों का मार्ग और पितृयाण का अर्थ है—पितरो का मार्ग। देवयान वह सड़क है जिससे देवगण यज्ञ में दिए हुए हव्य को लेने पृथ्वी पर आते हैं और पुण्यात्मा पुरुष शरीर छोड़ने पर स्वर्गादि ऊपर के लोक में जाते हैं। पितृयाण वह सड़क है जिससे पितृगण अपनी संतान के दिये हुए हव्य को ग्रहण करने के लिए

पृथ्वी पर आते हैं और साधारण मनुष्य शरीर छोड़ने पर पितृलोक और यम-सदन को जाते हैं। देवयान प्रकाशमय और पितृयाण अंधकारमय है।' डॉ० सम्पूर्णानन्द जी का यह विचार सम्पूर्ण सनातन धर्म का है। इसी के आधार पर वह श्राद्ध का समर्थन करते हैं पर महर्षि दयानंद इस धारणा को भ्रान्त मानते हैं। पण्डित सत्यव्रत जी भी स्वामी जी के अनुसार इस प्रकरण को लाक्षणिक मानते हैं। गीता (८/२४,२५) के 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्' श्लोको की व्याख्या मे उन्होंने शुक्लगति और कृष्णगति का लाक्षणिक अर्थ करते हुए इस प्रसंग को स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि शुक्ल गति (उत्तरायण) अर्थात् शुभकर्म, कृष्णगति (दक्षिणायन) अर्थात् अशुभ कर्म—इन दोनो मार्गों से संसार के प्राणी चला करते हैं। अच्छे कर्म करने वाले ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, बुरे कर्म करने वाले बार-बार इस मर्त्यलोक के चक्कर मे फँसा करते है। शुभ कर्म को लाक्षणिक तौर पर प्रकट करने के लिए ज्वाला, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण जहाँ छह महीने तक सूर्य अस्त ही नही होता—आदि शब्दों से प्रकट किया है; अशुभ कर्म को लाक्षणिक तौर पर प्रकट करने के लिए धधकती चिता के धुएँ, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन (जहाँ छह महीने सूर्य का प्रकाश दीखता नही)—आदि शब्दों से प्रकट किया है। जैसे गीता यज्ञ का प्रतीकात्मक अर्थ करती है, वैसे ही कर्मकाण्डियों द्वारा प्रयुक्त इन दो शब्दो का भी आध्यात्मिक अर्थ करती है। कर्मकाण्डियो की स्वर्ग-नरकादि की कल्पना को पुराणों ने बढ़ा-चढ़ा कर कहा और उपनिषद् के टीकाकारो ने उसी प्रभाव से स्वर्गादि लोकों की कल्पना की। यज्ञादि को क्योंकि स्वर्गादि कामनाओं की पूर्ति का साधन माना गया अतः उपनिषद् के टीकाकार स्वर्ग-नरकादि की कल्पना करने लगे। पुनर्जन्म के विषय में पण्डितजी ने आधुनिक परामनोविज्ञान-वादी आचार्यों के मन्तव्यो का सहारा लिया है। रेमोण्ड ए० मोडी की पुस्तक 'लाइफ आफ्टर लाइफ' को उद्धृत कर उपनिषद् के मन्तव्य को प्रमाणित किया गया है। निरुक्तकार ने हृदय शब्द की जो निरुक्ति की है, उसका समर्थन यूरोपीयन वैज्ञानिक हार्वे की खोज से किया है। इसी तरह गायत्री की तीन व्याहृतियो का अर्थ अस्ति (भू:), भाति (भुवः), प्रीति (स्वः) बीग, बीकमिंग तथा ब्लिस कर जीवन-सापेक्ष किया है। बृहदारण्यक के बहुदेवतावाद तथा एकदेवतावाद प्रसंग में कहा गया कि देवता ३०३३ तथा ३००३ हैं पर 'महिमानः एवं एषाम्' के कारण यह सत्य है कि देवता तो एक है पर उसकी महिमा बखानने के लिए देवताओ की संख्या विस्तार से कह दी गई। श्वेताश्वतर में 'अजामेकां लोहित कृष्णशुक्लाम्' ऋचा का अर्थ करते हुए पण्डितजी ने दयानन्दजी के 'त्रित्ववाद' का समर्थन किया है। सृष्टि प्रकरण में पण्डित जी ने अरस्तू तथा डॉ० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे के विचारों की मीमासा भी की है तथा बताया कि ग्रीक विचारक एनक्सेगोरस तथा अरस्तू से भी पहले पिप्पलाद ने कबन्धी को जड़-चेतन युगल से सृष्टि का होना बतलाया था। ईशावास्योपनिषद् मे सृष्टि के उपादान-कारण पर विचार करते हुए आधुनिक विज्ञान की शब्दावली का प्रयोग पण्डित जी की अपनी विशेषता है। ऐतरेय उपनिषद् में पुरुष की उत्पत्ति, जन्म-जन्मान्तर तथा मुक्ति के प्रसंग में भी उन्होंने मौलिक बात कही है। पिता, माता तथा आचार्य की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए आपने बताया कि सन्तान के उत्पन्न होने से पहले ही उसे संस्कारों की भावना देना—माता तथा पिता दोनों का कर्त्तव्य है। छान्दोग्य में जाबाल सत्यकाम की आख्यायिका का भी समसामयिक संदर्भों में पण्डित जी ने अच्छा विश्लेषण किया है। उनका कथन है कि अवैध संतान सत्यकाम को गुरु ने इस लिए ब्राह्मण नही कहा कि वह किसी अज्ञात ब्राह्मण का पुत्र है, गुरु ने उसे सच बोलने के कारण ब्राह्मण कहा क्योंकि सत्य ब्राह्मण का विशेष गुण है। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि सत्यकाम को अपना शिक्षा काल प्राकृतिक वातावरण में बिताने को कहा गया। ४-५ वर्ष जो व्यक्ति प्राकृतिक वातावरण में रहेगा, कड़ी धूप, कड़ी सर्दी, आँधी-पानी में तपस्यामय जीवन व्यतीत करेगा, वह जीवन की हर चोट को बर्दाश्त कर सकेगा, कहीं नहीं टूटेगा। तीसरा शिक्षा का सम्बन्ध आजीविका और उद्योग से भी होना चाहिए। प्राचीन काल में जीवन का सारा कार्यक्रम कृषि से जुड़ा हुआ था अतः कृषि को शिक्षा के साथ जोड़ दिया गया। बालक की शिक्षा कृषि के वातावरण में होने

लगी। गौओं की गतिविधियों से उसका परिचय कराना आवश्यक हो गया। आजकल भी शिक्षा के क्षेत्र में योजना पद्धति या 'प्रोजेक्ट सिस्टम' का विशेष महत्त्व है। अमरीका में योजना पद्धति का जन्म (१८५६-१९५२) जान ड्यूई द्वारा हुआ। योजना पद्धति से प्रेरणा लेकर गांधी जी ने 'बुनियादी तालीम' की नीव रखी परन्तु भारत मे इस प्रद्धति का श्रीगणेश सत्यकाम के 'गोपालन' को योजना से हारिद्रुमत मुनि ने की थी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'उपनिषद्‌प्रकाश' उपनिषदों की आधुनिक आवश्यकताओ के अनुसार लिखी गई व्याख्या है। तर्कसम्मत यह निर्वचन पण्डित जी को स्वतंत्र युगचेता आचार्य के रूप मे हमारे सामने प्रतिष्ठित करता है।

उपनिषद्-चिन्तन के अतिरिक्त पंडितजी की अन्य महत्वपूर्ण कृति है 'गीताभाष्य'। श्री लालबहादुरजी शास्त्री ने इस भाष्य की भूमिका में लिखा है—'मैंने प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का किया हुआ गीता का अनुवाद तथा भाष्य देखा है। वह विवेकपूर्ण है, उसकी भाषा प्रांजल तथा सुन्दर है। इसकी रचना उन्होने इस प्रकार की है ताकि इससे पंडित वर्ग तथा सर्वसाधारण जनता दोनो लाभ उठा सकें। मैं उनके इस सफल प्रयास के लिए उन्हे बधाई देता हूँ।'

गीता महाभारत के भीष्मपर्व में पाई जाती है। कर्म, उपासना तथा ज्ञान का समुच्चय इसका प्रतिपाद्य है। यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय है कि शंकर, रामानुज, मध्व, केशव काश्मीरी तथा बलदेव विद्याभूषण ने अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत तथा अचिन्त्यभेदाभेद के आधार पर और अभिनवगुप्त ने त्रिकदर्शन के आधार पर गीता की टीकाएँ लिखी हैं। श्री वैष्णव सम्प्रदाय के यामुनाचार्य का गीतार्थ संग्रह, मध्व का गीता तात्पर्य निर्णय भक्तिपरक टीका ग्रन्थ हैं। एकांतवादी सम्प्रदायों ने ज्ञान, कर्मादि को वैकल्पिक मानकर गीता का एकांगी चिन्तन प्रस्तुत किया। गीता धर्म समुच्चयवादी धर्म है। तिलक, गाधी, विनोबा तथा पंडित रामसुख दास ने गीता पर आधुनिक दृष्टि से अच्छा विचार किया है। सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन और साम्प्रदायिक दृष्टि से सम्पन्न भाष्यों के अतिरिक्त गीता पर स्वतंत्र चिन्तनमूलक ग्रन्थ हिन्दी मे तो बहुत कम है ही, संस्कृत में भी नही हैं। गीता का अध्ययन स्वतंत्र रूप से नहीं हुआ। वेदान्त के स्मार्त प्रस्थान मे गीता प्रमुख है और श्रौत प्रस्थान उपनिषद् तथा दार्शनिक प्रस्थान ब्रह्मसूत्र के साथ वह भी आलोच्य वस्तु रही है अतः प्रस्थान विषयक चिन्तन से संवलित अर्थ ही मुख्यतया गीता के हुए। गीता के मूल सिद्धान्तो की खोज इन सम्प्रदाय-निष्ठ भाष्यों मे बड़ी दुरूह है। जीवनशंकर याज्ञिकजी ने तो यहाँ तक लिखा है कि भाष्यकारो ने जैसा अपने अनुभव से गीता को समझा, वैसा ही वर्णन किया है। उनके समन्वय मे जो आनन्द है, वह उनके पक्षपात और विरोध की आलोचना में नही है। पंडित सत्यव्रतजी का गीताभाष्य गीता के मूल सिद्धान्तो की खोज मे सम्प्रदायबद्ध दृष्टि से रहित एक व्यावहारिक चिन्तन प्रस्तुत करता है जिसमे शकर, तिलक, अरविन्द तथा विनोबा आदि विचारकों के मन्तव्यों की यथास्थान परीक्षा के बाद सार का ग्रहण तथा असार का परित्याग कर दिया गया है। पंडितजी ऋषि दयानंद के अनुसार गीता के सांख्य को ईश्वरवादी मानते हैं। त्रैतवाद तथा ब्रह्मात्मैकत्ववाद जैसे विरोधी प्रतीत होने वाले सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन करते हैं। सेश्वरवादी सांख्य के कारण यहाँ प्रकृति, पुरुष तथा ईश्वर—इन तत्त्वों की व्याख्या की गई है। 'वासुदेवः सर्वम्' सिद्धान्तानुसार अवतारवादी दृष्टिकोण का भी निरसन हो जाता है। पंडितजी का दृष्टिकोण है कि गीता का लक्ष्य किसी पारमार्थिक या पारलौकिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना नही है, उसका मुख्य विषय जीवन की व्यावहारिक समस्या को, नैतिक समस्या को हल करना है। प्राचीन आचार्यों की तरह यद्यपि श्री अरविन्द की दृष्टि इससे भिन्न है तथापि कर्तव्य-अकर्तव्य, उचित-अनुचित की धुरी पर टिकी विचारधारा के कारण पंडितजी गीता को व्यावहारिक समस्याओं का समाधान मानने के पक्षपाती हैं। उनका कथन है कि श्रीकृष्ण ने जिस नवीन तथा अद्भुत विचारधारा को जन्म दिया उसे उसने निष्कामता, निस्संगता, फलासक्ति-त्याग, निमित्त मान्यता, भगवदर्पणता का नाम दिया। इसी विचार को केन्द्र में रखकर गीता ने सब पारमार्थिक सिद्धान्तों का आश्रय

लिया है। संभवतः इसी आशय से गीताकार ने कहा है : 'ये यथामां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' जो जिस मार्ग से भी चले, द्वैत से, त्रैत से, अद्वैत से, सगुण से, निर्गुण से, अवतार से, विश्व रूप से, कर्म से, भक्ति से, ज्ञान से—सब पारमार्थिक सिद्धान्तों का परिणाम एक है, यह एक कि सब पारमार्थिक सिद्धान्तो का प्रवाह उसी एक दिशा की तरफ ले जा रहा है, वह एक दिशा कि मानव-जीवन का सार निस्संगता और निष्कामता है। यह एक ऐसा नवीन तथा अद्भुत विचार है कि सदियाँ बीत जाने पर भी इस विचार की नवीनता आज भी वैसी ही बनी हुई है जैसे पाँच हजार साल पहले थी। इसी अद्भुत विचार के कारण गीता विश्वसाहित्य का मूर्धन्य तथा अमर ग्रन्थ बना हुआ है।

इस भाष्य में श्लोक, पदच्छेद, शब्दार्थ देकर पुनः विचारणीय विषय स्पष्ट किया गया है तथा शंकर, मध्व, तिलक, अरविंद, गांधी, विनोबा तथा दामोदर सातवलेकर के विचारों को देकर अपनी बात कही है और इसके बाद भी यह गुंजाइश छोड़ दी है कि पाठक सबके विचारों को जानकर अन्त में अपनी स्वतंत्र राय बना सके। पण्डित जी गीता का दृष्टिकोण समन्वयात्मक ही मानते हैं—'मम वर्त्मानुवर्तन्ते' के अनुसार वह कहते हैं कि जिस मार्ग का भी निर्देश किया जाए उसमे दूसरा मार्ग मिल ही जाता है। आधार में सब मार्ग एक ही हैं। जब एक मार्ग का वर्णन किया जाए तब दूसरे मार्ग की बात उसमें आ ही जाती है। कर्मयोग की चर्चा करें तो कर्म के फल को छोड़ने की बात गीता कहती है, कर्म के फल को छोड़ना ज्ञानयोग है। ज्ञानयोग की चर्चा करें तो कर्म तो करना ही होगा, हाँ कर्म में आसक्ति छोड़ी जा सकती है, यह बात कर्मयोग है। भक्तियोग की चर्चा करे तो सब कुछ भगवदर्पण कर दो जो कर्म करो, परमात्मा के लिए करो, अपने लिए न करो। जिस योग की भी चर्चा करे, उसमें दूसरे योग आ जाते हैं। प्राणी जिस योग्य होगा, उस मार्ग को अपनाएगा। गीता प्रवृत्ति भेद से साधन भेद का मार्ग दिखाती है पर इन तीनों का अन्तिम परिणाम 'कर्म-फल त्याग'—कर्मफल को छोड़ देना है, अतः साधन भेद होने पर भी लक्ष्य में एकता है।

पण्डित जी उपनिषदों के आख्यानों की तरह गीता के आख्यान की भी आध्यात्मिक व्याख्या करते हैं। वह इस संवाद को व्यक्ति के मन मे हो रहे अन्तर्द्वन्द्व का प्रतीक मानते हैं। इस अन्तर्द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के कारण ही गीता को उपनिषद्, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र कहा जाता है। गीता ने महा-भारत के युद्ध के समय अर्जुन की मानसिक उथल-पुथल को शांत किया, यह उसका सामयिक पहलू था परन्तु साथ ही गीता ने अर्जुन को साधन बनाकर हर व्यक्ति के मानस मे चल रहे मोहजनित अन्तर्द्वन्द्व तथा मानव समाज में हो रहे संघर्ष का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके ऐसे तथ्यों को प्रकट किया जो हर देश-काल के लिए उपयोगी है, यह इसका स्थायी पहलू है।

गीता मे श्रीकृष्ण का विश्वरूप होना, अवतारवाद का समर्थन, दिव्य दृष्टि, संन्यास तथा कर्म, ज्ञान एवं भक्ति का एकान्तिक पक्ष प्राचीन आचार्यों से लेकर आज तक विवाद के बिंदु रहे हैं। बुद्धिवादी आधुनिक तो दिव्य दृष्टि या अवतारवाद मे विश्वास ही नहीं रखते। दिव्य दृष्टि का तात्पर्य इतना ही है कि श्रीकृष्ण मानते हैं कि तू अपनी मानवीय आँखों से ही सब कुछ नही देख सकता। अनेकता में एकता या खंडों में अखड को देख लेना ही दिव्य दृष्टि है जो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को प्रदान की है। यह पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारे, जगत् के जीव-जन्तु सब में उसी का शरीर उसे दीखने लगा। नाना रूप जगत् एक ही पुरुष का जीवित शरीर अनुभव हुआ। डॉ॰ राधाकृष्णन का कथन है कि 'दिव्य दृष्टि' एक आध्यात्मिक अनुभव है। स्वामी चिन्मयानंद इसे बौद्धिक ज्ञान मानते हैं। देश और काल, स्पेस और टाइम दो तत्त्व ऐसे हैं जिनसे एक वस्तु दूसरी से जुदा दीखती है। इन दोनों कारणों का हट जाना दिव्य दृष्टि है। श्री सातवलेकर ने भी अनेकता में एकता को देख लेना ही दिव्यदृष्टि माना है। विभूतियोग के प्रसंग में कहा गया 'वासुदेवः सर्वम्' ही दिव्य दृष्टि है। हमारा ज्ञान समूचे का ज्ञान हो, टुकड़े का नहीं, इसके बाद ही विश्व रूप का दर्शन होता है। आज विज्ञान भी यही कहता है कि एक-एक अणु सौरमंडल है और जो सौरमंडल में है, वही अणु में भी है। पंडितजी का कथन है

कि विश्वरूप का दर्शन वैदिक विचार है। पुरुष सूक्त इसका समर्थक है। 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो' मंत्र भी इसका समर्थक है। पण्डित चमूपति जी तथा विनोबा जी की मनोविज्ञानसम्मत धारणाओं को भी लेखक ने इस प्रसंग में व्यक्त किया है।

अवतारवाद के समर्थक गीता में 'यदा यदा हि धर्मस्य' श्लोक अपने पक्ष का पोषक मानते हैं। शंकर, रामानुज, मध्व तथा वल्लभ अवतारवाद के समर्थक हैं। पण्डित जी और आर्यसमाज अवतारवाद स्वीकार नहीं करता। हाँ, यह बात ठीक है कि सृष्टि में जब भी अनिष्टकारी शक्तियाँ प्रबल होती हैं तब उनका प्रतिकार करने वाली शक्तियाँ भी प्रकट हो जाती हैं। उस आध्यात्मिक विचार शक्ति के सहारे हम उस कठिनाई से उबर जाते हैं। वह आगे कहते हैं कि प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी सभ्यता और संस्कृति का जन्म चुनौती तथा प्रत्युत्तर, चैलेंज एण्ड रैंसपोंस से मानते हैं। यह चुनौती भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक हो सकती है। परमात्म शक्ति इसी का समाधान सुझाने के लिए हममे से किसी एक में असाधारण विचारशक्ति पैदा कर उस चुनौती का प्रत्युत्तर दिला देती है। *यह विश्व का नियम है, अब इसे कोई अवतारवाद कह ले या पैगम्बरवाद।* (ईश्वर तथा ईश्वर का कोई प्रतिनिधि बेटा अवतार नही लेता) इस प्रसंग में पण्डित जी ने पैगम्बरी या पौराणिक अवतार मत का खण्डन तथा अरविन्द के विशेष दर्शन का गंभीर विवेचन किया है। शंकर तथा अरविन्द के अद्वैत के भेद को बताया है तथा बताया है कि अरविन्द कैसे अतिमानस का प्रयत्नपूर्वक अवतरण 'अवतारवाद' के रूप मे देखते हैं। पण्डित जी का अपना विचार है कि समाज की चुनौती जिस हृदय पर चोट कर उसे जगा देती है, वही अवतार कहलाता है। वह परमात्मा का अवतार नहीं होता, सम्पूर्ण समाज की पुकार का साकार अवतार होता है। 'अर्जुन या मोहग्रस्त, किंकर्त्तव्यविमूढ़ की स्थिति पर सांख्य, योग (कर्म, ज्ञान, भक्ति) तथा स्थितप्रज्ञ की दृष्टि से विचार कर अनाशक्ति से सात्विक कर्म करना उचित है' की प्रेरणा देना ही गीताकार या उस अवतार का प्रयोजन होता है। गीता का मुख्य प्रतिपाद्य क्या है? शंकर ने ज्ञानयोग, रामानुज ने भक्तियोग, तिलक ने कर्मयोग, अरविन्द ने दिव्यकर्मयोग तथा पण्डित सत्यव्रत ने समन्वययोग को गीता का प्रतिपाद्य बताया है। उनके अनुसार गीता में ज्ञान, भक्ति, कर्म तथा दिव्य कर्मयोग चारों हैं, कोई एक नही। अतः सम्प्रदायनिष्ठ दृष्टि से गीता का मर्म नहीं समझा जा सकता। पण्डित जी के भाष्य की एक विशेषता यह है कि इसमे सांख्य, न्याय, वेदांत योग आदि के सिद्धान्तों के साथ-साथ आधुनिक दार्शनिकों-विचारको की मान्यताओं का भी यथास्थान विवेचन किया गया है। अरविन्द की दार्शनिक मान्यताओं पर विशेष रूप से विचार किया गया है। गीता संन्यास पर भी नई दृष्टि से प्रकाश डालती है। कर्ममात्र को छोड़ने का नाम संन्यास नही है, कर्म के त्याग करने के स्थान में कर्म के फल का त्याग करना उचित है। संन्यास में काम्य कर्मों का त्याग करना पड़ता है, कर्म सभी काम्य हैं, इसलिए सभी कर्मों को छोड़ना पड़ता है। त्याग में कर्म नहीं, फल को छोड़ना पडता है। इस स्थल पर मीमांसकों और शंकर के मत को उद्धृत कर पण्डित जी कहते हैं कि 'काम्याना कर्मणां न्यासं' श्लोक का सीधा-सादा अर्थ इतना ही है कि कर्म के दो भेद होते हैं—फल की आशा को लेकर किए गए काम्य कर्म और फल की आशा को छोड़कर किये गये 'निष्काम कर्म' इन दोनों में गीता काम्य अर्थात् सकाम कर्म के स्थान पर 'निष्काम कर्म' करने को श्रेष्ठ मानती है। यहाँ अरविन्द, विनोबा के विचारों का भी विमर्श हुआ है। पण्डित जी के भाष्य का सार है 'गीता का उपदेश *फलाशा को त्याग कर,* आसक्ति को त्याग कर कर्म करना है—यही निष्काम कर्म है, यही कर्म योग है, यही गीता का सार है।' इस तरह पण्डित जी का गीताभाष्य सर्वजनोपयोगी तथा व्यावहारिक अधिक है। गीता के मुख्य टीकाकारों के विचारों का यथास्थान संकलन उसकी दूसरी विशेषता है तथा गीता की प्रतीकात्मक व्याख्या द्वारा इसका सर्वजनोपयोगी रूप का प्रकटीकरण अर्थात् गीता की स्वतंत्र जीवनोपयोगी व्याख्या इसकी तीसरी विशेषता है। श्रीकृष्ण निष्कामता को व्यावहारिक मानते हैं, अव्यावहारिक नही और पण्डित जी ने इसी दृष्टि से अपने विचारों का ढाँचा खड़ा किया है।

वैदिक संस्कृति और उसके आधारभूत तत्त्वों का विवेचन पण्डित जी ने 'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व' पुस्तक में किया है। वह सभ्यता और संस्कृति मे मौलिक भेद मानते हैं। सभ्यता उनकी दृष्टि में भौतिक तथा संस्कृति आध्यात्मिक होती है। सभ्यता भौतिक विकास का नाम है, संस्कृति आध्यात्मिक विकास का नाम है। दोनों साथ-साथ भी चल सकती हैं तथा एक दूसरे के बिना भी रह सकती हैं, पर दोनों में संस्कृति का स्थान ऊँचा है—ऐसी संस्कृति का जिसके आधार मे सच्चाई, ईमानदारी, संतोष, संयम, प्रेम आदि आध्यात्मिक तत्त्व काम कर रहे हों। मिस्र, ग्रीक, रोम, बेबीलोन की संस्कृतियाँ पुरानी रही हैं पर नष्ट हो गईं, इसलिए कि उनके पास कोई केन्द्रीय विचार नही था जो देश-काल की सीमाओं को लाँघ कर जीवित रहता। भारत की संस्कृति इसलिए जीवित रही कि इसके पास वेद, उपनिषद् तथा गीता रहे। भोग और त्याग—इन दोनों सत्यों का सम्मिश्रण संसार की और किसी संस्कृति मे नही है सिर्फ वैदिक संस्कृति में है। अन्य संस्कृतियाँ इन दोनों मे से एक सत्य को ले भागी। कोई त्यागवाद को ले बैठी, कोई भोगवाद को; किसी ने प्रकृतिवाद को, भौतिकवाद को जन्म दिया, किसी ने कोरे अध्यात्मवाद को। भोग और त्याग का समन्वय, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का मेल केवल वैदिक संस्कृति मे पाया जाता है और यही इस संस्कृति का आधारभूत मौलिक विचार है। पूँजीवाद, समाजवाद, कम्यूनिज्म की चर्चा करने के बाद पण्डित जी जिस विश्वव्यापी वैचारिक संघर्ष और परिवर्तन की बात करते हैं, विनोबा के भूदान की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि आर्थिक समस्या मनुष्य की पहली पर अन्तिम समस्या नही है। उक्त तीनों वाद आधार मे भौतिक संस्कृति के परिणाम हैं, इसके बाद अध्यात्मवादी वैदिक संस्कृति का कार्यक्षेत्र प्रारम्भ होता है। जैसे कोरा भौतिकवाद संसार का भला नहीं कर सकता, ऐसे ही कोरा अध्यात्मवाद भी संसार का भला नही कर सकता। निष्कामता या कर्मफल का त्याग हमारा लक्ष्य होना चाहिए। 'निष्काम भाव' का विचार वैदिक संस्कृति का दूसरा मौलिक आधार है। इसमें कर्म का त्याग नही, कर्मफल का त्याग उचित ठहराया गया है। पण्डित जी का यह भी कहना है कि निष्काम कर्म असंभव नहीं संभव है, व्यावहारिक है। तीसरा सिद्धान्त कर्म का सिद्धान्त है। कर्मों का चक्र ही भाग्य है। प्रत्येक कर्म का फल भोगना पड़ता है यह अवश्यंभाविता है। कार्य-कारण सिद्धान्त से विवेचना करते हुए पण्डित जी कर्मफल की युक्तियुक्त व्याख्या करते हैं। यहूदी, ईसाई, मुसलमानो के सिद्धान्तो पर विचार करते हैं। फिर आत्मतत्त्व, विश्वबन्धुत्व, संस्कार, वर्णव्यवस्था तथा आध्यात्मिक मनोविज्ञान की चर्चा करते हुए वैदिक संस्कृति का सामाजिक, आर्थिक तथा दार्शनिक-आध्यात्मिक विश्लेषण करते हैं। संस्कारो पर उनका बल अधिक है क्योंकि समाजोपयोगी नव मानव का निर्माण इनसे ही संभव है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास को जीवन-यात्रा के पड़ाव मानते हुए इनकी उपयोगिता प्रमाणित करते हैं। वानप्रस्थाश्रम के साथ अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था उनकी मौलिक दृष्टि है। वर्णव्यवस्था का वह आध्यात्मिक आधार मानते हैं। उनका कहना है, वर्ण और वर्ग मे अन्तर है, वर्णव्यवस्था और श्रम-विभाग एक वस्तु नही है। श्रम-विभाग का आधार आर्थिक है, वृत्ति या व्यवसाय है तथा वर्ण-व्यवस्था का आधार मनोवैज्ञानिक है, प्रवृत्ति या प्रोपेनसिटी है। वैदिक संस्कृति के समाजशास्त्र ने मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियो के आधार पर वर्ण-व्यवस्था को जन्म दिया। यह पुस्तक वैदिक संस्कृति का सार प्रस्तुत करती है तथा आधुनिक विचारों के परिप्रेक्ष्य मे भारतीय संस्कृति की सार्थकता प्रमाणित करती है। वैदिक संस्कृति के विकास का स्वाभाविक क्रम और उसकी वैज्ञानिकता का आभास इसी पुस्तक से होता है।

'संस्कारचन्द्रिका' मानव के नवनिर्माण के लक्ष्य को लेकर लिखी गई पुस्तक है। भारतीय धर्मशास्त्रों में संस्कारों का बड़ा महत्त्व बतलाया है। शरीर एवं वस्तुओं की शुद्धि के लिए उनके विकास के साथ समय-समय पर जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें संस्कार कहते हैं। गर्भाधान से अन्त्येष्टिपर्यन्त १६ संस्कार होते हैं। नीलकंठ कृत संस्कार-मयूख, तथा मित्र मिश्र कृत संस्कार-प्रकाश इस विषय के अच्छे ग्रन्थ हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय ने भी संस्कारों पर अच्छी पुस्तक लिखी है। जिस व्यक्ति का समय से विहित संस्कार न हो उसे संस्कार-

हीन या व्रात्य कहा जाता है। इन संस्कारों का सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक महत्त्व है। आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विशेषताओं से सम्पन्न सामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण ही इन संस्कारों का महत्त्व है। इन संस्कारों से व्यक्तित्व सम्बन्धी दोषों का परिहार तथा गुणों का आधान होता है। डॉ० पी० वी० काणे ने धर्मशास्त्र का इतिहास में संस्कारों के उद्देश्य, कोटियों, संख्या तथा विधि पर विस्तार से विचार किया है। आधुनिक युग मे महर्षि दयानंद ने संस्कार-विधि लिखकर एक बड़े अभाव की पूर्ति की। हारीत आदि के संस्कार-तत्त्व जैसे ग्रन्थ सर्वथा वैदिक विचारधारा के अनुयायी नही कहे जा सकते। पण्डित सत्यव्रत जी ने संस्कार-विधि की वैज्ञानिक व्याख्या 'संस्कारचन्द्रिका' नाम से की। सत्यार्थप्रकाश स्वामी जी का विचारात्मक ग्रन्थ है और 'संस्कार-विधि' उसका व्यावहारिक पक्ष है। पण्डित जी से पूर्व पण्डित भीमसेन और पण्डित आत्माराम जी ने 'संस्कारचन्द्रिका' नाम से पुस्तक लिखी थी पर संस्कारों की विधि तथा उद्देश्य का विवेचन उसमे न था। पण्डित सत्यव्रत जी की पुस्तक इस विषय पर लिखे गए ग्रन्थों में सर्वोत्कृष्ट है।

संस्कारों की महत्ता तो 'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व' पुस्तक मे पण्डित जी ने बताई ही थी, इस पुस्तक में उन सूत्रो का विस्तार हुआ है। पण्डित जी लिखते हैं, "कर्म तथा जन्म-जन्मान्तर मानने वाली वैदिक संस्कृति के लिए 'नवमानव का निर्माण' एक विकट समस्या थी। कर्म एक इतनी बड़ी रुकावट थी जिससे मानव समाज एक कदम भी आगे नही बढ़ सकता था। इस रुकावट को देखकर वैदिक संस्कृति की चेतना ने मानव के निर्माण के एक बिल्कुल नये विचार को जन्म दिया और संस्कारों की एक ऐसी प्रथा को प्रचलित किया जिसका उद्देश्य ही मनुष्य समाज को लगातार बदलकर ऊँचे-ऊँचे ले जाना था। नये समाज के लिए नया मनुष्य बनाना होगा, मनुष्य समाज तब बदलेगा जब एक-एक मनुष्य बदलेगा, एक-एक मनुष्य तब बदलेगा जब उसके निर्माण के समय पहले नक्शा खीचकर, नक्शा सामने रखकर उसका निर्माण होगा। जैसे मकान बनाया जाता है, मकान बनाने से पहले उसकी रूप-रेखा खीची जाती है, एक-एक ईट, एक-एक पत्थर उस रूप-रेखा के अनुसार चिना जाता है, ऐसे ही जब मानव के निर्माण की पहले रूप-रेखा बनेगी, उस रूप-रेखा के अनुसार ही जब उसकी रचना होगी, तब यह संस्कार एक नया संसार होगा, ये मनुष्य नये मनुष्य होगे। वैदिक संस्कृति के संस्थापकों का संस्कारों की प्रणाली को प्रचलित करने मे मनुष्य को रूपान्तरित करने का यह स्वप्न था।" जन्म लेने से पूर्व, जन्म लेने के बाद, तथा जीवन-समाप्त होने के समय तक के संस्कार माने गए हैं। आत्मा संस्कारो के बंधन मे बँधता था और वैदिक संस्कृति का यह बन्धन अन्त में ही छूटता था। पण्डित जी का कथन है कि आज के युग मे भी स्वप्न मानव-समाज की उतनी ही प्रेरणा और स्फूर्ति दे सकता है जितनी यह किसी समय प्राचीन भारत के भाग्य का निर्माण करने वालों को देता था। सिर्फ उस दृष्टि के खुल जाने की आवश्यकता है जिस दृष्टि से ऋषि-मुनियों ने जीवन की समस्या मे दिनोदिन विकास के मार्ग पर आगे-आगे बढ़ते हुए 'आत्म-तत्त्व' को देखकर नवमानव के निर्माण की महान् योजना को जन्म दिया था।"

पण्डित जी ने सोलह संस्कारों के अतिरिक्त शिलान्यास, गृह-प्रवेश, वाणिज्यविधि, श्रावणी तथा उपाकर्म एवं ईश्वरभक्ति के गीत भी पुस्तक मे दे दिये हैं। प्रारम्भ में अग्निहोत्र के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है तथा आयुर्वेद, होमियोपैथी के सिद्धान्त के अनुसार अग्निहोत्र मे हुत पदार्थों के प्रभाव पर प्रकाश डाला गया है। रोगनाशक औषधियों तथा समिधाओ के सम्बन्ध में भी लिखा गया है तथा प्रसिद्ध रसायनशास्त्री डा० स्वामी सत्यप्रकाश जी की पुस्तक 'अग्निहोत्र' का हवाला देकर यह बताया है कि इससे उत्पन्न 'फोरमैल्डीहाइड' गैस कीटाणुनाशक होता है। फोर्मेल्डीहाइड का प्रभाव तभी होता है जब पानी के वाष्पों का साथ हो, यज्ञवेदी के चारों तरफ किया गया जलसेचन इस गैस को और प्रभावक बना देता है। शब्द-लहरियों या 'साउंडवेव्स' के प्रसारण से जो मंत्रपाठ द्वारा संभव है, रोग का निवारण उसी प्रकार होता है जैसे अल्ट्रासोनिक या सुपरसोनिक वेव चिकित्सा से होता है। यज्ञ पर इस दृष्टि से इतना विचार इस-लिए किया है कि सब संस्कारों का मूलाधार यज्ञ है, यज्ञ पर आस्था जमाए बिना संस्कारों की विधियों का

महत्त्व नहीं समझा जा सकता।

संस्कार वैदिक संस्कृति की सबसे बड़ी योजना है। इस पुस्तक का प्रबलतम पक्ष है, संस्कार पद्धति का दार्शनिक विवेचन। पण्डित जी का कथन है कि नये संस्कारों द्वारा पुराने संस्कारों को बदला जा सकता है। पण्डित जी समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, मनोविज्ञान तथा दर्शनों के गंभीर विद्वान हैं। इसीलिए वंश, पर्यावरण, सूक्ष्म तथा कारण शरीर पर विचार करने के बाद पण्डित जी ने समझाया कि नये संस्कार कैसे मनुष्य को बदल सकते हैं? गर्भाधान संस्कार से आत्मा, अभीष्ट आत्मा के जन्म धारण करने से पूर्व की भूमिका पाती है। वैदिक संस्कृति विवाह को इसीलिए वासनापूर्ति का साधन नहीं, नवीन आत्मा के आवाहन का एक पवित्र यज्ञ मानती है। वंश और सामाजिक पर्यावरण से गृहीत संस्कारों से 'नवमानव' का निर्माण होता है। ऋषि दयानंद ने वैदिक संस्कृति का पुनरुद्धार करने के लिए 'संस्कार-विधि' की रचना की। इस ग्रन्थ में सोलह संस्कारों का वर्णन है। नवमानव के निर्माण के उद्देश्य से ही यह ग्रन्थ लिखा गया है। स्वामी जी के इस ग्रन्थ की जैसी सुन्दर और शास्त्रीय व्याख्या पण्डित सत्यव्रत जी ने की है, वैसी उनसे पूर्व नहीं हो सकी। पण्डित जी ऋषि दयानंद के मल्लिनाथ हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व, संस्कारचन्द्रिका, उपनिषद्भाष्य तथा गीताभाष्य एक दूसरे के पूरक तो हैं ही, भारतीय चिन्तन के क्रमिक किन्तु व्यावहारिक स्वरूप को भी स्पष्ट करते हैं। शंकर, रामानुज, तिलक, गांधी, अरविन्द तथा दयानंद का उत्कृष्ट प्रदेय आत्म-सात् कर उन्होंने समग्र व्यक्तित्व के निर्माण के लिए सैद्धान्तिक और क्रियात्मक चिन्तन-प्रणाली प्रस्तुत की। इस दृष्टि से पण्डित जी वैदिक संस्कृति और चिन्तन के वैज्ञानिक व्याख्याता हैं तथा ऋषिकल्प व्यक्तित्व के धनी हैं। महर्षि दयानंद और स्वामी श्रद्धानंद जी के जीवन-दर्शन और शिक्षा-पद्धति के मौलिक व्याख्याता हैं।

पण्डित जी का इस दृष्टि से एक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार'। इस ग्रन्थ को मिलाकर सिद्धान्त विषयक ग्रन्थों मे पण्डित जी का 'विचार पञ्चक' पूर्ण हो जाता है। भारतीय दर्शन में जैसे प्रस्थानत्रय का महत्त्व है, वैसे ही दर्शन और आचार संहिता की दृष्टि से पण्डित जी के ये ग्रन्थ 'प्रस्थान पञ्चक' कहे जा सकते हैं। इस तरह पण्डित जी सामाजिक विचारक हैं जो वैदिक संस्कृति को जीवित संस्कृति मानते हैं। वे यह ग्रन्थ इसलिए लिख रहे हैं कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की चकाचौंध मे भारतीय चिन्तन का महत्त्व स्थापित हो सके। वैदिक संस्कृति को पुनरुज्जीवित किया जा सके। आधुनिक समस्याओ को सुधारने तथा सुलझाने का रास्ता खुले।

वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार की भूमिका में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के अध्यक्ष डॉ० हरवंशलाल जी शर्मा ने लिखा था—"प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार द्वारा रचित प्रस्तुत पुस्तक लेखक की मौलिक रचना है। वैदिक विचारधारा के सम्बन्ध में लेखक ने एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।" ग्रन्थ का विमोचन करते हुए प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा था—"बिना विज्ञान के धर्म अधूरा है, बिना धर्म के विज्ञान अधूरा है। इन दोनों को साथ मिलकर चलना होगा—इस कथन में गहरी सचाई है। आज के युग में धर्म की वही मान्यताएँ टिक सकती हैं जिन्हें वैज्ञानिक दृष्टि से पुष्ट किया जा सके। वेदों की विचारधारा त्रिकाल सत्य है, इनमें दर्शाए गए बुनियादी आदर्श हर परिस्थिति तथा हर काल में अपनाने योग्य हैं। इस ग्रन्थ मे अध्यात्म के बुनियादी सिद्धान्तों की तरफ ध्यान खींचते हुए उनका विज्ञान के साथ समन्वय दिखलाने का जो वांछनीय प्रयत्न किया गया है, उसकी तरफ युवकों तथा युवतियों का ध्यान जाना चाहिए।"

इस पुस्तक में मन, चेतना, आत्मा, ईश्वर, सृष्टि की उत्पत्ति, कर्म, निष्काम कर्म, शिक्षा, जीवन, पुनर्जन्म तथा मृत्यु पर भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टि से विचार किया गया है। शरीरविज्ञान, मनो-विज्ञान, जीवविज्ञान तथा भौतिक शास्त्र के साथ-साथ आधुनिक शिक्षाविज्ञान और सांख्य, वैशेषिक, वेदांत,

न्याय उपनिषद् की चिन्ताओं का भी लेखक ने भरपूर उपयोग किया है। भारतीय तथा पाश्चात्य विचार-धाराओं का इतनी गहराई के साथ तुलनात्मक विवेचन इस विषय पर पहले ग्रन्थों मे नही हुआ। पण्डित जी का कथन है कि शरीर सिर्फ एक यंत्र है, अपने आप चल रहा है, यह कहना ऐसा ही है, जैसे कोई कहे कि रेलगाड़ी अपने आप चलती है, उसका कोई ड्राइवर नही। शरीर भौतिक है, विचार, संवेग, मूल प्रवृत्तियाँ, इच्छाशक्ति ये अभौतिक हैं; भौतिक, भौतिक का संचालन तथा उपभोग नही कर सकता, अभौतिक ही भौतिक का संचालन तथा उपभोग कर सकता है—यह अध्यात्मवादी विचारधारा है। इसी विचारधारा को आधार बनाकर न्याय तथा सांख्य ने 'मन' तथा 'आत्मा' की सत्ता को सिद्ध किया है। पण्डित जी ने मन, चेतना, आत्मा तथा परमात्मा के शास्त्रीय भेद को समझाया है। आत्मा और चेतना पर बड़ी गहराई के साथ सोचा गया है। ईश्वर की सिद्धि मे अनेक युक्तियाँ दी गई हैं। सृष्टि मे सर्जनात्मक चेतना शक्ति का होना, सृष्टि मे क्रम तथा नियम-बद्धता का होना, सृष्टि मे प्रयोजन अथवा उद्देश्य का होना, सृष्टि की विविधता मे एकसूत्रता का होना, सृष्टि मे विशालता का होना अस्थायित्व मे स्थायित्व का होना ऐसी ही युक्तियाँ हैं। ये सब लक्षण जड़-जगत्, वनस्पति-जगत् तथा प्राणी-जगत् मे सर्वत्र पाए जाते हैं जिनके आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विश्वगत चेतन शक्ति की सत्ता माने बिना यह सब संभव नही है। जब प्रकृति की भौतिक शक्ति (नेचर) ही नही दीखती तब परमात्मा क्यो नही दीखता, यह शंका व्यर्थ है। पृथ्वी, जल आदि भौतिक द्रव्य हैं प्रकृति नही, प्रकृति तो भौतिक द्रव्यों से सृष्टि का निर्माण करती है पर वह दीखती नही। पदार्थों की अस्तित्व, अभि-व्यक्ति और अनुभूति होती है पर ईश्वर का अस्तित्व है, अभिव्यक्ति नही, उसकी अनुभूति भी होती है। ईश्वर के सम्बन्ध मे अनेक प्रचलित मान्यताओ का उल्लेख करने का बाद युक्तियों द्वारा सर्जनात्मक चेतन-शक्ति के रूप मे प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि उसी के द्वारा विश्व के संचालन होता है।

सृष्टि के सम्बन्ध मे एकत्ववाद (मोनिज्म), द्वैतवाद (डुएलिज्म) तथा बहुत्ववाद (प्लूरेलिज्म) की दृष्टि से विचार किया गया है। पण्डित जी भौतिकवादियों के इस मत का खण्डन करते हैं कि जड़ से चेतन बन गया, वह ब्रह्मवादियो के इस मत से भी सहमत नही कि चेतन ब्रह्म से जड़ प्रकृति का निर्माण हो गया। जड़ तथा चेतन स्वतंत्र दो मूल तत्त्व हैं। चेतन दो हैं : परमेश्वर और जीव। ऋग्वेद के त्रैतपरक मंत्र 'द्वा सुपर्णा स युजा' के आधार पर प्रकृति तथा पुरुष के अतिरिक्त तीसरे की सत्ता सिद्ध की गई है जो इन दोनों का नियमन करता है। महर्षि दयानंद के त्रैतवाद की यहाँ वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठा की गई है। तात्पर्य यह कि जैसे इलैक्ट्रोन आदि मे चैतन्य गुण नही है और न सांख्य की प्रकृति मे चैतन्य गुण है, जड़ और चेतन भिन्न हैं, उसी तरह जड़ से चेतन और चेतन से जड़ की उत्पत्ति अवैज्ञानिक है। अतः जड़ तथा चेतन दो तत्त्व मानने ही चाहिए। पण्डित जी ने शंकर के एकत्ववाद, बर्कले के एकत्ववाद-प्रत्ययवाद, द्वित्ववाद की समीक्षा कर त्रैतवाद की स्थापना की है। दयानंद दर्शन के प्रतिष्ठापन मे यह पण्डित जी का ऐतिहासिक योगदान है। वेद, उप-निषद्, गीता, सांख्य सभी का विवेचन यहाँ उपलब्ध है। पण्डित जी का निष्कर्ष है कि इन ग्रन्थों में अक्षर, क्षेत्रज्ञ, प्रकृति कहा जाने वाला एक जड़ तत्त्व है तथा अक्षर, क्षेत्रज्ञ, पुरुष कहा जाने वाला चेतन मूल तत्त्व है जो पिण्ड मे आत्मा तथा ब्रह्माण्ड में परमात्मा कहा जाता है। यही आकर कर्म-सिद्धान्त की चर्चा करते हैं क्योंकि पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्म-सिद्धान्त की उपज है और पुनर्जन्म भारतीय संस्कृति का मूलाधार है, अतः भौतिक जगत् के कारण-कार्य नियम के अनुसार आध्यात्मिक जगत् मे भी इसी नियम का पालन पण्डित जी अनिवार्य मानते हैं। विज्ञान के क्वान्टम तथा रेडियेशन सिद्धान्त का विवेचन करने के बाद पण्डित जी भाग्यवाद तथा पुरुषार्थवाद पर विचार करते हैं। कर्मफल के सम्बन्ध मे भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचते हैं और अन्त में निष्कर्मण्यता तथा निष्कामता का भेद दर्शाते हुए निष्काम कर्म का महत्त्व तथा व्यावहारिकता पर प्रकाश डालते हैं। श्रीकृष्ण, तिलक, अरविन्द, रजनीश की मान्यताओं पर पुनर्विचार करते हैं तथा आज के तनावपूर्ण जीवन की उलझन में फँसे मानव के उद्धार के लिए निष्काम तथा निस्संग कर्म की महत्ता प्रतिपादित करते हैं।

संस्कारी और प्रयोजननिष्ठ व्यक्तित्व के निर्माण में शिक्षा की भूमिका बताते हुए शिक्षा के वैदिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पण्डित जी ने एक स्वतंत्र अध्याय ही लिखा है। बाल-मनोविज्ञान की निष्पत्तियों से वैदिक विचारधारा को पुष्ट किया गया है। ब्रह्मचारी, गुरु, आचार्य, गुरुकुल तथा ब्रह्मचर्य की धारणाओं को स्पष्ट करते हुए पण्डित जी ने वैदिक शिक्षा प्रणाली की महत्ता बताई है। स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज ने गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के रूप में इसी को अंगीकार किया था। लक्ष्यबद्ध शिक्षा की दिशा मे गुरुकुलीय शिक्षा का अपूर्व योगदान है। पण्डित जी का कहना है, 'भारत में शिक्षा के क्षेत्र में जो आँख उठाकर देखता है, उससे यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि हमारी शिक्षा-पद्धति असफल हो चुकी है। यह इसलिए कि शिक्षा संस्थाएँ कि फैक्टरी का रूप धारण कर चुकी हैं और शिक्षक अपने को फैक्टरी के वेतनभोगी उच्च-कोटि के मजदूर समझने लगे हैं। विद्यार्थी भी शिक्षा संस्थाओं को फैक्टरी समझने लगे हैं, वे भी यूनियनें बनाते हैं, घेराव करते हैं, हड़तालें करते हैं। पढने-लिखने के लिए श्रम करने का, गुरु-शिष्य में पिता-पुत्र के सम्बन्ध का, शिष्य के गुरु के निकट आने का, तपस्या का, ब्रह्मचर्य का, सदाचार का, चरित्र-निर्माण का शिक्षा मे कही स्थान नही रहा। इस स्थिति मे लड़खड़ा रही हमारी शिक्षा पद्धति को अगर कोई पद्धति बचा सकती है तो वह गुरुकुल शिक्षा पद्धति ही है।

जब तक देश की शिक्षा पद्धति मे गुरु-शिष्य का सम्बन्ध 'कुल' की भावना पर खड़ा नही होता गुरु-शिष्य मे पिता-पुत्र की सी भावना नही जगती, जब तक विद्यार्थी श्रम, तपस्या के लिए तैयार नही होते, जब तक ब्रह्मचर्य शिक्षा का आधार नही बनता, चरित्रनिर्माण और सदाचार जब तक शिक्षा के अभिन्न अंग नही बनते, जब तक शिक्षक वर्ग 'आचारं ग्राह्यतीति आचार्यः' की जिम्मेवारी अपने कंधों पर नही लेते, दूसरे शब्दो में, जब तक गुरुकुल शिक्षा पद्धति के मूल सिद्धान्त देश की शिक्षा प्रणाली मे ओतप्रोत नही हो जाते, उस पर छा नही जाते तब तक हम मैकाले ने १८३५ में जहाँ खड़ा किया था, वही खड़े रहेंगे। इस प्रकार महर्षि दयानंद और स्वामी श्रद्धानंद के जीवन-दर्शन और गुरुकुल के सिद्धान्त की सार्वभौम व्याख्या करने वाले पण्डित जी भारत के शीर्षस्थ दार्शनिक हैं। उनसे पूर्व भारतीय विद्वानों ने शास्त्रीय संदर्भों में ही दर्शनों का प्रतिपादन किया था पर भारतीय-पाश्चात्य दार्शनिकों और शिक्षाशास्त्रियो के विचारों के साथ-साथ आधुनिक मानविकी और विज्ञान की निष्पत्तियों के परिप्रेक्ष्य मे वैदिक दर्शन का सर्वांगीण विवेचन करने वाले वह पहले वैदिक विद्वान हैं। कहना न होगा कि पण्डित जी का यह कार्य वैदिक दर्शन का विज्ञानसम्मत प्रस्थान है और इससे वैदिक धर्म की आध्यात्मिक विजय हुई है।

एक लेखक के रूप में ही नही, सम्पादक के रूप मे भी पण्डित जी ने हिन्दी और देश की सेवा की है। हिन्दी पत्रकारिता में आर्यसमाज और स्वामी श्रद्धानंद जी ने जो कार्य किया, उसे भुलाया नही जा सकता। अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध जनमत तैयार करने और अपने गौरव से परिचित कराने के लिए हिन्दी-पत्रों को आर्यसमाज ने अपना माध्यम बनाया। गुरुकुल इस दिशा मे अग्रणी रहा। स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज ने 'सद्धर्मप्रचारक' पत्र निकालकर समाज मे नवचेतना जागृत करने का बीड़ा उठाया। २६ अगस्त १९०८ को स्वामीजी ने यह पत्र निकाला। देशभक्ति, निर्भीकता, जनजागरण, अतीत गौरव की प्रतिष्ठा तथा सरकार की आलोचना इस पत्र की प्रमुख नीति थी। उर्दू में यद्यपि यह पत्र १८८९ ई० से ही प्रकाशित हो रहा था तथापि हिन्दी में इसका प्रकाशन १९०८ से हुआ। इसके छह वर्ष बाद आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मुखपत्र 'आर्य' मासिक रूप से प्रकाशित हुआ। पण्डित चमूपति जी इसके आदि सम्पादक थे। देश विभाजन के बाद यह साप्ताहिक रूप में अम्बाला से पण्डित भीमसेन विद्यालंकार के सम्पादन में निकलने लगा। बाद में इसे 'आर्योदय' नाम से छापा गया और अब 'आर्यमर्यादा' के रूप में यह जालंधर से प्रकाशित होने लगा।

डॉ० रामरतन भटनागर ने हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास मे आर्यसमाज को एक सक्रिय शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। "१८३७ में हिन्दी प्रदेश में दो शक्तियों का प्रवेश हुआ। प्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जिन्होंने

'कविवचन सुधा' का प्रकाशन किया तथा द्वितीय स्वामी दयानंद, जिन्होंने आर्यसामाजियों को आर्य सिद्धान्तों के प्रचारार्थ अपने पत्रों के संचालन के लिए समर्थन और प्रोत्साहन दिया। १९वीं शताब्दी के अवशिष्ट वर्षों मे इन दोनों शक्तियों ने अपने समक्ष आई सभी बाधाओं को ढहा दिया। स्वामी दयानंद की पत्रकारिता विषयक प्रवृत्ति आर्यसमाज के हेतु प्रचारात्मक पद्धति की थी। यही दो शक्तियाँ थी जिन्होने हिन्दी पत्रकारिता को वेग प्रदान किया और उसे महान् बनाया। उर्दू के मध्य हिन्दी पत्रकारिता को दृढ़ता के साथ स्थापित करने वाली शक्ति आर्यसमाज की ही थी।" आर्यसमाज की राष्ट्रीय, नवोत्थानवादी वैदिक तथा युक्तिसंगत धार्मिक व्याख्याओं ने इन धार्मिक पत्रों को राजनीतिक, सांस्कृतिक और स्वाधीनतावादी विचारधारा का पोषक बना दिया। ईसाई प्रचारकों तथा अंग्रेजपरस्त पत्रों के मुकाबले शाब्दिक युद्ध के स्तर पर आर्यपत्र प्रकाशित हुए तथा भारतीय राष्ट्रवाद, हिन्दी, स्वदेशी, समाज-सुधार, शुद्धि, नारी-जागरण तथा संगठन की भावना को बल दिया।

स्वामी श्रद्धानंद जी ने 'सद्धर्मप्रचारक' पत्र निकालकर इन सब गतिविधियों पर अपने विचार व्यक्त किए। आर्यसमाज का यह मुखपत्र था जिससे प्रेरणा लेकर १९०९ में काशी से डा० केशवदेव शास्त्री ने 'नव-जीवन' मासिक का प्रकाशन शुरू किया। यह पत्र १९१९ तक निकला। अन्तिम दिनों में यह द्वारकाप्रसाद सेवक के सम्पादन में इन्दौर से निकलता रहा। स्वामी जी का पत्र व्यक्तिगत प्रयत्नों से प्रकाशित हुआ। लाला लाजपतराय का 'देशोपकारक' भी लाहौर से उर्दू मे छपा। 'सद्धर्मप्रचारक' के हिन्दी संस्करण से एक वर्ष पूर्व लाला रलाराम ने अनारकली लाहौर से अंग्रेजी में 'गुरुकुल मैगजीन' निकाली। वस्तुतः १८८९ मे पण्डित 'गुरुदत्त ने 'द वैदिक मैगजीन' मासिक निकाली थी। उनकी मृत्यु के बाद यह पत्रिका बंद हो गई। 'गुरुकुल मैगजीन' इसी का रूपान्तरित संस्करण था। १९१० मे प्रोफेसर रामदेव, आचार्य गुरुकुल कांगड़ी ने 'द वैदिक मैगजीन एण्ड गुरुकुल समाचार' नाम से इसका प्रकाशन प्रारम्भ किया। सस्कृत मे स्वामी श्रद्धानंद जी के बडे पुत्र पण्डित हरिश्चन्द्र ने 'ऊषा' मासिक पत्रिका १९१३ मे निकाली। १९१८ मे 'देववाणी' तथा १९४८ मे 'गुरुकुल पत्रिका' संस्कृत मे निकलनी शुरू हुई। वैदिक संदेश' (१९२१), 'अलंकार' तथा 'गुरुकुल समाचार' (१९२४) तथा 'गुरुकुल' (१९३६) पत्र भी कांगड़ी से प्रकाशित हुए। कहना यह है कि स्वामी श्रद्धानंद और उनके शिष्यो ने हिन्दी पत्रकारिता को समृद्ध किया।

'सद्धर्मप्रचारक' की सरकार विरोधी नीति तथा राष्ट्रवादी भावना का पता इस टिप्पणी से भली भाँति चल जाता है जो उन्होंने तिलक के निर्वासन पर लिखी थी—"मद्रास, बम्बई और बंगाल प्रान्त आजकल राज-द्रोह के मुकदमे के घर बन रहे हैं। कई राजद्रोह के मुकदमे समाप्त हो गए हैं। कई अभी चल रहे हैं। राजद्रोह के मुकदमे संख्या में इतने अधिक हो गए हैं कि साधारण लोगों का तो कहना ही क्या है, सम्पादकों को भी सबका नोटिस लेना कठिन प्रतीत हो रहा है, और इन मुकदमों के भाग्यो का निश्चय इतनी जल्दी-जल्दी हो रहा है कि सहानुभूति रखने वालों को शोक प्रदर्शित करने का और राज्यभक्ति दिखाने वालों को हर्ष प्रदर्शित करने का अवसर ही नहीं मिलता।" ३० अप्रैल १९२० के अक मे खिलाफत आन्दोलन पर स्वामी जी ने लिखा—"मैं स्वय किसी संस्थान विशेष की पवित्रता मानने वाला नहीं और न ही धर्म मार्ग मे किसी खलीफा की जरूरत समझता हूँ परन्तु प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि धार्मिक स्वतंत्रता उसे मिले। मैंने देखा कि मेरे मुसलमान भाई को इस मामले मे छूट है। मैंने वही सोचा कि जब मेरे भाई दुखी हैं तो मैं उनके साथ रहता हुआ कैसे सुख भोग सकता हूँ। यह एक बात थी। दूसरी बात यह थी कि ब्रिटिश प्रधान सचिव की प्रतिज्ञा स्पष्ट थी। जब यह स्पष्ट प्रतिज्ञा टूट सकती है तो फिर इनका किस बात पर विश्वास किया जा सकेगा। तब तो पग-पग पर विश्वासघात होगा।" सभी जानते हैं कि खिलाफत आन्दोलन मुसलमानों के बीच साम्राज्य-वादी भावनाओं के विरुद्ध प्रसार का एक पहलू था। इससे शहरी मुसलमान राष्ट्रवादी आन्दोलन से जुड़ सके। स्वामी जी खलीफा को सिद्धान्ततः स्वीकार नही करते पर स्वराज्य के लिए हिन्दू-मुसलमानों का एकजुट

होकर ब्रिटिश सरकार से लड़ना उचित नहीं समझते हैं। इस युग के राजनीतिक संघर्ष पर स्वामी जी की टिप्पणियाँ बेलौस हैं।

१९२४ का समय कांग्रेस के इतिहास में स्वराज्यवादी तथा अपरिवर्तनवादी शक्तियों के विवाद का समय है। १९२५ में चित्तरंजन दास की मृत्यु से राष्ट्रवादी आन्दोलन को धक्का लगा। साम्प्रदायिकता उभरने लगी। साम्प्रदायिक दंगे भड़के। गांधी जी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर जोर दिया। १९२७ में साइमन कमीशन की घोषणा हुई और राष्ट्रीय उत्थान में द्वितीय असहयोग आन्दोलन की लहर उठ खड़ी हुई। राजनीतिक तौर पर जवाहरलाल नेहरू और सुभाष के रूप में समाजवादी शक्ति का उदय हुआ और राष्ट्रवादी समाजवादी विचारधारा की ओर झुकने लगे। १९२४ में मुजफ्फर अहमद और श्रीपाद अमृत डांगे गिरफ्तार कर लिए गए। उत्तर प्रदेश में काश्तकारी कानून में संशोधन के लिए आन्दोलन चला। गुजरात में बारदोली सत्याग्रह हुआ। आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नेतृत्व में हड़तालें हुईं। खड़गपुर रेलवे वर्कशाप, साउथ इण्डियन रेलवे तथा जमशेदपुर स्टील कम्पनी के मजदूरों ने हड़तालें कीं। बम्बई के कपड़ा मिलों में एक लाख पचास हजार मजदूरों ने हड़ताल की। १९२८ के दौरान हुई हड़तालों में पाँच लाख से अधिक मजदूरों ने भाग लिया। इसी समय क्रान्तिकारी युवकों ने आजादी के लिए संघर्ष शुरू किया।

यह वह भूमिका है जिसके दौरान पण्डित सत्यव्रत जी ने गुरुकुल से 'अलंकार' नामक पत्र निकाला। यह पत्र १९२४ से १९२६ तक मासिक रूप में निकला इसका वार्षिक शुल्क था। मई १९२६ के अंक में 'श्री-हरि' की एक रचना छपी है जिससे इस पत्रिका की नीति का पता चलता है। 'स्वतंत्रता' शीर्षक यह रचना यहाँ उद्धृत की जाती है—

> नीच प्रसंग, सदा खल संग, प्रवास को वास हू लीबो भलो
> पात्र कुपात्र विचार बिना, निज सर्वस दान को दीबो भलो,
> राजसिंहासन को तजिकै, हँसिकै विष घूँट को पीबो भलो,
> 'श्री हरि' पै निज प्यारी स्वतंत्रता खोय नहीं पल जीबो भलो।

१९२६ के प्रथम अंक में हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर पण्डित जी की टिप्पणी है कि 'हिन्दू-मुस्लिम समस्या इस अभागे देश की बड़ी समस्या है, इस गुलाम देश की आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक उन्नति की समस्याएँ इस भयंकर समस्या की ओर में और भी अधिक उलझती जाती हैं। आज दोनों जातियाँ पराधीन होने के कारण एक समता पर हैं परन्तु स्वतंत्र होने पर बहुसंख्याक जाति अधिक प्रबल हो उठेगी, इस आशंका से अल्पमत इस विदेशी शासन का साथ देने में ही अपनी भलाई समझ रहा है। जिस विशाल हिन्दू धर्म ने संसार की अनेक अन्य विदेशी मान्यताओं को भी अपना लिया है, जिस धर्म में जैन और वेदांत सम्प्रदाय के एक दूसरे से सर्वथा प्रतिकूल मतानुयायी भी समान भाव से रह सकते हैं—उसमें क्या भारतीय मुसलमानों तथा उनके धर्म के लिए स्थान नहीं है ? हम चाहते हैं कि धर्म के वास्तविक अभिप्राय को समझकर विचारशील हिन्दू और मुसलमान दोनों शीघ्र ही संकुचित साम्प्रदायिक असहिष्णुता के विरोध में जिहाद शुरू कर दें। ये तुच्छ साम्प्रदायिक फिसाद हमारी निर्बलता तथा अविवेकशीलता के सबसे बड़े उदाहरण हैं।'

१९२६ के सितम्बर अंक में कलकत्ते के दंगों तथा लाला लाजपतराय के त्यागपत्र पर सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखी गई हैं। पण्डित जी की कलम की निर्भीकता देखिए—"गत २४ अगस्त को लाला लाजपत-राय ने स्वराज्य पार्टी से किनारा कर लिया। लाला जी ने दल के नेता के पास जो पत्र लिखा है, उसमें इस्तीफे के ३ कारण बताए हैं—स्वराज्य दल की कौंसिलों से बाहर निकलने की नीति की असफलता, स्वराज्य पार्टी से हिन्दू हितों को हानि तथा कांग्रेस के चुनाव में भाग लेने से विपरीत मति। जिन्होंने कानपुर कांग्रेस में कांग्रेस की कौंसिल नीति पर लाला जी को बोलते हुए सुना है, वे लालाजी के इस्तीफे से कभी संतुष्ट नहीं हो सकते, इस समय देश में केवल दो दल हैं, एक प्रति सहयोगी, लिबरल और जी हजूरों का, जो भिन्न-भिन्न कारणों

से पद ग्रहण की नीति का पक्षपाती है; दूसरा कांग्रेस का जो इसके विरुद्ध है। लाला जी स्वराज्य दल से पृथक् हो चुके हैं और दूसरे दल से उनके विचार नहीं मिलते, फिर वे किस दल में शामिल होंगे यह समझ में नहीं आता। कारण कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि लाला जी डाँवाडोल हैं और यह डाँवाडोलपन लाला जी जैसे अनुभवी नेता को नहीं शोभा देता।"

देशबन्धु चित्तरंजन दास की मृत्यु पर १९२५ की जुलाई के अंक में पण्डित जी ने लिखा—"बंगाल में द्वैध शासन के टूट जाने पर 'देशबन्धु' की जयकार पुकारी जा रही थी। इस अभूतपूर्व विजय के उपलक्ष्य में विजेता की किसी विलक्षण घोषणा की प्रतीक्षा हो रही थी। इसी प्रतीक्षा में दैनिक पत्रों को हाथ में उठाया था परन्तु हमारे मन कछु और है विधना के मन और!

× × ×

देशबन्धु के अभाव को पूर्ण करने की जिम्मेदारी भारतमाता के एक-एक पुत्र के कंधे पर आ पड़ी है। देशबन्धु मरना नहीं जीना चाहते हैं और इसीलिए देश के अपने भाइयो और बहनों को पुकार-पुकार कर कह रहे हैं—मेरे जीने-मरने का फैसला करना तुम्हारे हाथ में है। मेरे अभाव को पूरा करो। मुझे अमर बना दो।"

७ जुलाई १९२५ को पार्लियामेंट में भारत सचिव लार्ड बर्कनहेड ने जो वक्तव्य दिया उसकी तीखी आलोचना करते हुए पण्डित जी ने लिखा—"ऐसे शून्य, अपमानजनक वक्तव्यों को सुनने के हम आदी हो चुके हैं परन्तु लार्ड बर्कनहेड ने जिस आडम्बर को रचकर भारत की उभरती हुई इच्छाओं को ठुकराया है, उसे देखकर किस आत्मगौरवान्वित देश के मार्मिक स्थल पर असह्य आघात नहीं पहुँचता। इनके कथन का सार है कि भारत एक देश नहीं, उसमें एकजातीयता नहीं। अंग्रेज भारत को छोड़ जाएँ तो भारतीय आपस में लड़कर मर जाएँ। एशियन सोसाइटी के डिनर में भी हजरत ने इन्हीं भावों को रखा था। हमें आश्चर्य तथा खेद इसी बात का होता है कि यह सब कुछ सीखने के लिए ही भारत सचिव को, वाइसराय को भारत से बुलाना पड़ा। यह तो अंग्रेज सदा से ही करते आए हैं। इनमें कौनसी नई बात धरी थी जो लार्ड रीडिंग ही जाकर बर्कनहेड को सिखाते।" आगे वह गांधी जी के बारे में लिखते हैं कि 'बर्कनहेड महात्मा गांधी को भोला-भाला पर पढ़ा-लिखा जुलाहा ही समझे बैठे होंगे। अब पता चलेगा कि ये तो राजनीति में भी उनके कान काटते हैं।'

१९२५ के अक्तूबर अंक में बम्बई की हड़ताल पर लिखा—"बम्बई की मिलों में ११ करोड़ रुपये का माल पड़ा हुआ है और जब तक वह निकल नहीं जाता तब तक मिलों के बंद रहने से पूँजीपतियों को तो लाभ ही लाभ है परन्तु इस बीच में व्यवसायियों की जो दुर्गति होगी, वह अकथनीय है। इस अवस्था में भारत के व्यापार को बचाने का यही उपाय सूझता है कि विदेशी माल के बहिष्कार का प्राणपण से प्रयत्न किया जाए और स्वदेशी के व्रत का प्रचार किया जाए। क्या ही अच्छा हो यदि खादी घर-घर में पहरी जाने लगे? बम्बई की हड़ताल से हमें समझ लेना चाहिए कि स्वदेशी का प्रश्न हमारे लाखों भाइयों की रोटी का प्रश्न है और इसका हल करना सामाजिक तथा धार्मिक प्रश्नों से भी अधिक आवश्यक है।"

पण्डित जी ने राजनीतिक टिप्पणियों के अतिरिक्त, धर्म, दर्शन, सुधार कार्यक्रम भारतीय शिल्प, साहित्यिक गतिविधियों, गुरुकुल के क्रियाकलाप, स्त्री-सुधार, अछूत समस्या, शुद्धि तथा संगठन पर भी बेबाक टिप्पणियाँ लिखी हैं। १९२५ के दिसम्बर अंक से पता चलता है कि नये युग के निर्माण के लिए, देशोन्नति के लिए, संस्कारों पर एक विचार-शिविर का संचालन भी गुरुकुल ने शुरू किया था। पण्डित जी ने इस सम्बन्ध में एक खोजपूर्ण लेख 'युजैनिक्स द्वारा देश का सुधार' लिखा था। इसी अंक में आचार्य रामदेव जी ने भी अपने विचार व्यक्त किए थे। 'अलंकार' का 'सन्ततिशास्त्रांक' बड़ा प्रसिद्ध हुआ। 'संतति सुधार संघ' या 'रेस बैटरमेंट एसोसियेशन' की स्थापना गुरुकुल में इसी उद्देश्य से हुई थी और इसका एक विज्ञापन दिसम्बर अंक में प्रकाशित हुआ था। १९२६ के मार्च अंक में 'प्राचीन भारत में शिल्प' नाम से सम्पादकीय लिखकर तथा 'धम्म पदट्ठ-

कथा', 'प्रतिज्ञायौगंधरायण', तथा 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित यंग ईस्ट पत्र के आधार पर पण्डित जी ने लिखा कि 'संसार अपनी सभ्यता के लिए भारत का ऋणी है। पाश्चात्य शिक्षा में अंधाधुंध बहे हुए भारतीय नवयुवक स्वदेशाभिमान की अवहेलना करते हुए प्रायः कहा करते हैं कि प्राचीन भारत में उत्तम कोटि के शिल्प का अभाव था। उनके लिए एक यंत्रहस्ती का वर्णन ही उनकी आँखें खोलने के लिए पर्याप्त है।'

अलंकार में छपे पण्डित जी के खोजपूर्ण लेखों में 'मनु तथा इन्द्र', 'संसार के धर्मों की समानताएँ', 'तिब्बत में बौद्ध', 'यूजेनिक्स द्वारा देश सुधार', 'पारसी धर्म तो वैदिक धर्म ही है', 'अछूत और जागृति', 'सृष्ट्युत्पत्ति', 'परमेश्वर और उसका स्वरूप', 'ईश्वर का स्वरूप', 'मृत्युंजय श्रद्धानंद', 'पारसी धर्म की उत्पत्ति के कारण' तथा 'गीता का सन्देश' उल्लेखनीय है। पण्डित जी गुरुकुल में 'तुलनात्मक धर्मों का अध्ययन' विषय के आचार्य रहे। कहना न होगा कि भाषा, विषय वैविध्य, खोज तथा प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से अलंकार के लेख और सम्पादकीय टिप्पणियाँ बड़े महत्त्व की हैं। गुरुकुल की रजत जयंती पर अलंकार का विशेषांक मार्च १९२६ में प्रकाशित हुआ था। इसमें स्वामी जी के बलिदान पर उत्कृष्ट सामग्री संकलित की गई थी। २८ मार्च १९१४ को जो दीक्षान्त भाषण स्वामी जी ने दिया था, वह भी इसमें संकलित था। इसमें लिखा था—"पुत्रो, सत्य के बिना राजनीति धिक्कारने योग्य है। यदि सत्य तुम्हारे जीवन का अवलम्बन है तो मुझे न कोई चिन्ता है और ना ही कुछ माँगना है।" इसी अंक में सातवलेकर जी का 'महात्मा गुरुकुल और मिस्टर कालेज' शीर्षक व्यंग्यात्मक लेख छपा था, जिससे गुरुकुल की मूलभूत दृष्टि का पता चलता है। हरिऔध और प्रेमचंद की रचनाएँ भी इस अंक को स्पृहणीय बना देती हैं।

महर्षि दयानंद ने हिन्दी की प्रतिष्ठा में अभूतपूर्व भूमिका अदा की। स्वामी श्रद्धानद और महात्मा गाधी की प्रेरणा से पण्डित जी ने दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का कार्य किया। पण्डित जी से पूर्व स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने यह कार्य अपने जिम्मे लिया था। वस्तुतः मार्च सन् १९१८ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन इन्दौर में हुआ था, जिसकी अध्यक्षता की थी राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने। राष्ट्रभाषा के प्रचारकों के सामने उस समय दो प्रश्न थे। एक प्रश्न था स्वतंत्रता का मूल्य देकर खरीदी हुई अंग्रेजी की गुलामी के अभिशाप से देशवासियों को मुक्ति दिलाना। दूसरा था अहिन्दी भाषा-भाषी राज्यों में हिन्दी का प्रचार। दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के लिए सम्मेलन के अवसर पर इन्दौर नरेश तथा सेठ सर हुकुमचंद ने दस-दस हजार की थैलियाँ देकर हिन्दी प्रचारकों का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। बापू ने अपने पुत्र देवदास गांधी को इसके लिए मद्रास भेजा। उनकी सहायता के लिए स्वामी सत्यदेव परिव्राजक भी मद्रास गए। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की यही पृष्ठभूमि है।

गुरुकुल का क्योंकि हिन्दी साहित्य सम्मेलन से गहरा रिश्ता रहा है, अतः स्वामी श्रद्धानंद जी ने दक्षिण भारत में सार्वदेशिक सभा की तरफ से हिन्दी सिखाने का केन्द्र खोलने की इच्छा व्यक्त की। पण्डित जी बैंगलौर गए और स्वामी सत्यानंद जी ने के साथ काम शुरू किया। नेशनल हाईस्कूल के मुख्याध्यापक श्री कल्याणसुदरम के सहयोग से पण्डित जी हिन्दी कक्षाएँ शुरू की और अंग्रेजी के माध्यम से हिन्दी पढ़ाई। इसके लिए उन्होंने 'हाउ टु लर्न हिन्दी' पुस्तक भी लिखी जिसे वहाँ के व्यापारी 'जवेरचंद एण्ड कम्पनी' ने प्रकाशित किया। पण्डित जी के आचार्य स्वामी श्रद्धानंद जी १९१३ में भागलपुर में होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के चतुर्थ अधिवेशन के सभापति रह चुके थे। फिर तो १९५० में कोटा अधिवेशन के सभापति श्री जयचंद्र विद्यालंकार हुए। पण्डित जी और उनकी पत्नी द्वारा लिखे गए हिन्दी ग्रन्थों पर सम्मेलन ने मंगलाप्रसाद पारितोषिक देकर उनकी हिन्दी-निष्ठा को पुरस्कृत किया। गुरुकुल के स्नातक डॉ० सत्यकेतु, जयचंद्र विद्यालंकार चन्द्रावती जी तथा सत्यव्रत जी को मिला यह सम्मान स्वामी श्रद्धानंद जी को हिन्दी-सेवा भावना का ही सम्मान कहा जा सकता है।

पण्डितजी को अपने जीवनकाल में अनेक सम्मान मिले। १९६४ में डॉ० राधाकृष्णन ने, १९७७ में

उत्तर प्रदेश सरकार ने, १९७८ में नैरोबी आर्य सम्मेलन ने, १९७९ में लोक सेवक मंडल ने, १९८१ में श्री ज्ञानी जैलसिंह ने, १९८२ में भारतीय विद्या-भवन ने राजाजी पुरस्कार से तथा दिल्ली प्रशासन ने, १९८२ में पंजाब सरकार तथा हालैंड निवासियों ने, १९८७ में फिजिकल एजूकेशन कालेज ग्वालियर तथा सघड़ विद्या सभा जयपुर ने गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार से पण्डित जी को सम्मानित किया। वैदिक साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में की गई सेवाओं के लिए पण्डित जी को 'वेदमनीषी' के रूप में अभिनन्दित किया गया। पण्डित जी को मिला यह राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान गुरुकुलीय शिक्षा और उसके व्यावहारिक रूप के प्रतीक के लिए है। पण्डित जी सचमुच जीवित गुरुकुल हैं, उनका व्यक्तित्व और कृतित्व गुरुकुलीय परम्पराओं का सच्चा दर्पण है।

इसी विचार से प्रेरित होकर गुरुकुल के अमृतोत्सव पर पण्डित जी को अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का संकल्प कुलपति प्रो० रामचन्द्र शर्मा ने लिया। विश्वविद्यालय के आधुनिक निर्माता के अभिनन्दन की योजना बनाकर उन्होंने हमें अधमर्ण होने से बचा लिया तथा परिद्रष्टा श्री सोमनाथ जी मरवाह कुलाधिपति डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के संरक्षण में निर्मित यह अभिनन्दन ग्रन्थ पण्डित जी के महिम व्यक्तित्व के अनुरूप तो नहीं, पर श्रद्धाकण के रूप में हमारी भावनाओं का निदर्शन अवश्य है। आशा है, सुदामा के ये तंदुल पण्डित जी सप्रेम अंगीकार करेंगे। अपनी सीमाओं को देखते हुए और पण्डित जी के विराट् कर्तृत्व को नमन करते हुए इतना ही कहा जा सकता है—

तुम गौरव गिरि उत्तुंगकाय,
पद-पूजन का भी क्या उपाय?
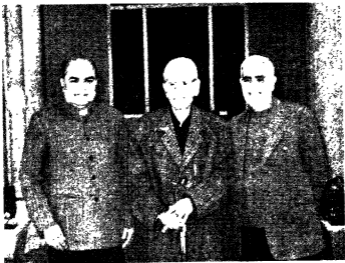
पण्डित सत्यव्रत जी के साथ कुलपति प्रो० रामचन्द्र शर्मा तथा पूर्वकुलपति
श्री बलभद्र कुमार हूजा

गुरुकुल के परिद्रष्टा श्री सोमनाथ मरवाह के साथ पण्डित जी, पण्डित जी के दाएँ आर
से डा० राकेश, कुलपति प्रो० रामचन्द्र शर्मा, श्री सोमनाथ मरवाह, परिद्रष्टा
श्री पूर्व कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा एवं कुल सचिव डा० वीरेन्द्र अरोडा

सत्यव्रत जी के गीता-भाष्य का 24.11.1965 मे विमोचन करते हुए प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री

पण्डित जी की पुस्तक 'राग तथा उनकी हाम्योपैथिक चिकित्सा' का 26-3-1974 में विमोचन करते हुए राष्ट्रपति श्री वी०वी० गिरि के साथ दिल्ली के मेयर लाला हंसराज गुप्त तथा लेखक का परिवार

पण्डित जी की पुस्तक 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' का 9 12.1975 मे विमोचन करते हुए प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी लेखक तथा प्रकाशक के साथ

सत्यव्रत जी की पुस्तक 'होम्योपैथिक औषधियो का सजीव-चित्रण' का 8 11.1972 मे विमोचन करते हुए उपराष्ट्रपति श्री गोपाल स्वरूप पाठक

पण्डितजी की अंग्रेजी मे लिखी पुस्तक 'From Old Age to Youth through Yoga and Homoeopathy' (हिन्दी में 'बुढापे से जवानी की ओर') का 8 5 1983 को राष्ट्रपति श्री जैल सिंह द्वारा राष्ट्रपति-भवन मे विमोचन । हिन्दी पुस्तक की बची हुई सब प्रतियाँ भारत-सरकार ने खरीद ली

हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का शहीदी-दिवस मनाते हुए
अनारकली आर्यसमाज मे श्री स्वामी सत्यप्रकाश जी अनारकली
आर्यसमाज की तरफ मे सत्यव्रतजी को अभिनन्दन-पत्र भेंट कर रहे है ।
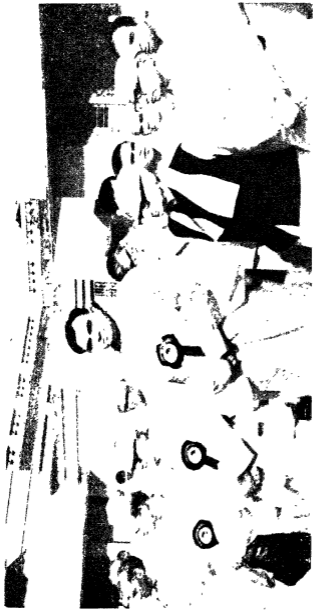
गुरुकुल के दीक्षान्त-उत्सव पर लोक सभाध्यक्ष श्री बलराम जाखड के साथ परिद्रष्टा पण्डित सत्यव्रतजी,
(चित्र में दाएँ से) श्री सरदारी लाल वर्मा, श्री प्रो० रामप्रसाद वेदालकार, कुलपति श्री बलभद्र कुमार हूजा,
श्री जाखड, पण्डित जी तथा प्रो० शेरसिह

शुभकामनाएँ
और
स्नेहांजलियाँ

राष्ट्रपति
भारत गणतंत्र
PRESIDENT
REPUBLIC OF INDIA

संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि डॉ0 सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार इस वर्ष मार्च माह में 90वें वर्ष में प्रवेश करेंगे तथा इस अवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित किया जाएगा ।

पंडित जी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति होने के साथ-साथ वैदिक साहित्य, संस्कृति और दर्शन के अद्वितीय विद्वान भी हैं । उन्होंने वेद, समाजशास्त्र, शिक्षा मनोविज्ञान तथा होमियोपैथी पर कई मौलिक, शोध संवलित तथा प्रौढ़ ग्रंथों की रचना की है ।

मैं पंडित जी की दीर्घायु की कामना करते हुए समारोह की सफलता के लिए अपनी शुभकामनाएं भेजता हूँ ।

(जैल सिंह)

नई दिल्ली,
4 मार्च, 1987

उपराष्ट्रपति, भारत,
नई देहली
VICE-PRESIDENT
INDIA.
NEW DELHI

दिसम्बर ८, १९८६

सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार मार्च ८७ में ९० वें वर्ष में प्रवेश करेंगे। यह उचित है कि इस अवसर पर उनकी साधना के सम्मानार्थ एक अभिनन्दन ग्रन्थ उन्हें समर्पित किया जाय। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ में डा० सिद्धान्तालंकार जी का संस्कृति एवं दर्शन के प्रति योगदान पूर्णत: वर्णित होगा।

मैं अभिनन्दन ग्रन्थ के सफल प्रकाशन के लिये अपनी शुभ कामनायें भेजता हूं।

आर वेंकटरामन

(आर० वेंकटरामन)

प्रधान मंत्री

नई दिल्ली
17 दिसम्बर, 1986

प्रिय डॉ० राकेश,

आपका 26 नवम्बर का पत्र मिला ।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि डॉ० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार जी को उनके 90वें जन्म-दिवस पर उनकी सारस्वत साधना के सम्मानार्थ एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है ।

ग्रन्थ के सटीक और सफल प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनायें ।

आपका,
राजीव गांधी

डॉ० विष्णुदत्त राकेश,
सम्पादक,
अभिनन्दन ग्रन्थ,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार-249404
उत्तर प्रदेश ।

डा० बल राम जाखड़
अध्यक्ष, लोक सभा

नई दिल्ली
तिथि: 26·11·86

संदेश

अत्यंत प्रसन्नता का विषय है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय डा0 सत्यव्रत सिद्धांतालंकार को उनके सम्मानार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का आयोजन कर रहा है।

डा0 सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, समाजसेवी, आर्य धर्म प्रचारक तथा शिक्षा शास्त्री रहे हैं। उन्होंने वेद, संस्कृति, दर्शन, समाजशास्त्र, शिक्षा, नृतत्वशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद आदि अनेक विषयों की समुन्नति के लिए तत्परता पूर्वक कार्य किया है। वह 1935 से 1942 गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति तथा प्रमुख पदाधिकारी रहे और इस काल में गुरुकुल कांगड़ी ने बहुत अधिक उन्नति की तथा आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबन प्राप्त किया। उन्होंने गुरुकुल में आयुर्वैदिक फार्मेसी, प्रिंटिंग प्रेस, पुस्तक प्रकाशन, रसायनों के उत्पादन को समुन्नत किया तथा उसे इस आधार पर लाकर खड़ा किया कि उसको अपने संचालन के लिए चंदा मांगने पर निर्भर नहीं रहना पड़ा। उन्होंने वैदिक धर्म तथा महर्षि दयानन्द के मन्तव्यों का जन जन में प्रचार किया। मैं उनके स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन की कामना करता हूं।

डॉ0 सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने के लिए कुलपति श्री रामचन्द्र शर्मा के संरक्षण में गठित समिति के सदस्यों को अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए मेरी बधाई तथा शुभकामनायें।

(हस्ताक्षर)
(बलराम जाखड़)

विदेश मंत्री
भारत
External Affairs Minister
India
२८ नवंबर, १९८६

सन्देश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि महामनीषि डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के ९० वर्ष मे पदार्पण के अवसर पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। मंगलाप्रसाद पारितोषिक से सम्मानित एवं गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति डॉ० सिद्धान्तालंकार की विद्वत्ता एवं साहित्य साधना सर्व-विदित है। वैदिक संस्कृति, दर्शन, नृतत्वशास्त्र, मनोविज्ञान होमियोपैथी आदि महत्वपूर्ण विषयों पर इन्होने बीसियों पुस्तकें लिखकर देश के साहित्य एवं संस्कृति को समृद्ध किया है। वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार सिद्ध करने पर इन्हे राजाजी वाङ्मय पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया। राज्य सभा सदस्य के रूप में भी डॉ० सिद्धान्तालंकार ने भारतीय संसद को गौरवान्वित किया है। ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ डॉ० रामचन्द्र शर्मा के संरक्षण में गठित समिति के सदस्य निश्चय ही बधाई के पात्र हैं।

मैं इस अवसर पर डॉ० सिद्धान्तालकार के सुदीर्घ एवं यशस्वी जीवन की कामना करता हूँ। मुझे विश्वास है कि प्रकाशित अभिनन्दन ग्रन्थ डॉ० सिद्धान्तालंकार के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डालेगा।

नारायणदत्त तिवारी

पण्डित जी ने गुरुकुल को आत्मनिर्भर बनाया

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष श्री विष्णुदत्त राकेश ने मुझे लिखा है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की तरफ से डॉ० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार के विषय में एक अभिनंदन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। उसके लिए मैं भी सत्यव्रत जी के संबंध में अपने कुछ संस्मरण लिखूं।

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने अपने एक स्नातक के विषय में अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना बनाई। मेरा श्री सत्यव्रत जी के साथ बहुत पुराना सम्बन्ध रहा है। जब वे गुरुकुल विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर थे उन दिनों मैं बम्बई रहा करता था। वे प्रायः प्रतिवर्ष विश्वविद्यालय के लिए धन-संग्रहार्थ आया करते थे। मेरा मारवाड़ी समाज के कुछ धनाढ्य व्यक्तियों के साथ जानकारी का सम्बन्ध था। पं० सत्यव्रत जी उन लोगों से गुरुकुल की सहायतार्थ दान लेने के लिए मुझे पकड़ लिया करते थे। क्योंकि यह काम देश की उच्च कोटि की शिक्षण-संस्था के लिए था जिसने राजनीतिक दृष्टि से भी अनेक योग्य स्नातक उत्पन्न किए थे और कर रहा था, इसलिए मैं उनके आग्रह को टाल नहीं सकता था और इस कार्य के लिए जब वे मेरे पास आते, मैं उनके साथ चल देता था। मैंने देखा कि वे अपने कार्य में इतने व्यस्त तथा तत्पर रहते थे कि प्रतिवर्ष एकमुश्त धनराशि गुरुकुल के लिए बम्बई से ले जाते थे। उनकी विलक्षणता यह है कि जिस कार्य को वे हाथ लगाते हैं उसे पूर्ण करके ही दम लेते हैं। प्रारम्भ किये हुए कार्य को बीच में छोड़ देना उन्होंने नहीं सीखा जिसका प्रमाण स्वयं उनका ६० वर्ष का जीवन है।

बम्बई के बाद भी वे मुझे लखनऊ आदि में मिलते रहे और जब मैं नेशनल हैरल्ड की व्यवस्था कर रहा था तब जब कभी वे लखनऊ आते तो मुझे अवश्य मिलते थे।

इसके बाद कई सालों तक मेरा उनसे संबंध टूटा रहा परन्तु जब मैं राज्य सभा का सदस्य बना तब राष्ट्रपति ने उन्हें भी राज्य सभा का सदस्य मनोनीत किया।

पार्लियामेन्ट का सदस्य मनोनीत किया जाना तथा चुनाव में सदस्य बनना, इन दोनों में अत्यन्त भेद है। राष्ट्रपति उन्हीं व्यक्तियों को राज्य सभा का सदस्य मनोनीत करते हैं जो अपने क्षेत्र में उच्च कोटि में पहुँच चुके होते हैं। डॉ० सत्यव्रत जी को डॉ० राधाकृष्णन ने जब वे राष्ट्रपति थे, राज्य सभा का सदस्य मनोनीत किया था। डॉ० राधाकृष्णन स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे, और क्योंकि विद्वान् ही विद्वान् को पहचानता है, इसलिए डॉ० राधाकृष्णन का श्री सत्यव्रत जी को विद्वत्ता के कारण राज्य सभा का सदस्य नियुक्त करना, जहाँ सत्यव्रत जी की विद्वत्ता को सूचित करता है, वहाँ गुरुकुल विश्वविद्यालय की महानता को भी सूचित करता है। यह बात इसलिए भी विशेष महत्त्व रखती है क्योंकि गुरुकुल के हजारों स्नातकों में से सत्यव्रत जी एकमात्र ऐसे स्नातक हैं जो राज्य सभा में राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये गये। उनकी संस्कृत-विद्वत्ता को तब चार चांद लग गये जब राष्ट्रपति ने उन्हें संस्कृत योग्यता के कारण १६८२ से आजन्म प्रतिवर्ष ५,००० (पाँच हजार) रुपया पुरस्कार रूप में देने की घोषणा की, और भारतीय विद्या भवन जैसी संस्था ने उनकी पुस्तक

'वैदिक संस्कृति का वैज्ञानिक आधार, पर वैदिक संस्कृति की सर्वोत्तम हिन्दी पुस्तक घोषित कर उस पर दस हजार रुपये का मद्रास में समारोहपूर्वक अवार्ड दिया। उस समारोह का आयोजन भारत सरकार के भूतपूर्व वित्त मंत्री श्री सी० सुब्रमण्यम तथा उसकी अध्यक्षता श्री रामकृष्ण मठ के अध्यक्ष स्वामी रंगनाथानन्द ने की।

डॉ० सत्यव्रत जी ने अब तक हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी मे ४० पुस्तकें लिखी हैं जो वेद, उपनिषद्, संस्कार, गीता तथा वैदिक संस्कृति पर हैं। एक-एक ग्रन्थ हजार पृष्ठो का है, और प्रत्येक पुस्तक अपने विषय की प्रामाणिक पुस्तक समझी जाती है क्योकि प्रत्येक पुस्तक पर कोई-न-कोई घोषित पुरस्कार दिया जा चुका है। इन विषयों के अतिरिक्त उनके होमियोपैथी पर भी अनेक ग्रन्थ हैं। वैदिक संस्कृति तथा होमियोपैथी पर उनकी लिखी पुस्तकें भाषा, भाव तथा सरलता की दृष्टि से अद्वितीय हैं।

साहित्यिक दृष्टि से पं० सत्यव्रत जी तथा उनकी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल दोनों उच्च कोटि के साहित्यकार माने गये हैं। हर्ष का विषय है कि दोनों को अपनी-अपनी पुस्तक पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन अहमदाबाद का मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ है। पं० सत्यव्रत जी को 'समाजशास्त्र के मूल तत्व' पर और उनकी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल को उनकी रचना 'शिक्षा मनोविज्ञान' पर इन्दौर मे हुए सम्मेलन मे महात्मा गांधी की अध्यक्षता मे मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया गया क्योकि उक्त दोनो पुस्तकें अपने विषय की सर्वोच्च पुस्तकें घोषित की गईं। चन्द्रावती जी को तो अपने ग्रन्थ 'स्त्रियों की स्थिति' लिखने पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सेकसरिया पुरस्कार भी पहले मिल चुका था। चन्द्रावती जी पहली महिला थी जिन्होंने विद्यार्थी काल में 'मदर इण्डिया' नामक पुस्तक लिखी थी जो मिस मेयो की 'मदर इण्डिया' पुस्तक का जवाब थी। भारत को बदनाम करने वाली उस पुस्तक को महात्मा गांधी ने 'ए ड्रेन इन्सपेक्टर्स रिपोर्ट, का नाम दिया था। चन्द्रावती जी की पुस्तक 'शिक्षा-मनोविज्ञान' पर तो हिन्दू विश्वविद्यालय के ट्रेनिंग कालेज के प्रिन्सिपल श्री लज्जाशंकर झा ने यहाँ तक लिखा था कि इस पुस्तक को लिखकर चन्द्रावती जी ने वरतंतु के शिष्य के समान अपनी शिक्षा-संस्था को चौदह करोड़ की दक्षिणा चुका दी है। मैं समझता हूँ कि हजारों नही तो सैकड़ों शिक्षक ऐसे हैं जिन्होने चन्द्रावती जी की 'शिक्षा-मनोविज्ञान' पुस्तक के आधार पर बी० टी० की डिग्री प्राप्त की है।

पं० सत्यव्रत जी तथा श्रीमती चन्द्रावती जी—ये दोनों साहित्यकार ही नही, सत्याग्रह-संग्राम में दोनों ने जेल-यातनाएँ भी सही हैं। सत्याग्रह-संग्राम मे दोनों एक-एक वर्ष की सजा भुगत चुके हैं। जब उस समय की विदेशी सरकार ने उत्तर प्रदेश की यू० पी० सी० सी० को अवैधानिक घोषित कर दिया था और कांग्रेस के हैड क्वार्टर आगरा मे सर्वत्र १४४ धारा लगा दी गई थी, तब आगरा के कांग्रेस-जनों ने श्रीमती चन्द्रावती जी को यू०पी०सी०सी० का प्रधान घोषित कर दिया था और निश्चित दिन प्रधान पद से सत्याग्रह करते हुए गिरफ्तार होने के लिए हरिद्वार से बुलाया था। सन्देश मिलते ही वे निश्चित दिन गिरफ्तार होने के लिए रात की गाड़ी से हरिद्वार से चलकर आगरा मे उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी की प्रधान के रूप मे सत्याग्रह करते हुए गिरफ्तार हो गई थी। इस घटना को उस समय के कांग्रेस-जन कभी भुला नहीं सकेंगे। एक देवी का यू० पी० सी० सी० का संदेश मिलते ही सिर्फ सत्याग्रह करते हुए गिरफ्तार होने के लिए हरिद्वार से आगरा चल पड़ना एक अद्भुत घटना है और पति का सिर्फ इसी उद्देश्य से पत्नी को सत्याग्रह करते हुए जेल भेज देना उससे भी अद्भुत घटना है जो पं० सत्यव्रत जी के राजनीतिक जीवन की एक विशेष उपलब्धि कहा जासकता है। इन दोनो की बिलक्षणता यह है कि दोनों पार्लियामेन्ट के सदस्य रहे हैं, दोनों उच्च कोटि की साहित्य-रचना के लिए हिन्दी के मंगलाप्रसाद पारितोषिक के विजेता हैं, दोनों स्वतन्त्रता सेनानी हैं, यद्यपि चन्द्रावती जी का १९६९ में देहान्त हो गया।

इन सब बातों को देखते हुए पं० सत्यव्रत जी जैसे व्यक्ति का अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित करना जहाँ गुरुकुल विश्वविद्यालय के लिए गौरव की बात है वहाँ संस्था द्वारा इनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन भी है क्योंकि श्री सत्यव्रत जी के फार्मेसी का निर्माण, प्रेस का संचालन तथा वृक्षारोपण आदि सत्प्रयत्नों से ही गुरुकुल संस्था स्वात्मनिर्भर हो पायी है और भारत सरकार से विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त कर सकी है।

उमाशंकर दीक्षित

(भूतपूर्व राज्यपाल, पश्चिमी बंगाल)

दूरभाषा ३०१५८३६
५, डुप्ले रोड,
नई दिल्ली ।
२८ जुलाई, १९८७

वैदिक साहित्य के अमर चिन्तक

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार को एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। मैं इसके लिए आपको बधाई देता हूं। यह मेरे लिए गौरव का विषय है कि मैं श्री सिद्धान्तालंकार जी के लिए अपनी जानकारी और अनुभव के आधार पर कुछ शब्द उस ग्रन्थ के लिए लिखूं।

"डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का जन्म ५ मार्च, १८९८ ई० पू० को ग्राम सोवड्डी जिला लुधियाना मे हुआ था। इनके पूज्य पिता का नाम पंडित बालकराम शर्मा था। डॉ० सिद्धान्तालंकार ने गुरुकुल कांगड़ी से ही स्नातक किया तथा बाद मे वही पर उपकुलपति के रूप मे १५ वर्षों तक अपनी सेवाएँ अर्पित की। जिसके लिए उन्होंने कभी वेतन भी नही लिया। उन्होंने तत्कालीन शिक्षा मन्त्री डॉ० कालूलाल श्रीमाली से आग्रह करके गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के आज भी वे विजिटर हैं जो कि कुलपति का चयन करते हैं।

डॉ० सिद्धान्तालंकार को उनके शिक्षा एवं मनोविज्ञान संबंधी लेखों के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से मंगलाप्रसाद पारतोषिक दिया गया। उन्होंने गुरुकुल काँगड़ी को प्रेस एवं फारमेसी के भी क्षेत्र मे आत्मनिर्भर बनाया। प्रो० सिद्धान्तालंकार ने अपने अब तक के जीवन मे लगभग ४० बहुमूल्य पुस्तके विभिन्न विषयो पर लिखी, जिसमें से उनकी एक दुर्लभ पुस्तक 'बुढ़ापे से जवानी की ओर' के लेखन पर भारत सरकार ने पुरस्कृत भी किया है तथा इसकी २०० प्रतियाँ लेकर सरकार ने बहुत से विश्वविद्यालयों के अध्ययन के लिए प्रसारित कीं।

पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार की आर्यसमाज के देश के ही नही सारी दुनिया के माने हुए विद्वान हैं। उनके विचार पुस्तकों मे भी, भाषाओं मे भी देखने और सुनने को मुझे बहुत सौभाग्य प्राप्त हुआ है। 'बुढापे से जवानी की ओर' पुस्तक लिखकर उन्होंने नई पीढी को स्वस्थ रहने की अपार प्रेरणा दी है। वे स्वयं भी इसके उत्तम उदाहरण हैं। प्राकृतिक चिकित्सा, दीर्घजीवी, स्वस्थ और सुखी रहने के उपाय इनका दैनिक जीवन हैं। अपने शरीर पर नित्यप्रति मालिश, प्राणायाम, व्यायाम कई घंटे लगाते हैं। लम्बी उम्र होने पर विचार और शरीर से स्वस्थ हैं। प्राकृतिक चिकित्सक के रूप मे मैंने उनसे स्वयं भी प्रेरणा ली है। वे अच्छे होमियोपैथ डाक्टर भी हैं। गुरुकुल काँगड़ी के उपकुलपति रहने के बावजूद भी उन्होंने आर्यसमाज की अपार सेवा की। उनके प्रवचन और भाषण अनेक बार सुने। परन्तु आर्यसमाज शताब्दी मे 'वेद वैज्ञानिक हैं' विषय पर दिया गया उनका भाषण सबसे अनूठा था। देश से बाहर विदेशों मे उन्होंने वेदों को वैज्ञानिक सिद्ध कर आर्यसमाज और स्वामी दयानंद जी के विचारो का भारी प्रचार किया है। स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी तथा १९६२ में राज्यसभा के सदस्य भी रह चुके हैं। धार्मिक और देशभक्त नेता के रूप मे देश मे जाने और माने जाते हैं। पं० सत्यव्रत जी एक कुशल राजनीतिज्ञ भी रहे हैं। देखने मे बहुत सरल एवं समुद्र की गहराई के समान व्यक्तित्व वाले पंडित जी ही नहीं बल्कि उनकी धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल ने भी अपनी योग्यता

एवं विद्वत्ता के आधार पर काफी दिनों तक देश की एवं आर्यसमाज की सेवा की तथा उनकी सेवाओं से प्रभावित होकर उनको भी राज्यसभा का सदस्य बनाया गया। पं० सत्यव्रत जी को भगवान अधिकाधिक दिनों तक समाज एव राष्ट्र को प्रेरणा देने की शक्ति प्रदान करे, मेरी यही कामना है। जैसा कि पंडित जी ने बातचीत के दौरान अपनी अभिलाषा भी व्यक्त की है कि वे २१वीं शती भी देखना चाहते हैं। ईश्वर को मानने वाला मेरा हृदय ऐसा महसूस करता है कि आत्मविश्वास से भरपूर ऐसे व्यक्तित्व को ईश्वर अवश्य ही २१वीं शती दिखायेगा।

रामचन्द्र विकल

संसद सदस्य (राज्यसभा)

नई दिल्ली
दिनांक : 29-10-86

डॉ० विष्णुदत्त राकेश
संपादक, डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार अभिनन्दन ग्रन्थ
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

नमस्ते।

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि आर्य जगत् के उद्‌भट विद्वान डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार आगामी मार्च 87 में 90वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं और इस अवसर पर उन्हे अभिनन्दन ग्रंथ से सम्मानित करने की योजना है।

डॉ० सत्यव्रत को, जब मैं बहुत छोटी अवस्था मे था, मैंने आर्यसमाजियो मे एक प्रचारक के रूप में देखा था। देश के कोने-कोने मे उन्होने वैदिक धर्म का प्रचार किया। जीवन के हर क्षेत्र—सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक सभी में उनका उच्च स्थान है।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय से भी उनका गहरा सम्बन्ध है, यद्यपि यह स्वाभाविक है कि सरकारी अनुदान प्राप्त संस्थान जनता की उन आकांक्षाओं की पूर्ति नही कर सकती, जिनकी उनको अपेक्षा थी। इस बात पर डॉ० साहब से मेरा मोठा विरोधाभास भी हो सकता है, किन्तु आर्यसमाज के इस यशस्वी विद्वान और दार्शनिक मनीषी पर हमें अत्यन्त गर्व भी है।

डॉ० साहब की पुस्तक बुढ़ापे से जवानी की ओर जनता के लिए एक विशेष देन है। विशेषकर बड़े आयु के लोगों ने इस अनुपम पुस्तक का लाभ उठाया है। मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक के अनुसार दिनचर्या बनाने वाले लोग पूर्ण स्वस्थ व दीर्घायु प्राप्त कर सकते हैं।

माननीय पंडित जी का वेद, संस्कृत, दर्शन, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा होमियोपैथी पर गहन ज्ञान है। हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा पर भी उनका पूरा अधिकार है। इन्होने सभी विषयों पर बड़ी उपयोगी ग्रन्थ व पुस्तकें लिखी हैं, कई पुस्तकों पर इन्हें राष्ट्रपति तथा अन्य राज्य सरकारो द्वारा सम्मानित भी किया जा चुका है।

उनकी चुस्ती और फुर्ती आज भी नवयुवकों जैसी है, जिससे यह सिद्ध होता है कि बुढ़ापे से जवानी की ओर वे बढ़ रहे हैं। परमात्मा उन्हें शतायु करें, मेरी प्रार्थना है।

भवदीय
स्वामी आनन्द बोध सरस्वती
(प्रधान, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा)

चौक, लखनऊ-

दिनांक : 19-9-86

प्रियवर राकेश जी,

आपका पत्र पाकर प्रसन्नता हुई। पूज्यवर सत्यव्रतजी अब 90 वर्ष के हो रहे हैं। यह जानकर आनन्दित हुआ। पूज्यवर का नाम ही मेरे मन मे श्रद्धा जगा देता है। उन्होंने हमारी चेतना को उजाला देने के लिए बहुत-सी मशालें जलायी हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें 'समाजशास्त्र के मूल तत्त्व' पुस्तक पर भी मंगलाप्रसाद पारितोषिक देकर स्वयं पुरस्कार को ही पुरस्कृत किया। उनके 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' नामक ग्रन्थ को मैंने दो बार ध्यान से पढ़ा और बड़ी प्रेरणा पाई है। उनकी 'वैदिक संस्कृति का संदेश' पुस्तक भी मुझे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लगी। डॉ० सत्यव्रत जी ने समाजशास्त्र, मानवशास्त्र तथा शिक्षा सम्बन्धी अनेक उपयोगी ग्रन्थ लिखे हैं उनके 'एकादशोपनिषद् भाष्य' और 'गीता भाष्य' ग्रन्थ भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

इन विषयों पर कलम चलाने के अतिरिक्त पूज्यवर ने होमियोपैथी पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। पूज्य डॉ० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार का अभिनन्दन करके केवल गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय ही नहीं अपितु हम सभी अपने को गौरवान्वित अनुभव करेंगे। इस पुनीत अवसर पर वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध विद्वान के श्रीचरणों में मेरी शत्-शत् प्रणामाञ्जलियां अर्पित हैं।

आशा है आप सपरिवार स्वस्थ एवं सानन्द होंगे।

भवदीय

अमृतलाल नागर

लखनऊ

प्रिय डॉ० राकेश जी दिनांक : 23 अक्तूबर, 1986

यह जान कर बहुत हर्ष हुआ कि आप श्रद्धेय श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी के सम्मान मे एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का आयोजन कर रहे हैं। इस स्वागत-योग्य प्रयास की पूर्ण सफलता के लिए मेरी ओर से शुभ कामनाएं स्वीकार कीजिये।

श्री सत्यव्रत जी ने शिक्षा तथा साहित्य के क्षेत्र मे जो उच्चस्तरीय कार्य किया है, उसके लिए वे बधाई एवं साधुवाद के पात्र हैं। उनका यह लम्बा जीवन अनवरत साधना और समर्पण की एक गौरव-गाथा है। भगवान श्री बद्री विशाल जी से मेरी नम्रतापूर्ण प्रार्थना है कि वे श्री सत्यव्रत जी को पूर्णतया स्वस्थ और दीर्घजीवी बनायें।

मैं उनके सम्मान मे अपनी विनम्र भावांजलि अर्पित हूँ।

भवदीय

भक्त दर्शन

(कार्यकारी उपाध्यक्ष, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान)

वेदपाठी भवन
पंचमुखी महादेव मार्ग,
मुजफ्फरनगर
दिनांक 18-10-86

यह जानकर हार्दिक आह्लाद हुआ कि विद्वानों की सार्वजनिक समर्चा के इच्छुक तथा विद्वत्ता और साधुता का समादर करने वाले सत्पुरुषों ने नब्बे वर्षीय डॉ० पंडित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकारजी की भावयित्री तथा कारयित्री प्रतिभा और उनके यशःपूत व्यक्तित्व से भावित, विभावित और प्रभावित होकर उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करके अपने तथा विद्वत्समाज की ओर से उनकी अप्रतिम कृतियो और उनके असाधारण वैदुष्य के प्रति कृतज्ञतापूर्ण श्रद्धा व्यक्त करने का साधु संकल्प किया है। यद्यपि यह सारस्वत अर्चना बहुत पहले हो जानी चाहिए थी तथापि मंगल कार्य विलम्ब से भी हो जाय तो श्रेयस्कर ही होता है।

विद्वद्वरेण्य डॉ० पंडित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार से और उनकी सशक्त, मौलिक, विद्वत्तापूर्ण तथा ऊर्जस्वित रचनाओ से मैं पिछले पचपन वर्षों से परिचित होता चला आ रहा हूँ। हमारे देश के जिन गिने-चुने वेदविद्या और साहित्य के साधकों ने अत्यन्त सद्वृत्ति, अध्यवसाय, निष्ठा और मनोयोग के साथ वैदिक वाङ्मय और भारतीय संस्कृति का सतत पोषण और प्रचार-प्रसार किया है उनमें डॉ० पंडित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकारजी का परम सम्माननीय स्थान है। यद्यपि भारतीय गणतन्त्र के महामहिम राष्ट्रपति महोदय ने उन्हें संस्कृत पंडित के रूप मे सम्मानित किया और वे राज्यसभा के सदस्य भी रहे तथापि उनकी धवल कीर्ति को अजर और अमर बनाने वाला तो उनका पांडित्य, उनके ग्रन्थ और उनकी सहृदयतापूर्ण साधुता ही है। उन्होंने वैदिक वाङ्मय से संबद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अतिरिक्त भारतीय दर्शन, संस्कृति, समाज-शास्त्र, नृविज्ञान और मनोविज्ञान आदि जिन भी विषयों पर अपनी लेखनी को गति प्रदान की वे सभी तात्विक निरूपण, विशद विवेचन, विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण और तर्कसंगत मीमांसा के कारण भासमान हो उठे। प्रभावशील और मूर्धन्य लेखक होने के साथ-साथ वे अत्यन्त ओजस्वी और प्रभावशाली वक्ता भी रह चुके हैं। इन उपरिलिखित गुणों के अतिरिक्त वे अत्यन्त उदार, सहृदय, शीलवान् गुणज्ञ और साधु पुरुष हैं। ऐसे महापुरुष का अभिनन्दन करके उनकी योग्यता, लोक-सेवा, साहित्य-साधना और लोकोत्तर गुणों को सार्वजनिक रूप से उद्भासित करने से निश्चय ही सबको प्रेरणा प्राप्त होगी।

मैं सात्त्विक हृदय से मंगल कामना करता हूँ कि उन्हें परमायु प्राप्त हो।

—सीताराम चतुर्वेदी

नई दिल्ली

4 दिसम्बर, 1986

श्रद्धेय डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार इस शताब्दी के वन्दनीय व्यक्तियों में से हैं—जिनमें विशेषकर वैदिक साहित्य और भारतीय संस्कृति को अपनी लेखनी से समृद्ध किया है। ईश्वर ने जिस प्रकार उनको दिव्य और आकर्षित व्यक्तित्व प्रदान किया है, उसी प्रकार अत्यन्त चिन्तनशील मस्तिष्क, विशाल हृदय और अनुपम बुद्धि विभव की सम्पदा भी उनको दी है। विद्या की विभिन्न विधाओं और संस्कृत, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं पर उनका समान रूप से अधिकार है और उनने वेद, संस्कृति और दर्शन से लेकर समाजशास्त्र, शिक्षा, नृतत्वशास्त्र, मनोविज्ञान और होमियोपैथी विषयों पर शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। हिन्दी साहित्य को उनने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न किया है। वे सौजन्य, विद्या, विनय, विवेक और आदर्शों की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। विशेषकर उनके सौम्य व्यक्तित्व की सारे देश में अतिशय प्रतिष्ठा है, इसीलिए अनेक जटिल प्रश्नों के समाधान के लिए अनेक बार लोग उनकी सेवा में जाते रहे हैं और उनने बड़े से बड़े विवादास्पद विषयों का भी सुगमता से समाधान किया है।

इस प्रकार के महापुरुष को परिद्रष्टा (विजीटर) के रूप में प्राप्त कर गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय सौभाग्यशाली है।

मैं इस मंगलमय अवसर पर इस विश्वविद्यालय के स्नातक के रूप में भी डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के प्रति अपनी श्रद्धा, निष्ठा, भक्ति और प्रणामांजलि अर्पित करता हूँ।

डॉ० मण्डन मिश्र

निदेशक, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान

प्रज्ञालोक

उपनिषदों के धारावाही भाष्यकार

भूतपूर्व राष्ट्रपति डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन

हमारी प्रगति का रूप हमारी प्राचीन सभ्यता है। यह सभ्यता श्रद्धा के जिन आधारो पर खड़ी है उनका सूत्र मुख्य-मुख्य उपनिषदों में पाया जाता है। आज जबकि हम अपने देश के जीवन मे एक नवयुग का निर्माण करने जा रहे हैं, हमें अपने भीतर नव-जीवन का संचार करने के लिए उन्ही उपनिषदो की तरफ जाना होगा। उपनिषदों मे वे मूल-तत्त्व छिपे हुए है जिन्होंने आदि-युग के उषःकाल से अब तक हमारे इतिहास को ढाला है। जब-जब हमने ठोकरें खाई हैं, तब-तब कारण हमारा उपनिषदो की शिक्षा से विमुख हो जाना ही रहा है। इसलिए आज की सन्तति के उद्धार के लिए उपनिषदो के तत्त्वो को ग्रहण करना, और उन तत्त्वो का हमारी दिन-दिन की समस्याओं के साथ जो सम्बन्ध है उसे समझ लेना आवश्यक है।

उपनिषदों के मूल वाक्यों को पढ लेना ही काफी नही है। उपनिषद् तो मनन का विषय हैं। उदाहरणार्थ, उपनिषद् की प्रथम पंक्ति मे ही कितना मनन का विषय भरा पड़ा है। प्रथम उपनिषद् की प्रथम पंक्ति है—

ईशावास्यमिदं सर्वं, यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

इस पंक्ति में कितने महान् रहस्य का प्रतिपादन किया गया है। मन्त्र का कथन है कि यह सम्पूर्ण जगत् घटनाओं का एक निरन्तर प्रवाह है, इस प्रवाह में एक घटना दूसरी घटना से आगे बढती चली जा रही है—सब जगह गति है, प्रवाह है। परन्तु क्या जगत् प्रवाह-मात्र है, प्रवाह के अतिरिक्त यह कुछ नही ? उपनिषद् का कहना है कि यह सम्पूर्ण प्रवाह पर-ब्रह्म से अनुप्राणित है, उससे आवासित है, उससे ढका हुआ है। हमे संसार को केवल बाहर से ही नही देखना, हमे बाहर से दिख रहे घटनाओ के अविरत प्रवाह के अन्तराल में जाज्वल्यमान प्रगाढ यथार्थ-सत्ता को देखना है जो इस प्रवाह के भीतर अनुप्रविष्ट है। जो व्यक्ति इस अन्तर्दृष्टि से हर वस्तु के बाह्य रूप को नही, उसके आन्तरिक रूप को देख लेता है, उसके लिए ससार साध्य नही, साधन हो जाता है, वह संसार की हर वस्तु का त्याग करके हर वस्तु का स्वामी बन जाता है। जब हम अनुभव कर लेते हैं कि पर-ब्रह्म ससार के अणु-अणु में व्यापक है, तब हम संसार की हर वस्तु से एकात्मता अनुभव करने लगते हैं। ट्रैहर्न के शब्दो मे जब हम विश्व के साथ इस एकात्मता का अनुभव करते हैं तब—'समुद्र हमारी शिराओं मे बहने लगता है'''सितारे हमारे देह के आभूषण बन जाते हैं।' जो व्यक्ति ऐसा अनुभव करने लगता है उसके लिए हर वस्तु ब्रह्मानुप्राणित हो जाती है, और जिसके लिए हर वस्तु ब्रह्मानुप्राणित है, उसके लिए लालच को, छीना-झपटी को, या अहंमन्यता को स्थान कहां ?

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि प्रो० सत्यव्रत ने, जो कई वर्षों तक गुरुकुल विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे हैं, धारावाही हिन्दी में उपनिषदों का विस्तृत तथा गहन परिचयात्मक ग्रन्थ लिखा है जिस में उपनिषदों का शब्दार्थ सहित मूल तथा उसकी धारावाही स्वतन्त्र व्याख्या दी गई है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी-जगत् में इस ग्रन्थ का स्वागत होगा, विस्तृत रूप मे इस ग्रन्थ का अध्ययन होगा, सबका इससे भला होगा, और इसके द्वारा पाठकों को आध्यात्मिक प्रसाद प्राप्त होगा।

गीता के उच्चकोटि के व्याख्याता

स्व० प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर जी शास्त्री

'गीता' ऐसा ग्रन्थ है जिस पर अनेक टीकाएँ तथा भाष्य लिखे गये हैं। आज से साढ़े ग्यारह सौ वर्ष पहले केरल-प्रदेश के श्री शंकराचार्य ने, जो दक्षिण भारत के होते हुए भी संपूर्ण भारत के हो गये थे, इस ग्रन्थ पर विद्वत्ता-पूर्ण भाष्य लिखा। उसके बाद श्री रामानुजाचार्य तथा श्री मध्वाचार्य ने अपने-अपने दृष्टिकोण से गीता पर भाष्य लिखे। आधुनिक युग में लोकमान्य तिलक तथा श्री अरविन्द ने गीता के सिद्धान्तों पर विस्तृत शास्त्रीय विवेचना की। महात्मा गांधी ने भी 'अनासक्ति-योग' नाम से गीता को सरल भाषा मे लिखा। उनका जीवन तो गीता की शिक्षा का क्रियात्मक प्रत्यक्ष रूप था। गीता के सम्बन्ध मे महात्मा जी ने 'यंग इण्डिया' मे लिखा था : "मुझे भगवद्गीता में एक ऐसी सान्त्वना मिलती है जो मुझे बाइबल के 'सर्मन ऑन दी माउट' तक मे नहीं मिलती। जब निराशा मेरे सामने आ खड़ी होती है, जब मैं अपने को बिल्कुल एकाकी अनुभव करता हूँ, जब मुझे प्रकाश की कोई किरण नही दिखलाई पड़ती, तब मैं गीता की शरण लेता हूँ, और तब मुझे गीता में कोई-न-कोई ऐसा श्लोक दीख पड़ जाता है जिसे पढ़कर मैं विषम विपत्तियो मे भी मुस्कराने लगता हूँ।" श्री शंकराचार्य से महात्मा गांधी तक इस देश के महान् विचारक, समाज-सुधारक, शिक्षक तथा राजनीतिक-चिन्तक गीता की शिक्षाओं को जीवन का पथ-प्रदर्शक मानते रहे हैं और यह ग्रन्थ सदियों से विद्वानो का ही नही, सर्वसाधारण का भी समान रूप से मान्य ग्रन्थ रहा है। इतनी दीर्घकालीन परम्परा मे इसका स्थान हमारे हृदयों में इतना ऊँचा इसीलिये बन गया है क्योकि इसमें सार्वभौम सिद्धान्तों का दिग्दर्शन है और उसका मन्तव्य, गहन होते हुए भी, जीवन का स्पष्ट मार्ग-प्रदर्शन करता है।

गीता का 'निष्काम-कर्म' का सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे पकड़ लेने से जीवन की उलझन-भरी समस्याएँ अपने-आप सुलझने लगती हैं। जब मनुष्य कामना का, फलासक्ति का त्याग करके, कर्त्तव्य-कर्म मे जुट जाता है, तब वह सुख-दुःख के विक्षोभ से ऊपर उठ जाता है। गीता ने मनुष्य की इस मानसिक स्थिति का बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन करते हुए कहा है—

> सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
> ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥२-३८॥
> समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकांचनः।
> मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
> सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ १४-२४, २५॥

सुख-दुःख मे, लाभ-हानि में, मान-अपमान मे, निन्दा-स्तुति मे सम-भाव से रहना, किसी भावावेश में उद्वेलित न होना, अपने को सन्तुलित रखना—गीता की यह ऐसी सीख है जो जीवन की पगडंडियों में भटकते मानव को जीवन के राजपथ पर डाल देती है। दुःख को भी सुख की कोटि मे, हानि को भी लाभ की कोटि

में, अपमान को भी मान की कोटि में, निन्दा को भी स्तुति की कोटि मे ला बैठालना, इन विरोधी तत्वों को एक स्तर पर ले आना, इनमें से किसी से भी उद्विग्न न होना—यह एक ऐसा अद्भुत विचार है, जो विश्व की विचारधारा को गीता की अपूर्व देन कहा जा सकता है। गीता के रचयिता तो विश्व की रचना को अपनी पैनी आध्यात्मिक दृष्टि से देखते हुए सृष्टि के विधान मे, अपना नही, उसका हाथ देखते हुए, दुःख मे भी सुख लेते प्रतीत होते हैं, हानि, अपमान तथा निन्दा मे भी एक तरह का मजा लूटते जान पड़ते हैं। इस प्रकार की मनःस्थिति तभी संभव हो सकती है जब जीवन का ढाँचा गीता के निष्काम-कर्म के साँचे मे ढला हो। निष्काम-कर्म द्वारा मानसिक सन्तुलन बनाये रखना—यह तथा इसी कोटि के सार्वभौम सिद्धान्तो के कारण गीता जैसा मूल-ग्रन्थ मिलना ही कठिन है, और इसीलिए इन सिद्धान्तो को स्पष्ट करके हृदय के अन्तस्तल मे पहुँचा देने के लिए इसके भाष्य की उपयोगिता में किसी को सन्देह नही हो सकता। गीता के गूढ़ विचारो को सरल बनाना और उन्हें अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँचाना—यह साहित्य की ही सेवा नही है, देश की भी सेवा है।

मैंने प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का किया हुआ गीता का अनुवाद तथा भाष्य देखा है। वह विवेक-पूर्ण है, उसकी भाषा प्रांजल तथा सुन्दर है। इसकी रचना उन्होंने इस प्रकार की है ताकि इससे पंडित-वर्ग तथा सर्वसाधारण जनता दोनों लाभ उठा सकें। मैं उनके इस सफल प्रयास के लिए उन्हें बधाई देता हूँ।

पण्डित सत्यव्रत जी का गीता-भाष्य

स्व० लोकनायक श्री जयप्रकाश नारायण

सत्यव्रत जी की गीता-टीका ग्रन्थ कल समाप्त किया। यह टीका मुझे बड़ी अच्छी लगी। सरल और Rational। स्थान-स्थान पर श्रीअरविन्द, लोकमान्य तिलक, संत विनोबा, डॉ० राधाकृष्णन् आदि के भाष्यों का भी उल्लेख किया है। अधिकांश स्थलों पर श्रीअरविन्द का भाष्य मुझे सबसे अच्छा लगा और कहीं-कहीं तिलक, विनोबा आदि के भाष्य।

सत्यव्रत जी गीता के अठारह अध्यायों को तीन भागों में बाँटते हैं। पहले भाग में प्रारंभिक ६ अध्याय कर्मयोग विषयक, बीच के ६ अध्याय भक्ति विषयक, अन्त के ६ अध्याय ज्ञान विषयक—इस प्रकार तीन भाग किए हैं। परन्तु उनका कहना है कि ये तीनों योग या मार्ग एक-दूसरे से भिन्न नहीं। केवल इतना ही है कि प्रत्येक भाग में इन तीन योगों में से एक पर अधिक बल दिया है परन्तु बाकी दो योग भी एक में मिले हुए हैं।

[जेल डायरी १९७५, पृष्ठ १३७]

वैदिक विचारधारा की वैज्ञानिक आधार : मार्गदर्शक कृति

स्व० प्रधान मंत्री देशरत्न श्रीमती इन्दिरा गांधी

आज का युग संघर्ष का युग है। इस युग मे भौतिक तथा आध्यात्मिक विचारो का भी टकराव हो रहा है। ग्रन्थकर्त्ता ने ठीक ही कहा है कि धर्म तथा विज्ञान के संघर्ष में हमे धर्म के लिए वैज्ञानिक आधार खोजना होगा। विज्ञान का सच्चा अर्थ है सत्य की खोज, मनुष्य की आन्तरिक आँखें खुलें, हृदय खुले, और यही उद्देश्य धर्म का है। इस दृष्टि से देखने पर ही वस्तुस्थिति समझ मे आ सकती है क्योकि कोई वस्तु अपने-आप मे बुरी नही है। वस्तु का अच्छा अथवा बुरा होना इस बात पर निर्भर करता है कि उसका उपयोग किस प्रकार किया जा रहा है। एक छुरी किसी सर्जन के हाथ में कल्याणकारी है तो वही अन्य अवसर पर हत्या का साधन बन सकती है। विज्ञान का युद्ध के लिए प्रयोग संहारकारी है, परन्तु इसी विज्ञान का काम मानव को कितनी ही बीमारियो से बचाना भी है। जो लोग धर्म के नाम पर अन्धविश्वास को भी धर्म के समान मान्यता देते हैं उन्हे सोचना होगा कि अन्धविश्वास धर्म नही है। प्रो० सत्यव्रत जी ने ठीक ही कहा है कि विज्ञान एक लँगड़े के समान है, धर्म एक अन्धे के समान है। बिना विज्ञान के धर्म अधूरा है, बिना धर्म के विज्ञान अधूरा है। इन दोनो को साथ मिलकर चलना होगा—इस कथन मे गहरी सचाई है। आज के युग मे धर्म की वही मान्यताएँ टिक सकती हैं जिन्हें वैज्ञानिक दृष्टि से पुष्ट किया जा सके। धर्म के कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं। उन सिद्धान्तो को नीव मे रखकर जीवन का निर्माण करना होगा। धर्म की इन मान्यताओ मे, जो विज्ञानसम्मत हैं, इतना बल है कि वे जीवन को सशक्त बना सकती हैं। वेदो मे, उपनिषदो तथा गीता मे जिन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है, वे हमारे वैदिक साहित्य की अमर निधि हैं, हमारे जीवन के लिए प्रेरणा-सूत्र हैं, इस निधि को हम किसी तरह गँवा नहीं सकते। वेदों की विचारधारा त्रिकाल सत्य है, इनमे दर्शाये गये बुनियादी आदर्श हर परिस्थिति तथा हर काल मे अपनाने योग्य हैं।

डॉ० सत्यव्रतजी के इस ग्रन्थ में अध्यात्म के बुनियादी सिद्धान्तों की तरफ़ ध्यान खीचते हुए उनका विज्ञान के साथ समन्वय दिखलाने का जो वांछनीय प्रयत्न किया गया है उसकी तरफ युवको तथा युवतियो का ध्यान जाना चाहिए। मेरी इच्छा है कि सब लोग इस ग्रन्थ का अध्ययन करें और इसमे भौतिक तथा अध्यात्म का जो समन्वय दर्शाया गया है उस पर मनन करें ताकि युवको मे जो उच्छृंखलता आती जा रही है वह न रहे और वैदिक आदर्श उनके जीवन में ओत-प्रोत हो जायें।

मैं ग्रन्थकर्त्ता को ऐसा उत्तम ग्रन्थ लिखने के लिए बधाई देती हूं, इसी प्रकार का साहित्य सर्जनात्मक साहित्य कहा जा सकता है।

'समाजशास्त्र के मूलतत्त्व के लेखक' समाजशास्त्रीय विषयों के मर्मज्ञ विद्वान्

डॉ० रामनारायण सक्सेना, डी० लिट्०

पूर्व डायरेक्टर, इन्स्टीट्यूट आफ सोसियोलॉजी, आगरा विश्वविद्यालय तथा कुलपति, काशी विद्यापीठ

अब तक हमारा ध्यान अन्य विज्ञानों की तरफ़ तो था परन्तु 'समाजशास्त्र' एक उपेक्षित विषय था। पिछले कुछ वर्षों से, धीरे-धीरे सामाजिक विज्ञानों की भिन्न-भिन्न शाखाओं के विद्वानों का ध्यान इस विषय की तरफ भी जाने लगा है और समाजशास्त्र एक विषय के तौर से अपनी जगह बनाता जा रहा है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होती जा रही है, जिसमें समाजशास्त्रियों के अलावा आम जनता भी इस शास्त्र में दिलचस्पी लेने लगी है और देश के शासक, सामाजिक कार्यकर्त्ता, लेखक, सम्पादक, अध्यापक, वक्ता—सभी लोग समाजशास्त्र के तथ्यों तथा मूलतत्त्वों को जानने के लिए उत्सुक होते जा रहे हैं। उक्त परिस्थिति में एक ऐसे ग्रन्थ की अत्यन्त आवश्यकता अनुभव हो रही थी जो समाजशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों को स्पष्ट, सरल, सुन्दर तथा बुद्धि-गम्य भाषा में व्यक्त करे। हिन्दी में तो अभी सामाजिक विज्ञान सम्बन्धी साहित्य की बहुत ही कमी है। प्रस्तुत पुस्तक ने इस कमी को बहुत अंश तक दूर कर दिया है। इस पुस्तक में समाजशास्त्र के सभी विषयों का सुन्दर तथा सरल विवेचन किया गया है। वैसे तो पुस्तक समाजशास्त्र से परिचय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सभी पाठकों के लिए उपयोगी है, परन्तु विश्वविद्यालयों के उन विद्यार्थियों के लिए तो, जो समाजशास्त्र का अध्ययन कर रहे हैं, यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी क्योंकि इसमें बी० ए० तथा एम० ए० की पाठ-विधि के इस क्षेत्र के किसी विषय को छोड़ा नहीं गया, हर विषय की गहन तथा विशद विवेचना की गई है। समाजशास्त्र के सभी विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए भी यह पुस्तक बड़ी आसानी से पाठ्यपुस्तक का काम दे सकेगी।

पुस्तक के लेखक प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार एक प्रतिभाशाली सिद्धहस्त लेखक और उत्कृष्ट कोटि के विद्वान् हैं। उन्होंने सामाजिक विज्ञान की अन्य शाखाओं के सम्बन्ध में भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। 'समाजशास्त्र के मूल तत्त्व' ग्रन्थ लिखकर उन्होंने जो हिन्दी साहित्य की सेवा की है उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी में 'समाजशास्त्र' पर अब तक जो साहित्य प्रकाशित हो चुका है, जो लगभग न के बराबर है, उसे देखते हुए यह पुस्तक निश्चित रूप से हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि का कारण बनेगी और 'समाजशास्त्र' का गहराई से अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों तथा इस शास्त्र के आधारभूत तत्त्वों से परिचय प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले जिज्ञासुओं—दोनों के लिए वरदान सिद्ध होगी।

श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के होमियोपैथिक ग्रंथों के विषय में

डॉ० जुगल किशोर
प्रसिद्ध होमियोपैथ

प्रसिद्ध होमियोपैथ डॉ० जुगल किशोर जी जब राष्ट्रपि के ऑनररी फिजीशियन थे, तब उन्होंने श्री सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार के होमियोपैथिक—ग्रंथो के विषय मे लिखा था:

'DISEASES AND THEIR HOMOEOPATHIC TREATMENT' (रोग तथा उनकी होमियोपैथिक चिकित्सा) By Prof. Satyavrata Sidhantalankar, (Ex) M. P. and vice Chancellor of Gurukula University is the first and a very bold attempt on the Homoeopathic Literature in Hindi.

Homoeopathic Therapeutics is a very challenging subject as there are too many pitfalls. Unlike the Therapeutic in the Orthodox school of Medicine where hardly a very few therapeutic agents are mentioned for a particular disease, the therapeutics in Homoeopathic medicine, encompasses much larger range of drugs. Even for a single malady or a symptom-complex almost all the drugs of our Materia Medica (2,000 or odd remedies) may be applicable depending upon certain conditions. This is why nobody can prepare an exhaustive book on Homoeopathic Therapeutics. In my opinion, the books on Homoeopathic Therapeutics may sometimes lead us away from the concept of sick person as a whole ard highlight only a few remedies to the exclusion of so many sometimes more important remedies. Sometimes the author gives his own bias and this does not encourage the student to make an independent Judgment by going to the Materia Medica. our Therapeutics is really an application of our Materia Medica to sick individuals; therefore, Homoeopathic Therapeutics should be actually called as an Applied Materia Medica which includes comparative or differential Materia Medica as applied to sickness in all forms.

Prof. Satyavrata has made an attempt to write MATERIA-MEDICA ORIENTED THERAPEUTICS as it undoubtedly should be. There can be no pretensions as to originality in a work like this nor does the author put forth any such claim. The present book, therefore, is a useful compilation from various authoritative sources

on Materia Medica and Therapeutics. The authors from whom the subject-matter has been drawn have been liberally quoted in the text. In any book on Homoeopathic Therapeutics the choice of drugs for a particular 'Disease' will be influenced by the experiences of the physician or his favourite authors, and therefore, profuse puotations from more than a dozen prominent authors of Homoeopathic Therapeutics in the text of the book is a great help to the reader, who wants to be acquainted with the experiences of recognised authorities in the science.

A brief account of diseases preceding the drugs is very useful to the layman but to the regular students in our Colleges that may not be adequate, nor is that the object of the author. For regular students of our Colleges, however, this brief account of diseases preceding the drugs given in the book will be useful as a SHORT REFRESHER.

The language of the author is immaculate and one feels delighted as one reads the book written in easy, flowing style. The expression is so simple that it can be understood by everybody who can read Hindi, although to make the text of the book more easily understood, the author has, as far as possible, given the terms in English also. Numerous cross references make it very useful.

Prof. Satyavrata Siddhantalankar's earlier book in Hindi on HOMOEOPATHIC DRUG PICTURES (होमियोपैथिक औषधियों का सजीव चित्रण) has been considered by the Profession as a very useful contribution to Hindi Literature on Homoeopathy. This COMPANION VOLUME will be a welcome addition and will fulfil the need for a TEXT-BOOK in Hindi on this subject.

Prof. Satyavrata Siddhantalakar is a man of vast learning in every sense of the word, having written extensively more than twenty-five books on various subjects, and his interest in Homoeopathy and the development, of its Literature is intense. The very fact that after completing his first book on HOMOEOPATHIC DRUG PICTURES (होमियोपैथिक औषधियों का सजीव चित्रण) he has so soon come out with the Production of such a voluminous book on Homoeopathic Therapeutics speaks volumes for his love for the science. I earnestly hope that the Profession as well as the students will welcome this undoubtedly useful book. I also hope that a second edition will soon be needed to improve upon this one. I congratulate prof. Satyavrata for making such a useful contribution to Hindi Literature on Homoeopathy.

पण्डित जी का अभिनन्दन : महान् सारस्वत अनुष्ठान

डॉ० हरवंशलाल शर्मा

पूर्व कुलपति बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालय

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी यथा नाम तथा गुण हैं। निश्छल, निर्भीक और सच्चे समाजसेवी हैं। स्वतंत्रता संग्राम में भी उनका अप्रतिम योगदान रहा है। स्वामी दयानद जी के भाष्यकार के रूप मे वह अद्वितीय हैं। दिल्ली मे वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के अध्यक्ष पद पर रहते हुए मैंने उनकी अलौकिक प्रतिभा और तलस्पर्शी विद्वत्ता को देखा है। जब १९७५ में उन्होंने 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' पुस्तक लिखी तो वह केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की 'प्रकाशको के सहयोग से हिन्दी मे लोकप्रिय पुस्तको के लेखन, अनुवाद और प्रकाशन योजना' के अन्तर्गत प्रकाशित हुई। यह पुस्तक इतनी उपयोगी थी कि इसके प्रथम संस्करण में इस पुस्तक की २२०० मुद्रित प्रतियों मे से एक-तिहाई प्रतियाँ भारत सरकार द्वारा खरीद ली गई। वैदिक वाङ्मय ने समस्त विश्व के मनीषियो को प्रभावित किया है। वैदिक ऋचाओ मे मानव हृदय की दिव्य अनुभूतियों को अपनी छवि दिखाई पडती है। वैदिक विचारधारा के सम्बन्ध मे लेखक ने इस पुस्तक मे एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। मन, चेतना, ईश्वर, सृष्टि, प्रकृति, जीव, कर्म, शिक्षा, जीवन, पुनर्जन्म और कर्मफल पर भारतीय और भारतीयेतर विद्वानो की दार्शनिक तथा वैज्ञानिक मान्यताओ के संदर्भ मे जिस तुलनात्मक दृष्टि से इस पुस्तक मे विवेचन किया गया है इसके पूर्ववर्ती ग्रंथो मे नही मिलता। भौतिकवादी और अध्यात्मवादी विचारों के द्वन्द्व मे भटकने वाले विद्वानो को भी इस पुस्तक से नई रोशनी मिलने की आशा है।

पण्डित जी का अध्ययन परम्परागत प्रणाली का नही है। वह संस्कृत और अंग्रेजी के प्रौढ़ विद्वान् हैं। उन्होंने मानव धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, आस्तिक-नास्तिक दर्शन, चिकित्साशास्त्र और भौतिक विज्ञानवादियो के सिद्धान्तों का गहरा अध्ययन किया है। अतः वह पुनर्जन्म जैसे विषयो पर आत्मा की अमरता के सिद्धान्त के अनुसार ही विचार नही करते, कारण-कार्य नियम, पदार्थ-ऊर्जा का रूपान्तरण तथा जीवविज्ञान की साक्षियों द्वारा अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। हर विषय पर भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टि से प्रकाश डालकर वैदिक सिद्धान्तों को विज्ञानसम्मत सिद्ध करने की उनकी चेष्टा अनुकरणीय है, श्लाघ्य है।

पण्डित सत्यव्रत जी विलक्षण बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति हैं। गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलपति और आयोजन के संयोजक निश्चय ही बधाई के पात्र हैं। पण्डित जी का अभिनन्दन एक महान् सारस्वत अनुष्ठान है, इसमें भाग लेना मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।

श्रद्धार्चन

पद्मभूषण डॉ० शिवमंगल सिंह सुमन

पूर्व कुलपति विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

प्रातःस्मरणीय पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अभिनंदन का अनुष्ठान स्वयं में एक सारस्वत पर्व है। उनका समस्त जीवन साहित्य, इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र, मनोविज्ञान आदि चिंतन के विविध आधारों के प्रति पूर्णतया समर्पित रहा है। उनकी औपनिषदिक व्याख्या आदिशंकराचार्य के 'शांकर भाष्य' की याद दिलाती है और गीता का भाष्य लोकमान्य के 'गीता रहस्य' की अंतर्दृष्टि को उद्भासित-सा करता प्रतीत होता है। संस्कृत वाङ्मय को उसके समस्त वैभव और वैविध्य के साथ हिंदी में उतारकर उन्होंने राष्ट्रभाषा को संपन्न और समर्थ बनाने का युगांतकारी कार्य किया है। गुरुकुल काँगड़ी को विश्वविद्यालय की गरिमा से मंडित करने का श्रेय उनकी अप्रतिहत आस्था को ही है। ऐसे मेधावी और उत्सर्गशील समाराधक किसी राष्ट्र को बड़ी तपस्या से उपलब्ध होते हैं। जब साधक साधना करते-करते साध्यमय हो जाता है तो वह संस्कृति बन जाता है। निश्चय ही सत्यव्रत जी अब संस्कृति बन गए हैं—ज्वलंत, प्राणवंत और प्रेरणा के अदम्य स्रोत। मैं उनके तपःपूत चरणों में नमन करता हुआ प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वे उनका योगक्षेम वहन करें।

एक कर्मठ कर्मयोगी : सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क

हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार

मैं प्राइमरी से लेकर बी० ए० तक आर्यसमाजी संस्थाओं मे पढा। इसलिए जब मैं अपने जन्मस्थान जालन्धर से लाहौर गया तो स्वभावत: वहाँ के कई आर्यसमाजी नेताओं तथा लेखको से मेरा सम्पर्क रहा। उनमे सर्वश्री राणा जंग बहादुर सिंह चन्द्रगुप्त विद्यालंकार तथा सत्यपाल विद्यालंकार भी थे। १९३३-३४ से ही मैं उर्दू के साथ-साथ हिन्दी मे भी लिखने का प्रयास करने लगा था। और लाहौर के हिन्दी लेखको और कवियों मे उठता-बैठता था। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालकार 'विशाल भारत' ग्रुप के लेखक थे और बहुत अच्छी कहानियाँ लिखते थे। हमने एक हिन्दी समाज कायम किया था, जिसका मैं सेक्रेटरी था और श्री चन्द्रगुप्त विद्यालकार जनरल सेक्रेटरी। जाहिर है कि उसकी बैठकों मे, जो प्राय: हर सप्ताह लाजपत राय हाल मे होती थी, लाहौर के सभी हिन्दी साहित्यकार और हिन्दी-प्रेमी भाग लेते थे।

१९३४-३५ के करीब दो महिलाओ को, उस जमाने के प्रसिद्ध पुरस्कार मिले। महादेवी वर्मा को 'नीरजा' पर और डॉ० चन्द्रावती लखनपाल को उनके ग्रन्थ 'स्त्रियो की स्थिति' पर। डॉ० चन्द्रावती लखनपाल गुरुकुल काँगड़ी के तत्कालीन उपकुलपति डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की विदुषी सहधर्मिणी थी।

मैं उस जमाने मे बच्चन का बहुत भक्त था। लेकिन जब मेरे मित्र हरिकृष्ण प्रेमी ने महादेवी वर्मा की 'नीरजा' का जिक्र किया और यह भी कि उसे पुरस्कार मिला है तो मै एक रुपये मे वह संग्रह खरीद लाया और कई दिनो तक उसके गीत मेरे दिमाग को परेशान करते रहे। १९३७ मे जब मैंने यू० पी० का दौरा किया तो मैं इलाहाबाद मे, सब दूसरे काम छोड़कर, महादेवी वर्मा से मिलने गया।

इसी तरह जब २-३ साल बाद ही मुझे पता चला कि डॉ० चन्द्रावती लखनपाल 'सरस्वती गर्ल्स कालेज' लाहौर की प्रिंसिपल होकर आयी हैं तो मुझे याद है, मै प्रेमी जी को साथ लेकर उनसे मिलने गया। जैसे मैं महादेवी वर्मा से अपनी पहली मुलाकात आज तक नही भूल सका, ऐसे ही डॉ० चन्द्रावती लखनपाल से भेंट की भी मुझे आज तक याद है।

वास्तव में यह कालेज राणा जंग बहादुर ने खोला था। उनका विवाह आर्यसमाज अड्डा होशियारपुर जालन्धर के अध्यक्ष की विदुषी पुत्री सुश्री ज्ञानवती से हुआ था। चूंकि राणा जंग बहादुर नेपाली थे, इसलिए उन दिनों जालन्धर में उनके इस अन्तर्जातीय विवाह की बहुत चर्चा थी। राणा साहब अंग्रेजी 'ट्रिब्यून' के सम्पादकीय विभाग में थे। बाद में उसके सम्पादक हो गये। १९४० के करीब मेरे मित्र सत्यपाल विद्यालंकार ने वह कालेज उनसे खरीद लिया। चूंकि सत्यपाल जी गुरुकुल के स्नातक थे, इसलिए उनके जोर देने पर डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने अपनी पत्नी को लाहौर भेज दिया।

मुझे याद पड़ता है, उन्ही दिनों मैंने डॉ० सत्यव्रत को देखा था। वे किस काम से लाहौर आये थे, मुझे याद नहीं। उनके एक पत्र से मालूम हुआ है कि श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने हमारी भेंट करायी थी। लेकिन

मेरे मस्तिष्क में जो चित्र है, उसमें डॉ० सत्यव्रत मेरे बड़े भाई के क्लीनिक के बाहर लकड़ी के पटाव पर खड़े हैं और मैं उनसे बातें कर रहा हूँ। हो सकता है उन्हें कोई दाँत की तकलीफ़ हो और चन्द्रगुप्त जी ने मुझे बुलाकर मेरे डेण्टिस्ट भाई को उन्हें दिखाने के लिए कहा हो। लेकिन मेरे दिमाग में वह चित्र एकदम साफ है, जैसे मैंने उन्हें कल ही देखा हो और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के घर मे उनसे मिलने की कोई याद नही।

डॉ० सत्यव्रत लम्बे पतले छरहरे, गेहुएँ रंग के, सूरत-शक्ल से ही विद्वान दिखायी देने वाले लगते हैं। अंडाकार चेहरा, पतले होठ, सुतवाँ नाक, निहायत गहरी आँखें और उन्नत ललाट—यही चित्र मेरी आँखों में नक्श है। भीड़ में भी उन्हें देखकर उनके विद्वान होने का आभास मिल जाता है।

इस सिलसिले में सबसे दिलचस्प बात यह है कि मैंने तो उन्हें न जानने में गलती की न पहचानने मे। लेकिन यह जानने के बावजूद कि वे उपेन्द्रनाथ अश्क से मिल रहे हैं, डॉ० सत्यव्रत मुझे यशपाल ही समझते रहे—इसलिए कि यशपाल भी पंजाबी थे और वे भी उपन्यास लिखते थे। चूंकि यशपाल ने अपनी जीवनी में पं० जयचन्द्र विद्यालंकार के साथ उनका भी उल्लेख किया था, इसलिए सत्यव्रत जी यही समझते रहे कि वे यशपाल से ही मिले हैं। यह तो बहुत बाद मे—जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सिलसिले मे (जिसका मैं कई वर्ष तक कार्यवाहक उपसभापति रहा) सम्मेलन के वाद-विवाद मे मेरा नाम उछला और मेरे पत्र छपे, तो चूँकि यशपाल का देहान्त हो चुका था, इसलिए उन्हें लगा कि ये उपेन्द्रनाथ अश्क, यशपाल नहीं हैं कोई दूसरे हैं। यह सूचना मुझे स्वयं पं० सत्यव्रत ने एक पत्र मे दी है। इससे केवल एक ही बात सिद्ध होती है कि वे कितने भोलेभाले और अपने लिखने-पढ़ने मे २४ घण्टे तल्लीन रहने वाले आत्मकेन्द्रित विद्वान हैं।

दो-दो बार गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलपति का कार्यभार निभाने के अलावा, सत्यव्रत जी स्वतंत्रता संग्राम मे स्वराज्य मंदिर (जेल) भी गये, राज्य सभा के सदस्य भी रहे, अपनी धार्मिक तथा होमियोपैथिक पुस्तकों पर उन्हें कई पुरस्कार और सम्मान भी मिले। उन्होने वास्तव मे बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं, हिन्दी मे भी, अंग्रेजी में भी, और एक कर्मठ कर्मयोगी का जीवन व्यतीत किया है। इस वक्त उनकी आयु ६० वर्ष की है। यद्यपि उनकी आँखों की ज्योति किंचित क्षीण हो गयी है, लेकिन उनके मस्तिष्क की सजगता और बुद्धि की कुशाग्रता में रंचमात्र भी अन्तर नहीं आया। उनका एक लम्बा पत्र इस तथ्य का साक्षी है—

'मैंने आर्यसमाज से और कुछ सीखा हो या नही, लेकिन प्रश्न करना ज़रूर सीखा है। अधिकांश आर्य-समाजी तो प्रश्न करना भूल कर लकीर के फ़क़ीर बने जिन्दगी गुज़ार देते हैं; लेकिन मेरे लिए ऐसा करना सम्भव नही। और कई बार मन में जो प्रश्न उठते हैं, उनका कही भी उत्तर नही मिलता। लेकिन इससे कोई फर्क नही पड़ता। मैं धर्मशास्त्रो के निकट इसलिए जाता हूँ कि हमारे ऋषि-मुनियों ने सदियों के चिन्तन और मनन से जिन्दगी के बारे में जो सूत्र दिये हैं, उनकी रोशनी में अपना पथ प्रशस्त करूँ।

स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि जहाँ तक भगवान के अस्तित्व का सम्बन्ध है, नास्तिक भी अन्ततः वही पहुँचता है जहाँ आस्तिक। बहुत लोग यह मानते हैं कि आस्तिक होने से आदमी सही मार्ग पर चलता है और बचा रहता है और नास्तिक होने से गलत मार्ग पर, इसलिए नष्ट होता है। मैं ऐसा नहीं मानता। मैं जिन्दगी में ऐसे नास्तिकों से मिला हूँ, जो कभी मन्दिर-मस्जिद नही जाते, पूजा-प्रार्थना नही करते, लेकिन जो वास्तव मे हजारों तथाकथित आस्तिकों से अच्छे हैं। मेरा खुदा में नहीं, खुदातर्सी में विश्वास है। दूसरे शब्दो में गॉड (God) मे नही, गाडलीनेस (Godlinees) मे विश्वास है। अगर आदमी खुदातर्स है, अपनी कथनी और करनी मे विभेद नहीं आने देता—करणीय और अकरणीय कामों का खयाल रखता है तो वह ऐसे लाखों आस्तिकों से बेहतर है, जो दिन-रात कुकर्म करते हैं और सुबह-शाम 'ओम जय जगदीश हरे' की आरती गाकर भगवान से अपने गुनाह बख्शवा लेते हैं।

मैंने हाल ही डॉ० सत्यव्रत का वृहद ग्रन्थ 'उपनिषद-प्रकाश' पढ़ा है। मैं तो दरअसल उनका ग्रन्थ 'एकादशोपनिषद' पढ़ना चाहता था—जिसमें संस्कृत का भावानुवाद न हो, बल्कि शब्दानुवाद हो। लेकिन

वह उपलब्ध नहीं था, इसलिए मैंने 'उपनिषद्-प्रकाश' मंगवा लिया और उसे पढ़ गया। डॉ० सत्यव्रत ने उपनिषदों के गहन ज्ञान को बहुत ही सरल हिन्दी में अपनी व्याख्याओं के साथ पाठकों के लिए उपलब्ध कर दिया है। उन्होंने वैदिक ज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के लिए आजीवन जो तपस्या की है, उसके लिए वे न केवल हमारे साधुवाद के अधिकारी हैं, वरन् ज्ञान-पिपासुओं का हृदय उनके इस श्रम और साधना के लिए श्रद्धा से भर उठता है।

डॉ० सत्यव्रत ९० वर्ष के हो गये हैं। मैं यही मानता हूँ कि 'जीवेम शरदः शतम्' के अनुसार वे पूरे सौ वर्ष जियें और अन्त तक अपने गहन ज्ञान का लाभ जन-जन को देते रहें।

मेरे अगुआ : पंडित सत्यव्रत और जयचन्द्र जी

श्री यशपाल

हिन्दी के प्रख्यात प्रगतिशील साहित्यकार

कई बार मुझसे यह भी पूछा जाता है कि मैंने लिखना कब शुरू किया था; या सबसे पहली कहानी कब लिखी थी ? सबसे पहली कहानी मैंने दूसरे कई लोगो की तरह पाँचवी या छठी कक्षा मे गुरुकुल मे पढ़ते समय लिखी थी। उस समय भी मुझे पाठ्यपुस्तको के अतिरिक्त दूसरी पुस्तके, विशेषतः इतिहास और कहानी, पढने की ओर रुचि थी। गुरुकुल में लिखने-पढ़ने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन करने के लिए अच्छा वातावरण था। ऊँची श्रेणी के विद्यार्थी रंग-बिरंगी स्याहियो से लिखी और हाथ के बने चित्रो से सुसज्जित दो पत्रिकाएँ निकालते थे। उनमे से एक का नाम 'हंस' था। जयचन्द जी विद्यालंकार और सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकर उस समय दसवी कक्षा मे पढ़ते थे और हाथ का लिखा दैनिक पत्र 'अगुआ' प्रकाशित करते थे। उन्हें तभी से अपनी भविष्य की जिम्मेवारी का आभास था कि उन्हें 'अगुआ' बनना है। इन लोगों की देखा-देखी छोटी श्रेणी के विद्यार्थी भी अपनी पत्रिका निकालने की चेष्टा करते थे।

हम लोगों ने पाँचवी या छठी श्रेणी मे हाथ से लिखी पत्रिका निकालने की चेष्टा की थी। उसका शायद एक ही अंक निकला था। मैंने इसमे एक कहानी 'अँगूठी' शीर्षक से लिखी थी। इस कहानी का भाव था कि एक व्यक्ति ने अपने मित्र को अँगूठी उपहार मे दी। उपहार पाने वाले मित्र ने आर्थिक कठिनाई मे उस अँगूठी को बेच दिया। यह देखकर उपहार देने वाला मित्र अपमान मानकर नाराज हो गया। दोनों मे भयंकर शत्रुता हो गई। हम से ऊपर की कक्षा के विद्यार्थियों ने इस कहानी की तारीफ की और मुझे ऐसा भरोसा हो गया कि मैं कहानी लिख सकता हूँ। उस कहानी के बाद मैंने लिखने का दूसरा प्रयत्न इसी समय १९२० में किया।

['सिंहावलोकन' भाग १ से साभार]

उत्तर-दक्षिण के सेतु पंडित सत्यव्रत जी

श्री र० शौरिराजन

तमिल और हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक तथा पत्रकार, के० के० नगर, मद्रास

सन् १९१८ में इन्दौर मे सम्पन्न अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की अध्यक्षता मे निर्णय लिया गया कि दक्षिण भारत मे हिन्दी प्रचार-प्रसार का कार्य प्रारम्भ हो। देवदास गांधी और स्वामी सत्यदेव परिव्राजक इस कार्य के लिए दक्षिण भारत गए। स्वामी श्रद्धानंद जी महाराज जब साहित्य सम्मेलन के साथ जुड़े तब उन्होने स्नातको को दक्षिण भारत जाकर हिन्दी पढ़ाने का कार्य करने की प्रेरणा दी। गुरुकुल काँगड़ी और गुरुकुल महाविद्यालय के स्नातको ने आर्यसमाज और राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रचार-कार्य बड़ी तत्परता और निष्ठा से किया। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के बाद गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने यह कार्य जितनी दक्षता और राष्ट्र-निष्ठा से किया, उसे देखकर उनके प्रति सहज ही सिर श्रद्धा से नत हो जाता है।

ज्ञान और कर्म की साधना भूमि के रूप में भारतवर्ष की गरिमा मनीषी महापुरुषो की तपस्या से जानी-पहचानी जाती है। उत्तरापथ और दक्षिणापथ—ये दोनो प्रदेश प्रारम्भ से ही 'अविभक्तं विभक्तेषु' के साक्षी रहे हैं। प्रथम महामानव थे अगस्त्य महर्षि, जिन्होने उत्तर और दक्षिण को जोडने की शृंखला शुरू की। भाषा, संस्कृति, रीति-प्रथा और आचार-विचार के स्तर पर दूरागत व्यवधान को दूर किया था अगस्त्य ने। संस्कृत-द्राविड, आर्य-द्राविड़, पर्वत-सागर का संगम हुआ। फिर यह परम्परा अनेकानेक महामानवों के समागम से, सारस्वत सेवा से दृढतर होती चली आई। आ भी रही है। युग बदले, सत्ताएँ उठी-गिरी; शासको की विजय-मालाएँ बढ़ी, सिमटी; साधु-सन्तों के सत्संग जुड़े-फैले; जाति-कुल-दल मिले-बिछुडे, बिखरे; सांकर्य-सामंजस्य का पड़ाव-बहाव जारी रहा। फिर भी उत्तर और दक्षिण की अपनी पहचान, अपनी छाप, अपनी प्रकृति बरकरार रही थी—भिन्नता में अभिन्नता को लिए हुए।

उत्तर और दक्षिण के बीच सेतु तुल्य सेवाव्रतियों के हम ऋणी हैं कि दूरवर्ती होने पर भी वे हमारे निकट हैं। भावना, चेतना और धारणा के धरातल पर ऐसे ही समन्वय साधक, सेवाव्रती और वेदमनीषी पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का साभार स्मरण किए बिना हम दाक्षिणात्य या दक्षिणा भारतीय नही रह सकते। राष्ट्रवाणी हिन्दी की सेवा के आप पुरोधा हैं, सारस्वत सेवा-साधना के तो आप विशिष्ट धनी हैं ही—हिन्दी और अंग्रेजी के माध्यम से अनेक उत्तम ग्रन्थ रचकर आपने भारतीय मनीषा को उत्कर्ष दिया। 'एक्सपोजीशन आफ वैदिक थाट' इस शताब्दी की महनीय कृति है। भारतीय संस्कृति की ऐसी सार्वभौम, सुसंगत व्याख्या आपने की है कि उसे पढ़कर ऋषियों का उज्ज्वल अवदान प्रत्यक्ष हो जाता है। कर्नाटक और महाराष्ट्र प्रदेश पण्डित जी की हिन्दी तथा भारतीय दर्शन की सेवा से अधिक लाभान्वित रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिलब्ध दार्शनिक सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन जी ने आपके 'उपनिषद् भाष्य' की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। स्वतन्त्रता संग्राम मे अपनी पत्नी सहित भाग लेकर आपने अनुकरणीय आदर्श रखा। महर्षि दयानंद और स्वामी

श्रद्धानंद के सिद्धान्तों को आपने अपने जीवन में उतारा। गांधी जी के आप प्रियजन रहे। 'हिन्दी-बोधिनी' और 'हाउ टू लर्न हिन्दी' पुस्तकें लिखकर आपने लाखों दक्षिण भारतीयों को हिन्दी सीखने की प्रेरणा दी। आप सच्चे आचार्य हैं। आपकी हिन्दी-सेवा ने हम जैसे अहिंदी-भाषियों को हिन्दी में लिखने की प्रेरणा दी।

हिन्दी में वैदिक साहित्य और मानविकी के विषयों पर उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थ लिखकर आपने महर्षि दयानंद, गांधी जी और राजर्षि टंडन की आकांक्षाओं को पूर्ण किया। मुंशी प्रेमचन्द, यशपाल और पण्डित श्रीधर पाठक आपके बड़े प्रशंसक थे। हिन्दी के यात्रा-लेखन साहित्य में परिव्राजक जी के साथ आपका नाम भी स्वर्णाक्षरों में जुड़ने योग्य है। तर्क और भावना का अद्भुत सम्मिश्रण आपके यात्रावृत्तों में है। १९२८ में माधुरी में प्रकाशित 'मेरी बर्मा-यात्रा' प्रसंग जिसने पढ़ा है वह जानता है कि पण्डित जी ने हिन्दी के प्रारम्भिक युग में इस विधा को कैसे सशक्त बनाया। पण्डित जी कुशल पत्रकार भी रहे हैं। गुरुकुल से निकलने वाले 'अलंकार' पत्र में उनकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ पढ़ने योग्य होती थीं। राजनीति, धर्म, समाज-सुधार, राष्ट्र-प्रेम और साहित्य सभी पर उन्होंने अधिकारपूर्वक लिखा है। पण्डित जी प्रेमचन्द युग के उत्कृष्ट कोटि के साहित्यिक लेखक हैं।

बड़ी प्रसन्नता है कि पण्डित जी नब्बे वर्ष के पके ज्ञानवृद्ध-वयोवृद्ध हैं। हम चाहते हैं कि वह शतायु हों और उनकी कलम का प्रसाद हमें निरन्तर मिलता रहे। वैदिक आशंसा है—पूर्ण जीवन पूर्ण व्यक्तित्व का साधिकार वरदान है—अतः हम भी दुहराते हैं—पण्डित जी, जीवन्तु शरदश्शतम्, मोदन्तु शरदश्शतम्।

श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार विरचित 'फ्राम ओल्ड एज टु यूथ थ्रू योग'

पर प्रसिद्ध पत्रकार श्री खुशवंतसिंह के उद्‌गारों का सार

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने हिन्दी में 'बुढ़ापे से जवानी की ओर'—इस नाम से एक पुस्तक लिखी है जिसकी २०० प्रतियां भारत के शिक्षान्तर्गत एक विभाग ने खरीदी हैं। इस पुस्तक का अंग्रेजी में परिवर्धित संस्करण 'फ्रॉम ओल्ड एज टू यूथ थ्रू योग'—इस नाम से प्रकाशित हुआ है जिसकी चर्चा अनेक प्रसिद्ध पत्रों में हुई है जिनमें से लखनऊ के 'पायोनीयर' (१२-६-८३) तथा 'नार्दन पत्रिका' मुख्य हैं। इनके अलावा दिल्ली के 'बेटर लाइफ़' (जून १९८३) तथा गुरुकुल विश्वविद्यालय के 'वैदिक पाथ' ने भी इस पुस्तक का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

इस पुस्तक का विमोचन अपने राष्ट्रपति-काल में श्री जैलसिंह ने राष्ट्रपति-भवन में किया था। इस पुस्तक पर लिखते हुए प्रसिद्ध पत्रकार श्री खुशवन्त सिंह दिल्ली के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के ४ जून, १९८३ के 'विद मैलिस टु वन एण्ड ऑल' शीर्षक में लिखते हैं :

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार इस समय ८६ वर्ष के हैं (जिस समय उक्त संदर्भ में यह लिखा गया था उस समय वे ८६ वर्ष के ही थे यद्यपि अब वे ९० वर्ष के हैं), और मैं (खुशवन्तसिंह) ६८ वर्ष का हूँ (अब वे ७१-७२ वर्ष का हूँ), सत्यव्रत जी अपनी आयु में पूर्ण स्वस्थ हैं। मैं भी अपनी आयु में पूर्ण स्वस्थ हूँ। वे प्रात:काल ४ बजे जग जाते हैं, मैं भी प्रातःकाल ४ बजे ही जग जाता हूं। जागने के बाद वे तांबे के गिलास में रखा हुआ कोसा पानी पीते हैं। मैं जिनसे-नामक चाय पीता हूँ। वे पुस्तकें लिखते हैं, मैं भी पुस्तकें लिखता हूँ। उन्होंने वृद्धावस्था की प्रक्रिया का अध्ययन कर उस पर पुस्तकें लिखी हैं, और हाल ही में उन्होंने अंग्रेजी में एक अत्यन्त अध्ययनशील पुस्तक इस विषय में लिखी है जिसका नाम है—'फ्रॉम ओल्ड एज टु यूथ थ्रू योग'। मैं भी अगर तब तक जीवित रहा, और मेरी विचार-शक्ति तथा शारीरिक शक्ति ठीक बनी रही, तो आशा करता हूँ कि इस विषय पर लिखूंगा। यद्यपि वृद्धावस्था का मुकाबिला करने में उनके और मेरे विचारों में भेद है, तो भी हम दोनों के विचारों को इन भेदों के होते हुए सही भी कहा जा सकता है। उनका कथन है कि योगासनों से, ब्रह्मचर्य-पालन से तथा होमियोपैथी से वृद्धावस्था में आने वाले अनेक कष्टों का निवारण किया जा सकता है, तो भी मेरे विचार में प्रगाढ़ व्यायाम, गृहस्थ धर्म-पालन सेक्स, साउना-स्नान, तथा बालों को रंग लेने से भी काम चल सकता है। यह पाठक की इच्छा पर निर्भर है कि वह इन दोनों में से जिस मार्ग को चाहे अपना ले।

डॉ० सिद्धान्तालंकार तथा मैं—हम दोनों इस बात में सहमत हैं कि युवा रहने के लिए अपनी शक्ल-सूरत को युवा सम बनाये रखना उचित है। शक्ल-सूरत ऐसी बनाये रखनी चाहिए कि बच्चे या युवक तुम्हें 'अंकल जी' या 'दादा जी' न कहें। जब कोई तुम्हें 'अंकल जी' या 'दादा जी' कहता है तब तुम सचमुच अपने को बूढ़ा समझने लगते हो। डाक्टर लोग प्रायः गंजे सिर वालों को नकली बाल लगाने तथा सफ़ेद बालों को रंग लेने के नुस्खे बतलाते हैं जिससे दर्पण में जब तुम अपने को देखो तो अपने को युवा-सम दीखने के कारण युवा

समझो, यद्यपि इससे तुम युवा नहीं हो जाते तो भी युवा दीखने के लिए यह तरीका भी कोई बुरा नहीं है।

आगे खुशवन्तसिंह लिखते हैं:—मुझे आसनों के विरुद्ध कुछ नहीं कहना परन्तु इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि आसनों द्वारा शरीर को तोड़ना-मरोड़ना मेरे बस का नहीं है। मैं युक्तिवादी हूँ इसलिए मैं सत्यव्रत जी से इस बात में सहमत नहीं हूँ कि प्राणायाम करते हुए 'पूरक' या 'रेचक' के समय मन्त्र-जाप से लाभ हो सकता है। मैं सत्यव्रत जी की इस बात से तो सहमत हूँ कि घूमने-फिरने तथा सैर करने पर आजकल आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता है। भ्रमण करने से सारे शरीर का व्यायाम नहीं होता सिर्फ़ टाँगों का ही व्यायाम होता है, इससे तो तैरना अच्छा है जिससे सारे शरीर का एक-साथ व्यायाम हो जाता है। तैरने से साँस की गति भी नियंत्रित हो जाती है। व्यायाम इतना करना चाहिए जिससे पसीना आ जाये और थकावट का अनुभव न हो। मुझे आश्चर्य है कि सत्यव्रत जी जैसे वैज्ञानिक अब तक पुराने और रूढ़िगत ब्रह्मचर्य जैसे विचार के हामी हैं।

डॉ० सत्यव्रत जी की पुस्तक से यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई कि ठंडे तथा गर्म पानी को साथ-साथ रखकर पहले गर्म पानी का लोटा तथा तत्पश्चात् सर्द पानी का लोटा शरीर पर डालकर स्नान करते हैं। उनका कहना है कि इस प्रक्रिया से सरकुलेशन ऑफ़ ब्लड को सहायता मिलती है। मैं जो साउना-बाथ लेता हूँ इसका भी यही लाभ है। १० मिनट तक १२० डिग्री की गर्मी में बैठ कर मेरे शरीर के चर्म-छिद्र खुल जाते हैं और मैं पसीने से तर-ब-तर हो जाता हूँ। तब मैं बर्फ़-समान ठंडे पानी मे कूद पड़ता हूँ जिससे चर्म-छिद्र बन्द हो जाते हैं और सारे शरीर में रुधिर का संचार ठाठें मारने लगता है। डॉ० सिद्धान्तालंकार तो शरीर की मालिश की सिफ़ारिश करते हैं परन्तु मैं साउना-बाथ को मालिश से भी श्रेष्ठकर समझता हूँ।

'वार्धक्य से युद्ध करना हँसी-खेल नहीं है। यह अतिगम्भीर समस्या है। यह आवश्यक है कि युवावस्था से ही व्यक्ति कम-से-कम दो घंटे डॉ० सत्यव्रत जी के निर्देशानुसार जीवन की प्रक्रिया का निर्माण करे। गुरु गोविन्द सिंह ने ठीक ही कहा है—

'सदा रहे कंचन-सी काया, काल न कबहूँ व्यापे।'

डॉ० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार जिस प्रकार के उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण कर रहे हैं उसके लिए वे देश के युवकों तथा वृद्धों के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

भारतीय संस्कृति के विवेचक सत्यव्रत जी

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

पूर्व अध्यक्ष भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व, सागर विश्वविद्यालय सागर

भारतीय संस्कृति मूलतः वैदिक संस्कृति है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इस संस्कृति के मुख्य लक्षण हैं। मानवतावाद, समवाय और स्वतंत्र चिंतन की उदार भावनाओं से वह पुष्ट हुई। अपनी महानता और दृढ़ता के कारण पुरा-ऐतिहासिक युग से लेकर अब तक यह संस्कृति विद्यमान है। मिस्र, मेसोपोटामिया, चीन, ईरान और यूनान की सभ्यताएँ पुरातत्व की वस्तुएँ हो गयी। पर वैदिक संस्कृति अनेक उत्थान-पतनों के बावजूद आज भी लोक-जीवन का अंग बनी हुई है। यह बात उसके असाधारण महत्त्व की उद्बोधक है।

आधुनिक युग मे स्वामी दयानन्द, राममोहन राय और केशवचंद्र सेन ने तथा उनके पश्चात् रवींद्रनाथ, श्री अरविंद, स्वामी श्रद्धानंद, तिलक, महात्मा गांधी आदि ने भारतीय संस्कृति के महत्त्व को पहचाना। उन्होंने संसार में इस संस्कृति के अवदान को उजागर किया तथा नवीन भारत के निर्माण मे उसे आधार बनाने पर ज़ोर दिया। अंग्रेजी परतंत्रता के युग मे इन महानुभावो की वाणी का प्रभाव देश मे और उसके बाहर भी पड़ा। फलस्वरूप, भारत की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त हुआ और १९४७ मे यह देश विदेशी बंधन से मुक्त हुआ।

स्वामी दयानंद तथा उनके द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज ने सास्कृतिक चेतना के जगाने मे सराहनीय भूमिका निबाही। स्वामी जी तथा उनके पश्चात् श्रद्धानंद जी का कार्य इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है।

देश के विभिन्न क्षेत्रों में भ्रमण कर उन्होंने लोगो को उस शक्ति का परिचय कराया जिसने विश्व मे सबसे पहले 'वसुधैव कुटुबकम्' का उदार संदेश फैलाया था। यह शक्ति थी : वैदिक परंपरा। इसके महत्त्व को लोग भूल चुके थे। अंग्रेजों ने भारतीय क्षेत्रीयतावाद और संप्रदायवाद का सहारा लेकर बराबर इस बात का प्रयास किया कि भारतीय जन एक सूत्र मे बँधने न पायें और उनमे विश्रृंखलता के तत्त्व बढ़ते जायें। स्वामी दयानंदजी ने विदेशियों की इस भावना को समझ लिया, उन्होंने उस सांस्कृतिक प्रतिरोध का सहारा लिया जिसे मध्यकाल के परतंत्रता-युग में कबीर, नानक, चैतन्य, वल्लभाचार्य, रामदास और तुलसी जैसे महानुभावों ने अपनाया था। स्वामीजी संस्कृत के उद्भट विद्वान थे। पर उन्होंने लोकचेतना को जागृत करने के लिए मुख्य जन-भाषा हिन्दी को अपनाया। उसके माध्यम से उन्होंने देश-वासियों को जगाया। स्वामी जी की मान्यता थी कि जिस देश के पास वैदिक संपत्ति है उसे परतंत्र नही रखा जा सकता। स्वामी जी ने जागरण का जो शंखनाद फूँका उससे देश ने करवट ली और परतंत्रता की परिस्थितियों से निबटने को उसे सही रास्ता मिला।

स्वामी श्रद्धानंद ने स्वामी दयानंद के संदेश को चरितार्थ करने मे अपने प्राणो तक की बलि दे दी ! वैदिक साहित्य के अध्ययन और प्रचार हेतु प्राचीन आश्रम-प्रणाली को उन्होंने उपयुक्त समझा। गुरुकुल कांगड़ी तथा अन्य गुरुकुलों की स्थापना से इस दिशा में बल मिला। शिक्षा के इन केन्द्रों ने देश के नैतिक उत्थान में प्रचुर योग दिया है। गुरुकुल कांगड़ी के अनेक तपोनिष्ठ विद्वानों ने वैदिक शिक्षा तथा व्यावहारिक प्रसारण

में स्तुत्य कार्य किये हैं। अन्य अनेक गुरुकुलों में भी यह परंपरा विकसित की गयी।

वैदिक संस्कृति के अध्ययन और विवेचन में प्राध्यापक सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का कार्य अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है। पिछले एक लंबे समय से वे गुरुकुल कांगड़ी से संबंधित रहे हैं। अब तक पैंतीस से अधिक ग्रंथों का वे प्रणयन कर चुके हैं। वेदों, उपनिषदों तथा गीता का उनका गहन अध्ययन है, जिसकी विशद मीमांसा उन्होंने वैज्ञानिक ढंग पर की है। वैदिक संस्कृति के मौलिक दृष्टिकोण की उन्होंने स्पष्ट व्याख्या की है। उनकी यह मान्यता युक्तिसंगत है कि वर्तमान भारत के सांस्कृतिक अवमूल्यन का निदान वेदों के भौतिक अध्यात्मवाद में उपलब्ध है। अपने कई ग्रंथों और निबंधों में सत्यव्रत जी ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि ऐहिक जीवन के भौतिक पक्ष का समन्वय वैदिक अध्यात्मवाद के साथ समीचीन होगा। तभी भारत का सही अर्थों में उद्धार संभव है।

यह बात विचारणीय है कि वैदिक चिंतन ने एक ऐसी संस्कृति का निर्माण किया जिसने देश में ही नहीं, देश के बाहर एशिया के बड़े भाग को प्रभावित किया। एक ओर तिब्बत, मध्य एशिया, चीन, कोरिया और जापान तक वैदिक दृष्टिकोण का प्रसार हुआ तथा दूसरी ओर श्रीलंका, स्याम, कंबुज, वियतनाम तथा हिंदेशिया के बड़े क्षेत्र पर। संस्कृति के इस व्यापक प्रसार का मंत्र वैदिक दर्शन में निहित है। ईसा पूर्व चौथी शती में उत्तर-पश्चिम भारत पर यूनानी सिकंदर के राजनीतिक आक्रमण से दो संस्कृतियों के बीच आदान-प्रदान का मार्ग खुला। यूनानी संस्कृति ने यूरोप, उत्तरी अफ्रीका तथा पश्चिमी एशिया के एक बड़े भाग को आक्रांत कर दिया था और विजित क्षेत्रों पर यूनानी धर्म, दर्शन, भाषा और साहित्य का वर्चस्व स्थापित कर दिया था। वही संस्कृति भारतीय संस्कृति के सामने बौनी सिद्ध हुई। यूनानियों के अनेक पुरा लेख, मुद्राएँ तथा कलाकृतियाँ इसका प्रमाण हैं।

डॉ० सत्यव्रत जी वर्तमान भारत की स्थिति पर उद्विग्न हैं, जो उनके-जैसे चिंतक के लिए स्वाभाविक है। वे एक जगह लिखते हैं : "वैदिक संस्कृति का असली शत्रु पाश्चात्य संस्कृति का नारा लगाने वाला नहीं है, वैदिक संस्कृति का असली शत्रु वैदिक संस्कृति का नारा लगाने वाला ही है।" (**वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व, पृ० ३२४**)। वे संस्कृति के तथाकथित कर्णधारों और उनके अनुयायियों के कार्यों के कटु आलोचक हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि हमारा शासन तथा अनेक नेता नाच-गान को ही संस्कृति समझ कर, देश-विदेश के विविध आयोजनों में भारत का अपार धन बहा रहे हैं। देश-विदेश में वस्तुतः उस वैदिक संस्कृति के सच्चे रूप के प्रसार की नितांत आवश्यकता है, जिसने इतने समय तक देश को एकता के सूत्र में बाँधकर रखा। सत्यव्रत जी देश-काल की बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप वैदिक संस्कृति के अध्ययन तथा उसके प्रचार-प्रसार पर बल देते हैं। उनका व्यापक दृष्टिकोण पूर्णतः व्यवहारवादी है।

हमारे यहाँ दो प्रकार की विद्या कही गयी है : परा और अपरा, 'द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा च अपरा च।' परा श्रेष्ठ ज्ञान है, जो नीति और अध्यात्म का ज्ञान कराती है अपरा विद्या लौकिक या भौतिक ज्ञान प्रदान करती है। इन दोनों में समन्वय आवश्यक है। तभी मानव पूर्ण हो सकता है।

सत्यव्रत जी का यह कथन सही है कि प्राचीन काल में हमारे विचार जीवित विचार थे, अब वे मरे हुए विचार हो गये हैं, क्योंकि उनमें वैदिक प्राणशक्ति समाप्त हो चुकी है। जिन आधुनिक विचारकों में वे कथनी और करनी के बीच अन्तर पाते हैं उनकी वे कड़ी आलोचना करते हैं। सत्यव्रत जी वर्तमान परिस्थितियों को चिंताजनक मानते हुए भी उनके परिष्कार को संभव मानते हैं। इसके लिए वे भौतिकवादी विचारधारा तथा अध्यात्मवादी चिंतन के बीच समन्वय-स्थापन पर जोर देते हैं। यही दिशा वास्तव में देश का उद्धार कर सकती है। एक प्रखर, व्यवहारवादी चिंतक के रूप में सत्यव्रत जी भारतीय जनों के लिए प्रेरणा-स्रोत हैं। वे चिरायु हों।

पण्डित सत्यव्रत जी—दृढ़निश्चयी पुरुष

श्री सोमनाथ मरवाह
वरिष्ठ अधिवक्ता उच्चतम न्यायालय
तथा
परिद्रष्टा, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

पण्डित सत्यव्रत जी से मेरा सम्पर्क तब हुआ जब उनको विजिटर बनाया गया, यो उनके नाम और काम से मेरी जानकारी पुरानी थी। उन्होंने अपने अधिकार के तहत गुरुकुल फार्मेसी की जाँच कराने के लिए अपनी इच्छा जाहिर की। उसकी पुष्टि में उन्होने उच्चतम न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश श्री हंसराज खन्ना और वरिष्ठ अधिवक्ता प्रो० वेदव्यास से, जो अब ५ साल से डी० ए० वी० कालेज ट्रस्ट के प्रधान हैं, राय ली। इन लोगो का विचार था कि फार्मेसी की जाँच कराने का अधिकार विजिटर को है तथा अपने इस अधिकार के तहत वह फार्मेसी के हिसाब की जाँच सरकारी एजेन्सी के द्वारा करा सकते हैं। क्योंकि मैं विश्वविद्यालय का कानूनी सलाहकार था अत: मैंने अपनी राय उनके विरोध मे दी। यह कानूनी सघर्ष चलता रहा और अन्त मे निर्णय हुआ कि पण्डित जी को सरकारी एजेंसी के जरिए आडिट कराने का अधिकार है। इस तरह पण्डित जी, जो न कभी वकील थे और न कभी उन्हे कानून की किसी किताब को पढने का अवसर मिला, अपने निर्णय मे कानूनी दृष्टि से सफल निकले और मैं जो सन् १९३३ से वकालत कर रहा हूँ तथा जिसे ५४ वर्षों का लम्बा अनुभव है, पण्डित जी की राय के आगे हार गया।

प्रो० वेदव्यास के विषय मे यह कहा जाता है कि यह व्यक्ति वह काम कर रहा है जो एक ४८ वर्ष का अनुभवी नवयुवक करता है उनकी आयु ८४ वर्ष की है, पर स्फूर्ति, कर्मठता, दूरदर्शिता और उत्साह में उन्होने ८४ का अंक उलटकर मानो ४८ कर लिया है। परन्तु मेरी जानकारी मे पण्डित सत्यव्रत जी ९० वर्ष के होते हुए भी वह काम कर रहे हैं जैसी स्फूर्ति, उत्साह और निश्छलता ९ वर्ष के बालक मे होती है। उनकी एक किताब है 'बुढ़ापे से जवानी की ओर'। इसका विमोचन महामहिम राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने किया था। क्या यह सत्य नहीं कि वह स्वयं भी स्वाध्याय, योगाभ्यास तथा लेखन के बल पर इस किताब के शीर्षक को सार्थक कर रहे हैं और 'बुढ़ापा आकर जाता नहीं'—कथन को झूठा सिद्ध कर रहे हैं।

१९८०-८१ के दिनो में विश्वविद्यालय की स्थिति पर जब भी कभी मेरी बात पण्डित जी से चाहे मेरे घर पर या उनके निवास पर हुई, मैंने उन्हें एक दृढ निश्चयी व्यक्ति के रूप मे पाया। किसी भी अच्छे और दुरुस्त कार्य को करने मे उन्होंने कभी हिचक नही दिखाई। जब एक बार मन बना लिया तो उस पर अमल किया। यदि कोई काम उनसे ऐसा हो गया जिसे बाद मे उन्होंने ठीक नही समझा तो उस निर्णय को बदल देने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ। इसी बिना पर उन्होने माना कि श्री डा० सत्यकाम वर्मा की कुलपति पद पर नियुक्ति करने में उन्होने भूल की। अपनी स्वतंत्र राय बनाये बगैर विश्वविद्यालय के कुलाधिपति डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के कहने पर उन्होंने नियुक्ति-पत्र दे दिया। ऐसा मालूम पड़ता है कि डा० सत्यकेतु को भी डा० वर्मा के बारे मे पूरी जानकारी नहीं थी और शायद यह समझते हुए कि वर्मा जी के पिता गुरुकुल के स्नातक

और पण्डित जी के सहपाठी थे, श्री वर्मा की नियुक्ति करवा दी। परन्तु बहुत थोड़े समय में दोनों महानुभाव इस परिणाम पर पहुंच गये कि यह नियुक्ति ठीक नहीं हुई। इसी वजह से दोनों महानुभावों ने निर्णय लिया और श्री वर्मा को कुलपति पद से बर्खास्त कर दिया। मेरी जानकारी में इस विश्वविद्यालय के इतिहास में यह पहला अवसर है कि एक कुलपति को ५-६ महीनों के अन्दर ही बर्खास्त किया गया हो।

सर्वसाधारण यही समझते होंगे कि पण्डित जी संस्कृत और हिन्दी के महान विद्वान् हैं। गीता, उपनिषद् आदि पर उनके भाष्य तथा दर्शन, धर्म, संस्कृति पर उनकी पुस्तकें इसी बात को दृढ़ करती हैं। परन्तु जब मैंने उनके अंग्रेजी में लिखे लेख, ग्रन्थ और प्रारूप देखे तो इस बात को कहने में मुझे कोई संकोच नहीं कि अंग्रेजी भाषा पर भी उनका असाधारण अधिकार है। मेरा निजी अनुभव यह है कि कई अवसरों पर पण्डित जी ने मेरे अंग्रेजी के ड्राफ्ट में अपेक्षित सुधार किया; उपयुक्त शब्द सुझाए। उनकी अंग्रेजी में लिखी पुस्तकें—हेरिटेज आफ वैदिक कल्चर, एक्सपोजीशन आफ वैदिक थाट, ग्लिम्पसेज आफ द वेदाज, कानफिडेन्शल टॉक्स टू यंगमैन तथा फ्राम ओल्ड एज टू यूथ थ्रू योग, विषय और भाषा दोनों ही दृष्टियों से उल्लेखनीय हैं। 'आर्यन हेरीटेज' में जिसने उनके अनुभवपूर्ण लेख अंग्रेजी में पढ़े हैं, वे मेरे कथन से पूर्णतः सहमत होंगे।

पण्डित जी गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता, कुलपति तथा परिद्रष्टा रहे हैं। गुरुकुल को विश्वविद्यालय का दर्जा दिलाने में भी उनकी अहम् भूमिका रही है। कोई वेतन या पूजा-दक्षिणा लिए बिना उन्होंने कुलपति के रूप में गुरुकुल की सेवा की। आजादी की लड़ाई में भी उनका योगदान सराहनीय रहा। वह और उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल कंधे से कंधा मिलाकर देश के उत्थान में लगे रहे। शिक्षा, मनोविज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, वदिक संस्कृति तथा होमियोपैथी पर उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे। उपनिषद्-प्रकाश ने तो आध्यात्मिक विचारकों और साधकों का जीवन-मार्ग ही प्रकाशित कर दिया। मैं सम्प्रति विजिटर बना हूँ उनके कार्यकाल के समाप्त होने पर। जो हितचिन्ता उन्हें विश्वविद्यालय की रही है अब वह मुझे और भी प्रेरित करती है। मैं चाहता हूँ कि विश्वविद्यालय के सभी हितैषी सहयोग आदि से काम करें। हमारा चिन्तन और संकल्प एक लक्ष्य के लिए हो जिससे हमारे समाज में स्वस्थता और सम्पन्नता बनी रहे।

मैं तो 'ऐतरेय' के शब्दों में इतना ही कह सकता हूँ कि हे भगवान् ! उपनिषदों के वक्ता तथा वेदों के आचार्य पण्डित जी को शतायु प्रदान कर—तद्वक्तारमवतु।

पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
एक उज्ज्वल प्रतिभाशाली व्यक्तित्व

आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति

भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

पण्डित सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय, के अत्यन्त मेधाशाली स्नातकों में से एक हैं। उन्हें प्रभु की ओर से बहुत उज्ज्वल प्रतिभा प्राप्त हुई है। वे अपने अध्ययन-काल में अपनी कक्षा के योग्यतम छात्रों की प्रथम पंक्ति मे रहा करते थे। आपका संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं पर समान अधिकार है। आप एक प्रभावशाली वक्ता और लेखक हैं। स्नातक होने के पश्चात् आप दक्षिण भारत मे आर्यसमाज की वैदिक विचारधारा का प्रचार करने के लिए चले गये थे। उधर रहते हुए आप कोल्हापुर के महाराजा की प्रार्थना पर वहाँ के कालेज में भारतीय धर्म और संस्कृति के उपाध्याय नियुक्त हो गये थे। कोल्हापुर में अध्यापन का कार्य करने के साथ-साथ आप उधर के नगरों और ग्रामों में महर्षि दयानन्द के दृष्टि-कोण से वैदिक धर्म के प्रचार का काम भी करते रहे। आपके प्रयत्न से दक्षिण भारत में आर्यसमाज की विचार-धारा को बडी प्रगति मिली। आपके प्रयत्न से उधर के अनेक नगरो मे आर्यसमाजो की स्थापना भी हुई और उनके मन्दिर भी बने।

कई वर्ष तक दक्षिण भारत में वैदिक धर्म और संस्कृति के प्रचार का कार्य कर चुकने के अनन्तर उस समय के गुरुकुल विश्वविद्यालय के आचार्य, आचार्य रामदेव जी ने आपको गुरुकुल विश्वविद्यालय मे 'आर्यसिद्धान्त' का विषय पढ़ाने के लिए बुला लिया और आप अनेक वर्षों तक गुरुकुल विश्वविद्यालय मे इस विषय का अध्यापन करते रहे। 'आर्यसिद्धान्त' विषय के अन्तर्गत वैदिक धर्म के सिद्धान्तो और दार्शनिक विचारों के साथ-साथ विश्व के प्रमुख धर्मों के सिद्धान्तो और दार्शनिक विचारों का अध्यापन किया जाता था। आप बड़ी योग्यता से इन विषयों का अध्यापन करते थे।

'आर्यसिद्धान्त' का उपाध्याय होने के साथ-साथ आचार्य रामदेव जी ने आपको गुरुकुल के महा-विद्यालय विभाग के आश्रम का आश्रमाध्यक्ष भी बना दिया था। आप अनेक वर्षों तक आश्रमाध्यक्ष रहे। आश्रमाध्यक्ष के रूप में आप आश्रमवासी छात्रो से ब्रह्मचर्याश्रम के प्राचीन आदर्शों के अनुसार ब्रह्मचारी के जो दैनिक कर्तव्य-कर्म और नियम हैं, उनका भली भाँति पालन कराते थे। ब्रह्मचर्याश्रम के प्राचीन नियमों और कर्तव्य-कर्मों की जो महत्ता और उपयोगिता है, उसे भी आप आश्रमवासी छात्रों को भली भाँति समझाते रहते थे। अन्य धार्मिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक आदि विषयों पर भी आप आश्रमवासी छात्रों के सम्मुख बड़े योग्यतापूर्ण उपदेश देते रहते थे। आपकी योग्यता और विद्वत्ता का छात्रो पर बड़ा प्रभाव पड़ता था और छात्र प्रातः साढ़े चार बजे उठने से लेकर रात को ९ बजे सोने जाने तक के आश्रम के सभी नियमों और कर्तव्य-कर्मों का भली भाँति पालन करते थे।

फिर आगे चलकर गुरुकुल की स्वामिनी सभा ने आपको गुरुकुल विश्वविद्यालय का मुख्याधिष्ठाता

बना दिया और इस प्रकार आपको विश्वविद्यालय के सर्वोच्च अधिकारी पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। गुरुकुल विश्वविद्यालय की उस समय की अपनी पुरानी प्रबन्ध-व्यवस्था में मुख्याधिष्ठाता का पद आजकल के कुलाधिपति (चांसलर) के समकक्ष होता था। अनेक वर्षों तक आप इस पद पर रहे। इस प्रकार उपर्युक्त अनेक पदों पर कार्य करके आपने १५-२० वर्षों तक गुरुकुल विश्वविद्यालय की अमूल्य सेवा की। तदनन्तर आप गुरुकुल की सेवा से निवृत्त होकर बाहर चले गये और विशेष रूप से ग्रन्थ लेखन के कार्य में लग गये। बहुत वर्षों के अन्तराल के पश्चात् गुरुकुल की स्वामिनी सभा ने आपको पुनः सन् १९६१ में गुरुकुल विश्वविद्यालय का मुख्याधिष्ठाता नियुक्त किया। इससे पूर्व पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता थे। इस काल में गुरुकुल विश्व विद्यालय को भारत सरकार से मान्यता दिलवाने का प्रयत्न चल रहा था। पण्डित इन्द्र जी के पश्चात् पण्डित सत्यव्रत जी ने इस प्रयत्न को आगे चलाया और सन् १९६५-६६ में गुरुकुल कांगड़ी को भारत सरकार से विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त हो गई। यह मान्यता प्राप्त हो जाने के पश्चात् गुरुकुल की प्रबन्ध व्यवस्था दूसरे सरकारी विश्वविद्यालयों की पद्धति पर चलने लगी और उस व्यवस्था में पण्डित सत्यव्रत जी गुरुकुल विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति (वाइस चांसलर) बने। जब आप पुरानी प्रबन्ध व्यवस्था के अधीन प्रथम बार गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता बने थे तब और जब आप दूसरी बार मुख्याधिष्ठाता और कुलपति बने तब, इन दोनों ही कालों में आपके समय में गुरुकुल विश्वविद्यालय में अनेक नये विभाग खुले और नई योजनायें बनी तथा अनेक नये भवनों का निर्माण हुआ। और इस प्रकार गुरुकुल विश्वविद्यालय का बड़ा विकास और प्रगति हुई।

पं० सत्यव्रत जी एक प्रचण्ड प्रतिभाशाली लेखक हैं। गुरुकुल में रहते हुए भी आप ग्रन्थ रचना का कार्य करते रहे हैं, गुरुकुल से बाहर रहने के काल में तो आप ग्रन्थ लिखने के ही काम में जुटे रहे हैं। आपने ४० से भी अधिक ग्रन्थों की रचना की है। आपके सभी ग्रन्थ पर्याप्त बृहत्काय ग्रन्थ हैं। सभी ग्रन्थ आपकी प्रतिभा, पांडित्य और विद्वत्ता का परिचय देते हैं। आपने विविध विषयों पर ग्रन्थ-रचना की है। होमियोपैथी तक पर आपने विशाल ग्रन्थों की रचना की है। आप होमियोपैथी के कुशल चिकित्सक भी हैं। आपके ग्रन्थों में आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व, भारतीय विचारधारा का वैज्ञानिक आधार, ब्रह्मचर्य-संदेश और इसका अंग्रेजी संस्करण A Confidential Talk to Youngman, शिक्षा-मनोविज्ञान, संस्कारचन्द्रिका, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य, समाजशास्त्र के सिद्धान्त तथा भारत की जातियाँ और जनजातियाँ आदि ग्रन्थ प्रमुख है। आपके होमियोपैथी पर लिखे ग्रन्थ भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। आपकी साहित्य-सेवा को देखकर प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने आपको ६ वर्ष के लिए राज्यसभा का सदस्य (एम० पी०) भी नियुक्त कर दिया था। आपकी अनेक रचनाओं पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग आदि अनेक प्रतिष्ठित संस्थाओं ने आपको पुष्कल धन-राशियाँ देकर पुरस्कृत किया है। आपके 'भारतीय विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' नामक ग्रन्थ पर आपको भारतीय विद्या भवन की ओर से राजाजी पुरस्कार की दस हजार (१०,०००) रुपये की राशि पुरस्कार के रूप में प्रदान की गई है। भारत सरकार की ओर से वेदपण्डित के रूप में महामहिम राष्ट्रपति जी ने प्रमाण पत्र और वार्षिक आजीवन पेंशन प्रदान की।

गांधी जी के नेतृत्व में भारत की स्वाधीनता के आन्दोलन में भी आपने आगे बढ़कर भाग लिया था। आप उस आन्दोलन में जेल भी गये थे। इस प्रकार स्वतन्त्रता सेनानी भी आप रहे हैं। भारत सरकार की ओर से आपको स्वतन्त्रता सेनानी की पेंशन आदि की सुविधायें भी मिल रही हैं।

पंडित सत्यव्रत जी कांगड़ी विश्वविद्यालय के उन स्नातकों में अग्रिम स्थान रखते हैं जिन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा और योग्यता के बल पर गुरुकुल विश्वविद्यालय, आर्यसमाज, वैदिक धर्म और देश की महान् सेवा की है और जिन्होंने विविध विषयों पर बहुमूल्य साहित्य की रचना करके राष्ट्रभाषा हिन्दी की भी अनुकरणीय तथा चिरस्थायी सेवा की है। उनकी इन सेवाओं के कारण माननीय पण्डित जी को सदा आदर

से स्मरण किया जाता रहेगा।

गुरुकुल विश्वविद्यालय और आर्यसमाज से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को श्री पण्डित सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार पर अभिमान है। मुझे यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ है कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा पण्डित जी के सम्मान में उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने की योजना बनाई गई है। मैं इस योजना की पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ। मैं करुणानिधि मंगलमय प्रभु से पण्डित जी के दीर्घायुष्य की प्रार्थना करता हूँ। वे प्रभु कृपा से सौ साल की और उससे भी लम्बी आयु प्राप्त करें, सदा नीरोग और पूर्ण स्वस्थ रहें तथा उत्तरोत्तर निरन्तर अपनी प्रतिभा के नये-नये प्रसून भारत-भू पर बरसाते रहें।

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार—एक आर्य मनीषी

श्री बलभद्र कुमार हूजा
पूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

मुझे डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के सम्मान मे जो अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है, उसके लिए राकेश जी का निमन्त्रण प्राप्त हुआ। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

मैं सत्यव्रत जी का प्रशंसक हूँ। सत्यव्रत जी द्वारा रचित 'ब्रह्मचर्य-सन्देश' नामक पुस्तक मेरे हाथ मे कौमार्य अवस्था में आयी, उसका मेरे जीवन पर बडा भारी प्रभाव पड़ा। मैं इसके लिए सत्यव्रत जी का सदा आभारी रहूँगा। 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमाघ्नत' यह वाक्य मैंने डेरा इस्माईल खा (पाकिस्तान) मे स्थित विक्टोरिया भ्रातृ-हाई स्कूल में पाँचवी श्रेणी में प्रविष्ट होने के समय वहाँ की यज्ञशाला पर अंकित पढ़ा था। मुझे मेरे पिताश्री ने बताया कि इसका अर्थ है - देवताओं ने ब्रह्मचर्य की तपस्या करके मृत्यु पर विजय पा ली। जब मैंने इस वाक्य की व्याख्या ब्रह्मचर्य-सन्देश पुस्तिका मे पढ़ी तब मेरी विचारधारा इस दिशा मे सम्पुष्ट होने लगी। मेरा सौभाग्य था कि मेरी आगामी शिक्षा भी डी० ए० वी० संस्थाओं मे हुई जिससे मेरे मन में यम-नियम के पालन करने का संकल्प दृढ होता गया। यम-नियम का पालन बहुत कठिन है लेकिन साधना तो सभी कर सकते हैं। इसके बाद कालान्तर मे मुझे डॉ० सत्यव्रत के लिखे एकादशोपनिषद् भाष्य के अवलोकन का अवसर प्राप्त हुआ। जब १६८० मे डॉ० सत्यव्रत गुरुकुल काँगडी के परिद्रष्टा नियुक्त हुए, तब मुझे उनके निकट आने का अवसर प्राप्त हुआ। पाँच साल तक मैंने उनको निकट से देखा है। उनकी दिनचर्या से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। वे नियम से रात के दस बजे सो जाते हैं और प्रातः चार बजे उठ जाते हैं। ४ से ७ बजे तक व्यायाम, प्राणायाम आदि करते हैं। वे प्रत्येक जोड़ को गिनकर सौ-सौ बार आगे-पीछे हिलाते हैं ताकि उनमे जमा यूरिक एसिड निकल जाये और जोडों के दर्द की शिकायत न हो। इसके बाद वे एक प्लास्टिक के ब्रश से शरीर की एक-एक मांसपेशी का घर्षण करते हैं। इसके अतिरिक्त वे पेट के व्यायाम के लिए न्यौली-क्रिया करते हैं और फिर दस मिनट तक मेरुदण्ड को पीछे की ओर झुकाकर खड़े रहते हैं ताकि कुबड़ापन न आये। फिर पद्मासन में बैठकर योगमुद्रा, आँखों के व्यायाम, अनहद व्यायाम, भस्त्रा, पूरक, कुम्भक तथा रेचक प्राणायाम आध घंटे तक करते हैं। पिछले दस वर्ष से वे २५ बादाम कूडी में बारीक पीस कर उसमें प्याला भर पानी डालकर सवेरे दूध और च्यवनप्राश के साथ शनैः-शनैः पीते हैं। रात को दूध के साथ त्रिफला का सेवन करते हैं। सारा दिन पठन-पाठन और लेखन में व्यस्त रहते हैं। जब फालतू समय होता है तो अपने पोते-पोतियों के साथ टेलीविजन भी देख लेते हैं, यद्यपि वे कहते हैं कि इससे आँखें खराब हो जाता हैं, समय नष्ट होता है, परन्तु प्रश्न करने पर वे कहते हैं कि ऐसे अवसरों पर बच्चों के साथ बैठने पर 'जेनेरेशन गैप' जो दिनोदिन बढ रहा है वह कुछ कम हो जाता है। उनका कहना है कि बच्चों के आमोद-प्रमोद के साथ उनसे मिल-जुलकर न रहेंगे तो यह जेनरेशन गैप बढ़ता चला जाएगा। ऐसे हैं डॉ० सत्यव्रत, जिनका जीवन वैदिक संस्कृति और आधुनिकता का आदर्श सम्मिश्रण है।

जब इन्हें गुरुकुल कांगड़ी में इण्डो-अमरीकन साहित्य की संगोष्टी के उद्घाटन के लिए नियुक्त किया गया तब उन्होंने अपने भाषण मे कहा था कि किपलिंग तो कहता था कि पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम है। दोनों का कभी मेल नहीं हो सकता, लेकिन मैं कहता हूँ कि पूर्व पश्चिम है, और पश्चिम पूर्व है, इन दोनों का मेल होकर रहेगा। यही वैदिक सभ्यता की सार्वभौमिकता का परिचय है।

वेद के अनुसार मनुष्य कभी दीन और असहाय नहीं होता, सौ वर्ष तक काम करते हुए जीना उसका उद्देश्य है। डॉ० सत्यव्रत वेद के इस आदेश की साधना मे लगे हुए हैं। तभी तो जब आपकी लिखी पुस्तक 'बुढापे से जवानी की ओर' का राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह से विमोचन करने का निवेदन किया गया तो राष्ट्रपति ने इस निवेदन को तुरन्त स्वीकार कर लिया। इस अवसर पर सत्यव्रत जी ने आसनो का जो प्रदर्शन किया उससे सभी दर्शक चकित रह गये।

सत्यव्रत जी न केवल संस्कृत और हिन्दी के विद्वान हैं, अपितु उनका अंग्रेजी पर भी उतना ही अधिकार है। उनके अंग्रेजी मे लिखे ग्रन्थो 'हेरिटेज ऑफ़ वैदिक कल्चर' तथा 'एक्सपोजिशन ऑफ वैदिक थाट' का विदेशों मे बहुत मान है।

इसी कारण इनको १९८२ मे हौलेण्ड निवासी भारतीयो ने वहाँ निमन्त्रित किया जहाँ वे लगभग दो महीने तक वैदिक धर्म पर जगह-जगह व्याख्यान देते रहे।

होमियोपैथी पर डाक्टर साहब की बहुत श्रद्धा है, और वे चाहते हैं कि गुरुकुल आयुर्वेदिक कालेज को जो किन्ही कारणो से सरकार ने गुरुकुल से ले लिया है फिर से गुरुकुल मे वापिस ले लिया जाय और उसमे आयुर्वेद के साथ होमियोपैथी के भी अध्ययन का प्रबन्ध किया जाय।

डॉ० सत्यव्रत जी की शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल मे हुई है। १९१९ में गुरुकुल कांगडी के स्नातक होने के बाद वे कोल्हापुर, बैंगलोर, मद्रास मे समाज-सेवा करते रहे। १९२३ मे वे दयानन्द सेवा-सदन के आजीवन सदस्य होकर गुरुकुल विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर हो गये। १९३० मे आपने सत्याग्रह मे जेल-यात्रा की। १९३५ मे वे गुरुकुल के उपकुलपति नियुक्त हुए। साहित्य रचना तो वे निरन्तर करते रहे। उन्होंने समाजशास्त्र, मानव-शास्त्र एवं वैदिक संस्कृति पर बीसियों ग्रन्थ लिखे जो विश्वविद्यालयों मे पठन-पाठन के लिए स्वीकृत हुए।

आपके प्रमुख ग्रंथ हैं समाजशास्त्र के मूल तत्त्व, वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार, एकादशोप-निशद्-भाष्य, गीता-भाष्य, होमियोपैथिक औषधियो का सजीव चित्रण, रोग तथा उनकी होमियोपैथिक चिकित्सा, होमियोपैथी के मूल सिद्धान्त, बुढापे से जवानी की ओर, सत्य की खोज इत्यादि। उनकी लेखनी निरन्तर चलती रहती है। परमात्मा करे वह सौ वर्ष तक चलती रहे।

१९८१ मे राष्ट्रपति ने उन्हें संस्कृत के प्रमुख विद्वान होने के नाते सम्मानित किया और इस विद्वत्ता की मान्यता मे उन्हें आजीवन, प्रतिवर्ष पाँच हजार रुपया देने की घोषणा की। इससे पहले १९७७ मे उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा उनका अभिनन्दन किया गया था और उन्हे पच्चीस सौ रुपये की भेंट दी गई थी। श्री कन्हैयालाल मुंशी द्वारा स्थापित 'भारतीय विद्याभवन' ने उन्हे 'वैदिक संस्कृति के वैज्ञानिक आधार' पुस्तक पर मद्रास बुलाकर १० हजार रुपये के राजाजी पुरस्कार से सम्मानित किया।

इससे पहले प्रतापसिंह कैरों ने अपने मुख्यमन्त्रित्व काल में अपने दरबार में इनको पंजाबी होते हुए, हिन्दी की सेवा करने के कारण सम्मानित किया और इनकी प्रशंसा करते हुए बारह सौ रुपये और एक दुशाला भेंट किया। १९७९ मे दिल्ली के लोक-सेवक-मण्डल ने उनके ८२वें जन्मदिन के उपलक्ष्य मे उनका अभि-नन्दन किया और उन्हें वेद-मनीषी उपाधि से अलंकृत किया। १९७८ मे सार्वदेशिक सभा के अन्तर्गत पूर्वी अफ्रीका मे केनिया प्रदेश स्थित नैरोबी आर्यसमाज के हीरक जयन्ती समारोह के साथ अन्तर्राष्ट्रीय महा-सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसका अध्यक्ष पद पं० सत्यव्रत जी ने अलंकृत किया। इसके अतिरिक्त १९६४ में राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् तथा प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने आपको राज्य सभा का

सदस्य मनोनीत किया। इस प्रकार पण्डित जी का जीवन हर प्रकार से फला-फूला। हर प्रकार से आपका एक सफल जीवन रहा।

गुरुकुल तो इनकी मातृसंस्था है ही। उसके लिए ये सदा सपने लेते रहते हैं। गुरुकुल को अच्छे कार्य-कर्त्ता मिलते रहें इसकी उनको सदा तलाश रहती है जिससे वे अपने सपनों को साकार रूप दे सकें। वे चाहते हैं कि गुरुकुल से निकले हुए स्नातक राष्ट्र की सभी ऊँची सेवाओं में पदासीन हों जिससे कि वे देश की राजनीति के संचालन में सक्रिय भाग ले सकें। वे चाहते हैं कि गुरुकुल से आदर्श स्नातक निकलें जिनकी दैनिक दिनचर्या वैदिक हो, जीवन तपस्वी हो और इस प्रकार अच्छे ब्राह्मण, अच्छे क्षत्रिय और अच्छे वैश्य पैदा करने का गुरुकुल का लक्ष्य सिद्ध हो। इस प्रकार गुरुकुल जो कि एक आन्दोलन के रूप में स्थापित किया गया था, वह आदर्श सार्थक हो। गुरुकुल के भविष्य के सम्बन्ध में उनका सपना है कि चरित्र-निर्माण को नीव मे रखने की घोषणा करके गुरुकुल एक उच्च कोटि की संस्था बना दी जाए। गुरुकुल का अतीत महान् था, उज्ज्वल था। महात्मा मुंशीराम जी तथा प्रो० रामदेव जी के काल में जो शिक्षक आते थे, वे महान् संकल्पो को लेकर आते थे। उनसे शिक्षा प्राप्त करके जो स्नातक निकलते थे, वे अपने-अपने क्षेत्र में उच्चकोटि तक पहुँचे। इन्द्र मूर्धन्य पत्रकार बने; जयचन्द्र हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति बने; विनायकराव विद्यालंकार निजाम सरकार मे मन्त्री पद पर रहे; अमरनाथ विद्यालंकार पंजाब सरकार के शिक्षा मन्त्री बने; सोमदत्त विद्यालंकार खादी कमीशन के चेयरमैन बने; सत्यदेव विद्यालकार सफल उद्योगपति बने; रमेश बेदी ने फिल्मी दुनिया मे नाम कमाया; आनन्द विद्यालंकार तथा क्षितीश विद्यालंकार सफल पत्रकार बने; सत्यकाम विद्यालंकार ने चारों वेदों का अंग्रेजी मे भाष्य किया; सत्यकेतु विद्यालंकार और हरिदत्त वेदालंकार का नाम इतिहास के क्षेत्र मे सुप्रसिद्ध है। ऐसे ही विद्वान् और कर्मठ व्यक्ति गुरुकुल से पुनः निकलें यही सत्यव्रतजी का सपना है।

परमात्मा करे उनके जीवनकाल में ही उनके गुरुकुल के प्रति सम्पूर्ण स्वप्न पूरे हों।

आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की एक अमर कृति का स्मरण

प्रो० विजयेन्द्र स्नातक
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

मुझे अपनी स्मृति का पूरा विश्वास नही है फिर भी मेरी स्मृति मे धुँधला-सा एक साठ वर्ष पुराना चित्र है। वह चित्र व्यक्ति का नही, पुस्तक का है। पुस्तक का नाम है 'ब्रह्मचर्य'। आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार द्वारा लिखित यह पुस्तक उस समय एक विशेष सदर्भ में बहुचर्चित हुई थी विशेषतः राष्ट्रीय शिक्षा संस्थानो, विद्यालयों और आर्यसमाज के गुरुकुलो में। संदर्भ भी विचित्र है। इस शताब्दी के तीसरे दशक मे हिन्दी के तीन-चार लेखक जान-बूझकर कुछ ऐसे उपन्यास और कहानियाँ लिख रहे थे जो युवा पीढी को यौनाचार के भ्रष्ट पथ पर ले जाने वाले साहित्य की कोटि मे रखे जा सकते हैं। इन लेखको मे पाडेय बेचन शर्मा उग्र अग्रणी थे। उनकी एक पुस्तक 'चाकलेट' नाम से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में कामवासना से भरी कहानियाँ थी जो युवको के मन मे वासना की उत्तेजना के साथ उन्हें पथभ्रष्ट करने वाली थी। किन्तु चाकलेट की भूमिका में किशोरो को सम्बोधित करते हुए जो उद्‌बोधनात्मक अंश थी वह भाव और विषयवस्तु के साथ शैली की दृष्टि से भी बहुत आकर्षक था। मालूम नही कैसे यह पुस्तक महात्मा गांधी के आश्रम मे पहुँच गई और किसी आश्रमवासी ने इसे महात्मा गांधी के सामने रख दिया। महात्मा जी ने इसे पढ़ा और पढकर इसकी तीव्र निन्दा की। महात्मा जी का मन क्षोभ से भर गया और उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लिखा कि "इस प्रकार की गंदी पुस्तक को सरकार जब्त क्यो नही करती। युवकों को आचरण-भ्रष्ट करने वाली यह 'चाकलेट' नाम की पुस्तक समुद्र की अतल गहराई मे डुबा देने योग्य है।"

इसी संदर्भ में महात्मा गांधी ने जिस पुस्तक को प्रत्येक युवक के हाथ मे देने की सिफारिश की वह पुस्तक 'ब्रह्मचर्य' शीर्षक थी जिसके लेखक हैं पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार। 'ब्रह्मचर्य' पुस्तक के विषय मे महात्मा गांधी ने लिखा था कि इस पुस्तक की एक प्रति हजार युवकों का पथ प्रशस्त करने मे समर्थ है। यदि सरकार और शिक्षा विभाग इस पुस्तक का प्रचार करे तो हमारे देश के युवकों का शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक चिन्तन और व्यावहारिक आचरण निश्चय ही सदाचारमय हो सकता है। मैं अपनी धुँधली स्मृति के आधार पर ही यह लिख रहा हूँ। यदि 'यंग इंडिया' समाचारपत्र की तत्कालीन फाइल मिल सके तो महात्माजी का पूरा मन्तव्य जाना जा सकता है।

मैं उस समय गुरुकुल वृन्दावन में छठी कक्षा का विद्यार्थी था। चाकलेट पुस्तक तो पढ़ने को नही मिली थी किन्तु कुछ वर्ष बाद उसकी कई संदर्भों में चर्चा सुनी गई। शायद सन् १९२८-२९ में 'विशाल भारत' में भी उसका उल्लेख हुआ था। 'घासलेटी साहित्य' शब्द उस समय प्रचार पा चुका था और चाकलेट के घासलेटी साहित्य का पक्षधर ठहराया गया था। घासलेटी साहित्य या कामुकतापूर्ण यौन साहित्य से बचने और युवकों के शारीरिक एव मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिए उन दिनों जिस पुस्तक की चर्चा बड़े जोरों पर थी

वह पुस्तक **ब्रह्मचर्य** ही थी। हमारे छात्रावास में इसकी आठ-दस प्रतियाँ थी जो प्रायः सभी छात्रों द्वारा मनोयोगपूर्वक पढ़ी गई थी। इस पुस्तक का प्रभाव ऐसा व्यापक हुआ कि सभी विद्यार्थी खेल-खूद के साथ कुश्ती, व्यायाम और प्राणायाम आदि पर विशेष रूप से ध्यान देने लगे।

महात्मा गांधी ने विपरीत दिशा वाली दो पुस्तकों का सही मूल्यांकन कर पाठक वर्ग को जिस रूप में सचेत किया वह साहित्य क्षेत्र में भले ही भुला दिया गया हो लेकिन उस पीढ़ी के युवको के लिए तो चाकलेट - विनाशकारी गरल की तरह त्याग दिया गया और ब्रह्मचर्य को जीवन सुधा की तरह स्वीकार किया गया। निस्सन्देह ब्रह्मचर्य मात्र पुस्तक ही नही, युवकों को सत्पथ पर ले जाने वाली अमृतवाणी थी। यदि चाकलेट के जहर को समाप्त करने वाली ब्रह्मचर्य पुस्तक युवकों के हाथ में न आती तो हिन्दी क्षेत्र के लाखों युवको का जीवन कामुकता के कर्दम में फँसकर नष्ट हो जाता। पण्डित सत्यव्रत जी ने ब्रह्मचर्य पुस्तक लिखकर देश और समाज का जो कल्याण किया वह कदापि भुलाया नही जा सकता।

मैंने केवल एक पुस्तक के प्रभाव और महत्त्व की चर्चा की है। पण्डित जी ने वैदिक साहित्य एवं सस्कृति विषयक दर्जनों ग्रन्थों का निर्माण कर जो वाङ्मय पुनरुज्जीवित किया है, उसमे उपनिषद् साहित्य का भाष्य उल्लेखनीय है। मैं वैदिक वाङ्मय की युवावस्था से ही पाठक रहा हूँ। मेरा संस्कार विवेचन-विश्लेषण का है। किसी भी मत या वाद को अंधविश्वास के आधार पर मै स्वीकार नही कर सकता। मैंने बड़ी गम्भीरतापूर्वक पण्डित जी के साहित्य का अध्ययन कर यह पाया कि पण्डित जी की दृष्टि तत्त्व-दर्शन पर केन्द्रित रहती है। किसी परम्परावादी दृष्टि से पण्डित जी न तो अध्यात्म को स्वीकार करते हैं और न योग-साधना के पाखंडों मे विश्वास रखते हैं। विवेकसम्मत, अनुभवगम्य जीवन दर्शन मे इनका विश्वास है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने रूढ़ियों और अंधविश्वासों के प्रति जिस प्रकार की अवमानना का भाव व्यक्त किया था उसी प्रकार की उपेक्षा इनके भीतर भी रहती है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि पण्डित जी आध्यात्मिक रहस्यो का गूढ़ भेद जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। अध्यात्म के स्तर पर सब कुछ बिना देखे-परखे स्वीकार करने मे पण्डित जी की आस्था नही है। अध्यात्म मे भी तर्क का अभिनिवेश इन्हे अभीष्ट है। हमारे युग के आधुनिक योगियो, सन्तो, महन्तो के प्रति जिज्ञासा वृत्ति रखते हुए ही पण्डित जी उनके मन्तव्यो की परख करते हैं। यह विवेक-बुद्धि आर्यसमाज के आरम्भिक दिनो की देन है जो आज आर्यसमाज के पास भी नही है। पण्डित जी ने जिस साहित्य से राष्ट्र को समृद्ध किया है वह भावी पीढ़ी का पथ प्रशस्त करता रहे यही हमारी कामना है। पण्डित जी परम आस्तिक हैं किन्तु 'अस्ति' और 'नास्ति' का पूरा वैदग्ध्यपूर्ण विवेक उनका सहचर है। यही उनके साहित्य की शक्ति है।

आचार्य सत्यव्रत : एक संस्मरण

कमला रत्नम्
हिन्दी और संस्कृत की विदुषी

१९२८ में मेरी माता की मृत्यु हुई। अत्यन्त कष्टकर पीडा से बडी छोटी आयु मे उनका देहावसान हो गया। पर्वतों की क्रोड़ मे जगन्माता भागीरथी पर चल रहे अपने काम को छोडकर पिताजी उन्हें इलाहाबाद से देहरादून ले गये। और वहाँ उन्हें खोकर वे वही बस गये। रिसपना नदी के किनारे की निर्जन वन-भूमि मे मकान लेकर वहीं रहने लगे। खोई माँ को आत्मा से प्राप्त करने का उनके पास यही उपाय था। १९३७ मे मैंने एम० ए० पास किया, और आगे कुछ करने से पहले कम-से-कम एकाध वर्ष अध्यापन का अनुभव करना चाहा। पढाई के चक्कर मे वर्षों घर से दूर रही थी, अतः देहरादून मे ही सेवा ढूँढी। स्थानीय महादेवी महिला इण्टर कालेज मे उच्च श्रेणियों को संस्कृत पढ़ाने लगी। कुछ दिनों तक हमारी प्रिन्सिपल लीलावती झँवर थी। कद मे मुझ से आधी, खादी की धोती कृश शरीर पर ऊबड़-खाबड बँधी हुई, मैल जमे दाँत और बेतरतीबी से बाँधी चुहिया की पूँछ-सी पतली चोटी जिसके अन्त में पुरानी साड़ी की किनारी की कतरन शोभायमान रहती थी। मिस झँवर, जैसा कि आदेश था उन्हें बुलाने का, अपनी शारीरिक अक्षमताओ की कमी अतिशय सख्ती और असहिष्णुता से दूर किया करती थी। स्कूल की लडकियो के लिए उनका आदेश था कि हमेशा आँखे नीची करके चला करो। विशेषकर जब विद्यालय के बाहरी वराण्डे से निकलो जहाँ प्रिन्सिपल का आफिस था, और जहाँ अक्सर चपरासी या अन्य पुरुष वर्ग उपस्थित रहते थे, जो निरन्तर किसी-न-किसी काम से प्रिन्सिपल के दफ्तर मे आया करते थे। झँवर महोदया का आदेश था कि यदि इस वराण्डे मे कोई भी पुरुष उपस्थित हो तो लडकियों की आँखें बिल्कुल ही नीचे झुक जानी चाहिये, यहाँ तक कि लगभग बन्द ही हो जायँ। वराण्डा ऊँचा था, नीचे उतरने को कई सीढ़ियाँ थी जो पूरे दालान की लम्बाई देखते बहुत ही कम थी। परिणाम-स्वरूप झँवर महोदया की आज्ञा का अक्षरशः पालन करने वाली कई अधिक सीधी और भोली बालिकाएं वराण्डे से नीचे गिरकर चोट खा चुकी थी। झँवर महोदया को जनमेजय के कक्ष के समान किसी जलकुण्ड के बीचोबीच किसी खम्भे पर स्कूल बनवाना था, जिससे लड़कियाँ पुरुषों की छवि न देख पाये। परन्तु वहाँ भी तो सर्पों का प्रवेश हो गया था।

लखनऊ विश्वविद्यालय के मुसलमान गुण्डों से भरे वातावरण को झेलकर निकली मेरे जैसी कतिपय अध्यापिकाएँ मिस झँवर के फतवों के इस परिणाम को देखकर, तथा बालिकाओं का गिरता शिक्षा स्तर तथा गिरता मनोबल देखकर अत्यन्त त्रस्त थी। हमने निश्चय किया झँवर महोदया को हटाना चाहिए। परन्तु तत्कालीन स्कूल-मैनेजर की साँठ-गाँठ से वे पत्थर की शिला सम दृढ़ थीं। परन्तु दैव ने हमारी सुन ली और एक दिन मिस झँवर की छुट्टी हो गयी। उनके स्थान पर आयीं अन्धकार मे सूर्य के समान नया प्रकाश फैलाती श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल। चन्द्रावती जी भी शरीर से भारी-भरकम नही थी, परन्तु उनकी सुघड़ देहयष्टि कलात्मक साड़ी में लिपटी रहती तथा मुखचन्द्र सदा निर्मल हँसी से नहाया रहता। उन्होंने उन दिनो के इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अँगरेजी साहित्य में एम० ए० किया था, शिक्षा-शास्त्र मे बी० टी० थीं और 'शिक्षा-मनो-

विज्ञान' नामक ग्रन्थ पर उन्हें मंगला प्रसाद पारितोषिक भी मिल चुका था। इसके अतिरिक्त 'स्त्रियों की स्थिति' नामक पुस्तक के लिए उन्हें सेकसरिया पुरस्कार से भी सम्मानित किया जा चुका था। इनमें से एक अकेला पुरस्कार उन दिनों आज के ज्ञानपीठ पुरस्कार से भी अधिक सम्मान-सूचक हुआ करता था। चन्द्रावती जी विद्यालय में क्या आयीं, हमारे हर्ष का पारावार न रहा। हमें ज्ञात था चन्द्रावती जी स्वयं एक सुशिक्षित संभ्रान्त परिवार की महिला थी तथा उनके पति आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार गुरुकुल महाविद्यालय के आचार्य, अधिष्ठाता, विद्यार्थी एवं दिशा-निर्देशक थे। दोनों ही स्वतन्त्रता-युद्ध में खुलकर भाग लेते थे और पवित्र आर्य-दिनचर्या सहित शुद्ध खादीमय जीवन व्यतीत करते थे। चन्द्रावती जी उन दिनो कैथरीन मेयो के विषवमन का उत्तर लिखने में व्यस्त थी: 'मदर इण्डिया का जवाब'। गांधी जी ने इस पुस्तक को 'ड्रेन इन्स्पेक्टर्स रिपोर्ट' कहा था, और इसके खिलाफ देश में रोष की लहर उठ रही थी। इस अन्तिम पुस्तक के कारण तो चन्द्रावती जी हमारी और भी अधिक आदर-पात्र हो गयी थीं।

लखनपाल-दम्पति का एकमात्र छोटा-सा पुत्र था। चि० विजय कृष्ण, जिसे प्यार से हम सब विजय कहते थे। लगभग ५ वर्ष की आयु, हृष्ट-पुष्ट शरीर, शुभ्र गौर चमकता मुखमण्डल, बालक विजय किसी से भी डरता न था और मनमाने अद्भुत खेल खेलता था। एक बार उसे विद्यालय के पास ही स्कूल मे भरती कराया गया। विजय का मन न लगा, तो उठकर घर चले आये। किसी से कुछ पूछा नही, कहा नहीं। स्कूल के अधिकारी इस नये बालक के एकाएक लापता होने से त्रस्त-भयभीत, चन्द्रावती जी के पास आये। और विजय को उनके पास खेलता हुआ देखकर उनकी स्निग्ध हँसी का प्रसाद लेकर प्रसन्न मन लौट गये। एक बार चन्द्रावती जी ने विजय का जन्मदिन मनाया। मुझे ठीक से याद नहीं, सत्यव्रत जी उन दिनों कहाँ थे, परन्तु उस दिन वे देहरादून में परिवार के पास ही थे। विजय के जन्मदिन का वह आयोजन मेरे युवा काल की अविस्मरणीय स्मृति है। विद्यालय-परिसर में किनारे पर बना हुआ छोटा-सा घर, जिसे चारों ओर से चन्द्रावती जी ने पुष्पित पौधों और झूलती लताओ से घेर दिया है। उनके इस उद्यान-प्रेम को देहरादून की अनुकूल जलवायु और हिमालय-पादमूल की उर्वर धरती ने भरपूर सहयोग दिया है। उतनी कोमल लताएँ, उतने ऊँचे वृक्ष, उतने सुगन्धित पुष्प प्रकृति का वैसा घना आश्तोष मैंने अन्यत्र नही देखा। एक बडे छायादार अशोक के नीचे जलपान का प्रबन्ध था। माथे पर तिलक लगाये, छोटी-सी धोती पहने कमर से यज्ञोपवीत लटकाये, छोटा विजय साक्षात् शकुन्तला-पुत्र भरत दिख रहा था। अनेक खिलौने उसके हाथ मे थे, और सब अतिथियों, अध्यापिकाओं, बच्चों की आखें उसी की मनोहारी छवि पर थी। जन्मदिन की धार्मिक औपचारिकताओं के बाद जिनमें वेदमन्त्रोच्चारण प्रमुख था, चन्द्रावती जी ने जो भोज्यपदार्थ हमें खिलाए, उन्हें मैं कभी नही भूल सकती। मुझे स्मरण है उस दिन मैंने २६ दही-बड़े और ५५ पान गिन कर खाए थे। मिष्टान्न और अन्य व्यंजनों की तो गिनती ही नही। हम जितना ही खाते, चन्द्रावती जी उतना ही खिलातीं। वे साक्षात् सरस्वती तो थी ही, अन्नपूर्णा भी थी। इस अवसर पर मैं उनकी मधुर स्मृति को आदरपूर्वक प्रणाम करती हूँ।

१९३८ के मध्य में मेरे पिता ने मुझे पढ़ने विलायत भेज दिया। विवाह हुआ, देश आजाद हुआ, दिल्ली आना हुआ। सुना चन्द्रावती जी संसद्-सदस्या चुनी गयी हैं और सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं। यह असहयोग-आन्दोलन में उनके कार्य का पुरस्कार था। जो एक कृतज्ञ जनता ने उन्हें दिया था। इसके बाद मैं बहुत दिनों तक विदेशों मे रही। १९७० में जब अन्ततोगत्वा लौटकर दिल्ली में रहने लगी तो ग्रेटर कैलाश स्थित आर्यसमाज ने मुझे भाषण देने बुलाया। स्मरण नही आ रहा विषय क्या था। भाषण समाप्त होने पर एक सौम्य भव्य मूर्ति श्रोताओं के बीच से उठकर मेरे निकट आयी और कहा, "आप देहरादून में तो नहीं थी? कमला रत्नम्!" इतने दिनों बाद परिचित स्वर सुनकर मुझे अपार आह्लाद हुआ। मैंने सोचा भी नहीं था कि श्रद्धेय सत्यव्रत जी से अचानक इस प्रकार भेंट होगी और ४०-४५ वर्षों बाद वे मुझे पहचान लेंगे। मैं समझती हूँ उनका यह अप्रत्याशित स्नेह और आदर मुझे श्रद्धेया चन्द्रावती जी के प्यार और आशीर्वाद से ही प्राप्त

हुआ है।

आज सत्यव्रत जी की आयु ९० के निकट पहुँच रही है। पतिदेव ने जब ७० वर्ष की आयु पूरी की तब सत्यव्रत जी की बत्तीसवीं रचना महर्षि दयानन्द-शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित हुई थी 'बुढ़ापे से जवानी की ओर', अंग्रेजी भाषा में। इसे खरीद कर मैंने पतिदेव को उपहार में दिया था, यह कहते हुए कि प्रथम दृष्टि के समय आपकी जो आयु थी, मेरी दृष्टि में आज भी आपकी आयु वही है और जीवन-भर वही रहेगी। वह सन् १९८३ था, इस बात का द्योतक कि महर्षि दयानन्द के आन्दोलन और शिक्षाओं के प्रभाव से यह बूढ़ा भारत फिर से युवा होकर आजादी की साँस लेने लगा था। कालिदास के शब्दों में—

पंचानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः।
नवे तस्मिन् महीपाले सर्वं नवमिवाभवत्॥

यह पुस्तक बहुत लोकप्रिय हुई और आज चार वर्ष बाद भी बाजार में इसकी टक्कर की दूसरी पुस्तक न पाकर, भारत सरकार ने वितरण के लिए इसी २५० प्रतियाँ खरीदी हैं। इस पुस्तक में आचार्य सत्यव्रत ने वेदों की प्रतिज्ञा 'जीवेम शरदः शतम्'—वह भी सभी इन्द्रियों को स्वस्थ और सक्रिय रखते हुए—को केन्द्र में रखकर संसार के सभी श्रेष्ठ चिन्तकों के विचारों का मन्थन प्रस्तुत किया है। पंच महाभूतों से निर्मित यह शरीर बूढ़ा हो सकता है, परन्तु इससे काम लेने वाला, इसका रख-रखाव करने वाला यह मन और आत्मा कभी बूढ़ा नहीं होता। पुस्तक में अनेक उदाहरण देकर स्वस्थ और सात्विक जीवन के उपाय बताये गये हैं। नियमित एवं संयमित जीवनचर्या, व्यायाम, प्राणायाम, उचित आहार, मन्त्रजाप तथा आवश्यक औषधियों का चित्रों सहित यह वर्णन रोचक भी है और विज्ञानसम्मत भी। इस पुस्तक को पढ़ते समय मुझे वेद-भक्त महर्षि सातवलेकर का स्मरण हो आया। जिन्होंने वेद-विहित दिनचर्या का पालन करके आयु के १०१ वर्ष स्वस्थ-सानन्द और सक्रिय बिताए थे। वेदों पर जितना श्रम और कार्य सातवलेकर ने आयु के अन्तिम क्षण तक किया, उतना शायद ही किसी आधुनिक अध्येता ने किया होगा। सत्यव्रत जी ने लिखा है कि शरीर के प्रमुख अंग पेट की 'न्योली-क्रिया' उन्होंने १८-१९ वर्ष की आयु में श्री सातवलेकर से सीखी जब वे हैदराबाद से भाग कर कुछ समय के लिए गुरुकुल में ठहरे थे। वेदों के सम्पर्क से सातवलेकर की देश-प्रेम की भावना प्रबल रूप से प्रज्वलित हो रही थी। संवेदनशील चित्रकार होने के कारण वैदिक कालीन सतयुगी भारत का चित्र उनकी आँखों के सामने स्पष्ट हो गया था और वे उसे फिर से वैसा ही देखना चाहते थे। 'वैदिक राष्ट्र-गीत' शीर्षक से सातवलेकर ने एक पुस्तक लिखी थी जिसे ब्रिटिश सरकार जब्त कर चुकी थी। गुरुकुल में आकर और महात्मा मुंशीराम तथा ब्रह्मचारियों के संसर्ग से उनकी यह भावना और भी तीव्र हो गयी और उन्होंने वैदिक मन्त्रों की शक्तिमत्ता और ओजस्विता के गीत लिखने शुरू किये। ब्रिटिश सरकार को जब इसका पता चला तो उसने सातवलेकर को गिरफ्तार करने की योजना बनाई। सैकड़ों सशस्त्र और घुड़सवार पुलिस ने गुरुकुल परिसर को घेर लिया। ब्रह्मचारियों का जब पता चला कि उनके प्रिय गुरु को पकड़ने पुलिस आयी है तो वे घेरा बनाकर खड़े हो गये। उन्हीं में युवा सत्यव्रत भी थे। और यह घेरा तब तक नहीं टूटा जब तक सातवलेकर ने स्वयं विद्यार्थियों से हट जाने को नहीं कहा। इस घटना के बारे में सत्यव्रत बताते हैं, "पुलिस ने सातवलेकर को पकड़कर हथकड़ियाँ पहना दी थीं और उन्हें हरिद्वार के पास चण्डी पर्वत तक ले गयी थी। परन्तु सातवलेकर ने कुछ देर हथकड़ी खुलवाने का उपाय भी खोज लिया। जो एस० पी० उन्हें गिरफ्तार करने आया था उससे उन्होंने कहा, "क्षण-भर को हथकड़ी खोलो तो मैं एक काम करना चाहता हूँ।" कौतूहलवश एस० पी० ने हथकड़ी हटा दी। उतनी देर में सातवलेकर ने एस० पी० का चित्र बनाकर उसे चमत्कृत कर दिया। उसके बाद कुछ समय तक सातवलेकर हथकड़ी से मुक्त रहे।"

एक बार मैंने सत्यव्रत जी से पूछा, "आपकी शिक्षा तो गुरुकुल में हुई है फिर आप इतनी श्रेष्ठ धारा-

प्रवाह अंगरेजी कहाँ से सीखे ?" उत्तर में उन्होंने यह विवरण दिया, "मेरे माता-पिता ने मुझे ६-७ वर्ष की आयु में गुरुकुल भेज दिया था। १४ वर्ष तक पढ़कर सर्वोच्च उपाधि 'सिद्धान्तालंकार' प्राप्त की। फिर कालान्तर में वहाँ प्रोफेसर, रजिस्ट्रार, कुलपति और वर्षों तक विजिटर रहा। पाठ्यक्रम में सभी विषय थे। फ्रिमन्ट की 'थीइज्म' (ईश्वरवाद या ईश्वर का अस्तित्व)तथा अन्य पुस्तकें और शेक्सपियर की अनेक रचनाएँ थीं।" आश्चर्य है कि आज से पचास वर्ष पहले अपनी प्रारम्भिक उत्तेजना में गुरुकुल-प्रणाली का पाठ्यक्रम कितना सशक्त और विस्तृत था और कैसे कर्मठ विद्वान उसमें से तपकर निकलते थे। आचार्य सत्यव्रत, वेदमूर्ति सातवलेकर और आचार्य प्रियव्रत कतिपय ऐसे नाम हैं जिनकी तुलना आज के किसी विद्वान से नहीं हो सकती।

हाल ही में हुई एक बातचीत में सत्यव्रत जी से निम्न जानकारी प्राप्त हुई—

—सत्यव्रत जी, आज आपसे कुछ प्रश्न करना चाहती हूँ। क्या आपकी अनुमति है ?

—पूछिये, पूछिये, मेरे पास समय है और मैं उत्तर दूंगा।

—आजकल आपका स्वास्थ्य कैसा है ?

—स्वास्थ्य ठीक है, केवल यह शरीर बूढा होता जा रहा है।

—वह तो प्रकृति का नियम है। मन से तो आप हम सब से युवा हैं। आपके परिवार मे कितने व्यक्ति हैं ?

—मैं, बेटा विजय, उषा और उसके तीन वच्चे।

—तो क्या विजय अकेला है ? भाई-बहिन कोई नही ?

—नहीं कोई नही। वह अकेला बेटा है।

—स्वेच्छया या ईश्वर-इच्छा ?

—कुछ ऐसा ही समझ लो ! (खिलखिलाकर हँसते हैं)

—गुरुकुल से निवृत्त होकर आपने क्या किया ?

—गुरुकुल से अवकाश-प्राप्ति के बाद मैं बम्बई चला गया। वहाँ मेरे भाई थे। उस समय चन्द्रावती जी को कन्या गुरुकुल देहरादून ने वहाँ का प्रबन्ध ठीक करने के लिए विशेष आग्रह करके बुला लिया और मुझे राज्यसभा का सदस्य चुन लिया गया।

—राज्यसभा में आप कितने दिन रहे ?

—चार वर्ष।

—क्या आप लोगों को आजादी की लड़ाई मे जेल जाने का भी अनुभव हुआ ?

—हाँ, हम दोनों को एक-एक साल की जेल हुई थी।

—आजकल आप क्या कर रहे हैं ?

—परिवार के साथ चतुर्थ आश्रम का समय व्यतीत कर रहा हूँ। इसके अतिरिक्त मैं होमियोपैथी-चिकित्सक भी हूँ। मेरे पास रोगी आते रहते हैं।

—हाँ, मैंने आपकी पुस्तक 'बुढ़ापे से जवानी की ओर' पढ़ी है। आपकी बताई होमियोपैथिक दवाएँ वास्तव मे प्रभावशाली हैं। पौत्र-पौत्रियों के बीच समय कैसा बीत रहा है ?

—अच्छा लगता है उनके बीच बैठकर। दादा से वे भी स्नेह करते हैं। परन्तु उनका 'दूरदर्शन' देखना मुझे अच्छा नहीं लगता। बहुत शोर मचता है, अंग्रेजी की भरमार रहती है। और इंजीनियर पोता जब मैच देखता है तो अत्यन्त उलझन महसूस करता हूँ।

—सत्यव्रत जी, मैं तो 'दूरदर्शन' नहीं देखती। मेरे चिन्तन में वह विघ्न डालता है। क्या आप देखते हैं ?

—(हँसकर) हाँ, बच्चों के साथ मैं भी बैठ जाता हूँ। परन्तु मुझे रास नहीं आता।

—इसका उपाय क्या है ?

—कोई उपाय नहीं है। उपाय तब हो सकता है जब सारा वातावरण ही बदला जाय, जो कि आज-कल सम्भव नहीं। मुझे तो अपने पोते-पोती को अंग्रेजी बोलते देखकर आश्चर्य होता है।

—क्या आपने उन्हें संस्कृत नहीं सिखाई ?

—सिखाई कैसे नहीं ! मैंने परिवार के प्रत्येक सदस्य को संस्कृत सिखाई। परन्तु बाहरी वातावरण के कारण वे उसका प्रयोग नहीं करते। संस्कृत प्राप्त कर उसके वरदानों से वे वंचित रह गये।

—(मैं विषय को बदलने का प्रयत्न करती हूँ) सत्यव्रत जी, क्या आप विदेश गये हैं ?

—हाँ, योरोप के सभी देश देख चुका हूँ, अफ्रीका भी हो आया हूँ। लन्दन में 'हरे कृष्ण' वालों से मैंने कहा, मैं आपके मन्दिर में गीता पर प्रवचन देना चाहता हूँ, इससे आपका लाभ होगा। परन्तु उन्होंने कहा, इसके लिए ऊपर से अनुमति लेनी पड़ेगी। और मैं प्रवचन न दे सका।

—हाल की कोई यात्रा ?

—कुछ वर्ष पूर्व हालैण्ड गया था। वहाँ भारतीयों की सात्विकता और भारत प्रेम से मैं बहुत प्रभावित हुआ था। लौटकर मैंने उस सम्बन्ध में कई लेख लिखे।

—हाँ, 'आर्य-जगत्' में मैंने उन्हें पढ़ा था। अब एक अन्तिम प्रश्न। आपकी दृष्टि में क्या गुरुकुल-प्रणाली की शिक्षा सफल हुई है ?

—नहीं, सफल नहीं हुई। मैंने गुरुकुल के लिए जीवन-भर कार्य किया। उन दिनों श्रीमाली जी से मिलकर उसे विश्वविद्यालय का दर्जा दिलाया। जिन आदर्शों को लेकर गुरुकुल की स्थापना हुई थी वे त्रिकाल सत्य थे। भारत के उद्धार के लिए वही एक रास्ता था जो वेदों ने बताया था।

—तो फिर सफलता क्यों नहीं मिली ?

—हमारा विचार था कि गुरुकुल में विश्वविद्यालय स्तर पर वही विद्यार्थी जायें जो गुरुकुल स्कूल के स्नातक हों। परन्तु यह हुआ नहीं, सब जगह से विद्यार्थी आने लगे, गुरुकुल पद्धति से पढ़े ८-१० बालक ही थे। असफलता का यही मुख्य कारण है।

—मैं समझती हूँ गुरुकुल में आपसी मतभेद, पार्टीबाजी, सत्ता झपटने की प्रवृत्ति प्रवेश कर गयी, इसीलिए सफलता नहीं मिली। यह दुष्ट प्रवृत्ति हमारी बहुत-सी असफलताओं के मूल में है। हम वेदों के उस वचन का अनुसरण नहीं करते जिसमें कहा गया था—

> सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
> देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
> समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः।
> समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

—सत्यव्रत जी, मैंने आपका बहुत समय लिया। इसके लिए आपका धन्यवाद करते हुए मैं कहना चाहती हूँ कि आपके जीवन, आपके अध्यवसाय और इस समय भी आपके शिशुवत् खिले हुए चेहरे को देखकर हमारे नवयुवक अपार प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। आपकी लिखी पुस्तकें तो हमारी अमूल्य धरोहर हैं ही।

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली से कैसे युवक तैयार किये जाने की कल्पना थी और इस शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक में ब्रिटिश सरकार वहाँ के स्नातकों से कैसा थरथराती थी, इसका थोड़ा-सा उल्लेख मैं इस लेख के अन्त में करना चाहती हूँ। संभव है कि इस एक चिनगारी से ही किसी का पथ आलोकित हो सके। गुरुकुल के सम्बन्ध में एक गुप्त सरकारी रिपोर्ट में कहा गया है, "आर्यसमाज के संगठन में जो अभी घटना-विकास

हुआ है वह सरकार के लिए बहुत बड़े संकट का स्रोत है। वह विकास है—गुरुकुल शिक्षा प्रणाली। निष्ठा और बलिदान की उच्च भावना से प्रेरित जोशीले व्यक्तियों का दल तैयार करने का यह सबसे सुगम साधन है। क्योंकि यहाँ सात-आठ बरस की उम्र में ही बालको को माता-पिता के प्रभाव से बिलकुल दूर रखकर त्याग-तपस्या के वायुमण्डल में उनके जीवन को कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार ढाला जाता है जिससे उनकी रग-रग में आत्मोत्सर्ग की भावना घर कर जाती है। इस पद्धति से तैयार युवक सरकार के लिए अत्यन्त भयानक सिद्ध होंगे। इससे उनको अनायास ऐसे अनगिनत साथी मिल जायेंगे जो उनके मार्ग पर उनसे भी अधिक उत्साह से चलने को तैयार होंगे। उनका उद्देश्य एक ऐसे राष्ट्र-धर्म की स्थापना करना होगा जिससे समस्त भारतवासी भ्रातृभाव की शृंखला मे बँध जायेंगे।" (सातवलेकर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २९-३०) इस टिप्पणी से हम सहज ही समझ सकते हैं कि १८३६ में मैकाले ने भारतीय पाठशाला-पद्धति को समाप्त कर क्यों अंग्रेजी शिक्षा अनिवार्य की और उसका दुष्परिणाम शताब्दियों तक हमे भोगने को अभिशप्त कर दिया। यह मैकाले निर्मित मस्तिष्क ही है जो आज तथाकथित नयी शिक्षा नीति मे संस्कृत को कोई स्थान नही दे रहा ! जबकि अंग्रेजी अनिवार्य विषय है !!

गुरुकुल शिक्षा-पद्धति ने वेदो का अनुसरण कर इस अभागे पराधीन भारतवर्ष को पुनः सतयुग में ले जाने का प्रयास किया था। परन्तु यह अभागा देश आज न केवल वेदों को नकार रहा है, उस संस्था और शिक्षा पद्धति को भी दूषित कर रहा है जिसने इस घोर कलियुग मे भी एक बार स्वर्णयुग का स्वप्न देखा। सच है—

'आत्महन्तारं न कोऽपि रक्षितुं शक्नोति'

इति शम् ॥

समाजदर्शन के आर्षतत्वज्ञ

डॉ० प्रभात शास्त्री

प्रधान मन्त्री हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद

आधुनिकता और भारतीयता के अन्त:सम्बन्धों की खोज बीसवी शताब्दी की महती आवश्यकता थी। पश्चिमी सम्पर्क के कारण पराभूत मानस विदेशी सभ्यता को वरीयता देने लगा था। एक दिग्भ्रम और हताशा समाज में व्याप्त थी। अंग्रेजी शासन की सुदृढ़ स्थापना के बीच भी समाज मे जहाँ आधुनिकता के लिए तड़प थी, वहाँ भारतीय पुनरोदय अथवा सांस्कृतिक पुनरुत्थान का प्रबल आग्रह भी था। पुनरोदय की कल्पना का क्या स्वरूप हो? इस प्रश्न पर अनेक मताग्रह थे। राजा राममोहन राय ने पश्चिम से प्रभाव ग्रहण करते हुए भारतीय समाज निर्माण के लिए ब्रह्मसमाज की स्थापना की थी। इसी प्रकार स्वामी रामकृष्ण परमहंस की अभिप्रेरणा से वेदान्त के सहारे परिवर्तन का उद्घोष करने का एक सांगोपांग दर्शन स्वामी विवेकानन्द ने दिया था। यही वह कालखण्ड है जिस समय अज्ञान, कुरीति और अंधविश्वास से आच्छन्न वैदिक धारा के उत्स से धर्म और समाज-दर्शन के पुनरोदय का प्रयास स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थप्रकाश' के माध्यम से किया। वैदिक तर्क-संधान द्वारा भारतीय समाज में फैली तमिस्रा की परिसमाप्ति के लिए उन्होंने वैदिक तत्त्वज्ञान को परिभाषित किया। वे ऐसे समाज के निर्माण के प्रति संकल्पबद्ध थे जो वेदविहित यज्ञ-भाव पर आधारित हो और किसी मूल वैदिक समाज व्यवस्था में आए विकारो का शमन हो।

जीवन के कर्म यज्ञ-भाव पर आधृत हों और बुद्धि-विवेक एवं तर्कसंगत अधिष्ठान पर अधिष्ठित भारतीय तत्त्वज्ञान द्वारा देशोन्नयन एवं सामाजिक निर्माण का क्रम हो। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश मे जिन व्यवस्थाओं को शास्त्रीय मान्यता प्रदान की थी उनकी विस्तृत विवेचना की अपेक्षा थी। ऐसी विवेचनाओ में जिन प्राज्ञ पुरुषों ने अपनी मेधा का प्रयोग किया उनमे सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का प्रमुख स्थान है। आपने 'वैदिक संस्कृति का वैज्ञानिक आधार' जैसे ग्रन्थ का प्रणयन करके आर्ष तत्त्वज्ञान की साम्प्रतिक संगति का संधान किया है। वैदिक परम्परा की आज प्रासंगिकता उसमें निहित वैज्ञानिक सत्य का व्याख्यान करने से ही हो सकती है। वैदिक ज्ञान गुह्य एवं जटिल माना जाता है। वैदिकमंत्रों के अर्थ और संकेत समझने के अनेक प्रयत्न हुए हैं। डा० सत्यव्रत जी ने एक ओर धर्म के लिए वैज्ञानिक आधार खोजने का दुष्कर कार्य किया और दूसरी ओर औपनिषदिक ज्ञान को बोधगम्य बनाने की दृष्टि से ग्यारह उपनिषदो का अनुवाद भी किया है। वे एक ओर आर्य संस्कृति एवं वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्वों पर गहन विचार व्यक्त करते हैं तो दूसरी ओर समाज-कल्याण तथा सुरक्षा के आयामों का उद्घाटन भी करते हैं।

श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार यद्यपि प्रतिबद्ध वैदिक धारा के विद्वान् हैं किन्तु इनकी दृष्टि व्यापक रही है। आपने सामाजिक विचारों के इतिहास में लोकवार्ता वैदिक सामाजिक चिन्तन से प्रारम्भ करके, जैन, बौद्ध, मनु, चाणक्य के समाज दर्शन के बाद ईजिप्ट, बेबीलोन, पर्शिया, चीन, जापान, यूनानी, रोमन आदि की समाज व्यवस्थाओं के साथ मध्यकालीन यूरोपीय समाज रचना और उसको प्रभावित करने वाले विचारको और प्रभावों का परिशीलन किया है। आपने आगस्ट कॉम्टे, कार्ल मार्क्स, हर्बर्ट स्पेंसर, गुम्प्लोविक्स, लेस्टर,

वार्ड, इमाइल, मैक्स वेबर, पैरेटो, बेबलन, कूले, हॉब हाउस, हेनरी गिडिंग्स, फर्डिनेंड टोनीज, सोरोकिन, तोयनबी, पारसन्स आदि विदेशी विद्वानों के विचार एवं सामाजिक दर्शन को अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है। इनके साथ ही स्वामी दयानन्द, महात्मा गाधी और आचार्य विनोबा के सामाजिक विचार-दर्शन के विचार-अधिष्ठान का विवेचन भी आपने किया है। आज के प्रबुद्ध पाठक के लिए यह एक अनिवार्यता है कि वह देश-विदेश के विचार-दर्शन को जाने-समझे।

इसी प्रकार अनेक सामाजिक एवं तात्विक विषयों के प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रणयन में सत्यव्रत जी साधना-रत रहे हैं। जब उनके ग्रन्थ 'समाजशास्त्र के मूलतत्त्व' का प्रकाशन हुआ तो हिन्दी जगत् का ध्यान सत्यव्रत जी की ओर आकृष्ट हुआ और यह सुयोग ही है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन को भी आपके कृतित्व के सम्मान का सुअवसर प्राप्त हुआ और उस समय का सर्वोच्च पुरस्कार 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' संवत् २०११ में आपको प्रदान किया गया।

अपनी दीर्घकालीन साहित्य-सेवा द्वारा सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने अनेक ग्रंथ साहित्य के प्रबुद्ध चिन्तकों के लिए प्रस्तुत किये हैं। इनके ग्रंथ पूर्व एवं पश्चिमी दर्शन के प्रेक्षकों के लिए वात्स्यायन सदृश हैं।

एकादशोपनिषद्, गीता-भाष्य, वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व, हेरिटेज आफ वैदिक कल्चर, वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार ग्रन्थ आपके गहन तत्त्व-चिन्तन का मानक प्रस्तुत करते हैं। प्राच्य और और पाश्चात्य जीवन-दर्शनों की समग्र प्रस्तुति द्वारा भारतीय समाज क्रान्ति को आगे बढ़ाने का आधार प्रस्तुत किया है। ऐसे विचारों की संगति और प्रासंगिकता निरन्तर रहेगी। विश्वास है ज्ञानप्रसू विचार-दर्शन के प्रस्तोता सत्यव्रत सिद्धान्तालकार के ज्ञान, शिक्षा, संस्कृति और वाङ्मय की अभ्यर्थना हिन्दी जगत् सदैव करता रहेगा। हम उनके अभिनन्दनीय व्यक्तित्व के प्रति हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से हार्दिक मंगलकामना करते हैं कि वे चिरजीवी रहकर परम्परा और प्रगति के सम्यक परीक्षण का कार्य करते रहें।

वैदिक संस्कृति के अभिनव व्याख्याता

डॉ० उपेन्द्र ठाकुर

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय एवं एशियाई अध्ययन विभाग

मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार प्रणीत 'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व' नामक ग्रन्थ का मैंने आद्योपान्त अवलोकन किया। ग्रन्थ में भारतीय दृष्टि से वैदिक सांस्कृतिक परम्परा का मौलिक विवेचन है। सत्यव्रत जी ने वैदिक संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों का सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत करते हुए प्रस्तुत कृति में कर्म-सिद्धान्त, वर्णाश्रम व्यवस्था एवं हिन्दू संस्कारों के सांस्कृतिक महत्त्व का विवेचन तो किया ही है, साथ ही वैदिक परम्परा में भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद के समन्वय की ओर भी विद्वज्जनों का ध्यान आकृष्ट किया है। आधुनिक विश्व पूंजीवाद एवं साम्यवाद की परस्पर विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष में उलझा हुआ है। लेखक के अनुसार पूंजीवादी एवं साम्यवादी विचारधाराएँ केवल जीवन के भौतिक पक्ष का ही प्रतिनिधित्व करती हैं; इनकी यात्रा शरीर एवं प्रकृति तक ही सीमित है जबकि वैदिक परम्परा प्रकृति की ओट में छिपे परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है। भौतिकवाद एवं आध्यात्मवाद की परम्पराओं का सामजस्य पुरुषार्थों एवं चतुराश्रम व्यवस्था के माध्यम से सिद्ध करने का महत्त्वपूर्ण प्रचार वैदिक ऋषियों ने किया, जिसका प्रभावपूर्ण विवेचन विद्वान लेखक ने किया है। ग्रन्थ मूलतः ऐतिहासिक होते हुए भी वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में मानव समस्याओं का समाधान वैदिक संस्कृति के आदर्शों द्वारा प्रस्तुत करता है। लेखक ने अपने विचारों को, जो सर्वथा मौलिक हैं, प्रामाणिक साक्ष्यों से सम्वलित कर सतर्क एवं साधिकार प्रस्तुत किया है। तथ्यों का प्रस्तुतीकरण अत्यन्त प्रभावपूर्ण है। आशा है, ग्रन्थ विद्वज्जनों द्वारा समादृत होगा।

वैदिक संस्कृति के वैज्ञानिक भाष्यकार

क्षितीश वेदालंकार

'आर्यजगत' के यशस्वी संपादक तथा प्रसिद्ध लेखक एवं व्याख्याता

प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तों पर लिखने वाले उन मूर्धन्य विद्वानों में से हैं, जिनकी लेखनी से जो भी ग्रन्थ निकला वह उच्च कोटि का ही नही अपितु चिरस्थायी है। वैदिक सिद्धांतो पर सरल तथा परिमार्जित भाषा मे प्रकाश डालने की उनकी योग्यता एवं इस दिशा मे उनके पारदर्शी पांडित्य को स्वीकार करने के कारण राष्ट्रपति ने उन्हें देश के उन मूर्धन्य वैदिक विद्वानो की श्रेणी मे गिना है जिन्हे प्रतिवर्ष ५००० रुपया भारत सरकार द्वारा आजीवन दक्षिणा के रूप मे भेंट किया जाता है। भारतीय विद्यापीठ ने उनके ग्रन्थ 'वैदिक संस्कृति का वैज्ञानिक आधार' पर उन्हे दस हजार रुपया भेंट कर सम्मानित किया था। उनके 'उपनिषद् भाष्य', 'उपनिषद् प्रकाश', 'गीता भाष्य' तथा 'संस्कार-चन्द्रिका' आदि ग्रन्थ वैदिक साहित्य के क्षेत्र मे अपनी उत्कृष्टता के कारण स्थायी स्थान बना चुके हैं।

ऋषि दयानन्द की निर्वाण शताब्दी के अवसर पर उनके कुछ अन्य ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे जिनमे मुख्य दो ग्रन्थ हैं—'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व' तथा 'From Old age to Youth through Yoga'। इसमे से दूसरा ग्रन्थ अंग्रेजी मे है।

पहला ग्रन्थ इस अवसर पर दोबारा प्रकाशित हुआ था। यह अपने विषय का अपूर्व ग्रन्थ है। इसमे मुख्य-मुख्य वैदिक सिद्धान्तो पर योग तथा दार्शनिक दृष्टि से, सरल तथा सुगम भाषा मे विवेचन किया गया है। जिन विषयों पर प्रकाश डाला गया है, वे हैं—वैदिक संस्कृति का केन्द्रीय विचार, विचारो के संघर्ष मे वैदिक संस्कृति का दृष्टिकोण, निष्काम कर्म, कर्म का सिद्धान्त, आत्मतत्व, आत्मतत्व तथा अहंकार, विश्व-बन्धुत्व का आधार, जीवन-यात्रा के चार पड़ाव, संस्कारों द्वारा नव-मानव का निर्माण, वर्णव्यवस्था का आध्यात्मिक आधार, आर्थिक समस्या के प्रति वैदिक संस्कृति का दृष्टिकोण, भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद, उपसंहार। इन पन्द्रह अध्यायों मे वैदिक संस्कृति के विचारों का निचोड़ आ जाता है।

'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' पर लिखते हुए लेखक का कथन है कि 'सभ्यता' तथा संस्कृति में आधारभूत भेद है। 'सभ्यता' शरीर है, 'संस्कृति' आत्मा है; 'सभ्यता' बाहर की वस्तु है, 'सस्कृति' भीतर की वस्तु है, 'सभ्यता' भौतिक विकास का नाम है, 'संस्कृति' आध्यात्मिक विकास का नाम है। रेल, तार, मोटर, हवाई जहाज—ये सब सभ्यता के विकास के निर्देशक हैं। सचाई, झूठ, ईमानदारी, बेईमानी, सन्तोष, असंतोष, संयम, संयमहीनता—ये सब संस्कृति से सम्बद्ध हैं। एक व्यक्ति पैसे वाला है, बड़े भारी मकान में रहता है। दो-चार मोटरें हैं, पाँच-दस नौकर हैं। घर मे रेडियो, टेलीफोन, वीडियो है, परन्तु पहले दर्जे का झूठा, बेईमान, दुराचारी, शराबी है। उसे सभ्य तो कहा जा सकता है, सुसस्कृत नहीं। दूसरे शब्दो मे उसके पास आजकल की तथाकथित सभ्यता तो है, संस्कृति नही। सभ्यता ऊपरी वस्तु है, दिखाने की, भीतरी वस्तु तो 'संस्कृति' ही है। विश्वामित्र ऋषि एक जंगल में पर्णकुटी में रहते थे ! वशिष्ठ ऋषि कोट-पतलून न पहनकर वल्कल धारण करते थे। परन्तु यह सब लोग संस्कृति की दृष्टि से उन लोगों से बहुत उच्च थे, जो दुनियावी सब

सामान होते हुए भी भीतर से खोखले होते हैं।

प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की लेखन-शैली इतनी मँजी हुई है कि वे हर बात को शीशे की तरह सामने रख देते हैं। यह बात उनकी हर पुस्तक में देखने को मिलती है। वे गूढ़-से-गूढ़ विषयों को भी सरल शब्दों में रखना जानते हैं। वर्तमान पुस्तक की भी यह विशेषता है कि आश्रम-व्यवस्था, संस्कार, वर्णव्यवस्था आदि अनेक उलझन भरे विवादग्रस्त विषयों को भी ऐसा स्पष्ट करके रख दिया गया है कि सुधी पाठक को शंका की गुंजाइश ही नहीं रहती। प्रायः लोग कहा करते हैं कि आर्यसमाज में उच्चकोटि का साहित्य नहीं है। ऐसे शंकाशील व्यक्तियों को हमारी सलाह है कि वे लोग प्रो० सत्यव्रत जी की पुस्तकें पढ़ें। वैदिक संस्कृति के सम्बन्ध में उनके जो भी संदेह होंगे, उनकी पुस्तकों को पढ़ने के बाद वे सब मिटते दिखाई देंगे।

'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व' पुस्तक के उपसंहार में लिखे गये शब्द बड़े मार्मिक हैं—"वैदिक संस्कृति के जिन मूल तत्त्वों का इस पुस्तक में विवेचन किया गया है वे एक हजार साल से, फिर से पनपने की, प्राणवान् होने की बाट जोह रहे हैं। इस अरसे में भारत में कई सस्कृतियाँ आईं और पीछे को लौट गईं, परन्तु भारत की वैदिक संस्कृति वैसी की वैसी अपने पुनर्जीवन की प्रतीक्षा में है। आज उस संस्कृति को फिर से ऊँचा उठाने का, हमारे जीवन को चारों तरफ से पकड़कर एक सही साँचे में ढाल देने का समय आया है। इस समय हम भौतिकवाद की चकाचौंध में जीवन के आधारभूत इन तत्त्वों को भूल जायेंगे या साहस बटोरकर इन आदर्शों को अपने दिन-दिन के चलन में उतारने का यत्न करेंगे? आज के भारत का मानव एक चौराहे पर खड़ा है। आगे-पीछे, दायें-बायें कई रास्ते फूट रहे हैं। ऐ स्वतन्त्र भारत के मानव! तेरे देश की, सदियों से अपने उचित समय की प्रतीक्षा में बैठी हुई वैदिक संस्कृति तुझसे पूछ रही है—तू किधर जायेगा?"

यह पुस्तक आर्यसमाजों के, स्कूल-कालेजों के तथा अन्य संस्थाओं के पुस्तकालयों में रहनी चाहिए जिससे जनता को वैदिक संस्कृति के यथार्थ स्वरूप को जानने का अवसर मिले। आर्यसामाजिक साहित्य की दृष्टि से इस पुस्तक को हीरा समझना चाहिए। जो एक बार इस पुस्तक को पढ़ जायेगा वह अपने को धन्य समझेगा। लाहौर के प्रसिद्ध डा० दीवान जयचन्द जब पाकिस्तान बनने के बाद इधर आ बसे और इस पुस्तक को पढ़ा, तो वे कह उठे कि अगर यह पुस्तक पहले उनके हाथ पड़ जाती तो उनके जीवन की दिशा ही बदल जाती। चहुँ ओर की इस महँगाई के युग में इससे सस्तापन सम्भव भी नहीं।

शत्-शत् प्रणाम है—उसे बूढ़े जवान को

श्री वीरेन्द्र

प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब

आदरणीय पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार ने 'बुढ़ापे से जवानी की ओर' शीर्षक से एक पुस्तक लिखी है। पुस्तकें तो पंडित जी ने कई लिखी हैं। समाज-शास्त्र, धर्म-शास्त्र व वैदिक संस्कृति आदि के अतिरिक्त गीता व उपनिषदों का भी आपने भाष्य किया है। यदि मेरा अनुमान निराधार नहीं तो गुरुकुल काँगड़ी विश्व-विद्यालय के किसी दूसरे स्नातक ने इतना साहित्य नहीं लिखा, जितना पं० सत्यव्रत जी ने। हम यह भी कह सकते हैं कि आर्यजगत को पण्डित जी के इस उपलब्धि पर गर्व है। अमर बलिदानी श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्दजी ने जिस उद्देश्य को सामने रखकर गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की थी, श्री पं० सत्यव्रत जी ने उस लक्ष्य को सार्थक बनाने का प्रयास किया है।

पण्डित जी की पुस्तक 'बुढ़ापे से जवानी की ओर' के शीर्षक से उनके जीवन-दर्शन व सिद्धान्त का कुछ पता चल जाता है। बुढ़ापा मानव जीवन का अन्तिम पड़ाव होता है। जब एक व्यक्ति बूढ़ा हो जाता है, तो वह समझने लगता है कि अब उसकी जीवन-यात्रा समाप्त होने वाली है। ऐसे समय में भी यदि वह जवानी को याद करके उसकी ओर जाने का स्वप्न लेने लगे तो वह कितना आशावादी और दृढ़संकल्प हो सकता है, इसका कुछ अनुमान इससे लगा सकते हैं। उर्दू के विख्यात कवि डॉ० मुहम्मद इकबाल ने एक बार अपने अतीत को याद करते हुए कहा था—

दौड़ पीछे की तरफ अय गर्दिशे अय्याम तू

वह संसार-चक्र से कहता है कि एक बार फिर वापस चलो ताकि हम अपने अतीत को देख सकें।

और एक दूसरे उर्दू कवि ने कहा था—

उन्हें सोज़ देना मुझे साज़ देना,
ज़रा उम्रे रफ़ता को आवाज़ देना

एक बूढ़ा कहता है कि मेरे हाथ में वीणा दे दो और दूसरी तरफ उनकी आवाज में सोज दे दो, लचक दे दो और साथ ही मेरी जो आयु चली गई है, उसे वापस बुला लो। वह भी बुढ़ापे में जवानी का स्वप्न ले रहा था। इसलिए कहता है कि मेरी जो उम्र चली गई है, उसे आवाज दो कि वापस आ जाये।

जो व्यक्ति इतने आशावादी और आदर्शवादी होते हैं और जिनके सामने कोई लक्ष्य होता है, वही बुढ़ापे से जवानी की बात कर सकते हैं। जब वे देखते हैं कि जिस उद्देश्य के लिए वे जीवन-भर संघर्ष करते रहे हैं, वह पूरा नहीं हुआ तो वह बुढ़ापे से जवानी की ओर देखने लगते हैं, ताकि उनका जो काम अधूरा रह गया है, किसी तरह उसे पूरा कर सकें।

श्री पं० सत्यव्रत जी का जीवन भी संघर्षमय रहा है। उनके सामने सब से बड़ा लक्ष्य था उस उद्देश्य

को पूरा करना, जिसके लिए उन्होंने गुरुकुल में दीक्षा ली थी। इसके दो रूप थे, वैदिक विचारधारा का प्रचार व प्रसार और गुरुकुल को एक सार्थक रूप देना। जिससे गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को ऐसी मान्यता मिले कि यह देश-विदेश के शिक्षा जगत में प्रामाणिक व लाभदायक शिक्षाप्रणाली स्वीकार की जाये।

जहाँ तक वैदिक विचारधारा के प्रचार व प्रसार का सम्बन्ध है, यह लक्ष्य पण्डित जी ने अपने लिखित साहित्य द्वारा प्राप्त करने का प्रयास किया है : 'वैदिक संस्कृति के मूल सिद्धान्त', 'संस्कार-चन्द्रिका', 'एकादशोपनिषद्', 'श्रीमद्भगवतगीता'। उन्होंने इस दिशा में जो प्रयास किया, उनके देशवासियों ने उसे स्वीकार करते हुए पण्डित जी का आदर और सम्मान किया। उन्हें दो बार मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया गया। राष्ट्रपति ने उन्हें राज्यसभा का सदस्य मनोनीत करके सम्मानित किया और दूसरी बार फिर राष्ट्रपति ने उन्हें संस्कृत की योग्यता के लिए पारितोषिक भी दिया और सम्मानित भी किया। गीता पर उन्होंने जो पुस्तक लिखी थी उसकी भूमिका हमारे भूतपूर्व प्रधानमन्त्री स्वर्गीय श्री लालबहादुर शास्त्री ने लिखी थी और उपनिषदों पर उनकी पुस्तक की भूमिका हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति स्वर्गीय डॉ० राधाकृष्णन ने लिखी थी।

प्राय: देखा गया है कि साहित्यकार कई बार अपना साहित्य एक विशेष विषय या विचारधारा तक ही सीमित रखते हैं। पं० सत्यव्रत जी ने एक ऐसे क्षेत्र में भी पदार्पण किया जो उनके लिए बिल्कुल ही नया था। गुरुकुल में उन्होंने कई विषयों में शिक्षा प्राप्त की। परन्तु आयुर्वेद या शरीरविज्ञान से वे पूर्णतया अनभिज्ञ थे। आज वे देश के जाने-माने होमियोपैथिक चिकित्सक है। उन्होंने हिन्दी में होमियोपैथी पर ऐसी पुस्तकें लिखी हैं जो उनसे पहले किसी ने नहीं लिखीं। साहित्य जगत के लिए यह एक आश्चर्य का विषय था कि पं० सत्यव्रत ने हमियोपैथिक पर ऐसी पुस्तकें कैसे लिखी हैं, जो प्रामाणिक समझी जाती हैं। इसी से उनकी योग्यता और विद्वत्ता का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

पण्डित जी गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक हैं। सारा जीवन उन्होंने इसकी सेवा में ही व्यतीत किया है। जिन गिने-चुने स्नातकों ने गुरुकुल माता के ऋण को चुकाया है, पं० सत्यव्रत जी का नाम उनकी सूची में सब से ऊपर होगा। पहले गुरुकुल के विद्यार्थी फिर स्नातक उसके पश्चात् उपाध्याय फिर कुलपति और अब गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा के रूप में वे समय-समय पर गुरुकुल माता की जो सेवा करते रहे हैं, वह इस संस्था के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखी जायेगी। गुरुकुल में से कुछ ऐसे स्नातक भी निकले हैं, जिन्होंने गुरुकुल माता का चीरहरण किया है और उसके नाम को कलंकित किया है। पं० सत्यव्रत की गणना उन स्नातकों में होगी, जिन्होंने अपनी निष्ठा, कर्त्तव्यपरायणता, निष्काम सेवा और योग्यता से इस संस्था के नाम को चार चाँद लगाये हैं।

उन्होंने अपने गौरवमय जीवन के ६० वर्ष पूरे कर लिए हैं। इस शुभ अवसर पर मैं अपनी ओर से और आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से हार्दिक बधाई देता हूँ। वे शतायु हों, यह कामना करते हुए उन्हे अपनी श्रद्धांजलि के पुष्प भेंट करता हुआ केवल यह कहना चाहता हूँ कि—

तुम सलामत रहो हज़ार वर्ष,
हर वर्ष के दिन हों पचास हज़ार

पं० सत्यव्रत जी को सादर नमस्कार

श्री धर्मपाल विद्यालंकार

पूर्व सहायक मुख्य अधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी

पं० सत्यव्रत जी से मैं एक-दो वर्ष ही पीछे था। अपने शिक्षाकाल मे ही वे बहुत योग्य छात्रों मे गिने जाकर समय-समय पर आचार्यों और महात्मा मुन्शीराम जी (आचार्य व मुख्य अधिष्ठाता) से सराहना पाते रहते थे। स्वभावत: हमारा ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो जाता था। गुरुकुल के लिए कार्य करने के उनके व्यवहार व चतुरता का साक्षात अनुभव मुझे उस समय हुआ जब उस समय के मुख्य अधिष्ठाता व कुलपति पं० इन्द्र जी ने सन् १९६१ मे अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। गुरुकुल की विद्यासभा और स्नातको के सामने प्रश्न था कि किसे मुख्य अधिष्ठाता व कुलपति बनाया जाये। मैं उस मीटिंग मे सहायक मुख्य अधिष्ठाता के रूप मे उपस्थित था। पं० सत्यव्रत जी को मुख्य अधिष्ठाता और कुलपति बनाने का निश्चय हुआ। पण्डित जी विद्या-सभा मे दिल्ली मे उपस्थित थे। वह उस समय तुरन्त ही गुरुकुल आकर स्थायी रूप से नही रह सकते थे। देहरादून में अपनी कोठी व दिल्ली में रहा करते थे। मैं गुरुकुल मे मुख्य अधिष्ठाता के कार्य पर बीस वर्षों से अधिक समय तक रहा। पण्डित जी समय-समय पर गुरुकुल में आते रहते थे। मैं प्रबन्ध सम्बन्धी सूचनायें व परामर्श प्रतिदिन उन्हें भेजा करता था। यदि कोई गम्भीर समस्या होती थी तो वह गुरुकुल आकर निश्चय करते थे। पण्डित जी के स्वभाव में किसी समस्या को टालना या विलम्ब करना नही था। कभी-कभी शीघ्रता में दी गयी किसी आज्ञा से गुरुकुल के मुख्य उत्तरदायी कार्यकर्ता यदि सन्तुष्ट नही होते थे तो वह मेरे पास आकर मुझे उसके समाधान के लिए पण्डित जी के पास भेजा करते थे। मैं प्रतिदिन प्रातः उनके पास जाता ही था। निवेदन करने पर पर्याप्त विचार करके वह उसका समाधान कर देते थे। मुझे अनुभव होता था कि गुरुकुल के प्रबन्ध के सम्बन्ध मे मैं उनका पूर्ण रूप से विश्वासपात्र सहयोग देने वाला प्रेमपात्र हूँ। इतने दिनों बाद अब भी मैं प्रायः उनका स्मरण आदरपूर्वक करता ही रहता हूँ।

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी

वर्तमान गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी की विशेष प्रगति का प्रारम्भिक श्रेय भी पण्डित जी को ही जाता है। लगभग २५ वर्ष पूर्व भी वह गुरुकुल कांगड़ी के मुख्य अधिष्ठाता कई वर्षों तक रहे थे। उन्होंने फार्मेसी के लिए समाचारपत्रो में विज्ञापन देने की व्यवस्था की। विज्ञापनों का परिणाम यह हुआ कि फार्मेसी की आय इस योग्य हो सकी कि जिससे गुरुकुल के विद्यालय विभाग की शिक्षा निःशुल्क दी जा सकी।

विश्वविद्यालय-निर्माण

गुरुकुल कांगड़ी को विश्वविद्यालय बनाने का यत्न तो पण्डित इन्द्रजी के समय से ही चल रहा था परन्तु उसका वास्तविक वर्तमान रूप पण्डित सत्यव्रत जी के प्रयत्न से नियमादि निर्माण व अनुभव से किया गया।

गुरुकुल के वर्तमान अनेक भवन

कांगड़ी के प्राचीन कांगड़ी गुरुकुल से गंगा की बाढ़ के कारण जब गुरुकुल वर्तमान स्थान पर आया तो नवीन इमारतें बननी प्रारम्भ हुईं। विद्यालय का आश्रम-भवन, वेदभवन, और महाविद्यालय का शिक्षा-भवन तो बन चुका था फिर भी अन्य बहुत-सी नवीन इमारतों का बनना प्रारम्भ हुआ। अपने कार्यकाल के इन २० वर्षों में श्रद्धानन्द अतिथि-भवन, एन० सी० सी० ब्लाक, विज्ञान महाविद्यालय भवन, राजेन्द्रप्रसाद छात्रावास, विश्वविद्यालय भवन, नवीन म्यूजियम भवन, सीनिएट हाल (विद्या भवन), पुस्तकालय भवन आदि अधिकतर भवनों के निर्माण के लिए धन की स्वीकृति प्राप्त करना कठिन होता था। धन की व्यवस्था का उत्तरदायित्व मुझ पर रहता था। पण्डित इन्द्रजी व पण्डित सत्यव्रत जी की यथासमय सहायता व स्वीकृति पर ही सरकार द्वारा धन प्राप्त करके व गुरुकुल के व्यय से भवनों का निर्माण किया जाता था। गुरुकुल की प्रबन्ध व्यवस्था का विद्यासभा के लिए उत्तरदायित्व मुख्य अधिष्ठाता जी का था। परन्तु एक समय ऐसा आया कि प्रतिनिधि-सभा के प्रधान प्रोफेसर रामसिंह जी हो गये। उन्होंने गुरुकुल के प्रबन्ध में सीधा हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया जिससे विचित्र समस्या उत्पन्न हो गयी। पण्डित सत्यव्रत जी तो गुरुकुल की वास्तविक स्थिति को समझते थे। प्रधान प्रोफेसर रामसिंह जी से पर्याप्त खिंचाव व विवाद हो गया। गुरुकुल के प्रबन्ध में प्रतिनिधि सभा के हस्तक्षेप का परिणाम गुरुकुल को भुगतना पड़ा।

साहित्यिक कार्य

गुरुकुल के व्यस्त कार्य और अन्य उपयोगी कार्यों से उनको अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करना ही उपयुक्त है। गुरुकुल के अतिरिक्त उनकी साहित्यिक सेवा, ऋषि दयानन्द, आर्यसमाज, आर्य और हिन्दू संस्कृति को प्रमाणित रूप से दर्शाने का उत्तम कार्य है।

अन्त में मेरा श्री सत्यव्रत जी के लिए लम्बी आयु की कामना के साथ सादर नमस्कार।

भारतीय संस्कृति के अधुनातन महर्षि डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी

डॉ० सरगु कृष्णमूर्ति 'सरयूराम'
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, बंगलौर विश्वविद्यालय

धर्मभूमि भारत अवतारों की जन्मभूमि है। हमारी संस्कृति के महान् गायक एवं उन्नायक श्री कृष्ण 'संभवामि युगे-युगे' कहते हुए इस सत्य को ध्वनित करते हैं। आधुनिक युग में भी जितने महान् दार्शनिक एवं तपस्वी भारत में पैदा हुए, उतने मनीषी अन्यत्र दृग्गोचर नहीं होते। ऐसे ही महान् व्यक्तियों में डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी का नाम श्रद्धा सहित लिया जाता है। वे बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति हैं। उनका जीवन-विधान गंगाजल के समान पवित्र, उनका जीवन-लक्ष्य तपस्या की तरह पावन एवं उनका समूचा जीवन वेद-वाणी की तरह मनभावन है।

व्यक्तित्व

लुधियाना के सवद्दी गाँव ने ५-३-१८९८ ई० में इस महापुरुष को जन्म देकर इतिहास में अपना नाम अमर एवं उज्ज्वल बना लिया है। सन् १९१९ में गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक होकर इन्होंने भारतीय संस्कृति की सुगंध का प्रसार करने का व्रत लिया। तब से अब तक विविध हैसियतों में हिन्दी प्रचारक, दयानंद सेवा-सदन के सदस्य, गुरुकुल काँगड़ी के उपाध्याय, गांधीवाद के उद्घोषक, सत्याग्रह सेनानी, स्वतंत्रता संग्राम के निष्ठावान् योद्धा, गुरुकुल विश्वविद्यालय के उपकुलपति, निःस्वार्थ समाज सेवक, भारतीय संस्कृति के व्याख्याता, होमियोपैथिक वैद्य, संसद-सदस्य, शिक्षावेत्ता आदि कई रूपों में आपने भारतीयता की श्रीवृद्धि के लिए जनजीवन में नयी चेतना का, विद्युत संचार का अनुष्ठान किया। इनकी प्रतिभा की अमृत किरणों से भारत के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक आदि क्षेत्र अनुरंजित हुए हैं। डॉ० राधाकृष्णन्, पंडित नेहरू, श्री लालबहादुर शास्त्री, मिश्रबंधु, आचार्य द्विवेदी, डॉ० चाटुर्ज्या आदि विद्वान् आपके प्रशंसक रहे हैं।

अजातशत्रु

सदा हँसमुख रहने वाले डॉ० सत्यव्रत गांधीजी की तरह अजातशत्रु हैं। उनकी वाणी प्रेम की वाणी है। उनका मंत्र प्रेम का मंत्र है। सेवा को मेवा मानकर अब तक जनता-जनार्दन की आराधना में अपनी समस्त शक्तियाँ समर्पित करते आये हैं। सौमनस्य तथा सहृदयता इनके व्यक्तित्व एवं आचरण में कूट-कूटकर इतनी भरी हुई है कि इनका कोई शत्रु होने की सम्भावना ही नहीं है। ये अजातशत्रु के नाम से ज्ञात हैं।

योग्यता के समीप योग्यता

इनकी श्रीमती चंद्रावती लखनपाल योग्यता की निधि हैं। इन दोनों का शुभ विवाह योग्यता एवं

शालीनता का गठबंधन है। श्रीमती जी २०-६-१९३२ को यू० पी० सी० सी० अध्यक्षा पद से आगरा में गिरफ़्तार होकर एक साल तक श्रीकृष्ण जन्मस्थान में रहीं। पति के राजनीतिक विचारों को इन्होने प्रभावी रूप से कार्यान्वित किया। पति-पत्नी दोनों ने हिंन्दी के उन्नयन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। स्त्री जनोद्धार और हरिजन कल्याण में इन्होंने त्याग की दिव्य ज्योति जलायी। श्रीमती चन्द्रावती पति की ही तरह लेखनी की सिपाहिन थीं। 'स्त्रियों की स्थिति' ग्रन्थ पर आपको सकसरिया पुरस्कार मिला है। इन्हें शिक्षा-मनोविज्ञान पर गांधीजी के सभापतित्व में मंगलाप्रसाद पारितोषक दिया गया। अप्रैल १९५२ से दस साल तक ये राज्य-सभा की सक्रिय सदस्य रहीं। इन्होंने कन्या गुरुकुल, देहरादून के आचार्या पद को भी शालीन एवं शोभायमान किया। २९-३-१९६९ को श्रीमती चन्द्रावती स्वर्गस्थ हुई। तब से श्रीमान् सत्यव्रत जी अपने सुपुत्र श्री विजय कृष्ण लखनपाल के साथ दिल्ली में रहते हैं। योग्य पति, योग्य पत्नी, योग्य सुपुत्र से संयुक्त ऐसे परिवार विश्व में बहुत ही कम देखे जाते हैं। दयानंद सरस्वती के विचारों के प्रचारक डॉ० सत्यव्रत जी ने दयानंद सेवा-सदन के सदस्य होकर *गुरुकुल विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य भी किया है।* वैदिक संस्कृति और आर्य धर्म के सम्बन्ध में इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे हैं। स्वतंत्रता-संग्राम के सिपाही एवं गांधीजी के शिष्य बनकर डॉ० सत्यव्रत ३०-११-१९३० को सत्याग्रह में गिरफ़्तार हुए। गुरुकुल एवं बम्बई मे इन्होंने सेवाकार्य करते हुए स्वतंत्रता संग्राम में भी भाग लिया।

महान शिक्षावेत्ता

सन् १९१९ से चार वर्ष तक डॉ० सत्यव्रत ने कोल्हापुर, बेंगलूर, मैसूर एवं मद्रास मे हिन्दी प्रचार कार्य किया। गुरुकुल में फिर अध्यापक बने। सन् १९३५ मई मे गुरुकुल विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप मे १५-११-१९४१ तक शिक्षा क्षेत्र को नये क्षितिज प्रदान किये। ४-६-१९६० से आप पुन: छ: साल तक गुरुकुल विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे। गुरुकुल को आपने विश्वविद्यालय की मान्यता दिलवायी। शिक्षा क्षेत्र मे आधुनिक विचारधारा को प्रवेश दिलाते हुए आपने भारतीय संस्कृति की पताका फहराई है।

राजनीतिक क्षेत्र

नीति से युक्त राजनीति आपको गांधीजी के वरदान के रूप मे प्राप्त हुई। कई बार इस सिलसिले मे आपको जेल भी जाना पड़ा। १९६४ मे राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने आपको राज्यसभा का सदस्य मनोनीत किया। राज्यसभा के सदस्य के रूप मे आपने आर्य धर्म, भारतीय संस्कृति, हिन्दी प्रचार, समाज सेवा आदि के लिए सरकार से कई योजनाएँ स्वीकृत करवाई हैं।

दक्ष लेखक

डॉ० सत्यव्रत ने विविध विषयों के सम्बन्ध में कई ग्रन्थ प्रणीत किये हैं। समाज-शास्त्र, वैदिक संस्कृति, शिक्षा आदि के सम्बन्ध में लिखित इनके ३०-४० ग्रन्थ विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाते हैं। आपके 'एकादशोपनिषद्' की भूमिका डॉ० राधाकृष्णन् ने तथा 'गीता भाष्य' की भूमिका प्रधान मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने लिखी है। आपके होमियोपैथिक ग्रन्थ सर्वोत्कृष्ट घोषित हुए और इन्हें पारितोषिक दिया गया। इन ग्रन्थों का विमोचन राष्ट्रपति डॉ० वी० वी० गिरि के करकमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। 'समाजशास्त्र के मूल तत्व' पर इन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ। पंजाब सरकार ने एक दरबार आयोजित कर इस साहित्यकार को सम्मानित किया एवं पुरस्कार दिया। 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' पर इन्हें गंगाप्रसाद उपाध्याय पारितोषिक प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ का विमोचन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने किया। 'संस्कार-चन्द्रिका' आपका नवीनतम ग्रन्थ है।

होमियोपैथिक भिषग्वर

डा० सत्यव्रत ने होमियोपैथिक क्षेत्र मे काफी कार्य किया है। तद्संबंध में लिखित उनके ग्रन्थ सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं। गुरुकुल की फार्मेसी को आपने विशाल रूप प्रदान किया है। इस सम्बन्ध मे लिखित इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—होमियोपैथिक औषधियो का सजीव चित्रण, रोग तथा उनकी होमियोपैथिक चिकित्सा एवं बुढ़ापे से जवानी की ओर।

दक्षिण के साथ सम्बन्ध

दक्षिण के साथ पहले से ही इनका सम्बन्ध है। १९१९ से चार वर्ष तक कोल्हापुर, बेंगलूर, मैसूर एवं मद्रास में रहे। गुरुकुल में आपने दक्षिण के छात्रों को काफी प्रोत्साहन प्रदान किया। दक्षिण भारत की कई समस्याओं को आपने संसद सदस्य के रूप मे प्रोत्साहन प्रदान किया है। महात्मा गांधीजी के कार्यक्रमों का प्रचार इन्होंने दक्षिण मे किया। दक्षिण के हिन्दी अध्यापक एवं संस्थाएँ इनकी सहायता का स्मरण अत्यंत कृतज्ञता के साथ करती हैं।

कोल्हापुर में हिन्दी-प्रचार : कोल्हापुर मे आपने लोगो के हृदय मे हिन्दी के प्रति स्नेह भाव जागृत किया। साधारण से साधारण लोगों के बीच में पहुँचकर राष्ट्रभाषा का महत्त्व इन्होने उद्घोषित किया है। कई अध्यापकों से मिलकर उन्हें हिन्दी-भक्त बनाया है। मराठी एवं कन्नड़ को साथ लेकर चलने की प्रेरणा आपने हिन्दी बन्धुओं को दी है।

मद्रास में हिन्दी प्रचार : ज्ञात नही कि मद्रास के चन्द राजनीतिक पुरुष हिन्दी का अप्रचार करने की कोशिश क्यों कर रहे हैं। लगता है, इसका एक कारण यह भी है कि आजकल डॉ० सत्यव्रतजी जैसे निष्ठावान् हिन्दी-प्रचारकों की संख्या कम होती जा रही है। मद्रास में रहते समय आपने हिन्दी के लिए वहाँ स्नेहपूर्ण वातावरण उत्पन्न किया। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम के एक अनिवार्य अंग के रूप मे हिन्दी-प्रचार को आपने तमिलनाडु मे रूपायित किया। श्री मोटूरि सत्यनारायण, हरिहर शर्मा, अवधनन्दन आदि को इन्होने हिन्दी-प्रचार कार्य में प्रोत्साहन एवं प्रेरणा प्रदान की है।

मैसूर में डॉ० सत्यव्रत जी : मैसूर नगर के शालीन वातावरण ने इनके हृदय मे उत्साह की लहरें उत्पन्न की। मैसूर मे आज हिन्दी का जो स्वस्थ वातावरण बना है उसके रूपायन मे डॉ० सत्यव्रतजी ने सराहनीय भूमिका निभाई है। महाराजा के हृदय मे भी हिन्दी के प्रति अपार श्रद्धा भावना जागृत करने मे ये सफल हुए हैं। वहाँ के मन्त्री, सचिव आदि भी इनसे प्रभावित हुए। डॉ० हिरण्मय को इनसे हिन्दी की दीक्षा मिली। हिन्दी-प्रेम के साथ हिन्दी-प्रचारकों के हृदय में राष्ट्रप्रेम भी इन्होंने जागृत कराया है।

बेंगलूर में डॉ० सत्यव्रत जी : बेंगलूर मे डॉ० सत्यव्रतजी के अध्यापक रूप का विकास हुआ। गांधी-वाद, राष्ट्रभाषा का महत्त्व, गुरुकुल शिक्षा पद्धति, भारतीय संस्कृति आदि के सम्बन्ध में इन्होंने कई भाषण दिये। शिक्षा संस्थाओ में पहुँचकर आपने वहाँ के प्रधान अध्यापकों को हिन्दी-प्रेमियों के रूप में परिवर्तित किया। स्वैच्छिक हिन्दी संस्थाओं मे इनके कारण नये उत्साह की अमृतधारा फूट पड़ी। ये कहते थे कि हिन्दी की पढ़ाई अब पाठशालाओ में ही नही, जेलों में भी होगी और हिन्दी अंग्रेजी भाषा की प्रतिस्थापना करेगी।

डॉ० हिरण्मय के शब्दों में

डॉ० हिरण्मय के शब्दों में : "डॉ० सत्यव्रतजी गांधीवाद के जंगम तरु हैं, भारतीय संस्कृति के नये व्याख्याता और राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के महान् सिपाही हैं। दक्षिण में आज हिन्दी का जो बृहत् प्रचार चल रहा है उसका श्रेय डॉ० सत्यव्रतजी जैसे कर्मठ राष्ट्रभक्तों को ही संप्राप्त है।"

हिन्दी प्रचारकों के साथ : यह वह युग था जब हिन्दी पढ़ाने वालों को दक्षिण में जेल का रास्ता

दिखाया जाता था। हिन्दी का पठन-पाठन सरकार की दृष्टि में देशद्रोह ही था। डॉ० सत्यव्रत जी ने हिन्दी प्रचारकों में जेल जाने का उत्साह उत्पन्न किया। इस समय के कई हिन्दी प्रचारक एवं समर्थक सत्यव्रत जी से प्रभावित हुए। इनमें से कतिपय महाशय बाद में राज्यपाल, मुख्यमन्त्री, केन्द्र-मन्त्री आदि प्रमुख पदों पर शोभित हुए। इनके कतिपय मित्र एवं हिन्दी बन्धु बाद में संसद सदस्य, आचार्य, विभिन्न संस्थाओं के प्रधानमन्त्री बने। श्री के० चेंगलराय रेड्डी, श्री हेच० सी० दासप्पा, श्री ए० रामचन्द्रराव, डॉ० हिरण्मय, प्रो० नागप्पा, श्री ए० वी० श्रीनिवासमूर्ति, श्री जंबुनाथन, श्री श्रीरंगराज, श्री देवेगौडा आदि इनसे अधिक प्रभावित हुए। यह केवल हिन्दी का ही नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति का भी प्रचार करने में हमेशा प्रयत्नशील रहे। सन् १९२१ में पण्डित सत्यव्रत जी ने बेंगलूर में हिन्दी प्रचार के बीज बोये, वे बीज अब तरु रूप में प्रवर्धित हैं। नेशनल हाई स्कूल के प्रधानाचार्य श्री बालसुन्दर अय्यर से भेंट करके आपने हिन्दी कक्षाएँ प्रारंभ की। उन दिनों पण्डित जी ने भावी सज्जनों के लिए 'हाउ टु लर्न हिन्दी' नामक किताब भी लिखी थी।

जाको राखै साइयाँ

एक सैनिक की स्फूर्ति और साहस के साथ डॉ० सत्यव्रत ने हिन्दी एवं भारतीय संस्कृति का प्रचार किया है। उनके अनुसार हिन्दी-प्रचार भारतीय संस्कृति का ही प्रचार है। वे प्रचार कार्य धार्मिक स्फूर्ति के साथ करते हैं। वे जीवन में सदा एक अनुशासित सदस्य बनकर हिमालय जैसी समस्याओं को आसानी से हल करते रहे। परमशक्ति में उनका अटल विश्वास है। भारतीय संस्कृति हमें साहसपूर्ण आस्तिकता सिखाती है। कबीर के सत्यव्रत का सिद्धान्त ही श्री सत्यव्रत का जीवन सिद्धान्त है—

> जाको राखै साइयाँ, मारि न सक्कै कोई।
> बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥

श्री राजीव गांधी के सत्यव्रत में इसी प्रकार की आस्था, साहस एवं दिन-प्रतिदिन प्रवर्द्धित उत्साह है।

शुभकामना

श्री सत्यव्रत जी ! आपका जीवन सुख-संतोष के नन्दन में पुष्पवल्लरी बने। आप सत्यव्रत में महान पुजारी बनकर इस संसार को आस्था, श्रद्धा और विश्वास के सुमन प्रदान करें। हिन्दी, हिन्द एवं भारतीय संस्कृति को आपके हृदय की गंगा के अमृत-कण संप्राप्त हों। सत्यव्रत की जय हो। सत्यव्रत की विजय हो।

> सत्य के व्रतों का अनुष्ठान पल-पल हो
> सिद्धान्त तथा कर्मों का हम में बल हो
> हिन्दी व हिन्द की गंध सदा संबल हो
> जीवन में वेदों का निनाद कल-कल हो
> संस्कृति का रथ हो रथिक देशवासी हों
> हममें प्रसन्नता अमर मल्लिका-सी हो
> सत्यव्रत जी का क्षण-क्षण मोद निरत हो
> देश में निरन्तर पावन सत्यव्रत हो।

श्रद्धेय पं० सत्यव्रत जी : कुछ संस्मरण

डा० नित्यानंद शर्मा

पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय

बात लगभग ४० वर्ष पूर्व की है। गुरुकुल कांगड़ी में दीक्षान्त-समारोह का आयोजन था। गुरुकुल के वार्षिक उत्सव एवं दीक्षान्त-समारोह बड़े भव्य, गरिमामय और आकर्षक हुआ करते हैं। अन्य विश्वविद्यालय के समान, यहाँ विभिन्न पदवी-आशार्थी दीक्षान्त-समारोह के लिए निर्धारित पीत-कौशेय वस्त्र (चोगा आदि) धारण करके जब पंक्तिबद्ध होकर चलते हैं, तब वह दृश्य बड़ा नयनाभिराम और हृदयहारी होता है। ऐसे ही एक अवसर पर, मैं भी देहरादून से इस समारोह में दर्शक की हैसियत के गुरुकुल कांगडी गया था। दर्शन-शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित विश्वविख्यात श्री राधाकृष्णन उस समारोह के मुख्य अतिथि थे। पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति कुलपति पद पर प्रतिष्ठित थे। राधाकृष्णन जी का भाषण अंग्रेजी में था। अंग्रेज़ी भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था, मानो वह उनकी वशवर्तिनी थी। वे धाराप्रवाह रूप से अंग्रेजी में अपना दीक्षान्त-भाषण दे रहे थे। अधिकांश श्रोता, अंग्रेजी न समझने पर भी, उनके भाषण से मन्त्र-मुग्ध थे। पर भाषण के हिन्दी-अनुवाद की माँग भी थी। तभी मंच पर से एक व्यक्ति उठे और उन्होंने राधाकृष्णन जी के अंग्रेजी भाषण का भावानुवाद उसी धाराप्रवाह रूप से हिन्दी में पढ़कर सुना दिया। मैं इस व्यक्ति को देखता ही रह गया जिसने उस भाषण का तुरन्त ही प्रामाणिक हिन्दी रूपान्तर करके श्रोताओं को विस्मय-विमुग्ध कर दिया। इस व्यक्ति के विषय में बलवती जिज्ञासा हुई कि यह कौन व्यक्ति है। ज्ञात हुआ कि ये गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता पद को सुशोभित करने वाले पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार हैं।

इस प्रकार पंडित जी से मेरा सर्वप्रथम परिचय और साक्षात्कार हुआ। गुरुकुल से सेवा-निवृत्त होने पर, आपने अपना स्थायी निवास देहरादून में बसाया। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रा लखनपाल एक साध्वी और विदुषी महिला थीं। वे महादेवी कन्या पाठशाला महाविद्यालय की यशस्विनी प्राचार्या थीं। परिचय होने पर ज्ञात हुआ कि उनका सम्बन्ध बिजनौर से है। उनके भाई, बहन, पिताश्री बिजनौर में रहते हैं। उन लोगों से मेरा पूर्ण परिचय था। उनके एक भाई श्री शुक्ल आज भी बिजनौर के एक प्रख्यात होमियोपैथ डाक्टर हैं। बिजनौर मेरा आना-जाना होता रहता था। शुक्ल परिवार से भी मिलना-जुलना होता था। इस प्रकार श्रीमती चन्द्रावती जी के यहाँ देहरादून में, मेरा आना-जाना आरम्भ हो गया फलतः पूज्य पंडित जी मेरे और अधिक सम्पर्क में आए। जब भी मैं बलवीर रोड अवस्थित इनके बंगले पर जाता, तब पंडित जी को लिखते-पढ़ते ही पाता। उन दिनों आप समाज-शास्त्र पर कई महत्त्वपूर्ण और उपयोगी पुस्तकें लिखने में लीन थे। विद्यार्जन के विषय में पंडित जी पर 'अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामर्थं चिंतयेत' यह उक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती है। आज भी इनका अध्ययन, पठन-पाठन पूर्ववत् ही है। आयु के बढ़ने के साथ-साथ विद्यानुराग में भी वृद्धि होती गई है। पंडित जी का यह उत्कट विद्यानुराग और गहन अध्यवसाय वस्तुतः अनुकरणीय अथच प्रशंसनीय है।

पंडित जी का और मेरा प्रकाशक एक ही था, इस नाते आपसे उन प्रकाशक महोदय श्री सुरेन्द्रनाथ की दुकान पर साहित्य सदन-पलटन बाजार देहरादून में अक्सर भेंट हो जाया करती थी। आपकी पुस्तकें विद्वानों और उच्च कक्षाओं के छात्रों में समान रूप से लोकप्रिय हुईं क्योंकि ये पुस्तकें पंडित जी जैसे विद्वान द्वारा बड़े मनोयोग, निष्ठा और चिन्तन के साथ लिखी गई थी। आज भी जब समाज-शास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों और प्रोफेसरों से मेरी भेंट होती है तब वे पंडित जी की पुस्तकों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं। आरम्भ में, समाज-शास्त्र जैसे विषय पर, हिन्दी में उत्तम पुस्तकों का अभाव ही था। इस प्रकार पंडित जी ने उक्त अभाव की पूर्ति करके एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया, साथ ही राष्ट्रभाषा हिन्दी की सच्ची सेवा भी।

सन् १९६३ मे, मैं देहरादून से जोधपुर आ गया और पंडित जी भी उससे पूर्व ही दिल्ली जाकर बस गए। इस कारण पंडित जी से सम्पर्क प्रायः छूट-सा ही गया। जब कभी कानपुर जाता तो इनके साढ़ू श्री अग्निहोत्री जी से और गुरुकुल जाने पर वहाँ डॉ० विष्णुदत्त राकेश जी से इनका समाचार, कुशल-क्षेम आदि की जानकारी मिल जाया करती थी। कुछ दिनों पूर्व यह ज्ञात हुआ कि सम्प्रति पंडित जी गुरुकुल विश्व-विद्यालय काँगड़ी में 'विज़िटर' पद को सुशोभित करते हैं तथा इस नाते कभी-कभार गुरुकुल मे 'विज़िट' करते रहते हैं।

इसके पश्चात् कुछ दिनो बाद एक सुखद समाचार यह मिला कि श्री रामचन्द्र शर्मा, आई० ए० एस० गुरुकुल वि० वि० काँगड़ी के कुलपति-पद पर नियुक्त हो गए हैं। श्री शर्मा की विद्वत्ता, योग्यता, कार्यकुशलता, व्यवहारविदता, मिलनसारिता, प्रबन्ध-पटुता आदि से मैं पहले से ही अभिभूत था। उनकी नियुक्ति से मुझे यह विश्वास हो गया कि गुरुकुल के इतिहास में उनका कार्यकाल सदैव स्मरणीय रहेगा। किसी न किसी ब्याज से गुरुकुल मे, मेरा आना-जाना होता ही रहता था। ऐसे ही इस बार अगस्त मास मे जब मैं हिन्दी के रीडर पद के लिए निर्मित चयन समिति के एक विशेषज्ञ सदस्य के रूप मे गुरुकुल गया तो मुझे यह जानकर अति प्रसन्नता हुई कि पंडित सत्यव्रत जी भी वहाँ विराजमान हैं।

श्री शर्मा के कुलपति-निवास पर, प्रातराश के अवसर पर, एक लम्बे अंतराल के पश्चात् पंडित जी से मेरी भेंट हुई। मुझे अचानक ही वहाँ देखकर, वे भी बड़े विस्मित हुए तथा मुझे पहचानने मे उन्हें समय लगा। इसका एक कारण यह भी था कि मैं तब कोट-पैंटधारी रूप मे उन्हे दिखाई पड़ा, जबकि देहरादून मे, मेरी वेशभूषा धोती-कुर्ता थी। नाश्ते पर हम लोगों की बातचीत होती रही। ९० वर्षीय पंडित जी को स्वस्थ और प्रसन्न देखकर मुझे भी प्रसन्नता हुई। वे बड़े चाव से मूली भरा पराँठा खा रहे थे अन्यथा इस आयु मे लोग प्रायः तले हुए पदार्थों से परहेज करते हैं। वृद्धावस्था के कई वर्णन और चित्रण पढ़े तथा देखे थे, पर पंडित जी को देखकर कौन कह सकता है कि इन्होंने आयु की इतनी लम्बी अवधि पार कर ली है। 'साठा सो पाठा' की उक्ति उन पर चरितार्थ होती है। अन्यथा ऐसी आयु में ध्यान आता है पंडित प्रतापनारायण मिश्र की इन पंक्तियों का—

> हाय बुढ़ापा तोरे मारे अब तो हम नकन्याव गयन
> करत धरत कुछ बनतै नाही कहाँ जात और कैस करन।
> छन मैं चटक छनक माँ मद्धिम जस बुझात खन होत दिया
> तैसे ही नखवख दीख पड़त हैं हमरी अक्कल के लच्छिन।

पर पंडित जी पर इन पंक्तियों का कोई असर नहीं। उनकी बुद्धि आज भी पहले जैसी पैनी, उनकी क्रियाशीलता पहले जैसी ही त्वरित और स्फूर्त है। वृद्धत्व की सूचिका आचार्य शंकर की ये पंक्तियाँ भी पंडित जी पर सटीक नहीं बैठतीं—

अंगं गलितं पलितं मुण्डं दशन विहीनं जातं तुण्डम् ।
मार्गे याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुंचति आशा पिण्डम् ॥

पर पंडित जी की देह-यष्टि, कद और काठी चुस्त और दुरुस्त है। उनके दांत और मुखश्री पूर्ववत् हैं। चलने में उन्हें यष्टिका की आवश्यकता नहीं। यद्यपि वे 'निराश' नहीं हैं, तथापि आशा-पाश से सर्वथा विमुक्त हैं। तन-मन और कर्म से तुष्ट पंडित जी को देखकर कौन विस्मय-विमुग्ध न होगा। उनसे कितने ही वृद्धों, युवाओं और बालकों को प्रेरणा मिलेगी। पंडित जी के इस सुन्दर स्वास्थ्य का राज, मुझसे पूछे बिना न रहा गया। इस पर पंडित जी ने अपनी दिनचर्या मुझे बताई जिसे सुनकर मैं अवाक् रह गया।

पंडित जी नियमित रूप से प्रातः चार बजे से पूर्व ही शैया त्याग देते हैं तथा ४ से ६ बजे तक व्यायाम (आसन-प्राणायाम), ध्यान और चिंतन करते हैं तथा बादामों का भरपूर सेवन भी करते हैं। प्रातः-सायं भ्रमण करते हैं। सारे दिन स्वाध्याय, लिखने-पढ़ने और अपनी पुस्तकों के प्रूफ़ पढ़ने और उन्हें शुद्ध करने में व्यस्त रहते हैं। गुरुकुल-शिक्षा में आरम्भ में दिए गए इस उपदेश का वे अब भी कठोरता से पालन करते हैं—"सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः"। सदैव प्रसन्न और हँसमुख रहते हैं। प्रभुकृपा से उनके सामने आर्थिक आदि कोई समस्या नहीं है। उनका परिवार एक आदर्श परिवार है जिसमें सौहार्द, समन्वय और सामरस्य है। इसीलिए उनका जीवन बड़े ऋजु रूप में चल रहा है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि पंडित जी निरामय रूप से शतायु होकर इसी प्रकार सारस्वत साधना, परहित-चिंतन और ईशाराधन में निरत रहेंगे।

मंगलमय विभु से मैं उनके निरामय दीर्घ आयुष्य की कामना करता हूं।

साहित्य-साधनारत डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

कैप्टिन देवरत्न आर्य
महामन्त्री, आर्यसमाज सान्ताक्रूज, बम्बई

"आर्यसमाज से लेख का काम बन्द नहीं होना चाहिए" ये शब्द पं० लेखराम ने अपने अन्तिम आदेश के रूप में आर्यों से विदा होते समय कहे थे। ऐसे विद्वान् त्यागी, तपस्वी और समर्पित व्यक्तित्व के सहयोगी तथा साथ-साथ कार्य करने वाले महात्मा मुंशीराम द्वारा लगाये हुए गुरुकुल काँगड़ी रूपी वाटिका में पुष्पित, पल्लवित तथा विकसित होने वाले डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, जिन्होंने जीवन पर्यन्त लेख के कार्य को जारी रखा, के विषय में दो शब्द लिखते हुए मैं अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। आपने अपनी साहित्य साधना के द्वारा वैदिक धर्म और संस्कृति की सेवा करके अपना, अपने परिवार, अपने गुरु एवं गुरुकुल का यश चहुँ ओर फैलाया। अपनी साहित्य सेवा के माध्यम से अनेक ग्रन्थ लिखकर आपने वैदिक धर्म की यशोगाथा को जन-मानस तक पहुँचाया। आपके ग्रन्थों पर अनेक पुरस्कार आपको प्राप्त हुए यह सब हम आर्यों के लिए गौरव का विषय है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात है कि वैदिक विचारों का प्रतिपादन आपने ऐसी सुगम रीति से किया है कि डॉ० राधाकृष्णन जैसे दार्शनिक विद्वान ने आपके ग्रन्थ की भूमिका लिखी। दार्शनिक विद्वान ने ही नहीं अपितु श्री लालबहादुर शास्त्री एवं श्रीमती इन्दिरा गांधी जैसे राजनीतिज्ञों ने भी आपके ग्रन्थों पर प्रशंसनीय शब्दावली लिखी। यह आर्यसमाज एवं आर्यों की महान उपलब्धि है। साहित्य सेवा के साथ-साथ सामाजिक सेवाओं में भी आपका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। गुरुकुल के स्नातक होते ही दक्षिण भारत में बैंगलौर, मैसूर, मद्रास आदि स्थानों पर चार वर्ष तक समाज सेवा का कार्य करते रहे। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बम्बई में सर्वप्रथम आर्यसमाज की स्थापना की। १९४१ से १९४५ के बीच आप बम्बई में रहे। उस समय आर्यसमाज के कार्यों को आपने अपने जीवन का आवश्यक अंग बनाया। महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य-समाज के कार्यों से जब आपको सन्तोष नहीं हुआ तो आपने आर्यसमाज के कार्यों को अधिक गति देने के लिए आर्यसमाज के उत्साही कार्यकर्ताओं को संगठित करके सान्ताक्रूज में आर्यसमाज की स्थापना की। वही आर्य-समाज सान्ताक्रूज आज आर्यसमाज की अनेक गतिविधियों का केन्द्र बना हुआ है। जिसके कारण इसकी गणना भारत की प्रमुख आर्यसमाजों में होती है। अपनी गतिविधियों के कारण ही यह आर्यसमाज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर को प्राप्त कर चुकी है। आर्यसमाज की सामान्य गतिविधियों के अतिरिक्त आज यहाँ लगभग १५० महिलाएँ एवं पुरुष प्रतिदिन योग का प्रशिक्षण लेते हैं। आर्य विद्या मन्दिर नाम से स्थापित इसके दो स्कूल भारतवर्ष में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। रुग्णवाहिका द्वारा जनसाधारण की सेवा की जा रही है। इसके अतिरिक्त निःशुल्क आयुर्वेदिक चिकित्सा एवं परामर्श केन्द्र, संस्कृत कक्षाएँ, बालकों का सत्संग, मासिक व्याख्यान माला, निःशुल्क योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा शिविर, महिला समाज, विशाल पुस्तकालय कक्ष एवं वाचनालयों आदि गति-विधियों के साथ-साथ यह भारतवर्ष की प्रथम आर्यसमाज है जिसमें ध्वनिशून्य एवं वातानुकूलित 'ध्यान योग कक्ष' का निर्माण भी किया गया है। विद्वानों के सम्मान हेतु 'वेद वेदांग पुरस्कार' जैसी योजनाएँ इस समाज के द्वारा प्रारम्भ की गई हैं जो समस्त आर्य जगत के लिए प्रेरणा का स्रोत बनी हुई हैं। इन गतिविधियों

का प्रारम्भ होना भी स्वाभाविक ही है क्योंकि इसकी स्थापना में डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जैसे कर्मठ वैदिक विद्वान का योगदान और आशीर्वाद रहा है और आज मैं आर्यसमाज सान्ताक्रुज के महामन्त्री पद के उत्तरदायित्व को सम्भालते हुए डॉ० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार के बारे में ये पंक्तियाँ लिखते हुए परम हर्ष और गौरव का अनुभव कर रहा हूँ।

साहित्य सेवा और सामाजिक सेवा के साथ आपने चिकित्सा विषयक ग्रन्थ लिखकर मानव समाज की स्वास्थ्य विषयक सेवा करके जनमानस पर बहुत बड़ा उपकार किया है। अपने सुदीर्घकाल की साहित्य साधना में जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आने पर भी वे निरन्तर लगे रहे और अद्यावधि इस महान कार्य में सलग्न हैं। आपकी साहित्य साधना देखकर महर्षि दयानन्द के बाद सहसा ही स्वामी श्रद्धानन्द, स्वामी दर्शनानन्द, पं० तुलसीराम स्वामी, पं० आर्यमुनि, पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, पं० शिव शंकर शर्मा काव्यतीर्थ का स्मरण हो जाता है। इन महापुरुषों द्वारा सिंचित साहित्य सेवा को आपने वैदिक धर्मियों के लिए आगे बढ़ाया है। यह हम सबके लिए प्रेरणास्पद है।

साहित्यिक और सामाजिक सेवा के साथ कुरुकुल काँगड़ी की जो सेवा आपने की जिसे गुरुकुल-वासी कभी नहीं भूलेंगे। गुरुकुल काँगड़ी के उच्च पदों पर रहकर कुशलतापूर्वक आपने गुरुकुल का कार्य सम्भाला, इससे आपकी प्रशासनीय योग्यता से भी आर्य जन परिचित हैं। और इन्हीं विशेषताओं के कारण आप राज्य, सभा के भी सम्मानित सदस्य रहे।

ऐसे कुशल प्रशासक प्रसिद्ध साहित्यकार, समाज सेवी एवं विनम्र हृदय तपस्वी विद्वान् आर्यसमाज सान्ताक्रुज के संस्थापक सदस्य का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित होने के समाचार से आर्यसमाज सान्ताक्रुज का प्रत्येक सदस्य आह्लादित हो रहा है और गौरव का अनुभव कर रहा है।

परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि ऐसी महान आत्मा को स्वस्थ रखे ताकि अधिक से वैदिक धर्म की सेवा कर सकें।

'भूयश्च शरदः शतात्'

पं० सत्यव्रत जी—प्रेरणा के स्रोत

डॉ० गंगाराम गर्ग

भूतपूर्व वाइस चांसलर गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

ससार में कुछ ही व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो देश, जाति, समाज, संस्था या परिवार पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं। पं० सत्यव्रत जी भी एक ऐसे महानुभाव हैं, जिन्होंने गुरुकुल काँगड़ी को धरती पर अपने स्थायी पद चिह्न छोड़े हैं।

मैं १६५२ में गुरुकुल मे आंग्ल भाषा के उपाध्याय के पद पर नियुक्त हुआ था। उस समय स्वामी श्रद्धानंद जी के दूसरे सुपुत्र पंडित इंद्र विद्यावाचस्पति गुरुकुल के कुलपति थे। १६६० में पं० सत्यव्रत जी विश्व-विद्यालय के दूसरी बार कुलपति बने। उन्हीं दिनों मेरी उनसे सबसे पहली भेंट हुई थी। पहली भेंट पर ही मुझे कुछ ऐसा आभास हुआ कि उनमें कुछ करने की तड़प विद्यमान है।

गुरुकुल की स्थापना १६०१ में हुई थी। संस्था ने कुछ ऐसे स्नातक पैदा किये थे, जिनका देश-विदेश में नाम था। पर १६६० के आस-पास एक नई समस्या आ खड़ी हो गई थी। वह यह थी कि कोई भी संस्था भारत सरकार की अनुमति के बिना उपाधि नही दे सकती। आर्थिक कठिनाई भी गुरुकुल के समक्ष उपस्थित थी, क्योंकि भारत विभाजन के पश्चात् आर्य जगत से उतनी धन-राशि नही मिल पा रही थी, जितनी अपेक्षित थी। पंजाब के बँटवारे ने तो आर्यसमाज की रीढ़ की हड्डी ही तोड दी थी। ऐसे समय मे पं० सत्यव्रत जी ने गुरुकुल की बागडोर सँभाली।

जैसे कोई कुशल वैद्य नब्ज पकड़ते ही मर्ज पहचान लेता है, उसी प्रकार पंडित जी ने भी संस्था के मर्ज को पहचाना। उन्होंने अपना ध्यान इस बात पर केन्द्रित किया कि किसी प्रकार भारत सरकार से संस्था को उपाधियाँ प्रदान करने की स्वीकृति मिल जाये, तो संस्था चल निकलेगी और आर्थिक कठिनाई का भी अन्त हो जायेगा। पं० सत्यव्रत जी द्वारा लम्बे समय तक प्रयत्न करने के पश्चात् भारत सरकार द्वारा नियुक्त एक तीन सदस्यीय समिति निरीक्षणार्थ गुरुकुल आई। इसमें भारत के भूतपूर्व चीफ़ जस्टिस पतंजलि शास्त्री (अध्यक्ष), डा० सुनीतिकुमार चैटरजी और श्री पी० डी० शुक्ल तीन सदस्य थे। उन्होंने गुरुकुल के प्रत्येक विभाग को बड़ी गहराई से देखा। उनके मनोरंजनार्थ और यह दिखलाने के लिए भी कि गुरुकुल मे अंग्रेजी का स्तर ऊँचा है, अंग्रेजी के नाटक 'द बिशप्'स कैण्डल स्टिक्स' का अभिनय किया गया। इस नाटक का निर्देशन इन पंक्तियों के लेखक ने ही किया था। तीनों सदस्यों ने सभा में अभिनय की भूरि-भूरि प्रशंसा की। बाद में पत्र भी लिखे जो 'गुरुकुल पत्रिका' में छपे। उस अभिनय के अवसर पर जो फोटोग्राफ लिया गया था, वह ऐतिहासिक है क्योंकि गुरुकुल में यह एक नये युग का सूचक है। उसे फोटोग्राफ में विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलाधिपति भी विद्यमान थे। कुछ समय पश्चात् समिति की रिपोर्ट भी आ गई। ७-८ विभागों में एम० ए० तक अध्यापन की व्यवस्था भी कर दी गई। उपाध्यायों के वेतन हेतु और विकास के लिए भी धन मिला। कार्य की अधिकता को देखते हुए एक पूर्णकालिक रजिस्ट्रार की आवश्यकता अनुभव हुई और इस पद पर पं० सत्यव्रत जी ने स्थायी रूप से मेरी नियुक्ति कर दी। अतः गुरुकुल के जिस नये भवन की आधारशिला पं० सत्यव्रत जी ने रखी,

उसी पर वर्तमान गुरुकुल का निर्माण हो रहा है। इस प्रकार पंडित जी गुरुकुल में आधुनिक युग के निर्माता हैं। उनकी यह देन सदा स्मरणीय रहेगी।

पंडित जी ने उपनिषदों, भगवद्गीता और भारतीय संस्कृति पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं; जिनके कई संस्करण निकल चुके हैं। उनके जीवन पर गीता के कर्मयोग की गहरी छाप है। ९० वर्ष की अवस्था में भी उनकी ग्रंथ-रचना जारी है। उनकी लेखनी में जान है, उनका मस्तिष्क सजग है और शरीर भी साथ दे रहा है। पिछले दिनों जब मैं महर्षि दयानंद पर ग्रन्थ लिख रहा था, तो मुझे 'वैदिक मैग्जीन' की पुरानी फाइलें देखने का अवसर मिला। आज से ६५ वर्ष पूर्व भी पंडित जी के लेख उस पत्रिका में मैंने पढ़े हैं। आज भी पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख निकलते रहते हैं। इतनी लम्बी अवधि तक लिखने वाले सम्भवतः वे गुरुकुल के पहले स्नातक हैं। हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में लेखन की उनमें असाधारण क्षमता है।

धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त, पंडित जी ने मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र पर भी कई ग्रन्थ लिखे हैं। ये ग्रन्थ कई दशकों तक विद्यार्थियों का मार्गदर्शन करते रहे। उनकी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल ने भी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। उनके देश-प्रेम और लेखिका के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए उन्हें राज्य-सभा का सदस्य मनोनीत किया गया था। उनके बाद पंडित जी भी राज्यसभा के सदस्य मनोनीत हुए। १९६० में जब विजिटर की नियुक्ति का प्रश्न आया तो पंडित जी सर्वसम्मति से गुरुकुल के विजिटर नियुक्त हुए। फिर १९८३ में दोबारा नियुक्त हुए। तीसरी बार फिर उनको नियुक्त करना चाहते थे पर स्वयं पंडित जी ने मना कर दिया। अब इस पद को श्री सोमनाथ जी मरवाहा सुशोभित कर रहे हैं।

पंडित जी में राष्ट्रप्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी है। हमने उनके अनेक भाषण सुने हैं। उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय भाग भी लिया और जेल भी गये।

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, जिसकी वर्तमान बिक्री एक करोड़ के लगभग है, उन्हीं द्वारा स्थापित हुई थी। गुरुकुल का विद्यालय विभाग फार्मेसी की आय पर ही चल रहा है। उन्होंने कई बाग-बगीचे भी लगवाये, जिनकी आय गुरुकुल को अब तक मिल रही है।

पंडित जी ने कुलपति के रूप में कोई वेतन नहीं लिया, पर कार्य ऐसे करते थे कि जैसे वे वेतन ले रहे हों। उन्हीं की प्रेरणा से हम लोगों ने भी त्याग भावना से संस्था की सेवा की।

पंडित जी पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे अपनी जाति के लोगों को नियुक्त करते हैं, पर मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि वे कभी भी जातिवाद की भावना में अंधे नहीं हुए। ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान हैं जब उन्होंने महत्वपूर्ण पदों पर उन व्यक्तियों को नियुक्त किया, जो उनकी जाति के नहीं थे। वे इस बात पर भी बल देते थे और अब भी देते हैं कि किसी को भी अपने नामों के पीछे जाति का नाम नहीं लगाना चाहिए। गुरुकुल में इसका प्रभाव भी हुआ था।

हर प्रशासक के समय में छोटे-मोटे संघर्ष हो ही जाते हैं। पंडित जी के समय में भी कभी-कभी संघर्ष हुआ। फिर भी उनके हृदय में प्रत्येक के प्रति सहानुभूति थी। वे हर एक के दर्द को देखते थे और उसे दूर करने का प्रयत्न भी करते थे। वे कोरे प्रशासक ही नहीं थे, एक मानव भी थे। यही बात है जो उन्हें अन्य लोगों से अलग करती है।

वस्तुतः पंडित जी सच्चे अर्थों में प्रेरणा के स्रोत थे और हैं। हमें उनके पदचिह्नों पर कम-से-कम इस रूप में चलना चाहिए कि हम निष्ठापूर्वक अपना कार्य करते रहें।

पंडित जी ने एक पुस्तिका लिखी है 'बुढ़ापे से जवानी की ओर'। हम प्रार्थना करते हैं उस परम पिता से कि पंडित जी स्वस्थ और प्रसन्नचित्त रहते हुए लम्बे समय तक हमारा मार्गदर्शन करते रहें।

युवा पथप्रदर्शक पंडित जी

प्रो० हरगोपाल सिंह, पी-एच० डी०
मनोविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में यह एक सत्य है कि लेखक के जीवन के अनुभवों की छाप उनके साहित्य पर किसी न किसी रूप व मात्रा में अवश्य पड़ती है। पंडित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने अपना जीवनवृत्त एक शिक्षक के रूप में शुरू किया, आजीवन विभिन्न उच्चस्तरीय शिक्षण संस्थाओं के प्रशासनों से सक्रिय रूप में सम्बन्धित रहे और शिक्षण संस्था के सर्वोच्च पद परिद्रष्टा से अभी-अभी निवृत्त हुए हैं। शिक्षण के इस कार्य-क्षेत्र में वे आजीवन नवयुवकों के सम्पर्क में रहे। उनकी भावनाओं को, उनकी उलझनों को, उनके बदलते विचारों, मूल्यों और व्यवहारों को उन्होंने भली प्रकार समझा, उनके लिए समाधान प्रस्तुत किये और मार्ग-निर्देशन किया।

किशोरावस्था के आने पर जब युवा पीढ़ी में शीघ्रता से शारीरिक, मानसिक और सामाजिक परिवर्तन होते हैं तो उनके व्यवहार में समायोजन की विषम परिस्थितियाँ पैदा होने लगती हैं। यदि इस संकट काल में सुचारु मार्गदर्शन न हो तो युवा पीढ़ी विभिन्न बुरी विचारधाराओं, आदतों और चारित्रिक खराबियों की शिकार हो जाती है। मानव व्यवहार के कुशल मनीषी पंडित जी यह भली भाँति जानते थे। अतः उन्होंने बहुत दिनों पहले ही 'ब्रह्मचर्य सन्देश' पुस्तक हिन्दी में और 'कॉन्फीडेन्शियल टाक्स टू यंगमैन' पुस्तक अंग्रेजी में लिखीं। इन पुस्तकों के माध्यम से उन्होंने युवकों को प्रशिक्षण दिया कि ब्रह्मचर्य का पालन क्यों आवश्यक है, इसके क्या लाभ हैं तथा इसके पालन में क्या-क्या कठिनाइयाँ और प्रलोभन आते हैं और उन पर कैसे काबू किया जाय। इतना ही नहीं, बुरी आदतें कैसे छोड़ी जायें तथा कुसंगत से कैसे बचा जाय—इन पर व्यावहारिक रूप से इतना गोपनीय मार्गनिर्देशन है कि ये पुस्तकें युवा पीढ़ी के सदस्यों के लिए उनकी शिक्षा का अनिवार्य अंग बन जाती हैं ताकि उनका जीवन पौरुषेय, समृद्धिशाली और सुखमय हो। सन् १९७५ की अपनी वृद्धा-वस्था में पंडित जी की आत्मा नवयुवकों की बिगड़ती विचारधारा पर फिर द्रवित हुए बिना न रह सकी और परिणामतः उन्होंने 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' ग्रंथ लिखा। जिसकी भूमिका के पृष्ठ १२ पर वह कहते हैं, "आज दिनोदिन बढ़ते वैज्ञानिक युग मे हमारी नई पीढ़ी के युवक-युवतियाँ इसी [जड़वादी] दृष्टिकोण को सत्य मानकर उसके अनुरूप अपना जीवन भी ढाल रहे हैं। परन्तु क्या उन्होंने कभी सोचा कि कहीं वे गलत रास्ते पर तो नहीं पड़ गये, कहीं जीवन के पथ से भटक तो नहीं गये? इस पुस्तक में वैदिक अध्यात्म को विज्ञान की कसौटी पर कसकर उसे परखने का प्रयत्न किया गया है ताकि हमारी नई पीढ़ी जिन मान्यताओं को अवैज्ञानिक कहकर छोड़ती जा रही है उन पर इस दृष्टि से सोचने का यत्न करे कि उनमें अवैज्ञानिकता कहाँ है?"

वास्तविकता है कि वैदिक विचारों में वैज्ञानिकता है। विज्ञान की जो भी नई शाखाएँ आधुनिक युग में प्रस्फुटित हो रही हैं वे भिन्न-भिन्न मात्राओं में वेदों में सिद्धान्ततः बहुत पहले से विद्यमान हैं जैसे विमान-शास्त्र, चिकित्साशास्त्र, मनोचिकित्साशास्त्र, रसायन, मनोविज्ञान, वृष्टिविज्ञान, नक्षत्रविज्ञान, ज्योतिष,

शिक्षाविज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, भौतिकशास्त्र इत्यादि। भारत में अध्यात्मवाद और विज्ञान एक-दूसरे के विरुद्ध न चलकर एक-दूसरे के साथ-साथ चले हैं। वे एक-दूसरे के पोषक हैं। दोनों का आधार सत्य-निरूपण है। इसीलिये कितने ही विदेशी महापुरुष भारत और उसके अध्यात्मवाद से प्रभावित हुए हैं। उदाहरण के लिए जर्मन दार्शनिक शॉपेनहावर कहता है, "विश्व के सम्पूर्ण साहित्य-भंडार मे किसी ग्रन्थ का अध्ययन मानव के विकास के लिए इतना हितकर तथा ऊँचा उठाने वाला नहीं है जितना कि उपनिषदों का अध्ययन। इनके अध्ययन से मुझे जीवन में शान्ति मिली है, इनके ही अध्ययन से मुझे मृत्यु के समय भी शान्ति प्राप्त होगी।" जब सिकंदर भारत पर आक्रमण करने चला तो उसके गुरु अरस्तू ने उससे दो चीजें भारत से लाने को कहा—एक गीता पुस्तक तथा दूसरा दार्शनिक संत। औरंगजेब के भाई दारा ने उपनिषदों का अनुवाद फारसी भाषा में किया।

मैक्समूलर अपनी पुस्तक, 'इण्डिया वाट कैन इट टीच अस' में लिखते हैं, "अगर मैं विश्व-भर मे से उस देश को ढूँढ़ने के लिए चारों दिशाओं में आँखें उठाकर देखूँ जिस पर प्रकृति देवी ने अपना सम्पूर्ण वैभव, पराक्रम तथा सौन्दर्य खुले हाथों लुटाकर उसे पृथ्वी का स्वर्ग बना दिया है, तो मेरी अँगुली भारत की तरफ उठेगी। अगर मुझसे पूछा जाय कि अन्तरिक्ष के नीचे कौन-सा वह स्थल है जहाँ मानव के मानस ने अपने अन्तराल में निहित ईश्वर-प्रदत्त अन्यतम सद्भावों को पूर्ण रूप से विकसित किया है, गहराई मे उतर कर जीवन की कठिनतम समस्याओं पर विचार किया है, उनमें से अनेकों को इस प्रकार सुलझाया है जिसको जानकर प्लेटो तथा कांट का अध्ययन करने वाले मनीषी भी आश्चर्यचकित रह जाएँ, तो मेरी अंगुली भारत की तरफ उठेगी। और, अगर मैं अपने से पूछूं कि हम—यूरोप के वासी—जो अब तक केवल ग्रीक, रोमन तथा यहूदी विचारों में पलते रहे हैं, किस साहित्य से वह प्रेरणा ले सकते हैं जो हमारे भीतरी जीवन का परिशोध करे, उसे उन्नति के पथ पर अग्रसर करे, व्यापक बनाये, सही अर्थों में मानवीय बनाये, जिससे हमारे इस पार्थिव जीवन को ही नही, हमारी सनातन आत्मा को प्रेरणा मिले, तो फिर मेरी अँगुली भारत की तरफ उठेगी।" महान वैज्ञानिक आइन्सटीन का कहना है कि बिना अध्यात्म के विज्ञान लँगड़ा है और बिना विज्ञान के अध्यात्म अन्धा है।

इसी तरह जिन विदेशियों ने वेदों और उनसे सम्बन्धित ग्रन्थों का मनन किया है वे उनकी वैज्ञानिक विचारधारा से गम्भीर रूप से प्रभावित हुए हैं। लेकिन इस ज्ञान की रिक्तता की स्थिति में लोग पाश्चात्य भौतिकवाद की दुहाई देते हैं और इसके लिए मनोविज्ञान के क्षेत्र में जिम्मेदार है वाटसन का व्यवहारवाद जो अपनी कट्टरता में मन, चेतना, आत्मा आदि किसी भी तरह की आन्तरिक अभौतिक सत्ता को नही मानते। समस्त मानसिक व्यापार और व्यवहार को वे तंत्रिकातंत्र और उत्तेजना+प्रतिक्रिया के माध्यम से वर्णित कर देते हैं। वाटसन के साथियों के अलावा रूसी मनोवैज्ञानिक पावलव ने कुत्ते पर प्रयोग करके अनुकूलित अनुक्रिया का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिससे स्वाभाविक सहज क्रिया का सम्बन्ध नवीन बनावटी उत्तेजना से करके उसे बदला जा सकता है अर्थात् उत्तेजना प्रतिक्रिया के द्वारा भाव भी बदल जाता है। संवेगों की उत्पत्ति के बारे में विलियम जेम्स तथा लैंग ने प्रयोग करके सिद्ध किया कि संवेगों की उत्पत्ति शारीरिक परिवर्तनों पर निर्भर करती है। यदि स्वचालित नाड़ी तंत्र की शारीरिक ग्रंथियाँ विशिष्ट प्रकार के स्राव तुरन्त न निकालें तो संवेग जो कि मानसिक अनुभूति हैं वह उत्पन्न ही न हों। अर्थात् भाव की अनुभूति शारीरिक क्रिया पर निर्भर करती है। इन आधारों पर पाश्चात्य भौतिकवाद मनुष्य के समस्त व्यवहारों को स्वचालित मशीन की तरह मानता है। लेकिन इस आधार पर मानव व्यवहार की पूर्ण और संतोषजनक व्याख्या नहीं हो पाती। स्वयं वाटसन के अपने ही सम्प्रदाय के बाद के साथी उससे भिन्न हुए। उदाहरण के लिए टालमैन ने आंतरिक ध्येय को मुख्यता दी और 'एस+आर' सूत्र के स्थान पर 'एस+ओ+आर' को मानने लगे अर्थात् उत्तेजना के आने पर व्यक्तित्व में आन्तरिक व्यापार की भूमिका प्रतिक्रिया को कराने में मुख्य होती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चार दशकों के बाद कितने ही नये सम्प्रदाय पाश्चात्य जगत में ही उत्पन्न

हुए जिन्होंने मानव की यांत्रिकता को नकारा है और उसके आंतरिक पक्ष का प्रबल समर्थन किया है। मानवतावादी मनोविज्ञान (ह्यूमेनिस्टिक अथवा थर्डफोर्स साईकलोजी) सम्प्रदाय के अंतर्गत अब्राहम मैसलो, गोरडन आलपोर्ट, कार्ल रोजर्स, रोलोमै, आर्थर काम्बस, विक्टर फ्रेन्कल, ऐरिक फ्राम इत्यादि मनोविज्ञानवेत्ता आते हैं। मैसलो ने सैल्फ एक्चुऐलाइजेशन अर्थात् आत्म-अभिव्यक्ति का सिद्धान्त निकाला। गोल्डस्टीन ने इसी को सेल्फ रीऐलाइजेशन अर्थात् आत्मानुभूति का नाम दिया। इसी तरह के नामों से अन्य एगझिस्टेशियल मनोवैज्ञानिकों ने इसे पुकारा। सेल्फ थ्योरी आत्मा या स्व के सिद्धान्त पर आधारित बहुत से मानव व्यक्तित्व विशेषज्ञ हाल ही में हुए हैं जिन्होंने मानव के अंत करण के पक्ष का प्रबल पोषण किया है। इनमें सिडनी जुराड़, सीमान, सिनिग आदि के नाम प्रमुख हैं। ह्यूमेनिस्टिक तथा एगजिस्टेंशियल आन्दोलनों ने व्यवहार की नीव पूरी हिला दी तथा सभी लोग इनकी ओर बढ रहे हैं। जर्मन विद्वान गियोरगी ने इस नई विचारधारा को 'मन, संस्कृति अथवा आत्मा का विज्ञान' कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि वैज्ञानिक आत्मा, चेतना, मन की सत्ता में फिर आस्था करने लगे।

पंडित सत्यव्रत जी ने पाश्चात्य भौतिकवाद को अपूर्ण बताते हुए सिद्ध किया है कि चेतना, आत्मा, मन आदि अंतःकरणों के बारे में वेदों में प्राप्त विचार वैज्ञानिक हैं। जिनको पाश्चात्य लोग अब समझ पा रहे हैं। उपनिषद भी बहुत पहले ईश्वर आदि के बारे में वैज्ञानिक विचार दे चुके हैं। भारतीय दर्शन में भौतिकवादी विचारधारा को कपिल आदि साख्यवादियों ने बहुत बल देकर कहा है। वे भी भौतिक मनोवैज्ञानिक थे जो शरीर को यंत्र तो मानते थे परन्तु इस यंत्र का संचालन कोई चेतन सत्ता कर रही है यह भी मानते थे। सांख्यकार क्रिया-प्रतिक्रिया अर्थात् उद्दीपक प्रतिक्रिया को यंत्रवत् मानते हैं किन्तु ये स्वयं-चालित न होकर किसी अभौतिक सत्ता, जिसे अन्तःकरण कहा जाता है, उससे संचालित होते हैं। अंतःकरण के अंतर्गत मन, बुद्धि, चित्त अहंकार आते हैं। इसी प्रकार ईश्वर की सत्ता पर भी उपनिषदों में वैज्ञानिक विचार बहुत प्रबल मिलते हैं। इतना ही नहीं, निष्काम कर्म, पुनर्जन्म, शिक्षा आदि पर उपनिषदों के विचार आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों से बहुत कुछ मिलते हैं तथा किन्हीं अर्थों में वे बहुत आगे भी हैं।

बीसवी सदी मे पाश्चात्य जगत में साइकॉलोजी एक नये विज्ञान के रूप मे उभर कर सामने आया। किन्तु भारत मे यह विज्ञान अथर्ववेद के समय में ही अपनी चरम सीमा को पहुँच गया। अथर्ववेद के बहुत से नामों में से एक नाम 'आत्मवेद' भी है जिसका अर्थ है आत्मा का ज्ञान जो कि ग्रीक भाषा के शब्द 'साइके-लोगस' का पर्यायवाची है। अथर्ववेद प्रयुक्त मनोविज्ञान का अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें मनुष्य जीवन की समस्त प्रकार की समस्याओं को हल करने के लिए मानसिक या मनोवैज्ञानिक क्रिया-प्रक्रियाएँ अपनाई गई हैं। इस वेद का दावा है कि मानसिक शक्ति भौतिक शक्ति से कहीं अधिक शक्तिशाली है। जहाँ पाश्चात्य मनोविज्ञान मानव व्यक्तित्व के केवल असामान्य व्यवहार को सामान्य बनाने के उपाय दे पाया है वहाँ वैदिक मनोविज्ञान असामान्य व्यक्तित्व को सामान्य बनाने के बाद सामान्य से उठाकर उच्च सिद्धियों वाला सुपर व्यक्तित्व बनाता है। इतना ही नहीं, अथर्ववेद में मनोचिकित्सा भी विस्तार से मिलती है। यौगिक मनोविज्ञान की उच्चता दर्शाते हुए मिस जीराल्डाइन कास्टर कहती हैं कि मन के बारे मे भारतीय सिद्धान्त पूर्व के सिद्धान्त से बहुत अधिक पूर्ण है तथा पाश्चात्य मनोविश्लेषणवाद योग मनोविज्ञान के आरम्भिक दो अध्यायों तक ही पहुँच पाया है और उसे बाकी बहुत से अध्यायों तक अभी पहुँचना बाकी है।

भारत तथा विदेशों में कितने ही विद्वान वेदों में निहित विभिन्न विज्ञानों की खोज में लगे हैं और वे वैदिक विचारों की वस्तुनिष्ठता, विश्वसनीयता तथा वैज्ञानिकता मे दिनोदिन आस्था बढ़ाते जा रहे हैं। पंडित सत्यव्रत जी के ठोस प्रमाण एवं प्रयासों से वैदिक विचारधारा में वैज्ञानिकता का आभास नई पीढ़ी को होने लगा है जिससे वे भारतीय संस्कृति के प्रति आस्थावान होकर गौरवान्वित अनुभव करने लगे हैं।

डॉ० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार ९१वें वर्ष में

स्नातक अशोक वेदालंकार

डा० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार, जिन्हें राष्ट्रपति ने १९८१ के स्वतन्त्रता-दिवस पर एक प्रतिष्ठित संस्कृतज्ञ तथा वेदज्ञ के रूप मे सम्मानित करने की घोषणा करते हुए आजन्म ५०० रुपया प्रतिवर्ष अनुदान देने की योजना को स्वीकृति दी, अपूर्व प्रतिभा के व्यक्ति हैं। वे जहाँ कुशल प्रबन्धक हैं वहाँ अगाध पाण्डित्य के धनी हैं। व्यावहारिकता तथा विद्वत्ता का मिश्रण विरला ही पाया जाता है, परन्तु डा० सत्यव्रत जी मे वे दोनों गुण अपने उच्च शिखर पर पहुँचे हुए हैं। आप १९३५ मे गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुए। आपकी नियुक्ति तो आपकी विद्वत्ता के कारण हुई थी, परन्तु काम सँभालते ही आपने गुरुकुल की आर्थिक स्थिति को दृढ़ करने की तरफ पहले ध्यान दिया। गुरुकुल के खाली मैदानों मे आम के सैकड़ों पेड़ वहाँ के कर्मचारियों से ही लगवा दिये, जिनसे प्रतिवर्ष २०-२१ हजार रुपये की आय होने लगी। फ़ार्मेसी की आमदनी लगातार के विज्ञापनों के माध्यम से आठ गुना बढ़ा दी। प्रेस जो बन्द पड़ा था उसे जारी करके 'गुरुकुल' नाम का साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित करना शुरू कर दिया, आयुर्वेदिक कालेज के साथ चिकित्सालय मे श्रद्धानन्द सेवाश्रम के नाम से दानियों को प्रेरित करके अनेक वार्ड बनवा दिये, श्री जुगलकिशोर बिड़ला के दान से लाखों की वेद-भवन की बिल्डिंग खड़ी कर दी। चारों दिशाओं में गुरुकुल को प्रगति के पथ पर डाल दिया। जब १५ नवम्बर १९४१ को आप 'दयानन्द सेवा सदन' की सदस्यता का काल समाप्त कर गुरुकुल की सेवा से निवृत्त हुए तब आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा ने एक विशेष अधिवेशन बुलाकर आपको जो अभिनन्दन-पत्र दिया उसमें कहा गया था :

"बाढ़ के रूप में गुरुकुल पर दैवीय विपत्ति आने से इस पार उसके पुनर्निर्माण का जो कठिन कार्य प्रारम्भ किया गया था उसे पूर्णता तक पहुँचाने का श्रेय आपको ही है। आपके समय के बने हुए भव्य भवन आपकी सुरुचि का सदा स्मरण कराते रहेंगे। गुरुकुल के व्यावसायिक विभागों को विशेष रूप से उन्नत करके तथा कुछ नये विभाग जारी करके इनके द्वारा गुरुकुल को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने का जो प्रशंसनीय कार्य आपने किया है वह चिरस्मरणीय रहेगा। गुरुकुल में लगाये हुए फलों के बाग, श्रद्धानन्द सेवाश्रम, गुरुकुल मुद्रणालय, 'गुरुकुल' पत्र, गुरुकुल फार्मेसी तथा रसायनशाला आदि विभाग आपकी प्रबन्ध-कुशलता का परिचय स्वयं दे रहे हैं।"

१९३५ के २४ वर्ष बाद, ४ जून १९६० को आप दोबारा छः साल तक गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। वैसे तो गुरुकुल के सम्पूर्ण सेवाकाल में आप वेतन न लेकर निर्वाह-मात्र पर कार्य करते रहे, परन्तु दोबारा आने के काल में तो आपने सर्वथा अवैतनिक सेवा की। जब १९६४ में राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने आपको राज्य-सभा का सदस्य मनोनीत किया तब आपके सतत प्रयत्न से १९६५ में गुरुकुल काँगड़ी को सरकार द्वारा विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त हुई और गुरुकुल की आर्थिक समस्या बहुत हद तक दूर हो गयी।

इस प्रकार के व्यवहार तथा प्रबन्ध-कुशलता के साथ-साथ आपका ज्ञान भी अगाध है। आपने सभी प्रसिद्ध उपनिषदों पर दो बृहदकाय ग्रन्थ लिखे हैं—एक का नाम 'एकादशोपनिषद-भाष्य' है, दूसरे का नाम

'उपनिषद-प्रकाश' है। आपका 'गीता-भाष्य' अपूर्व ग्रन्थ है। श्री जयप्रकाश नारायण अपने जेल जीवन में इस भाष्य का प्रतिदिन अध्ययन करते थे। उन्होंने अपनी जेल-डायरी में लिखा है कि यह ग्रन्थ गीता का सर्वोत्तम भाष्य है। वैदिक सिद्धान्तों पर आपका ग्रन्थ 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' इतनी उत्कृष्ट कोटि का ग्रन्थ है कि इसका अंग्रेजी में भी अनुवाद हो चुका है। वैसे तो आपके अनेक ग्रन्थ हैं, परन्तु उन ग्रन्थों के अतिरिक्त, 'संस्कार-चन्द्रिका', 'वैदिक संस्कृति के मूल तत्व', 'वैदिक संस्कृति का सन्देश' तथा 'ब्रह्मचर्य सन्देश' आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। समाजशास्त्र पर लिखे आपके ग्रन्थों को विश्वविद्यालयों की पाठविधियों में स्थान प्राप्त है।

आपके लिखे 'समाजशास्त्र के मूल तत्व' पर आपको हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मंगला प्रसाद पारितोषिक मिल चुका है। आपका लिखा हरेक ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। आपकी निर्बाध गति संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी में एक समान है। आपकी बहुमुखी प्रतिभा का एक उदाहरण यह है कि आपके होमियोपैथी पर लिखे ग्रन्थों को अत्यन्त उच्च कोटि का माना जाता है। अत्यन्त गूढ़ विषयों को सुलझाकर स्पष्ट कर देना आपकी लेखन-शैली की अपनी विशेषता है।

डा० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार का जन्म ५ मार्च १८९८ को हुआ था। ५ मार्च १९८८ को वे अपने दीर्घ जीवन के ९१वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। गणित के हिसाब से वे ९० वर्ष पूरे कर चुके हैं, परन्तु देखने को वे ज्यादा-से-ज्यादा ७०-७५ वर्ष के लगते हैं। कार्य-शक्ति में वे किसी युवा से कम नहीं है। अभी हाल में उन्होंने होमियोपैथी पर एक नवीन पुस्तक समाप्त की है। उनकी कमर सीधी है, वार्धक्य का कोई कष्ट उन्हें नहीं है। जब मैंने उनसे उनके स्वास्थ्य का रहस्य पूछा तो कहने लगे कि अंगों में शिथिलता आ जाना या लचकीलापन न रहने का नाम वार्धक्य है, मस्तिष्क तथा अंग-प्रत्यंग में लचकीलापन बने रहने का नाम यौवन है। अपनी दैनिक दिनचर्या का वर्णन करते हुए उन्होंने बतलाया कि प्रातः ४ बजे उठ जाते हैं और गर्दन से लेकर पैरों की अँगुलियों तक प्रत्येक अंग का व्यायाम करते हैं। अंगों के व्यायाम से उनका मतलब यह है कि जहाँ-जहाँ भी जोड़ हैं उसे वे आगे-पीछे, इधर-उधर चारों तरफ हिलाते हैं, वह भी गिनती के साथ। उदाहरणार्थ, अगर अँगुलियों का व्यायाम करते हैं, तो प्रत्येक पोर को सौ-सौ बार गिनकर आगे-पीछे हिलाते हैं। अँगुलियाँ, हाथ, कोहनियाँ, गर्दन, कन्धे, कमर, घुटने पांव, पाँवों की अँगुलियाँ जहाँ-जहाँ भी जोड़ हैं, गिन-गिन कर उन्हें गतिमान करते हैं ताकि जोड़ों में यूरिक ऐसिड की तलछट न रहे और उनमें लचक बनी रहे। इसका परिणाम यह है कि उन्हें न अँगुलियों का दर्द है, न कन्धों का, न कमर का, न घुटनों का जो वार्धक्य के चिह्न हैं। वे आसानी से दण्ड निकालते और बैठकें करते हैं। लचक बनाये रखने के इन व्यायामों के साथ-साथ वे सारी त्वचा का प्लास्टिक के ब्रुशों से घर्षण करते हैं जिससे सम्पूर्ण शरीर में रक्तप्रवाह सुचारु रूप से चलता रहे। यह सब कर चुकने के बाद वे खुली हवा में आध घण्टा प्राणायाम करते हैं। व्यायामों की इस सारी प्रक्रिया में उन्हें ३ घण्टे लग जाते हैं। उनका कथन है कि इन ६ घण्टों के व्यायाम से उनका सारा शरीर फुर्ती से भर जाता है। अपने अनुभवों के आधार पर उन्होंने एक ग्रन्थ लिखा है जिसका नाम है 'बुढ़ापे से जवानी की ओर'। इस ग्रन्थ में उन्होंने वह सब कुछ लिखा है जिसके आधार पर उनका जीवन स्वस्थ बना हुआ है। इस ग्रन्थ पर हाल ही में उन्हें २५०० रुपये का पुरस्कार मिला है। इस ग्रन्थ की २०० प्रतियाँ केन्द्रीय सरकार ने खरीद ली हैं।

अन्त में मैंने पूछा—आप भोजन क्या करते हैं? उन्होंने कहा कि रात को सोने से पहले वे २५ बादाम एक कटोरी में भीगने के लिए रख देते हैं, एक दूसरी कटोरी में १० मुनक्के भिगो देते हैं। प्रातःकाल व्यायाम तथा स्नान के बाद बादामों के छिलके उतारकर उन्हें मिक्सी में इतना पीसते हैं कि उनमें चिपचिपाहट आ जाए। मुनक्कों का मीठा पानी उनमें डालकर उसे धीरे-धीरे चम्मच से पी जाते हैं और मुनक्के खा जाते हैं। इसके बाद एक कप चाय पी लेते हैं। यही उनका प्रातःकाल का नाश्ता है। अगर केला, अमरूद या सेब

उपलब्ध हो तो वह भी नाश्ते के साथ ले लेते हैं। चाय या कॉफी न लेने की कोई कसम नहीं खा रखी। दोपहर एक बजे तथा रात को ८-९ बजे २ फुलके रोटी, दाल तथा सब्जी लेते हैं। दोनों समय दही अवश्य लेते हैं। दही के बगैर गुजारा नहीं। सोने से पहले त्रिफला के साथ एक कप दूध लेकर सो जाते हैं। इसका प्रयोजन उन्हें स्वस्थ तथा सशक्त बनाये रखने के लिए काफी है। नींद ४ घण्टे को आती है, जो कम मालूम पड़ती है, परन्तु सोने के बाद ताजगी बनी रहती है।

ऐसे तपस्वी, संयमी, मनीषी का दर्शन कर मैंने अपने को धन्य माना और विदा लेते हुए उनके चरणों में प्रणाम कर, प्रभु से यही प्रार्थना कर घर लौटा कि ऐसे महापुरुषों को अमर जीवन का वरदान दे ताकि वे जगत्-वंद्या वैदिक संस्कृति को विश्व-भर में उजागर करते रहें।

जीवन-यात्रा

(पण्डित सत्यव्रत जी की आत्मकथा और रचनाएँ)

पण्डित जी को होमियोपैथी पर हिन्दी मे सर्वोत्कृष्ट लेखक घोषित करते हुए नेहरू होमियोपैथिक कालेज दिल्ली के संस्थापक डा० युद्धवीर सिंह

पण्डित जी की पुस्तक 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' के विमोचन (9.12.1975) के समय उपस्थित मित्र-मण्डली के साथ प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी

नीलम संजीव रेड्डी

श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार महोदयाय

संस्कृत-वाङ्मये पाण्डित्याय

पण्डितजी को उनके अगाध पाण्डित्य के लिए महामहिम राष्ट्रपति
द्वारा प्रदत्त प्रशस्ति पत्र

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

लखनऊ

श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार को

उनकी कृति वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार पर

सन् 1976-77 के विशेष पुरस्कार से

पुरस्कृत किया गया तथा सम्मानस्वरूप ढाई सहस्र रुपये की

राशि भेंट की गयी।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के कार्यकारी उपाध्यक्ष तथा हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रदत्त पुरस्कार प्रमाण-पत्र

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

संवत् २०११

का

मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक

बारह सौ रुपया

श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

को

उनकी रचना 'समाजशास्त्र के मूलतत्त्व' के लिए

सादर दिया गया

जगदीश स्वरूप

पण्डित जी को समाजशास्त्र पर हिन्दी मे मौलिक लेखन के लिए अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा मगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदाम किया गया
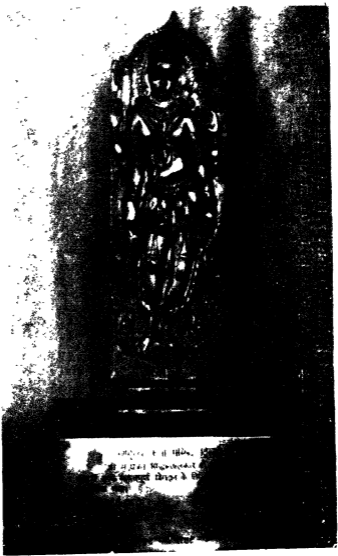
साहित्य कला परिषद् दिल्ली द्वारा, पण्डित सत्यव्रत जी
को समर्पित, वाग्देवी

श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल एम० पी० श्रीमती इन्दिरा गांधी तथा प्रधानमन्त्री
श्री जवाहरलाल नेहरू के साथ

सत्यव्रतजी 22.5 1982 को हॉलैंड-स्थित भारतीयों के निमन्त्रण पर होलैंड गये जहाँ वह दो महीने रहे। वहाँ से जर्मनी, बेलजियम, इग्लैंड आदि भी गये। हॉलैंड तथा इग्लैंड मे उन्होंने दाम तु साउड द्वारा निर्मित प्रदर्शनी का अवलोकन किया जहाँ ससार प्रसिद्ध नैपोलियन, चर्चिल, हिटलर आदि के मोम द्वारा बनाये पुतले रखे हुए है जो सजीव प्रतीत होते हैं। महात्मा गाधो तथा इन्दिरा गांधी के इन मोम-निर्मित सजीव पुतलों के मध्य लेखक।

कर्नल सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार
(जब वे गुरुकुल विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर थे)

माता पितरौ वन्दे

पण्डितजी के पिता - पं० बालकराम जी लखनपाल

माता - ईश्वरी देवी जी लखनपाल

श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार और
उनकी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल

ऊपर . सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
लेखक की पत्नी : श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०, बी० टी०
नीचे . लेखक का पुत्र विजय कृष्ण लखनपाल
पुत्रवधू : उषा लखनपाल
●● लेखक की छोटी पौत्री श्रुति लखनपाल, पौत्र · विभु लखनपाल,
बडी पौत्री : रिचा लखनपाल

ऊपर : श्री सत्यव्रत तथा उषा के भाई राकेश जुयाल
मध्य में चन्द्रावती लखनपाल, विनय, चन्द्रावती की बहिन प्रभा
नीचे प्रभा अग्निहोत्री तथा ब्रह्मदेव अग्निहोत्री की सन्तान

संस्कृत तथा वेदों में विद्वत्ता के कारण राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन द्वारा डॉ० सत्यव्रत जी को राज्य सभा का सदस्य मनोनीत किया गया। वैदिक विद्वान् होने के नाते उन्हे आजन्म प्रतिवर्ष 5000 रुपये सम्मान स्वरूप दिया गया उनका पुत्र विनय, उनकी पत्नी चन्द्रावती तथा उनकी पुत्र वधू उषा लखनपाल

पार्लियामेट के सदस्यो तथा प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू के साथ
श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल एम पी

श्री सोमदत्त शर्मा जो सत्यव्रत जी के छोटे भाई है, इन्होंने परिवार का व्यापार में डाला। कोई समय था जब इनकी 'शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी' एशिया की मूर्धन्य कम्पनी मानी जाती थी। इन्हें परिवार का 'निर्माता' (Builder) कहा जा सकता है।

श्री सोमदत्त शर्मा के छोटे भाई श्री देवदत्त लखनपाल ने बम्बई में मर्फी फैक्ट्री
तथा बड़ौदा मे बैट्री फ़ैक्ट्री का निर्माण कर परिवार को इन्डस्ट्री में डाल दिया।
इन्हे परिवार का 'परिपोषक' (Patron) कहा जा सकता है।

मेरी जीवन-यात्रा

डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

मैंने अपने ९० वर्ष के जीवन में बहुत कुछ देखा। अच्छा भी देखा, बुरा भी देखा; चढ़ाव भी देखा, उतार भी देखा; सम्पत्ति भी देखी, विपत्ति भी देखी; फूल भी देखे, कांटे भी देखे, मित्र भी देखे, मित्रो को शत्रु बनते भी देखा; सहृदय व्यक्ति भी देखे, ठग भी देखे; रिश्तेदार भी देखे, रिश्तेदारो को मुंह मोड़ते भी देखा। संसार एक रंग-भूमि है जिसमें भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न पात्रों का अभिनय करते हैं। यह अनुभव मेरा ही नहीं, हर व्यक्ति का है। कह नहीं सकते, जो व्यक्ति आज हमारे अनुकूल अभिनय करता है, कब वही व्यक्ति हमारे प्रतिकूल अभिनय करने लगेगा। जो जन्म-भर मित्रता का व्यवहार करते रहे, वही समयान्तर में जान के दुश्मन बन जाते हैं। बाप बेटे को, बेटा बाप को नहीं पहचानता, भाई-भाई और भाई-बहन जो बरसों साथ खेले, साथ पले, वे ऐसा व्यवहार करने लगते हैं मानो जन्म-जन्मान्तर के दुश्मन हैं। मेरा जीवन ऐसे अनुभवों से भरा पड़ा है। मीठे भी अनुभव हुए, कड़वे भी अनुभव हुए हैं। जिनसे कड़वे अनुभव होने का शक भी नहीं हुआ था, उन्हें जब उचेलकर देखा तो वे विष-वृक्ष निकले।

आत्म-कथा के इन पृष्ठों में कुछ आप-बीती लिखी जायेगी, कुछ जग-बीती। इस आत्म-कथा लिखने का यह अभिप्राय है कि पाठक लेखक के जीवन के मीठे-कड़वे अनुभवों का आनन्द उठायें और उन अनुभवों की अपने जीवन से तुलना करें। यद्यपि मेरी जीवन-कथा महात्मा गांधी या पंडित जवाहरलाल नेहरू सरीखे व्यक्तियों जैसी नही है, ताकि व्यक्ति-विशेष के रूप में कोई इसे पढ़े, तो भी किसी भी व्यक्ति की जीवन-कथा पढ़ने में एक आनन्द-सा आता है, इस जीवन-कथा को पढने से वह रस तो पाठक को मिलेगा ही, परन्तु साथ ही भिन्न-भिन्न विषयों पर उसे कुछ नवीन विचार भी मिलेंगे।

मनुष्यों को अपने जीवन मे भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभवों मे से गुजरना पड़ता है। ऐसे क्षण आते हैं जब वह अपने भीतर झाँककर देखता है कि उसने कोई ऐसा काम नही किया जिससे वह उस मुसीबत का शिकार हो जो उस पर आ पड़ी है। ऐसे क्षणों के लिए किसी ने ठीक कहा है—"मेरे मन कुछ और है, विधिया के मन और"—मैं जिसे अकारण आयी मुसीबत समझ रहा हूँ, भगवान् के बही-खाते में वह जीवन का वरदान है, और आगे चलकर मुसीबतजदा व्यक्ति देखता है कि अगर वह मुसीबत न आती, तो वह कीचड़ में धंसा रहता। जिस कीचड़ में वह धंसा हुआ था, उसमें से निकलने का मुसीबत का आना ही एक तरीका था। जो व्यक्ति दूसरे को अकारण दु:ख देकर अपने को सफल समझता है, वह आगे चलकर देखता है कि उसके इस हीन कर्म का फल देने वाला कोई ऊपर वाला है जो अपने बही-खाते में हर व्यक्ति के कर्म तथा कुकर्म को दर्ज करता रहता है। इस कथन से मेरा यह अभिप्राय नही है कि कोई चित्रगुप्त नामक आध्यात्मिक व्यक्ति यह काम करता है। अस्ल में कर्मों का लेखा ही स्व-संचालित यंत्र है जिसके अनुसार सब कुछ यथायोग्य अपने आप होता रहता है। अपने विशाल जीवन का यह सार लिखकर मैं इस जीवन-कथा को प्रारंभ करता हूँ।

मैं अब ९१वें वर्ष में प्रवेश कर चुका हूँ। मैंने अब तक तीसियों ग्रन्थ लिखे हैं। प्रत्येक विषय पर

लिखा है। शिक्षा, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, सामाजिक विचार, उपनिषद्, संस्कार, वैदिक विचारधारा, गीता, होमियोपैथी—जो विषय सामने आया सब पर विशाल ग्रन्थ लिखे; प्रत्येक ग्रन्थ अपने विषय का प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया; हिन्दी में लिखे, अंग्रेजी में लिखे, मोरारजी भाई ने मेरे ग्रन्थों को देखकर कहा कि आपने तो एक पुस्तकालय लिख डाला। मैं एक ग्रन्थ समाप्त करता था तो दूसरे के लिखने की प्रेरणा उठ खड़ी होती थी, परन्तु ८१वें वर्ष में जब मैंने यह ग्रन्थ लिखना शुरू किया तब हृदय ने कहा कि अब बस करो, यह तुम्हारा अन्तिम ग्रन्थ होना चाहिए, कहीं तो गाड़ी को रोको। यह विचार आते ही यह विचार भी उठा कि इस पुस्तक के प्रारम्भ में अपने जीवन की कथा भी लिख रखो ताकि तुम्हारे वंशजों को कभी-कभी तुम्हारी याद आती रहे, और अगर वे तुम्हारी पुस्तकें न भी पढ़ें तो तुम्हारी जीवन-कहानी तो पढ़ें। इस जीवन-कहानी के पढ़ने के साथ-साथ इस पुस्तक में जो तुम्हारे विचार लेखबद्ध हुए हैं शायद उन्हें भी पढ़ने में उनकी रुचि उत्पन्न हो जाये।

मेरा जन्म ५ मार्च १८९८ में लुधियानान्तर्गत सबद्दी ग्राम में हुआ। मेरे पिता का नाम पण्डित बालकराम था, माता का नाम ईश्वरीदेवी था। हम कुल ५ भाई तथा ३ बहनें थीं। सबसे बड़े का नाम धर्मदत्त था, उससे दो वर्ष छोटा मैं, मुझसे २ वर्ष छोटा सोमदत्त, उससे २ वर्ष छोटा देवदत्त था। देवदत्त के बाद बहिन सावित्रीदेवी, उससे छोटी शान्तिदेवी, उससे छोटी कौशल्यादेवी, और सबसे छोटा ब्रह्मदत्त था। इनमें से धर्मदत्त, देवदत्त, सावित्रीदेवी और ब्रह्मदत्त का देहान्त हो चुका है; मैं, सोमदत्त, शान्तिदेवी तथा कौशल्यादेवी जीवित हैं। हम लोग जाति की दृष्टि से सारस्वत ब्राह्मण कहे जाते हैं। धर्मदत्त और सोमदत्त अपने को शर्मा लिखते रहे, देवदत्त तथा ब्रह्मदत्त अपने को लखनपाल लिखते रहे, मैं अपने को गुरुकुल विश्वविद्यालय की डिग्री के कारण सिद्धान्तालंकार लिखता हूँ और लिखता रहा। आर्यसमाज के विचारों के कारण मैंने जन्मना ब्राह्मण होने का कोई चिह्न अपने नाम के साथ नहीं लगाया।

१. विद्यालय में मेरा जीवन

जिस युग में मैं उत्पन्न हुआ वह आर्यसमाज की विचारधारा के शिखर का युग था। मेरे पिता कट्टर आर्यसमाजी थे। उन्हीं दिनों गुरुकुल की चर्चा देश-भर में थी। उन दिनों बचपन के जीवन का मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है। मुझे कब गुरुकुल में लाया गया, किस प्रकार भर्ती किया गया, किस प्रकार मेरे माता-पिता मुझे गुरुकुल में छोड़कर चले गये—आज किसी बात का स्मरण नहीं है। गुरुकुल के पुराने रिकॉर्डों को देखने से मुझे पता चला कि जब मैं गुरुकुल काँगड़ी में भर्ती कर दिया गया उस समय मेरी आयु ७ वर्ष की थी। उस रिकॉर्ड को ही देखकर मुझे पता चला कि मेरी जन्मतिथि ५ मार्च, १८९८ है।

प्रथम कक्षा से दशम कक्षा, अर्थात् १७ वर्ष की आयु तक की कुछ-कुछ झलकें याद आती हैं। हमारी दिनचर्या बड़ी नियमित तथा साधनामय थी। पीली धोती की साफी लगाकर पहनना, सर्दी-गर्मी में नंगे पाँव रहना, सिर के बाल कंघी से न बनाना, ८ बजे 'यज्जाग्रतो' आदि मन्त्र गाकर सो जाना, प्रातः ४ बजे उठना, प्रार्थना करना, जंगल में शौच जाना, लौटकर व्यायाम करना, गंगा के ठण्डे पानी से स्नान करना, सम्मिलित सन्ध्या-हवन करना, अपने कमरों में बारी-बारी झाड़ू देना, घर के लिए दिया गया कार्य याद करना, १० बजे से ४ बजे तक विद्यालय जाना, लौटकर कुश्ती, हॉकी, क्रिकेट आदि खेलना, फिर शाम का सन्ध्या-हवन करना—यह नियमित कार्यक्रम था। जब हम लोग गुरुकुल में रहे—१४ वर्ष तो पढ़े ही—कभी चाय-कॉफी का मुँह तक न देखा, पाँव में जूता नहीं पहना, रुपये-पैसे को हाथ नहीं लगाया। उस समय न रेडियो था, न टेलीविजन था, न सिनेमा था, न कॉमिक था, न वीडियो था। हम रहे तो १४ वर्ष गुरुकुल में ही, पर माता-पिता या भाई-बहन से भी सम्पर्क साल में एक बार वार्षिकोत्सव पर सिर्फ एक-दो घण्टे के लिए ही होता था। कभी-कभी तो हम अपने सगे कुटुम्बियों को भी पहचान नहीं सकते थे। उस समय की एक घटना मुझे अब

तक याद है। हम ब्रह्मचारी यज्ञशाला में बैठे हवन कर रहे थे। वार्षिकोत्सव का समय था। उस समय माता-पिता, भाई-बहन साल में मिलने के लिए एक बार आया करते थे। मैंने देखा कि एक लड़का यज्ञशाला में मेरे पीछे आकर बैठ गया और लगातार मेरी तरफ देखता रहा। मैं सोचने लगा कि वह मेरी तरफ क्यों देखता जा रहा है? इस दुविधा में मैं उठकर लघुशंका के लिए बाहर जाने लगा तो क्या देखता हूं कि वह भी मेरे पीछे-पीछे आने लगा। मैंने ठहरकर पूछा, तुम मेरा पीछा क्यों कर रहे हो? वह बोला—मैं सोमदत्त हूं, तुम्हारा छोटा भाई। अपने माता-पिता को भूल जाना और दूसरे वर्ण के माता-पिता को अपना समझना—कुछ ऐसी ही बात ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में भी कही है। चतुर्थ समुल्लास मे वे लिखते हैं :

प्रश्न—जो किसी के एक ही पुत्र या पुत्री हो, वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाय, तो उसके माँ-बाप की सेवा कौन करेगा?

उत्तर—न किसी की सेवा का भंग होगा और न वंशोच्छेद होगा क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्या-सभा और राज्य-सभा से मिलेंगे।

बिल्कुल ऐसी ही बात प्लेटो ने भी लिखी है। कहने का अभिप्राय यह है कि हम लोगों का गुरुकुल का जीवन कुछ इस प्रकार का था कि हम लोग अपने माता-पिता को भी भूल जाते थे। सारे राज्य मे ऐसी व्यवस्था चले तो चल सकती है, कुछ इने-गिने कुटुम्बों में ऐसी व्यवस्था नही चल सकती।

उन्ही दिनों की बात है कि नाभा के राजा गुरुकुल मे पधारे। सब ब्रह्मचारी यज्ञशाला मे बैठे थे। महात्मा मुंशीराम जी राजा साहब को लेकर यज्ञशाला में आये। राजा साहब ने महात्मा जी पूछा—क्या आप सब वर्णों के छात्रों को एक-साथ रखते हैं? क्या छूत-अछूत का भेदभाव नही रखते? महात्मा जी ने उत्तर दिया—हमारे छात्र तो जानते ही नहीं कि कौन किस वर्ण का है, सब आपस में भाई-भाई हैं। महात्मा जी ने राजा साहब से पूछा—क्या आप शक्ल देखकर कह सकते हैं, कौन ब्राह्मण है, कौन शूद्र है या अस्पृश्य जाति का है? राजा साहब ने कहा—बेशक, शक्ल देखकर ही जात पहचानी जाती है। भाग्यवश वहाँ एक दक्षिण का ब्राह्मण बालक बैठा था जो तन से कृष्ण वर्ण का था। महात्मा जी ने राजा साहब से उस छात्र की तरफ इशारा करके पूछा—यह किस वर्ण का है? राजा साहब ने आव देखा न ताव, झट बोल उठे—यह शूद्र वर्ण का है। इसके बाद एक गौर वर्ण के छात्र की तरफ, जो शूद्र वर्ण का था, इशारा करके महात्मा जी ने पूछा—यह छात्र किस वर्ण का है? राजा साहब बोल उठे—ब्राह्मण वर्ण का। महात्मा जी ने हँसते हुए राजा साहब को कहा—हम तो जन्म की जात-पाँत मानते नहीं, परन्तु जिसे आपने शूद्र वर्ण कहा है वह ब्राह्मण जन्म का है; जिसे आपने ब्राह्मण वर्ण का कहा है, वह शूद्र जन्म का है। राजा साहब इस स्थिति को देखकर हतप्रभ हो गये।

इन दिनों मेरे साथ एक घटना घटी जिसका संक्षेप मे उल्लेख करना आवश्यक है। मैं सम्भवतः ७वी या ८वी श्रेणी में पढ़ता था। घर से तार आया कि पिताजी का मोगा मे डॉ० मथुरादास ने पथरी का ऑपरेशन किया है, वे सख्त बीमार हैं, चले आओ। डॉ० मथुरादास आँखो के ऑपरेशन के लिए तो प्रसिद्ध थे, पथरी के ऑपरेशन के लिए प्रसिद्ध नही थे। परन्तु ये मेरे पिताजी के मित्र थे इसलिए पिताजी उनसे ऑपरेशन के लिए राजी हो गये। उन दिनों ऐसा ऑपरेशन पेट चीरकर नहीं किया जाता था, जननेन्द्रियों में शलाका डालकर पथरी तोड़कर किया जाता था, इस प्रकार भीतर घाव भी हो सकता था। वैसा ही हुआ। पिताजी को बचपन से पथरी की शिकायत थी, सोचा इससे झंझट छूट जाय। ऑपरेशन सफल न हुआ और इसी मे उनका देहान्त हो गया। मैं तब तक मोगा पहुँच चुका था। सारा परिवार वहीं पर था। पिताजी की अचानक मृत्यु से परिवार पर अनभ्र वज्रपात हुआ। हम सब बच्चे छोटे-छोटे थे। सबसे छोटा ब्रह्मदत्त तो छः ही मास का था। परिवार की स्थिति डाँवाडोल हो गई। पिताजी दादाजी को रुपया देते रहते थे, वे सब खा-पी छोड़ते थे। गाँव में एक छोटा-सा मकान बनाया था, वही हम सबके रहने का ठिकाना था। पिताजी रेलवे में सब

प्लेट लेयर का काम करते थे। उनकी ५००० रुपये ग्रेच्युएटी मिलनी थी, परन्तु उसके लिए दौड़-धूप कौन करे ? मैं तो इन बातों में निरा कोरा था। सोमदत्त होशियार था, उसने सब-कुछ किया। माताजी के पास कुछ पैसा रहा होगा जिसका मुझे कुछ पता नहीं। जैसे-तैसे गाँव में गुजारा चल रहा था। बड़े भाई टाइपिस्ट का काम कर रहे थे, वे कुछ गुजारा चलाते होंगे। दादाजी ने अपने सिर कर्जा चढ़ा लिया था जिसे लेने के लिए जाट साहूकार ने हम बच्चों पर मुकद्दमा दायर कर दिया था। इस विकट स्थिति में हमारे फूफा हमारी मदद पर आये। उनका नाम पण्डित ब्रह्मानन्द अग्निहोत्री था। वे लुधियाना के मशहूर वकील थे। उनके लड़के थे श्री जगदीश अग्निहोत्री जो बैरिस्टरी पास कर भारत लौटे और भारत के विभाजन के बाद चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार बने। उनका देहान्त हो चुका है। उनके लड़के रूप अग्निहोत्री की पुत्री रति अग्निहोत्री सिनेमा अभिनेत्री है। रूप-अग्निहोत्री का भी देहान्त हो चुका है। मेरे फूफा पण्डित ब्रह्मानन्द जी की सुनाई हुई एक घटना मुझे स्मरण है। वे सुनाते थे कि उन्होंने लाहौर में पढ़ा और स्वामी रामतीर्थ उनके अध्यापक रहे थे। पण्डित ब्रह्मानन्द जी जब लुधियाना में वकालत करने लगे तब एक दिन स्वामी रामतीर्थ उनके यहाँ मेहमान बनकर आ टिके। स्वामी जी के पास एक कश्मीरी दुशाला था। मेरे फूफा जी ने उस दुशाले की तारीफ की। अगले दिन स्वामी रामतीर्थ प्रातःकाल ही घर से चले गये और दुशाला वहीं छोड़ गये। फूफा जी ने जब उनके ठहरने के कमरे में देखा तो स्वामी जी तो नहीं थे, दुशाला फूफा जी के लिए छोड़ गये थे। फूफा जी अफसोस करते रहे कि उन्होंने स्वामी जी के दुशाले की तारीफ क्यों की।

पिताजी की मृत्यु के बाद मेरे सामने प्रश्न उपस्थित हुआ कि मैं क्या करूँ ? मेरे फूफा पण्डित ब्रह्मानन्द जी लुधियाना के प्रसिद्ध वकील थे। उन्होंने मुझे कहा कि तुम्हें उर्दू सिखा देंगे और अदालत में अर्जीनवीस का काम करना। मैं तो बच्चा ही था, क्या जानता था कि अर्जीनवीसी क्या होती है ! मैंने गुरुकुल के संस्थापक महात्मा मुंशीराम जी को सारी स्थिति लिख भेजी। उन दिनों गुरुकुल की फ़ीस दस रुपया मासिक थी। मेरा उतना भी इन्तिज़ाम नहीं हो सकता था। मैंने लिख भेजा कि मैं अब गुरुकुल नहीं लौट सकूँगा क्योंकि मेरी फ़ीस देने वाला कोई नहीं रहा। मेरे पत्र के उत्तर में महात्मा जी का उत्तर आया—"पुत्र, तुम लौट आओ, तुमसे कोई फ़ीस नहीं ली जायेगी।" महात्मा जी के उस स्नेह-स्निग्ध पत्र ने मेरे जीवन का नक्शा ही बदल दिया। महात्मा जी का वह पत्र मेरे जीवन में सदा ऋणरूप में बना रहा, जिसे उतारने के लिए मुझे जीवनभर गुरुकुल की सेवा करने का अवसर मिलता रहा। महात्मा जी को हम लोग पिताजी कहा करते थे। उनका पत्र पाकर मैं गुरुकुल लौट आया और उसके बाद मेरे भाई-बहन मुझे भूल गये और मैं उन्हें भूल गया।

मैं जब तक गुरुकुल में रहा तपस्यामय जीवन बिताता रहा। मैं ही क्या, सब ब्रह्मचारियों का जीवन तपस्या का जीवन था। सर्दियों में हम गर्म पानी से नहीं नहाये, गर्मियों में कभी बर्फ का पानी, सोडा या कोका-कोला जैसा पेय नहीं पिया, पाँवों में कभी जूता या चप्पल नहीं पहना, रुपये-पैसे को कभी हाथ नहीं लगाया न रुपया-पैसा अपने पास रखा, केश-प्रसाधन के लिए कभी दर्पण का प्रयोग नहीं किया, न कभी चाय पी, न कभी काफी पी, मिर्च-मसाले, अचार-चटनी का प्रयोग नहीं किया, गाँव-गाँव, शहर-शहर में बोली जा रही गालियों का गुरुकुल के वातावरण में प्रयोग न कभी सुना, न कभी किया। रेडियो, टेलीविजन आदि तब आये ही नहीं थे, उन्हें सुनने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार हम लोगों का पूरे चौदह बरस का जीवन रहा, परन्तु इस प्रकार का जीवन व्यतीत करते हुए यह कभी महसूस नहीं हुआ कि हम तपस्या का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। हमारे लिए यह स्वाभाविक जीवन था, हमारे लिए जीवन का स्वरूप यही था। लोग इसे सच समझें या झूठ समझें, परन्तु मेरा अनुभव है कि इस प्रकार का जीवन व्यतीत करते हुए हमें कभी किसी अभाव की अनुभूति नहीं हुई, हमने इस तपस्यामय जीवन को ही जीवन का स्वाभाविक रूप समझा और तथाकथित अभाव में अभाव नहीं देखा।

'तपस्या' पर लिखे हुए मेरा 'संयम' और 'ब्रह्मचर्य'—इन दो शब्दों की तरफ ध्यान जाता है। गुरुकुल

के वातावरण में ये दो शब्द छाये हुए थे। हमें कहा जाता है कि हम 'ब्रह्मचारी' हैं। मैं समझता था कि गुरुकुल में दाखिल हो जाना, पीली धोती की धोती लगाना, लँगोट बाँधना, खड़ाऊँ पहनना—ब्रह्मचर्य का यही अर्थ है। 'वीर्य' क्या है, 'वीर्य-रक्षा' का क्या अर्थ है—इसे मैं १२-१३ वर्ष का हो जाने पर भी नहीं जानता था। एक बार महात्मा जी ने सब ब्रह्मचारियों तथा अध्यापकों को सूचना दी कि वे सात दिन तक प्रातःकाल हम सबको 'ब्रह्मचर्य' पर व्याख्यान देंगे। मैं यह जानने के लिए बड़ा उत्सुक था कि 'ब्रह्मचर्य', 'वीर्य-रक्षा' आदि शब्दों का क्या अर्थ है। हम महात्मा जी का व्याख्यान सुनते रहे। तब मालूम हुआ कि 'वीर्य' किसे कहते हैं, 'वीर्य-रक्षा' तथा 'ब्रह्मचर्य' क्या है। महात्मा जी जिन्हे हम 'पिता जी' और जनता 'महात्मा जी' कहा करते थी—उनके ५-७ व्याख्यानों को सुनकर मैं समझने लगा कि मैं 'वीर्य' या 'स्वप्न-दोष' आदि घटनाओ से अनभिज्ञ था, परन्तु यह समझ पड़ गया कि 'वीर्य-रक्षा' करना ही 'ब्रह्मचर्य' है और 'वीर्य-नाश' या 'स्वप्न-दोष' होना पाप है। बहुत छोटी आयु से ही बच्चा अनजाने ऐसी आदतो का शिकार हो जाता है जिनसे उसे बचाना माता-पिता का कर्तव्य है। एक विशेष आयु में शरीर में जो स्वाभाविक परिवर्तन हो जाते हैं उन सबको बच्चा जानता है, परन्तु उनको सीधे रास्ते पर डाल देने को नही जानता। माता-पिता भी जानते हैं कि बच्चे मे जो शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन हो रहे हैं उनको सँभाले रखने से ही बच्चे का समुचित विकास हो सकता है, परन्तु सेक्स (Sex) के इन परिवर्तनों को बच्चे को कैसे समझाया जाय, इसे वे नही जानते, और इन विषयो की जानकारी बच्चे के साथियों पर छोड़ देते हैं जिनसे प्रायः बच्चे पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। महात्मा जी इस बात को अच्छी तरह समझते थे, इसलिए उन्होंने हम लोगो के प्रति पिता होने का कर्तव्य निभाते हुए ये व्याख्यान दिये। इस आयु में मुझे स्मरण नहीं रहा कि उन्होने क्या कहा था, परन्तु तब से 'ब्रह्मचर्य' की भावना मेरे जीवन मे घर कर गई। जब मैं युवा हो गया, मेरा विवाह हो गया, मेरी सन्तान हो गई, तब मैंने अपने पुत्र को ३०-४० पत्रों मे उसे सम्बोधित करते हुए इस विषय पर अनेक पत्र लिखे जो बरसो तक मेरे पास रहे। पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड के पत्र मेरे पास आया करते थे, उनकी भी यही समस्या थी कि वे अपनी सन्तान को 'ब्रह्मचर्य' के गूढार्थ कैसे समझाएं, उन्हे मैंने वे पत्र पढ़ने के लिए दिये, वे उन पत्रो को घर ले गये, परन्तु उन्होंने उन्हें वापस नहीं किया, माँगने पर वे कहते रहे कि वे उन्हे मुझे वापस कर चुके हैं, अन्यथा मैं उन्हे इस स्थल पर उद्धृत करता। 'ब्रह्मचर्य' विषय पर मेरी आस्था इतनी बढ़ गई कि ऋषि दयानन्द की जन्म-शताब्दी पर मैंने अंग्रेजी में 'ब्रह्मचर्य' विषय पर एक पुस्तक लिखी जिसका नाम 'Confidential Talks to Young-men' था। तदनन्तर उस पुस्तक का मैंने अनुवाद किया जिसका नाम 'ब्रह्मचर्य-सन्देश' था। इस पुस्तक के अनेक संस्करण हुए जो प्रायः राजपाल एण्ड सन्ज ने प्रकाशित किये। इसके गुजराती मे दो अनुवाद प्रकाशित हुए, एक उड़िया में अनुवाद प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक ऋषि दयानन्द की जन्म-शताब्दी के समय से प्रकाशित होकर अब तक चली आ रही है। मोतीलाल बनारसीदास ने अप्रकाशित दुर्लभ पुस्तको की सूची मे इस अंग्रेजी पुस्तक का नाम दिया है जो मॉडल प्रेस, रानी झाँसी रोड दिल्ली से हाल मे ही प्रकाशित की हुई है। इसका हिन्दी संस्करण गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशित कर चुके हैं।

यह तो सर्वविदित है कि महात्मा मुंशीराम गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को प्राचीन परम्परा के अनुसार चलाना चाहते थे। प्राचीन परम्परा के अनुसार गुरु शिष्य से कुछ नही लेता था। यद्यपि तत्कालीन आर्थिक परिस्थिति को देखते हुए किसी विद्यार्थी को निःशुल्क शिक्षा देना तथा उससे भोजन-वस्त्रादि का व्यय भी न लेना और इस प्रकार की शिक्षा-संस्था को चला सकना असंभव था, तो भी महात्मा जी ने मुझे सब प्रकार के व्ययों से मुक्त कर दिया था। मुझे ही नहीं, उन्होने एक साल तक यह परीक्षण भी किया था कि किसी ब्रह्मचारी से किसी प्रकार का व्यय न लिया जाय, और सबको शिक्षा, भोजन आदि सब कुछ मुफ्त कर दिया जाय। यह स्कीम लगभग एक साल तक चली, परन्तु ऐसी स्थिति चिरकाल तक चलने वाली नहीं थी, अतः अन्ततोगत्वा शिक्षा-शुल्क तो छोड़ दिया गया, परन्तु भोजनादि का व्यय लिया जाने लगा जो उस समय दस रुपया

मालिक था। महात्मा जी को गुरुकुल के आदर्शों को कार्यान्वित करने की कितनी धुन थी यह इस बात से भी जाहिर हो जाता है कि पंजाब प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल खोलने की जब यह शर्त रखी कि गुरुकुल तब खोला जायगा जब इस मद में आठ हजार रुपया एकत्रित हो जायगा, तब उन्होंने अपने पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' में यह घोषणा की थी कि जब तक इस मद में वे ३०,००० रुपया नहीं एकत्रित कर लेंगे तब तक अपने घर में पैर नहीं रखेंगे। तीस हजार रुपया क्या, १८९८ तक उन्होंने चालीस हजार रुपया इकट्ठा कर लिया। महात्मा मुंशीराम जी अपनी लग्न के इतने पक्के थे कि एक गुरुकुल के एक उत्सव पर उन्होंने जालन्धर की एक कोठी गुरुकुल को दान कर देने की घोषणा कर दी और अपने पास सम्पत्ति के नाम से कुछ नहीं रखा। वानप्रस्थ आश्रम के आदर्श को उन्होंने क्रियात्मक रूप में कर दिखाया। आज वानप्रस्थियों और संन्यासियों के अखाड़े चल रहे हैं जिनमें लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति है, और वे वानप्रस्थी और संन्यासी त्याग के कारण नहीं, सम्पत्तिशाली होने के कारण पूजे जाते हैं। आज के आर्यसमाजी नेता भी इस दोष से बरी नहीं हैं। वे कुछ करें या न करें, उनके नाम की धूम मचनी चाहिए।

महात्मा मुंशीराम जी के स्वभाव में क्रियाशीलता थी। वे जिस काम की सोचते उसे कर डालने में देर नहीं लगाते थे। गुरुकुल जैसा विचार एक सरल विचार नहीं था। एक ऐसी संस्था को खड़ा कर देना जो देश-व्यापी हो जाय, जो प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के लिये चैलेन्ज बन जाय— ऐसा एक दृढ़ संकल्प का व्यक्ति ही कर सकता था। मैंने देखा है कि ऐसी ही बात मैंने उनसे सीखी। मैं सोचने में देर नहीं लगाता। सोचा और किया —ये मेरे जीवन का गुरुमंत्र रहा है। मैंने अनेक ग्रन्थ लिखे। जिस ग्रन्थ को लिखना शुरू किया उसे समाप्त करके ही छोड़ा। कई ग्रन्थ एक मास में ही समाप्त किए। जब मैं लिखने बैठता था तब दिन-रात की गणना नहीं होती थी। जब मैं महाविद्यालय में था तब इन्दौर से एक घोषणा हुई कि हिन्दी में उच्च शिक्षा हो सकती है—इस विषय पर जो सर्वोत्तम निबन्ध लिखेगा उसे गोल्ड मैडल दिया जायगा। मैंने इस विषय पर जो निबन्ध लिखा वह दिन में नहीं, रात को लिखा। मैं रात को २-३ बजे तक उठ जाता था और सवेरा होने तक लिखता रहता था। किसी को पता ही नहीं चला कि मैं इस विषय पर लिख रहा हूँ। तीन महीने बाद मेरे इस निबन्ध के सर्वोत्कृष्ट होने की जब सूचना आई तब सबको आश्चर्य हुआ —सब पूछते रहे, तुमने यह कब लिखा। मैं उत्तर देता था, जब तुम सोते थे तब मैं जागता था। बरसों बीत गये, जब मैं बम्बई जा बसा, तब इन्दौर से मुझे व्याख्यान देने का निमन्त्रण आया। निमन्त्रणदाता को ज्ञात नहीं था कि मैं वही व्यक्ति हूँ जो इन्दौर से बरसों पहले एक निबन्ध लिखकर विजय प्राप्त कर चुका था। इस अवसर पर मेरा व्याख्यान हिन्दी में न होकर अंग्रेजी में हुआ।

आज का युग लैंगिक विचारों (Sexual Thoughts) का युग है। हर वस्तु के साथ लैंगिक विचार जोड़े जाते हैं। यहाँ तक कि अगर सायकल का विज्ञापन करना है, तो किसी सुन्दर स्त्री को सायकल पर बैठाकर दिखाना होगा ताकि स्त्री की तरफ ध्यान जाने के साथ सायकल पर भी ध्यान चला जाय। सिनेमा तो स्त्री के बगैर चल ही नहीं सकता। लैंगिकता का दिनोदिन अनर्गल प्रचार बढ़ता जा रहा है। भारत की प्राचीन संस्कृति में लैंगिकता की तरफ ध्यान नहीं था—यह बात नहीं है। जितना आज के युग में लैंगिकता हर वस्तु, हर विचार का केन्द्र बनी हुई है उतना ही यह भारतीय प्राचीन संस्कृति का केन्द्र थी। तभी 'ब्रह्मचर्य' शब्द का इतना महत्व था। 'ब्रह्मचर्य' और 'लैंगिकता' का आधारभूत विचार तो एक ही है। महात्मा मुंशीराम जी ने जब हमें 'ब्रह्मचर्य' पर व्याख्यान दिये तब इसी विचार को आधार बनाकर दिये। वे समझते थे कि बालक के जीवन के विकास में एक समय ऐसा आता है जब उसका ध्यान लैंगिकता की तरफ स्वतः चला जाता है और शरीर का यह परिवर्तन उसके लिए समस्या बन जाता है। बालक माता-पिता से इसकी चर्चा करते हुए शरमाता है, परन्तु जीवन में यह आकस्मिक परिवर्तन आना स्वाभाविक है इसलिए माता-पिता का कर्तव्य है कि वे इस दिशा उसका मार्गदर्शन करें। अगर माता-पिता यह कार्य नहीं कर सकते तो गुरु-आचार्य का कर्तव्य

हो जाता है कि इस कार्य को करें। यही सोचकर महात्मा मुंशीराम जी ने ब्रह्मचारियों को ये व्याख्यान दिये थे।

मैंने अभी लिखा कि वर्तमान युग में लैंगिकता को जो महत्व दिया जाता है उससे कम महत्व वैदिक संस्कृति में इस तरफ नहीं दिया जाता था। इन दोनों में भेद सिर्फ एक है। आजकल के युग में लैंगिक विचारों तथा आचारों को खुली छूट दी जाती है, भारतीय संस्कृति में उसके महत्व तथा सर्वव्यापीपन को जानते हुए उसका नाम 'ब्रह्मचर्य' रखा गया था, और लैंगिकता को खुली छूट देने के स्थान पर उस पर नियन्त्रण रखा गया था। इन विचारों को खुली छूट देने से सामाजिक ढाँचा छिन्न-भिन्न हो जाता है, इन्हें नियन्त्रण मे रखने से सामाजिक रचना उन्नयन की तरफ जाती है। उच्छृंखलता के इस युग में भी आधारभूत विचार यही है कि ब्रह्मचर्य की भावना से ही समाज बना रह सकता है, ब्रह्मचर्य से समाज में स्थिरता नहीं आ सकती।

महात्मा मुंशीराम जी ने उन दिनों जो व्याख्यान हमें दिये थे उसका कोई रिकार्ड न मेरे पास है, न गुरुकुल में सुरक्षित है, परन्तु मेरी अन्तःचेतना में उस समय के उनके दिये विचार इतना घर कर गये कि मैंने 'ब्रह्मचर्य' विषय पर महर्षि दयानन्द की मथुरा मे हुई जन्म-शताब्दी पर जो ग्रन्थ लिखा उसकी भूमिका मे उन्होंने उन विचारों को अपने शब्दों में यों लिखा कि गुरुकुल छोड़ते और संन्यास धारण करते हुए उनका इरादा था कि एकान्त में बैठकर वे 'ब्रह्मचर्य' पर विस्तृत रूप मे सर्वसाधारण जनता के लिए अपने विचार प्रकट करते, परन्तु देश की परिस्थितियाँ उन्हें दूसरी तरफ खींच ले गईं।

मैं पढ़ने-लिखने में बहुत तेज नहीं था, परन्तु जो जिस विषय मे तेज होते थे उनके साथ मैं टंगा रहता था। व्याकरण में पण्डित रामचन्द्र जी की गति बड़ी तीव्र थी, परीक्षा के दिन पास आने पर मैं उनसे व्याकरण की गुत्थियाँ सुलझाता था। अंग्रेजी में मेरे सहपाठी देवदत्त जी प्रायः प्रथम आते थे जो अंग्रेजी में बहुत निष्णात थे। उनसे मैं अंग्रेजी की ग्रामर की उलझनें सुलझा लिया करता था। गणित में हमारी श्रेणी के वेदव्रत बहुत चतुर थे, इसमें वे मेरी सहायता कर देते थे। इस समय जब मैं यह कथा लिख रहा हूँ, मेरा कोई सहपाठी नहीं रहा। गणित में मैं बहुत कमजोर था, खासकर अंकगणित के प्रश्न तो मेरी समझ मे आते ही न थे। जब मैं दसवीं में पहुँचा तब मेरे लिए समस्या थी कि गणित मे कैसे पास होऊँगा? उस समय एक चमत्कार हुआ। प्रो० रामदेव जी उस समय आचार्य थे। उन्होंने पाठविधि में एक नया विषय रखा जिसका नाम 'आर्य सिद्धांत' था। 'आर्य सिद्धांत' में दुनिया भर के विषय पढाये जाते थे। ऐसे विषय रखे गये जो उपदेशक बनने के लिए उपयोगी हों, जो व्यक्ति को चौमुखा बना सकें! पालि, बंगाली, गुजराती, उर्दू, आयुर्वेद, लाँ, संसार के धर्म—ईसाइयत, इस्लाम, आदि सब-कुछ पढ़ाया जाने लगा। संस्कृत के सब प्रकार के ग्रन्थ तो पढ़ाये ही जाते थे परन्तु गणित उनमें न था। निश्चय किया गया कि इस कोर्स को जो लें, उन्हें सिद्धान्तालंकार की उपाधि दी जायेगी, अन्यों को विद्यालंकार की उपाधि। मैंने तो सन्तोष की साँस ली और झट से इस कोर्स में दाखिला ले लिया; गणित से पीछा छूटा। इस कोर्स को लेनेवालों की संख्या बहुत थोड़ी थी, परन्तु मेरे लिए तो यह वरदान सिद्ध हुआ। क्योंकि अब गणित मेरे कोर्स में नहीं था इसलिए अधिकारी परीक्षा में मैं बहुत अच्छे अंकों से पास हुआ और मुझे महाविद्यालय (कॉलेज) में दाखिला मिल गया। उस समय मेरे सहपाठी जिन्होंने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में यश कमाया, प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता जयचंद्र विद्यालंकार, ईश्वरदत्त विद्यालंकार तथा स्वामी अभयदेव शर्मा थे। स्वामी अभय तो श्री अरविन्द आश्रम के उच्च कोटि के भक्त माने जाते थे। अब वे दोनो दिवंगत हो चुके हैं। वैसे तो जहाँ तक मुझे पता है मेरा कोई सहपाठी इस समय जीवित नहीं है। दस वर्ष तक विद्यालय में अध्ययन के बाद मैं महाविद्यालय में प्रविष्ट हुआ। जब तक मैं विद्यालय में रहा उस समय तक नियन्त्रण (डिसिप्लिन) की विचारधारा आजकल की विचारधारा से भिन्न थी। उन दिनों शरारत करने पर संवेदनापूर्वक समझाया-बुझाया नहीं जाता था, बेंत से पीटा जाता था। मुझे स्मरण है कि एक दिन हमारे व्याकरण के अध्यापक ने जिन्हें हम 'सेंजी' कहा करते थे मुझे क्लास में बेंत से मारा था। हम उन्हें 'सेंजी' इसलिए कहा करते थे क्योंकि वे 'से' को 'सें' कहते थे। इस सम्बन्ध में एक और घटना याद आती है। गुरुकुल के आदि काल

के अध्यापकों में गुरुकुल के कुलपति बलभद्रकुमार जी हूजा के पिता मास्टर गोवर्धन जी भी मुख्य थे। एक बार बलदेव नामक ब्रह्मचारी ने कुछ शरारत की। महात्मा मुंशीराम जी ने उसे ४० या ५० बेंतें मारने का दण्ड दिया। यह काम वे खुद नहीं करना चाहते थे। यह काम मास्टर गोवर्धन जी को सौंपा गया। विद्यालय के आँगन में हम सब चारों तरफ़ खड़े कर दिये गये। बलदेव को मध्य में खड़ा करके मास्टर जी ने गिनकर ३०-४० बेंत लगाये। हम सब इस घटना से इतने उत्तेजित हो गये कि अगले दिन दीवारों पर लिखा देखा गया—'राक्षस गोवर्धन'। उन दिनों शिक्षा-जगत् में बेंत मारना साधारण-सी बात थी।

२. महाविद्यालय में मेरा जीवन

महाविद्यालय में पहुँचते-पहुँचते मेरी आयु १७ वर्ष की हो गई थी। हममें से कुछ सहपाठियों ने एक गुट बनाया था जिसका उद्देश्य गुरुकुल में ब्रह्मचर्य के अनुकूल परिस्थितियों को स्थापित करना तथा बनाये रखना था। इस गुट में पण्डित युधिष्ठिर, जो पीछे जाकर स्वामी व्रतानन्द जी कहलाये, मैं, मेरे सहपाठी देवेश्वर तथा उनके बड़े भाई धर्मचन्द्र एवं कुछ और छात्र थे। हमारा आन्दोलन यह था कि खान-पान में चटनी, अचार, मिठाई आदि विद्यार्थियों को नहीं मिलना चाहिए क्योंकि ये पदार्थ ब्रह्मचर्य के घातक हैं। अन्य विद्यार्थी हमारे विचारों का विरोध करते थे। उन्होंने हमारे ग्रुप का नाम 'स्वामी मण्डल' रखा हुआ था जो 'स्वामी मण्डल' का अपभ्रंश था। नियम यह था कि बारी-बारी एक विद्यार्थी भण्डारी बनता था, ३-४ उसके साथ काम करने वाले व्रती कहलाते थे और ये लोग महीने-भर की रसद लेकर भण्डार को चलाते थे। ये लोग सप्ताह-भर में इतना मीठा, मावा आदि बचा लेते थे कि सप्ताह में एक-दो बार गुलाब जामन, जलेबी आदि बनाकर बाँटते थे और स्वयं रोज़ मलाई-मक्खन का मज़ा लेते थे। मैंने इस प्रक्रिया का खुला विरोध करना शुरू किया तो भण्डारी ने साप्ताहिक मिठाई बाँटते समय अन्य सबको मिठाई दे दी, मुझे नहीं दी। भोजन करते समय तो मैं यह सब सह गया, परन्तु भोजन के उपरान्त मैंने भण्डार में जाकर अपने हिस्से की मिठाई उठाई और आकर थाली में पटककर बाहर चला गया। अब सोचता हूँ कि मेरा ऐसा करना मूर्खतापूर्ण था, परन्तु उस समय ऐसा किया यह बात ठीक है। मैं उन दिनों कोवन आदि की पुस्तकें पढ़ता था जिसमें मिठाई, अचार, चटनी आदि का विरोध में लिखा गया है और जो कोई भी मीटिंग होती थी उसमें खड़ा होकर तुरन्त उस पुस्तक के उद्धरण सुनाने लगता था। मिठाई खाने का विरोध करना एक प्रकार का 'स्वामी मण्डल' के आन्दोलन का प्रमुख कार्यक्रम हो गया था। हम गुरुकुल के अधिकारियों के साथ भी इस मुद्दे को लेकर झगड़ते थे। आज यह सब याद कर अपने पर हँसी आती है, परन्तु बालपन का जोश युक्ति को नहीं सुनता।

जब मैं महाविद्यालय में पढ़ रहा था तब मेरा मुख्य विषय आर्य सिद्धान्त था। आर्य सिद्धान्तों को विशद रूप में हृदयगम करने के लिए जो ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे उनमें अंग्रेज़ी के ग्रन्थों में मुख्य थे—फ्लिंट का 'थीइज़्म' तथा 'एण्टी-थीइस्टिक-थियोरीज़' एवं जेम्स का 'वैराइटीज़ ऑफ रिलिजियस एक्सपीरियेन्सेज़'। भिन्न-भिन्न धर्मों के अन्य भी ग्रन्थ थे, परन्तु उक्त दो ग्रन्थों के अध्ययन पर मेरा विशेष ध्यान था। मैंने इन ग्रन्थों के उद्धरण इतने स्मरण कर लिए थे कि घण्टों इन उद्धरणों को मैं सुना सकता था। मैं ज़बानी बोलता जाता था और मेरे मित्र पण्डित रामचन्द्र जी सुनते जाते थे। कहीं ग़लती नहीं होती थी। उस समय मैंने अंग्रेज़ी ग्रन्थों की जो रटन्त की उससे मेरी अंग्रेज़ी इतनी सुधर गई कि कोई नहीं कह सकता कि मैं अंग्रेज़ी के एम० ए० से किसी तरह कम हूँ। एक बार आचार्य रामदेव जी की इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर केवलकृष्ण मल्होत्रा से इस विषय में बातचीत हो रही थी जिसमें मल्होत्रा ने कहा कि गुरुकुल के स्नातक अंग्रेज़ी में कमज़ोर होते हैं। प्रोफ़ेसर रामदेव जी ने पूछा कि क्या आप सत्यव्रत जी से मिले हैं? मल्होत्रा ने उत्तर दिया कि वे तो एक्सेप्शनल हैं। मैं एक्सेप्शनल नहीं हूँ, मेरे आंग्ल भाषा-ज्ञान का एक विशेष कारण है। जब मैं विद्यालय में प्रविष्ट हुआ तब मेरा गुरुकुल काँगड़ी के कार्यालयाध्यक्ष श्री मुरारीलाल जी से परिचय

हुआ। मुरारीलाल जी कहने को कार्यालयाध्यक्ष थे, परन्तु उनका अध्ययन अगाध था। वे कुछ ऐसे लडकों को चुन लेते थे जिन्हें वे समझते थे कि उन्हें मार्ग-दर्शन करके प्रगतिशील बनाया जा सकता है। उनकी दृष्टि मुझ पर भी पड़ी और उन्होंने मुझे गम्भीर अध्ययन के लिए मार्ग-दर्शन दिया। उनकी प्रेरणा से मैं हर्बर्ट स्पेंसर के सब ग्रन्थों को उनके नोट बनाकर पढ़ता था, नोट लिखकर उन्हें दिखलाता था; जो समझ नही पड़ता था उसे वे समझाते थे। इस प्रकार सांख्यकारिका का मैंने उनके साथ अध्ययन किया। यद्यपि वे संस्कृत नही जानते थे, तथापि सांख्यकारिका के अंग्रेजी अनुवाद से मुझे सब कुछ समझा देते थे। अस्सी वर्ष की आयु तक वे नोट मेरे पास पड़े रहे, उसके बाद मैंने उन्हें नष्ट कर दिया क्योकि उनमें जो कुछ लिखा था उससे अधिक मैं अब आत्मसात् कर चुका था।

मैं ब्रह्मचारी के लिये मिठाई, मिर्च-मसाला, अचार आदि खाने के सम्बन्ध मे लिखे गये साहित्य को पढकर इतना कट्टर हो गया था कि हर जगह, हर किसी प्रकार से इनके ब्रह्मचारियों को भोजन मे दिये जाने का विरोध करता था। इस स्थल पर लिखते हुए उस समय की एक घटना मेरी आँखों के सामने उभर आती है जिससे इस बात पर प्रकाश पडता है कि मैं कितना कट्टर और मूर्ख था और मेरे प्रोफेसर रामदेव जी कितने सरल और सीधे थे। जैसा मैं ऊपर लिख चुका हूँ महाविद्यालय में नियम यह था कि बारी-बारी एक विद्यार्थी भंडारी बनता था और वह घी-दूध-मीठा बचाकर सप्ताह मे एक बार सबको गुलाब जामन, जलेबी आदि मिठाई खिलाता था, बचा-खुचा अपने साथियों के साथ भेजा जाता था। यह प्रक्रिया क्योकि बारी-बारी होती थी, इसलिए एक दिन मेरी भी भण्डारी बनने की बारी आ गई। मैंने एलान कर दिया कि साप्ताहिक मिठाई नही बनेगी और प्रतिदिन के राशन मे जो घी-दूध-मीठा दिया जाता है वह प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन दिया जायगा। दो-तीन दिन तक ऐसा ही चला, परन्तु कुछ दिन बाद मेरे विरुद्ध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जिसका आधार यह था कि यह भंडारी रोज का घी-मीठा रोज बाँट देता है ताकि सप्ताह के बाद जो मिठाई बननी चाहिए वह न बन सके। मामला आचार्य रामदेवजी के पास पहुँचा। रात का ८-९ का समय था जबकि उनके मकान मे ब्रह्मचारियों की बहस होने लगी। रामदेव जी के सामने विकट समस्या थी। मैं रोज का रोज घी बाँटता था, दूध बाँटता था और दूसरा पक्ष यह कहता था कि ऐसा नही होना चाहिए और हफ्ते बाद उन्हे मिठाई मिलनी चाहिए। मैं प्रोफेसर रामदेव जी के उस कमरे में बैठ गया जो बहस वाले कमरे के साथ था ताकि सारी बहस सुन सकूँ। जब बहस बहुत लम्बी हो गई तब मैंने एक स्लिप पर प्रोफ़ेसर रामदेव जी के पास यह लिखक भेज दिया कि आप इन लोगो से कह दे कि इस विषय पर चर्चा कल होगी। पर्चा नौकर के हाथ भेज दिया गया था, उसने आचार्य जी को पर्चा दे दिया और उन्होंने उसे जोर से पढ दिया। उन्हें पता था कि उस पर्चे पर क्या लिखा है। उसके नीचे मेरा नाम भी था। आचार्य जी ने शुरू से मेरे नाम तक सब पढ़ दिया। जब ब्रह्मचारियों को पता चला कि मैंने वह पर्चा लिखा है तब वे मुझे मारने को आये और यद्यपि मैं दुबला-पतला था, मैंने उन्हें ललकार कर कहा—आओ, देखूँ कौन मुझे मारता है। इस झगड़े में सभा भंग हो गई और भंडार मे मेरा प्रोग्राम यथावत् चलता रहा। मैं अपने जीवन मे अनेक मूर्खताएं कर चुका हूँ, उनमे से यह भी एक थी। जो कुछ करना हो लड़ाई मोल लेकर नहीं करना चाहिए, बुद्धिमत्ता से करना चाहिए।

मैंने अभी लिखा कि प्रो० मल्होत्रा ने मुझे एक्सेप्शनल कहा था। यह बात उन्होने रामदेव जी को कही थी। मैं तो 'एक्सेप्शनल' नहीं हूँ, न था, परन्तु रामदेव जी जरूर 'एक्सेप्शनल' थे। मैं उनके साथ उत्सवों में जाया करता था। जब गुरुकुल का डेप्यूटेशन धन-संग्रहार्थ ईस्ट अफ्रीका गया, तब भी मैं उनके साथ था। मैं अनेक अवसरों मे उनके साथ रहा इसलिए उनके जीवन की अनेक घटनाएँ मुझे आज याद आ रही हैं। वे जो खर्च करते थे उसका हिसाब नहीं रखते थे। गुरुकुल से चलते हुए कुछ रुपया उधार लेकर चलते थे जिसका उन्हें हिसाब रखना चाहिये था। जब अफ्रीका से हम लौटकर आये तब उन्होंने अपना बटुआ खोलकर कार्यालयाध्यक्ष श्री अमरनाथ सप्रू के सामने खोलकर रख दिया और कहा कि जो हिसाब मे कमी आती हो वह

उनके नाम लिख ली जाए और उनके वेतन में से काट ली जाय। सप्रू जी ने कहा—आपने कुछ खर्च गुरुकुल के खाते में किया होगा, उसको आपके खाते में क्योंकर डाला जाय। वे बोले—मैं खाता-वाता कुछ नहीं जानता जो कमी हो वह उनसे वसूल कर ली जाय। ऐसा व्यक्ति एक्सेप्शनल न कहा जाय, तो क्या कहा जाय। आज-कल लोग जो खर्च नहीं करते उसे भी फर्जी बनाकर संस्था से वसूल करते हैं, थर्ड क्लास में जाते और फर्स्ट क्लास का का किराया वसूल करते हैं। एक वे थे जो अगर फर्स्ट क्लास में भी जाते तो थर्ड क्लास का किराया लेते। प्रो० रामदेव जी 'एक्सेप्शनल' ही नही थे, वे 'जीनियस' भी थे। एक बार हम लोग कांगड़ी का नाला पार कर रहे थे। सबने जूते पहने हुए थे। उन्होंने भी दोनों पाँवों मे जूते पहन रखे थे। जब नाला पार किया तब उनके पाँव में एक जूता रह गया, दूसरा बह गया, परन्तु वे अपनी धुन मे जो चर्चा कर रहे थे वही चर्चा करते रहे। जब उनका ध्यान जूते की तरफ दिलाया गया तब उन्होने पानी मे बह जाने वाले जूते की तरफ ध्यान ही नही दिया। गुरुकुल की लायब्रेरी मे कोई ऐसी पुस्तक नही थी जो उन्होने नही पढी थी। सब पर उनकी पेंसिल के चिह्न थे। उन्हें निद्रा बहुत कम आती थी। जब वे गुरुकुल से रिटायर हो गये तब एक दिन मेरे पास ठहरे। रात के दो बजे थे कि मैंने देखा वे नहा-धोकर सन्ध्या करने बैठ गये। सन्ध्या समाप्त कर हवन करने लगे। मेरी नीद खुल गई। मैंने पूछा—प्रोफेसर जी, क्या कर रहे हैं? अभी तो रात के दो बजे हैं। कहने लगे—अच्छा, मैंने समझा चार बजे हैं। परन्तु वे हवन करते रहे, और उसे समाप्त कर दम लिया।

हम लोग जब अफ्रीका मे धन-संग्रहार्थ गये हुए थे, तब एक दिन एक पंजाबी भाई आकर उनके सामने बैठ गया। वे पुस्तक पढ़ते रहे और उसकी तरफ उनका ध्यान ही नही गया। घंटाभर बैठा रहा, परन्तु अन्त में झुंझलाकर बोला—तैनू हो की गया है, मैंनू एत्थे बैठे घंटा हो लिया, तैंने मेरी तरफ ताका तक नहीं। प्रोफेसर जी उसकी बात सुनकर फिर पुस्तक मे लीन हो गये। अगले दिन वह व्यक्ति एक बोरी बादाम की भरी हुई उनके सामने छोड़ गया। प्रोफेसर रामदेव जी इतने अध्ययनशील थे कि टालस्टाय आदि उनकी विद्वत्ता को देखकर उनके साथ पत्र-व्यवहार किया करते थे। एक अध्ययनशील व्यक्तियों का वह युग था, एक आज का युग है जब अध्यापक अपने वेतन बढ़वाने के लिए मजदूरो की तरह हड़तालें करते है, और अध्ययन-अध्यापन जैसे पवित्र कार्य को मजदूरी-जैसा रूप दे दिया है। इसमे संदेह नही कि दिनोदिन बढ़ती महँगाई के कारण ऐसा हो रहा है जिस कारण सरकार को इस तरफ ध्यान देना चाहिए ताकि शिक्षा जैसा पवित्र कार्य मजदूरी जैसे अपवित्र कार्य का रूप धारण न कर ले।

लाला मुरारीलाल जी का मेरे जीवन के निर्माण मे बहुत अधिक हाथ रहा है। उन्होने मेरे मानसिक विकास में ही योगदान नही किया, मुझे आध्यात्मिकता के पथ पर भी डाल दिया। मैं आश्रम में सो रहा होता था। वे प्रातः ४ बजे आकर मेरी खिड़की से आवाज देकर मुझे जगा देते थे। हम दोनों कांगड़ी ग्राम के सूखी रेती के मैदान में बैठकर ध्यान करते थे। लगभग दो घण्टे बैठते थे। आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे उन्होंने मुझे जो कुछ सिखाया उसे स्वर-विद्या कहा जाता है जिसका विस्तार से वर्णन श्री गंगाप्रसाद की थियोसोफ़ी की पुस्तक 'नेचर्स फ़ाइनर फ़ोर्सेस' मे दिया गया है। स्वर-विद्या का मैं अपनी ८८ वर्ष की आयु तक भी अभ्यास करता रहा।

मेरे मुरारीलाल जी के साथ संपर्क को कई प्रोफेसर सहन नहीं कर सकते थे। वे समझते थे कि उनके मुकाबिले में एक क्लर्क मुझे क्या सिखा पायेगा। महाविद्यालय में शनिवार को 'वाद-विवाद सभा' हुआ करती थी। एक शनिवार के दिन मैं उस सभा में न जाकर मुरारीलाल जी के पास चला गया। लौटने पर प्रो० बाल-कृष्ण जी मिल गये। उन्होंने पूछा—कहाँ गये थे। मैंने कह दिया—मुरारीलाल जी के पास। उनका नाम सुनते ही उन्होंने मेरे एक थप्पड़ मारा। महाविद्यालय का छात्र होने पर भी थप्पड़ खाने का अभ्यास देखकर उस दिन मैं बहुत रोया।

उनकी इस हरकत का कारण यह था कि उन्हें इस बात से चिढ़ थी कि यह लड़का एक क्लास से क्या ज्ञान प्राप्त कर सकता है जो इसे विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों से नही मिलता। वे यह नही जानते थे कि मुझे ज्ञान की दृष्टि से उनसे जो कुछ मिला वह गुरुकुल का कोई प्रोफेसर नही दे सका। अध्यात्मवाद में मेरी रुचि का सूत्रपात उन्हीं के द्वारा हुआ।

जिन दिनों मैं लाला मुरारीलाल जी के सम्पर्क मे आया उन दिनों मेरी संन्यास लेने की अभिलाषा उत्कट हो उठी। एक दिन मैंने कपड़े गेरवे रँगे और अपने मित्र देव शर्मा जी अभय को अपना सारा प्रोग्राम कह सुनाया। गेरवे कपड़े बगल मे दबाकर हम दोनों गुरुकुल से २-३ मील परे गंगा के पुल पर पहुँचे। मैंने अपने सफेद कपडे उतारकर उन्हें दे दिये और गेरवे वस्त्र पहनकर उनसे विदा ली और उनसे वचन लिया कि यह भेद किसी को नही बतायेंगे। मैं गेरवे वस्त्र पहनकर पुल पार हो गया, कनखल और हरिद्वार को पार कर ऋषिकेश की तरफ चल दिया। रास्ते में सत्यनारायण का मन्दिर पडता है, वहाँ पहुँचने तक रात हो गई थी, इसलिए मन्दिर में ही रात काटने के लिए ठहर गया। प्रातःकाल मन्दिर के पुजारी ने ताड़ लिया कि यह कोई घर से भागा हुआ लडका है। उसने पूछा, तुम किस प्रकार के संन्यासी हो? मैं नही जानता था कि संन्यासी भी कई प्रकार के होते हैं। उसने कहा कि तुम संन्यासी नही हो, ब्रह्मचारी हो क्योकि तुम्हारे सिर पर शिखा है। मैं यह देखकर कि सारा भेद खुल गया, सब-कुछ कह बैठा। प्रातःकाल चलते हुए उसने मुझे आठ आने दिये और कहा कि रास्ते मे यह तुम्हारे काम आयेगा। मैं आठ आने लेकर ऋषिकेश के लिए चल दिया। वहाँ जाकर कुटिया-से-कुटिया चक्कर काटता रहा। कोई प्राणायाम तक न सिखा सका, अन्त मे निराश होकर गुरुकुल वापस लौट आया।

जिन दिनों मैं महाविद्यालय-विभाग मे पढ़ रहा था उन दिनों मेरे जीवन मे एक घटना और घटी। हमारे विज्ञान के अध्यापक श्री लहरी थे। एक दिन लहरी महोदय मुझे पास के जंगल मे उस स्थान पर ले गये जिसे हम लोग आनन्द-वाटिका कहते थे। मुझे सामने बैठाकर वे मुझे लेक्चर देने लगे। उन्होने कहना शुरू किया— भारतमाता परतन्त्रता की बेड़ियों मे बँधी है। ऐसे युवक तैयार होने चाहिए जो भारतमाता को स्वतन्त्र करें और उसके बन्धनो को काटे। तुम होनहार युवक हो, तुम्हे इस काम के लिए उद्यत होना चाहिए। तुम्हारे पढने-लिखने, खाने-पीने का इन्तिज़ाम हिन्दू यूनीवर्सिटी मे हो जायगा, तुम्हारे विद्याध्ययन मे कोई बाधा नही होगी। आध घण्टा तक उन्होने उस जंगल मे मुझे भारतमाता की परतन्त्रता तथा उसकी स्वतन्त्रता के लिए तैयारी का व्याख्यान दिया। मैं उनके विचारों से अत्यन्त प्रभावित हुआ। अगले दिन मैं महात्मा मुंशीराम जी से, जिन्हे हम आदरवश पिता जी कहते थे, से मिला और कहा कि मैं भारतमाता की स्वतन्त्रता के लिए अपने को तैयार करना चाहता हूँ और गुरुकुल छोडकर बाहर जाना चाहता हूँ। महात्मा जी ने पूछा —तुम्हें ये विचार किसने दिये हैं? मैंने कहा—लहरी जी ने। लहरी जी रेवोल्यूशनरी दल के व्यक्ति थे। इस दल के लोग समझते थे कि गुरुकुल उनके कार्य-क्षेत्र के लिए एकान्त मे है, जंगल मे है, उत्तम स्थल है। लहरी जी ने मेरे विद्रोह विचारों को देखकर अपने अभिप्राय से मुझे चुना होगा। अगर मैं लहरी जी के मार्ग पर चलता तो शायद अंग्रेजों के जमाने में फाँसी पर लटक गया होता क्योकि पीछे पता चला कि लहरी जी पकड़े गये थे और फाँसी पर लटका दिये गये थे।

मेरी बातें सुनकर महात्मा जी ने लहरी जी को अगले ही दिन सेवा से मुक्त कर दिया था।

गुरुकुल महाविद्यालय मे शिक्षा ग्रहण करते समय मेरी अंग्रेजी तथा संस्कृत शब्दों का अध्ययन करते हुए सदा यह इच्छा बनी रही कि एक ऐसी डिक्शनरी का निर्माण किया जाय जिसमें अंग्रेजी शब्दो का संस्कृत की धातुओं से उद्भव दिखाया जाय। योरोपियन सभी स्वीकार करते हैं कि संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं की मूल भाषा कोई आर्य-भाषा थी। वे कहते हैं कि सस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि सब भाषाओ का उद्भव उसी भाषा से हुआ। हम लोग कहा करते हैं कि वह मूल भाषा संस्कृत थी जिससे ग्रीक-लैटिन आदि का श्रीगणेश

हुआ। इन दोनों में मूल-भत भेद यह है कि हम संस्कृत को आदि-भाषा मानते हैं, हम संस्कृत को ग्रीक, लैटिन की जन्मदातृ भाषा मानते हैं। मेरा कथन यह कि पितृ से पितर बन सकता है, पितर से पितृ नहीं बन सकता, मातृ से तो मेतर बन सकता है, मेतर से मातृ नही बन सकता। भाषाओं के विकास का यही नियम है। तभी आर्यसमाजी लोग आरिया समाज बोलते हैं, आरिया समाज से आर्यसमाज नहीं, स्त्री समाज से स्त्री समाज बोलते हैं, इस्त्री समाज से स्त्री समाज नही। भाषा के विकास में अगर कही संयुक्त शब्द टूटते दिखाई दें तो यही समझना पड़ता है कि संयुक्त शब्द तोड़ा गया है, तोड़े हुए शब्द से संयुक्त शब्द नहीं बना। इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि संयुक्त शब्दावली के भाषा से वियुक्त शब्दावली की भाषा ने जन्म लिया है। इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर मैं सदा सोचता रहा हूँ कि एक नवीन डिक्शनरी का निर्माण होना चाहिए जिसमें ग्रीक, लैटिन, फारसी आदि शब्दो का संस्कृत की धातुओं एवं संस्कृत के शब्दो से उद्भव दिखाया जाय।

इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर महाविद्यालय विभाग में पढते हुए मैंने अपनी अनेंडेल की डिक्शनरी के अनेक शब्दो के सामने तत्सम शब्दो का निर्माण किया था और अंग्रेजी के अनेक शब्दो के साथ उनकी जन्मदात धातुओं को लिखा था। मेरा यह स्वप्न आज तक वैसा ही बना हुआ है और मैं सदा चाहता रहा हूँ कि कोई व्यक्ति या कोई संस्था इस दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर कार्य करे। अगर गुरुकुल काँगड़ी यह कार्य करे तो मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होगी। जब मैं राज्यसभा का सदस्य था तब मैंने शिक्षामंत्री श्री छागला के सम्मुख यह सुझाव रखा था, उन्होंने इस सुझाव को क्रिया रूप में परिणत करने वाली सस्था को भरपूर सहायता देने का वचन दिया था, परन्तु दुःख है कि न मैं राज्यसभा का सदस्य रहा, न श्री छागला शिक्षामंत्री रहे। यह विचार जैसे-का-तैसा धरा रहा।

पं० विश्वम्भरनाथ जी की स्नातकों पर विशेष कृपा रही है, उन्हे स्नातकों से विशेष प्रेम भी था। पं० महानन्द तथा दीनदयाल शास्त्री तो उनके घर में पुत्रवत् रहते या जाते रहते थे। मैं जब गुरुकुल में उपाध्याय था तब एक बार श्री दलाराम जिन्होंने गुजरांवाला मे एक गुरुकुल की स्थापना की थी, का पत्र आया उनके गुरुकुल मे उत्सव था, ये पं० विश्वम्भरनाथ जी के परम मित्र थे, शायद दोनो शिक्षा-संबंधी विचार भी एक से थे। लाला दलाराम ने पं० विश्वम्भरनाथ जी को उनके उत्सव मे किसी स्नातक को भेजने को लिखा। पंडित जी ने मुझे भेज दिया। मैंने दो-चार लेक्चर दिये होगे कि एक दिन दलाराम जी सवेरे-सवेरे आकर मुझे कहने लगे कि कल 'सर्व-धर्म-सम्मेलन' है जिसमें आपने आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व करना है। आपको रात मे ही 'वेद ईश्वरीय ज्ञान है' इस विषय पर लिखकर बोलना होगा। मैंने रात बैठकर अपना व्याख्यान लिख डाला जिसके प्रारंभ के कुछ शब्द मुझे स्मरण हैं। मैंने कहा—

"मैंने बूंद से पूछा—तू कहाँ से आयी—उसने उत्तर दिया—समुद्र से, मैंने प्रातःकाल आयी किरण से पूछा—तू कहाँ से आयी—उसने उत्तर दिया—सूर्य से, मैंने आसमान मे उड़ती धूल के कण से पूछा—तू कहाँ से आया—उसने उत्तर दिया—पृथ्वी से, मैंने मन से उपजे ज्ञान से पूछा—तू कहाँ से उपजा—उसने उत्तर दिया—वेद से।

मेरे इन चार-पाँच पंक्तियों के वाक्यों को सुनकर पंडाल दो मिनट तक तालियों से गूँजता रहा।

जब मैं गुरुकुल लौटा तब लाला दलाराम जी का पं० विश्वम्भरनाथ जी के पास एक पत्र आया जिसमें लिखा था कि अगर आपने गुरुकुल में सत्यव्रत जैसी प्रतिभा के स्नातक उत्पन्न करते हैं तो आपका गुरुकुल सफल है। पण्डित विश्वम्भरनाथ जी बार-बार मुझे लाला दलाराम जी की यह बात सुनाया करते थे। पं० विश्वम्भरनाथ जी यद्यपि गुरुकुल काँगड़ी के कर्णधार थे, तो भी जहाँ तक मैं उन्हें समझ पाया हूँ उनके विचार लाला दलाराम से अधिक मिलते थे। मेरी विचारधारा पर भी शिक्षा के संबंध में बहुत कुछ पं० विश्वम्भरनाथ जी के विचारों की छाप है।

व्याख्यान देने का जहाँ तक मुझे उक्त अनुभव है वहाँ एक कटु अनुभव भी है। लाहौर की बच्चों वाली आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर मुझे प्रायः निमन्त्रित किया जाता था। उन दिनों लाउडस्पीकर नहीं चले थे, चिल्लाकर बड़ी ऊँची आवाज में वक्ता बोलता था। एक उत्सव में मैं व्याख्यान दे चुका था कि इतने में स्वामी वेदानन्द जी आ विराजे। उन्होंने मेरा व्याख्यान तो नहीं सुना था, आगे-आगे ऊँचे स्वर में निकलती आवाज़ सुनी थी। आकर मेरे पास बैठ गये, पूछने लगे कौन व्याख्यान दे रहा था। पास बैठे एक सज्जन ने कहा— ये बैठे हैं, पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार जो व्याख्यान देकर अभी बैठे हैं। स्वामी वेदानन्द जी बोल उठे— 'थोथा चना बाजे घना'। स्वामी जी की इस टीका को सुनकर मैंने कहा—शायद स्वामी जी अपनी भुगती हुई बात कह रहे हों।

मैं गुरुकुल का एक स्नातक होने के नाते हमारी अलग से एक बिरादरी है। इस बिरादरी में बैठकर हममें से न कोई बड़ा, न कोई छोटा—सब एक कुल-माता के एक-समान पुत्र। फिर भी, क्योंकि मैं सब जीवित स्नातकों में आयु की दृष्टि से सबसे बड़ा हूँ, इसलिए एक बिरादरी के होते हुए भी सब स्नातक मेरा आदर-सत्कार करते हैं।

इसी एक बिरादरी का होने के कारण मेरा एक स्नातक के साथ आने-जाने और मिलने-जुलने का विशेष संबंध हो गया। हमारे परिवारों का भी एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ संबंध बन गया। उस स्नातक का नाम था - मनुदेव - जिसका कई साल हुए देहान्त हो गया है। मैने जीवन में किसी को मित्र नहीं माना, परन्तु उनके विषय में मैं कह सकता हूँ कि उन्हें मैं अपना मित्र मानता था। अपनी समस्याओं के संबंध में वे मुझसे, सलाह-मशविरा करते थे, मैं उनसे। हमारा यह घनिष्ठता का संबंध हमारे भाइयों तक था। वे परिवार सहित हमारे और हम परिवार सहित उनके पारिवारिक कार्यक्रमों में भाग लेते थे।

वे व्यापारिक तबीयत के थे, व्यापारिक परिवार के थे। व्यापार के सब पापड़ बेलने के बाद, जीवन के संध्याकाल में उन्होंने एक कम्पनी का निर्माण किया जिसका नाम था—'ब्रोन्ड पाउडर प्राइवेट लिमिटेड' वे इस कम्पनी को सुचारु रूप से चलाने के लिए अमरीका गये, सरकार से कई एकड़ की इस फैक्टरी के लिए जमीन ली, और इस कम्पनी के डायरेक्टर बने और मुझे भी इस कम्पनी के शेयर लेने के लिए प्रेरित किया। उनके प्रबल आग्रह और विश्वास दिलाने पर कि इस काम में बहुत लाभ होगा मैंने अपनी सारी जमा-पूंजी, जो उस समय २५ हजार थी, इस कम्पनी में झोंक दी और अपने कुछ स्नातक साथियों को भी इस कम्पनी के शेयर खरीदने के लिए प्रेरित किया। साल-पर-साल बीतते गये, परन्तु कम्पनी सिरे न चढ़ी। इस बीच कई अन्य कारण भी हो गये जिनके कारण मेरा तथा उनका आपसी प्यार जाता रहा और हम अधि-कांश हिस्सेदारों ने उन पर दावा दायर कर दिया। अब हम लोग जो एक-दूसरे के साथ मित्रता के संबंध में जुड़े थे, कचहरी में एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े हो गये। इन सब घटनाओं को याद कर मुझे दुःख होता है।

जीवन के ऐसे कटु अनुभव प्रायः सभी को मिलते हैं। भाई-भाई एक साथ, एक घर में पलते हैं, परन्तु वे कालान्तर में एक-दूसरे के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं। जमाना ऐसा आ गया है कि भाई भाई का नहीं रहा, भाई बहन का नहीं रहा, चाचा-ताया सब नाम के रह गये हैं। स्थिति यहाँ तक आ गई है कि जिस दामाद को अपना बेटा बनाकर गाने-बजाने के साथ हम घर लाते हैं, वही कालान्तर में हम पर इतना हावी हो जाता है कि हम जान बचाकर उससे पीछा छुड़ाना चाहते हैं। स्मृतिकारों ने ठीक कहा है—'जामाता दशमो ग्रहः'। आज कितनी ही लड़कियाँ डावरी के कारण परलोक सिधार रही हैं। घनिष्ठ संबंधियों की यह दुर्दशा देखकर किसी कवि ने कहा था :

यूयं वयं वयं यूयं इत्यासीन्मतिरावयो,
किं जातं अधुना मित्र यूयं यूयं वयं वयम्।

अरे भाई, कोई जमाना था जब तुम हम और हम तुम थे, अब क्या हो गया कि तुम तुम और हम हम हो गये।

मैं १९०५ में गुरुकुल काँगड़ी (हरिद्वार) में भर्ती हुआ था, १९१४ में स्नातक बना। जिस युग में मेरा जन्म हुआ वह सामन्तवाद तथा जन-जागरण का युग था। देश मे राज-रजवाड़े थे, परन्तु अंग्रेजी राज ने उनकी जड़ खोखली कर दी थी। अंग्रेज योरोपीय सभ्यता तथा विचारों को लेकर आये थे। वहाँ भी कहने को सामन्तीय युग चल रहा था, परन्तु विचार-स्वातंत्र्य हर देश में उभर रहा था। योरोप मे विचारों के क्षेत्र में जो कुछ हो रहा था, उसका कुछ-कुछ अंश अंग्रेजी राज्य के द्वारा भारत मे भी रहा था। इस काल को सामन्त-वाद तथा जन-साधारण सामन्तवादी संस्था जन-जागरण के कारण कुछ-कुछ हिल रही थी। हिल रही थी का यह अर्थ नही है कि नष्ट हो गई थी, इसका इतना ही अर्थ है कि जनता में इसके विरुद्ध धीमा-धीमा असन्तोष उभरने लगा था। वही असन्तोष अत्यन्त धीमे रूप मे भारत मे भी आ रहा था, परन्तु प्रधानता अभी सामन्त-वाद की ही थी।

प्रधानता सामन्तवाद की ही थी—इससे मेरा क्या अभिप्राय है ? मेरा अभिप्राय यह है कि इस संक्रान्ति-काल मे राजा के मर जाने पर जनता का राज उस रिक्त स्थान मे नही आ जाता जो अन्त मे आ गया, उस रिक्त स्थान मे राजा का ही बेटा उस स्थान पर बैठता था। जो परंपरा सैकड़ो सालो से चली आ रही थी वही चलती रही यद्यपि उसके पति सर्व-साधारण तथा शिक्षित वर्ग मे असन्तोष भी उभरने लगा। इस युग मे विचारों की इन दो भिन्न-भिन्न धाराओं ने जन्म लिया। एक विचारधारा यह थी कि जो कुछ युगो से चलता आ रहा है वही चलते रहना चाहिए, राजा का बेटा ही बाप के मरने के बाद राज करे, क्योकि वह ऐसे वाता-वरण मे रहा है जिससे वह उस कार्य मे कुशल हो गया है। दूसरी विचारधारा यह थी कि प्रत्येक व्यक्ति को वे सब अधिकार होने चाहिए जो राजा के बेटे को होते हैं क्योंकि हर व्यक्ति अपनी परिस्थितियो से जूझता हुआ एक-दूसरे से आगे बढ सकता है। संक्षेप में कहा जाय तो कह सकते हैं कि जीवन मे व्यक्ति का मार्ग जन्मजात होना चाहिए या कर्मजात होना चाहिए। जन्म और कर्म का यह झगड़ा संक्रान्ति-काल के इस युग का सबसे बड़ा प्रश्न था। राजनीति में, समाज के व्यवहार मे, शिक्षा में—हर क्षेत्र में ये दो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ प्रकट हो रही थी। राजा का बेटा राज करेगा, पंडित का बेटा पंडित बनेगा, यहाँ तक कि जीवन के काम-धंधों में भी यही सूत्र चल रहा था। जिसका परिणाम यह था कि जीवन क्षेत्र मे प्रवेश करने से पहले ही प्रत्येक व्यक्ति का काम-धधा निश्चित था। किसी को इस बात की चिंता नही थी कि पढ़-लिखकर, या बिना पढ़े भी वह जीवन मे क्या प्रोफेशन करेगा। जीवन की परंपरा पर आश्रित सामन्तवाद के युग मे किसी को यह सोचना नहीं पड़ता था कि युवा होकर वह क्या करेगा। यह निश्चित था कि युवा होकर वह वही—कुछ करेगा जो उसके माता-पिता करते आये हैं, या जो-कुछ उसके परिवार मे होता आया है। जिस संक्रांति-काल में मैंने जीवन में प्रवेश किया उसमें जन-जागरण के विचारों के कारण वातावरण बदल रहा था, और प्रत्येक व्यक्ति अपने घरेलू काम-धंधे से ही सन्तुष्ट न होकर हर किसी काम-धंधे के लिए प्रयास कर रहा था। इस नवीन वातावरण के कारण जीवन-संघर्ष उग्र हो गया था और पहले जो बेकारी नहीं थी, वह दिनोदिन बढ़ रही थी। जहाँ तक मेरे जीवन का संबंध था, मेरे लिये परिवार के धंधे का प्रश्न ही नहीं था क्योकि मेरे पिता तो रेलवे में नौकर थे जिसके लिये मुझे कोई चान्स नहीं था क्योंकि उस समय तक उनका देहान्त हो चुका था, और मेरी शिक्षा भी अत्यन्त भिन्न प्रकार की हुई थी। मैं सामन्तवाद तथा जन-जागरण के इस संक्रांति-काल की उपज था इसलिये मुझे जीवन का रास्ता बनाने के लिये अनेक संघर्षों से गुजरना पड़ा जिनका उल्लेख पाठक आगे पढ़ेंगे।

इसमें शक नहीं कि वर्तमान शिक्षाविज्ञ फिर से सोचने लगे हैं कि शिक्षा समाप्त होने से पहले ही युवक के सामने कोई ऐसा लक्ष्य होना चाहिये जिसको साधने के लिये वह पहले से तैयारी करें और शिक्षा

समाप्त करने पर उसे दर-दर न भटकना पड़े, प्रारंभ से ही युवक की शिक्षा को ऐसी दिशा दी जाय जिधर उसकी प्रवृत्ति हो और उसे शिक्षा समाप्त करने पर बेकारी का जीवन न बिताना पड़े। इसी को जीवन-यापनोन्मुख (Profession Oriented Education) कहा जाता है जिसकी तरफ वर्तमान शिक्षाविज्ञों का ध्यान बढता जा रहा है।

गुरुकुल में वेदों के उद्‌भद विद्वान् पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर अध्यापक थे। वह उच्चकोटि के विचारक तथा क्रान्तिकारी विचारों के धनी थे।

श्री सातवलेकर जी के संबंध में लिखते हुए स्मरण हो आता है कि जिस युग में मैं इस संस्था में पढता था, इसे शिक्षा-संस्था के स्थान मे राजनीतिक संस्था समझा जाता था। जनसाधारण तो इसे आर्यसमाज के उपदेशक तथा प्रचारक उत्पन्न करने की संस्था मानते थे, परन्तु अंग्रेजी सरकार इसे क्रांतिकारी युवक तैयार करने की संस्था समझते तथा मानते थे। इस दृष्टि से गुरुकुल को सरकार बडे सन्देह की दृष्टि से देखती थी। सरकार का यह दृष्टिकोण इस बात से भी पुष्ट होता था कि कई बार सरकार की तरफ़ से महात्मा मुंशीराम को सन्देश भेजा गया कि वे इस संस्था को चलाने के लिये सरकारी अनुदान स्वीकार करें, परन्तु जिसे महात्मा जी ने सदा अस्वीकार कर दिया। गुरुकुल के संचालकों का क्या दृष्टिकोण है— इसे जानने के लिए उत्तर प्रदेश के गर्वनर सर जेम्स मेस्टन यहाँ आये। उस समय किसी गवर्नर का किसी संस्था मे आना अभूत-पूर्व घटना थी। सर जेम्स मेस्टन के सन्देह तो दूर हो गये, परन्तु केन्द्रीय सरकार मे यह सन्देह तब भी बना रहा। अन्ततोगत्वा सरकार ने यह निश्चय किया कि वायसराय को गुरुकुल भेजा जाय ताकि उनके प्रभाव से गुरुकुल के संचालक अपनी सन्देहास्पद गतिविधि को छोड दें। उस समय लार्ड विलिंगडन वायसराय थे। वे सरकारी दल-बल के साथ गुरुकुल पधारे। उनका जुलूस हाथियो पर आया था। लाट साहब को सारा गुरुकुल दिखाया गया। पुस्तकालय मे भी वे पधारे। केन्द्र मे वाचनालय के अनेक समाचार-पत्र पड़े हुए थे। एक पत्र था बाम्बे क्रानिकल Bombay Chronicle। इस पत्र का Bomb शब्द दीख रहा था, बाकी का हिस्सा किसी अन्य पत्र से ढका हुआ था। दो मिनट तक लाट साहब 'बाम्ब' शब्द को देखते रहे। महात्मा जी ने जब देखा कि लाट साहब एक जगह खडे होकर मेज पर पडे एक पत्र को ध्यान से देख रहे है, तो वे सब बात समझ गये और उन्होने Bomb के आगे के भाग को ढकने वाले कागज को परे हटा दिया, और शायद लाट साहब की उलझन दूर हो गई। उन दिनों हम लोग भी क्रातिकारी बातें किया करते थे। हिन्दी की पुस्तको मे लिखा होता था कि अंग्रेजों के भारत आने पर देश को अनेक लाभ हुए। यहाँ रेले चली, टेलीफोन लगे, सडके बनीं, मोटरें आयी। हम लोग पाठ्य पुस्तकों के इन भागों पर लकीर फेर देते थे और हाशिये मे लिख देते थे कि यदि अंग्रेज इस देश मे न आते तब भी स्वतंत्र भारत मे यह सब कुछ होता। जब पता चला कि लाट साहब आने वाले हैं तब हम बच्चो ने अपनी पाठ्य पुस्तको के गंगा के किनारे पडे पत्थरो के नीचे दबा दिया ताकि हमारे लिखे इन वाक्यों को कोई न देख ले। हमारा यह समझना कि लाट साहब हमारी पुस्तको को छानबीन करेंगे—यह हमारी बचपन की बातें थी परन्तु उस समय हम लोगों की मानसिक वृत्ति पर इस घटना से प्रकाश पड़ता है। विदेशी सरकार को यह समझ नही पड़ता था कि यह संस्था शहरो से दूर जंगल मे क्यों बनाई गई है? अगर वहाँ कोई गुप्त कार्य नही हो रहा और यह सिर्फ़ शिक्षा-संस्था है, तो इसे शहर में क्यों नही बनाया गया। इस समय जो विद्यार्थी गुरुकुल मे पढते थे उनमे से अनेक विद्यार्थियो ने सशस्त्र क्रांति मे भाग लिया। उदाहरणार्थ श्री यशपाल मेरे साथ गुरुकल मे पढते थे, वे सशस्त्र क्रातिकारियों मे मुख्य स्थान रखते थे। इसका यह अभिप्राय नही कि गुरुकुल की स्थापना ही क्रांतिकारी युवक उत्पन्न करने के लिये थी; गुरुकुल की स्थापना जिस जागरण के काल में हुई थी उसमे युवकों का क्रांतिकारी बन जाना स्वाभाविक था। सरकार की गुरुकुल की गतिविधियों को जानने की उत्सुकता यहाँ तक बढी हुई थी कि एक बार इंगलैंड की लेबर पार्टी के नेता रैमजे मैंग्डानाल्ड, जो आगे चलकर इंगलैंड के प्रधानमंत्री बने, गुरकुल पधारे। महात्मा जी

ने उन्हें एक हलवाई के यहाँ ले जाकर जलेबियाँ खिलाईं। रैमजे अचंभे में थे कि इस गोल-गोल जलेबी में मीठा रस कैसे भरा जाता है। वह समझते थे कि किसी प्रकार किसी यंत्र से इस गोल-गोल मिठाई में मीठा रस इन्जेक्ट कर देते होंगे। उन्हीं रैमजे ने इंगलैंड पहुँचकर महात्मा मुंशीराम जी की भव्य आकृति के विषय में लिखा कि उनके सामने उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि वे किसी क्रिस्टी सेंट के सामने खड़े हैं। सामाजिक तथा राजनीतिक बन्धनों को तोड डालने की उग्र भावना के गुरुकुल में निहित होने का ही परिणाम था कि जब १९३० में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह का बिगुल बजाया उसमें गुरुकुल के विद्यार्थियों ने दल-बल सहित भाग लिया। इससे पहले जब देश की स्वतंत्रता का बिगुल नहीं बजा था और महात्मा गांधी दक्षिणी अफ्रीका में सत्याग्रह का युद्ध कर रहे थे तब गुरुकुल के विद्यार्थियों ने मजदूरी करके और अपने प्रतिदिन के भोजन से बचाकर कुछ धनराशि महात्मा गांधी को दक्षिणी अफ्रीका भेजी, और जब महात्मा गांधी ने भारत में स्थायी रूप से रहने का निश्चय किया तब देवीदास आदि ने अपने पुत्रों की पहली टोली गुरुकुल मे भेजी। यहाँ आकर वे लोग दो-तीन मास ठहरे।

३. स्नातक होने के बाद मैं पूना में

महाविद्यालय में विद्याध्ययन करने के बाद मैं गुरुकुल का स्नातक बना। मुझे सिद्धान्तालंकार की उपाधि दी गई। स्नातक बनते ही आजीविका का प्रश्न उपस्थित हुआ—जाऊँ तो कहाँ जाऊँ? कोई ठिकाना नहीं था। उस समय प्रोफेसर रामदेव जी हमारे आचार्य थे, वे मेनगेट के बंगले पर रहा करते थे। उन्होंने मुझे कहा कि तुम्हें सिद्धान्तालंकार की, उपदेशक बनने की शिक्षा दी गई है। तुम्हें २५ रुपया प्रतिमास मिलेंगे, तुम मेरे पास कमरे में रहा करो। मैंने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। मैंने तो २५ रुपये कभी देखे भी नहीं थे। पन्द्रह दिन ही हुए होंगे कि उन्हें पूना से वहाँ की आर्यसमाज का तार आया कि वहाँ आर्यसमाज का उत्सव है, उन्हें बुलाया था। प्रोफेसर रामदेव जी ने मुझे जाने के लिए कहा, मैं पूना आर्यसमाज के उत्सव पर व्याख्यान देने के लिए जाने को तैयार हो गया। पहले हरद्वार से दिल्ली पहुँचा। उन दिनों महात्मा मुंशीराम जी स्वामी श्रद्धानंद बन चुके थे। उन्ही के यहाँ ठहरा। स्वामी जी ने पूछा— कभी पूना गये हो? मैंने कहा—नही। फिर पूछा - कैसे पहुँचोगे, रेलगाडी का सफर तो तुमने कभी किया नही, भीड़-भडक्के मे भटकते फिरोगे। हमारे अंग्रेजी पढ़ाने वाले एक प्रोफ़ेसर थे—सेवाराम फिटवानी। वे गुरुकुल छोड़कर बम्बई रहने लगे थे। स्वामी जी ने उन्हें तार दिया कि मुझे बम्बई पहुँचने पर पूना की गाड़ी चढ़ा दे और अपना आदमी साथ कर मुझे दिल्ली से बंबई जाने वाली गाड़ी पर चढवा दिया। स्टेशन पर स्टेशन आते रहे और मैं देखता रहा कि बम्बई स्टेशन कब आता है, परन्तु बम्बई नाम का स्टेशन नही आया। अन्त में जब गाड़ी विक्टोरिया टरमिनस पहुँची तब सब यात्री उतर गये और गाड़ी खाली हो गई। मैंने लोगों से पूछा—बम्बई कब आएगी? तो उन्होंने कहा, यही तो बम्बई है। मैं भी उतर गया, परन्तु अब प्रश्न था पूना के लिए कहाँ से चढ़ूँ? मैंने पाँवों में खड़ावें पहनी हुई थीं, लाँग की धोती बाँधी हुई थी, प्लेटफार्म से निकलने के लिए चला जा रहा था। इतने मे एक युवक भागा-भागा मेरे पास आया, पूछा—क्या सत्यव्रत आप हैं? मैंने कहा—हाँ, परन्तु आपको कैसे पता चला कि मैं सत्यव्रत हूँ? वे बोले कि बम्बई जैसे शहर मे जंगलियों-सा दीखने वाला, खड़ावें पहने चला आ रहा व्यक्ति वही हो सकता था जिसे लेने पिताश्री सेवाराम जी ने मुझे भेजा था। उन्हें पाकर मैं निश्चिन्त हो गया और वे मुझे दूसरी गाड़ी से अपने पिता प्रोफ़ेसर सेवाराम जी के घर ले गये।

अब प्रश्न पूना जाने का था। अगले दिन प्रातःकाल प्रोफ़ेसर सेवाराम जी ने मुझे पूना की गाड़ी पर चढ़ा दिया और आर्यसमाज को मेरे आने का तार दे दिया। चार-पाँच घण्टे में गाड़ी पूना पहुँच गई और देखा कि अनेक आर्यसमाजी भाई पुष्पमालाएँ लिये मेरे स्वागत के लिए प्लेटफार्म पर उपस्थित थे। पूना पहुँचकर

साँस-में-साँस आयी और इत्मीनान हो गया कि ठीक स्थान पर पहुँच गये।

उन दिनों पूना आर्यसमाज का उत्सव क्यों हो रहा था— इसका एक विशेष कारण था। पूना के पास एक स्टेट है— कोल्हापुर। कोल्हापुर के महाराजा आर्यसमाज के प्रभाव में आ चुके थे। आर्यसमाज जन्म की जात-पाँत नहीं मानता, यह उनके लिए आर्यसमाज के प्रति खिंचाव का विशेष कारण था। उत्तर प्रदेश की आर्य-प्रतिनिधि सभा को उन्होंने अपनी स्टेट का राजाराम इण्टर कॉलेज प्रबन्ध के लिए दे दिया था। कॉलेज को डिग्री कॉलेज बनाने की स्कीम चल रही थी। इस उद्देश्य से सभा के प्रधान कुँवर हुक्मसिंह अपने दल-बल-सहित कोल्हापुर आये हुए थे। उन्हीं के प्रयत्न से पूना में आर्यसमाज की स्थापना तथा उत्सव रखा गया था। इस उत्सव पर बम्बई से स्वामी ओंकारनाथ तथा कोल्हापुर से प्रोफ़ेसर कृपाशंकर हजेला, मास्टर मलखान सिंह, प्रिंसिपल नेहपालसिंह आदि आये हुए थे; इसी उत्सव में भाग लेने मैं भी आया था। सबके व्याख्यानों के साथ मेरे भी व्याख्यान हुए। मैं क्योंकि हाल ही में ईश्वरवाद आदि विषयों पर अंग्रेजी ग्रन्थ पढ़कर आया था और उन ग्रन्थों के कोटेशन मुझे खूब याद थे, मैंने अपने भाषणों में उन कोटेशनों की झड़ी लगा दी। मेरे व्याख्यान सुन कुँवर हुक्मसिंह बहुत प्रभावित हुए और मुझसे कोल्हापुर चलने का आग्रह करने लगे। मैं इस सारी मण्डली के साथ कोल्हापुर चल दिया। पूना में तो तीन-चार ही व्याख्यान हुए परन्तु प्रत्येक व्याख्यान अंग्रेजी के कोटेशनों से भरा था।

४. स्नातक होने के बाद मैं कोल्हापुर में

स्नातक होने के एक महीने के भीतर ही मैं कोल्हापुर पहुँच गया। उस समय वहाँ राजाराम स्कूल तथा राजाराम कॉलेज के स्टाफ़ की भर्ती हो रही थी। नेहपालसिंह ऑक्सफ़ोर्ड से बी० ए० पास करके आये थे, वे ३०० रु० मासिक पर प्रिन्सिपल नियुक्त हुए, के० एस० हजेला कैमिस्ट्री के अध्यापक नियुक्त हुए, ठाकुर मलखानसिंह हेड मास्टर बने, मिस्टर पौराणिक अंग्रेजी के अध्यापक हुए, अन्य भी अनेक व्यक्ति नियुक्त हुए जिन्हें मैं जानता नहीं था। कुँवर हुक्मसिंह चाहते थे कि मैं भी वहीं नियुक्त हो जाऊँ। मुझे उन्होंने धर्मशिक्षा का अध्यापक नियुक्त किया और मेरा काम यह निश्चित किया गया कि कॉलेज प्रारम्भ होते समय जब सब लोग एकत्रित हों तब उस सभा में मैं किसी वेदमन्त्र की आंग्लभाषा में व्याख्या करूँ जो कम-से-कम १५ मिनट की हो। इसके लिए मुझे ७५ रुपये मासिक देने का निश्चय हुआ। यह काम मेरे लिए बड़ा आसान था इसलिए मैंने सहर्ष इसे स्वीकार कर दिया। पच्चीस से एक महीने में ही पचहत्तर पाने लगना भी अत्यन्त उत्साह-वर्धक था। मुझे कॉलेज में पढ़ाने को भी एक घण्टा दिया गया जिसमें मेरा काम धार्मिक विषयों की चर्चा करना था।

मैंने रहने के लिए एक कमरा दस रुपये मासिक पर लिया। मकान का नाम था—'भुसारी बाड़ा'। मैंने कोल्हापुर के स्वामी श्रद्धानन्द जी को अपनी स्थिति का पत्र लिखा जिस पर मेरा पता था— 'भुसारी बाड़ा'। स्वामी जी का आशीर्वाद-पत्र आया, परंतु पूछा— तुम भुसारी कब से बन गये? उन्होंने समझा 'भुसारी' मेरी जात है। मैंने उत्तर दिया, यह तो मेरा पता है, यह मेरा नाम नहीं, यह मेरे मकान का नाम है। यह सुनकर वे प्रसन्न हुए। जब मैं भुसारी बाड़े में रहता था तब एक दिन मुझे तीव्र बुखार चढ़ गया, बेहोशी-सी हो गई। कुंवर हुक्मसिंह मुझे देखने आये, तो इतना बुखार देखकर मुझे वहाँ के सिविल सर्जन के घर ले गये। पता लगा कि यह टायफ़ायड फ़ीवर था। सिविल सर्जन साहब बड़े कृपालु थे, उन्होंने मुझे अपने घर ही रख लिया। उनका नाम डॉ० झिन्बे था। मैं २१ दिन टायफ़ायड से पीड़ित रहा। उनकी पत्नी ने इन दिनों मेरी जो देखभाल की उसे मैं आजीवन नहीं भुला सकता। परदेस में इस प्रकार की विपत्ति में पड़ जाना और नच्चतम सहायता का मिल जाना प्रभु की कृपा के बगैर नहीं हो सकता। ठीक होकर मैं फिर कॉलेज जाने लगा।

इस बार मैंने मकान बदल लिया, किराया लगभग उतना ही था। अभी दो महीने नहीं बीते थे कि एक

दिन राजसी ठाठ की दो घोड़ों की एक बग्घी मेरे मकान के नीचे आ खड़ी हुई। उसमें से राजसी ठाठ का एक व्यक्ति ऊपर चढ़ आया और कहने लगा कि आपको महाराजा साहब ने बुलाया है। मैं उनके साथ चल दिया। गाड़ी पैलेस जाकर ठहरी और मुझे महाराजा साहब के सामने, जिनका शरीर भारी-भरकम था और जो बिलियर्ड की टेबल पर लेटे हुए थे, पेश किया गया। महाराजा साहब ने मुझे कहा कि हम तुम्हें युवराज का ट्यूटर बनाना चाहते हैं, उनके साथ पाँच-सात अन्य भी बालक होंगे, तुम उनके साथ रहना और उन्हें जो वे सीखना चाहें सिखाना। महाराज की आज्ञा हुई कि मेरा सामान ले आया जाये। पैलेस में झाड़-फानूस से सुसज्जित एक कमरा मुझे दे दिया गया। एक रसोइया मेरे लिए रख दिया गया। कॉलिज आने-जाने के लिए एक सुशोभित बैलगाड़ी का भी मेरे लिए प्रबन्ध हो गया। यह भी हुक्म हुआ कि मैं साइकल चलाना सीख लूँ और ज़रूरत पड़े तो उसका भी इस्तेमाल करूँ। मैं इस अचानक उत्थान के लिए परमात्मा को धन्यवाद देता हुआ राजप्रासाद में आकर रहने लगा।

युवराज को पढ़ना-लिखना क्या था, वे तो रेस तथा शिकार खेलने के शौकीन थे। उनके साथ रहने वाले बालक भी इन्हीं व्यसनों में फँसे थे। ये वहाँ के राजकीय सरदारों के लड़के थे। इनमें से एक लड़का सुर्वे नाम का था जो पीछे जाकर वहाँ का चीफ मिनस्टर बन गया और मेरे गुरुकुल में सेवा ग्रहण करने के बाद उसने मुझे तार देकर कोल्हापुर की उच्च सेवा के लिए निमन्त्रित किया था परन्तु तब तक मैं 'दयानन्द सेवा सदन' का आजीवन सदस्य हो चुका था।

युवराज तथा उसके साथियों का पढ़ने-लिखने के प्रति कोई रुझान नहीं था। युवराज अपनी बग्घी में रोज़ आते और अपने रेस के घोड़ों को दिखलाते। हरएक घोड़े की जो विशेषता होती वह बतलाते जो मेरी समझ में कुछ न आती। उनके साथी लोग भी मुझे टेनिस कोर्ट ले जाते या बिलियर्ड खेलने ले जाते, परन्तु मैं इन सब बातों में शून्य था; सिर्फ़ इतना कह देता कि मैं देखूँगा, तुम खेलो। मैंने उन्हें यह नहीं जानने दिया कि मैं इन खेलों को जानता ही नहीं।

एक बार यह पार्टी शिकार खेलने निकली। हम लोग पहाड़ पर गये। वहाँ ये लोग चिड़ियाँ मारते थे और उनका खून चूस लेते थे। मुझे वह दृश्य देखकर इतनी घृणा हुई कि जी चाहा अभी यह सर्विस छोड़कर भाग खड़ा होऊँ। विधाता भी शायद मेरी आवाज़ सुन रहा था। घर पहुँचे तो गुरुकुल का एक पत्र आया पड़ा था कि उत्सव के दिन हैं, तुम्हारा व्याख्यान रखा गया है, अवश्य आना। उन दिनों स्वामी श्रद्धानन्द जी फिर गुरुकुल आ गये थे या नहीं, इसका मुझे स्मरण नहीं, परन्तु मैं उत्सव के लिए गुरुकुल को रवाना हो गया। मुझे कोल्हापुर के जीवन से घृणा होने लगी थी इसलिए कम-से-कम कुछ दिनों के लिए कोल्हापुर से छुटकारा चाहता था।

५. स्नातक होने के बाद मैं बैंगलौर में

मैं एक-डेढ़ साल कोल्हापुर रहा था कि गुरुकुल काँगड़ी के उत्सव का निमन्त्रण आ पहुँचा। स्वामी श्रद्धानन्द जी वहाँ थे। उन्होंने मुझे कहा कि वे दक्षिण भारत में सार्वदेशिक सभा की तरफ़ से हिन्दी सिखाने का केन्द्र खोलना चाहते हैं। सौ रुपया मासिक मिलेगा और रहने के लिए जगह। मुझे उन्होंने प्रेरित किया कि मैं वहाँ चला जाऊँ। वहाँ एक स्वामी परमानन्द जी रहते थे जो आगे चलकर हैदराबाद सत्याग्रह में शहीद हो गये। उनका स्वामी जी से आग्रह था कि किसी योग्य व्यक्ति को बैंगलौर भेजें। मैंने इस प्रस्ताव को झट स्वीकार कर लिया और स्वामी जी से प्रार्थना की कि एक पत्र महाराजा कोल्हापुर के नाम मुझे दें ताकि वह पत्र महाराजा को दिखाकर मैं उनसे विदा ले सकूँ। स्वामी जी ने पत्र दे दिया और वह पत्र लेकर मैं कोल्हापुर के लिए रवाना हो गया। महाराजा को जब वह पत्र दिखाया तो कहने लगे—स्वामी जी के आदेश के सामने मैं क्या कह सकता हूँ! अगर उनकी इच्छा है कि आप बैंगलौर जाओ तो खुशी से जा सकते हो। मैं महाराजा की

आज्ञा लेकर एक दिन भी बिना ठहरे बैंगलौर के लिए गाड़ी पर सवार हो गया।

बैंगलौर में स्वामी सत्यानन्द जी आर्यसमाज का थोड़ा-बहुत काम करते थे। बहुत पढ़े-लिखे तो नहीं थे, परन्तु आर्यसमाजी थे। वहाँ एक जाति रहती है जिसे वक्कलिगर कहते हैं। ये लोग ज्यादातर लिंगायत हैं, ये समृद्ध हैं। इनका एक होस्टल था जिसका नाम था वक्कलिगर होस्टल। स्वामी जी इसी होस्टल में रहते थे। मुझे भी उन्होंने वहीं ठहराया। बैंगलौर आकर मुझे अपना प्रोग्राम खुद बनाना पड़ता था। मेरा काम आर्यसमाज तथा हिन्दी का प्रचार करना था। हिन्दी-प्रचार के लिए मैं नेशनल हाईस्कूल के हेडमास्टर श्री कल्याणसुन्दरम् के पास गया और अपनी हिन्दी-प्रचार योजना को उनके द्वारा सफल बनाने को कहा। तय हुआ कि स्कूल का समय समाप्त होने के बाद स्कूल की उच्च कक्षाओं तथा अध्यापकों को आध घंटे के लिए हॉल में एकत्रित करके प्रतिदिन हिन्दी पढ़ाऊँ। यह प्रोग्राम महीने भर चलता रहा। इस प्रकार क्लास में मैं सबको अंग्रेज़ी के माध्यम से हिन्दी पढ़ाता था क्योंकि वहाँ कन्नड़ स्थानीय भाषा है जिसे मैं नहीं जानता था। इस समय मैंने जो पाठ तैयार किये उनकी एक पुस्तक प्रकाशित कर दी जिसका नाम 'हाउ टु लर्न हिन्दी' था। यह पुस्तक वहाँ के कपड़े की एक व्यापारी कम्पनी ने प्रकाशित की जिसका नाम जवेरचन्द एण्ड कम्पनी था। उन्होंने उसकी बिक्री की, मेरा तो सिर्फ परिश्रम रहा। वह पुस्तक वहीं के एक लोकल प्रेस में छपी थी।

हिन्दी प्रचार के अलावा आर्यसमाज का प्रचार मेरा दूसरा काम था। आर्यसमाज के प्रचार के लिए मैं प्रति सप्ताह एक इश्तिहार छपवाता था और बाज़ार में बाँटता तथा बँटवा देता था। उसमें रविवार की मीटिंग का विज्ञापन होता था जिसमें किसी सामाजिक विषय पर व्याख्यान की सूचना होती थी। व्याख्यान मैं ही देता था। व्याख्यान अंग्रेज़ी में होता था। व्याख्यान दोड्ला हॉल में ही होते थे। तीस-चालीस श्रोता तो आ ही जाते थे। इन मीटिंगों का सारा प्रबन्ध—दरी, मेज, कुर्सी आदि सबका प्रबन्ध मैं ही करता था। सप्ताह के अन्य दिनों में वहाँ के सामाजिक विचारों के व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करता था।

बैंगलौर में एक साप्ताहिक अंग्रेज़ी का पत्र निकलता था जिसके सम्पादक श्री गुण्डप्पा थे। उस पत्र में मैंने गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली पर कुछ लेख लिखे। इससे लोगों में आर्यसमाज के विषय में कुछ जानकारी होने लगी। स्वामी श्रद्धानन्दजी ने मेरा सहयोग देने के लिए मेरे सहपाठी देवेश्वर सिद्धान्तालकार को भी भेज दिया। हम दोनों किराये का एक मकान लेकर बसवनगुडी में रहने लगे। देवेश्वर की दिलचस्पी इस काम में देर तक नहीं बनी रही। कुछ मास बाद वह बैंगलौर छोड़ गया। सुनते हैं वह बर्मा चला गया जहाँ न जाने कैसे उसकी मृत्यु हो गई।

इस बीच मैंने तथा स्वामी सत्यानन्द जी ने एक गुरुकुलाश्रम खोलने की योजना बनाई। कुछ लोगों से मिले, कुछ चन्दा किया और किराये का एक मकान ले लिया। यहाँ जो बच्चे लिए जाते थे, भेजते तो हम उन्हें वहाँ के स्कूलों में ही थे, परन्तु उनकी दैनिक दिनचर्या गुरुकुल के ढंग की थी। प्रातःकाल शीघ्र उठते, प्रार्थना-मन्त्रों से दैनिक दिनचर्या प्रारम्भ करते, सन्ध्या-हवन आदि सब नित्य-कर्म करके स्कूल जाते थे। इस कार्य में सहयोग देने वाले कुछ ही व्यक्ति थे, परन्तु यह योजना देर तक न चल सकी। अन्त में हमें गुरुकुलाश्रम बन्द कर देना पड़ा। इस आश्रम के श्री लिंगे गौडा का बच्चा भी भर्ती था। लिंगे गौडा पीछे जाकर बैंगलौर की कौंसिल के चेयरमैन बने, और सालों बाद जब मैं गुरुकुल से रिटायर होकर बम्बई रहने लगा तब मेरा पता पूछकर मुझसे मिलने मेरे स्थान पर भी आये। उन दिनों मैं खार में रहता था।

जहाँ हमने आश्रम बनाया था वहाँ साथ के मकान में एक सज्जन कृष्णराव नाम के रहते थे। ये व्यायाम के माहिर थे। बड़ा गठीला शरीर था। कहते थे कि वे सरकारी अफ़सर हैं—स्टेट में व्यायाम का प्रचार करते हैं। एक दिन वे मुझे कहने लगे कि वे एक सरकस बना रहे हैं, बड़ा-सा शामियाना बनाकर जगह-जगह जायेंगे, खेल दिखलायेंगे, टिकट लगायेंगे और पैसा कमायेंगे। एक तरह का राममूर्ति की तरह का खेल दिखाने का सरकस होगा। उन्होंने कहा कि मैं भी उनके साथ चलूँ और जब वे खेल दिखा चुकें तब उनके शामियाने में आर्यसमाज

पर व्याख्यान दूँ।

इस प्रचार के लिए यह योजना मुझे बहुत अच्छी लगी। मुझे कोई प्रबन्ध करना नहीं पड़ेगा, शामियाना लगा-लगाया मिलेगा, जनता भी मिलेगी सुनने के लिए। मैं उनके साथ हो लिया। हम लोग पहले-पहल जहाँ गये वहाँ हम एक स्कूल के हेडमास्टर से मिले। उन्हें व्यायाम के साथ आदि के विषय में जानकारी दी। पहला शो बालकों के लिए मुफ्त था। कृष्णराव ने अपने व्यायाम दिखलाये, अन्त में शारीरिक तथा मानसिक विकास पर व्याख्यान दिया। परन्तु आर्थिक तथा व्यावसायिक दृष्टि से कृष्णराव जी की यह योजना चलने वाली नहीं थी। एक-दो खेल दिखाने के बाद हम लोग वापस लौट आये। एक लाभ अवश्य हुआ। जिस स्कूल के लोगों से हम मिले उसके हेडमास्टर ने मेरा व्याख्यान कराया। वहाँ एक युवक थे—रामचन्द्रन। वे मेरे गुरुकुल-सम्बन्धी विचारों से प्रभावित हुए। अन्त में गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में अध्यापक होकर चले गये। बहुत साल बाद जब मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल राज्यसभा की सदस्य बन गईं तो श्री रामचन्द्रन मुझे दिल्ली में मिले जबकि वे कर्नल रामचन्द्रन कहलाते थे और श्री गुलजारीलाल नन्दा के भारत-सेवक-समाज के मुख्य कर्ता-धर्ता थे। क्योंकि मेरी पत्नी भारत-सेवक समाज में मुख्य रुचि रखती थी इसलिए भारत सेवक-समाज की मीटिंगों में बरसों बाद उनका साक्षात्कार हुआ। कहने को वे कर्नल थे, परन्तु रहते ठीक गांधीजी के वेश में थे। वही घुटनों तक की आधी धोती, नंगा बदन, कमर से लटकती घड़ी, कन्धे पर थैला और हँसता मुख। जो घटना मैं आगे लिखने लगा हूँ वह बैंगलौर के समय की तो नहीं है परन्तु क्योंकि मैंने एक समाज-सेवक का वर्णन किया है, इसलिए १९६० में हुई एक अन्य घटना का यहाँ उल्लेख कर रहा हूँ—जब मैं बर्षों हुए बैंगलौर छोड़ चुका था।

मैं १० अक्टूबर ८६ को कार्य-विशेष से गुरुकुल आया। अतिथि भवन में बैठा था कि हिन्दी के प्रोफेसर श्री विष्णुदत्त राकेश किसी सज्जन के साथ पधारे। मैंने समझा कि कोई मिनिस्टर आ रहे हैं। राकेश जी और वे सज्जन मेरे निकट पड़ी कुर्सियों पर बैठ गये। उन सज्जन ने मुझे लक्ष्य कर कहा कि आपकी शक्ल श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार से मिलती है। आपको देखकर मुझे सत्यव्रत जी की याद आती है, जिनके साथ मैं देहरादून उनकी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल द्वारा संचालित भारत सेवक-समाज के कार्यों में बड़ी तत्परता से कार्य किया करता था। श्री राकेश जी बोले—यही तो सत्यव्रत जी हैं जिनकी चर्चा आप कर रहे हैं। वे बोले—विचित्र साम्य है, आप बिल्कुल सत्यव्रत जी लग रहे हैं। ऐसा लगता कि अभी तक उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था कि २५ वर्ष पूर्व जिस पचास वर्ष के व्यक्ति के साथ वे देहरादून में समाज सेवा का कार्य कर रहे थे वह आज तक जीवित होगा। उनकी शंका का समाधान करते हुए मैंने कहा—श्रीमान जी, मैं तो वही सत्यव्रत हूँ, परन्तु आप कौन हैं? उन्होंने कहा—मैं विश्वप्रकाश बपलियाल हूँ, और मैं आपके बहुत निकट था, आपके साथ काफी रहा। उनके कथनानुसार मैं सूरत-शक्ल में नहीं बदला था जिसकी आशा वे नहीं कर रहे थे, वे इतने बदल गये थे कि मैं उन्हें २५ साल के अन्तराल के कारण नहीं पहचान सका था। उनकी बातों को सुनकर मुझे वह दिन स्मरण हो आये जब चन्द्रावती जी ने भारत सेवक-समाज का कार्य सँभाला था। उन्होंने समाज सेवक की एक टोली का निर्माण किया था जिसके प्रमुख कार्यकर्ता श्री बपलियाल जी, श्री बुद्धिप्रकाश, श्री सुन्दरलाल कोठारी, श्री विवेकानन्द नैथानी, श्री जयप्रकाश आदि थे। इन सबके सहयोग से उन्होंने नेहरू ग्राम में पानी लाने की योजना बनाकर ग्रामवासियों के लिये पानी लाने का प्रबन्ध किया था जिसका शिलान्यास श्री लालबहादुर शास्त्री ने किया। ऐसे ही एक समारोह की अध्यक्षता श्रीमती इन्दिरा गांधी ने की थी जब वे प्रधानमन्त्री नहीं बनी थीं। उस समय श्रीमती इन्दिरा गांधी हमारे घर ही ४-५ घंटे ठहरी थीं। चन्द्रावती जी के समाज सेवी दल में अनेक कार्यकर्त्री कन्याएँ भी थीं। श्रीमती इन्दिरा गांधी के लिये हमने भोजन की व्यवस्था अपने घर पर ही की थी और इन समाज सेविकाओं को भी वहाँ निमन्त्रित किया था। इन सबने एक-एक करके उनके साथ फोटो खिचवाया। जो कन्या इन्दिरा गांधी जी को कहती कि वह उनके साथ फोटो

खिचवाना चाहती है इन्दिरा जी झट उठकर उसके साथ फोटो खिचवा लेती। मुझे भान नहीं था कि किसी समय यह देवी देश की प्रधानमंत्री बनेगी, नहीं तो उस समय की स्मृति को बनाये रखने के लिए मैं उन फोटो को सँभाल कर रखता। चन्द्रावती जी ने समाज-सेवा का जो कार्य प्रारम्भ किया था उसे हमने स्थिर रखा है। यद्यपि जिन दिनों मैं बैंगलौर में था उन दिनों एक बार महात्मा गांधी मुहम्मद अली और शौकत अली के साथ भारत का दौरा करते हुए बैंगलौर भी पधारे वे खिलाफ़त के दिन थे। महात्मा जी का स्वागत करने तथा उनका भाषण कराने की ज़ोर-शोर से तैयारियाँ हो रही थी। वालंटीयर भर्ती हो रहे थे। प्रत्येक वालंटीयर को ख़ाकी वर्दी सस्ते मे बनवाकर दी जा रही थी। मैं भी वालंटीयरों मे भर्ती हो गया खाकी वर्दी पहने। मेरी ड्यूटी ख़ास गांधी जी पर लगाई गई थी जिस दिन गांधी जी की पार्टी बैंगलौर आयी तब की मीटिंग मुझे अब तक याद है। इतनी भीड़ थी कि आदमी पिसा जाता था। हम लोगों ने गांधी जी के चारों तरफ एक रिंग बना लिया था और गांधी जी के दर्शन के लिए उमडती जनता का धक्का अपने ऊपर झेलते रहे। इस मीटिंग में महात्मा जी ने अपनी फूलों की माला आदि नीलाम की, जिसका खूब रुपया आया। लोग धन, ज़ेवर, घड़ियाँ— न जाने क्या-क्या दिए जा रहे थे, साथ ही उन वस्तुओं की नीलामी भी चलती जाती थी।

मीटिंग के बाद गांधी जी के निवास-स्थान पर हम पहुँचे। दूसरों ने तो चाय-बिस्कुट खूब खाया, पर गांधी जी ने सिर्फ़ गर्म पानी का एक प्याला और शायद उसमे थोड़ा-सा नमक डालकर लिया। यह पहला अवसर था जब मैं गांधी जी से आमने-सामने मिला और उनसे प्रत्यक्ष बातचीत हुई। क्या बातें हुई याद नही, परन्तु एक बात याद है। मैंने उनसे पूछा-- क्या मदनमोहन मालवीय इस आंदोलन मे आपके साथ हैं? गांधी जी के शब्द अब तक मुझे स्मरण हैं। उन्होंने कहा— He is a qundarum—अर्थात्, वे एक पहेली हैं जिसे बूझ सकना कठिन है।

मैं बैंगलौर से भी मैसूर जाया करता था। एक बार मैं हसनपुर तालुके से होता हुआ मैसूर गया। रास्ते में हसनपुर उतरा और मेरा वहाँ व्याख्यान रखा गया जिसका विषय था A Living Religion। उन दिनों कांग्रेस का आन्दोलन ज़ोर-शोर से चल रहा था। किसी टोडी ने एक पर्चा कलेक्टर तक पहुँचा दिया। कलेक्टर ने समझा यह कोई राजनीतिक मामला है। उसने मेरे नाम नोटिस जारी कर दिया कि मैं फौरन इलाका छोड़कर चला जाऊँ और कोई व्याख्यान न दूँ। मैं मन मे हँसा। कलेक्टर इस बात को भी न समझा कि विषय धर्म-सम्बन्धी है, राजनीति-सम्बन्धी नही। मैं राजनीतिक कार्यकर्ता तो नही था, मैं बिना व्याख्यान दिए मैसूर चला गया। संवाददाता ने समाचार-पत्रों मे छाप दिया—Prof. Satyavrata Gagged। जब मैं मैसूर पहुँचा तो मेरे जानकार पूछने लगे कि क्या मामला हो गया था? मैंने स्थिति स्पष्ट की तो वे भी कलेक्टर की नासमझी पर हँसने लगे। कलेक्टर समझा होगा कि जीवित धर्म यही हो सकता है कि कांग्रेस का साथ दो और ब्रिटिश गवर्नमेंट का विरोध करो।

जिन दिनों मैं बैंगलौर मे था उन दिनों एक बार मैं लुधियाने भी गया। वहाँ मेरे बहनोई के पिता पं० नौरंगराय जी रहा करते थे। वे कहने लगे— तुम इतनी दूर रहते हो, कोई व्यापार क्यों नही कर लेते। मैंने कहा, मुझे व्यापार का कोई अनुभव नही, न ही मेरे पास व्यापार में लगाने के लिये पूँजी है। उन्होंने कहा— पूँजी हम देंगे, व्यापार तुम करो। मैंने उनका सुझाव मान लिया। वे मुझे एक व्यापारी की दुकान पर ले गये और उससे ३०-४० शाल उधार पर मुझे दिलवा दिये। पंडित नौरंगराय जी ने कहा— बैंगलौर जाकर इन शालों को नफे पर बेचना। मैं इन शालों को बैंगलौर ले आया। बड़ी कोशिश की कि कोई खरीदार मिले, परन्तु कोई खरीदार नहीं मिला। अन्त में पाँच-छः महीने बाद मैंने इन शालों को पंडित जी को दे दिया और कह दिया कि यह व्यापार मुझसे नहीं होता।

इन्हीं दिनों मेरे व्यापार में पड़ने का एक और किस्सा हुआ। मैं पहले लिख चुका हूं कि बैंगलौर में

विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए 'हाउ टु लर्न हिन्दी' नाम से एक पुस्तक लिखी थी जिसे जवेरचन्द नाम के व्यापारी ने छपवाया था। जवेरचन्द का एक मित्र था जो कलैंडरों का व्यापारी था। उसने मुझे कलैंडरों के आर्डर बुक करने के व्यापार में लाना चाहा। उसने सोचा कि यह नौजवान लड़का है, क्रियाशील है, इससे काम लेना चाहिए। उसने कहा— दीवाली के समय सब व्यापारी कलैंडर छापा करते हैं, उनके आर्डर बुक करो, तुम्हें कमीशन दिया जाएगा। मैंने सोचा, हिन्दी पढ़ाने में समय बर्बाद करने की उपेक्षा तो इस व्यापारी के साथ सम्बन्ध जोड़ना उत्तम होगा, परन्तु घर-घर जाकर भी जब कलैंडरों का कोई आर्डर नहीं मिला, तो इधर-उधर भटकने की अपेक्षा जिस रास्ते को पकड़ा था उसी मे जम जाने का निश्चय कर लिया। इस प्रकार की जीवन की भटकन में से सभी युवकों को गुजरना पड़ता है।···इसी का नाम जिन्दगी है।

मैसूर में हमने एक फ्लैट किराए पर लिया हुआ था। मैं और स्वामी सत्यानन्द जी वहाँ रहते थे, परन्तु खाना एक सज्जन के यहाँ खाते थे, जिनका नाम सुखानन्द था। वे उत्तर भारत के सज्जन थे, मैसूर मे सर्राफ़े का काम करते थे। बूढ़े थे, परन्तु कर्नाटक की ही दो पत्नियाँ कर रखी थी, बच्चा किसी के न था। दोनों बहनें थीं। बड़ी का नाम रामाबाई था, छोटी का ताराबाई। ताराबाई रसोई का सब काम सम्भालती थी, बड़ी पत्नी खूब सज-धजकर आराम से कुर्सी पर बैठी गप्पें हाँका करती थी। एक दिन बड़ी ने स्वामी जी से कहा कि एक बच्चा गोद लेना चाहती है, कोई छोटा बच्चा हो जिसे वह पास सके तो बतलाएँ। स्वामी जी ने मुझसे जिक्र किया। मैंने कहा, मेरा एक भाई है पाँच बरस का, उसे अगर वह गोद ले लें तो कैसा रहेगा ? वह मान गई और उसने मुझे २५० रुपये दिए ताकि कोई जाकर बच्चे को ले आए। मैंने अपने छोटे भाई सोमदत्त को जो बम्बई में बिज़िनेस करने लगा था सारी कहानी लिख भेजी और उसे २५० रुपये भेज दिये। मेरा सबसे छोटा भाई ब्रह्मदत्त था जो माता जी के पास सवद्दी में रहता था। सोमदत्त उसे बैंगलौर ले आया। मैं सोचता था कि हमारा परिवार सम्पन्न नहीं है। यह लड़का इस माई के पास रहकर पढ़-लिखकर सम्पन्न हो जाएगा और इसे रुपये-पैसे की दिक्कत नहीं रहेगी। यह स्थिति थी उस समय हम लोगों की। ब्रह्मदत्त महीना-भर मैसूर रहा होगा कि इतने में मेरी बहन सावित्री की शादी तय हो गई अतः हमें सवद्दी जाना पड़ा। ब्रह्मदत्त को भी मैं साथ ले गया और फिर वह लौटकर नहीं आया, सवद्दी ही रह गया। ब्रह्मदत्त को सवद्दी छोड़ने मे एक और भी कारण था। मैसूर की वह देवी उसे इतना प्यार करने लगी थी कि वह उच्छृंखल होने लगा था। एक दिन उसने मेरे मुख पर थूक दिया। मैंने उसे कसकर थप्पड़ मारा और निश्चय कर लिया कि इसको इस देवी के साथ रहने देना इसे बिगाड़ देना होगा।

सावित्री की शादी के बाद मैं बैंगलौर लौट आया। इन दिनों मेरा छोटा भाई सोमदत्त व्यापार में अपनी जड़ें जमा रहा था। छोटा-मोटा व्यापार करने लगा था। बड़ा भाई सोमदत्त मसूरी के डाकखाने में काम करता था। उसे किन्हीं कारणों से अपनी नौकरी छोड़नी पड़ी, वह सीधे मेरे पास बैंगलौर चला आया।

६. स्नातक होने के बाद मैं गुरुकुल में

बड़े भाई के मेरे पास आने के कुछ दिनों बाद आचार्य रामदेव जी का गुरुकुल मे एक पत्र मुझे मिला। उसमें लिखा था कि उन्होंने पंजाब में 'दयानंद सेवा-सदन' नाम से एक संस्था की स्थापना की है। वे चाहते हैं कि मैं इस संस्था का सदस्य बन जाऊँ। इस संस्था का उद्देश्य यह था कि जिस व्यक्ति को योग्य समझा जाय कि वह अपने को आर्यसमाज के कार्य के लिए अर्पित कर सकता है, उसे सदस्य बनाया जाय। यह संगठन लगभग सर्वेंट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी की तरह का था। इसका उद्देश्य वेतन-प्रधान न होकर सेवा-प्रधान था। मैंने अपने भाई से परामर्श किया। वे कहने लगे—तुम इतनी दूर पड़े हो, क्या आयु-भर इधर ही पड़े रहना है···अपने सगे-सम्बन्धियों से दूर ? यह रुचता नहीं। मैं भी अपने को इधर-उधर इकला अनुभव करता था। काम में जरूर लगा रहता था, परन्तु कभी-कभी प्रश्न उठता था कि क्या जीवन इधर ही कटेगा ? मुझे

'दयानन्द-सेवा-सदन' का सदस्य होकर गुरुकुल कांगड़ी में उपाध्याय के पद पर नियुक्त करने का प्रो० रामदेव जी का विचार था। १६२३ में मैंने उक्त प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और बैंगलौर से सीधा गुरुकुल कांगडी चला आया। दयानन्द-सेवा-सदन के छः ही सदस्य रहे। वे थे—प्रो० रामदेव जी, पण्डित चमूपति जी, पण्डित ज्ञानचन्द्र जी, पण्डित बुद्धदेव जी, डॉ० राधाकृष्ण जी और मैं। इस समय उक्त सदस्यों मे सिर्फ पण्डित ज्ञानचन्द्र जी और मैं ही जीवित हैं, अन्य सब सदस्यों का देहावसान हो गया है। इस प्रकार बैंगलौर से आकर मेरा गुरुकुलीय जीवन प्रारम्भ हुआ। 'दयानन्द-सेवा-सदन' के सदस्यों का सेवा-काल २० वर्ष का था। सदन का सदस्य होने के बाद मेरे २० वर्ष सदन की सदस्यता में बीतने थे जिनमें से दो वर्ष फ़र्लो लेने का अधिकार था।

गुरुकुल में आकर मैं आर्यसिद्धान्त का उपाध्याय नियत किया गया। मेरी प्रायः सभी विषयों में गति थी। जिस विषय को मैंने न भी पढ़ा था उसे स्वयं पढ़कर पढ़ा सकता था, इसलिए जब किसी विषय का प्रोफ़ेसर नहीं मिलता था, तब वह भी मुझे दे दिया जाता। मैंने आर्यसिद्धान्त में फ्लिट की थीइस्टिक थियोरी पढ़ाई, एण्टी-थीइस्टिक थियोरी पढाई, वेद में सब वेदों के चुने हुए मन्त्र पढाये, अंग्रेजी भी पढ़ाई, दर्शन भी पढ़ाया। इन दिनों मैं हिन्दी-पत्रों में लेख भी लिखने लगा था। चाँद, सुधा, माधुरी, आज आदि पत्रों मे भिन्न-भिन्न लेख लिखे। मुझे आश्रमाध्यक्ष भी बना दिया गया। प्रातः ४ बजे उठने की तो मुझे आदत थी ही, परन्तु ब्रह्मचारी देर तक सोया करते थे। मैं हाथ में डंडा लेकर हर ब्रह्मचारी के तख्त पर ज़ोर-ज़ोर से बजाता था ताकि उसकी नींद भी खुल जाए। प्रातः ४ बजे उठने का मेरे मस्तिष्क पर इतना प्रभाव पड़ गया है कि जब मेरी नींद खुलती थी तब घड़ी में ठीक ४ बजे होते थे, अब वृद्धावस्था में जब निद्रा स्वभाव से कम हो जाती है, और जल्दी नींद टूट जाती है, तब भी मैं ४ बजे तक सोता रहना चाहता हूँ।

इन दिनों मुझे आर्यसमाजों मे व्याख्यान देने के लिए बहुत जाना पड़ता था। आर्यसमाजों में जल्से में गुरुकुल के उपाध्यायों की माँग तो रहती ही थी। यह सारा बोझ मुझ पर ही पड़ता था। मैं शनिवार की रात को गाड़ी चढ़कर जिस शहर में जाना होता था वहाँ सवेरे पहुँचकर रविवार को व्याख्यान देकर सोमवार को प्रातःकाल गुरुकुल में पहुँचकर अपनी क्लास ले लेता था। हमे कभी खयाल भी नहीं आया कि डेली अलौएन्स भी कोई चीज होती है। गुरुकुल का वातावरण ही ऐसा था कि कभी किसी ने वेतन-वृद्धि की माँग ही नही की। जो जिस वेतन पर नियुक्त हुआ था वह उसी वेतन पर अन्त तक काम करता रहा। शायद इसका यह भी कारण था कि वे सस्ते के दिन थे, थोड़े मे काम चल जाता था, ज्यादा माँग की ज़रूरत ही नही पड़ती थी।

प्रोफ़ेसर, आश्रमाध्यक्ष तथा उपदेशक के अतिरिक्त मैं रजिस्ट्रार का काम भी करता था। मेरे सहायक थे श्री रामरखा। वे आध्यात्मिक व्यक्ति थे; स्वामी सियाराम जी के शिष्य थे। स्वामी सियाराम जी कभी गुरुकुल में गणित के प्रोफ़ेसर रह चुके थे, परन्तु अब संन्यास धारण कर योगी के नाम से प्रसिद्ध थे। वे तरह-तरह के योग-सम्बन्धी परीक्षण करते थे। कभी सिर्फ़ घूँसा खाते, कभी सिर्फ मट्टी का तेल पीते, परन्तु उनकी मुख्य शिक्षा सद्व्यवहार की थी। मनुष्य का व्यवहार सच्चा और ईमानदारी का होना चाहिए—यह उनका मुख्य उपदेश था।

मैं गुरुकुल के लिए धन-संग्रह के लिए भी बाहर जाया करता था। मैं प्रोफ़ेसर सर रामदेव जी के साथ गुरुकुल के लिए धन-संग्रहार्थ दक्षिण अफ्रीका गया हुआ था। हमारे पीछे १६२४ में गंगा मे भयंकर बाढ़ आई और गुरुकुल की बहुत-सी इमारतें नष्ट हो गईं। प्रोफेसर रामदेव जी तो धन-संग्रह के लिए कुछ देर के लिए अफ्रीका रह गये, मैं लौट आया। उस समय तक मेरे भाइयों का बिजली का व्यापार चमक उठा था। वे मुझे लेने आए और कहने लगे कि गुरुकुल तो बह गया, वहाँ जाकर क्या करोगे ?

७. विवाह तथा उसके बाद का जीवन

मेरे परिवार का कोई व्यक्ति ऐसा नहीं था जो मेरे विवाह की जिम्मेदारी लेता। एक बार पं० विश्वम्भरनाथ जी ने किसी सज्जन को मुझे मिलाया जिनकी कन्या विवाह योग्य थी। मेरी आयु उस समय २८ वर्ष के लगभग थी, परन्तु मैंने विवाह की बात कभी सोची ही न थी। एक बार प्रोफेसर रामदेव जी बिजनौर-आर्यसमाज के उत्सव पर से लौटे तो उन्होंने वहाँ के पं० जयनारायण शुक्ल की कन्या के विवाह की मुझसे चर्चा की। कन्या बी० ए० में पढ़ रही थी। मैंने सोचा, इतनी पढ़ी-लिखी कन्या मुझसे विवाह क्यों करने लगी? उन दिनों कन्याओं का उच्च शिक्षा प्राप्त करना एक अनहोनी-सी घटना थी। परन्तु बातचीत चलनी शुरू हो गई। चन्द्रावती जी के पिता के पत्र आने लगे। मैंने बहुत सोच-विचार कर लिख दिया कि जब तक कन्या की स्वीकृति नहीं होगी इस विषय को आगे न बढ़ाया जाय। इतने में मथुरा शताब्दी आ पहुँची। यह निश्चय हुआ कि मैं तथा चन्द्रावती जी एक-दूसरे को देख लें और तब बातचीत आगे बढ़े। मथुरा शताब्दी पर हम दोनों ने एक-दूसरे को देखा, परन्तु कोई निश्चित परिणाम न निकल सका। हम दोनों का पत्र-व्यवहार तो जारी हो गया, परन्तु अन्त में उनके पिता पं० जयनारायण जी का पत्र आया कि कन्या अपनी शिक्षा पूरी करने को विवाह की अपेक्षा अधिक महत्त्व देती है। परिणामतः बातचीत समाप्त हो गई। जब कन्या ने बी० ए० पास कर लिया तब पं० जयनारायण जी के फिर पत्र आने लगे और मैंने अपने परिवार वालों को इसकी सूचना दी। पं० जयनारायण जी शुक्ल कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, हम लोग सारस्वत ब्राह्मण। बिरादरी वाले कहने लगे कि यह विवाह नहीं हो सकता क्योंकि शुक्ल ब्राह्मण कान्यकुब्ज होते हैं, सारस्वत कान्यकुब्ज नहीं होते। दोनों पक्षों में बहुत देर तक झगड़ा चलता रहा। अन्त में १५ जून १९२६ को यह विवाह सम्पन्न हो गया।

चन्द्रावती जी के मेरे साथ विवाह से कान्यकुब्ज-सम्प्रदाय में तहलका मच गया। वे अपने को न जाने कितना ऊँचा समझते थे! समाचार-पत्रों में इस विवाह के विरुद्ध लेख छपने लगे। हम दोनों का परिवार आर्यसमाजी तथा कांग्रेसी था। कोई लेना-देना नहीं हुआ। विवाह में साड़ियाँ भी सब खद्दर की थी। वर-वधू वस्त्र भी खद्दर के ही पहने हुए थे। विवाह के उपरान्त चन्द्रावती जी ने इच्छा प्रकट की कि वे एम० ए० करना चाहती हैं। मैंने विवाह के तुरन्त बाद उन्हें इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अगले सेशन में ही इलाहाबाद भेज दिया और दो साल तक अंग्रेजी में एम० ए० करके वे घर लौटीं। जब वे लौटीं तब कांग्रेस का सत्याग्रह-संग्राम ज़ोरों पर था। पढ़ाई से लौटने पर हम दोनों कांग्रेस के आन्दोलन में जुट गये। १९२९ के दिसम्बर में लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमे रात के १२ बजे तक हम इन्तिज़ार करते रहे कि भारत को डोमिनियन स्टेटस देने की घोषणा विलायत से की जायेगी, कांग्रेस ने ब्रिटिश शासन को नोटिस दे दिया था कि अगर उस दिन तक डोमिनियन स्टेटस नहीं दिया तो हम पूर्ण स्वराज्य की माँग कर देंगे। इस अधिवेशन के सभापति पं० जवाहरलाल थे। जब रात के १२ बजे तक डोमिनियन स्टेटस की घोषणा नहीं हुई तब पूर्ण स्वराज्य की माँग का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। इस अधिवेशन मे हम दोनों उपस्थित थे। लाहौर से लौटने पर शराब की दुकानों पर धरना, विदेशी कपड़े का जलाना, हरिद्वार के विदेशी कपड़े को गाँठ में बँधवाकर रखना—अब इस काम में हम लोग जुट गये। सायंकाल बड़ी वैगन में चढ़कर गुरुकुल की देवियाँ चन्द्रावती जी के नेतृत्व में हरिद्वार जातीं और ३ घण्टे तक आन्दोलन कर रात को घर लौट आतीं। आन्दोलन दिनोंदिन ज़ोर पकड़ता गया। मैं भी इस आन्दोलन में जी-जान से जुटा था। इन दिनों हमारे आन्दोलन का केन्द्र रुड़की था। रुड़की के गाँव-गाँव में हमारे वालंटीयर जाते थे, कांग्रेस का संदेश सुनाते थे। एक दिन रुड़की में एक बड़ी कान्फ्रेन्स रखी गई जिसमें १०,००० किसान इकट्ठे हुए। वे बड़े उग्र स्वभाव के थे। वहाँ लाठी चल गई, गोली भी चली। इस कान्फ्रेन्स के सेनापति थे पं० सत्यदेव भारद्वाज विद्यालंकार जो आजकल नैरोबी में रहते हैं और अत्यन्त धन-सम्पन्न हैं। हमारा एक अड्डा नारसेन में भी था जहाँ आजकल नारसेन कृषि कॉलिज खुला हुआ है। मैं पालियामेंट का

सदस्य होने के बाद दिल्ली से देहरादून कार में जाया करता था, रास्ते में नारसेन गुरुकुल रुकता था, परन्तु वहाँ मुझे जानने वाला कोई भी न था। रुड़की की उस कान्फ्रेन्स मे जो गोली-काड हुआ उसमे मेरे नाम वारंट जारी हो गया और मैं ३-११-१९३० को गुरुकुल में गिरफ्तार हुआ। मेरी गिरफ्तारी का वारंट श्री सी० डी० जुयाल ने निकाला था। यह विधि का विधान था कि वर्षों बाद उनकी पुत्री उषा जुयाल का विवाह मेरे पुत्र विजयकृष्ण लखनपाल से हुआ। मैं १९३१ को गांधी-इरविन पैक्ट में छोड़ दिया गया। उस समय मेरे साथ शाहजहाँपुर जेल में थे—कानपुर के डॉ० जवाहरलाल रस्तोगी, अलगूराय शास्त्री, श्री जौहरी तथा एक-दो और जिनके नाम भूल गया हूँ।

८. जेल जीवन

मेरी जेल-जीवन की कहानी मनोरंजक है। मैं घर मे बैठा था कि एक थानेदार आ पहुँचे और कहने लगे कि आपके नाम वारंट है, आप कब चल सकेंगे। मैंने कहा—कल आइये, मैं तैयार मिलूँगा। उनके जाने के बाद मैंने अपना सामान इकट्ठा करना शुरू किया। न जाने कब तक जेल में रहना पड़े। जितनी पुस्तकें अपठित पड़ी थीं सब बटोर लीं। उनमें अधिक कथा-कथानक-उपन्यास थे—प्रायः अंग्रेजी मे। एक डिक्शनरी रख ली। हरिद्वार, कनखल, ज्वालापुर में मेरे गिरफ्तार होने का समाचार फैल चुका था। प्रातः होते-होते मेरे मकान के सामने भीड़ होने लगी। ठीक आठ बजे थानेदार साहब अपनी सिपाहियो की टुकडी के साथ आ पहुँचे। मैंने भी जोश-भरा व्याख्यान झाड़ा। गुरुकुल में कांग्रेस का झंडा लगा था। मैंने कहा—इस झंडे की लाज रखना। आध घंटे बाद थानेदार साहब मुझे गाड़ी मे बैठाकर ज्वालापुर स्टेशन ले गये। मेरी पत्नी मेरे साथ थी। मेरे लिए इण्टर क्लास का और मेरी पत्नी के लिए थर्ड क्लास का टिकट खरीदा गया। मैंने गाडी में चढने से इन्कार कर दिया। मैंने कहा—दोनों का एक ही क्लास का टिकट खरीदिये। उस भले मानस ने यह नही कहा कि आपकी पत्नी का टिकट क्यों खरीदें, हम तो आपको लेने आये हैं। उन दिनों सरकारी अफसरो पर भी कांग्रेस का इतना रोब था कि वे कुछ न कह सके और थानेदार ने हम दोनो का इण्टर क्लास का टिकट खरीद लिया।

गाडी रुड़की होती हुई सहारनपुर पहुँची और हमे एक लम्बी-चौडी वैन मे, जिसमे २५ के लगभग हथियारबन्द सिपाही थे, बैठाकर सहारनपुर जेल ले जाया गया। जेल में पहले से ही खबर पहुँच चुकी थी कि मैं गिरफ्तार होकर आ रहा हूँ। जेल में श्री अजित प्रसाद जैन तथा अनेक गुरुकुल के ब्रह्मचारी एवं स्नातक मौजूद थे। सबने ऐसी खुशियाँ मनाईं मानो कोई जलसा हो रहा है। सहारनपुर के प्रायः सभी कार्यकर्ता वहाँ मौजूद थे। रात आयी और हम सब एक लम्बी कोठरी में ताला लगाकर बन्द कर दिये गये। बैठक में एक ही टट्टी थी जिस पर टाट लटका हुआ था। उसी में हाजत करने जाना होता था। पहला दिन कुछ परेशानी में कटा, अगले दिन से सबके साथ मिलने-जुलने से परेशानी समाप्त हो गई।

मैं हवालात में तो रखा गया परन्तु मेरा मुकदमा २५ दिन बाद होना था। जैसे-तैसे २५ दिन कटे और मुकदमे का दिन आ पहुँचा। कांग्रेस के लोग अपने सम्बन्ध मे कोई स्टेटमेंट नही देते थे, परन्तु मैंने मजिस्ट्रेट को कहा कि मैं अपनी वह स्पीच सुनाना चाहता हूँ जिसके आधार पर मेरी गिरफ्तारी हुई है। चुनांचे वह स्पीच सुनाई गई। अपनी स्पीच सुनकर मैं स्वयं हैरान हो गया। मैंने मजिस्ट्रेट को लक्ष्य करके कहा कि ऐसी जोरदार स्पीच सुनकर आप अभी तक कुर्सी पर बैठे हैं, उठिये, और इस शैतान सरकार को हटाने के लिए हमारे साथ हो जाइये। मजिस्ट्रेट ने मेरी बात क्या सुननी थी, मुझे एक साल के कारावास का दंड सुना दिया।

इन दिनों एक घटना हुई जिस कारण मुझे सहारनपुर से शाहजहाँपुर भेज दिया गया। जिस कान्फ्रेंस के कारण मेरी गिरफ्तारी हुई थी उस कान्फ्रेंस के जत्थे का मुखिया दलपति सत्यदेव भारद्वाज को बनाया गया था। वे भी इस जेल में बन्द थे, परन्तु उन्हें पागलों की कोठरी में रखा गया था। मैं 'ए' क्लास में था और मुझे पर्याप्त दूध मिलता था। मैं अपने प्याले का दूध सत्यदेव को भेज देता था। मेरा खाली प्याला वहीं पड़ा

रहता था। जेलर ने अपनी गश्त में जब मेरा खाली प्याला देखा तो सत्यदेव से पूछा कि यह प्याला कैसे आया। उसने बता दिया कि मेरे अध्यापक मुझे इस प्याले में दूध भेजते हैं जिसे मैं पी जाता हूँ। जेलर मेरे पास आकर कहने लगा कि जेल में यह अपराध है जिसकी सूचना सिविल सर्जन को दी जायेगी और आपको दंड मिलेगा। मैंने कहा—मिलने दो दंड, दंड भुगतने के लिए ही तो हम यहाँ आये हैं। अगले दिन मेरी पेशी हुई और सिविल सर्जन ने मेरी इण्टरव्यू एक मास के लिए बन्द कर दी। इण्टरव्यू बन्द होने के बाद मैं जेल के आफिस में गया और वहाँ से जेल मैन्युअल उठा लाया। उसमें लिखा था कि इन्टरव्यू बन्द हो जाने पर भी अगर कुछ घरेलू मामलों के सम्बन्ध में जानकारी लेनी हो तो जेलर के सामने कैदी अपने रिश्तेदारों से बातचीत कर सकता है। इसी आशय को लेकर मैंने एक दरखास्त दे दी कि कुछ घरेलू मामलों को लेकर मैं अपनी पत्नी से तथा माता से सलाह-मशविरा करना चाहता हूँ। मेरी पत्नी को मालूम नहीं था कि मैं सिर्फ उन्हीं से बात कर सकता हूँ, अन्य किसी से नहीं। उन्होंने माता जी को भी बुला लिया। इण्टरव्यू के समय जेलर ने सिर्फ मेरी पत्नी को भीतर आने दिया, माता जी को नहीं। मेरी पत्नी ने कहा कि माता जी भी आयी हैं, उन्हें अन्दर नहीं आने दिया गया। इस पर झुंझलाकर मैंने जेलर से कहा कि मैं केवल पत्नी से बात नहीं करना चाहता, आप इन्हें वापस भेज दें। इस पर जेलर महोदय मेरी माता जी को भीतर ले आये, परन्तु उन्होंने दिल मे ठान लिया कि इस कैदी को यहाँ से किसी दूसरी जेल में रवाना कर दें। चुनाँचे उसी आधी रात में लगभग एक बजे जेलर ने चिल्लाकर कहा—सत्यव्रत, उठो, तुम्हारा शाहजहाँपुर जेल में तबादला हो गया है। मैं उठकर शाहजहाँपुर जेल में जाने के लिए तैयार हो गया।

शाहजहाँपुर जेल में कानपुर के डाक्टर जवाहरलाल, श्री अलगूराय शास्त्री, एक सशक्त क्रांतिकारी श्री जौहरी आदि मौजूद थे। अच्छी संगति थी। अगले दिन मजिस्ट्रेट साहब आये। उनका नाम हर्बर्ट था। हर्बर्ट पहले रुड़की मे जॉयन्ट मजिस्ट्रेट रह चुके थे और गुरुकुल को अच्छी तरह से जानते थे। महात्मा मुंशीराम जी ने जब मायापुर मे संन्यास लिया था तब वे भी वहाँ उपस्थित हुए थे। स्वामी जी के भक्त थे। गुरुकुल का नाम सुनते ही वे मुझे पूछने लगे कि आपको यहाँ क्या कुछ चाहिए। जेल मे हम लोग अखबारों के भूखे रहा करते थे। बाहर क्या हो रहा है—यह जानने की उत्सुकता सदा बनी रहती थी। मैंने उनके प्रश्न का उत्तर दिया—अखबार। उन्होंने घर पहुँचते ही उस दिन के सब समाचार-पत्र मुझे भेज दिये। हम सबने उन्हें ऐसे पढ़ा मानो रामायण पढ़ रहे हो। हर्बर्ट साहब प्रतिदिन मुझे उस दिन के अखबार भेज दिया करते थे। जेल में रहते हुए मेरा जीवन अत्यन्त नियमित हो गया। ठीक समय उठना, ठीक समय भोजन करना, ठीक समय व्यायाम तथा सैर करना और ठीक समय सो जाना—ऐसी व्यवस्था एक आश्रम मे रहने के समान थी। जेल मे मैंने अनेक भजन याद किये—आध्यात्मिक भजन तथा राजनीतिक भजन। मैं इन भजनों को अपने टूटे-फूटे स्वर मे प्रतिदिन उच्च स्वर से गाया करता था।

हम लोग जब गांधी जी के आन्दोलन में जेल गये, तब स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि इस आन्दोलन से स्वराज्य मिल जायेगा। फिर भी देश-भर में एक उत्साह था जिसकी लहर सम्पूर्ण देश में व्याप्त थी। इस समय अंग्रेजी राज्य भी कुछ परेशान हो गया। देश का बच्चा-बच्चा सत्याग्रह करके जेल जाने को उत्सुक था। जिस समय की मैं बात लिख रहा हूँ उस समय इरविन वायसराय थे। उन्होंने अंग्रेजी सरकार को शायद राय दी होगी कि जनता को सन्तुष्ट करने के लिए कुछ करना चाहिए। मैं शाहजहाँपुर जेल में कुछ ही महीनों रहा होऊँगा कि सूचना पहुँची कि गांधी-इरविन पैक्ट हुआ है जिसमें सब कैदी छोड़ दिये जायेंगे। पैक्ट के अनुसार हम सब छोड़ दिये गये।

मेरी स्थिति विचित्र थी। मैं बिना सूचना दिये सत्याग्रह-संग्राम में कूद पड़ा था। गुरुकुल की स्वामिनी सभा समझती थी कि इस प्रकार गुरुकुल के किसी कार्यकर्ता का राजनीति में भाग लेना अनुचित है, इससे संस्था को नुकसान हो सकता है। मैं जेल से छूट तो गया, परन्तु मुझे समझ नहीं आया कि मैं कहाँ जाऊँ। जेल जाने के

कारण मैं एक तरह से गुरुकुल-सेवा से मुक्त हो गया था। जेल में हजामत करने की कोई व्यवस्था नहीं थी, इसलिए मैं दीर्घश्मश्रु हो गया था, दाढ़ी-मूंछ बढ़ गई थी। सोचा—चलो गुरुकुल चलते हैं, जो कुछ होना होगा देखा जायेगा। मेरे जेल जाने पर प्रो० रामदेव जी ने मेरा क्वार्टर पं० चन्द्रगुप्त विद्यालंकार को दे दिया था। ऐसी स्थिति में मेरे लिए गुरुकुल में रहने के लिए भी कोई स्थान नहीं था। गुरुकुल में से मेरे चले जाने पर मेरी पत्नी को देहरादून के कन्या गुरुकुल भेज दिया गया था। वह मेरा सामान लेकर वहीं चली गई थी। मेरी पत्नी कन्या गुरुकुल थी, इसलिए मैं सीधा कन्या गुरुकुल देहरादून चला गया। गुरुकुल के अधिकारों के सम्मुख भी एक समस्या थी। सारा देश एक तरफ और गुरुकुल की स्वामिनी सभा दूसरी तरफ होकर मुझे गुरुकुल में न रख सके – यह विसंगति थी। इस विसंगति को मैंने ही दूर कर दिया। एक दिन मैं पत्नी सहित गुरुकुल आ पहुँचा और चन्द्रगुप्त के साथ रहने लगा। मैं 'दयानन्द सेवा सदन' का आजीवन सदस्य था, इसलिए मेरे बिना स्वीकृति लिये सत्याग्रह में भाग लेने के प्रश्न पर एक कमेटी बनाई गई जिसने महीने बाद अपनी राय देनी थी। इस कमेटी के सदस्य थे—पं० चमूपति जी, प्रो० रामदेव जी तथा डा० राधाकृष्ण। इस कमेटी ने कोई राय नहीं दी और मैं पहले की तरह गुरुकुल में काम करने लगा, यद्यपि मेरे भाइयों ने बम्बई से सन्देश भेजा था कि मैं गुरुकुल छोड़कर बम्बई चला आऊँ और उनके व्यापार में साझीदार बन जाऊँ।

मेरे ही क्या, उन सभी जेल-भोगियों के जो उन दिनों के सत्याग्रह में जेल गये, कई ऐसे अनुभव हैं जो आज भी याद आते हैं। हम लोग बड़े आराम से रखे जाते थे। 'ए' क्लास वालों को तो कइयों को घर से भी बढ़कर आराम मिलता था, परन्तु फिर भी बाहर क्या हो रहा है—यह जानने के लिए दुःखी रहा करते थे। अखबार हमारे लिए अमृत का काम करता था। महीने-भर पुराना भी अखबार क्यों न हो, उस पर मधु-मक्खियों की तरह झपटते थे। ग़ैर-कानूनी तरीकों से अखबार मँगवाना, बीड़ी-सिगरेट का किसी भी तरीके से भीतर ला सकना 'तिकड़म' कहलाता था। किसी-किसी 'ए' क्लास वाले के भोजन आदि बनाने तथा मालिश आदि के लिए नौकर की भी व्यवस्था थी। यह नौकर उन्हीं कैदियों में से होता था जो उस कैदखाने में जीवन बिता रहे होते थे। मेरे लिए भी एक नौकर था जो उसी जेल में सालों की कैद भुगत रहा था। वे लोग अजीब-अजीब किस्से सुनाया करते थे। मेरे पास रखे गये कैदी ने एक दिन सुनाया—हम चार आदमी एक मालदार आसामी के घर रात को चोरी करने के लिए निकले। जिस मकान में चोरी करनी थी उसमें एक ज़ालिम कुत्ता था, गेट पर एक लकड़ी के बक्से में पहरेदार था, मकान के पिछवाड़े में फूस की एक झोपड़ी थी जिसमें नौकर रहता था। हम सबने स्कीम बनाई कि कैसे मकान में घुसा जाय ताकि चोरी भी कर लें और पकड़े भी न जाये। हमने स्कीम यह बनाई कि आधी रात गये झोपड़ी में कैरोसीन छिड़क कर आग लगा दी जाय। इस आग का शोर सुनकर कुत्ता, गेट का पहरेदार, मकान मालिक और आस-पास के पड़ोसी आग बुझाने दौड़ पड़ेंगे, मकान खाली हो जायेगा और मैदान साफ़ देखकर हम अपना उल्लू सीधा कर लेंगे। चुनाँचे हमने ऐसा ही किया और भरपेट माल चुराकर नौ-दो ग्यारह हुए।

गांधी-इरविन पैक्ट कुछ दिन ही चला, इसके बाद फिर कांग्रेस का आंदोलन उठ खड़ा हुआ। इस बार मेरी पत्नी सत्याग्रह करती हुई पकड़ी गई। बात यह हुई कि हम लोग सायंकाल अपने मकान में बैठे थे। इतने में आगरा से एक सज्जन आये जो अब अपने को नारायणप्रिय लिखते हैं। वे आगरा के आर्यमित्र प्रेस में काम करते थे। उन्होंने कहा कि उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी को ग़ैर-कानूनी करार दे दिया गया है। वहाँ के लोगों ने निश्चय किया है कि चन्द्रावती जी लखनपाल को इसका प्रधान घोषित कर अधिवेशन सार्वजनिक रूप से कराया जाय। यह निश्चित है कि वे तत्काल गिरफ्तार कर ली जायेंगी, परन्तु आगरावालों का अनुरोध है कि एक देवी के इस प्रकार नेतृत्व करने से कांग्रेस का बल बढ़ेगा। चन्द्रावती जी उसी समय उठकर उनके साथ हरिद्वार से आगरा चली गईं और अगले दिन समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो गया कि चन्द्रावती लखनपाल यू०पी०सी०सी० की अध्यक्षा के तौर पर सत्याग्रह करती हुई गिरफ्तार हो गईं। यह २० जून १६३२ की घटना है। उन्हें एक साल

का कारावास हुआ। पहले सी क्लास दी गई, फिर सी०वाई० चिन्तामणि के बीच में पड़ने से उन्हें ए क्लास दी गई और उन्हें लखनऊ भेज दिया गया जहाँ श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित, श्री जुगलकिशोर जी, जो कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी थे, की पत्नी शान्तिदेवी, श्री जयप्रकाश नारायण की पत्नी प्रभावती तथा जानी-मानी देवियाँ जेल-बन्द थीं। चन्द्रावती जी को जेल की एक साल की सजा थी। यह आश्चर्य की बात है कि जिस दिन वे जेल से छूटकर आयी उसी दिन मेरे गाँव सवद्दी से तार आया कि माताजी सख्त बीमार हैं। उसी दिन हम दोनों रात की गाड़ी से सवद्दी जाने के लिए हरिद्वार से सवार हुए। हमारे माताजी के पास पहुँचने के दो घण्टे बाद उन्होंने प्राण त्याग दिये।

हम लोग लौटकर जब हरिद्वार पहुँचे तब मेरे ससुर का लड़का शान्तिस्वरूप बी० ए० पास कर चुका था और उसके पिता चाहते थे कि उसे बनारस विश्वविद्यालय में बी० टी० में भर्ती कराया जाय। बी० टी० में दाखिला बड़ा कठिन था, इसलिए चन्द्रावती जी की ड्यूटी लगाई गई कि वे बनारस जाकर प्रिंसिपल लज्जा-शंकर झा से मिलें और उनसे उसके दाखिले की सिफारिश करें। झा साहब ने कहा—मैं तुम्हें तो दाखिल कर सकता हूँ, उसे नहीं क्योंकि उसके अंक दाखिले के लिए पर्याप्त नहीं हैं। मैंने कहा, चलो तुम्हीं बी० टी० बन जाओ। वे बनारस विश्वविद्यालय के ट्रेनिंग कॉलेज में दाखिल हो गईं और वहाँ जो कुछ पढ़ा था उस आधार पर 'शिक्षा-मनोविज्ञान' नामक ग्रन्थ भी लिख डाला जिस पर अप्रैल—२० अप्रैल १९३५—में मंगलाप्रसाद पारि-तोषिक प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ के विषय में श्री लज्जाशंकर झा ने लिखा कि यह ग्रन्थ लिखकर चन्द्रावती जी ने वरतन्तु के शिष्य के समान अपनी शिक्षा-संस्था को १४ करोड़ की दक्षिणा चुका दी थी। इससे पहले १९३४ में उन्हें 'स्त्रियों की स्थिति' ग्रन्थ पर सेकसरिया-पारितोषिक मिल चुका था। इन ग्रन्थों के प्रकाशन से उनका हिन्दी-जगत् में नाम प्रसिद्ध हो गया और कई जगह से उन्हें प्रिंसिपलशिप के निमन्त्रण आने लगे।

६. गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता

यह संयोग की बात है कि १९३५ का वर्ष हमारे सारे परिवार के लिए बड़ा शुभ रहा। १६ फरवरी, शनिवार १९३५ को ८.३७ (रेलवे टाइम) पर मेरे एकमात्र पुत्र विजय लखनपाल का जन्म खार (बम्बई) में अर्जकिया अस्पताल में हुआ। उत्पत्ति के समय उनका वजन ६॥ पौंड था। १६ फरवरी १९३५ को ही हमारे भाई की दुकान शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी में फ्यूज होने से आग लगी, परन्तु वह पूर्णतया इन्श्योर थी। यद्यपि हम इसे अपशकुन समझते थे, परन्तु आग लगने के बाद दुकान दुगुनी बन गई। २२ मार्च १९३५ को श्री लज्जा-शंकर झा का पत्र आया कि चन्द्रावती जी को प्रोफेसरशिप देना चाहते हैं। २३ जून १९३५ को मुझे गुरुकुल की स्वामिनी सभा का तार आया कि मुझे गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता नियत किया गया है। मैं बम्बई से गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता बनकर लौटा। अप्रैल १९३५ में चन्द्रावती-लखनपाल को महात्मा गांधी के सभापतित्व में इन्दौर में मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया गया। विजय अभी शिशु ही था, उसे सम्भालने के लिए चन्द्रावती की छोटी भाभी श्रीमती सुशीला लखनपाल उनके साथ गईं। सुशीला लखनपाल तथा चन्द्रावती लखनपाल का इस काल से आजीवन प्रेममय सम्बन्ध हो गया।

मुख्याधिष्ठाता बनकर गुरुकुल आने के बाद मैंने गुरुकुल के विकास की योजना बनाई। गुरुकुल अब तक चन्दे के बल पर चल रहा था। चन्दा आना बहुत कम हो गया था। मेरी पहली और मुख्य योजना थी गुरुकुल फ़ार्मेसी का विकास, दूसरी योजना थी आम्रोद्यानों का लगाना। फ़ार्मेसी के विकास के लिए विज्ञापन आवश्यक था। विज्ञापन के लिए प्रेस आवश्यक था। बाढ़ में गुरुकुल का प्रेस नष्टप्राय हो चुका था। मेरे लिए प्रेस को खड़ा कर उसके द्वारा फ़ार्मेसी की ओषधियों को जन-जन तक पहुँचाने की योजना थी। मैंने 'गुरुकुल' नाम का एक साप्ताहिक पत्र जारी किया। समाचार-पत्र पर डाक-व्यय बहुत कम लगता है। गुरुकुल के प्रत्येक संरक्षक को जिसका पुत्र गुरुकुल में पढ़ता था इस पत्र का ग्राहक होना आवश्यक कर दिया। पत्र-छपाई का काम भी

आने लगा, कुछ नये ग्राहक भी बनाये गये। उन दिनों प्रत्येक डाकखाने ने अपने-अपने शहर के मुख्य व्यक्तियों की डायरेक्टरी छापी हुई थी। उन डायरेक्टरियों को खरीदकर मैंने पते लिखवाने शुरू किये। ब्रह्मचारी जितने पते लिखता था उस हिसाब से उसे मेहनताना दिया जाता था। प्रेस में 'गुरुकुल' पत्र में सब दवाइयों का इश्तिहार छपवाकर उसकी एक लाख प्रतियाँ छापी गईं और दिवाली के अवसर पर बोरियाँ भरकर डाकखाने में डाल दी गईं। टिकट कम लगाने में जो बचत हुई उससे 'गुरुकुल' पत्र तथा प्रेस का घाटा पूरा कर दिया गया। इस इश्तिहार से इतने ऑर्डर आने लगे कि फार्मेसी एक बड़े कारखाने का रूप धारण कर गई। इस योजना से प्रेस भी उठ खड़ा हुआ, फ़ार्मेसी भी उठ खड़ी हुई, गुरुकुल के लिए एक समाचार-पत्र का भी श्रीगणेश हो गया। यह योजना कई वर्ष तक चलती रही और फ़ार्मेसी की आय बढ़ती रही। मेरा यह लक्ष्य भी रहा कि फ़ार्मेसी के डीलर गुरुकुल के स्नातक बनाये जायें जिससे उनकी आजीविका का प्रश्न भी हल हो जाय। मुझे यह देखकर हर्ष हुआ कि इस फ़ार्मेसी ने न केवल गुरुकुल की आर्थिक समस्या को हल किया, अपितु इससे गुरुकुल के अनेक स्नातकों की आजीविका का प्रश्न भी हल हुआ।

मेरी दूसरी योजना आम्रोद्यानों के आरोपण की थी। गुरुकुल के प्रोफेसर-क्वार्टरों के पीछे जगजीतपुर गाँव से पहले एक छोटी-सी नहर है। गंगा की बड़ी नहर तथा उस छोटी नहर के बीच बहुत बड़ी ज़मीन पड़ी हुई थी। मेरी योजना यह थी कि इस सारी ज़मीन को खरीद लिया जाय और सब जगह उत्तम कलमी आम लगा दिये जायें। कुछ साल बाद उसके लाखों की आमदनी होगी जो गुरुकुल को चलाने में मदद देगी। यह योजना पूरी नहीं हो सकी, परन्तु जितनी भी हुई उससे गुरुकुल को २५ हज़ार सालाना तो मिलने ही लगा था। अब स्थिति क्या है—इसका मुझे ज्ञान नहीं। इसी प्रसंग में मैंने सैकड़ों युकेलिप्टस के पेड़ हर बिल्डिंग के चारों तरफ़ लगवाये थे। एक प्रसिद्ध विशेषज्ञ डॉ० धर्मवीर गुरुकुल पधारे थे। उन्होंने कहा था कि युकेलिप्टस के पेड़ से मलेरिया के मच्छर नहीं रहेंगे। लगवाये तो थे मलेरिया की रोक-थाम के लिए, परन्तु सुनता हूँ कि अब वे ४०-५० साल के हो गये हैं और एक-एक पेड़ को २-३ हज़ार में बेच दिया गया है। अब जो लोग वहाँ काम कर रहे हैं उन्होंने भी हजारों युकेलिप्टस के पेड़ लगवा दिये हैं और आशा करनी चाहिए कि किसी समय उनके द्वारा गुरुकुल को लाखों की आमदनी होगी।

इस स्थल पर गुरुकुल-जीवन की कुछ घटनाओं का उल्लेख करना असंगत नहीं होगा। मैं प्रायः प्रतिवर्ष गर्मियों की छुट्टियों में मसूरी जाया करता था। जब मैं अविवाहित था तब वाचस्पति नाम के मेरे एक मित्र वहाँ वैद्यक किया करते थे; लैंडौर बाज़ार में रहते थे, वहीं उनका मकान था। पं० श्रीधर पाठक जो हिन्दी के प्रसिद्ध कवि थे वे भी मसूरी आया करते थे। सैर-सपाटे में उनसे भेंट हो जाती थी। वे भी वैद्य वाचस्पति के यहाँ आ बैठा करते थे। पाठक जी के साथ स्नेह बढ़ता गया। तदनुसार विवाहोपरान्त भी मैं सपरिवार मसूरी जाता रहा। उनकी पुत्री ललिता पाठक मेरी पत्नी की सहपाठिनी थी। इस जानकारी के कारण कभी-कभी वे हमारे यहाँ भी आ जाते थे। एक दिन उनका सेवक एक पर्चा लेकर हमारे यहाँ आया। जहाँ हम ठहरे थे उस कॉटेज का नाम शान्ति-कुंज था, वे ठहरे थे विलो लॉज में। दोनों स्थान निकट ही थे। पर्चे में लिखा था, मैं सख्त बीमार हूँ, मुझे देख जाओ। गया तो देखा कि उन्हें ब्रेन हैमरेज हो गया था। तत्काल उन्हें रिक्शा में डालकर सिविल अस्पताल ले गया। उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर पाठक को इलाहाबाद तार दिया। अगले दिन वे भी पहुँच गये। रातभर हम दोनों उनके पास जागते हुए बैठे रहे। प्रातःकाल उनका देहान्त हो गया। अगले दिन उनकी अन्त्येष्टि वैदिक संस्कार से की गई और उनकी अस्थियों को लेकर उनके पुत्र इलाहाबाद रवाना हो गये। समाचारपत्रों में उनके देहान्त और किस गाड़ी से उनकी भस्म आ रही है इसकी तारों द्वारा सूचना दे दी गई थी। जगह-जगह उनके भक्त अस्थि-अवशेष का स्वागत करने उपस्थित थे।

मेरे मसूरी-काल में ही मेरा श्री शुकदेव बिहारी मिश्र से भी परिचय हुआ। वे भी वहीं ठहरे थे जहाँ हम लोग ठहरे थे। वे हिन्दी के जाने-माने लेखक थे। उन्हें शेयर खरीदने का शौक था। मैं नहीं जानता था कि

शेयर क्या वस्तु है। वे कहने लगे कि जो तुम्हारे पास रुपया हो उससे इंडियन आयरन के शेयर खरीद लो, वे दो-चार मास में दुगुने-चौगुने हो जायेंगे। मेरे पास कुल जमा पूँजी २ हज़ार थी। उस समय इस शेयर का दाम १५ रु० था। इसलिए १०० शेयर के १५०० खर्च हो गये। परन्तु देखते-देखते यह शेयर ३०, ४०, ५०, ६० तक हो गया। मैंने यह शेयर बेच दिया। छुट्टियाँ समाप्त हो गईं, मैं मसूरी से गुरुकुल आ गया। अभी ६००० रु० आया नहीं था कि इतने में एक सब-जज जो मेरे परिचित थे आ गये और मैंने इस शेयर की बात की। वे बोले, बहुत ग़लती की, यह शेयर तो १०० तक जानेवाला है, मैं अभी कलकत्ता से आ रहा हूँ, तार देकर फिर खरीद लो। मैंने तार दिया तो वह ७५ तक पहुँच चुका था। अब २५०० मुझे और देना था जो मेरे पास नहीं था। मैंने तार दिया, बेच दो। तब तक वह नीचे लुढ़क गया था। नतीजा यह हुआ कि मेरे पास जो २००० की पूँजी थी वह सफ़ाया हो गई। इसका मुझे बड़ा धक्का लगा, यहाँ तक कि मुझे उन्निद्र रोग हो गया। मैंने कभी सुना भी नहीं था कि उन्निद्र रोग भी होता है, परन्तु रोग तो रोग है, जब हो जाता है तब पता चलता है, यह चिन्ता का रोग है। मैं छुट्टी लेकर अपनी ससुराल बिजनौर चला गया। वहाँ मेरे गुरुकुल के सहपाठी डॉ० ओम्प्रकाश रहते थे। जिस मकान में मैं ठहरा था उसके साथ ही उनका मकान था, परन्तु मैंने तब तक होमियोपैथी का नाम नहीं सुना था। मैं किसी डॉक्टर से नींद की दवा ला रहा था, सम्भवतः ब्रोमाइड था। इतने में मेरी पत्नी आयी और उसने वह शीशी मुझसे छीनकर पटक दी, वह ऐलोपैथी के इतना खिलाफ थी। वह जल-चिकित्सा की भक्त थी। उसके ताऊ तो जल-चिकित्सा की ही रट लगाया करते थे। मुझे ठण्डे पानी के टब में बिठा दिया जाता और जल-चिकित्सा के सब उपाय किये जाते; परन्तु किसी से लाभ नहीं हुआ, मेरी तबीयत बिगड़ती ही चली गई। इतने में डॉ० ओम्प्रकाश मुझे मिलने आ पहुँचे। वे बोले, किस पचड़े में पड़े हो? मैं तुम्हारा इलाज होमियोपैथी से कर दूँगा। उन्होंने पहला जो डोज़ दिया उससे मैं दो घण्टे तक दिन में चैन से सोया। उसके बाद तो उनकी सभी पुस्तकें पढ़ डालीं और होमियोपैथी का मुझे व्यसन-सा हो गया। मैंने गुरुकुल लौटकर होमियोपैथी के प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० युद्धवीर सिंह के व्याख्यान कराये और निश्चय कर लिया कि अपने आयुर्वेदिक कॉलेज में होमियोपैथी की भी एक चेयर खोल दी जाय। सभा से प्रस्ताव भी पास करवा लिया; होमियोपैथी की लगभग १०,००० रुपये की पुस्तकें भी पुस्तकालय के लिए मँगवा ली। यह भी निश्चय कर लिया कि डॉ० ओम्प्रकाश जी को आयुर्वेद कॉलेज में होमियोपैथी का शिक्षक रख लिया जाएगा, परन्तु इतने में मेरा २० वर्ष का सेवा-काल समाप्त हो गया और मैंने सम्मानपूर्वक गुरुकुल से विदा ली। मुझे विदा देने के लिए सभा के सब सदस्य गुरुकुल में उपस्थित थे। ११ नवम्बर १६४१ में मैंने २ साल की अधिकृत फ़र्लो लेकर गुरुकुल छोड़ दिया। १६२३ में आया था, १६४१ में चला गया।

जिन दिनों मैं बीमार था उन दिनों मेरी पत्नी महादेवी कन्या पाठशाला देहरादून की प्रिन्सिपल नियुक्त हो गई थी। ७ जुलाई १६३८ को वे वहाँ प्रिन्सिपल नियुक्त हुईं और दिसम्बर १६४१ तक इस पद पर कार्य करती रहीं। इस बीच उनके कन्धों पर काम का इतना बोझ आ पड़ा था कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। पाठशाला में भी पार्टीबाजी चल रही थी। एक तरफ़ आर्यसमाज पार्टी थी, दूसरी तरफ माथुर पार्टी थी जिसके नेता आनन्दस्वरूप सिन्हा थे। उनके शासनकाल में चन्द्रावती जी को बहुत परेशानी रही। इसी काल में मेरी बहिन कौशल्यादेवी उनके पास रहीं और उसने मैट्रिक्यूलेशन किया; इन्हीं दिनों उनके सबसे छोटे भाई चेतनस्वरूप शुक्ल ने उनके पास रहकर डी० ए० वी० कॉलेज से शिक्षा प्राप्त की; उन्हीं दिनों उनकी बहिन प्रभा उनके पास रहीं। जब मैंने १६४१ में गुरुकुल काँगड़ी से मुक्ति प्राप्त कर ली तो मैं, वे तथा विजय बम्बई के लिए चल दिये और चन्द्रावती जी ने महादेवी कॉलेज से त्याग-पत्र दे दिया। इस काल में हम देहरादून में डालने वाला में ५ बीघे का एक प्लॉट ले चुके थे। प्लॉट लिए तो सभी भाइयों ने थे, परन्तु अन्य भाइयों ने बेच दिए, हमने नहीं बेचा था।

इससे पहले कि मैं गुरुकुल का प्रकरण समाप्त कर आगे बढ़ूँ मैं इस बात पर प्रकाश डालना चाहता हूँ

कि मैंने दो साल की फ़र्लो लेकर संस्था को क्यों छोड़ दिया। मैं संस्था का मुख्याधिष्ठाता था, पं० देव शर्मा जी (स्वामी अभयदेव जी) संस्था के आचार्य थे। मेरा क्षेत्र प्रबन्ध का था, उनका शिक्षा का था। वे साल मे ३-४ महीने पांडेचेरी चले जाते थे और वहाँ से आदेश भेजा करते थे। उन्होंने प्रत्येक शिक्षक को लिखना शुरू किया कि वे अपना वेतन कम करें। उस समय प्रोफेसरों को १५० रुपया मासिक मिलना था, मुझे 'दयानन्द सेवा-सदन' का सदस्य होने के नाते मुख्याधिष्ठाता होने पर भी ७५ रुपया मिलता था। स्वामी जी के इस प्रकार प्रबन्ध में दखल देने पर मुझे एतराज़ था। इस एतराज़ को देखकर उनकी माँग यह हो गई कि या तो मैं आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता दोनों का कार्य करूँ या वे आचार्य होने के साथ मुख्याधिष्ठाता का कार्य भी करें। मैंने उचित समझा कि जब दो साल बाद मुझे जाना ही है, तब अभी से विधा-सम्मत २ साल की फ़र्लो क्यों न ले लूँ ? यह सोचकर गुरुकुल का सारा दायित्व मैंने उन पर छोड़ दिया।

जब मैं गुरुकुल मे मुख्याधिष्ठाता के पद पर था तब एक दिन श्री जगदीश प्रसाद जी उत्तर प्रदेश सरकार के चीफ सेक्रेटरी थे गुरुकुल पधारे। मैं उन्हें विद्यालय दिखाने ले गया। विद्यालय के द्वार के पास की दीवार पर कृष्णपट था जिसमे ब्रह्मचारियों की दैनिक दिन चर्या लिखी हुई थी। उसमें प्रातःकाल ४.३० पर उठने से लेकर प्रार्थना, शौच जाना, व्यायाम करना, स्नान, सन्ध्या, हवन, प्रातराश आदि सब प्रोग्राम लिखा हुआ था जिसे वे देर तक पढते रहे, और ५-१० मिनट बाद बोले—आप लोगों ने तो ब्रह्मचारियों को इतना नियमबद्ध कर दिया है जैसे जेल में कैदियों को नियम में रखा जाता है। मैंने कहा—यह नियमबद्धता ही तो शिक्षा का अपूर्व अंग है। आजकल विद्यार्थियों को नियम से रहना नही सिखाया जाता। जब चाहे सोयें, दस बजे, बारह बजे, एक बजे, दो बजे—उन्हें किसी व्यवस्था में नही रखा जाता, जब चाहें उठें, आठ बजे, दस बजे—कोई नियम नहीं। इस अमर्यादित व्यवस्था से समाज में भी नियमहीनता चल रही है। हमारी इस व्यवस्था को उन्होंने सराहा और कहा कि इस प्रकार का नियम मे बँधा जीवन हर बच्चे को सीखना चाहिए। अगर शुरू से ही बच्चा नियमित जीवन बिताना सीखेगा तो समाज की अनेक समस्याएँ अपने आप दूर हो जायेंगी। दुःख इसी बात का है कि गुरुकुल के संचालक इन विचारों के धनी नही रहे और ये विचार कृष्ण-पटों पर लिखे रह गये हैं। यह टीका मेरी है, जगदीश प्रसाद की नहीं। जीवन की साधना ही शिक्षा का अभिन्न अंग है। जिस बालक का बाल्यकाल में जीवन सधा नही, वह युवावस्था मे सधा जीवन नही बिता सकता। मेरे यह दृढ विचार हैं कि हर बालक को बाल्यावस्था में किसी होस्टल मे ही रखना चाहिए तभी उसका आगामी जीवन व्यवस्थित हो सकता है।

श्री जगदीश प्रसाद के सम्बन्ध में मुझे एक घटना और स्मरण आती है। जब मैं राज्यसभा का सदस्य था तो गुरुकुल आने के लिए मैंने मसूरी एक्सप्रैस में सीट बुक कराई थी। उसी डिब्बे मे एक और व्यक्ति की सीट भी बुक थी। जब मैं सीट पर बैठा तो दूसरा व्यक्ति भी डब्बे मे सीट पर बिस्तर बिछाने लगा। मैंने पूछा। आप कहाँ जा रहे हैं? उन्होंने कहा—मैं जगदीश प्रसाद हूँ और माँ आनन्दमयी से मिलने देहरादून जा रहा हूँ। मैंने पूछा—आप वही जगदीशप्रसाद हैं जो कभी गुरुकुल पधारे थे और जिन्होंने कहा था, हमने गुरुकुल को जेल बना दिया है। वे बोले—हाँ, मैं वही जगदीश प्रसाद हूँ और आपको पहचानता हूँ कि आप उसके मुख्याधिष्ठाता पं० सत्यव्रत हैं। इस वार्तालाप से हमारी आत्मीयता बढ़ी और मैं पूछ बैठा कि आपने आनंदमयी माँ में क्या देखा? उन्होंने कहा—मैं वर्षों से उनका भक्त हूँ और मेरा अनुभव है कि वह अपने भक्तों के दुःख को अपने ऊपर ले लेती हैं। उन्होंने कुई ऐसी घटनाएँ सुनाईं जिन्हें मेरे अविश्वासी मन ने स्वीकार नहीं किया। मुझे अपने जीवन में कई ऐसे व्यक्ति मिले जिन्होंने जगदीश प्रसाद जी के अनुभव को अपने अनुभव से परिपुष्ट किया, परन्तु मेरा किसी महात्मा से मिलकर इस प्रकार का अनुभव नहीं हुआ।

श्री जगदीश प्रसाद जी ने एक घटना मुझे सुनाई जो सही थी या गलत, मैं नहीं कह सकता। उन्होंने सुनाया कि महात्मा मुंशीराम जी के पुत्र हरिश्चन्द्र की पत्नी मुझे हरिश्चन्द्र समझती रही। मैं कहता रहा कि

मैं हरिश्चन्द्र नहीं हूँ किन्तु उन्होंने कभी मेरा विश्वास नहीं किया। देहरादून से एक साप्ताहिक पत्र 'फ्रन्टियर मेल' निकलता था जिसके सम्पादक थे श्री बस्सवाल। उनका देहान्त हो चुका है पर उनके दामाद अब भी उस पत्र को चला रहे हैं। अनेक वर्ष हुए जब उनका एक पत्र मेरे हाथ लगा था जिसमें श्री हरिश्चन्द्र की हत्या का उल्लेख था। उसमें विस्तृत रूप से लिखा गया था कि किस प्रकार वह षड्यंत्र के शिकार हुए, और उसमें उनकी हत्या कर दी गई। कह नहीं सकते कि सच्चाई क्या है? पर यह तो सत्य है कि श्री हरिश्चन्द्र की पत्नी ने यह कभी विश्वास नहीं किया कि वह मर गए हैं। उन्हें ढूंढने के लिए वह जगह-जगह मारी फिरती रहीं। उनका एक पुत्र था जिसका नाम रोहिताश्व था। हरिश्चन्द्र जी की पत्नी और रोहिताश्व का देहान्त हो चुका है।

चन्द्रावती जी का स्वास्थ्य दिनोंदिन गिरता जा रहा था। उनके स्वास्थ्य के लिए मैंने सब तरह के उपचार किये। भोजन में सालों से उन्होंने रोटी खाना छोड़ रक्खा था। प्रायः ग्रुप्टीन बिस्कुट लेती थी, या दूध-दही पर निर्वाह था। उन्हें कोई रोग विशेष नहीं था, सिर्फ़ कमजोरी और भूख न लगना ये दो शिकायतें थी। ऐलोपैथी में उनका विश्वास नहीं था। व्यायाम या सैर वे नियमित रूप से करती थीं। इन सब के कारण ही वे जीवन को इतना दूर चला सकी फिर भी वे दीर्घजीवी नहीं रहीं। आयुर्वेद की दृष्टि से हमने उन्हें दुग्ध-कल्प तथा आम्रकल्प करवाया। उससे उन्हें लाभ हुआ। दुग्धकल्प मे केवल दूध का तथा आम्रकल्प में केवल छोटे आम का आयुर्वेद की पंचामृत पर्पटी या पिप्पली के साथ सेवन करती थी। इन कल्पों से उनका वज़न कुछ बढ़ जाता था। एक बार तो इन कल्पों से उनका वजन इतना बढ़ गया कि ऐसा लगता था कि उन्हें कोई रोग नहीं है। उनकी देखा-देखी मैं भी प्रतिवर्ष आम के दिनों में आम्रकल्प किया करता था। दाल-रोटी सब बन्द करना और छोटे आमों का गिलास भर रस निचोड़ कर पी जाना—यह आम्रकल्प था। आजकल तो चूसने वाले ये छोटे आम दीखते ही नहीं, जब हम लोग आम्रकल्प करते थे तब सौ आम तीन-चार आने में मिलते थे और सौ का अर्थ था डेढ़ सौ। एक टोकरे आम चूस जाना साधारण बात थी। एक बार आम के दिनों में जब मैंने आम्रकल्प किया तो मेरा शरीर इतना बढ़ा कि मैं अपने मोटापे को देखकर सोचने लगा कि क्या यह मेरा ही शरीर है। मैं सदा पतला-दुबला रहा हूँ, परन्तु इस बार आम्रकल्प ने मुझे पहले से दुगुना कर दिया। आयुर्वेद में आम्रकल्प, दुग्धकल्प तथा खरबूजा-कल्प शरीर का कायाकल्प कर देते हैं, परन्तु इनमें भोजन में बहुत संयम से लेना पड़ता है और अपनी जीभ पर काबू रखना होता है। इन कल्पों में पंचामृत पर्पटी या छोटी पिप्पली को पीस कर उसका प्रयोग किया जाता है। आजकल वज़न को घटाने का रिवाज है, परन्तु शरीर की क्षीणता के कारण कभी-कभी शरीर में मोटापा लाने की आवश्यकता हो जाती है जिसमें इन कल्पों से लाभ होता है और शरीर मलों से शुद्ध हो जाता है। उन दिनों कनखल में यागेश्वर वैद्य रहा करते थे जो शरीर का कायाकल्प कराने में इन कल्पों का प्रयोग करते थे। रोगी को या तो सिर्फ़ दूध पर, या सिर्फ़ मट्ठे पर या सिर्फ़ खरबूजे पर या सिर्फ़ आम के रस पर रखा जाता था। ये सब रस पच सकें—इस उद्देश्य से इन रसों के साथ पंचामृत पर्पटी या छोटी पिप्पली का उसे पीसकर या दुग्धकल्प में दूध में उबाल कर प्रयोग किया जाता था।

१०. रिटायर होने के बाद मैं बम्बई में

इस समय मेरी पत्नी देहरादून में महादेवी कन्या पाठशाला की प्रिन्सिपल थी। हमारे भाइयों का व्यापार बम्बई में था और वे देर से मुझे बम्बई आकर व्यापार में शामिल होने का आग्रह कर रहे थे। हम पाँच भाई थे, चार व्यापार में थे, सिर्फ़ मैं शिक्षा के क्षेत्र में था यद्यपि बम्बई आने से पूर्व उन्होंने मेरे नाम से 'हिन्दुस्तान कर्मशियल कॉरपोरेशन' नाम से एक कम्पनी खोल रखी थी। जब मैं रेलगाड़ी से बम्बई पहुँचा तब वहाँ का आर्यसामाजिक जगत् तथा मेरे भाइयों के अनेक व्यापारी साथी हमारा स्वागत करने के लिए स्टेशन

पर उपस्थित थे। आर्यसमाजियों में वहाँ की समाज के प्रधान श्री विजयशंकर जी अपने सहयोगियों के साथ आये थे। कुछ दिन तो मैं भाइयों की दुकान पर जाता रहा, परन्तु मुझे व्यापार का कुछ अता-पता नहीं चला। बिजली का व्यापार था, माल विदेशों से आता और भारत के व्यापारी भिन्न-भिन्न शहरों से आते और खरीद-कर ले जाते; कुछ बिजली लगाने के ठेके थे, इन सबमें मेरी रुचि नहीं थी। मैं खाली बैठा-बैठा वह सब-कुछ देखता रहता।

इस बीच कुछ आर्यसमाजी भाई मुझसे मिलने आने लगे। बम्बई के आर्यसमाजियों की शिकायत थी कि काकड़वाड़ी आर्यसमाज, जो ऋषि दयानन्द का स्थापित किया हुआ है, उस पर एक गुट का कब्जा है जिसके प्रधान श्री विजयशंकर हैं और मन्त्री एक सभाजित् मिश्र नाम के सज्जन हैं, वे काम-काज कुछ नहीं करते, किसी को सदस्य नहीं बनने देते, शादी-ब्याह के लिए हॉल किराये पर देते हैं और सब रकम हज़म कर जाते हैं। यह सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने उनसे कहा कि अपना चन्दा मुझे दो और वह मैं तुम्हारे फ़ार्मों के साथ मन्त्री आर्यसमाज को भेज दूँगा, देखता हूँ कि सदस्य क्यों नहीं बनाते। मेरे पास १०० व्यक्तियों ने चन्दा जमा किया जो मैंने मन्त्री आर्यसमाज के पास दस्ती भेज दिया। मन्त्री महोदय ने न चन्दा स्वीकार किया न फ़ार्म लिये। सब लौटा दिया। मैंने फिर वह रुपया मनीऑर्डर से भेजा और कुछ देर बाद फ़ार्म रजिस्ट्री से भेजे। उन्होंने किसी गलती से चन्दे का रुपया तो ले लिया, परन्तु फ़ार्म लौटा दिये। यह स्थिति देखकर मुझे समझ पड़ गया कि अवश्य दाल में कुछ काला है और इस स्थिति को पलटने के लिए आन्दोलन करने का निश्चय किया।

मैंने कुछ पंजाबी आर्यसमाजियों से सम्पर्क स्थापित किया और यह योजना बनाई कि हमें अपना एक अलग संगठन बना लेना चाहिए और इस आर्यसमाज पर कब्जा करना चाहिए क्योंकि ऋषि दयानन्द की स्थापित की हुई यही समाज है। पंजाबी तो प्रायः सभी आर्यसमाजी ही थे। इनमें से हमने पहले श्री तलवार को पकड़ा। वे इंश्यूरेंस कम्पनी के संगठनकर्ता थे और इंश्यूरेंस के कारण सभी पंजाबियों को जानते थे। चन्दा किया गया। सेठ नारायणलाल पित्ती जो बड़ौदा कन्या महाविद्यालय के सर्वेसर्वा थे उनसे चन्दा लिया और अन्य समाजियों से भी चन्दा लिया और बम्बई आर्यसमाज के प्रधान पर यह दावा दायर कर दिया कि वास्तव में हमारी मैजॉरिटी है, परन्तु क्योंकि पदस्थ लोग नियमानुसार हमें सदस्य नहीं बनने देते, इसलिए अल्पमत होते हुए भी ये बहुमत पर धोखा कर रहे हैं। बम्बई हाईकोर्ट में यह पहला केस था जिसका मुद्दा था कि अल्पमत दाँव-पेंच द्वारा बहुमत का सांवैधानिक अधिकार छीन रही है। वहाँ एक व्यापारी श्यामलाल गोयल थे जो कानून को खूब समझते थे, एक ठाकुर साहब थे और मैं था। हम तीनों ही यह मुकद्दमा लड़ते रहे, चन्दा करते रहे, एक अलग समाज का निर्माण कर लिया, उसके साप्ताहिक अधिवेशन होते रहे, और मुकद्दमा भी लड़ते रहे। इस सारे आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि हम लोग जीत तो गये, परन्तु अब वहाँ के पुराने लोग समाप्तप्राय हो चुके हैं, किन्तु हम लोगों ने सांताक्रूज में एक भव्य समाज-मन्दिर का निर्माण कर लिया जो अब बम्बई का सर्वोत्तम समाज हो गया है। उसके आधीन शिक्षा-संस्थाएं चल रही हैं, व्यायामशालाएँ चल रही हैं और योगाश्रम चल रहे हैं नवीन-नवीन कार्यकर्ता उसकी तरफ़ खिचकर चले आये हैं। मैं १९४१ से १९४५ तक बम्बई रहा, उसके बाद देहरादून चला आया।

११. बम्बई के बाद मैं देहरादून में

बम्बई में जाने से मुझे एक लाभ हुआ। यद्यपि मेरे भाई एक साथ व्यापार करते थे और मुझे उन्होंने आज्ञा दी थी कि मुझे भी व्यापार में साझीदार बना लेंगे क्योंकि वे दिन द्वितीय विश्वयुद्ध के दिन थे और व्यापार में अच्छी आमदनी थी, तथापि मुझे साझीदार बनाने के स्थान में वे स्वयं ही जुदा-जुदा हो गये। मैंने इन चार सालों में सिर्फ़ एक बड़े ठेके में हिस्सा लिया था जिसके परिणामस्वरूप एक मकान खरीदा गया जिसका आधा हिस्सा मेरी पत्नी के नाम रजिस्टर किया गया। कुछ कैश भी मुझे मिला। यह १९४५ का

समय था। मेरा चित्त भी व्यापार में नहीं लगता था। अचानक एक दिन पं० सोमदत्त विद्यालंकार का, जो कन्या गुरुकुल देहरादून के सहायक मुख्याधिष्ठाता थे, पत्र आया कि कन्या गुरुकुल में सभा मेरी पत्नी चन्द्रावती लखनपाल को आचार्या बनाना चाहती है। मैंने अपने जीवन में यह देखा कि एक-के-बाद-एक ऐसी स्थिति आती चली गई कि जब मैं परिवर्तन चाहता था तब भगवान् की तरफ़ से परिवर्तन स्वयं उपस्थित हो जाता था। इस पत्र का उत्तर हमने 'हाँ' में दिया और आमन्त्रण आने पर हम दोनों और विजय देहरादून के लिए चल दिये। क्योंकि चन्द्रावती जी महादेवी कॉलेज की प्रिन्सिपल रह चुकी थीं, इसलिए सभा को उनपर पूरा भरोसा था कि वे कन्या गुरुकुल को ठीक से चला सकेंगी। इसके अतिरिक्त वे आनखशिख कांग्रेस तथा आर्य-समाजी विचारों की थीं इसलिए भी सभा चाहती थी कि कन्या गुरुकुल का कार्यभार सम्भालें। क्योंकि मैं उनके साथ था यह भी कारण था कि सभा निश्चिन्त थी कि गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के अनुभवी व्यक्ति के साथ रहते कन्या गुरुकुल अपने पथ पर उन्नति करता जायेगा। चन्द्रावती जी तथा मैं २ जुलाई १९४५ से लेकर अप्रैल १९५२ तक कन्या गुरुकुल में ही रहे। इस प्रकार हमारे ७ साल देहरादून में कटे।

मैं क्योंकि बैंगलौर रह चुका था और देहरादून की हरियाली भी बैंगलौर की-सी थी, इसलिए देहरादून में हमने निश्चय किया कि इसी स्थान को अपना अन्तिम निवास-स्थान बनाना चाहिए। देहरादून में डालनवाला नामक एक एरिया है जिसमें ५ बीघे से कम में मकान नहीं बन सकता था। मकान के साथ बगीचे के लिए काफ़ी स्थान छोड़ना पड़ता था। वैसे तो सारा एरिया भरा हुआ था परन्तु आराघर ग्राम के साथ लगा हुआ पर्याप्त स्थान खाली था। वहाँ मैंने एक प्लॉट तब से ले लिया था जब चन्द्रावती जी महादेवी कॉलेज की प्रिंसिपल रह चुकी थीं।

देहरादून में मैंने स्थानीय कांग्रेस कमेटी में भाग लेना शुरू किया, परन्तु वहाँ हर जगह की तरह गुटबाज़ी इतनी थी कि कोई नया व्यक्ति संगठन के घेरे में प्रवेश नहीं कर सकता था। जब मैं देहरादून आ बसा तब मैंने वहाँ की आर्यसमाज तथा वहाँ की राजनीति में भाग लेने की सोची। देहरादून में अधिक संख्या उन लोगों की थी जो वहाँ की आर्यसमाज तथा राजनीति दोनों में भाग लेते थे। परन्तु अपने गुट में किसी को भाग नहीं लेने देते थे। कुछ लोग ऐसे थे जो आर्यसमाज का सहारा लेकर राजनीति में प्रमुख हो गये थे। प्रवृत्ति सबकी यही थी कि जिस किसी मार्ग से हो, सबका मुख्य लक्ष्य राजनीति था। सिर्फ़ राजनीति में प्रमुख स्थान रखने वाले इने-गिने ही थे। अन्ततोगत्वा प्रमुखता उन्हीं लोगों की थी जिन्होंने राजनीति को प्रमुख स्थान देकर राजनीतिक क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया था। ऐसे व्यक्ति थे—श्री महावीर त्यागी, श्री खुरशेदलाल, श्री शान्तिप्रपन्न शर्मा तथा श्री बी० बी० सरन। मेरी दृष्टि में ऐसा व्यक्ति सिर्फ एक था जो आर्यसामाजिक विचारों का होते हुए भी किसी आर्यसमाज का सदस्य नहीं था, कांग्रेस का होते हुए भी कांग्रेस के क्षेत्र में किसी पद का लोलुप नहीं था, शुद्ध खद्दरधारी, हिन्दी का भक्त, अंग्रेजीयत से दूर, ग़रीबी का जीवन बिताने वाला, सदाचारी, तपस्वी, सबका हृदय खींचने वाला और सीधा-सादा था। उसका नाम था मास्टर रामस्वरूप। मैंने मास्टर रामस्वरूप को देहरादून की म्यूनिसिपैलिटी के चेयरमैन के रूप में, उत्तर प्रदेश की असैम्बली के सदस्य के रूप में, और इन सब पदों से हट जाने पर अपने घर में अपने बर्तन स्वयं माँजते हुए भी देखा। उन्होंने म्युनिसिपैलिटी का चेयरमैन होते हुए भी अपना कोई मकान नहीं बनाया, और चेयरमैनी के समय भी कोई सरकारी नौकर नहीं रखा। मास्टर रामस्वरूप जी का कोई गुट नहीं था, परन्तु उनके विचारों से मिलते-जुलते कुछ कार्यकर्ता देहरादून में थे जिनमें से प्रमुख थे श्री नारायणदास भार्गव (मुनि जी), श्री वैद्य अमरनाथ जी, श्री पं० चन्द्रमणि जी, श्री हुलास वर्मा। इनकी रुचि आर्यसमाज तथा कांग्रेस दोनों में थी और ये मास्टर जी के पृष्ठ-पोषक थे जो अब दिवंगत हो चुके हैं। मेरा कार्य-क्षेत्र आर्यसमाज तक सीमित रहा।

उनके विषय में मैं कह सकता हूँ कि वे खरे गांधीवादी थे, अन्यथा मुझे देहरादून के कार्यकर्ताओं में से

अधिकतर गांधी का नाम लेकर अपना उल्लू सीधा करने वाले ही मिले। यह सब देखकर मैंने अपना कार्यक्षेत्र शिक्षा को ही बनाया और कन्या गुरुकुल, महादेवी कन्या पाठशाला तथा गुरुकुल काँगड़ी में ही दिलचस्पी लेता रहा। जब तक मैं देहरादून में रहा और जब तक मास्टर रामस्वरूप जी जीवित रहे, मेरा उनके साथ मैत्री भाव बना रहा। गांधी जी का नाम लेने वाले कांग्रेस कार्यकर्ताओं से जनता को बड़ी आशा थी, जो पूर्ण नहीं हुई।

मैंने देहरादून में डालनवाला मे अपना एक मकान बनाया जिसका नाम 'विद्या-विहार' रखा। 'विद्या-विहार' इसलिए रखा क्योंकि यहाँ पर बैठकर ही मैंने अपने अधिकांश साहित्य का निर्माण किया। हमारे एक किरायेदार सरदार सम्पूर्णसिंह थे। उनकी पुत्री बी० ए० में पढ़ती थी। एक दिन वह मेरे पास किसी सामाजिक विषय की समस्या को लेकर आयी। मैंने पूछा, तुम्हें यह समस्या क्योंकर उत्पन्न हुई? उसका नाम राजेन्द्र कौर था। राजेन्द्र कहने लगी कि उनके बी० ए० के कोर्स मे 'सोशियाँलोजी' नाम का एक विषय इस वर्ष से चालू हुआ है। उस कोर्स मे यह विषय आता है। मैंने उसे वह अंग्रेजी की पुस्तक दिखाने को कहा जिसके आधार पर वह विषय पढ़ाया जाता था। वह मैक आइवर की पुस्तक 'सोशियॉलोजी' ले आयी। उसे देखकर मैंने कहा, इस विषय पर सबसे अच्छा तो मैं लिख सकता हूँ। उसने कहा—लिखिये। मैने सिलेबस की विषय-सूची देखकर 'समाजशास्त्र के मूल तत्त्व' पुस्तक लिख दी। यह पुस्तक इतनी चली कि इसके कई-कई संस्करण होने लगे। अन्त मे जाकर, मेरे बिना किसी प्रयत्न के यह बी० ए० और एम० ए० के कोर्स मे आ गयी। सोशियॉलोजी के जो अध्यापक थे वे इसी ग्रन्थ को आधार बनाकर पढ़ाने लगे। इसके बाद तो सोशियॉलोजी के हर पेपर मे मैंने पुस्तक लिख डाली। एम० ए० के कोर्स 'जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ', 'मानव-शास्त्र', 'सामाजिक विचारो का इतिहास'—हर विषय पर पुस्तक लिखी और वे ही पुस्तकें इन विषयो की प्रामाणिक पुस्तकें मानी जाने लगीं। कई प्रोफ़ेसर अपनी पुस्तक भी लिखते थे और विद्यार्थियों को कहते थे कि सिद्धान्तालंकार की पुस्तक मत पढ़ो, परन्तु जितना भी मेरी पुस्तको के विरुद्ध आन्दोलन करते थे उतनी ही मेरी पुस्तकों की माँग बढ़ती थी। मैंने शिक्षा के क्षेत्र में, समाजशास्त्र के क्षेत्र मे—हर विषय पर पुस्तक लिखी और उसका जो सम्मान हुआ उसकी मुझे आशा नही थी। चन्द्रावती जी लखनपाल के ग्रन्थ 'स्त्रियो की स्थिति' पर उन्हें १९३४ मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन से पहले सेक्सरिया पुरस्कार मिला था, फिर 'शिक्षा मनोविज्ञान' पर सम्मेलन के द्वारा उन्हें १९३५ मे मंगलाप्रसाद पुरस्कार मिला और अन्त मे 'समाजशास्त्र के मूल तत्त्व' पर मुझे ३ जनवरी १९६० मे मंगलाप्रसाद पुरस्कार मिला। हम ही ऐसे दम्पती थे जिन दोनों को हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने मंगलाप्रसाद पुरस्कार देकर सम्मानित किया। मेरे साहित्य-कार्य को देखकर गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय ने अपने एक वार्षिक उत्सव मे मुझे विद्यामार्तण्ड की उपाधि से विभूषित किया।

१२. चन्द्रावती जी राज्यसभा में (१० साल तक)

अप्रैल १९५२ में भिन्न-भिन्न राज्यों की असेम्बलियों तथा पार्लियामेंट के प्रथम बार चुनाव होने शुरू हुए। मैं उन दिनों बम्बई गया हुआ था। चन्द्रावती जी और आचार्य जुगलकिशोर जी की पत्नी श्रीमती शान्तिदेवी जी ने साथ-साथ सत्याग्रह का कार्य किया था। जेल में भी दोनों साथ-साथ रहीं। इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध बहन-बहन का था। जब १९५२ के असेम्बली तथा पार्लियामेष्ट के चुनाव शुरू हुए। तब मुख्य तौर पर कांग्रेस पार्टी ही थी। शान्तिदेवी जी प्रो० जुगलकिशोर की पत्नी थी। जुगलकिशोर जी आल इण्डिया कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी थे, शांतिदेवी जी उत्तर प्रदेश महिला कांग्रेस कमेटी की सेक्रेटरी थी। उन्होंने चन्द्रावती जी का नाम राज्य सभा की सदस्यता के लिए पेश किया जो श्री गोविन्दबल्लभ ने स्वीकार कर लिया। राज्य सभा क्या है—यह चन्द्रावती जी को मालूम न था। लखनऊ से महावीर त्यागी ने अपने एक प्रतिनिधि को देहरादून चन्द्रावती जी के पास भेजा और कहा कि उन्हें सूचना दे कि उनका नाम राज्य-

सभा की सदस्यता के लिए स्वीकृत हुआ है, वे ५०० रुपया तैयार रखें, इतना रुपया उनके पास न हो तो वे सज्जन प्रबंध कर दें। अब यह खोज होने लगी कि राज्यसभा क्या है? पाठ्यपुस्तकें मँगवाई गयीं तो पता चला कि जैसे इंग्लैण्ड में हाउस ऑफ़ लॉर्ड है, वैसे भारत के विधान में राज्यसभा है। देहरादून में जब यह बात फैली कि चन्द्रावती जी राज्यसभा के लिए प्रस्तावित की गयी हैं तब शहर कांग्रेस सरकल में सनसनी फैल गयी। यहाँ के स्थानीय नेता चाहते थे कि उनकी नामज़द लीलावती झँवर को सदस्या बनाया जाय और चन्द्रावती जी पर आरोप लगाया गया कि इनके पति प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार आर्यसमाजी होने के कारण जनसंघी हैं। मैं जनसंघ का कभी सदस्य नहीं रहा, परन्तु लखनऊ तारें जाने लगीं कि जनसंघी को राज्य-सभा का सदस्य बनाया जा रहा है यद्यपि चन्द्रावती जी सदा कांग्रेसी रहीं। मेरे रिश्तेदार ब्रह्मदत्त अग्निहोत्री लखनऊ गये तो आचार्य जुगलकिशोर ने वे तारें उन्हें दिखलायीं। वे उन तारों को लेकर देहरादून लौटे और जनसंघ के प्रधान श्री चटर्जी को वे तारें दिखायीं। उन्होंने उन तारों का उत्तर यह दिया कि वे कभी जनसंघ में नहीं रहीं। उनकी प्रतियाँ लेकर वे चन्द्रावती जी के साथ लखनऊ पहुँचे। जिस गाड़ी में चन्द्रावती जी लखनऊ गयीं उसी गाड़ी में लीलावती के समर्थक श्री शांतिप्रपन्न भी पहुँचे। दोनों की भेंट लखनऊ प्लेटफॉर्म पर हुई। जनसंघ के नेता के तार, जिनमें लिखा था कि चन्द्रावती का सम्बन्ध जनसंघ से नहीं था, आचार्य जुगलकिशोर जी की जेब में थे और तब तक चन्द्रावती जी का राज्यसभा के लिए चुनाव घोषित हो चुका था। लीलावती जी झँवर और उनके समर्थक अपना-सा मुंह लेकर देहरादून लौट आये।

राज्यसभा के लिए चुने जाने के बाद चन्द्रावती जी का देहरादून रहना कठिन हो गया। उस समय कन्या गुरुकुल के अधिष्ठाता श्री ठाकुरदास अमृतधारा थे। वे आग्रह करते रहे कि चन्द्रावती जी देहरादून रहें, तब कन्या गुरुकुल सँभालती रहें। कुछ देर तक तो वह व्यवस्था चली परन्तु यह व्यवस्था देर तक नहीं चल सकती थी। अन्त में १८-८-५२ को चन्द्रावती जी ने कन्या गुरुकुल से त्याग-पत्र दे दिया और हम दोनों दिल्ली रहने लगे। इस समय हमारा पुत्र विजयकृष्ण लखनपाल इलाहाबाद यूनीवर्सिटी में एम० ए० में पढ़ रहा था।

सदस्य चुने जाने पर सदस्य को अपने खर्च का ब्योरा भेजना पड़ता है। चन्द्रावती जी को इसका कुछ ज्ञान नहीं था। वे एक दिन अपने कागज़ों को उलट-पलट रही थीं कि वह कागज़ उछलकर उनकी गोद में आ पड़ा जिसमें लिखा था कि अमुक दिन तक यह ब्योरा आ जाना चाहिए, अन्यथा चुनाव अवैधानिक करार कर दिया जाएगा। उस समय पण्डित चन्द्रगुप्त विद्यालंकार उनके पास ठहरे हुए थे। प्रो० वेदव्यास एडवोकेट उनके मित्र थे। उसी दिन वेदव्यास जी ने श्री लालबहादुर शास्त्री का ब्योरा संदेशवाहक के हाथ लखनऊ भेजना था। संयोग की बात है कि चन्द्रगुप्त जी ने सहायता करके ब्योरा बनवाकर वेदव्यास जी को दिया और वह ठीक समय पर श्री लालबहादुर शास्त्री के वाहक द्वारा लखनऊ पहुँच गया। जीवन की ऐसी घटनाओं को मैं भगवान् की कृपा मानता हूँ, अप्रत्याशित संकट को टालनेवाला वही है, उसी की कृपा से सब होता है।

चन्द्रावती जी पहले ४ साल तक राज्य-सभा की सदस्य रहीं, उसके बाद उन्हें ६ साल का सदस्यता का काल और मिला। इस प्रकार वे १० साल तक राज्य-सभा की सदस्य रहीं। उन्होंने हिन्दू कोड बिल के पास होने में बहुत हिस्सा लिया। वे राज्य-सभा के चेयरमैन के पैनल में भी रहीं। उन्होंने एक प्राइवेट बिल भी पेश किया था जिसका आशय यह था कि एक ऐसा कानून बन जाय जिसके अनुसार विधुर अगर शादी करना चाहे तो विधवा से ही कर सके, कुमारी कन्या से नहीं। यह प्राइवेट बिल था। पुरुष-बहुल समाज में यह बिल पास नहीं हो सकता था। डॉ० राधाकृष्णन जब उनसे मिलते थे तब सदा इस बिल की चर्चा किया करते थे।

१३. मैं गुरुकुल का दोबारा मुख्याधिष्ठाता नियुक्त हुआ

मैंने गुरुकुल १५ नवम्बर १९४१ को छोड़ा था। अब ४ जून १९६० को दोबारा मुझसे मुख्याधिष्ठाता

का पद सँभालने की सभा ने प्रार्थना की। इस बीच लगभग २० वर्ष का समय बीत चुका था। इस बीच पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता रहे थे। मेरे लिए नया वातावरण था, नये अध्यापक थे क्योंकि मेरे समय के न तो विद्यार्थी थे, न प्रबन्धक थे, न अध्यापक थे। मैंने पद ग्रहण करते हुए अपने भाषण में कहा कि मुझे तो ऐसा लगता है जैसे मैं नया जन्म ग्रहण कर संस्था में उपस्थित हुआ हूँ। इस सभा में पण्डित इन्द्रजी, आचार्य नरदेव शास्त्री, श्री शिवकुमार शास्त्री तथा हरिद्वार, ज्वालापुर आदि के अनेक गण्यमान्य सज्जन उपस्थित थे।

पंडित इन्द्र जी मुख्याधिष्ठाता के तौर पर ५०० रुपया मासिक लेते थे। मैंने निश्चय किया कि मैं इस काल में गुरुकुल से वेतन के रूप में कुछ नहीं लूंगा। इन दिनों चन्द्रावती जी के साथ पालियामेंट के अधिवेशन के समय दिल्ली तो जाता था, परन्तु अधिवेशन के अतिरिक्त समय में सपरिवार अधिकांश समय गुरुकुल में ही रहता था। इस काल में मैंने अनेक ग्रन्थ लिखे—'एकादशोपनिषद्-भाष्य' लिखा जिसकी भूमिका डॉ० राधाकृष्णन ने लिखी जो उस समय उपराष्ट्रपति थे। 'गीताभाष्य' लिखा जिसकी भूमिका प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने लिखी। समाजशास्त्र पर तो अनेक ग्रन्थ मैं पहले ही लिख चुका था जो इण्टर, बी० ए०, एम० ए० में पढ़ाये जाते थे। ब्रह्मचर्य पर 'ब्रह्मचर्य-सन्देश' के कई संस्करण हो चुके थे। कहने का अभिप्राय यह है कि इस काल को मेरा साहित्यिक काल कहा जा सकता है। ३ मार्च १९६२ को पंजाब सरकार ने श्री कैरों के नेतृत्व में जब पण्डित अमरनाथ विद्यालंकार यहाँ के शिक्षामन्त्री थे, मुझे चण्डीगढ़ बुलाकर एक राजदरबार कर मुझे १२०० रुपये तथा एक दोशाला भेंट किया। इस समारोह में पंजाब सरकार की केबिनेट के सब सदस्य उपस्थित थे। पंजाब सरकार पंजाबी साहित्यकारों का इस प्रकार सम्मान करती है, वह सम्मान पंजाबी साहित्यकार होने के नाते मुझे दिया गया।

जीवन में कई घटनाएँ ऐसी हो जाती हैं जिन्हें भुलाये नहीं भूला जाता। ऐसी एक घटना तब हुई जब मैं दोबारा मुख्याधिष्ठाता बनकर कर्नल बनकर सर्दियों के दिन थे, वे भी जनवरी के। देहरादून में जो सर्दी पड़ती है उसे देहरादून में रहने वाले ही जानते हैं। सन् याद नहीं रहा, परन्तु इतना स्मरण है कि एक दिन जनवरी के प्रथम सप्ताह में मैं रात के ७-८ बजे देहरादून से गुरुकुल जा रहा था। गाड़ी मैं ही चला रहा था। मेरे साथ पं० सत्यदेव जी बैठे थे। ठंड जोर की पड़ रही थी। हर्रावाला के पुल को पार करके जब मैं अगले गाँव की सड़क को लाँघ रहा था कि इतने में एक ग्वाला भैंसे के पीछे भागता हुआ मेरे सामने की सड़क को पार करने लगा। भैंस तो सड़क पार कर गई परन्तु वह ग्वाला मेरी गाड़ी की लपेट में आ गया। मुझे ऐसे लगा कि उसे ऐसी चोट लगी कि वह मर गया। बस फिर क्या था, गाँववाले इकट्ठे हो गये और मुझे घेर लिया। गाड़ी के शीशे तोड़ दिये और चारों तरफ से पत्थरों की बौछार होने लगी, गाड़ी का मलीदा बन गया। मैंने उतर कर देखा, तो जान पड़ा कि वह ग्वाला मरा नहीं था। मैंने गाँव वालों को कहा कि इसे उठाकर गाड़ी में रख दो, मैं इसे अस्पताल ले जाऊँगा ताकि इसका इलाज हो जाय। कुछ समझदार लोग थे, उन्होंने उसे उठाकर गाड़ी में रख दिया। इतने में उसका लड़का आ पहुँचा। उसने कहा—नहीं, इन्हें अस्पताल में मैं नहीं जाने दूंगा। यह कहकर उसने अपने पिता को गाड़ी से नीचे घसीट लिया, और मुझे कहने लगा कि मुझे ५०० रुपये दो, मैं भैंस खरीदूंगा। मुझे पीछे पता चला कि वह कोई हरिजन था। न मेरे पास और न सत्यदेव जी के पास ५०० रुपये थे जो देकर पीछा छुड़ा लेते। इतने में देहरादून से एक बस, जहाँ यह घटना हुई थी, आकर रुकी और उसके यात्री तमाशा देखने के लिए रुके। एक यात्री ने मुझे पहचान लिया और आकर कहने लगा—पंडित जी, नमस्ते, क्या हुआ है? मैंने उसे सारी घटना सुना दी। उसने बीच में पड़कर ५०० का ३०० करवाया, परन्तु मेरे पास तो उस समय ३०० भी नहीं था, न सत्यदेव जी के पास था। अन्त में मैंने कहा कि मैं देहरादून लौटकर जाता हूँ और जो राशि तुम माँग रहे हो वह लाकर अभी दे दूंगा। इतने बहस-मुबाहिसे में ९-१० बज गये और सर्दी का ज़ोर भी बढ़ गया। वे इस बात पर भी सहमत नहीं हुए। वे कहने लगे कि हमारा आदमी आपके

साथ जायगा और तब ३०० रुपये लेकर आपका पीछा छूटेगा। उस हरिजन का बालक हमारे साथ गया, ११-१२ बजे देहरादून पहुँचा, अपने सगे-सम्बन्धियों से ३०० रुपये लिए और हर्रावाला लौटा। जब हर्रावाला पहुँचा तब मालूम हुआ कि गाँव के कुछ लोग ऋषिकेश के मार्ग मे पड़ने वाले थाने में रिपोर्ट करने पहुँच गये थे। रुपये तो दे दिये थे, इसलिए गाँव वालों ने हमें आगे जाने दिया। आगे पहुँचे तो थानेदार गाँव को आते मिले। मैं उतर गया। थानेदार मुझे पहचान गया। बोला—पंडित जी, कहाँ इन बेवकूफों से आपका पाला पड़ा। आप बेफ़िक्र गुरुकुल चले जाइये। अब तक रात्रि के १२-१ बज चुके थे और मेरी पत्नी परेशान थी। घर पहुँचने पर सारी कथा सुनाई और सब निश्चिन्त होकर सो गये।

इस घटना को याद कर-कर मैं सोचता रहा कि अपने देश की क्या दुर्दशा है। ग़रीबी इतनी है कि पिता मर जाय तो मर जाय, उसकी मुसीबत के फलस्वरूप अगर भैंस ख़रीदी जा सकती है तो भैंस का ख़रीदना पहले, बाप का जिन्दा रहना या न रहना पीछे।

इस घटना के हो जाने के बाद मैं दो-चार महीने देहरादून नही गया क्योंकि वहाँ जाने का रास्ता वही था। एक दिन मैंने वहाँ के मुखिया को पत्र लिखकर पूछा कि वह ग्वाला जिन्दा है या मर गया है। पत्र का उत्तर आया कि वह तो बिल्कुल भला-चंगा है। यह जानकर कि वह भला-चंगा है मैने अपनी कर्नल की वर्दी पहनी। ऐन कर्नेली वेश में मैं देहरादून चल दिया। उस गाँव मे जब पहुँचा तब एक कर्नल को देखकर गाँव वाले इकट्ठे हो गये। मैंने पूछा कि क्या दो महीने हुए यहाँ कोई वाकया हुआ था जिसमे एक आदमी को भैंस के सड़क मे से गुज़र जाने पर चोट लगी थी। वे बोले—हाँ, हुआ था। मैंने कहा, उस ग्वाले को बुलाओ। ग्वाले को और उसके बच्चे को बुलाया गया। मैंने सिर से टोपी उतारी। टोपी उतारते ही वे समझ गये कि मैं वही हूँ जिसकी गाड़ी को उन्होंने तोड़ा था। मैंने उन्हें समझाया कि मैं उनका हरजाना देने के लिए तैयार था परन्तु उससे पहले एक जान बचाना चाहता था, परन्तु वे एक हरिजन की जान बचाने की अपेक्षा ५०० रुपये लेने को ज्यादा अहमियत देते थे।

जब मैं दोबारा गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता नियुक्त हुआ तब श्री हरगोपाल सिंह जी के प्रयत्न से गुरुकुल मे एन० सी० सी० का संगठन हो चुका था और जिस विश्वविद्यालय मे यह सगठन चल रहा था उसका वाइस चांसलर कर्नल की उपाधि से अलंकृत किया जाता था। इस आधार पर सरकारी गज़ट मे सरकार द्वारा सूचित किया गया कि मैं 'कर्नल' हूँ, इस आधार पर मैंने कर्नल के रूप मे कई सरकारी कार्यों मे भाग लिया। उदाहरणार्थ, गणतंत्र दिवस पर मैने देहरादून मे कर्नल के रूप फ़ौज की सलामी ली।

जब मैं दोबारा गुरुकुल काँगड़ी का मुख्याधिष्ठाता बना उन दिनो तीन घटनाएँ ऐसी हुई जिन्हें मैं अब तक भुला नही सका। पहली घटना गुरुकुल की व्यवस्था के सम्बन्ध मे थी, दूसरी घटना का सम्बन्ध गुरुकुल में यूनियन बनाने के साथ था जिसने पृथक्-पृथक् दो घटनाओं का रूप धारण कर लिया। मैं इन तीनो का यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहा हूँ।

पहली घटना का गुरुकुल की व्यवस्थापिका से सम्बन्ध था। अब तो आयुर्वेद महाविद्यालय गुरुकुल विश्वविद्यालय से पृथक् हो चुका है, परन्तु पूर्व-काल में यह गुरुकुल का ही अंग था। गुरुकुल आयुर्महाविद्यालय में बाहर से आये रोगियों की चिकित्सा का भी प्रबंध था जिसका संचालन डा० बेलीराम करते थे। उस समय की व्यवस्थापिका सभा के प्रधान प्रो० रामसिंह थे। सभा के अनेक सदस्य थे जिनमें पं० बुद्धदेव जी जो पीछे जाकर स्वामी समर्पणानन्द हो गये, वे भी सभा के सदस्य थे। किसी व्यक्ति ने सभा-प्रधान प्रो० रामसिंह जी को डा० बेलीराम जी की शिकायत भेजी, जिस शिकायत को प्रो० रामसिंह सभा में रखने लगे। इस पर मैंने एतराज किया और कहा कि शिकायत मेरे पास आनी चाहिए, सभा-प्रधान के पास नहीं। अगर कोई व्यक्ति सभा-प्रधान के पास भी मेरे स्टाफ की बाबत शिकायत भेजता है, तो सभा-प्रधान का कर्तव्य है कि वह उस

शिकायत को मेरे पास भेजे, सभा-प्रधान सीधा इस शिकायत को सभा में नहीं रख सकता। इस पर प्रो० रामसिंह जी गर्म हो गये और कहने लगे कि वे मुझे बरखास्त कर सकते हैं। यद्यपि उनका ऐसा कहना कोई तुक नहीं रखता था और मैं चुप होकर सब कुछ सुन लेता, परन्तु ऐसी असंगत बात मैं सहन न कर सका। उस समय हम दोनों के बीच ऐसी तू-तू, मैं-मैं हुई कि सभा भंग करनी पड़ी, और बुद्धदेव जी ने मुझे कन्धों पर उठा लिया और कहने लगे कि तेरे जैसा व्यक्ति ही चैलेंज का वह उत्तर दे सकता था जो तूने दिया।

दूसरी घटना का सम्बन्ध गुरुकुल में यूनियन का निर्माण था। इस समय आयुर्वेद महाविद्यालय में एक प्रोफेसर थे जिनका नाम दुर्गा सिंह था। वे जनसंघी थे। उनके साथ श्री गंगाराम ने गुरुकुल के प्रोफेसरों की एक यूनियन बनाई। मुझे जब इस यूनियन के निर्माण का पता चला तो गुरुकुल की आर्यसमाज के भवन में एक मीटिंग बुलाई गई और मैंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि इस संस्था में मैं कोई यूनियन नहीं बनने दूंगा। गुरुकुल की विचारधारा अन्य संस्थाओं से भिन्न है। यूनियन में मालिक और लेबर का सम्बन्ध होता है, गुरुकुल में गुरु-शिष्य का, पिता-पुत्र का सम्बन्ध है। हम इस संस्था में पिता-पुत्र के विचार को लेकर बैठे हैं, मालिक और मजदूर के सम्बन्ध को नहीं। मामला बिगड़ता गया और आन्दोलनकर्ताओं ने ज्वालापुर और कनखल के जन-संघियों को अपने साथ मिला लिया। चूनाँचे गुरुकुल-प्रांगण में आन्दोलनकर्ताओं की एक विशाल सभा हुई जिसमें बाहर के लोग भी शामिल थे। मैं पहले तो दूर खड़ा सब सुनता रहा, परन्तु जब मुझसे बाहर के लोगों द्वारा उकसाया गया यह आन्दोलन न सहा गया तब मैंने सभा में जाकर अपना पक्ष समझाने का निश्चय किया। प्रोफेसर लोग मुझे रोकते रहे, परन्तु मैं नहीं रुका, और सभा के बीच जाकर अपना व्याख्यान देना शुरू कर दिया। सब लोग ध्यान से मेरी बात सुनते रहे और अन्त में बिना कुछ किये सभा बर्खास्त हो गई। श्री दुर्गा सिंह को अनुशासनहीनता के कारण सभा ने गुरुकुल की सेवा से मुक्त कर दिया।

इतने में उत्सव के दिन आ पहुँचे। मैं प्रातःकाल पंडाल की तरफ जा रहा था कि श्री दुर्गासिंह मेरे पास आ पहुँचे। वे कहने लगे कि क्या आप यूनियन नहीं बनने देंगे। मैंने कहा—नहीं। इस पर वे बोले—तेरा और तेरी स्त्री का खातमा कर दिया जायगा। उत्सव पर सभा के सब सदस्य आये हुए थे। मैंने सदस्यों को सम्पूर्ण स्थिति से अवगत कराया। श्री दुर्गासिंह को सबके सामने बुलाया गया और उन्हें तत्काल गुरुकुल से चले जाने का आदेश दिया गया। इस प्रकार दुर्गासिंह का मामला तो खत्म हुआ परन्तु इसकी आग सुलगती रही।

उस समय एक साधु जो विद्यालय में काम करते थे, अनिश्चित काल के अनशन पर बैठ गये और यह माँग करने लगे कि यूनियन को मान्यता दी जाय, नहीं तो मैं आमरण अनशन पर बैठा हूँ। उन्होंने अपनी चारपाई सभा-मंडप के पास बिछवा ली ताकि दर्शक लोगों पर प्रभाव पड़े। मैंने उन्हें चारपाई सहित उठवा-कर सड़क के किनारे डलवा दिया और तदनन्तर उनका अनशन भी समाप्त हो गया।

अभी यूनियन का आन्दोलन धीमे-धीमे चल रहा था कि एक दिन डाक में मेरे पास एक चिट्ठी आयी कि तेरा सिर हाकियों से तोड़ दिया जायगा। चिट्ठी और लिफाफे का लेख भिन्न-भिन्न था जिससे स्पष्ट था कि इस षड्यंत्र में एक नहीं, दो व्यक्ति हैं। पत्र का लेख बनावटी नहीं था, सधे अक्षरों में पत्र लिखा गया था। मुझे ऐसा भान हुआ कि इस लेख को मैं पहले देख चुका हूँ और यह किसी विद्यार्थी का लेख है। थोड़े ही दिन पहले विद्यार्थियों की परीक्षाएँ हो चुकी थी, इसलिए मैंने सबके उत्तर-पत्र मँगवाये और एक उत्तर-पत्र ऐसा था जिसका लेख उस चिट्ठी के लेख से मिलता था। इन दिनों बलदेव स्नातक गुरुकुल में टिके हुए थे, मैंने उन्हें हैण्ड-राइटिंग एक्सपर्ट के पास सब-कुछ देकर उसकी लिखित सम्मति लाने के लिए भेज दिया। एक्सपर्ट की यह सम्मति आयी कि दोनों लेख एक ही व्यक्ति के हैं, यद्यपि लिफाफे पर लिखा पता किसी दूसरे व्यक्ति का है। इस सबको संग्रह करने के बाद मैं सब-कुछ भूल गया और अपने निवास-स्थान देहरादून चला गया। तब तक एक व्यक्ति के विषय में तो मुझे निश्चय हो चुका था, परन्तु दूसरे व्यक्ति को मैं नहीं जान सका था। मैंने सोचा, इस सबको भूल जाना ही उचित है क्योंकि कोई अपना अपराध मानने को तैयार नहीं होगा।

देहरादून गये मुझे ८-१० दिन ही हुए थे कि गुरुकुल के दो छात्र मुझे मिलने आये। एक थे श्री प्रकाशचन्द्र जी के बेटे जो भीम कहलाते थे और मोटर रोकना, छाती पर पत्थर तोड़ना आदि चमत्कार दिखाते थे। दूसरे एक विद्यार्थी थे जिन्हें मैं नहीं जानता था। वे कहने लगे कि हम इन भीम के देहरादून में खेल दिखाना चाहते हैं, आप चलकर यहाँ के मजिस्ट्रेट से उसे प्रदर्शन अध्यक्ष बनने की स्वीकृति दिलवा दें। मैंने कहा, ठीक है, एक दर्खास्त लिख दो, मैं मजिस्ट्रेट से मिलकर स्वीकृति दिलवा दूँगा। उसी समय उस ब्रह्मचारी ने दर्खास्त लिखकर मुझे दे दी। दरखास्त के अक्षरों को देखकर मुझे शक हुआ कि ये अक्षर मैंने पहले देखे हैं। जिस लिफाफे का मैंने पहले जिक्र किया वह मेरी जेब में था। मैंने उसे निकाला और उस छात्र से पूछा कि इस लिफाफे पर पता तुमने लिखा है। उसने कहा—हाँ, मैंने लिखा है। फिर मैंने पूछा—इसके भीतर की चिट्ठी किसने लिखी? उसने उसी छात्र का नाम लिया जिसका मुझे पहले पता लग चुका था। इस छात्र के हाव-भाव से मुझे यह निश्चय हो गया कि इसे पता नहीं कि उस चिट्ठी मे क्या था। मैंने पूछा कि पता तुमने क्यों लिखा? उसने कहा कि मैं पोस्ट आफिस में खड़ा था। उसने मुझे कहा—पंडित जी का पता लिख दो, मैंने लिख दिया। मैंने यह सब कुछ उसी समय उससे लिखित मे ले लिया।

इसके बाद मैं गुरुकुल पहुँचा और पत्र-लेखक छात्र के सामने उसका धमकी-भरा पत्र, उसकी उत्तर-पुस्तिका, हैण्ड एक्सपर्ट की रिपोर्ट और देहरादून आये छात्र का बयान रख दिया और कहा कि या तो सब-कुछ स्वीकार करते हुए क्षमा माँगो वर्ना तुमको रस्टिकेट करके अभी निकाल दिया जायेगा। उसने क्षमा माँगी और उसे माफ़ कर दिया गया।

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की यह विशेषता है कि हम विद्यार्थी का सुधार चाहते हैं, बदला नहीं।

मेरा जीवन अधिकतर साहित्य के क्षेत्र में बीता। यद्यपि आजकल के साहित्यिक मूर्धन्यों से अधिक परिचय नहीं हुआ, तब भी अनेक दिवंगत तथा कुछ जीवित साहित्य-धुरंधरों को आज भी स्मरण करता हूँ। जब मैं बैंगलौर मे था, तब एक ब्रह्मचारी वेशधारी युवक मेरे पास आ धमके। यह उन दिनों की बात है जब कलकत्ते मे कांग्रेस का अधिवेशन श्रीमती एनीबेसेन्ट की अध्यक्षता मे हुआ था। ये कलकत्ता से कांग्रेस के अधिवेशन को देखकर आये थे, इनका मुझसे कोई परिचय नही था, परन्तु फिर भी आ पहुँचे। इसने यह बतलाया कि कलकत्ते से कांग्रेस के अधिवेशन की धूमधाम देखकर आ रहे हैं और मेरी कांग्रेस-निष्ठा सुनकर मेरे पास कुछ दिन ठहरना चाहते हैं। इन्होने अपना नाम-धाम तक नही बतलाया, परन्तु इनके ब्रह्मचारी शुभ्र वेश को देखकर मैंने इन्हें अपने पास ठहरा लिया। इनसे अनेक विषयो पर चर्चा होती रहती थी, परन्तु अन्त तक पता नही चला कि ये कौन थे।

बरसों-पर-बरस बीत गये। मैं गुरुकुल चला आया। वही काम करने लगा। आर्यसमाजों के उत्सवों मे जाया करता था, व्याख्यान देकर चला आता था। अब याद नही रहा कि किस आर्यसमाज के उत्सव मे मैं गया था, वहाँ सुना कि एक शुभ्र वस्त्रधारी ब्रह्मचारी आये हैं जो आर्यसमाज पर अत्यन्त उत्तम तथा युक्ति-गर्भ व्याख्यान देते हैं। इतना ही सुना था, किन्तु उनके विषय मे अधिक जानने की उत्सुकता नही दिखलाई।

फिर कई वर्ष बीत गये। प्रातः लाहौर जाया करता था। एक दिन लाजपत भवन की लाइब्रेरी में किसी ग्रन्थ को ढूंढ रहा था कि एक गेरवे वस्त्रधारी साधु भी पुस्तकों की तलाश में वहाँ पधारे। कोई पढ़ा-लिखा साधु होगा—इतना भर सोचा कि वह साधु मुझे देखकर मेरे निकट आकर पूछने लगे—क्या आप सत्यव्रत हैं? मैंने उत्तर दिया—मैं सत्यव्रत हूँ। फिर बोले—क्या आप कभी बैंगलौर में भी थे? मैंने कहा—हाँ, बरसों बीत गये जब मैं बैंगलौर में था। फिर बोले—तब आपके पास सफ़ेद वस्त्रधारी एक युवक आया था, फिर उस युवक की बाबत आपने आर्यसमाज से एक युवक की व्याख्यान देने की बात सुनी थी, वह युवक मैं ही हूँ, और अब राहुल सांकृत्यायन के नाम से जाना जाता हूँ। इस दीर्घकाल में राहुल जी का नाम सर्वविदित हो गया था, और मेरे सामने उनके इस रूप की पुरानी कहानी फ़िल्म की तरह घूम गई।

राहुल जी के विषय मे लिखते हुए उनके सम्बन्ध में दो घटनाएँ विशेष तौर पर याद आयी हैं। एक समय था जब उन्होंने मसूरी में अड्डा बनाया था। अनेक पुस्तकें लिख चुके थे, अनेक हस्तलेख उनके छपने को पड़े थे। मैं भी तब तक अनेक ग्रन्थ लिख चुका था, अनेक छप चुके थे। उन्होंने किसी व्यक्ति के हाथ सन्देशा भेजा कि आप एक लिथो प्रैस खरीद लो जिसमें धन की सहायता वे करेंगे और हम दोनों को अपनी पुस्तकें छपवाने के लिए न तो प्रकाशकों का, न छापेखाने वालों का मुँह देखना पड़ेगा। मैं इस झंझट में नहीं पड़ना चाहता था इसलिए यह प्रस्ताव बनकर ही रह गया।

दूसरी घटना कलकत्ते की है। मैं आर्यसमाज के उत्सव पर कलकत्ते गया हुआ था। स्वामी ओमानन्द जी भी वहाँ पधारे थे। हमे वहाँ पता लगा कि राहुल जी किसी अस्पताल में बीमार पड़े हैं। हम दोनों उन्हें देखने वहाँ पहुँचे। मैंने उन्हें कहा—मैं 'सत्यव्रत' हूँ। बोले 'स'····'स'···कौन-सा 'सत्'। इतिहास उनके मस्तिष्क में इतना घर कर गया था कि वे 'स' से 'सत्' ही समझ सके, अन्यथा उन अन्तिम दिनों में न वे किसी को पहचान सकते थे, न सिलसिलेवार किसी से बात कर सकते थे। राहुल जी अब परलोक सिधार चुके हैं यद्यपि वे परलोक को नहीं मानते थे।

दूसरे साहित्यकार जिनसे मेरा परिचय था श्री प्रेमचन्द जी थे। प्रेमचन्द जी से परिचय होना मैं गौरव की बात समझता हूँ। उनसे परिचय तब हुआ जब वे लखनऊ में वहाँ के प्रसिद्ध होमियोपैथ डा० प्यारेलाल के घर किरायेदार के रूप में रहते थे। डा० प्यारेलाल की पुत्री मेरे श्वसुर के भाई के साथ विवाहित थी। यद्यपि डा० प्यारेलाल दिवंगत हो चुके थे, तथापि उनके पुत्र होमियोपैथी करते थे। प्यारेलाल जी के दामाद महोदय को मैं 'ताऊ जी' कहा करता था और जब लखनऊ आता था तब उस परिवार से मिलता था। प्रेमचन्द जी भी वहाँ रहते थे इसलिए उनसे भी संपर्क हो जाता था। वे बड़े सीधे-सादे व्यक्ति थे। थैला लेकर बाजार जाते और उसमें साग-सब्जियाँ भरकर लाते थे। इतने बड़े साहित्यकार होते हुए भी गरीबी का जीवन व्यतीत करते थे। उन दिनो मैंने उनकी लिखी पुस्तक 'रंगभूमि' पढ़ी थी। गरीब लेखक ने अपने ग्रन्थ में गरीब पात्रों का जो चित्र खींचा उसे गरीबी में जीवन बिताने वाला व्यक्ति ही खींच सकता था। उसके सालों बाद मेरा उनसे बनारस में साक्षात्कार हुआ जब वे 'हंस' पत्र का सम्पादन कर रहे थे और एक प्रेस को चला रहे थे। इस दूसरी बार और पहली बार के अन्तराल में मैंने उनके लिए 'रंगभूमि' पर एक लेखक द्वारा उन पर किये गये आक्षेपों का उत्तर बनारस से प्रकाशित होने वाले दैनिक पत्र 'आज' में दिया था जिससे उनकी और मेरी जानकारी मे कुछ निकटता आ गई थी। वह समालोचक अवध उपाध्याय थे जिन्होंने वेनिटीफेयर की नकल कहकर इस कृति का अवमूल्यन किया था। समालोचक का कहना था कि 'रंगभूमि' कोई स्वतंत्र, मौलिक उपन्यास नही है। इसके पात्र एक अंग्रेजी उपन्यास से लिए गये हैं। मैंने 'रंगभूमि' तथा उस अंग्रेजी ग्रन्थ के पात्रों की तुलना करते हुए लिखा था कि इस प्रकार की पात्रों की समता किन्हीं भी दो ग्रन्थों मे पायी जा सकती है। एक प्रकार के विषय पर लिखे गये किन्हीं भी दो ग्रन्थों को लेकर इनके स्वतंत्र लेखन को चैलेन्ज नहीं किया जा सकता। उस समय भी प्रेमचन्द जी का जीवन गरीबी का जीवन था। मैंने गुरुदत्त के वार्षिकोत्सव पर 'हिन्दी-सम्मेलन' कर उसका उन्हें सभापति बनाया था। उनका जीवन इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण था कि गुदड़ी मे भी लाल छिपा होता है।

तीसरे साहित्यकार जो अब तक जगत प्रसिद्ध हो चुके हैं जो प्रेमचन्द जी के अत्यन्त निकट थे, श्री जैनेन्द्र कुमार से मेरा परिचय तब हुआ जब वे गुरुकुल में अपने श्वसुर के पास कुछ दिन रहे थे। उनके श्वसुर गुरुकुल विद्यालय विभाग में हैडमास्टर थे और जल-चिकित्सा के प्रेमी तथा गांधी जी के भक्त थे। एक दिन गुरुकुल जन्मोत्सव हो रहा था, प्रो० रामदेव जी अध्यक्षता कर रहे थे। अनेक वक्ताओं ने भाषण दिये। जैनेन्द्र जी भी बोले, उनके बाद मैं भी बोला। जैनेन्द्र जी ने जो कुछ कहा वह सम्पूर्ण रूप में मुझे स्मरण नहीं, परन्तु इतना स्मरण है कि उन्होंने गुरुकुल के स्नातकों की आलोचना की और कहा कि स्नातक लोग जीवन में सफल

नही कहे जा सकते। मैं भी बोला। मैंने कहा कि लोग स्नातकों को मोम से बना एक पुतला समझते हैं। मोम के पुतले की नाक टेढ़ी है, बाल ठीक नहीं, शरीर मे लचक नहीं। वे नहीं समझते कि गुरुकुल के स्नातक मोम के बने पुतले नहीं, जीते-जागते व्यक्ति हैं। वे ठीक ऐसे व्यक्ति हैं जैसा दुनिया का कोई भी व्यक्ति हो सकता है। उनके कुछ अवगुण हैं तो कुछ गुण भी हैं। जब सभा समाप्त हुई तब जैनेन्द्र जी मेरे साथ हो लिए और कहने लगे—आपने मेरी हँसी अच्छी उड़ाई। मैंने कहा—आपने बात ही ऐसी कही थी। उसके बाद एक-दो बार मेरी उनसे दिल्ली में दरियागंज मकान पर भेंट हुई जहाँ वे रहते थे।

चौथे साहित्यकार यशपाल हैं जो सशस्त्र क्रान्तिकारी के तौर पर प्रसिद्ध हैं। ये कुछ साल मेरे साथ गुरुकुल में पढ़े थे। मैं दो-एक बार उनसे लखनऊ में मिला था। मैंने उनकी एक पुस्तक पढ़ी थी जिसमें उन्होंने अपने प्रारम्भिक जीवन में गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण का उल्लेख किया है और मेरा जिक्र करते हुए मुझे कठमुल्ला सरीखा बतलाया है। यद्यपि मेरे विषय में उनके शब्द तो ये नहीं हैं, परन्तु उनका भाव कुछ ऐसा ही है। इसमें सन्देह नहीं कि मैं विचारों तथा आचार में कुछ ऐसा ही हूँ, परन्तु मैं समझता हूँ कि गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करने के कारण यह मेरी एक विशेषता है, यद्यपि सर्व-साधारण का यह अनुभव है कि गुरुकुल के स्नातक अत्यन्त स्वतंत्र विचारक होते हैं। मैं भी अगर कट्टर हूँ तो कुछ विशेष बातो मे, अन्यथा मैं कट्टर आर्यसमाजी होते हुए भी स्वतंत्र विचारक हूँ।

पाँचवें साहित्यकार जिनके साथ मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा दुलारेलाल भार्गव हैं। दुलारेलाल भार्गव एक मासिक पत्र निकाला करते थे जिसका नाम 'सुधा' था। प्रत्येक नवीन लेखक चाहा करता है कि उसका लेख प्रकाशित हो। दुलारेलाल उदीयमान लेखकों को पहचानते और उनके लेखों को 'सुधा' मे प्रकाशित करते थे। वे सम्पन्न व्यक्ति थे, एक प्रेस के मालिक थे, नवीन लेखकों के आश्रयदाता थे, हिन्दी के सब समारोहों मे भाग लेते थे, इसलिए उनके चमकते पत्र के साथ उनका नाम भी हिन्दी-साहित्य जगत् मे प्रसिद्ध होने लगा, पत्र भी। यह प्रसिद्धि ज्यों-ज्यों बढ़ती गई, त्यों-त्यों उनका नाम भी प्रसिद्ध हो गया। उन्ही दिनों उन्होने 'दुलारे दोहावली' प्रकाशित की जिसे वे 'बिहारी सतसई' से कम नहीं समझते थे। जो साहित्यिक समारोह होते उनमें उन्हें प्रतिष्ठित स्थान दिया जाता था क्योंकि वे उनमें भाग ही नहीं लेते थे, दान रूप मे पैसा भी देते थे। हिन्दी-जगत् में एक युग आया जिसे मैं दुलारेलाल भार्गव युग कह सकता हूँ। एक बार दुलारेलाल जी ने मुझे सूर्य-कान्त त्रिपाठी निराला का एक हस्तलिखित ग्रन्थ देखने को दिया। उस समय श्री निराला जी एक प्रसिद्ध और चोटी के कवि माने जाते थे। यह ग्रन्थ गद्यात्मक था। मैं उसके अनेक पन्ने पढ गया, परन्तु मुझे तो कुछ समझ नही पड़ा। मैंने दुलारे जी को कहा—यह तो सब ऊल-जलूल है। बोले—आजकल निराला जी मानसिक रूप से कुछ विक्षिप्त से लगते हैं।

दुलारेलाल जी ने मेरे अनेक लेखों को अपनी पत्रिका में प्रकाशित किया जिससे पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखने का मेरा उत्साह बढ़ता गया। इस समय मैंने 'सुधा', 'चाँद', 'आज', 'अभ्युदय' आदि अनेक पत्रों में लेख लिखे। मेरे लेखों को वे शुद्ध करके छापते थे। दुलारेलाल जी मुझे कहा करते थे कि सर्वनाम के पीछे विभक्ति आये तो उसे शब्द के साथ मिलाकर लिखना चाहिए, अलग से नहीं। उदाहरणार्थ अगर 'उसने' लिखना हो, तो 'उसने' लिखना चाहिए, 'उस' और 'ने' को अलग से नहीं, परन्तु मैंने अपने लेखों में इन बातों पर कभी ध्यान नहीं दिया, जैसा लिखा गया, वैसा लिख दिया। व्याकरण के विषय में तो मेरा वही विचार रहा जो नैयायिकों का है। नैयायिक कहा करते हैं: 'अस्माकेषां नय्यायिकेषां तात्पर्यं न सु शब्दिनि'। इस वाक्य का एक-एक शब्द व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है, परन्तु इससे कहने वाले का अभिप्राय प्रकट हो जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि व्याकरण का सदा परिहार कर देना चाहिए, इसका इतना ही अर्थ है कि भाव प्रकट करते हुए व्याकरण की एक-आध अशुद्धि हो जाय, तो समालोचकों को चिल्लाने नहीं लगना चाहिए।

छठे साहित्यकार जिनसे मेरा स्नातक बनते ही संपर्क हुआ रघुपति सहाय फिराक थे। मैं १९१९ में स्नातक हुआ। उन दिनों मास्टर मुखराम जी हमारे अनेक अध्यापकों में से एक थे। श्री मुखराम जी का गोरखपुर में अधिक आना-जाना था। गुरुकुल में दो विद्यार्थी गोरखपुर के थे। उनके पिता पशुओं के डाक्टर थे, जो गोरखपुर में रहते थे। श्री मुखराम जी ने गुरुकुलोत्सव होने से पूर्व और मेरे स्नातक बनने से पहले जो महीने-दो महीनों का समय था उसमें मुझे गोरखपुर उन डाक्टर साहब के पास भेज दिया। रघुपति सहायक भी गोरखपुर के थे। वे उस समय युवा ही थे, और उन्हें डिप्टी कलेक्टरी के पद का आफर आया था। महात्मा गांधी के आन्दोलन की अभी शुरुआत ही थी। रघुपति सहाय ने डिप्टी कलेक्टरी का पद लेने से इन्कार कर दिया। इस त्याग के कारण उनकी गोरखपुर में बड़ी धूम मच गई। उन्हें जब मालूम हुआ कि गोरखपुर में गुरुकुल का एक छात्र आया हुआ है तो वे मेरे पास आने लगे। घण्टों ईश्वर, वेद आदि की चर्चा होने लगी। तब से मेरा उनसे परिचय बढ़ता गया। इस बीच वे कांग्रेस के मंत्री भी बने, जेल भी गये। जेल से भी वे मुझे विचारोत्तेजक पत्र लिखते रहे। फिर बरसों तक मेरा उनका सम्बन्ध टूटा रहा। उसके बाद उनका साहित्यिक जीवन प्रारम्भ हुआ। साहित्य की दृष्टि से वे उच्च कोटि के साहित्यकार थे। डिग्री तो बी० ए० तक की ही थी परन्तु फिर भी श्री अमरनाथ झा की कृपा से इलाहाबाद यूनीवर्सिटी में अंग्रेज़ी के अध्यापक के तौर पर ले लिए गये। मेरी पत्नी इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उनकी क्लास में पढ़ती थी। वे कहा करती थी कि यद्यपि डा० अमरनाथ झा की रघुपति सहाय पर कृपा-दृष्टि रहा करती थी, तो भी वे क्लास में झा साहब की खिल्ली उड़ाया करते थे। अब ये तीनों दिवंगत हो चुके हैं। मैं जब कभी इलाहाबाद जाता तब इनसे ज़रूर मिलता। मुझे देखकर कहा करते थे—आइये, वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानने वाले। टूटी-फूटी चारपाई पर लेटे सिगरेट पर सिगरेट फूंका करते। उर्दू साहित्य के उच्च कोटि के कवि तथा लेखक थे। इतने उच्च कोटि के कि इन्हें एक लाख के ज्ञानपीठ पुरस्कार से 'गुले नग्मा' नामक काव्यकृति पर सम्मानित किया गया। मेरी इनमें इतनी ही दिलचस्पी रही कि मैं इन्हें युवापन से जानता था। उर्दू के भक्त, परन्तु हिन्दी की छीछालेदर करने वाले महान् साहित्यकार।

यद्यपि मेरा अनेक साहित्यकारों से परिचय तथा सम्पर्क रहा, पं० पद्म सिंह शर्मा, पं० शालिग्राम शास्त्री, पं० किशोरीदास वाजपेयी जो गुरुकुल में ही अध्यापक रहे, प्रसिद्ध गल्प-लेखक पं० चन्द्रगुप्त विद्यालंकार जो मेरे शिष्य, मेरे मित्र, मेरे सहवासी रहे, श्री देवीदत्त शुक्ल जो सरस्वती के सम्पादक रहे—तो भी इन सबकी चर्चा करके मैं इस प्रसंग को बढ़ाना नहीं चाहता, सिर्फ डा० अमरनाथ झा की संक्षिप्त चर्चा करने के बाद इस प्रसंग को समाप्त कर दूंगा।

डा० अमरनाथ झा साहित्यकार के रूप में प्रसिद्ध नहीं हैं, परन्तु उनके असाधारण व्यक्तित्व का मेरी पत्नी के उनकी शिष्या होने के कारण मुझ पर अमिट प्रभाव पड़ा। अध्यापक अपने शिष्य के प्रति क्या कुछ कर सकता है—यह मैंने उनके जीवन में देखा। मेरी पत्नी ने इलाहाबाद से अंग्रेज़ी में एम० ए० किया था। वे झा साहब की शिष्या थी। अभी वे एम० ए० करके घर लौटी ही थी कि झा साहब का पत्र आया कि जयपुर में चीफ इन्स्पैक्ट्रेस आफ़ एज्यूकेशन की पोस्ट खाली हुई है, चाहो तो मैं तुम्हें वहाँ भिजवा दूं। झा साहब का अपने शिष्यों की उन्नति की तरफ सदा ध्यान रहता था जो प्रत्येक गुरु को अपने शिष्य के प्रति चाहिये। वे उनके साथ सदा सम्पर्क स्थापित रखते थे और उन्हें यथासमय, यथोचित सहायता देते थे। हम लोग गर्मियों में मसूरी जाया करते थे। वे जब भी मसूरी आते हम से ज़रूर मिलते। कभी-कभी हमारे साथ बैठकर 'वर्ड मेकिंग' खेल भी खेलते। झा साहब के विषय में कहा जाता है कि वे अपने विद्यार्थियों की आवश्यकता पड़ने पर आर्थिक सहायता भी करते थे। पता चला कि जब उनका देहान्त हुआ तब उनका किसी भी बैंक में कोई रुपया नहीं था—ऐसे थे महान् व्यक्तित्व के झा साहब जिनका हर शिष्य उन्हें याद करता रहेगा। यद्यपि उनका मेरा गुरु-शिष्य का सम्बन्ध नहीं रहा, तो भी क्योंकि मेरी पत्नी उनकी शिष्या थी, इसलिए मैं भी अपने को उनका शिष्य

ही मानता रहा। वे स्वयं आगे-आगे साहित्यकार नहीं थे, परन्तु साहित्यकारों के बनाने वाले, उनके गुरु थे।

१४. मैं राज्य-सभा का मनोनीत सदस्य बनाया गया

राज्य-सभा के एक नॉमिनेटेड सदस्य थे मामा वरेरकर। राज्य-सभा में सम्पूर्ण राष्ट्र से १२ सदस्य-राष्ट्रपति द्वारा नामजद किये जाते हैं। इन्हें इलेक्शन नहीं लड़ना पड़ता, ये अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र की विशेषता के कारण राष्ट्रपति द्वारा नॉमिनेट किये जाते हैं। कोई साहित्य के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट होने के कारण, कोई समाज-क्षेत्र के कारण, कोई कला के कारण नामजद किये जाते हैं। इनमें साहित्य के कारण नामजद किये गये महाराष्ट्र के मामा वरेरकर थे। उनकी १९६६ में मृत्यु हो गयी। उस समय श्री लालबहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री थे। प्रधानमंत्री की सिफ़ारिश पर राष्ट्रपति नामजद करता है। मामा वरेरकर की मृत्यु के उपरान्त जो जगह रिक्त हुई उसमें राष्ट्रपति श्री राधाकृष्णन ने मुझे नामजद किया। इसमें मुझे चुनाव का कोई खर्च नहीं करना पड़ा और मैं राष्ट्रपति द्वारा राज्य-सभा का सदस्य मनोनीत हो गया। इसकी सूचना मुझे समाचार-पत्रों द्वारा मिली। मैं अपने घर में हिन्दुस्तान टाइम्स पढ़ रहा था। मेरी दृष्टि इस आइटम पर नहीं गयी, परन्तु मेरी पत्नी ने चिल्लाकर कहा, अरे तुम राष्ट्रपति द्वारा राज्य-सभा के सदस्य मनोनीत किये गये हो! मैंने समझा वह मजाक कर रही है। मैं बोला, हँसी मत, मुझे बनाने की कोशिश मत करो। उसने अखबार मेरे हाथों में फेंककर कहा—देखो, क्या छपा है। सचमुच मेरा नाम नामजद कालम में था। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। ऐसा लगा कि अपने-आप झोली में आम गिर गया। परन्तु फिर सोचा, जब तक सरकारी कागज न आये तब तक अखबारी बात पर कैसे विश्वास किया जाय! इतने में पण्डित धर्मपाल जी, जो मेरे सहायक थे, गुरुकुल से पार्लियामेंट का तार लेकर पहुँच गये। उनका आग्रह था कि मैं गुरुकुल चलूँ, वहाँ मेरा सत्कार हो, और तब वहाँ से आकर पार्लियामेंट में जाऊँ। मैं उनके साथ हरिद्वार चल पड़ा। सारा गुरुकुल, ज्वालापुर, हरिद्वार पुष्प-मालाओं से सजा था। बैंड-बाजा बज रहा था। धूमधाम से मेरा जुलूस निकाला गया क्योंकि भारत-भर में से १२ असाधारण व्यक्तियों में से मेरी गणना राष्ट्रपति ने की थी जो गुरुकुल के गौरव का सूचक था। मैं साढ़े तीन वर्ष तक राज्य-सभा का सदस्य रहा। इस समय भूपेश गुप्ता, गोपालसिंह, अकबर अली, राजनारायण, सप्रू, गोपाल स्वरूप-पाठक, उमाशंकर दीक्षित आदि भी राज्य-सभा के सदस्य थे। मैं १९६६ तक राज्य-सभा का सदस्य रहा।

इस समय मैंने जो विशेष कार्य किया वह गुरुकुल काँगड़ी को विश्वविद्यालय की मान्यता दिलाने का था। इस समय शिक्षा मंत्री श्रीमाली थे। लोक-सभा के सदस्य श्री प्रकाशवीर शास्त्री थे। मैंने एक मैमोरेंडम छपवाकर पार्लियामेंट के सब सदस्यों के पास भेजा था जिसमें गुरुकुल की विशेषताओं को दर्शाते हुए पार्लियामेंट द्वारा गुरुकुल काँगड़ी को विश्वविद्यालय की मान्यता देने का आग्रह किया था। पार्लियामेंट के सदस्यों पर उसका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा था। इस प्रसंग में श्री प्रकाशवीर शास्त्री शिक्षा मंत्री श्रीमाली जी से मिले और ज्वालापुर महाविद्यालय के लिए जिसके वे स्नातक थे अपील की। श्रीमाली जी ने मुझे तथा प्रकाशवीर जी को बुलाया और इस सम्बन्ध में चर्चा की। मैंने कहा कि अगर प्रकाशवीर जी समझते हैं कि ज्वालापुर महाविद्यालय की ऐसी स्थिति है कि उसे विश्वविद्यालय घोषित कर दिया जाय तो मुझे कोई आपत्ति नहीं, मैं तो सिर्फ गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की सरकार द्वारा मान्यता चाहता हूँ। इस युक्ति पर प्रकाशवीर शास्त्री ढीले पड़ गये और सरकार ने तय किया कि एक नया बिल बनाया जाय जो उन संस्थाओं का निरीक्षण करे जिन्होंने स्वतन्त्रता-यज्ञ में योगदान दिया है और उन्हें विश्वविद्यालय की मान्यता दी जाय और यूनीवर्सिटी-ग्रांट्स कमीशन द्वारा भरपूर सहायता दी जाय। इस उद्देश्य को सामने रखकर सरकार ने गुरुकुल काँगड़ी की मान्यता के सम्बन्ध में एक कमीशन बनाया जिसके प्रधान सुप्रीम कोर्ट के रिटायर्ड चीफ़ जज श्री पतंजलि शास्त्री थे और दो अन्य

सदस्य थे—डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी तथा श्री वी० डी० शुक्ल। ये लोग गुरुकुल पधारे। मैं तथा पण्डित धर्मपाल जी विद्यालंकार जो मेरे सहायक थे उन्हें लेने लोग स्टेशन पर गये। श्री पतंजलि शास्त्री से मेरी बहुत देर तक बातचीत हुई। वे मुझसे पूछने लगे कि आप गुरुकुल के लिए विश्वविद्यालय की मान्यता क्यों चाहते हैं? अगर कोई छात्र इतिहास, अर्थशास्त्र या कोई अन्य विषय पढ़ना चाहता है तो हिन्दू यूनीवर्सिटी चला जाय, मेरठ कॉलिज चला जाय, देहरादून में डी० ए० वी० कॉलिज में चला जाय, गुरुकुल को आप यूनीवर्सिटी के तौर पर मान्यता क्यों चाहते हैं? मैंने उन्हें गुरुकुल के सम्बन्ध मे बनी फ़िल्म दिखलायी जो पण्डित इन्द्र जी के पुत्र जयन्त ने बनायी थी जिसमें विद्यार्थी गुरुकुलीय वेश में खड़ावें पहने, डंडे हाथ में लिये गुरुकुल मे प्रवेश के लिए गंगा के पुल पर से चले आ रहे थे। मैंने उन्हें कहा कि हम इतिहास आदि पढ़ाने के लिए मान्यता नही चाहते, हम प्राचीन संस्कृति को आधुनिक युग में आधुनिक विज्ञान तथा चिंतन के साथ मिलाकर उसमे वैदिक संस्कृति का पुट देकर उसे भारतीयता की भावना के साथ स्थिर रखना चाहते हैं। हमारी संस्कृति नष्ट होती जा रही है, हम उस संस्कृति को इस संस्था द्वारा जीवित रखना चाहते हैं। मेरे इन विचारो का उन पर प्रभाव पड़ा और इस कमीशन ने जो रिपोर्ट दी उसके परिणामस्वरूप गुरुकुल कांगड़ी को १९६२ मे विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त हो गयी। गुरुकुल को जिन विचारों के आधार पर मान्यता प्राप्त हुई, हम कहाँ तक उधर चल रहे हैं—इस सम्बन्ध में मेरा एक लेख इस पुस्तिका मे अन्यत्र दिया गया है।

यद्यपि गुरुकुल काँगडी को १९६२ में विश्वविद्यालय की मान्यता मिल गयी और जो प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए उन्हें यूनीवर्सिटी के ग्रेड मिलने लगे, तथापि मैंने इस द्वितीय सेवाकाल मे, जो छह वर्ष का रहा, गुरुकुल से वेतन नही लिया। मेरा छुट-पुट खर्च तो गुरुकुल पर पड़ता था, परन्तु जहाँ अन्य प्रोफ़ेसरों को यूनीवर्सिटी के ग्रेड दिये जा रहे थे वहाँ मैं न तो वाइस-चांसलर का ग्रेड लेता था, न वेतन के रूप मे कुछ लेता था। उस समय कार्यालयाध्यक्ष श्री दलजीतसिंह थे। उनसे मैंने १९६२ का अपने व्यय का प्रमाणित ब्योरा बनवाया था जो अब तक मेरे पास है। उस ब्योरे के अनुसार मेरा गुरुकुल पर व्यय इस प्रकार है जो मैं उस प्रमाणित व्यय के ब्योरे से उद्धृत कर रहा हूँ—

मार्च	—	३ रुपया, ६ पैसे
अप्रैल	—	१३४ रुपया, ६७ पैसे
मई	—	१०४ रुपया, १६ पैसे
जून	—	कुछ नहीं
जुलाई	—	१५८ रुपया, ६० पैसे
अगस्त	—	१८१ रुपया, ४७ पैसे
सितम्बर	—	१४२ रुपया, ६६ पैसे
अक्टूबर	—	८३ रुपया ६१ पैसे
नवम्बर	—	२० रुपया, २८ पैसे
दिसम्बर	—	२६ रुपया, ६६ पैसे

साल-भर का व्यय ८५८ रुपया, ५३ पैसे

दलजीतसिंह
मुख्य कार्यालयाध्यक्ष
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

१५. चन्द्रावती लखनपाल

मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती जी लखनपाल का उल्लेख इस पुस्तक मे प्रकरणानुसार जगह-जगह आ

चुका है, फिर भी मेरे जीवन की प्रधान सहयोगिनी होने के कारण उनके विषय में एक अलग जगह लिख देना उचित प्रतीत होता है। चन्द्रावती जी का जन्म एक कान्यकुब्ज परिवार में हुआ था। उनके पिता पं० जयनारायण जी शुक्ल तथा माता श्रीमती भगवान देवी जी शुक्ल थी। अब उन दोनों का देहान्त हो चुका है। जयनारायण जी दीर्घजीवी नहीं रहे, भगवान देवी जी का ९३ वर्ष में देहान्त हुआ। पं० जयनारायण जी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड बिजनौर में शिक्षा विभाग में हैड क्लर्क, श्री भगवान देवी जी बिजनौर के गवर्नमेंट मिडिल स्कूल की हैडमिस्ट्रेस थीं। दोनों क्योंकि शिक्षा के क्षेत्र में थे, इसलिए उन्होंने कन्या को उच्चतम शिक्षा देने का संकल्प किया। चन्द्रावती जी अपने भाई-बहनों में सबसे बड़ी थी। उनके अतिरिक्त ३ भाई और एक बहन थी। भाइयो के नाम हैं—शान्तिस्वरूप शुक्ल, ज्योतिस्वरूप शुक्ल तथा चेतनस्वरूप शुक्ल। बहन का नाम है—प्रभादेवी। चन्द्रावती जी का जन्म २९-१२-१९०४ को हुआ, मृत्यु २९-३-१९६९ को हुई। चन्द्रावती जी का जीवन ६५ वर्ष का रहा।

चन्द्रावती जी ने जब बिजनौर से मैट्रिक पास कर लिया तब उनके माता-पिता ने उन्हें उच्च शिक्षा के लिए इलाहाबाद के क्रौस्थवेट गर्ल्स कालेज में भेज दिया। वह युग स्त्रियों को उच्च शिक्षा देने का नहीं था। आर्य-समाज के उत्सवो में भी जहाँ स्त्रियाँ बैठती थी वहाँ उनके आगे चिक टाँग दी जाती थी। बिजनौर में तो मैंने भी यह स्वयं देखा। १९२२ मे जब महात्मा गांधी खिलाफ़त के आन्दोलन में इलाहाबाद पहुँचे तब चन्द्रावती जी ने एक डेप्यूटेशन बनाकर मोतीलाल जी नेहरू के मकान पर उनसे भेंट की और यह माँग की कि जब आप युवक विद्यार्थियों को अंग्रेजी शिक्षणालयों का बायकाट करने को प्रोत्साहित करते हैं, तब कन्याओं के लिए राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थायें क्यो नही खोलते ताकि हम लोग जो अब तक शिक्षा से वंचित रखे गये हैं, उनमे भर्ती होकर शिक्षा ग्रहण करें। महात्मा जी ने वचन दिया कि वे ऐसा करेंगे, परन्तु जब तक इस प्रकार की शिक्षा संस्थाएँ नही खुलतीं तब तक तुम इन्ही संस्थाओं से लाभ उठाती रहो। इस प्रकार वे तथा उनकी साथिनें क्रौस्थवेट गर्ल्स कालेज मे ही पढ़ती रहीं और १९३६ में उन्होने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० पास किया।

जिस साल चन्द्रावती जी ने बी० ए० पास किया उसी साल १५ जून १९२६ को उनका मेरे साथ विवाह हुआ। इस विवाह में दोनों पक्षो से खद्दर ही प्रयोग किया गया, लेन-देन एक पैसे का भी नही हुआ। दोनों परिवार जाति की दृष्टि से ब्राह्मण थे, परन्तु कन्या पक्ष के लोग कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, वर पक्ष के लोग सारस्वत ब्राह्मण थे। समाचार पत्रों के लिए कीचड़ उछालने का यह सुअवसर था। कान्यकुब्ज अपने को सारस्वतों से श्रेष्ठ कहते थे। सारस्वत अपने को शुक्लों से श्रेष्ठ कहते थे। इस घुडी को लेकर कान्यकुब्जो और सारस्वतो मे तू-तू मैं-मैं का घमासान युद्ध छिड़ा, परन्तु हम दोनो परिवार तो आर्यसमाजी थे, इसलिए हम पर इसका कुछ प्रभाव नही पड़ा। आज तो जात-पाँत को कोई पूछता ही नही, उल्टे निम्न वर्ण का होने से लाभ होता है क्योंकि हरिजनो तथा अन्त्यजों को परीक्षा में, सर्विस मे निम्न वर्ण का होने से विशेष लाभ मिलता है। जो लाभ पहले ब्राह्मण होने से ब्राह्मण वर्ग को मिलता था, वह लाभ आज हरिजन होने से हरिजनों को मिल रहा है, इसलिए स्थिति यह आ गई है कि जन्म के ब्राह्मण अपने को ब्राह्मण कहलाने की अपेक्षा हरिजन कहलाना अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि उससे कई लाभ प्राप्त होते हैं।

विवाह कराने के बाद चन्द्रावती जी ने बी० ए० के बाद एम० ए० करने की इच्छा प्रकट की और विवाह होते ही वे एम० ए० में दाखिल होने के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय के लिए रवाना हो गईं। अब वे चन्द्रावती शुक्ला न रहकर चन्द्रावती लखनपाल बन गईं। इस समय तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे एम० ए० क्लास में कोई लड़की दाखिल न हो सकती थी क्योंकि उन्हें लड़कों के साथ पढ़ना होता था, जिसकी विश्वविद्यालय स्वीकृति नहीं देता था। अब दो लड़कियाँ एम० ए० क्लास मे दाखिल हो गईं—चन्द्रावती लखनपाल तथा श्याम कुमारी नेहरू। इस बात पर भी समाचार पत्रो में बहुत बावेला मचा, किन्तु न यूनिवर्सिटी ने और न इन देवियों के माता-पिता ने इस आन्दोलन को कोई महत्त्व दिया। १९२८ मे चन्द्रावती जी श्री अमरनाथ झा की शिष्या के तौर पर जब एम० ए० की उपाधि लेकर घर लौटीं तब झा साहब का एक पत्र

आया कि जयपुर में चीफ इन्स्पैक्ट्रेस आफ एज्यूकेशन की पोस्ट खाली है, अगर चन्द्रावती जी चाहें तो वे उन्हें वह पोस्ट दिलवा सकते हैं। चन्द्रावती जी तो शुरू से समाज तथा देश सेवा के कार्य के लिए छटपटा रही थी, उन्हें पति भी ऐसा ही मिला था। उन्होंने इस पद को लेने से इन्कार कर दिया।

१६२६ के अन्त में लाहौर में कांग्रेस का बृहत् अधिवेशन हो रहा था जिसमें हम दोनों शामिल हुए। कांग्रेस का निश्चय था कि ३० दिसम्बर की रात के १२ बजे तक वाइट हाल से देश को डोमिनियन स्टेटस देने का सन्देश आ जाता है तब इस स्थिति को स्वीकार किया जायगा, अन्यथा कांग्रेस अपना ध्येय पूर्ण स्वतंत्रता घोषित कर देगी। इस अधिवेशन के सभापति जवाहरलाल नेहरू थे। जब रात के १२ बजे तक कोई सन्देश नहीं आया तब पूर्ण स्वतन्त्रता देश का लक्ष्य घोषित कर दिया गया। लोग नाचते थे, गाते थे, सत्याग्रह की लड़ाई के लिए उत्सुक थे, और हम दोनों भी सत्याग्रह के संग्राम में कूद पड़ने की भावना को लेकर घर लौटे। जनवरी १६३० से प्रारम्भ होकर हम दोनों की जीवन-धारा ने पलटा खाया और हम दोनो का लक्ष्य स्वतन्त्रता संग्राम में अपने को मिटा देना हो गया। इस सारे विवरण को मैं विस्तार से इसलिए लिख रहा हूँ ताकि पाठक समझ जायें कि किस प्रकार जीवन-धारा मोड खाती हुई किधर बह जाती है।

लाहौर से लौटकर हमने स्वतंत्रता संग्राम को उग्र रूप देने के लिए जो कुछ हो सकता था वह सब किया, अपने बहुमूल्य गर्म तथा सर्द विदेशी कपडों की होली जलाई, शराब की दुकानों पर धरना दिया, हरिद्वार की विदेशी कपडा बेचने वाली सब दुकानों के विदेशी कपडो को सीलबन्द कर दिया गया। ऐसा लगने लगा कि राज अंग्रेजों का नहीं, हमारा है। एक बस का इन्तजाम किया जिसमें गुरुकुल का महिला वर्ग चढ़कर प्रति सायंकाल हरद्वार जाता था और नारों से वहाँ के वायुमंडल को गर्म रखता था। चन्द्रावती जी के इस आन्दोलन की खबर कांग्रेस केन्द्रों में भी पहुँची, और एक दिन जब शाम को हम अपने मकान के आँगन में बैठे थे, आगरा से एक सज्जन जिनका अब नाम नारायण प्रिय है उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी (यू० पी० सी० सी०) का सन्देश लेकर पहुँचे और कहने लगे कि यू० पी० सी० सी० ने निश्चय किया है कि चन्द्रावती जी को यू० पी० सी० सी० का अध्यक्ष बनाकर जेल भेजा जाय। यू० पी० सी० सी० की बैठक कल रखी गई है, आगरा में इस बैठक को रोकने के लिए १४४ धारा लगा दी गई, इसलिए चन्द्रावती जी को आज रात की गाड़ी से आगरा चलना होगा। चन्द्रावती जी सत्याग्रह संग्राम के लिए इतनी तैयार बैठी थी कि आध घंटे में अपनी तैयारी कर रात की गाडी से आगरा के लिए चल दी और अगले दिन २० जून १६३० को आगरा मे गिरफ्तार हो गईं। मजिस्ट्रेट ने उन्हें एक साल की सजा और 'सी' क्लास दिया। समाचार पत्रों में उनकी गिरफ्तारी और 'सी' क्लास दिये जाने का समाचार पढकर मैं आगरा के लिए रवाना हो गया और मजिस्ट्रेट से उनकी स्थिति को अवगत कराया जिसके परिणामस्वरूप उन्हें 'ए' क्लास देकर लखनऊ जेल भेज दिया गया जहाँ श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित, आचार्य जुगलकिशोर की पत्नी शान्तिदेवी, श्रीमती हाथी सिंह, श्री जयप्रकाश नारायण की पत्नी आदि जेल भोग रही थी। उनके जेल से छूटने के कुछ दिन शेष रहते थे कि एक दिन मैंने अपने मकान की तरफ़ एक ताँगा आते देखा। उसमें चन्द्रावती जी बैठी थी। मैंने पूछा—अभी तो छूटने में देर थी! बोलीं—जेल में कैदी को कुछ दिनों की छूट मिलती है, उसी छूट के कारण कुछ दिन पहले छोड़ दी गई हूँ। हम लोग बातचीत कर ही रहे थे कि अचानक तारघर से एक व्यक्ति तार लेकर आया। उसमे लिखा था—माता जी सख्त बीमार हैं, लौटती डाक चले आओ। मुझे आश्चर्य इसी बात का है कि इधर चन्द्रावती जी घर पहुँचीं, और उधर उसी समय माता जी की बीमारी का सवद्दी पहुँचने का तार आया। हम दोनों उसी दिन रात की गाड़ी से लुधियाने के लिए रवाना हो गये, और हमारे गाँव पहुँचने के दो घंटे बाद माता जी के प्राण-पखेरू उड़ गये। जीवन में ऐसी विलक्षण घटनाओं को देखकर निश्चय होता है कि सृष्टि का विधान कोई परमोच्च शक्ति करती है। माता जी अक्सर मुझे कहा करती थीं कि वे मेरे कन्धों पर चढ़कर ही परलोक सिधारेंगी। ऐसा ही हुआ, यहाँ तक हुआ कि मेरी पत्नी भी उसी समय छूटकर आयी जब हम दोनों उनकी दाह-क्रिया कर

सकते थे, भाई-बहनों में कोई उपस्थित नहीं हो सकता था।

चन्द्रावती जी के जेल से छूटने के बाद हम दोनों फिर से सत्याग्रह आन्दोलन में जुट गये। पहले हमारे आन्दोलन का केन्द्र हरिद्वार था, अब हमारा आन्दोलन विस्तृत रूप धारण कर गया। अब हमारे आन्दोलन का केन्द्र रुड़की हो गया। चन्द्रावती जी के उद्योग से गुरुकुल का महिला-वर्ग भी इसमें शामिल हो गया। विशेष रूप से पं० धर्मदत्त जी की धर्मपत्नी ने इसमें विशेष भाग लिया। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के जत्थे बना दिये गए जो रुड़की और सहारनपुर के गाँव-गाँव जाकर कांग्रेस का सन्देश सुनाने लगे। इस बीच रुड़की में एक विशाल कान्फ्रेन्स का आयोजन किया गया जिसमें दस हजार ग्रामवासी उपस्थित हुए। ग्रामवासियों में स्व-राज्य के लिए बड़ा जोश था। वे लाठी से लड़ना तो जानते थे, सत्याग्रह करते हुए लाठी खाना नहीं जानते थे। इस कान्फ्रेंस में ग्रामवासियों की तरफ से लाठियाँ चलीं, और पुलिस की तरफ से गोली चली। परिणामस्वरूप मेरे नाम वारंट जारी हो गया और मैं गुरुकुल में १७.११.३० को गिरफ्तार कर लिया गया। मुझे एक साल की सजा दी गई, परन्तु इस बीच गांधी-इरविन पैक्ट के कारण ११.३.३१ को अन्य कैदियों की तरह मैं भी छोड़ दिया गया।

चन्द्रावती जी ने अपने विद्यार्थी जीवन में एक पुस्तक लिखी थी जिसका नाम था 'मदर इंडिया का जवाब'। एक अंग्रेज महिला ने जिसका नाम मिस मेयो था भारत को बदनाम करने के लिए 'मदर इंडिया' नाम की एक पुस्तक लिखी थी, चन्द्रावती जी ने इसी पुस्तक का जवाब लिखा था। मिस मेयो की पुस्तक जितनी प्रसिद्ध हुई उतनी ही चन्द्रावती जी की पुस्तक 'मदर इंडिया का जवाब' प्रसिद्ध हुई। चन्द्रावती जी की प्रवृत्ति जितनी देश-सेवा की तरफ थी, उतनी ही साहित्य-लेखन की तरफ थी। १९३३ में उन्होंने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम 'स्त्रियों की स्थिति' था। इस पुस्तक पर उन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 'सेकसरिया पारि-तोषिक' मिला। यह सम्मेलन दिल्ली में हुआ था, वे इस समय बनारस विश्वविद्यालय में बी० टी० में दाखिल हो गई थीं, इसलिए इस समारोह में भाग नहीं ले सकीं। बी० टी० में पढ़ते हुए उन्होंने 'शिक्षा मनोविज्ञान' नामक एक और ग्रन्थ लिखा जिस पर भी उन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन का एक दूसरा पुरस्कार मिला। इस पुस्तक के विषय में ट्रेनिंग कालेज के प्रिंसिपल श्री लज्जाशंकर झा ने लिखा कि इस पुस्तक को लिखकर चन्द्रा-वती जी ने वरनेतु के शिष्य कौंस के समान अपनी शिक्षा-संस्था को १४ करोड़ की दक्षिणा चुका दी है। अब ये पारितोषिक समाप्त हो गये हैं क्योंकि हिन्दी साहित्य सम्मेलन पार्टीबाजी का शिकार हो गया है। हमारे इस छोटे से परिवार की यह विलक्षणता है कि हम दोनों सत्याग्रह में जेल गए, हम दोनों को भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला—चन्द्रावती जी को 'शिक्षा मनोविज्ञान' पर और मुझे 'समाज-शास्त्र के मूल तत्त्व' पर, और हम दोनों राज्य-सभा के सदस्य रहे।

गुरुकुल सेवा से निवृत्त होकर जब मैं बम्बई चला गया, तब चन्द्रावती जी भी मेरे साथ बम्बई आ गई, और हम बम्बई रहने लगे। बम्बई कुछ साल रहने के बाद जब भाइयों का विभाजन हो गया तब हम उत्तर भारत लौट आये, चन्द्रावती जी कन्या गुरुकुल देहरादून में आचार्या के रूप में, और कुछ साल बाद मैं गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के मुख्याधिष्ठाता के रूप में जिसका उल्लेख इस पुस्तक में अन्यत्र किया गया है।

मैंने उक्त सब विस्तार से इसलिए लिख दिया है क्योंकि ऊपर जो कुछ लिखा गया है वह गुरुकुल के इतिहास का अंग है, परन्तु लिखित रूप में यह कहीं उल्लिखित नहीं है। सत्याग्रह में गुरुकुल काँगड़ी के अनेक स्नातकों ने भाग लिया जिनमें से मुख्य हैं—श्री रामेश्वर, श्री जयदेव, श्री पूर्णचन्द, श्री धर्मवीर, श्री सत्यदेव भारद्वाज। अन्त में तो प्रो० रामदेव महाशय कृष्ण जी आदि जो गुरुकुल के कर्ता-धर्ता थे वे भी जेल जा पहुँचे। व्यक्तियों ने स्वतंत्रता संग्राम में जो भाग लिया उसका संक्षिप्त उल्लेख कहीं तो रहना चाहिए, और कहीं नहीं तो इस जीवन-कथा में ही सही।

इस उल्लेख से यह भी स्पष्ट है कि चन्द्रावती जी मे शिक्षा के प्रति प्रेम तथा देश-सेवा की लगन इतनी तीव्र थी कि १९२६ मे विवाह हुआ, विवाह के तुरन्त बाद शिक्षा समाप्त करने के लिए शीघ्र ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय में चली गई और १९२८ में एम० ए० करके लौटी, १९२९ के दिसम्बर मे लाहौर कांग्रेस के अधिवेशन मे शामिल हुई, वहाँ से लौटकर सत्याग्रह आन्दोलन मे २० जून १९३० मे गिरफ्तार हो गई। और उनके पीछे चलता हुआ मैं १७.१०.३० को सत्याग्रह में गिरफ्तार हो गया। ऐसी देवी का जब १९६९ में स्वर्गवास हुआ तब उस वज्रपात को जैसे मैंने सहा, उसे मैं ही जानता हूँ।

१९६९ में वे दिवंगत हो गई तो भी उनके चलाये 'समाज-कल्याण केन्द्र' को हम चला रहे हैं और उससे अब तक अनेक निर्धन स्त्रियों तथा विधवाओं को लाभ प्राप्त हो चुका है। हम लोग दिल्ली जा बसे हैं परन्तु समाज-सेवा के इस केन्द्र को हम चला रहे हैं, जिससे देहरादून को छोड़ जाने पर भी देहरादून मे चन्द्रावती जी की स्मृति बनी हुई है।

१६. विजयकृष्ण लखनपाल का लखनपाल प्रा० लि० में प्रवेश

मेरे पुत्र विजयकृष्ण लखनपाल का जन्म १९३५ मे हुआ। जब उसने इण्टर-साइंस पास किया तब हमारी इच्छा उसे इंजीनियर बनाने की थी। इंजीनियरी मे दाखिला बडा कठिन था। सौभाग्यवश घनश्यामदास जी बिड़ला मसूरी आए हुए थे। पिलानी इंजीनियरिंग कॉलेज में कुछ छात्र उनके द्वारा भी लिए जाते हैं। चन्द्रावती जी उनसे मसूरी में मिलीं और उन्होने विजय के पिलानी इंजीनियरिंग कॉलेज मे दाखिले के लिए स्वीकृति दे दी। इण्टर के बाद हमने उसे पिलानी भेज दिया। वह एक साल तक वहाँ पढा, परन्तु उसका जी नहीं लगा और एक साल पढ़ने के बाद उसने पिलानी जाने से इन्कार कर दिया। अब हमारे सामने यही रास्ता रह गया था कि उसे देहरादून के डी० ए० वी० कॉलेज में बी० ए० मे भर्ती करा दें। जिस दिन हमने यह निश्चय लिया उसी दिन शाम को मेरे मित्र होमियोपैथ डॉ० रघुवंश रस्तोगी हमें मिलने आ पहुँचे। हमने अपना निर्णय उन्हें सुनाया तो झट बोले—हर्गिज नहीं, उसे फ़ौरन इलाहाबाद विश्वविद्यालय भेज दो। वहाँ चन्द्रावती जी के सहपाठी अंग्रेजी के प्रोफ़ेसर के० के० मलहोत्रा थे, उन्हें तार दिया; जवाब आया, फौरन भेज दो। हमने रात की गाडी से उसे इलाहाबाद के लिए रवाना कर दिया। इलाहाबाद वह दाखिल तो हो गया, परन्तु लड़कों ने बड़ा जबरदस्त रैंगिंग किया—सोते हुए, सर्दी के दिनों मे ठण्डे पानी की बाल्टी उसपर उलट दी। उसने लिखा, मैं यहाँ नही पढ सकता। हमने मलहोत्रा को लिखा, तब मामला शान्त हुआ।

विजय बड़ा शर्मीला लड़का था, परन्तु उत्तम संस्था मे जाकर बालक के प्रसुप्त गुण जाग जाते हैं। वह वहाँ कॉलेज का सोश्यल सेक्रेटरी बन गया। १९५८ मे एम० ए० (इंगलिश) पास कर दिल्ली हमारे पास आ गया। जिस समय विजय एम० ए० पास करके आया, हम उसके लिए अमरीका मे बिजिनेस एडमिनिस्ट्रेशन का दाखिला करा चुके थे। परन्तु विधि का विधान कुछ और ही ताना-बाना बुन रहा था। मेरे छोटे भाई देवदत्त लखनपाल रेडियो के मुख्य व्यापारी बन गये थे और दिल्ली मे अपना ऑफ़िस खोलना चाहते थे। वे उस समय सपत्नीक हमारे पास ठहरे हुए थे। विजय को देखकर उनकी पत्नी—मेरी छोटी भाभी—शीला जिसका चन्द्रावती जी से बरसों का बहन का-सा सम्बन्ध था, बोल उठीं—क्यों न विजय को दिल्ली के रेडियो ऑफ़िस का इंचार्ज बना दिया जाय! विजय पढ़ा-लिखा तो काफी था, बिजिनेस का उसे ज्ञान नही था। शीला जी का सजेशन देवदत्त जी को भी ठीक लगा। उन्होने बिजिनेस ट्रेनिंग के लिए विजय को बम्बई भेज दिया और वहाँ से लौटने पर उसे लखनपाल प्राइवेट लिमिटेड के दिल्ली ऑफिस का इंचार्ज बना दिया। इस बीच उसे अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा। स्टाफ की स्ट्राइक हुई, हुड़दंग मचा, मर्फी कम्पनी के गोयनका ग्रुप में चले जाने पर एजेन्सी कैन्सिल करने की धमकियाँ दी गईं, परन्तु विजय ने प्रत्येक चैलेंज का सामना किया। बड़े-बड़े व्यापारियों से परिचय हुआ। मर्फी के डिस्ट्रीब्यूटर तो सब उसके घरेलू मित्र-सम हो गये।

देवदत्त जी के सम्पर्क में आने पर उसकी भी उत्कृष्ट व्यापारियों में गिनती होने लगी और सब जगह सम्मान होने लगा। व्यापार में भी उसने दक्षता प्राप्त कर ली।

विजय को काम करते तीन साल हो गये थे। अब हम लोगों ने उसके भविष्य की चिन्ता देवदत्त जी तथा शीला बहन पर छोड़ रखी थी क्योंकि वे उसे पुत्रवत् समझते थे। हर कॉन्फ्रेन्स में विजय को पर्याप्त प्रमुखता दी जाती थी और एक तरह से सर्वत्र वह देवदत्त जी का प्रतिनिधित्व करने लगा था। अब उसकी आयु भी विवाह योग्य हो गई थी और जितनी हमें उसके विवाह की चिन्ता थी उससे ज्यादा उसके चाचा-चाची को चिन्ता थी। एक दिन दिल्ली में विजय के विवाह की ही चर्चा रही जिसमें परिवार के प्रमुख व्यक्ति शामिल थे। चन्द्रावती जी की सहपाठिनी निहारिका दास थीं जो जुयाल परिवार को जानती थीं। चन्द्रधर जुयाल एक मजिस्ट्रेट थे जिन्होंने मुझे सत्याग्रह के दिनों में एक साल की सज़ा दी थी। उनके सभी पुत्र उच्च सरकारी पदों पर थे। कोई मजिस्ट्रेट, कोई सेक्रेटरी ऑफ गवर्नमेण्ट, कोई एयर कमैण्डोर। उनकी तीन पुत्रियाँ थीं जो सभी बी० ए० आदि उपाधिधारी थी। उनमें से एक उषा जुयाल थी। जिस निहारिकादास ने उषा का नाम सजेस्ट किया, उसका छोटा भाई राकेश जुयाल उसे साथ लेकर मिस दास के घर आया जहाँ हमने उषा जुयाल को देखा। रिश्ता तय हो गया और १९६१ मे इनका विवाह हो गया। अब विजय को लखनपाल प्राइवेट मे काम करते २७ वर्ष हो गये थे। उसकी क्रियाशीलता को देखकर उसे जॉइंट मैनेजिंग डायरेक्टर भी बना दिया गया था। उसकी दो पुत्रियाँ हैं—ऋचा तथा श्रुति, एक पुत्र है—विभु। ऋचा का जन्म ७-३-१९६३ को हुआ, श्रुति का १६-५-१९६५ को तथा विभु का जन्म २४-८-१९६७ को हुआ। अब जब मैं लिख रहा हूँ ऋचा ने विलहम गर्ल्स स्कूल से इण्टर-साइंस करके दिल्ली से बी० ए० कर लिया है; श्रुति विलहम गर्ल्स स्कूल से इण्टर-साइंस करके अब मौलाना मैडिकल कॉलेज में एम० बी० बी० एस० कोर्स में दाखिल है। ऋचा स्थिर तौर पर एयर इण्डिया में काम कर रही है। विभु ने इण्टर-साइंस का इम्तिहान पास किया है और पूना विश्वविद्यालय के एक इंजीनियरिंग कालेज में कम्प्यूटर का चार साल का कोर्स कर रहा है।

बच्चों के जीवन की कुछ घटनाएँ बड़ी मनोरंजक होती हैं जिन्हें स्मरण कर माँ-बाप हँस-हँस कर बच्चों तथा उनके मित्रों को सुनाया करते हैं। विजय के जीवन की दो-एक घटनाएँ मुझे स्मरण हैं जो इस समय जब मैं यह इतिवृत्त लिख रहा हूँ मुझे स्मरण आ रही हैं।

विजय जब पाँच वर्ष का ही होगा तब चन्द्रावती जी महादेवी कालेज की प्रिंसिपल थी। महादेवी गर्ल्स कालेज के पास ही एक कन्वेन्ट स्कूल था जो अब भी है। उसे स्कूल में जाकर प्रिंसिपल से मिलकर वहाँ दाखिल कर दिया गया। आधा दिन भी नहीं बीता था कि स्कूल प्रिंसिपल बड़ी परेशानी मे हमारे घर आया और कहने लगा कि बच्चा तो भाग गया है और ढूँढने पर भी नहीं मिल रहा। इतने में हम क्या देखते हैं कि वह रोता-रोता घर पहुँच गया। प्रिंसिपल के साँस मे साँस आयी, हमने पूछा—तुम क्यों भाग आये, सबको परेशान कर दिया। कहने लगा—वहाँ अंग्रेज ही अंग्रेज भरे हुए थे, मुझे उनसे डर लगा और मैं भाग आया। अस्ल में, वह कन्वेन्ट स्कूल था जिसमें अध्यापकों तथा अध्यापिकाओं की अधिक संख्या विदेशी लोगों की थी।

एक दूसरी घटना भी मुझे याद आती है। मैंने उसे कभी मारा नहीं था। एक दिन वह कोई शरारत कर रहा था। मैंने एक थप्पड़ मारा और घुड़क कर कहा—कान पकड़ो। रोते-रोते उसने मेरे कान पकड़ लिए और हँसते-हँसते मेरे पेट में बल पड़ गये। मैंने कहा—मेरे नहीं, अपने कान पकड़ो और कहो—आगे से ऐसा नहीं करोगे।

उन्हीं दिनों की बात है जब हम लोग देहरादून में महादेवी कालेज में रहते थे। चन्द्रावती जी ने एक गौ रखी हुई थी। एक दिन वह किसी के अहाते में पहुँच गई। मकान मालिक ने उसे काँजी हाउस भिजवा दिया। यह घटना विजय के सामने हुई। वह अभी ४-५ वर्ष का ही था। एक दिन कालेज से उसकी माता जी के घर लौटने में बहुत देर हो गई। कालेज के काम में देर तक लगी रही। हम लोग चिन्तित हो गये और

सोचने लगे कि इतनी देर क्यों हो गई। विजय हमारी चिंता को देख कर कहने लगा—कहीं कॉजी हाउस तो नहीं पहुँच गई।

एक दिन हम लोग बिजनौर में अपनी ससुराल गये हुए थे। हम कमरे के बाहर बैठे थे, बच्चे कमरे के भीतर खेल रहे थे। कमरे में एक मट्टी का दीवा जल रहा था। विजय कागज का टुकड़ा लेकर उसे आग से जलाकर खेल रहा था। इतने में उस टुकड़े में आग लग गई और वह बिस्तर पर जा पड़ा। बिस्तर में आग लग गई जिसका हमें कुछ पता नहीं चला। इतने में विजय भागता-भागता और हाँफता-हाँफता आया और चिल्लाने लगा—बिस्तर में बिजली, बिस्तर में बिजली। हम लोग कमरे के भीतर गये तो देखा—बिस्तर में आग सुलग रही थी जिसे हमने तत्काल बुझा दिया।

इन सब घटनाओं को स्मरण कर हँसी तो आती है, परन्तु साथ ही समझ पड़ जाता है कि बचपन कितना सरल तथा निर्दोष होता है। ऐसी घटनाएँ प्रत्येक माता-पिता अपने बच्चों के बचपन को याद कर सुना सकते हैं।

१७. अजयकृष्ण लखनपाल

वैसे तो परिवार में हम ५ भाई और ३ बहनें थी, परन्तु हम दो परिवारों का विशेष तौर पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। ये दो परिवार हैं—श्री देवदत्त लखनपाल, उनकी पत्नी शीला लखनपाल तथा उनका पुत्र अजयकृष्ण लखनपाल एवं मैं, मेरी स्वर्गीया पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल तथा हमारा पुत्र विजयकृष्ण लखनपाल। यह सम्बन्ध दो कारणों से विशेष रूप से आपस में बँधा रहा। एक कारण तो था श्रीमती शीला लखनपाल तथा श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल—इन दोनों का पारस्परिक प्यार; दूसरा कारण यह था कि अजय यद्यपि व्यापार से उदासीन रहता था तथा विजय पर सम्पूर्ण कम्पनी को चलाने का बोझ था, तो भी वे दोनों एक-दूसरे के अति निकट थे। अजय की पाँच बहनें हैं, विजय की कोई बहन नहीं, इसलिए वह अजय की पाँचो बहनों को अपनी सगी बहन का-सा प्यार करता है और पाँचो बहनें भी विजय को अजय के समान समझती हैं और उसे अजय का-सा ही प्यार देती हैं। यह भावना रक्षाबन्धन और भाई-दूज के समय विशेष रूप से प्रकट होती है यद्यपि कई कारणों से यह भावना क्षीण होती जा रही है।

यद्यपि अजय एक व्यापारी पिता का पुत्र है तथापि उसमें स्थिरता कम देखी गई है। जब मैं गुरुकुल काँगड़ी में था तब वह मेरे पास छः महीने रहा था। हमारे योग के शिक्षक श्री भारती जी थे। वे सब योगासन जानते थे। वे धीरेन्द्र ब्रह्मचारी के शिष्य थे। अजय उनसे योगासन सीखा करता था यद्यपि कभी-कभी वह आध्यात्मिकता तथा भौतिकता दोनों की तरफ बहक जाता था। वह रजनीश के यहाँ जाता रहता था। एक बार उसने रजनीश से मेरे विषय में कुछ प्रश्न कर दिया, तो रजनीश ने उस दिन सारा व्याख्यान मुझ पर ही दे डाला। मैंने कहा था कि आत्मज्ञान और कुछ नहीं सिर्फ इस बात का जान लेना ही नहीं कि शरीर अलग तथा आत्मा अलग है, अपितु इस बात का अनुभव भी कर लेना है कि शरीर अलग है, आत्मा अलग है। हमारा जीवन ऐसा है मानो शरीर ही आत्मा है, आत्मा ही शरीर है। इस आधार पर मैंने कहा था कि आत्म-ज्ञान सिर्फ कह देने की वस्तु नहीं है, अनुभव करने की वस्तु है—संभवतः मेरी इस व्याख्या को बिना समझे आचार्यजी ने मुझ पर लम्बा-चौड़ा व्याख्यान दे डाला। उन्होंने कहा कि वे मुझे जानते हैं, और मेरा उपनिषद्-भाष्य उन्होंने पढ़ा है, परन्तु अगर आत्मज्ञान नाम की कोई वस्तु नहीं है तो सत्यव्रत जी ने उपनिषद्-भाष्य ही क्यों किया? जो-जो भी अध्यात्म में पारंगत हैं उन सबके यहाँ वह जाता है। बम्बई के दिवंगत कम्बू बाबा का वह भक्त रहा है, बिहार के स्वामी सत्यानन्द के आश्रम में वह रह चुका है, सान्ताक्रुज के अध्यात्म आश्रम में वह रहा है, स्वामी रामानन्द के अध्यात्म आश्रम में वह रहा है, मुस्लिम पीरों-पैगम्बरों के यहाँ वह जाता है, अजमेर शरीफ में वह बहुमूल्य चादर चढ़ाता है, एस्ट के सेशनों में उसे देख सकते हैं, मुझे भी इन

स्थानों में घसीट ले जाता है। जितना ही वह आध्यात्मिकता की बातें करता है उतना ही भौतिकता में डूबा हुआ है। वह पैंडुलम का एक जीता-जागता नमूना है। पढ़ा-लिखा है, अंग्रेजी खूब पढ़-लिख तथा बोल सकता है। मेरे साथ देर तक उसका ताया-भतीजे का-सा नहीं, मित्र का-सा व्यवहार रहा है। मेरे लिए वह अजय नहीं विजय है क्योंकि दोनों को मैं अपने बेटे की तरह मानता रहा हूँ। कई कारणों से यह सम्बन्ध टूटता जा रहा है। उसका विवाह हुआ था, परन्तु डायवोर्स हो गया।

१८. उषा लखनपाल

विजय की पत्नी का नाम उषा है। वह पहाड़ के प्रसिद्ध जुयाल परिवार की बेटी है। उसके ताऊ टेहरी-गढ़वाल के राजा के दीवान थे। दीवान जी के बेटे ब्रिगेडियर हैं। उषा जुयाल के पिता चन्द्रधर जुयाल थे। वे कई जगह मजिस्ट्रेट रहे। उषा—ये सब तीन बहनें हैं। उषा मेरे इकलौते बेटे विजयकृष्ण लखनपाल से ब्याही है। उषा की एक बहन माधुरी है। वह ब्रिगेडियर रवि माथुर से ब्याही है। एक दूसरी बहन सुधा है। वह एक इण्डस्ट्रियलिस्ट कन्हैया से ब्याही है। उषा का बड़ा भाई विधुधर जुयाल है। वह मथुरा मे मजिस्ट्रेट रहा है और इस समय लंडन मे मकान खरीदकर वहीं बस गया है। वह कॉमनवैल्थ सेक्रेटेरियट के डायरेक्टर हैं। एक भाई नलिनी जुयाल गवर्नमेण्ट मे सेक्रेटरी के उच्चतम पद पर आसीन है। एक भाई ब्रजेश जुयाल एयर कमैण्डोर है। सबसे छोटा भाई राकेश जुयाल है जो लोहिया मशीन मे एग्जैक्टिव के पद पर है। ये सब बालक बालिकाएँ अंग्रेजी स्कूलो मे पढ़े हैं। लड़के तो दून स्कूल के पढ़े हुए हैं। यह बड़ा शिक्षित तथा शिष्ट परिवार है। ब्रजेश जुयाल के पुत्र को तो ऑक्सफ़ोर्ड मे अध्ययन के लिए वहाँ की यूनिवर्सिटी ने पूरी छात्रवृत्ति दी है। उषा जिस दिशा मे जाती है सफलता हासिल कर लेती है। यहाँ रहते हुए उसने जापानी भी सीख ली है। वह सारे यूरोप का चक्कर लगा आयी है। जापान दो बार हो आयी है। उसकी रुचि व्यापार में है। उसने पहले तो आर्टिस्टिक मार्बल लैम्प बनाये। उसने १० हज़ार रुपया उधार लेकर इन लैम्पों का निर्माण कर बम्बई मे एग्ज़ीबीशन लगाई और जो लाभ हुआ उसमें से दिल्ली आकर कर्ज़े का १० हज़ार रुपया लौटा दिया। यह सब काम सिर्फ़ १०-१५ दिन में किया। फिर उसने गणेश आदि की मार्बल की मूर्तियो का निर्माण कर ताज होटल मे प्रदर्शनी लगाई, अब उड़ीसा से प्रस्तर-मूर्तियाँ लाकर उनकी एक्ज़ीबीशन कर रही है। वह यहाँ की सोश्यल वेलफ़ेयर की प्रधान भी है। उसके बच्चे भी उसकी छाया पर चल रहे हैं। सबसे बड़ी लड़की ऋचा लखनपाल है। उसने विलहम गर्ल्स स्कूल से इण्टर पास कर दिल्ली से बी० ए० करने के बाद फ्रेंच पढ़ना शुरू किया था और साथ ही टूरिज्म का कोर्स करने के बाद एयर इण्डिया में स्थिर रूप से काम कर रही है। दूसरी लड़की श्रुति इतनी होशियार है कि ८ हज़ार एम० बी० बी० एस० के उम्मीदवारों में ऐसा स्थान प्राप्त कर गई है कि यूनीवर्सिटी को उसे लेना पड़ा। सबसे छोटा विभु लखनपाल है, वह भी पूना में इंजीनियरी कर रहा है।

१९. शीला लखनपाल

परिवार के इस इतिहास को पूरा नहीं कहा जा सकता जब तक इसमें मेरे छोटे भाई देवदत्त लखनपाल की पत्नी तथा मेरी छोटी भाभी का उल्लेख न हो। शीला के पिता तथा मेरे पिता दोनों रेलवे में काम करते थे। शीला की माता तथा मेरी माता साथ-साथ रही थी। जब दोनों के पेट में बच्चा आया तब दोनों ने संकल्प किया कि अगर एक बच्चा लड़का हुआ, दूसरे की लड़की तो वे इन दोनों का ब्याह कर देंगी। भाग्यवश मेरी माताजी को बेटा हुआ, और शीला की माताजी को बेटी हुई। दोनों ने अपने बच्चों के बड़े होने पर अपने संकल्प को पूरा किया और देवदत्त और शीला का युवावस्था में आने पर विवाह हो गया। यह कहानी सारे परिवार में किसी को मालूम नहीं हुई, सिर्फ़ मुझे मालूम है क्योंकि माताजी बरसों मेरे साथ रहीं और उन्होंने मुझे यह कहानी सुनाई थी।

शीला लखनपाल की ५ बेटियाँ और बेटा एक है। इनकी बेटियाँ बड़े घरानों में ब्याही हैं। दो बेटियाँ पुंज परिवार में हैं। पुंज अनेक भाई-बहन हैं, परन्तु शीला की सबसे बड़ी बेटी इन्दु सत्ती पुंज से ब्याही है। सत्ती पुंज बड़े प्रसिद्ध व्यापारी हैं और बड़ी सूझ-बूझ के हैं। परिवार का हित-चिन्तन उनकी विशेषता है। एक बेटी रीता नरेन्द्र पुंज से ब्याही है जो दोनों लन्दन के व्यापार को देखते हैं। एक.बेटी नीता है जो खंडेलवाल-परिवार में अमरीका में ब्याही है। एक बेटी नीरू है जो श्री हंसराज गुप्त के पुत्र बिज्जन से ब्याही है, जिस सम्बन्ध के सम्पन्न होने में मेरा भी कुछ हाथ है। एक बेटी नूती है जो विजय पण्डित से ब्याही है। शीला लखनपाल का एक बेटा है—अजय लखनपाल, जिसका उल्लेख मैं ऊपर कर आया हूँ। वैसे तो हमारे परिवार में अनेक भाई-बहन हैं परन्तु फिर भी मेरे परिवार तथा देवदत्त के परिवार में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। हमारा अपने अन्य सम्बन्धियों से दूर होते हुए भी शीला लखनपाल तथा चन्द्रावती एवं अजय तथा विजय का आपसी सम्बन्ध सुख-दुःख में अत्यन्त घनिष्ठ रहा है। शीला लखनपाल विजय को इतना ही अपना बेटा मानती हैं जितना अपने बेटे अजय को मानती हैं। यह संयोग की बात है कि चन्द्रावती लखनपाल ने अन्तिम श्वास शीला लखनपाल के घर 'आशियाना' में छोड़ा।

२०. परिवार में तरेड़ पड़ गई

मैं पहले लिख चुका हूँ कि मेरे भाई-लोग मुझे अपने व्यापार में भागीदार बनाने के लिए समय-समय पर बुलाते रहे, और मेरे नाम से उन्होंने एक कम्पनी भी बना ली, जिसका नाम 'हिन्दुस्तान कार्यालय कारपोरेशन' रखा था। नाम बहुत बड़ा था, परन्तु इसका निर्माण उस समय बढ रहे व्यापार तथा आमदनी को देखकर किया गया था। युद्ध का समय था, पैसा खूब आ रहा था। अब तक हम लोग एक संयुक्त परिवार की तरह रह रहे थे, परन्तु संसार का नियम है कि जब साझीदार देखते हैं कि पैसा ढेरों आ रहा है, तब घर की देवियों की सनातन काल से चली आ रही परस्पर प्रतिस्पर्धा के कारण साथ-साथ रहने वाले परिवार टूट जाते हैं, और परिवार के मूर्धन्य कमाऊ व्यक्ति की पत्नी सारे परिवार की मालिक बनने का प्रयत्न करती है। यही स्थिति हमारे परिवार की हुई। साझीदारी खत्म हुई और परिवार में दराड़ पड़ गई। वह टूट गया। वैसे तो साझीदार ४ भाई ही थे, मुझे तो शामिल करने के लिए निमन्त्रण ही दिया गया था, परन्तु धनाधिक्यता को देखकर चारों भाई अलग-अलग हो गये, उनका व्यापार भी अलग-अलग हो गया। पहले जैसा भाइयों का प्रेम-भाव भी न रहा और संयुक्त परिवार वियुक्त परिवार बन गया। यह हमारे परिवार के टूट जाने की पहली घटना थी जिसके बाद मैं अपने बाल-बच्चों सहित देहरादून चला आया जहाँ मेरी पत्नी कन्या गुरुकुल देहरादून की आचार्या बनकर काम करने लगी। राज्य-सभा की सदस्यता की घटनाएँ तो इसके बाद की घटनाएँ हैं जिनका वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ। देहरादून आने के बाद मेरा परिवार 'स्वतन्त्र' हो गया।

२१. सारा परिवार संयुक्त से वियुक्त हो गया

हम पाँचों भाइयों का मिलकर रहने का समय कुछ ही काल तक रहा। हमारे निकट में रहने वाले शिकागो रेडियो कम्पनी के मालिक श्री विश्राम तथा श्री नानक—ये दोनों भाई हम पाँचों के मेल से रहने को देखकर हमें पाँच पांडवों की उपमा दिया करते थे। कुछ साल बाद हम सब पांडव अलग-अलग हो गए। कारण का उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूँ। हम सब का मतलब मुझे छोड़कर बाकी सब, क्योंकि मैं तो पार्टनर बना ही नहीं था यद्यपि मैं पाँचों में गिना जाता था। वैसे तो सब भाई अलग-अलग हो गये थे परन्तु मेरा तथा देवदत्त लखनपाल के परिवार का पारस्परिक सम्बन्ध बना रहा। देवदत्त की मृत्यु के बाद प्रेम की दरार चौड़ी होती गई और अन्त में यह कड़ी भी टूट गई। कोई समय था जब विजय बहनों के घर राखी बँधवाने जाया

करता था, और बहनों के बेटे विजय की बेटियों से राखी बँधवाने हमारे घर आया करते थे, अब चार-पाँच साल से यह आना-जाना समाप्त हो गया। यह सब देखकर हीगल का कथन ठीक ही जान पड़ता है कि संसार की प्रत्येक घटना तीन प्रक्रियाओं में से गुजरती है—'थीसिस' (Thesis), 'एन्टी-थीसिस' (Anti-Thesis) तथा 'सिनथीसिस' (Synthesis)—अर्थात्, पहली घटना का घटित होना; इस घटना की प्रतिक्रिया के रूप में उसमें से विरोधीभाव उत्पन्न होना; तदनन्तर इन दोनों घटनाओं के टकराने से उनमें समन्वय हो जाना या उनका समाप्त हो जाना। इन्हीं को हीगल ने संयुक्त होना, वियुक्त होना, समन्वय होना, या स्वतन्त्र होना कहा है। हमारे परिवार के टूट जाने की भी यही कहानी है। हमारा ही क्या—सभी परिवारों का यही हाल है। संसार ऐसा ही है, ऐसा ही रहेगा—संयुक्त, वियुक्त; समन्वित; या स्वतन्त्र।

२२. भाइयों तथा बहनों के विषय में

मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि हमारा बहुत साधारण-सा परिवार था। पितामह श्रीयुत आत्माराम पटवारी थे, फिर कानूनगो आदि के रूप में सेवारत रहे। वृद्धावस्था में वे सवद्दी गाँव की कन्या पाठशाला में पढ़ाते रहे। हमारे पिता रेलवे में मुलाजिम रहे। हमारे चाचा श्री निरजनराम पटवारी रहे। एक और चाचा सखियाराम थे, जो पढ़े ज्यादा नहीं थे, परन्तु प्रतिभाशाली थे और जिस विभाग में रहे अपनी प्रतिभा के बल पर उन्नति करते रहे। हमारे पिता का नाम बालकराम था। हम उनके पुत्र तथा पुत्रियाँ सब मिलाकर ८ थे। अपने विषय में तो मैं बहुत कुछ लिख चुका हूँ। अपने भाइयों तथा बहनों के विषय में भी कुछ लिख देना अप्रासंगिक न होगा। हम पाँच भाई तथा तीन बहनें थीं। तीन भाइयों का तथा एक बहन का देहान्त हो चुका है। अब हम ४ रह गये हैं। इन सबकी थोड़ी-थोड़ी चर्चा यहाँ करूंगा।

धर्मदत्त शर्मा—हमारे सबसे बड़े भाई का नाम धर्मदत्त था। वे इस परिवार के धर्मराज युधिष्ठिर थे। इतने सीधे कि कोई भी उन्हें ठग सकता था। उनमें छल-कपट का लेशमात्र भी न था। जो कुछ कहते उस पर अडिग रहते। उन्हें लोगों ने धोखा दिया हो, उन्होंने किसी को धोखा नहीं दिया। अत्यन्त क्रियाशील थे। इतने सच्चे और ईमानदार कि मैं उन्हें धर्मदत्त नहीं, धर्मराज कहा करता था। सीधा होने के कारण जीवन में वे किसी ऊँचाई को नहीं छू सके। उनका 1969 में देहान्त हो गया। उनका एक पुत्र जीवनकृष्ण है जिसके 'कृष्ण' नाम को सब भाइयों के पुत्रों के साथ जोड़ा गया है। मैंने उसे गुरुकुल में भर्ती किया था, दो-चार साल वहीं पढ़ा, परन्तु कुछ वर्ष बाद गुरुकुल छोड़कर बम्बई चला गया। मेरी यह दृढ़ धारणा रही है कि बचपन की शिक्षा प्रत्येक बालक को गुरुकुलीय जीवन की मिलनी चाहिए जिससे उसका शिक्षास्तरीय धरातल भारतीय संस्कृति का बन जाय। यद्यपि जीवनकृष्ण कुछ साल ही गुरुकुल में पढ़ा, तो भी उसकी हिन्दी तथा संस्कृत में गति प्रखर रूप में बनी हुई है। वह गीता, उपनिषद आदि को पढ़कर समझ जाता है जो अंग्रेजी कालेजों में पढ़े हुए बी० ए०, एम० ए० भी नहीं समझ सकते। उनका एक दूसरा पुत्र सुधीर है।

उनकी पुत्रियों के पति कैनेडा, इंग्लैंड आदि विदेशों में बस गये हैं और प्रायः सभी का विवाह जात-पाँत के बाहर हुआ है।

उनके बाद मैं था और मेरे विषय में तो इस पुस्तिका में बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। सबसे निर्धन परन्तु सबसे अधिक स्वस्थ मैं ही रहा। शायद स्वास्थ्य का साधारण जीवन के साथ विशेष सम्बन्ध है।

सोमदत्त शर्मा—हम सबमें सबसे अधिक चतुर सोमदत्त शर्मा हैं जो अब ८६ वर्ष के हैं। यद्यपि हमारा परिवार आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त साधारण परिवार था, तो भी सोमदत्त तथा देवदत्त के अथक परिश्रम के कारण यह अब मध्यम श्रेणी से उच्च श्रेणी का परिवार गिना जाता है। हमारे परिवार की पूर्व स्थिति तथा वर्तमान का अवलोकन कर कहा जा सकता है कि परिश्रम से व्यक्ति विषम परिस्थितियों के साथ जूझकर अपने भाग्य का निर्माण कर सकता है। सोमदत्त को हमारे परिवार का 'निर्माता' (Builder) कहा जा सकता

है। मैं जब संकट में पड़ गया था तब सोमदत्त तथा अन्य सब भाइयों ने मुझे संकट में से उबारा, इसलिए मैं अपने सब भाइयों का ऋणी हूँ, और परमेश्वर को धन्यवाद देता हूँ कि उसने मुझे ऐसे भाई दिये, अन्यथा इस भौतिक जगत् में मैं देख रहा हूँ कि भाई भाई से, बहन भाई से, दामाद श्वसुर से ऐसा व्यवहार करते हैं मानो वे किसी जन्म के दुश्मन हों। हमारा परिवार बहुत देर तक इस लांछन से दूर रहा।

सोमदत्त के विषय में मैं लिख चुका हूँ कि वह हम सबसे अधिक चतुर था। जब हमारे पिता हम सबको बाल्यावस्था में ही निस्सहाय छोड़कर पथरी का आपरेशन बिगड़ जाने के कारण परलोक सिधार गये, तब उनकी ग्रेच्युएटी आदि की वसूली सोमदत्त ही कर सका यद्यपि वह उस समय १४-१५ वर्ष का ही था। सोमदत्त ने बी० ए० पास कर बम्बई में व्यापार शुरू किया। उस समय वहाँ एक फैक्टरी का मालिक बिजली के क्लिप बनाता था जिसे लिंक क्लिप कहते हैं। मेरा यह भाई इस वस्तु के आर्डर मार्केट में फिर-फिर कर वसूल करता था। धीरे-धीरे वह व्यापार में कुशल होता गया और उसने 'शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी' नाम से एक कम्पनी का निर्माण किया। अभी वह बम्बई मे जमा नही था। रहने को मकान की कोई उत्तम व्यवस्था नही थी। उस समय मैं महाराजा कोल्हापुर की सेवा में था। बम्बई मे महाराजा कोल्हापुर का एक बंगला था जिसका नाम 'कोल्हापुर लॉज' था। मैंने सोमदत्त की 'कोल्हापुर लॉज' मे रहने की व्यवस्था कर दी और वह व्यापार के साथ-साथ सिडनहम कालेज में पढने भी लगा और बी० ए० के साथ एक-दो साल मे बी० काम० भी हो गया। चतुर तो था ही, उसने 'शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी' के नाम से व्यापार बढ़ाना शुरू किया। धीरे-धीरे उसका व्यापार इतना चमक उठा कि इस कम्पनी को एशिया की सर्वोत्तम कम्पनी माना जाने लगा। व्यापारी लोग भिन्न-भिन्न शहरों से आने, और इस कम्पनी से माल खरीद कर ले जाते। काम इतना बढ़ गया कि सोमदत्त ने सबसे बड़े भाई धर्मदत्त को भी बम्बई बुला लिया और अपनी कम्पनी के साथ साझीदार बना लिया। इन दोनों भाइयो का जोड ऐसा था कि व्यापार मे एक-दूसरे के पूरक बन गये। सोमदत्त स्कीमे बनाता था और धर्मदत्त उन्हे कार्यान्वित करता था।

मुझे कुछ साल हुए पूना आर्यसमाज से निमन्त्रण आया। यह बरसों पहले मेरे पूना जाने की बात नही है हाल में ही शायद १९८० की बात है जब मैं रजनीश के व्याख्यान सुनने वहाँ जाया करता था। वहाँ मेरी दो व्यक्तियो से भेंट हुई जिनकी आशातीत आर्थिक उन्नति देखकर मुझे आश्चर्य हुआ और मुझे अनुभव हुआ कि उद्योगशील व्यक्ति कहाँ-से-कहाँ पहुँच सकता है। एक व्यक्ति थे—श्री चमनलाल। ये शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी में एकाउन्टेन्ट हुआ करते थे, उस समय अत्यन्त साधारण स्थिति मे थे। अब ये बड़े भारी ठेकेदार हैं, कोरेगाँव में बड़ा भारी मकान है। ३-४ मोटरें हैं और पूना के प्रतिष्ठित पंजाबी व्यापारियों मे हैं। पहली बार आने के बाद ये मुझे हर साल बुलाने लगे, परन्तु शरीर मे शिथिलता आ जाने के कारण अब मैं पूना नही जाता। दूसरे व्यक्ति थे बिशनदास। ये सज्जन जब मैं वहाँ मुख्याधिष्ठाता था तब साधारण से वेतन पर इलेक्ट्रीशियन थे। गुरुकुल का काम छोड़कर बम्बई शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी मे वायरमैन का काम करने लगे। जब मैंने इन्हे पूना में देखा तो एक बड़े भारी सेठ बने हुए थे। बड़ा भारी बंगला, बाग-बगीचा, मोटरें—न जाने कहाँ-से-कहाँ पहुँच गये थे। इन दोनों व्यक्तियों की पूर्व-स्थिति तथा वर्तमान स्थिति का मूक कारण इनका उद्योगशील तथा कर्मठ होना था। मैं चाहता हूँ कि इन दोनों व्यक्तियों के जीवन से आज के युवक शिक्षा लें, और इधर-उधर भटकने के स्थान में काम में जी-जान से जुटना सीखें।

सोमदत्त के तीन लड़के तथा दो-तीन लड़कियाँ हैं। सबसे बड़ी लड़की का नाम निर्मल है जो यू० पी० के रिटायर्ड चीफ इंजीनियर श्री नौबतराय (नहर के इंजीनियर) के पुत्र कृष्ण से विवाहित है, उसके छोटे लड़के का नाम अनूप कृष्ण है जिसका विवाह पंजाब विश्वविद्यालय के भूतपूर्व वाइसचांसलर श्री जोशी की पुत्री से हुआ है, उससे छोटे पुत्र का नाम देवकृष्ण है जिसका विवाह श्री सत्यदेव भारद्वाज विद्यालंकार की पुत्री से हुआ है। सबसे छोटा पुत्र अनिल कृष्ण था जिसके विषय में कुछ पता नही चला कि कहाँ चला गया। एक पुत्री

शकुन्तला है जिसका विवाह कैप्टन प्रकाश से हुआ है। प्रकाश उस जहाज का कैप्टन रहा जिसका नाम 'विक्रान्त' है। हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान के युद्ध में प्रकाश के 'विक्रान्त' जहाज ने कराची में बंब-वर्षा करके पाकिस्तान को पराजित किया था। सोमदत्त की सबसे छोटी पुत्री बिन्दु है जिसका बंसी से विवाह हुआ है।

सोमदत्त की व्यापार की गतिविधियों के साथ-साथ उसकी धार्मिक गतिविधियाँ भी चलती रहीं। हमारे पिता दृढ़ आर्यसमाजी थे। सोमदत्त भी आर्यसमाज के रंग में रँगा हुआ रहा। इस बात का पहले उल्लेख हो चुका है कि बम्बई की आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं के विषय में वहाँ के आर्यसमाजियों में बहुत असन्तोष था और हमने उस आर्यसमाज के मुख्य अधिकारियों के खिलाफ हाई कोर्ट में मुकदमा किया हुआ था। इसमें सोमदत्त ने हमारा बहुत साथ दिया। इन्हीं दिनों हमने सान्ताक्रुज में एक आर्यसमाज की स्थापना की जिसके सूत्रधार अधिकतर पंजाबी थे। यह आर्यसमाज अब बम्बई प्रदेश की मुख्य आर्यसमाज मानी जाती है। सोमदत्त ने बम्बई प्रदेश में तथा ऋषि दयानन्द द्वारा स्थापित गिरगाँव रोड की आर्यसमाज को कुछ लोगों के स्वार्थों से बरी कराने में लगन से जो काम किया और सान्ताक्रुज में आर्यसमाज को स्थापित करने में जो सहयोग दिया उसे ध्यान में रखते हुए १७.७.१९८५ को वहाँ की आर्यसमाज ने उसे विशिष्ट सेवा मैडल प्रदान किया और सान्ताक्रुज आर्यसमाज का आजीवन ट्रस्टी बनाया। यद्यपि सोमदत्त ८९वें वर्ष में चल रहा है, तो भी उसकी आर्यसमाज में रुचि पहले की-सी बनी हुई है। सुनते हैं कि अब सोमदत्त का स्वास्थ्य ढलाने पर है।

देवदत्त लखनपाल—देवदत्त मेरा चौथा भाई था। उसने लाहौर के यूइंग क्रिश्चियन कालेज से बी० एस-सी० की उपाधि प्राप्त की थी। जब मैं गुरुकुल में था तब वह प्रायः अपनी छुट्टियों मे मेरे पास आकर रहा करता था। उसे मुरली बजाने का शौक था। गुरुकुल के कार्यालयाध्यक्ष श्री अमरनाथ सप्रू देवदत्त को मुरली मनोहर कहा करते थे। देवदत्त प्रायः गुरुकुल के विद्यार्थियों से मिलता-जुलता रहता था। बी० एस-सी० पास करने के बाद वह भी बम्बई चला आया और वह भी शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी का पार्टनर बन गया। अब शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी के तीन साझेदार हो गये—सोमदत्त, धर्मदत्त तथा देवदत्त। भाइयों की यह शिष्टता थी कि सब भाई अपने खड़े किए हुए व्यापार में एक समान साझीदार हो गये और किसी ने आगे-पीछे होने का दावा नहीं किया।

देवदत्त की शिक्षा-दीक्षा विज्ञान के क्षेत्र में हुई थी और उसका दृष्टिकोण दोनों भाइयों से भिन्न तथा अधिक विशाल था। वह माल खरीद कर उसमें मुनाफा जोड़कर, अधिक दाम मे बेचने के से व्यापार से सन्तुष्ट नहीं था। विज्ञान का विद्यार्थी होने के कारण वह व्यापार के क्षेत्र में विज्ञान का लाभ उठाना चाहता था, इसलिए उसकी इच्छा थी कि वह यूरोप मे जाकर विज्ञान का अधिकाधिक ज्ञान उपलब्ध करे। परन्तु यूरोप जाने का अर्थ था—अधिक व्यय। यह रुपया कहाँ से आये यह समस्या थी। सोमदत्त का कहना है कि शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी ने देवदत्त के योरुप जाने, वहाँ रहने तथा शिक्षा-ग्रहण करने का व्यय वहन किया। देवदत्त इस बात का खंडन किया करता था। उसका कहना था कि उसके भावी श्वसुर श्री दिनकरलाल से बैंक की गारंटी माँगी गई कि अगर शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी देवदत्त को खर्च भेजने में असमर्थ हो या न दे, तो दिनकरलाल जो रुपया देंगे। इस युक्ति के आधार पर देवदत्त मुझे कहा करता था कि उसका योरुप गमन तथा वहाँ का अध्ययन श्री दिनकरलाल जी की बैंक गारंटी के कारण हुआ, शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी के कारण नहीं। यह युक्ति-प्रत्युक्ति तब प्रारंभ हुई जब भाइयों का पारस्परिक विभाजन हो गया। मुझे इस बहस में पड़ने की आवश्यकता नहीं, परन्तु यह सत्य है कि कुछ वर्ष यूरोप में विद्याध्ययन करने के बाद देवदत्त जब यूरोप से लौटे तब सबको अपार हर्ष हुआ क्योंकि इस घटना से परिवार को चार चाँद लग गये।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, देवदत्त 'खरीदना और नफ़े से बेचना'—इस प्रकार के व्यापार से सन्तुष्ट नहीं था। उसका क्षेत्र विज्ञान था और वह ऐसा व्यापार चाहता था जिसमें विज्ञान का उपयोग हो। वह अपनी दीर्घ दृष्टि से व्यापार मे वैज्ञानिक युग को प्रवेश करते हुए देख रहा था। इस समय टेलीविजन का

मार्केट में प्रवेश नहीं हुआ था, परन्तु रेडियो मार्केट में आ चुका था। उस समय के प्रसिद्ध रेडियो का नाम 'जैनिथ' था। देवदत्त ने युरोप से 'जैनिथ' रेडियो का आयात करना शुरू किया। उन दिनो के निर्माण मे इतनी वृद्धि नहीं हुई थी जितनी अब हो गई है। यूरोप से जो रेडियो का प्रसारण होता था वह रात के समय ही सुना जा सकता था। देवदत्त ने इस दिशा में इतनी लगन तथा इतना अध्यवसाय था कि वह 'जैनिथ' रेडियो लेकर रात को ग्राहकों के घर जाकर उसे सुनाता था ताकि उनका उस पर विश्वास दृढ हो जाय। 'जैनिथ' के बाद देवदत्त ने मर्फी रेडियो को हाथ लगाया और अन्ततोगत्वा थाना शहर में एक विशाल फैक्टरी खड़ी कर दी। जब यह फैक्ट्री बनी उस समय इंग्लैंड के इस फैक्टरी के डायरेक्टर भारत आये। इस फैक्टरी का उद्घाटन तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई ने किया जिनके लाने के लिए कम्पनी ने हवाई जहाज का इन्तिजाम किया। यह फैक्टरी कई साल तक चलती रही, परन्तु अन्त में लेबर ट्रबल होने के कारण देवदत्त ने इस फैक्टरी को श्री गोयनका को बेच दिया। इस प्रकरण में मैं यह सब कुछ लम्बा-चौड़ा इसलिए लिख रहा हूँ ताकि पाठको के मन में यह बात घर कर जाय कि मेहनत करने से व्यक्ति कहाँ से कहाँ तक पहुँच जाता है। जीवन में उन्नति करने का असली गुर मेहनत है। देवदत्त का जीवन हमारे परिवार के बच्चो के लिए इसलिए अनुकरणीय है कि वे भी परिश्रम से जीवन में आगे बढने का प्रयत्न करें।

सोमदत्त के विषय मे जहाँ मैंने लिखा है कि वह परिवार का निर्माता कहा जा सकता है, वहाँ देवदत्त के लिए मैं कहूँगा कि वह परिवार का 'पोषक' कहा जा सकता है। देवदत्त ने हमारे फूफा के पुत्र सुरेन्द्र अग्निहोत्री, अपने छोटे भाई ब्रह्मदत्त लखनपाल तथा मेरे पुत्र विजय कृष्ण लखनपाल को 'लखनपाल प्राइवेट लिमिटेड' में उच्च स्थान देकर तथा अपने दामाद विजय पंडित को अपनी कम्पनी मे रखकर उनके लिए यथा-योग्य व्यवस्था की। देवदत्त अपने सब सम्बन्धियों को सहायता देने के लिए सदा तैयार रहता था। जब भाइयों का आपस मे बँटवारा हो गया तब भी हमारे बड़े भाई धर्मदत्त शर्मा उससे सलाह लेने के लिए सदा उसके पास आते रहे। कई साल हो गये देवदत्त का ७४ वर्ष की आयु मे एक अक्टूबर १९७७ को हृदयगति के अवरुद्ध हो जाने से देहान्त हो गया, परन्तु अब भी उनकी पत्नी शीला लखनपाल जहाँ तक उनसे हो सकता है उनके पगचिह्नों पर चलकर उनकी परिपाटी का पालन करती रहती हैं।

यद्यपि देवदत्त ने आर्यसमाज मे वह रुचि नही दिखलाई जो सोमदत्त ने दिखलाई थी, तो भी व्यवहार में वह आर्यसमाज के पगचिह्नो पर ही चलता रहा। उदाहरणार्थ, देवदत्त ने अपनी एक पुत्री का खण्डेलवालों मे विवाह किया, एक अन्य पुत्री का श्री हंसराज गुप्त के पुत्र महेन्द्रकुमार गुप्त के साथ विवाह किया जो दोनों वैश्य हैं। देवदत्त ने जात-पाँत का कभी ख्याल नहीं किया और इस दिशा मे वह आर्यसमाज के सिद्धान्तों का ही अनुयायी रहा।

देवदत्त के एक पुत्र तथा पाँच पुत्रियाँ हैं। पुत्र का नाम अजयकृष्ण लखनपाल है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। पुत्रियों में दो पुत्रियाँ पुंज परिवार में विवाहित हैं—एक सत्येन्द्रनाथ पुंज से और दूसरी नरेन्द्रनाथ पुंज से। सत्येन्द्रनाथ (सत्ती) चतुर तथा कुशल व्यापारी है। नेरेन्द्रनाथ पुज, पुज परिवार के विदेशस्थ व्यापार की देखभाल करते हैं। खण्डेलवाल अमरीका मे रहते थे, बड़े उच्च पद पर थे, जहाँ उनका देहान्त हो गया। सबसे छोटी पुत्री का विजय पंडित से विवाह हुआ जो लखनपाल प्राइवेट लिमिटेड मे ही काम करता है। लखनपाल प्राइवेट लिमिटेड का वर्तमान मैनेजिंग डाइरेक्टर अजयकृष्ण लखनपाल है।

सावित्री देवी—उक्त तीन भाइयों के बाद एक बहन का नंबर आता है जिसका देहान्त हो चुका है। उसका नाम है—सावित्री। सावित्री का लुधियाने के श्री नौरंगराय जी शर्मा के पुत्र जसवन्तराय के साथ विवाह हुआ था। जसवन्तराय बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उनकी व्यापार के हर क्षेत्र में गति थी। व्यापार की जिस बात की चर्चा की जाय उस सम्बन्ध में उन्हें कुछ-न-कुछ ज्ञान था। उन्होंने अंग्रेजी—हैट बनाये, बिजली के बल्ब बनाये, सब कुछ बनाया। उनके भाई विश्वामित्र गुरुकुल के स्नातक थे। एक भाई रुद्रदत्त था,

एक बलवन्त राय था। दो बहनें थीं—एक सत्यवती जिसका विवाह सोमदत्त विद्यालंकार से हुआ, दूसरी देवहूती थी। उसका विवाह अन्तर्जातीय विवाह था। बलवन्तराय का बेटा सतीश शर्मा है जो श्री राजीव गांधी के साथ पायलेट रहा। अब वह राज्यसभा का सदस्य है।

सावित्री की दो बेटियाँ हैं—एक सरला तथा दूसरी उमा। सरला का अन्तर्जातीय विवाह हुआ। हम लोग ब्राह्मण हैं, सरला का श्री शिवप्रसाद से विवाह हुआ जो कायस्थ है। शिवप्रसाद जाने माने आर्किटैक्ट हैं और जिस समय मैं लिख रहा हूँ, वे किसी अमेरिकन यूनीवर्सिटी में प्रोफेसर हैं।

सरला बड़ी विदुषी लड़की है। देसी स्कूल में पढ़ी है, परन्तु अंग्रेजी ऐसे बोलती है मानो किसी कोन्वेंट स्कूल में पढ़ी हो। उसने बी० ए० पास किया है। उसने अपने जीवन की कई रोचक घटनाएँ मुझे सुनाईं। उसने सुनाया कि जब वह क्लास में हिन्दी का पाठ पढ़ रही थी तब एक पाठ की लेखिका का नाम 'चन्द्रावती लखनपाल' लिखा हुआ था। सरला अध्यापिका को लक्ष्य मे रखकर बोल उठी—यह तो मेरी मामी हैं। अध्यापिका ने झिड़क कर और हँसते हुए कहा—क्या बकवास करती हो? सरला बोलती रही—हाँ, हाँ—चन्द्रावती जी मेरी मामी हैं। असल में बात सही थी क्योंकि पुस्तिका लेखक ने चन्द्रावती लखनपाल द्वारा लिखित 'स्त्रियों की स्थिति' में से कुछ हिस्सा लेकर वह पाठ अपनी पुस्तक में दिया था।

विवाह से पहले सरला काफी देर तक हमारे पास रही। हम लोग जब कन्या गुरुकुल देहरादून में थे, तब सरला हमारे पास थी। एक दिन वह साज-सामान और बिस्तर बाँध कर ऋषिकेश स्वामी शिवानन्द के आश्रम जाने को तैयार हुई। हमने उसे बस स्टैंड पर छोड़ा। अगले दिन क्या देखते हैं कि वह ऋषिकेश से वापस आ रही है। मैंने पूछा—क्या आश्रम में दिल नहीं लगा। बोली—नहीं, कुछ और बात है। मैंने पूछा कि वह क्या बात है। बोली कि आश्रम में रात को स्वामी शिवानन्द की भारत-यात्रा फिल्म दिखलाई जा रही थी। एक भक्त उस यात्रा का विवरण भी बोलता जा रहा था। स्वामी जी अब मथुरा पहुँचे, अब आगरा पहुँचे—यह सब सुनाया जा रहा था। यात्रा करते-करते जब वे बम्बई पहुँचे, तब भक्त ने कहा—अब स्वामी जी बम्बई पहुँचे, और उनके दर्शन के लिए अनेक भक्त आए। यह कहकर वक्ता अपने विवरण में आगे बढ गया, स्वामी शिवानन्द जी भी फिल्म को देख रहे थे, उन्होंने भक्त को अपने विवरण में आगे नहीं बढने दिया, बीच में ही ज़ोर से चिल्ला उठे—बम्बई के चीफ़ मिनिस्टर श्री बी० जी० खेर भी स्टेशन पर आये थे। स्वामी जी के इस बोलने से सरला बिगड़ उठी। उसने कहा—क्या बी० जी० खेर आपसे बड़े हैं? बस, इस झुंझलाहट में सरला अगले दिन ही ऋषिकेश से हमारे पास देहरादून आ गई।

शान्तिदेवी—सावित्री के बाद शान्तिदेवी का नंबर आता है। सालों तक शान्तिदेवी मेरे तथा माता जी के साथ गुरुकुल मे रही। शान्तिदेवी का विवाह कोयटा निवासी पं० ठाकुरदास जी के पुत्र तथा गुरुकुल के स्नातक सत्यदेव विद्यालंकार के साथ हुआ। सत्यदेव विद्यालंकार टंकारा में वहाँ के उपदेशक महाविद्यालय में सालों तक आचार्य रहे। वे इतने नास्तिक हैं कि सन्ध्या करना कभी नहीं चूकते। इनके बच्चे आजकल अमरीका में हैं। सत्यदेव विद्यालंकार को कट्टर आर्यसमाजी कहा जा सकता है।

कौशल्या देवी—हमारी बहनों में कौशल्या सबसे छोटी बहन है। वह विवाहोपरान्त देर तक मेरे पास रही। उसके पति रुद्रदत्त का देहान्त हो गया। मेरे यहाँ रहकर उसने मैट्रिक किया और फिर बनारस जाकर काशी विद्यापीठ से समाजशास्त्र विषय पर बी० ए० किया। इसके बाद श्री सम्पूर्णानन्द जी के अनुग्रह से सरकारी विभाग में काम करती रही और अन्त मे पेंशन लेकर सेवा-निवृत्त हुई। उसके एक पुत्री स्नेहलता है जो एक सिन्धी बैंकर से विवाहित है। कौशल्या को समाज सेवा का शौक है, और अब बम्बई में अपने भाइयों के साथ रह रही है।

ब्रह्मदत्त लखनपाल—इस शृंखला में सबसे छोटा ब्रह्मदत्त था जिसका देहान्त हो चुका है। ब्रह्मदत्त के विषय में बंगलौर के प्रकरण मे लिख आया हूँ कि किस प्रकार अपने परिवार को अर्थहीनता दूर करने के लिए

मैं बैंगलौर की एक महिला को उसके दत्तक पुत्र की तरह सौंपना चाहता था और किस प्रकार वह इस प्रसंग से बच गया। मैं जब गुरुकुल में मुख्याधिष्ठाता था तब ब्रह्मदत्त छः-सात वर्ष का था। मैं उस समय उसे गुरुकुल में दाखिल करना चाहता था क्योंकि मेरा सदा से यह विचार रहा है कि बच्चे की प्रारंभिक शिक्षा गुरुकुल के ढंग से होनी चाहिए और मैट्रिक पास करने के बाद उसे प्रचलित शिक्षा प्रणाली में डाल देना चाहिए ताकि उसकी भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध मे नींव पक्की हो जाय। जब वार्षिकोत्सव पर मैंने उसे गुरुकुल बुलाया तब कुरु-क्षेत्र गुरुकुल के ब्रह्मचारी तथा वहाँ के मुख्य अधिकारी पं० सोमदत्त जी गुरुकुल कांगड़ी आये हुए थे। मैंने ब्रह्मदत्त को उनके सुपुर्द कर दिया, परन्तु वह अपनी माता को ही याद कर रोता रहा। मैंने सोमदत्त जी को बुलाकर ब्रह्मदत्त के सामने कहा कि इस बालक को अपने साथ ले जाओ और माता जी के पास लुधियाने पहुँचा दो। यह सुनकर बच्चा सन्तुष्ट हो गया और अन्य बालको के साथ जाने को तैयार हो गया। सोमदत्त जी को गुप्त आदेश था कि इसे अन्य बच्चों के साथ कुरुक्षेत्र ही ले जाना है। इस योजना का परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मदत्त लुधियाना जाने के स्थान मे गुरुकुल कुरुक्षेत्र जा पहुँचा और आठ वर्ष तक वही पढ़ा। उसके बाद मैं उसे ले आया और लुधियाना आर्य स्कूल में मास्टर रामलाल जी की संरक्षता मे दाखिल कर दिया। वही से उसने मैट्रिक पास की और आगे चलकर बी० ए० की परीक्षा मे हिन्दी तथा सस्कृत मे योग्यता होने के कारण पजाब भर में सर्वोत्कृष्ट रहा। इस उच्चता के कारण उसे पंजाब सरकार से १०० रुपये मासिक शिक्षावृत्ति मिली, परन्तु वह इसका लाभ नही उठा सका क्योकि इसके बाद हम उसे बम्बई ले गये जहाँ उसने सिद्धहम कालेज से बी० कॉम० किया। इसके बाद वह मेरे अतिरिक्त अन्य सब भाइयो के साथ शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी में सहयोगी बना लिया गया।

गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करने के कारण ब्रह्मदत्त व्यापार मे कुशलता के साथ-साथ साहित्य मे भी रुचि रखता था। उसने अनेक गल्पें लिखी जिन्हें हिन्दी पत्रों मे उच्च स्थान प्राप्त हुआ। पश्चिमी साहित्य के साथ उसकी वैदिक साहित्य मे भी अपूर्व रुचि रही। भौतिकवाद के मध्य रहकर वह गुरुकुल के संसर्ग के कारण अध्यात्मवादी भी रहा। नित्य सन्ध्योपासना उसका दैनिक पुरोगम था। व्यायाम मे उसने कभी चूक नही की। देवदत्त ने उसे 'मर्फी रेडियो' नामक पत्र का सहसम्पादक बना दिया था।

ब्रह्मदत्त का विवाह श्री श्रद्धानन्द जी के पुत्र पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति की पुत्री पद्मा से हुआ। यह सम्बन्ध जात-पाँत तोड़कर हुआ था जिसका सूत्रधार मैं था। एक दिन प्रातःकाल प० इन्द्र जी के बहनोई डाक्टर सुखदेव जी मेरे पास गुरुकुल काँगड़ी प० इन्द्र जी का सन्देसा लेकर आये और कहने लगे कि पं० इन्द्र जी चाहते हैं कि उनकी पुत्री पद्मा का विवाह ब्रह्मदत्त के साथ हो। मैने अपने परिवार के सब लोगो की तरफ से तत्काल स्वीकृति दे दी और जात-पाँत तोड़कर यह विवाह सम्पन्न हो गया। इस दृष्टि से मैं कह सकता हूँ कि हमारा परिवार शुद्ध आर्यसमाजी परिवार है जिसमे जन्म की जात-पाँत को कोई स्थान नही है। ब्रह्मदत्त के भी एक पुत्र है जिसका एक सिन्धी पुत्री से विवाह हुआ है। हमारे परिवार मे न जातिभेद है, न प्रान्तभेद है, न देशभेद है।

ब्रह्मदत्त का जन्म १६१६ मे हुआ और मृत्यु ८ अप्रैल १६६२ मे हुई। ब्रह्मदत्त का एक पुत्र तथा तीन पुत्रियाँ हैं। भाई-बहनों में वह सबसे छोटा था, परन्तु परलोक गमन मे वह सबसे पहला रहा।

२३. मेरे १६६६ के बाद के दिन

मेरा जन्म ५ मार्च १८६८ में हुआ था, विवाह १६२६ मे हुआ; चन्द्रावती जी का स्वर्गवास १६६६ मे हुआ, और अब मैं १६८८ में चल रहा हूँ। पत्नी की मृत्यु के बाद मैं इकला रह गया। चन्द्रावती जी जब बीमार पड़ीं तब एक दिन अचानक मैं उनकी डायरी देख बैठा। उसमे लिखा था—मेरी मृत्यु के बाद मेरे सोने के कड़े प्रभा की लड़की को दे देना, मेरे कान के हीरे के कर्णपूर बेचकर मेरे ट्रस्ट को दे देना—आदि। यह सब

पढ़कर पत्नी की मृत्यु की सम्भावना जानकर मुझे ऐसा धक्का लगा कि मेरी नींद गायब हो गई, मैं हर समय रोने लगा। मेरा पूरा ब्रेकडाउन हो गया। मुझे चन्द्रावती जी ने कहा कि तुम विजय के पास दिल्ली चले जाओ। मैं दिल्ली चला आया, परन्तु मुझे उन्निद्र रोग बना रहा। २६ मार्च १९६९ को हमें दिल्ली तार आया कि चन्द्रावती जी की तबीयत बहुत खराब है, बम्बई चले आओ। मैं तथा विजय समाचार सुनते ही प्लेन से बम्बई के लिए रवाना हुए। ४ बजे के करीब घर पहुँचे। मैंने विजय की तरफ इशारा करके पूछा—इसे पहचानती हो? बोली—विजय है। घर के सब लोग वहाँ उपस्थित थे और ४.३० बजे उन्होंने प्राण छोड़ दिये। ऐसा लगा मानो अपने अन्तिम दर्शन कराने हमें दिल्ली से बम्बई बुलाया क्योंकि पहुँचते ही दो बात करके उन्होंने प्राण त्याग दिये। डॉ० परमार को बुलाया गया। उसने कहा, पखेरू उड़ गया है। शाम को ही चिता दाह करके अगले दिन अस्थियाँ लेकर मैं तथा विजय हरिद्वार पहुँचे और यहाँ उनकी अस्थियों का प्रवाह कर दिया गया। अब मेरा जीवन इकला रह गया। मेरा एक वर्ष तो विकट कष्ट में कटा। जब कोई संवेदना करने आता था, मेरी अश्रुधारा बह निकलती थी। जीवन में जो माँ-बाप से जुदा रहा था शायद उसके दबे मनोभाव की यह प्रतिक्रिया थी। उस समय नींद की भी कोई विशेष दवा नहीं निकली थी; निकली होगी तो उसका मुझे पता नहीं था। 'सैरोटीना' नाम की एक दवा का नाम सुना था। वह लेता तो कब्ज इतना सख्त हो जाता कि दिन कष्ट में कटता था। इस समय अगर किसी चीज ने बचा लिया तो मेरी लेखन-शक्ति ने मेरा साथ दिया। मैं रोता जाता था, लिखता जाता था, अपनी मनोदशा लिखता था। लिखते-लिखते लिखने की दिशा बदली और मैंने अपने लेखन की दो दिशाओं का निर्धारण किया—होमियोपैथी का तथा वैदिक विचार-धारा का।

२४. मेरी होमियोपैथी में रुचि तथा उस पर लिखी पुस्तकें

गुरुकुल विश्वविद्यालय के प्रकरण में मैं लिख आया हूँ कि मेरा होमियोपैथी से परिचय कैसे हुआ। पत्नी की मृत्यु का दुःख तो था, परन्तु अब जीवन रोते-रोते तो बिताना नहीं था। जब दो साथी होते हैं तब आपस की बातचीत तथा सह-जीवन से समय बीत जाता है, इकला रह जाने पर समय बोझ बन जाता है।

खैर, मेरी देर से होमियोपैथी में दिलचस्पी थी।

१९३८ में जब मेरी पत्नी *'महादेवी कन्या पाठशाला देहरादून' की प्रिंसिपल थी, मैं बीमार था और कभी-कभी देहरादून आता-जाता था। उन दिनों एक बार मैं देहरादून के बाजार में से गुजर रहा था कि एक* दुकान पर भगवा वस्त्रधारी एक सज्जन दिखलाई दिये। उनके पास होमियोपैथिक दवाइयों का एक बक्सा था, मुफ्त दवा बाँटते थे। वे अपने को डॉ० युद्धवीरसिंह होमियोपैथ का शिष्य कहते थे। उनका नाम डॉ० भटनागर था। मैं उनके पास बैठ गया, और होमियोपैथी की चर्चा करने लगा। जब उन्हें पता चला कि मैं गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का उपकुलपति हूँ और मेरी पत्नी स्थानीय कॉलेज की प्रिंसिपल हैं, तब उनकी मेरे प्रति दिलचस्पी कुछ जाग उठी। जब मैंने उन्हें कहा कि मुझे होमियोपैथी का ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट इच्छा है तब वे मेरे निवास-स्थान पर प्रतिदिन आने लगे और महीनों इस पद्धति पर जितना ज्ञान दे सकते थे देते रहे। मैं उनकी चर्चाओं को ध्यान से सुनता था और नोट करता जाता था। वे नोट मेरे पास अब तक पड़े हैं यद्यपि इस बात को ५० साल के लगभग हो गये। पत्नी की मृत्यु के बाद समय-यापन के लिए मैंने होमियोपैथी की पुस्तकें पढ़ना शुरू किया। दिन-रात होमियोपैथी में डूबा रहता। जब मैं बम्बई में था, तब मैंने लगभग १० हजार रुपये की होमियोपैथी की पुस्तकें खरीदी थी। वे सब मेरे पास थीं। मैंने सबसे पहले होमियोपैथी का मैटीरिया मेडिका पढ़ना शुरू किया। प्रत्येक औषधि के बारे में भिन्न-भिन्न मैटीरिया मेडिकाओं में पढ़ता था और नोट लेता जाता था। सुबह से शाम कब हो जाती कुछ पता नहीं चलता था। इस विषय की जितनी भी पुस्तकें मिलीं, नोट-सहित पढ़ डालीं। मैंने अनुभव किया कि हिन्दी में लिखने वाले तो बहुत हैं, परन्तु विषय को समझ-

कर लिखने वाले कम हैं। हिन्दी के लेखक मक्खी-पर-मक्खी मारते हैं। मेरा लिखने का तरीका यह है कि मैं एक पंक्ति भी ऐसी नहीं लिखता जो उससे पिछली पंक्ति के सम्बन्ध में पाठक के हृदय में न उठती हो। यह सब कुछ करके मैंने एक पुस्तक लिख डाली जिसका नाम था 'होमियोपैथिक ओषधियों का सजीव चित्रण'। इस पुस्तक का विमोचन श्री गोपालस्वरूप पाठक ने किया था जो उस समय भारत के वाइस प्रेसीडेण्ट थे। जयपुर के कुकरेजा ट्रस्ट ने इस पुस्तक को अपने विषय की सर्वोत्तम पुस्तक घोषित कर इस पर १२०० का पुरस्कार दिया था।

इस पुस्तक की सफलता को देखकर मेरे हृदय में होमियोपैथी के प्रति उत्साह बढ़ गया। इसके बाद मैंने रोगों पर 'रोग तथा उनकी होमियोपैथिक चिकित्सा' नामक ग्रन्थ लिखा। इसका भी होमियोपैथिक जगत् में बड़ा मान हुआ। फिर तो मैं होमियोपैथी पर लिखता ही रहा। होमियोपैथी की फिलासफी पर 'होमियोपैथी के मूल-तत्त्व' लिखा, 'First-aid specifics of Homoeopathic and Biochemic Treatment' अंग्रेजी में लिखा, Chart of Biochemic Drugs at a Glance' लिखा, 'होम्यपैथी का क-ख-ग' लिखा। होमियोपैथी पर इतना कुछ लिखने तथा होमियोपैथी के मेरे अनुभव को देखकर दिल्ली के सरकारी होमियोपैथिक बोर्ड ने मुझे रजिस्टर्ड होमियोपैथ मान लिया और रजिस्टर्ड नं० HD/778/BHS, Delhi दिया। जैसे पहले मेरे समाजशास्त्र पर बिना डिग्री किये मेरे ग्रन्थों को विश्वविद्यालय के छात्र तथा प्रोफेसर पढ़ते थे, अब होमियोपैथी पर बिना किसी डिग्री लिये मेरे ग्रन्थों को होमियोपैथी के छात्र तथा होमियोपैथी पढ़ाने तथा प्रैक्टिस करने वाले डॉक्टर पढ़ते थे।

इसी सिलसिले में मैंने दो और पुस्तकें लिखी हैं जिनका स्वास्थ्य तथा होमियोपैथी—इन दोनों से सम्बन्ध है। एक पुस्तक का नाम 'बुढ़ापे से जवानी की ओर' और दूसरी पुस्तक जो अंग्रेजी में है उसका नाम है 'From Old Age to Youth through Yoga and Homoeopathic Treatment'। अंग्रेजी की पुस्तक हाल ही में प्रकाशित हुई है और इसका विमोचन राष्ट्रपति जैलसिंह ने राष्ट्रपति-भवन में किया था।

२५. वैदिक संस्कृति पर पुस्तकें

वैदिक संस्कृति पर मेरी सबसे पहली पुस्तक 'Confidential Talks to Youngmen' थी। यह पुस्तक 'ब्रह्मचर्य' पर थी और मथुरा-शताब्दी-समारोह पर लिखी गयी थी। इसका प्रकाशन मेरे भाई श्री सोमदत्त ने अपनी कम्पनी शर्मा ट्रेडिंग कम्पनी से किया था। जब मैं बैंगलौर गया तब वहाँ के कर्नाटक नाम के पत्र में ब्रह्मचर्य विषय पर कुछ लेख लिखे थे। उन्हें पुस्तकाकार करके इस नाम से प्रकाशित किया था। पुस्तक का क्या हुआ, कैसे बिकी या नहीं बिकी—इसका मुझे पता नहीं। पिछले दिनों बनारसीदास बुकसेलर ने अप्राप्य परन्तु मूल्यवान् ग्रन्थों की सूची प्रकाशित की थी। उस सूची में इस ग्रन्थ का नाम भी था। अब इसे मॉडल प्रेस, रानी झाँसी रोड के श्री मेघराज ने संशोधित रूप में प्रकाशित किया है, परन्तु इसका क्या मूल्य है इसका मुझे कुछ पता नहीं। इसका हिन्दी-संस्करण 'ब्रह्मचर्य सन्देश' नाम से गोविन्दराम हासानन्द ने प्रकाशित किया है।

वैदिक संस्कृति पर मेरा दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'एकादशोपनिषद्' है। इसके लिखने की प्रेरणा मुझे तब हुई जब मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल ने मुझे उपनिषद् पढ़ाने को कहा। वे स्वयं मनोविज्ञान की पण्डिता थीं। उन्होंने 'शिक्षा मनोविज्ञान' ग्रन्थ लिखा था जिस पर उन्हें हिन्दी साहित्य का मंगलाप्रसाद पारि-तोषिक मिल चुका था। उन्हें उपनिषद् जैसे ग्रन्थ पढ़ाने के लिए मुझे भी तपस्या करनी पड़ी। जितने भाष्य मिले सब इकट्ठे किये। दिन-रात उपनिषदों में विचरने लगा। भाव स्पष्ट होते थे, परन्तु कहीं-कहीं अत्यन्त अस्पष्ट होते थे। कभी-कभी एक-एक स्थान को स्पष्ट करने में कई दिन लग जाते थे। पति-पत्नी का ज्यों ज्यों उपनिषद् पढ़ने का सिलसिला चला, त्यों-त्यों मैं सोचने लगा कि यह सब लिखता क्यों न जाऊँ? बस, हम लोग

जो पढ़ते थे उसे मैं लिखता जाता था। लिखते-लिखते यह ग्रन्थ तैयार हो गया जो इस समय १०३६ बड़े पृष्ठ का है। इतने बड़े ग्रन्थ के प्रकाशन की बड़ी समस्या थी। मैंने शुरू-शुरू में संस्कृत भाग को छोड़कर सिर्फ 'धारावाही हिन्दी में उपनिषद्'—इतना ही तैयार किया था। उसे लेकर मैं दिल्ली में सेठ जुगलकिशोर जी बिड़ला से मिला। उन्होंने सब सुनकर कहा कि इसमें संस्कृत-भाग अवश्य होना चाहिए। उनका यह निर्देश मुझे जँचा, परन्तु तब तो ग्रन्थ की काया बहुत बढ़ जाती; फिर भी मैंने संस्कृत-भाग जोड़ दिया, परन्तु उनकी तरफ से किसी सहायता का इशारा नहीं आया। फिर मैंने सोचा—ग्रन्थ तैयार होना है तो ऐसा होना चाहिए कि कोई कमी न रहे। यह सोचकर मैंने व्याख्या-भाग में शब्दों के पदच्छेद, उनका अर्थ, अन्त में सम्पूर्ण सन्दर्भ का अपने शब्दों में भावार्थ, सब-कुछ तैयार किया। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ को लेकर मैं बम्बई गया। वहाँ मेरे सहअध्यायी पं० रामचन्द्र सिद्धान्तालंकार सेठ शूरजी वल्लभदास के पुत्रों को पढ़ाते थे। रामचन्द्र जी ने सेठ जी से परिचय कराया। वे आर्यसमाजी थे, दानवीर थे, लक्ष्मीपति भी थे। उन्होंने कहा कि वे ग्रन्थ को सुनना चाहते हैं। मैं खार में टिका था। वे प्रातःकाल सवेरे सपरिवार सुनना चाहते थे। रहते थे कच्छ कैसल में चौपाटी के पास। मैं प्रातःकाल की ट्रेन से उनके घर पहुँचकर महीनाभर उपनिषद्-भाष्य सुनाता रहा, वे भी बड़े प्रेम से सुनते रहे, परन्तु महीना-भर सुनने के बाद उन्होंने कोई प्रतिक्रिया ज़ाहिर नहीं की, और मेरा उन्हें सुनाना, न सुनाने के समान हो गया।

मैं इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए बड़ा उत्सुक था, सालों का परिश्रम था, कई बार इसे परिष्कृत किया था। मैंने पं० रामचन्द्र जी से कहा—यहाँ तो सारा परिश्रम मिट्टी में मिल गया। वे कहने लगे—एक और सेठ हैं, उनसे मिला दूंगा। वे प्रसिद्ध सेकसरिया सेठ के पुत्र को पढ़ाते थे। उनके पास ले गये। सेठ-पुत्र एक युवक थे, परन्तु उन्होंने भी ग्रन्थ सुनना चाहा। प्रस्ताव यह था कि वे अपने जुहू के बँगले में शाम को जाया करेंगे। अपनी गाड़ी खार भेजकर मुझे बुला लेंगे और अपने एक मित्र के साथ बैठकर सुनेंगे। मैं इसके लिए भी तैयार हो गया। वे गाड़ी भेजते थे। मैं अपना मैन्युस्क्रिप्ट लेकर उनके बँगले जाता और सारा ग्रन्थ सुनाता। सब-कुछ सुनकर वे मुझे कर्ज़ में रुपया देने के लिए तैयार हो गये और एक प्रोनोट लिखाकर ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए ५००० रुपया दे दिया। आगे जो कुछ कागज आदि के लिए खर्चा करना पड़ा तो वह तो पड़ा ही, परन्तु ग्रन्थ प्रकाशित हो गया और इतना बड़ा ग्रन्थ प्रकाशित कर मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा।

मुझे अपनी लिखी उपनिषदों की व्याख्या का महत्त्व तब समझ आया जब एक सज्जन मुझे अपने घर अपनी एक सुरक्षित निधि दिखलाने ले गए। उन्होंने मुझे एक ऊँचे आसन पर बैठाया। एक बड़ा चन्दन का बक्सा निकाला। उसमें एक छोटा बक्सा रखा था, उसे निकाला। उसे खोला। उसमें रेशम में लिपटी कोई वस्तु रखी थी। उसे खोला। मैंने आश्चर्य से देखा कि यह मेरी लिखी उपनिषद् थी। वे कहने लगे कि वे इसका रोज़ पाठ करते हैं जिससे उन्हें आत्मिक शान्ति मिलती है। मुझे यह नहीं पता था कि इस ग्रन्थ का इतना महत्त्व है। मुझे यह सोचकर दुःख होता है कि सनातनी जिस ग्रन्थ का इतना आदर करता है, हमारे आर्यसमाजी वैदिक-वैदिक चिल्लाते-भर हैं, क्रियात्मक रूप में उनमें उससे सौवाँ गुण भी नहीं। जब मेरी पत्नी का देहान्त हो गया तब मुझे देहरादून छोड़कर अपने पुत्र के पास आकर रहना पड़ा। मेरे सब ग्रन्थ तो देहरादून थे। वे साहित्य सदन द्वारा बिकते थे। अब जब मैंने देहरादून छोड़ ही दिया तो उन ग्रन्थों का मोह भी जाता रहा। बहुत-से ग्रन्थ तो साहित्य सदन को दे दिये, किन्तु उपनिषद् तथा वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व सार्वदेशिक सभा की लागत-मूल्य पर देने का प्रस्ताव रखा। सभा में कहा गया कि बिकते नहीं होंगे, इसलिए दे रहे रहे हैं। फिर भी सभा ने सिर्फ़ एक ग्रन्थ लागत-मूल्य पर लिया जिसका नाम 'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व' था। उसकी ३-४ सौ प्रतियाँ थीं। व्यय ६ रुपया था, परन्तु लागत-मूल्य शायद २ रुपया माना गया। दूसरा ग्रन्थ उपनिषद् था, उसे लेने से सभा ने इन्कार कर दिया। वह ग्रन्थ मैंने आर्य प्रादेशिक सभा को लागत-मूल्य पर दे दिया। उस समय सभा के प्रधान श्री दत्ता थे। अगर सभा चाहती तो अपने स्कूलों को छपे हुए दामों में बेच

देती, परन्तु सभा ने न जाने क्या किया, दो महीने बाद उनके पुस्तक-विभाग मे जाकर मैंने देखा कि पुस्तकें वैसे ही पड़ी थीं। मैंने दत्ता साहब को लिखकर उनका दिया हुआ दाम वापस कर दिया और पुस्तकें उठवा ली। सार्वदेशिक सभा को जो पुस्तक दी थी वह समाप्तप्राय थी, इसलिए मैंने अजमेर-शताब्दी पर आग्रह किया कि इस पुस्तक का नवीन संस्करण प्रकाशित किया जाये या यह पुस्तक मुझे वापस कर दी जाये ताकि इस अवसर पर इसे प्रकाशित किया जा सके। आर्य सिद्धान्तों की यह सर्वोत्तम पुस्तक थी। सार्वदेशिक सभा के पास असीम सम्पदा है, परन्तु उन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित करने के स्थान मे मुझे लिखा कि पुस्तक तो समाप्तप्राय है, परन्तु आप ही इसे प्रकाशित कर लें। मैंने इस अवसर पर इस पुस्तक को प्रकाशित कर दिया।

दुःख इस बात का है कि हम बार-बार शिकायत करते हैं कि हमारे साहित्य का प्रकाशन नही हो रहा। मुझे ऐसा लगता है कि हमारी सभाओं के संचालकों को पता ही नहीं कि साहित्य किसे कहते हैं, न उन्हे यह ज्ञान है कि प्रकाशित ग्रन्थों में कौन-से ग्रन्थ उत्कृष्ट कोटि के हैं। सभाओं के संचालक जो छोटे-मोटे ट्रैक्ट लिख देते हैं, अपने नाम की धूम मचाने के लिए अपने पत्रों मे उन्ही की चर्चा करते रहते हैं। उन्हे आर्यसमाज के साहित्य का प्रचार नहीं करना, अपना प्रचार करना है, अपनी फोटो छपवानी है, तभी वे सभाओं को पंजे मे पकड़े रखना चाहते हैं; जहाँ कोई समाज तक आ पहुँचा, किसी संस्था पर कब्जा हो गया, वहाँ प्राणपण से उसका पीछा नही छोडते।

अपनी दो पुस्तकों की दुर्गति की कहानी मैं ऊपर लिख आया हूँ, अब उसी पुस्तक के प्रकाशन मे मुझे किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, वह भी लिख दूँ। मैं समझता हूँ कि मेरा ग्रन्थ—'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व' एक अत्यन्त उच्च कोटि का ग्रन्थ है। मैंने इसे तब लिखा था जब पं० ठाकुरदत्त अमृतधारा ने किसी उच्च कोटि के ग्रन्थ पर ५०० रुपया पारितोषिक देने की घोषणा की थी। बहुत सूझ-बूझ और युक्तिपूर्वक लिखा गया ग्रन्थ था। मुझे स्वामी सत्यानन्द जी महाराज से यह भी ज्ञात हुआ था कि उस ग्रन्थ को वैदिक संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ माना गया था। परन्तु मैंने देखा कि ठाकुरदत्त जी ५०० रुपया देने मे मीन-मेख निकाल रहे थे। सबसे पहले तो उन्होंने यह आपत्ति की कि आप ट्रस्ट के सदस्य हैं, इसलिए आपको यह पारितोषिक नही मिल सकता। मैंने ट्रस्ट से इस्तीफ़ा दे दिया क्योकि मैंने तो ट्रस्ट का सदस्य होने की प्रार्थना की नहीं थी। जो कुछ हो, पारितोषिक नही दिया गया, परन्तु डॉ० जयचन्द होमियोपैथ के हाथ वह किताब लगी। डॉ० जयचन्द और पं० ठाकुरदत्त के भाई, दोनों ने मिलकर उस पुस्तक को एक साथ पढा और डॉ० जयचन्द ने मुझे सन्देश भेजा कि यदि यह पुस्तक पहले कभी उनके हाथ आ जाती तो उनके जीवन की दिशा ही बदल जाती। इस पुस्तक के विषय मे इतनी उच्च भावना सुनकर मेरे हृदय मे विचार उत्पन्न हुआ कि इसे अंग्रेजी मे कर दिया जाये। इस पुस्तक का अनुवाद तो नही, परन्तु इसके विषय को आधार बनाकर मैंने एक पुस्तक तैयार की जिसका नाम रखा—Heritage of Vedic Culture। पुस्तक लिखी गई, टाइप हो गई, परन्तु छपे कैसे ? अपने में छपवाने की हिम्मत नही थी, परिश्रम बेकार हुआ जाता था। यह १९६८ की बात है। मैं चाहता था कि यूरोप में किसी अच्छे प्रकाशक को दी जाय। मेरे एक मित्र यूरोप जा रहे थे, उन्हे मैन्यूस्क्रिप्ट दिया, परन्तु वे उसे वैसा ही वापस ले आये। मैंने पूछताछ की तो पता चला कि बम्बई मे मनकतला एक अच्छे प्रकाशक हैं। बम्बई गया, उनसे मिला, एग्रीमेंट हो गया, परन्तु कहने लगे कि छपने में पाँच वर्ष लगेंगे क्योकि उनके पास अनेक पुस्तकें हाथ में हैं। मैंने एग्रीमेंट तो कर लिया, परन्तु सन्तोष न हुआ क्योकि पाँच वर्ष का समय बहुत अधिक होता है। मैं मैन्युस्क्रिप्ट तथा एग्रीमेंट लिए फ़ोर्ट एरिया में से गुजर रहा था कि एक बड़ा-सा बोर्ड देखा—तारापुरवाला एण्ड सन, पब्लिशर्स। मैं दुकान मे घुस गया और जो मालिक थे उनसे मिला। मेरा मैन्युस्क्रिप्ट देखकर वे प्रभावित हुए, परन्तु कहने लगे कि कल हम अपना प्रतिनिधि आपके घर भेजेंगे, वह इत्मीनान से देखेगा और आपसे बात करेगा। मैं अपना घर का पता देकर चला आया। अगले दिन तारापुर का प्रतिनिधि आया, मैन्युस्क्रिप्ट देखा और कहने लगा कि हम छाप देंगे। मैंने पूछा कितने समय मे ? उसने

कहा, छः महीने में ? मैंने ग्रन्थ का प्रकाशन अधिकार तत्काल उन्हें दे दिया।

यह ग्रन्थ प्रधान आर्यसमाज की विचारधारा पर लिखा गया है। जो लोग सिर्फ़ अंग्रेजी जानते हैं उन्हें आर्यसामाजिक विचारों से परिचित कराने के लिए इससे अच्छा कोई ग्रन्थ नहीं। तारापुर ने २२०० प्रतियाँ छापी थीं जिन्हें वह बेच चुका है। मेरे सामने प्रश्न सदा यह रहता है कि आर्यसमाज आर्य-साहित्य की कमी की सदा शिकायत करता है, परन्तु जो साहित्य मौजूद है उसका लाभ उठाने का प्रयत्न क्यों नहीं करता ?

अब सुनिये चौथी पुस्तक की कहानी। मैंने एक पुस्तक लिखी—'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार'। जैसे अन्य पुस्तकों के विषय में लिखा, वैसे ही इसके विषय में भी प्रकाशन की समस्या थी। यह कोई उपन्यास, कहानी या नाटक तो था नहीं, अत्यन्त गूढ़ दार्शनिक ग्रन्थ था। मुझे मालूम हुआ था कि हिन्दी डायरेक्टरेट कुछ उत्कृष्ट पुस्तकों की पाँच-छः सौ प्रतियाँ खरीद लेता है जिससे प्रकाशक को राहत मिलती है। मैंने हिन्दी डायरेक्टर को मिलने के लिए लिखा—डा० हरवंशलाल शर्मा जी थे उस समय—वे शायद मुझे जानते थे। उन्होंने लिखा, आप मत आइये, हम ही अपना प्रतिनिधि आपके पास भेजेंगे। दो-चार दिन बाद उनके प्रतिनिधि श्री अवस्थी मुझे मिले। ग्रन्थ तो पसन्द आया, परन्तु कहने लगे कि परिभाषाएँ आपको हमारी देनी होंगी। मैंने ग्रन्थ का पुनर्निर्माण किया और अपनी परिभाषाओं के स्थान में उनकी परिभाषाएँ डाल दीं। अब एक प्रकाशक ढूँढ़ना था। उन्होंने गोविन्दराम हासानन्द को इसके लिए तैयार किया, यह इत्मीनान दिलाया कि पाँच-छः सौ पुस्तकें तो हिन्दी डायरेक्टरेट खरीद लेगा, इसलिए कोई खतरा नहीं है। कई मित्रों से भी सिफारिश कराई और अन्त में वह पुस्तक छप गई।

मैं ये सब बातें इसलिए लिख रहा हूँ ताकि पाठकों को पता चले कि लेखक को क्या-क्या परेशानियाँ होती हैं। 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' के विषय में मेरे पाठकों को यह सुनकर प्रसन्नता होगी कि जिस ग्रन्थ के प्रकाशन में मुझे इतनी अड़चनों का सामना करना पड़ा, उस पर भारतीय भवन ने १०,००० (दस हजार) रुपये का राजा जी अवार्ड दिया, उत्तर प्रदेश सरकार ने २५०० का, गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार-समिति ने १२०० का, हजारीमल डालमिया पुरस्कार-समिति ने १२०० का पुरस्कार दिया।

इस अरसे में मैंने अन्य भी अनेक ग्रन्थ वैदिक दृष्टिकोण से लिखे जिनमें 'उपनिषद्-प्रकाश', 'संस्कार-चन्द्रिका', 'गीता का धारावाही भाष्य' मुख्य हैं। इस बीच मैंने एक और पुस्तक लिखी जिसका नाम है—'वैदिक संस्कृति का सन्देश'। यह पुस्तक भी गोविन्दराम हासानन्द ने प्रकाशित की।

मेरे जीवन में एक समय ऐसा भी आ गया जब मैं सर्वथा निस्सहाय हो गया। मेरी सारी पूँजी लखनऊ की एक कम्पनी में जमा थी, वह फेल हो गई। उस समय मैं राज्य-सभा का सदस्य था। वाई० बी० चह्वाण गृहमंत्री थे। उन्हें शिकायत की। कम्पनी के सब कागजात सरकार उठा ले गई, व किसी के पल्ले कुछ न पड़ा। ऐसी विकट स्थिति के समय राज्य-सभा के तत्कालीन मेरे सहपाठी सदस्य श्री रामकुमार भुवालका तथा उनके पुत्र श्री अभिमन्यु भुवालका ने मेरी सहायता की, और इनके अतिरिक्त श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला, श्री बी० पी० खेतान, रायबहादुर चौधरी प्रतापसिंह, यशराज पटेल आदि के सहयोग से मैं उठ खड़ा हुआ और अपने ग्रन्थों को जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर सका।

इस अन्तराल में मैंने जो साहित्यिक कार्य किया उसका केन्द्र सरकार ने, प्रान्तीय सदस्यों ने तथा भिन्न-भिन्न संस्थाओं ने आदर किया और भिन्न-भिन्न समारोह करके मुझे सम्मानित किया। मैंने जो कुछ साहित्यिक कार्य किया उसके कारण मेरा जो सम्मान हुआ उसका संक्षिप्त ब्योरा नीचे दे रहा हूँ।

मुझे यह कहते हुए हर्ष होता है कि जहाँ अन्य प्रकाशकों के साथ मुझे रॉयल्टी के लिए लिखा-पढ़ी करनी पड़ी वहाँ श्री विजयकुमार जो गोविन्दराम हासानन्द के मालिक हैं उन्होंने इस मामले में कभी मुझे कष्ट नहीं दिया और स्वयं रॉयल्टी लाकर देते रहे। ऐसे पुस्तक-प्रकाशकों की सराहना करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

२६. राज्य सरकारों तथा केन्द्र द्वारा सम्मान

(क) पंजाब सरकार द्वारा—पंजाब सरकार का लैंग्वेज डिपार्टमेंट उन पंजाबी लेखकों का सम्मान करता है जो पंजाबी होते हुए हिन्दी की सेवा मे मूर्धन्य माने जाते हैं या जिन्होंने हिन्दी की विशेष सेवा की होती है। मैं क्योंकि जन्म से पंजाबी हूँ, इसलिए प्रतापसिंह कैरो के मुख्यमन्त्रित्व-काल मे मेरी साहित्य-सेवा को ध्यान में रखकर ३ मार्च १९६२ को चंडीगढ मे एक दरबार किया जिसमे कैबिनेट के सब सदस्य उपस्थित थे। इसमें मुख्यमंत्री ने मेरी हिन्दी सेवाओं की प्रशंसा करते हुए एक थाल में मुझे १२०० रुपये और एक दोशाला भेंट किया।

(ख) उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा—उत्तर प्रदेश सरकार ने १९७७ में लखनऊ मे आयोजन कर तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री मोरारजी भाई को बुला कर जिन साहित्यकारो का अभिनन्दन किया उसमे प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार को दिल्ली से आमन्त्रित कर २५०० रुपये की भेट देकर उनका स्वागत किया गया।

(ग) राष्ट्रपति द्वारा सम्मान—१९६४ में राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने तथा प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने राज्य-सभा के लिए मनोनीत किया। जिस व्यक्ति को राज्य-सभा के लिए मनोनीत किया जाता है वह उसका राष्ट्रपति द्वारा सम्मान समझा जाता है।

(घ) केन्द्रीय सरकार द्वारा—१५ अगस्त १९८१ को राष्ट्रपति-भवन की एक विज्ञप्ति द्वारा यह सूचित किया गया कि प्रोफेसर सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार को भारत के प्रमुख संस्कृत-विद्वान् के तौर पर राष्ट्र द्वारा घोषित किया जाता है और इस विद्वत्ता की स्वीकृति मे उन्हे आजीवन प्रतिवर्ष पाँच हज़ार रुपया दिये जाने की घोषणा की।

२७. भिन्न-भिन्न संस्थाओं द्वारा सम्मान

(क) नैरोबी के आर्य महासम्मेलन के अध्यक्ष—'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के अन्तर्गत पूर्वी अफ्रीका मे केनिया प्रदेश मे स्थित नैरोबी आर्यसमाज के विशेष आमन्त्रण पर १० सितम्बर से २४ सितम्बर १९७८ तक उसकी हीरक जयन्ती समारोह के साथ अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन का आयोजन किया गया जिसके अध्यक्ष-पद के लिए प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री तथा महान् दार्शनिक श्री पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार (भूतपूर्व) उपकुलपति गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय तथा राज्य-सभा (पार्लियामेंट) को सदस्य चुना गया।' (सार्वदेशिक पत्र, २२ जुलाई, १९७८)।

(ख) लोक-सेवक मंडल (Servants of People's Society) **द्वारा अभिनन्दन**—५ मार्च, १९७९ को मेरा ८२वाँ जन्म-दिन था। उस दिन लाजपत-भवन मे लोक-सेवक मंडल द्वारा मेरी साहित्यिक सेवाओ के उपलक्ष्य में अभिनन्दन किया गया और मुझे 'वेद-मनीषी' की उपाधि से अलंकृत किया गया। इस समारोह में करनाल वाले चौधरी प्रतापसिंह जी के अलावा चौधरी देसराज, श्री गुरुचरणदास, श्री मनोहर विद्यालंकार, पंडित आत्मानन्द विद्यालंकार, श्री परम वेदालंकार, श्री विद्यासागर आदि उपस्थित थे। सारी उपस्थिति १०० से ऊपर थी। ऋचा, श्रुति तथा विभु भी इस समारोह मे उपस्थित थे और मेरे गले मे पड़ी मालाओं को देखकर बड़े प्रसन्न रहे थे।

(ग) भारतीय विद्या-भवन द्वारा सम्मानित—२ अप्रैल १९८२ को भारतीय विद्या-भवन ने भूतपूर्व केन्द्रीय जिसमें मंत्री श्री सी० सुब्रमण्यम की अध्यक्षता मे लेखक को सम्मानित करने के लिए एक आयोजन किया गया। उनके द्वारा वैदिक-संस्कृति पर लिखी गई 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' पुस्तक को सर्वोत्तम घोषित करके उन्हें १०,००० (दस हज़ार) रुपया अर्पण किया गया। इसके साथ एक दोशाला तथा सरस्वती की रजत-मूर्ति भेट की गई। इस समारोह को सम्बोधित करने के लिए

अखिल भारतीय रामकृष्ण मिशन के प्रधान स्वामी रंगनाथन को कलकत्ते से निमन्त्रित किया गया।

(च) **गुरुकुल विश्वविद्यालय का विज़िटर**—१३ जुलाई १९८० को गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा-सभा की मीटिंग हुई जिसमें सभा ने मुझे ३ साल के लिए गुरुकुल विश्वविद्यालय का सर्व-सम्मति से विज़िटर चुना गया। विज़िटर का पद ऑनरेरो होता है, परन्तु विश्वविद्यालय का वह सर्वोपरि अधिकारी भी होता है। उसका काम विश्वविद्यालय के वाइस-चान्सलर को नियुक्त करना तथा विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में आयी किसी भी शिकायत की जाँच करना या करवाना है। तीन साल बीत जाने के बाद फिर दोबारा मुझे विश्व-विद्यालय का अगले तीन साल के लिए विज़िटर नियुक्त किया गया। यह एक सम्मानास्पद पद है और इस पद पर सुप्रीम या हाईकोर्ट के जज आदि की स्थिति के व्यक्ति को ही नियुक्त किया जाता है। १३ जुलाई १९८३ के बाद मुझे दोबारा १९८६ तक के लिए गुरुकुल-विश्वविद्यालय का विज़िटर नियुक्त किया गया।

(छ) **कॉन्स्टीट्यूशन क्लब में अभिनन्दन**—१.५.८२ को कॉन्स्टीट्यूशन क्लब में गोविन्दराम हासानन्द ने प्रकाशकों की तरफ़ से मेरा अभिनन्दन हुआ जिसमे श्री वेदभूषण ने मेरे उपनिषदों के प्राप्त ज्ञान का परिचय कराया। इस अवसर पर बाहर के व्यक्तियों के अलावा अजय, शीला, नीरू, विजय, उषा आदि भी उपस्थित थे। दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के महामंत्री श्री गोपालप्रसाद व्यास द्वारा श्री पुरुषोत्तमदास टंडन व्याख्यानमाला के अन्तर्गत यह सम्मान किया गया।

(च) **हालैंड में अभिनन्दन**—हालैंड-निवासी भारतीयों ने मुझे हालैंड निमन्त्रित किया और हालैंड की मुख्य नगरी एमस्टर्डम का दिल्ली आने-जाने का टिकट भेज दिया। मैं बम्बई होता हुआ २२-५-८२ को वहाँ पहुँचा। वहाँ जिन्होंने मुझे निमन्त्रित किया था उनका पता है: Rishi Baldew Prasad Teware, Van Mourikbroekmanster, 91 (hs), 1065 Ev-Amsterdam (Holland). तार का पता है: १६३०६६ (इससे आगे ०२० कोड लगाना पड़ता है। जब मैं वहाँ पहुँचा तो अनेक हालैंड-वासी भारतीय मालाएँ लेकर उपस्थित थे। इस सबका विवरण मैंने अपनी डायरी के पृष्ठ १०४० मे दिया है। मैं २२ मई को हालैंड पहुँचा था और १८ जुलाई १९८२ को दिल्ली लौट आया। लगभग दो महीने वहाँ रहा और वैदिक धर्म पर जगह-जगह व्याख्यान देता रहा। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सब जगह वहाँ के वासी मेरे नाम से और मेरे साहित्य से परिचित थे और उनके घरो में मेरा उपनिषद्-भाष्य, गीता-भाष्य, संस्कार-चन्द्रिका मौजूद थी। मैं इस बीच लंडन, जर्मनी आदि को भी छू आया और लंडन आर्य-समाज में व्याख्यान भी दिया।

(छ) ३० दिसम्बर, १९८५ को श्री वेद व्यास जी की अध्यक्षता मे डॉ० कर्णसिंह द्वारा 'सत्य की खोज' नामक ग्रन्थ का विमोचन किया गया जिसमें अनेक वैदिक विद्वान उपस्थित थे। डॉ० प्रशान्त वेदालंकार ने डॉ० सत्यव्रत जी का सम्मान किया। डॉ० प्रशान्त वेदालंकार ने दिल्ली प्रशासन द्वारा डाक्टर साहब के वैदिक विद्वान होने के कारण २५०० रुपया पुरस्कार दिये जाने की घोषणा की। यह समारोह प्रसिद्ध पुस्तक विक्रेता श्री गोविन्दराम हासानंद द्वारा आयोजित किया गया था।

(ज) **लुधियाना की जनता द्वारा सम्मान**—१७ मार्च १९८५ को लुधियाना की आर्य जनता द्वारा मेरा लुधियाना में जन्म होने के कारण सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया जिसमें मुझे एक हज़ार रुपया तथा एक ऊनी दुशाला भेंट किया गया।

(झ) **हिण्डोन (भरतपुर) में सम्मानित**—२८ अगस्त १९८६ को हिण्डोन (भरतपुर) के गूढ़ामल पुरस्कार समिति के ट्रस्ट ने कृष्ण जन्माष्टमी के दिन मेरी 'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व' पुस्तक को वैदिक संस्कृति पर लिखी गई अमूल्य पुस्तक घोषित कर मुझे हिण्डोन बुला कर सार्वजनिक रूप से अभिनन्दन कर १५००

(पन्द्रह सौ) रुपया भेंट करते हुए एक दुशाला भी भेंट किया और इस अपूर्व पुस्तक के लिखने के लिए आर्य-जगत् का अभिनन्दन किया।

२८. मेरी दिनचर्या

जब यह पुस्तक पाठकों के हाथ मे आने को है मैं ९१वें वर्ष प्रवेश कर चुका हूँ। मैंने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में दो पुस्तकें लिखी हैं—एक है हिन्दी मे जिसका नाम है: 'बुढ़ापे से जवानी की ओर', दूसरी है अंग्रेजी में जिसका नाम है: 'From Old Age to Youth through Yoga and Homoeopathic Treatment'. इन पुस्तकों मे जो लिखा है वह इधर-उधर से चुनकर नही लिखा, अपने अनुभव के आधार पर लिखा है। अन्य जो लोग विस्तार से जानना चाहे वे इन पुस्तकों का अवलोकन करें। संक्षेप में मेरी दिनचर्या निम्न प्रकार है:

शयन—मैं रात को १० बजे भोजन खाकर सो जाता हूँ।

जागरण—मैं प्रातः ४ बजे बिस्तर छोड़कर उठ जाता हूँ।

व्यायाम—मेरा व्यायाम ४ से ७ तक तीन घण्टे चलता है जिसमे आध घण्टा प्राणायाम, स्नान आदि सब शामिल हैं। मैं ४ से ७ (तीन घण्टे) व्यायामादि के कार्य मे लगा रहता हूँ।

व्यायाम की पद्धति—मैं प्रत्येक जोड का सौ-सौ बार गिनकर व्यायाम करता हूँ, अर्थात् जोड़ो का आगे-पीछे हिलाना। १० अँगुलियो के १० जोड हैं, कलाई के २ जोड हैं, कन्धो के जोड, कोहनी का जोड, कमर का जोड़, घुटनो के जोड, पैरों के जोड, पैरो की अंगुलियो के जोड़, गले का जोड़। कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ-जहाँ भी जोड़ हैं उनको आगे-पीछे हिलाने का व्यायाम करने से उनमे जमा यूरिक एसिड निकल जाता है और जोड़ो के दर्द की शिकायत नही रहती।

जोड़ो की गति के अलावा व्यायाम का दूसरा दौर तब शुरू होता है जब मैं प्लास्टिक के ब्रश से शरीर की एक-एक मांसपेशी का घर्षण करता हूँ। इससे रुधिर का प्रवाह सारे शरीर मे बहने लगता है।

इन व्यायामो के साथ मैं ५ बैठक तथा ५ दण्ड अवश्य निकालता हूँ। पेट के व्यायाम के लिए न्यौली क्रिया जो १५ वर्ष की आयु से करता चला आ रहा हूँ वह करता हूँ और १० मिनट मेरुदण्ड को पीछे झुकाकर खड़ा रहता हूँ। इससे बुढ़ापे का कुबड़ापन नही आने पाता।

प्राणायाम—व्यायाम पूरा करने मे मुझे दो घण्टे लगभग लग जाते हैं। उसके बाद मैं कमरे से बाहर खुले मे बैठकर प्राणायाम करता हूँ। बाहर पद्मासन मे बैठकर मैं योगमुद्रा, आँखो के व्यायाम, अनहद, प्राणायाम, भस्त्रा, पूरक, कुम्भक तथा रेचक प्राणायाम करता हूँ और प्रत्येक प्राणायाम के साथ मृत्युञ्जय महामन्त्र का जाप करता जाता हूँ।

भोजन—मैं पिछले ८ साल से २५ बादाम गिनकर रात को एक कटोरी में डाल देता हूँ। प्रातः उठते ही दो गिलास पानी पी लेता हूँ और शौच से तथा व्यायाम से निवृत्त होकर इन बादामो को पत्थर की एक कुण्डी मे बारीक पीसकर और एक कप पानी डालकर चम्मच से घूँट-घूँट पी लेता हूँ। इसके बाद एक गिलास दूध का आ जाता है। उसे च्यवनप्राश के साथ पी जाता हूँ। कोई फल हो तो खा लेता हूँ। दोपहर तथा शाम को हर समय मैं सिर्फ २ खुश्क फुलके सूखी सब्जी के साथ खाता हूँ। दोनो समय कटोरी-भर दही अवश्य लेता हूँ—दोपहर भी, रात भी।

खाना खाकर अपने शयन-कक्ष में चला जाता हूं। वहीं एक गिलास दूध की आ जाता है। एक कटोरी में दो चम्मच ईसबगोल की भूसी और आधा चम्मच त्रिफला डालकर उसके साथ सारा दूध पी जाता हूं, इससे रात को पेशाब के लिए उठना नहीं पड़ता और सवेरे एक-दो गिलास पानी लेने से पेट साफ हो जाता है।

संक्षेप मे यह है मेरी दिनचर्या जिसमें ४ से ७ के तीन घण्टे व्यायाम में चले जाते हैं। दो-ढाई घण्टे खाने-पीने में चले जाते हैं, बाकी समय समाचार-पत्र पढ़ने तथा पुस्तक या लेख आदि के लेखन में चले जाते हैं। सायंकाल मैं कभी-कभी अपने मित्रों की सुध-बुध लेने को चला जाता हूं और जब फालतू समय होता है तब अपने पोते-पोतियों के साथ टेलीविजन भी देखता हूं यद्यपि मैं उन्हें कहता रहता हूं कि इससे आँखें खराब होती हैं, समय नष्ट होता है, परन्तु वे इसका उत्तर देते हैं कि यह तो जेनरेशन गैप (Generation gap) है, और यह सुनकर मैं चुप्पी साध लेता हूं और टेलीविजन देखने में उनके साथ हो लेता हूं।

गुरुकुल के प्रबन्ध में उथल-पुथल

मेरा गुरुकुल में विजिटर नियुक्त होना

१९६६ में मेरा मुख्याधिष्ठाता एवं कुलपति के तौर पर सेवा-काल जब समाप्त होने जा रहा था, तब मैंने तीन मास पूर्व सभा को लिख दिया था—अब किसी अन्य व्यक्ति को चुनने का प्रबन्ध करें। उस समय गुरुकुल के विजिटर श्री मंगलदेव जी शास्त्री थे और सभा का सब प्रबन्ध प्राय. हरियाणावासी व्यक्तियों के हाथ में था। उनकी प्रेरणा से श्री मंगलदेव शास्त्री ने श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री को कुलपति नियुक्त किया। सभा-प्रधान ने मुझे लिखा कि आप श्री महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री को चार्ज देने हेतु गुरुकुल पधारें। नियत समय पर मैं जब गुरुकुल पहुँचा तो पं० धर्मपाल जी विद्यालंकार सहायक मुख्याधिष्ठाता से मुझे ज्ञात हुआ कि विजिटर महोदय का तार आया है कि चार्ज न दिया जाए। मैं तो चार्ज देने के लिए ही आया था किन्तु इस तार का ज्ञान होने पर मैं दुविधा मे पड़ गया। इस समय सभा-प्रधान श्री रामसिंह जी तथा सभा-मन्त्री श्री जगदेवसिंह जी सिद्धान्ती श्री महेन्द्रप्रताप सिंह जी को लेकर चार्ज दिलाने हेतु गुरुकुल आए हुए थे और उन्हें उक्त तार का ज्ञान भी हो चुका था। प्रातःकाल श्री जगदेव जी सिद्धान्ती मुझसे मिलने आए और कहने लगे कि सभा-प्रधान जी आपसे मिलना चाहते हैं। मैंने कहा कि मै स्वयं उनसे मिल लूँगा, उनके आने की आवश्यकता नही है। मैं जब उनसे मिलने गया तो उन्होने कहा कि हम आपका विदाई-समारोह करना चाहते हैं, इसके लिए कोई समय निश्चित किया जाए। इस पर मैंने उत्तर दिया कि मेरी जानकारी में श्री मंगलदेव जी शास्त्री का तार आ गया है कि फिलहाल चार्ज देना रोक दिया जाए। इस हालत में चार्ज देने का कोई अर्थ नही रहता। इस विलक्षण स्थिति को देखकर मैं गुरुकुल से वापिस चला गया और श्री रामसिंह जी तथा श्री जगदेव जी सिद्धान्ती ने श्री महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री को कुलपति का चार्ज अपने-आप दे दिया। इधर श्री मंगलदेव शास्त्री बनारस से पधारे और उन्होंने डॉ० सत्यकेतु जी को कुलपति के लिए नामांकित कर दिया। इस स्थिति में सभा में द्वन्द्वयुद्ध होने लगा क्योंकि दोनों पक्षों ने अपने-अपने कुलपति श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री तथा डॉ० सत्यकेतु जी विद्यालंकार नियुक्त कर दिए थे। दो कुलपति हो जाने के कारण सरकार ने विश्वविद्यालय की ग्राण्ट बन्द कर दी। अन्ततोगत्वा राज्य-शिक्षा-मन्त्री प्रो० शेरसिंह जी के बीच मे पड़ने से दोनों कुलपतियों ने त्यागपत्र दे दिया और तब से गुरुकुल में कुलपति के पद के लिए छीना-झपटी शुरू हो गई।

इस छीना-झपटी के बाद श्री प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति को विजिटर द्वारा नियमित तौर पर गुरुकुल का कुलपति बनाया गया। श्री प्रियव्रत जी मार्च १९६७ से जुलाई ७१ तक कुलपति रहे। इनका काल समाप्त होने पर श्री रघुवीरसिंह शास्त्री को, जो संसद-सदस्य का चुनाव हार गए थे, दिनांक ४ जुलाई १९७१ को कुलपति नियुक्त किया गया। चूँकि कुलपति का चुनाव अधिकतर आर्यसमाज की प्रतिनिधि सभाओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर आश्रित रहता है, इसलिए इस समय इस काल में प्रतिनिधि सभा के चुनाव में जब स्वामी रामेश्वरानन्द हार गए और श्री वीरेन्द्र जी आदि के सहयोग से स्वामी इन्द्रवेश

चुनाव जीत गए तब स्वामी इन्द्रवेश जी सभा-प्रधान होने के नाते कुलाधिपति बन गए। इस काल में श्री मंगलदेव जी शास्त्री की जगह श्री दुःखनराम जी विजिटर नियुक्त हुए। डॉ० दुःखनराम जी ने, विजिटर की हैसियत से पं० सत्यकेतु जी को गुरुकुल का कुलपति नियुक्त कर दिया और उन्होंने ३ जुलाई १९७४ को कार्य-भार सँभाल लिया। इस समय गुरुकुल में अनेक विवाद उठ खड़े हुए जिसका मुख्य कारण यह था कि आयुर्वेद फार्मेसी, जो गुरुकुल के आयुर्वेद कॉलेज को चलाने के लिए तथा गुरुकुल की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चलाई गई थी, उससे गुरुकुल को धन मिलना बन्द हो गया। इस स्थिति में धनाभाव के कारण गुरुकुल में अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। कर्मचारियों को ठीक समय पर वेतन नहीं मिलता था, भवनों की मरम्मत नहीं हो सकती थी, बिजली-पानी का सकट था, सारा परिसर छिन्न-भिन्न होता हुआ दीख रहा था। ऐसी स्थिति को देखकर श्री सत्यकेतु जी ने अपने सेवा-काल से पूर्व ही त्याग-पत्र दे दिया। तदनन्तर ८ नवम्बर १९७५ को श्री बलभद्र कुमार हूजा को सभा ने सत्यकेतु जी के स्थान पर कुलपति-पद पर नियुक्त किया। इस बीच प्रतिनिधि सभा के चुनाव का फिर समय आ गया जिसमें श्री वीरेन्द्र जी तथा स्वामी इन्द्रवेश जी मे, जो पहले एक-साथ थे, मतभेद उत्पन्न हो गया जिसके कारण चुनाव में स्वामी इन्द्रवेश जी पराजित हो गए और पृथ्वीसिंह जी आजाद सभा-प्रधान तथा श्री वीरेन्द्र जी मन्त्री चुन लिए गए। इस द्वन्द्वयुद्ध का परिणाम यह हुआ कि स्वामी इन्द्रवेश जी ने एक अलग प्रतिनिधि सभा खडी कर दी जिसकी तरफ से डॉ० गंगाराम गर्ग को कुलपति नियुक्त किया गया। अब दूसरी बार पुनः गुरुकुल के दो कुलपति हो गए—एक कुलपति श्री आजाद जी के प्रधानत्व की सभा से नियुक्त और दूसरा कुलपति स्वामी इन्द्रवेश जी के प्रधानत्व की सभा द्वारा नियुक्त। श्री बलभद्र कुमार हूजा को श्री आजाद द्वारा तथा डॉ० गंगाराम गर्ग श्री इन्द्रवेश द्वारा नियुक्त होकर कुलपति बना दिए गए।

इस अवैधानिक परिस्थिति को देखकर विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग ने श्री बलभद्र कुमार हूजा के पक्ष में अपना निर्णय लेते हुए, जो पहले से कुलपति चले आ रहे थे, कुलपति स्वीकार करते हुए श्री गंगाराम के कुलपतित्व को अस्वीकार कर दिया। अन्त मे आजाद जी की संरक्षता मे चल रही सभा के प्रभुत्व को मान्यता प्राप्त हुई जिसके अनन्तर विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग ने विश्वविद्यालय को ग्राण्ट देना प्रारम्भ कर दिया। इन विवादो में पड़ जाने के कारण गुरुकुल को आयुर्वेद कॉलेज से हाथ धोना पड़ा। क्योंकि फार्मेसी से आयुर्वेद कॉलेज को सहायता मिलना बन्द हो गई थी, इसलिए यह कॉलेज उत्तर प्रदेश सरकार ने अपने हाथो में ले लिया और अब उस पर गुरुकुल का कोई स्वत्व नहीं रहा। श्री बलभद्र कुमार हूजा कुछ दिन ही कार्य कर पाये थे कि इसी बीच स्वामी इन्द्रवेश जी ने पुनः गुरुकुल पर अगस्त १९७७ मे कब्जा कर लिया और श्री विजयपाल सिंह वर्मा को कुलपति नियुक्त कर दिया। तदनन्तर यह सारा मामला अदालत में चलने लगा।

२ जुलाई १९८० को जिला-जज सहारनपुर ने सारा केस सुनकर यह निर्णय दिया कि श्री बलभद्र कुमार हूजा ही यथार्थ रूप में कुलपति हैं तथा श्री विजयपाल सिंह वर्मा जिनको स्वामी इन्द्रवेश ने कुलपति नियुक्त किया था उन्हें अदालत ने कुलपति स्वीकार नहीं किया। इसके बाद पुनः ४ जुलाई १९८० को श्री हूजा गुरुकुल पहुँच गए और उन्होंने विधिवत् कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। १३ जुलाई १९८० को सीनेट की बैठक हुई, जिसमें मुझे ३ साल के लिए विजिटर नियुक्त किया गया क्योंकि डॉ० दुःखनराम जी का तब तक विजिटर के रूप में कार्यकाल समाप्त हो चुका था। चूँकि श्री हूजा जी पहले ही डॉ० दुःखनराम जी द्वारा नियुक्त किए जा चुके थे, इसलिए वे यथापूर्व कुलपति का कार्य करते रहे। मैंने ३१ जुलाई १९८२ को श्री बलभद्र कुमार हूजा को तीन वर्ष के लिए कुलपति नियुक्त कर दिया। इसके अनन्तर मेरा कार्यकाल समाप्त होने पर ३१ जुलाई १९८३ को सीनेट (शिष्ट-परिषद्) ने मुझे फिर तीन वर्ष के लिए विजिटर नियुक्त किया। इस प्रकार विजिटर के रूप में मेरा कार्य-काल ३१ जुलाई १९८६

में समाप्त होता है। मेरा सदा विचार रहा है कि हमें गुरुकुल का विकास इस प्रकार करना चाहिए जिससे बालक ७ वर्ष की आयु में प्रविष्ट होकर १४ वर्ष गुरुकुलीय जीवन का लाभ उठाएँ। इस विचार को कार्यान्वित करने के लिए धन की आवश्यकता थी जो फार्मेसी से ही मिल सकता था। यह गुरुकुल को भरपूर रूप में मिल नही रहा था। क्यों नही मिल रहा इसकी जाँच करने के लिए मैने विश्वविद्यालय के विधान के अनुसार पहले श्री एच० आर० खन्ना, सुप्रीम कोर्ट के जज, श्री वेदव्यास तथा श्री नवनीतलाल जो दोनों प्रसिद्ध एडवोकेट हैं उनकी लिखित सम्मति इस विषय में प्राप्त की कि क्या मैं विजिटर की हैसियत से गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी का कण्ट्रोलर तथा आडिटर ऑफ इण्डिया से आडिट करा सकता हूँ या नहीं। इन सब विधि-विशेषज्ञों के लिखित उत्तर 'हाँ' मे आने पर मैने कण्ट्रोलर तथा आडिटर जनरल ऑफ इण्डिया से फार्मेसी का आडिट करवाया जिसके परिणामस्वरूप गुरुकुल के विद्यालय-विभाग तथा कन्या गुरुकुल को नियमित तौर पर प्रतिमास आर्थिक सहायता मिलने लगी जिसकी उत्तरोत्तर वृद्धि की आशा है।

इस बीच श्री बलभद्र कुमार हूजा ने गुरुकुल की बहुत सेवा की और भिन्न-भिन्न विभाग खोलकर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एव अन्य विभागो से आर्थिक सहायता प्राप्त की। मेरे सामने मुख्य प्रश्न यह था कि गुरुकुल को गुरुकुल का यथार्थ स्वरूप कैसे दिया जाए ? गुरुकुल के कुछ आधारभूत सिद्धान्त है, उदाहरणार्थ—गुरु-शिष्य का दिन-रात का सम्बन्ध, दैनिक दिनचर्या, ब्रह्मचर्याश्रम, तपस्या का जीवन, आदि-आदि। परन्तु जिस रूप मे गुरुकुल का विकास हुआ, इस समय इन सबका अभाव प्रतीत होता है। गुरुकुल के सम्बन्ध मे इस ग्रन्थ मे मैंने विस्तार से लिखा है कि गुरुकुल का भूतकाल क्या था और भविष्य-काल क्या होना चाहिए। जो व्यक्ति कुलपति के रूप मे इस सपने को पूरा कर सकेगा, वही यथार्थ मे कुलपति बनने के योग्य कहा जा सकेगा।

गुरुकुल जब पूर्ण विकास की ओर उन्मुख होने को है, तब एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि इसका भावी रूप क्या होगा ? हमें केवल ऐसे विद्यार्थियो का मार्गदर्शन करना है जिन्होने ७ वर्ष की अवस्था में गुरुकुल में प्रवेश लिया हो, जिनकी शेष शिक्षा गुरुकुल के आँचल मे पूर्ण हुई हो, जिन्होने अपने आपको गुरुकुल के अनुशासन में ढाला हो, ब्रह्मचर्य को हर रूप मे अपनाया हो, निर्धारित पाठ्यक्रम के अलावा भी संस्कृत और वैदिक साहित्य का अध्ययन किया हो, समाज-सेवा का व्रत जिनके जीवन का अंग बन गया हो तथा जिनकी सत्यता, ईमानदारी तथा निष्ठा से प्रभावित होकर सरकार उन्हे नौकरियाँ देने के लिए प्रेरित हो सके। अगर हमारी संस्था ऐसे अनुशासित, समर्पित, प्रशस्त हृदय, कर्मठ, राजभक्त, समाजसेवी, विद्वान् तथा होनहार नवयुवकों को पैदा कर सकी तो निश्चय ही गुरुकुल की शिक्षा-नीति आधुनिक सन्दर्भो में सफल समझी जा सकेगी 'गुरुकुल का मूल उद्देश्य पूर्ण हो सकेगा तथा उसकी प्रासंगिकता अपरिहार्य हो जाएगी।

कुलपति की नियुक्ति

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि श्री बी० के० हूजा को सहारनपुर के जिला-न्यायाधीश ने वैधानिक ढंग से नियुक्त कुलपति घोषित किया। उनका द्वितीय कार्यकाल ३१ जुलाई १९८५ को समाप्त होने जा रहा था। यह स्मरण रखने योग्य है कि गुरुकुल एक सांस्कृतिक संस्था है, इसके मूलभूत सिद्धान्त हैं और उन सिद्धान्तों से यह संस्था दूर नही हट सकती। यद्यपि यह अभिस्वीकृत समकक्षता प्राप्त विश्व-विद्यालय बना तथापि यह अनुभव किया गया कि इसे गुरुकुल की निजता की रक्षा करना है तथा गुरुकुलीय संस्कृति का अर्जन इसका प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए। इस दृष्टि से श्री बी० के० हूजा का चयन सर्वथा उपयुक्त था। श्री हूजा मास्टर गोवर्धन शास्त्री के पुत्र हैं जो गुरुकुल के प्रारम्भिक निर्माताओं मे से एक थे

और जिन्होंने महात्मा मुंशीराम जी के योग्य निर्देशन में गुरुकुल विद्यालय में मुख्याध्यापक के रूप में कार्य किया था। श्री हूजा ने अपने पिता के सभी श्रेष्ठ गुण उत्तराधिकार में प्राप्त किए थे, वह गुरुकुल की मूल चेतना से पूर्ण परिचित थे तथा उन्हें गुरुकुलीय परम्पराओं का समुचित ज्ञान था। यह गुरुकुल का सौभाग्य था कि उसे श्री हूजा की सेवाएँ प्राप्त हुईं, श्री हूजा आई० ए० एस० अधिकारी के रूप में हाल में ही सेवा-निवृत्त हुए थे। इस उपयुक्त चयन के लिए उनके चयनकर्ताओं को मैं धन्यवाद देता हूँ। अपने परिद्रष्टा काल में, मैंने उन्हे विद्यार्थियों मे गुरुकुल की उन्हीं उदात्त परम्पराओं और आदर्शों के पालन के लिए चिन्तित पाया जिनके लिए यह महान् विश्वविद्यालय स्थापित हुआ था। वैदिक मैगजीन का नया रूप 'वैदिक पाथ' के रूप में पुनः प्रकाशित हुआ। गुरुकुल के हर विभाग में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ जिनमे विद्यार्थियों, अध्यापको तथा आचार्यों ने लेख लिखने शुरू किए, पुराने गुरुकुल में भी यही परम्परा थी। यद्यपि वह विद्यालय विभाग के पूर्णतया अध्यक्ष नहीं थे फिर भी योगासनो का अभ्यास और वेदमन्त्रों का अर्थ सहित स्मरण करना उन्होने वहाँ ब्रह्मचारियो के लिए अनिवार्य करा दिया। उन्होंने पवित्र काँगडी ग्राम के स्तर तथा परिवेश को सुधारने के लिए प्रयत्न किया वही काँगड़ी ग्राम जो गुरुकुल की मूल जन्मभूमि है तथा जिसका नाम गुरुकुल शब्द के साथ जुड़ा है।

उन्होंने पुण्यभूमि के भवनों की तरफ, जो गंगा की बाढ़ से १६२४ मे बेकार हो गए थे, ध्यान दिया। उन्होंने गुरुकुल में लगातार १० वर्षों तक परिश्रम करके उसे दलदल मे धँसने से बचाया। वे सुनहरे दिन फिर लौट आएँगे अगर कोई नवागन्तुक आए तथा गुरुकुल की नैया को पार उतार सके।

इस समय श्री हूजा का द्वितीय कार्यकाल समाप्त होने जा रहा था। नियमानुसार हमे उनके स्थान पर नये प्रशासक का चयन करना था। शिक्षा मन्त्रालय और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग इस पक्ष में थे कि कोई भी कुलपति ६५ वर्ष की आयु के बाद कार्य न करे। जैसा कि पहले भी देखा जा चुका था, इस बात को मद्देनजर रखते हुए कि श्री हूजा की निरन्तर सेवाएँ संस्था के लिए नितान्त आवश्यक तथा उपयोगी हैं, हमने अपने संशोधित संविधान के अनुसार उनकी ६५ वर्ष की आयु के बावजूद, उनकी सेवाओं का पूरा लाभ उठाया। लेकिन हूजा जी हमेशा तो अपनी सेवाएँ नही दे सकते थे। इस सन्दर्भ में पत्र संख्या ११-२-/८२-यू ३—जो शिक्षा मन्त्रालय भारत सरकार से २४-८-१६८२ को प्राप्त हुआ था—में कहा गया था कि विश्वविद्यालय द्वारा किए गए प्रावधान के अनुसार अब तो श्री हूजा की नियुक्ति पुनः स्वीकार कर ली गई है पर आगे से यह ध्यान रखा जाए कि कोई भी कुलपति ६५ वर्ष के बाद कार्य नही कर सकेंगे।

ऐसी परिस्थिति मे जबकि श्री हूजा की आयु ७० वर्ष हो चुकी थी और उनका कार्यकाल समाप्त हो चुका था, हमारे सामने केवल एक ही विकल्प था कि हम नये कुलपति का चयन करें।

इस सम्बन्ध में गुरुकुल स्नातकों का एक प्रतिनिधि मण्डल मुझसे मिला और कहा कि गुरुकुल के स्नातक को कुलपति बनने का हक मिलना चाहिए और इसके लिए कुछ नाम भी सुझाए। हालाँकि परिद्रष्टा को कुलपति नियुक्त करने का अधिकार है फिर भी वह मनमानी नहीं कर सकता। नियमानुसार परिद्रष्टा तीन नामों की सूची में से जो तीन सदस्यीय समिति—परिद्रष्टा का प्रतिनिधि, कुलाधिपति तथा अनुदान आयोग का प्रतिनिधि—प्रस्तावित करती है, में से किसी एक का चयन कर सकता है। इस समिति में प्रो० वेदव्यास एडवोकेट परिद्रष्टा द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि, श्री एस० एन० मरवाह एडवोकेट कुलाधिपति के प्रतिनिधि तथा डॉ० रमेश मोहन कुलपति मेरठ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त हुए। इस समिति ने पाँच नामो का सुझाव दिया जिनमें एक नाम डॉ० सत्यकाम वर्मा का भी था जो कि गुरुकुल के स्नातक थे। सूची के शेष चार नामों में से श्री हूजा की आयु ७० वर्ष हो चुकी थी। बचे नामों में श्री सत्यकाम वर्मा ही स्नातक थे और स्नातक समुदाय यह आग्रह कर रहा था कि कुलपति

कोई स्नातक ही होना चाहिए। मैंने सोचा कि सत्यकाम वर्मा दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रहे है अतः इस पद के योग्य भी हैं। इसके अलावा उनके पिता श्री विद्याधर विद्यालंकार मेरे सहपाठी रहे है, वह भी गुरुकुल के स्नातक थे। यह उचित ही है कि गुरुकुल के स्नातक यह अनुभव करें कि गुरुकुल के उत्थान मे उनका उत्थान तथा पतन में उनका पतन है। प्रत्येक स्नातक के मन में यह रहना चाहिए कि हर तरह से गुरुकुल की प्रगति हो। इन विचारों के साथ मुझे श्री सत्यकाम वर्मा को कुलपति नियुक्त करने मे तनिक भी हिचकिचाहट नहीं थी क्योंकि मुझे उनसे यह पूर्ण आशा थी कि वह गुरुकुल की प्रगति के लिए हर सभव प्रयत्न करेंगे। उन्हें कुलपति नियुक्त करने से पहले मैंने उन्हे निम्नलिखित सुझाव दिए जिनसे गुरुकुल की प्रगति संभव हो सके।

१. गुरुकुल विश्वविद्यालय में एक आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना की गई थी जिसमे एक फार्मेसी थी और जिसका उद्देश्य विद्यार्थियों को आयुर्वेदिक औषधियों का निर्माण करना बतलाना था। यह एक व्यापारिक संस्थान भी है जिससे महाविद्यालय और गुरुकुल की आय बढ़ सकती है। यह महा-विद्यालय विश्वविद्यालय का महत्त्वपूर्ण अंग था; लेकिन दुर्भाग्यवश कुछ विचित्र कारणो से इसका उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा अधिग्रहण कर लिया गया। हमें इसे फिर से गुरुकुल विश्वविद्यालय के अन्तर्गत लाने के लिए आवश्यक कदम उठाने चाहिए। इस दिशा मे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा उत्तर प्रदेश सरकार से सहायता लेने के लिए भी प्रयत्न किए जाने चाहिए। क्योकि श्री सत्यकाम वर्मा मूलतः आयुर्वेदा-लंकार थे अतः यह भार उनके कन्धों पर था।

२. गुरुकुल को विश्वविद्यालय के समकक्ष दर्जा इस आधार पर दिया गया था कि यहाँ संस्कृत साहित्य, प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा वैदिक अध्ययन का कार्य विशेष रूप से होगा। इस पक्ष पर इसके संचालक विशेष ध्यान दें। इस सम्बन्ध में मैंने और डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने एक योजना की रूपरेखा तैयार की जिसके अन्तर्गत अनुदान आयोग से अनुदान लेकर अनुसन्धान किया जा सकता है।

३. उन्हें यह भी देखना चाहिए कि गुरुकुल गोशाला का इस प्रकार विकास हो कि गुरुकुल के ब्रह्मचारी तथा परिवार के लोगो को शुद्ध दूध उपलब्ध हो सके जैसा कि गुरुकुल के प्रारम्भ में होता था। राज्य तथा केन्द्रीय सरकार भी ऐसी योजनाओं के कार्यान्वयन में सहायता देने के लिए रुचि रखती हैं।

४. अन्त में, उन्हें गुरुकुलीय शिक्षा को कुछ ऐसा मोड देना चाहिए कि विश्वविद्यालय मे उन्ही विद्यार्थियों को प्रवेश मिले जो अपनी स्कूली शिक्षा गुरुकुलीय अनुशासन मे रहकर पूर्ण कर सके हो। जो गुरुकुलीय विचारों में पूर्णतया रच-पच गए हों। उन्हें आर्यसमाज की सेवाओं के लिए तैयार करना चाहिए। यह भी प्रयास करना चाहिए कि गुरुकुल के विद्यार्थी आई० ए० एस०, आई० पी० एस० तथा आई० एफ० एस० जैसे प्रशासनिक पदों पर नियुक्त हों तथा वे देश की समस्याओं का निबटारा अपने पवित्र तथा निष्कलंक चरित्र के बल पर कर सकें।

प्रस्तावित अनुसन्धान योजना

इस सम्बन्ध में विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलाधिपति डॉ० सत्यकेतु जी ने पाँच और मैंने एक— कुल मिलाकर छह योजनाएँ प्रस्तावित कीं तथा इन योजनाओं पर खर्च होने वाली अनुमानित राशि का ब्योरा भी प्रस्तावित किया जिससे कुलपति अनुदान आयोग से राशि प्राप्त कर इन योजनाओ को कार्यान्वित करा सकें। इन योजनाओ का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

अनुसन्धान योजना-१

वैदिक शब्दार्थ कोश (वैदिक साहित्य के पारिभाषिक तथा विशेष सन्दर्भी शब्दों का संग्रह) वेद में

प्रयुक्त पारिभाषिक तथा प्रसंगगर्भी शब्दों का अर्थ करने में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने काफी श्रम किया है। भारतीय विद्वानों में माधव, स्कंद स्वामी, सायण, उव्वट, महीधर, दयानन्द सरस्वती तथा कपाली शास्त्री तथा पाश्चात्य विद्वानों में मैक्समूलर, वेबर, ग्रिफिथ, ह्विटने, ओल्डन बर्ग तथा कीथ ने अपने-अपने ढंग से वैदिक शब्दों का अर्थ किया है अतः स्वाभाविक है कि उनके अर्थों तथा विवेचनाओं में अन्तर आ गया है। प्राचीन ग्रन्थों—ब्राह्मण, निरुक्त तथा सूत्र—ने भी रहस्यात्मक वैदिक शब्दों के अर्थ बताने का प्रयत्न किया है पर उनके मत भी एक नहीं हैं। अतः वैदिक शब्दार्थ कोश वेद की पूर्ण जानकारी के लिए भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की पूर्ण सहायता करेगा। वेद में प्रवेश करने वाले विद्वानों के लिए यह अत्यन्त लाभकारी होगा क्योंकि उनके लिए यह विश्व ज्ञानकोश का कार्य करेगा। मूल शब्द की चेतना, अर्थ तथा व्याख्याएँ एक स्थान पर उपलब्ध हो जाएँगी। उन्हें तैयार सन्दर्भ मिल सकेंगे। इस कार्य को विश्वविद्यालय में इसी उद्देश्य से स्थापित संस्थान द्वारा सम्पन्न कराया जाना चाहिए। वैदिक अध्ययन की दिशा में यह एक स्तुत्य कार्य होगा क्योंकि इसमे वैदिक साहित्य मे प्रवेशार्थियों और अनुसन्धाताओं को प्रारम्भिक तत्त्वों का परिचय प्राप्त हो सकेगा।

अनुसन्धान योजना-२

पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका की प्राचीन सभ्यताओं के सम्बन्ध मे १९वी शती में मध्यपूर्व देशों में हुई पुरातात्त्विक खुदाई से जो निष्कर्ष उपलब्ध हुए, उनका प्रकाशन कई खण्डों मे हुआ है। उनके अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि उन सभ्यताओं तथा उन लोगों के सन्दर्भ और आवश्यक जानकारी प्राचीन भारतीय साहित्य में भी उपलब्ध है। पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका तथा केन्द्रीय अमरीका की उपलब्ध सामग्री के आधार पर अध्येताओं को वैदिक तथा उत्तर वैदिक सभ्यताओं का अध्ययन कर प्राचीन भारत और बाह्य दुनिया के सम्बन्धों पर रोशनी डालनी चाहिए। निम्नलिखित अनुसन्धान योजनाएँ ऐसे कार्य के लिए ढांचा बुन सकती हैं--

१. प्राचीन भारत का अन्य भूखण्डों से सम्बन्धों का भौगोलिक विस्तार जैसे—दक्षिण रूस, अमरीका, तुर्की, और एशिया माइनर, हिती राज्य सीमाएँ, बोगाज़कोई, मेसोपोटामिया, एलम, इजीप्ट तथा उत्तर-पश्चिमी ईरान।

२. प्राचीन लोग जिनसे भारत के सम्बन्ध थे। जैसे—हिती, मितेनिस, फिनीसियन्स, असीरियन्स तथा सीथीयन्स आदि।

३. प्राचीन भारत की दूसरे लोगों से पौराणिक समानताएँ—दिति-अदिति की पुराकथा, सर्पों तथा गरुड़ के बीच शत्रुता, भारत के सम्पाति तथा ग्रीस के प्रोमेथियस और इकारस की कथा, वृषभ की इन्द्र रूप में मिस्र के एपिस साँड से तुलना आदि।

४. जलप्लावन की कथा—शतपथ ब्राह्मण, अवेस्ता, द ओल्ड टेस्टामेंट तथा सुमेर-बेबोलियन परम्पराओं का तुलनात्मक अध्ययन। लीनर्ड वूले द्वारा सुमेरिया तथा जमदेतनिसाट क्षेत्रो की खुदाई द्वारा सम्पुष्ट।

५. प्राचीन भारत तथा पश्चिमी जगत के बीच सम्पर्क।

६. अज़तेक, मय और इंका सभ्यताओं (दक्षिण मध्य अमरीका) का अध्ययन विशेषतया प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध इन सभ्यताओ के सन्दर्भो का अध्ययन।

अनुसन्धान योजना-३

धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन

वेद हिन्दुत्व के सभी वर्गों और पहलुओं के मुख्य स्रोत माने जाते है। जहाँ तक बौद्ध और जैन धर्म

के दार्शनिक सिद्धान्त, नैतिक विचार और धार्मिक क्रिया-प्रणालियो की बात है, वे भी वेद पर ही आधारित हैं। प्राचीनकाल मे भारत के पश्चिमी देशो से घनिष्ठ सम्बन्ध थे। प्राचीन सभ्यताओ के धार्मिक मतो के विषय में कहा जाता है कि उन पर वैदिक और वैदिकोत्तर मतो का गहरा प्रभाव है। पश्चिमी दुनिया के अनेक प्राचीन धार्मिक सम्प्रदायो पर वैदिक मत का प्रभाव पाश्चात्य विद्वानो ने स्वीकार भी किया है। एक-दूसरे को प्रभावित करने वाले समान-असमान तत्त्वो की जानकारी इन धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त की जा सकती है। यह कहने की आवश्यकता नही कि आधुनिक सन्दर्भों मे तथा राष्ट्रीय एकता और अखण्डता की दिशा में इस तुलनात्मक अध्ययन की भूमिका कितनी उपयोगी होगी ?

अनुसन्धान योजना-४

संस्कृत साहित्य का विशद् अध्ययन

संस्कृत विश्व की जीवित भाषाओ मे सबसे पुरानी मानी जाती है। इसका साहित्य विशाल एवं वैविध्यपूर्ण है। हिन्दुओ और बौद्धो के पवित्र ग्रन्थों—वैदिक संहिताओ भगवद्गीता, त्रिपिटक तथा शैवागमो के अतिरिक्त दर्शन, ललितकला, शिल्प, राजनीति, प्रशासनतन्त्र, कर्मकाण्ड, मानवीय आचार, कविता, नाटक और मनोविज्ञान जैसे अन्य विषयो पर भी इसमे अनेक ग्रन्थ उपलब्ध है। पुराणो और रामायण—महाभारत जैसे महाकाव्यो मे प्राचीन भारत की सभी परम्पराएँ और विश्वास निहित है। उनमे वर्णित कथाएँ और पुराख्यान तथा कथासरित्सागर जैसे संकलन प्राचीन भारत के जनसामान्य के वास्तविक जीवन, विश्वास, क्रियाकलाप तथा आकाक्षाओ को समझने मे महत्त्वपूर्ण साधन का कार्य करते है। यह विशाल साहित्य भारत और उसके निकटवर्ती देशो पश्चिमी तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे शताब्दियो तक विकसित होता रहा। विकास की यह प्रक्रिया मध्यकाल तथा आधुनिक काल तक लगातार चलती रही और आज भी गतिमान है। यह आज भी भारत की जनता के व्यवहार और विचार को भले ही उनके धर्म और जाति कुछ भी हों, प्रभावित और नियन्त्रित करती है।

इस समूचे साहित्य के इतिहास को बीस खण्डो मे प्रस्तावित करने की योजना बनाई गई है। यह भी इच्छा है कि सातवी पंचवर्षीय योजना मे कम से कम इसके आठ खण्ड मुद्रित हो जाएँ।

अनुसन्धान योजना-५

वैदिक साहित्य का अंग्रेजी तथा अन्य आधुनिक भाषाओं में अनुवाद

वैदिक संहिताओ के महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यानुसार किए गए अर्थ और भाष्यो के अग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किए जा चुके हैं तथा अब भी प्रकाशित किए जा रहे हैं। लेकिन ब्राह्मण ग्रन्थो के भाष्य और अनुवाद का कार्य अभी तक नही के बराबर हुआ है। शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण इस शृंखला मे अधिक उपयोगी हैं। स्वामी जी की भाष्य-विधि तथा नैरुक्त प्रणाली का आश्रय लेकर इनके भाष्य तथा अनुवाद की योजना भी विचाराधीन है। इस कार्य को पूरा करने मे कम से कम पाँच वर्ष लगेंगे।

अनुसन्धान योजना-६

संस्कृत-आधारित अंग्रेजी शब्दकोश का निर्माण

शब्दो की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों की दो धाराएँ दो अवधारणाएँ प्रस्तुत करती है। एक का मानना है कि एक भारोपीय परिवार की भाषा थी जिससे संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा फारसी आदि भाषाओ का जन्म हुआ। दूसरी धारा मे मुख्यतः स्वामी दयानन्द का कथन है कि संस्कृत एकमात्र प्राचीनतम भाषा है जिससे ग्रीक, लैटिन आदि का जन्म हुआ। अतः यह आवश्यक हो गया कि एक ऐसे शब्दकोश का

निर्माण हो जिसमें अन्य भाषाओं के सभी शब्दों की संभावित, निरुक्तियाँ संस्कृत के आधार पर प्रस्तुत की जाएँ। मैक्समूलर तथा अन्य विद्वानों ने ऐसे कुछ शब्द अपने ग्रन्थों में दिए भी हैं जैसे पितृ से फादर, मातृ से मदर, स्वसा से सिस्टर, भ्रातृ से ब्रदर, अष्ट से एट, नव से नाइन, शत से सेंट आदि। इस तरह के और भी शब्द हैं। कुछ विद्वानों को इस तरह के शब्दकोश के निर्माण में लगाया जाना चाहिए जो लैटिन, ग्रीक, फ़ारसी आदि भाषाओं के शब्दों के संस्कृत मूल ढूँढें तथा उनका निरुक्तिपूर्वक आकलन करें। इसी तरह का कुछ कार्य गुरुकुल के पुराने स्नातक पण्डित परमानन्द ने किया। उन्होंने एक वृहत् संकलन किया और जब यह कार्य पूरा होने को था तो उनकी मृत्यु हो गई। वह सब सामग्री उनकी पत्नी के पास हो सकती है। मैंने भी इसी तरह के एक शब्दकोश का निर्माण किया था। वह शब्दकोश भी इस विषय में काफी लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। कुछ और विद्वानों ने भी इस दिशा से प्रयत्न किए थे। प्रो० बालकृष्ण ने जो पहले गुरुकुल में थे और फिर बम्बई चले गए थे, एक खास प्रकार के शब्दों की सूची तैयार की थी। यह शोध योजना केवल वैदिक शब्दों के लिए ही नहीं बल्कि अंग्रेजी कोश में पाये जाने वाले सभी शब्दों के लिए है। इस योजना में न अधिक लागत की जरूरत है और न अधिक विद्वानों की। कुछ थोड़े से विद्वान् इस तरह के शब्दो का संग्रह शब्दकोशों तथा यूरोपीय विद्वानों की पुस्तको से कर सकते है। मेरी दृष्टि में यह अपने तरह की पहली अनुसन्धान योजना होगी और अगर इस तरह के शब्दकोश का निर्माण किया जाए तो यह काफी महत्त्वपूर्ण होगा। मैं पिछले कई वर्षों से इस बात पर काफी बल देता रहा हूँ और मैंने इस पर कार्य भी किया। जब मैं राज्यसभा का सदस्य था तब मैंने श्री छागला से जो उस समय केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री थे, इस योजना को वित्तीय सहायता प्रदान करने की सिफारिश की थी। गुरुगुल इसके लिए तैयार था और मन्त्री महोदय ने आर्थिक सहायता के लिए आश्वासन भी दिया था।

डॉ० सत्यकेतु जी द्वारा सुझाई गई अनुसन्धान-योजनाओ पर भी विचार किया जा सकता है पर इसके लिए पर्याप्त समय, धन और विद्वानों की आवश्यकता होगी। डॉ० सत्यकेतु ने 'श्रद्धानन्द शोध संस्थान' के रूप में उनका प्रारूप भी प्रस्तुत किया है। उपर्युक्त अनुसन्धान योजनाओ मे से किसी पर भी गुरुकुल विश्वविद्यालय में कार्य किया जा सकता है।

जब श्री सत्यकाम की नियुक्ति कुलपति के पद पर की गई थी तो मुझे उनसे पूरी आशा थी कि संस्कृत एवं वैदिक साहित्य के विद्वान् होने के नाते ऊपर बताई गई अनुसन्धान-योजनाओ मे वह विशेष रुचि लेंगे और इस विश्वविद्यालय को सारी दुनिया में प्रसिद्ध कर देंगे। लेकिन उन्होंने कुछ इधर-उधर की बातों में विशेष रुचि लेकर किन्ही कारणोंवश, जिनके विषय में वह स्वयं अच्छी तरह जानते होगे, इस विश्वविद्यालय को छोड़ दिया। उनके बाद आने वाले कुलपति चाहे वह कोई हो, इन योजनाओ को अपने हाथ में लेकर कार्यान्वयन के लिए यत्नशील होंगे तो विश्वविद्यालय का गौरव बढ़ेगा।

श्री रामचन्द्र शर्मा, नये कुलपति के रूप में

जैसाकि पहले लिख चुका हूँ कि डा० सत्यकाम वर्मा आयुर्वेदालंकार इस विश्वविद्यालय में पाँच महीनों से अधिक कार्य नही कर पाए इसलिए हम ऐसे व्यक्ति की तलाश में थे जो इस कार्य को बखूबी पूरा कर सके। श्री रामचन्द्र शर्मा सेवा-निवृत्त आई०ए०एस० इस विश्वविद्यालय में विशेष अधिकारी के पद पर कार्य कर चुके थे। वह विश्वविद्यालय की सभी समस्याओं से अच्छी तरह परिचित थे। उनके दीर्घकालीन प्रशासनिक अनुभव तथा इस विश्वविद्यालय के क्रियाकलाप और समस्याओं से निकट परिचय के कारण इस शिक्षण संस्थान के संविधानानुसार कुलपति पद के लिए उनका नाम प्रस्तावित किया गया। २० मार्च ८६ को उन्हे इस विश्वविद्यालय में तीन वर्ष के लिए कुलपति के पद पर नियुक्त कर दिया गया। श्री शर्मा एक पक्के आर्यसमाजी, शाकाहारी, धूम्रपान न करने वाले, सभी व्यसनों से दूर एक कुशल

प्रशासक तथा शिक्षाशास्त्री हैं। उनका शिक्षाकाल बडा उज्ज्वल रहा है। स्नातकोत्तर कक्षाओं तक वह लगातार प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। लखनऊ, अम्बाला तथा कानपुर मे उन्होने स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं का अध्यापन भी किया। हालाँकि कुलपति का पद अधिक प्रशासनिक है पर शर्मा जी में प्रशासनिक तथा शैक्षिक दोनों प्रकार के गुण सन्निहित हैं। ऐसी आशा की जाती है कि उनके कार्यकाल में यह विश्वविद्यालय काफी तरक्की करेगा तथा ऊपर कही गई सभी योजनाएँ कार्यान्वित होंगी।

मेरे जीवन की कहानी गुरुकुल के इतिहास से जुड़ी है। प्रयोगात्मक ढंग से मेरे जीवन का एक बडा हिस्सा गुरुकुल आन्दोलन का अंग है, मैं सात वर्ष की अवस्था मे गुरुकुल मे दाखिल हुआ था और चौदह वर्षों तक लगातार इसमें पढ़ता रहा। कुछ समय को छोड़कर मै २० वर्ष गुरुकुल मे दयानन्द सेवा सदन का सक्रिय सदस्य रहा, फिर कुछ समय के अन्तराल के पश्चात् मैं वहाँ ५ वर्ष तक कुलपति के पद पर रहा। अब मैं पिछले ६ वर्षों से इस संस्था का परिद्रष्टा हूँ। इसका अर्थ यह है कि लगभग मेरा आधा जीवन गुरुकुल के वातावरण मे बीता। लेकिन मेरे गुरुकुल विषयक विचारो मे समय के साथ कुछ परिवर्तन आया है।

गुरुकुल विचार की उत्पत्ति कैसे हुई ? ऋषि दयानन्द का निर्वाण ३० अक्टूबर १८८३ को हुआ। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी और लाला जीवनदास ऋषि दयानन्द के उपदेशो से काफी प्रभावित थे और कट्टर आर्यसमाजी थे। स्वामी जी के निर्वाण के समय ये अजमेर मे उपस्थित थे। उनके मस्तिष्क मे विचार आया कि ऋषि दयानन्दजी की याद को अमर रखने के लिए कुछ किया जाना चाहिए, लेकिन कहाँ और कैसे किया जाए, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न था।

ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तो की आत्मा वैदिक धर्म थी। उनकी लड़ाई के दो पहलू थे। एक तरफ वे रूढ़िवादी हिन्दुओ, जिन्होने वैदिक धर्म के नाम पर सभी कुरीतियो को अपनाया हुआ था, के विरुद्ध लड़ रहे थे, दूसरी तरफ वह उन परिस्थितियो के विरुद्ध मोर्चा लगा रहे थे जो हमारे नवयुवको को अपनी संस्कृति से दूर पश्चिमी संस्कृति की ओर ले जा रही थी। वह इस दोहरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस बात पर बल दे रहे थे कि वेदो की अन्धविश्वासी व्याख्याएँ वास्तविक और यथार्थ नही है और वैदिक संस्कृति, अनात्मवादी पश्चिमी संस्कृति से अच्छी है। इन विचारो को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए तथा वैदिक संस्कृति की पुनःप्रतिष्ठा के लिए योग्य विद्वानो के निर्माणार्थ उन्होंने देश के विभिन्न भागो मे अनेक पाठशालाएँ शुरू की। क्योकि स्वामीजी जगह-जगह जाकर प्रवचनो और शास्त्रार्थो द्वारा अपने मन्तव्य जनता तक पहुँचाने मे लगे रहे, अत. वह पाठशालाओ की उचित देखभाल न कर सके और वे बन्द हो गई।

पण्डित गुरुदत्त और लाला जीवनदास जब अजमेर से लौटे तो उन्होने एक बैठक बुलाई और एक एंग्लो-वैदिक स्कूल खोलने की योजना बनाई। इसका उद्देश्य महर्षि दयानन्द की याद को ताजा रखना एवं ऐसे विद्वान् तैयार करना था जिन्हे संस्कृत एवं वेदो का सही ज्ञान हो। इसके लिए यह तय किया गया कि एक ऐसी संस्था बनाई जाए जिसमें अष्टाध्यायी, निघण्टु तथा निरुक्त आदि पुस्तकें पढ़ाई जाएँ जिससे वेदों के विषय मे सही जानकारी प्राप्त की जा सके, इसके लिए चन्दा एकत्र करने के काफी प्रयास किए गए और लोगों ने मुक्त हस्त होकर काफी दान दिया। यह एक नई शिक्षा प्रणाली थी जिसमे संस्कृत, हिन्दी, वैदिक साहित्य, संस्कृति तथा व्यवहार पर बल दिया गया था तथा जो पाश्चात्य संस्कृतिमूलक अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली से सर्वथा भिन्न थी। जनवरी १८८६ मे 'दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालेज ट्रस्ट' नाम की सोसाइटी का गठन किया गया। इसके मुख्य उद्देश्य थे—(अ) हिन्दी को बढ़ावा देना, (आ) संस्कृत और वैदिक साहित्य को बढ़ावा देना, तथा (इ) अंग्रेजी साहित्य एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन को बढ़ावा देना। इस सारे आन्दोलन के पीछे पण्डित गुरुदत्त का हाथ था। उनका देहान्त १ मार्च १८६० में हो गया और उनके बाद इस आन्दोलन ने एक नया मोड लिया।

एक ऐसा शैक्षिक आन्दोलन जो पहले के अनुरूप न होकर सर्वथा नई चाल-ढाल मे खड़ा हो,

चलाना कठिन कार्य था। शिक्षा शुरू से ही उद्देश्यमूलक या व्यवसायनिष्ठ रही है। हिन्दी, संस्कृत तथा वैदिक साहित्य की जानकारी मात्र से ही पण्डितों को कार्य मिलने वाला नहीं था। इस बात का अहसास हो जाने के बाद डी० ए० वी० विद्यालयों ने अपना रास्ता बदल लिया और शिक्षा के आधुनिक तन्त्र को अपनाकर अपने विद्यार्थियों को सरकारी तन्त्र के अनुरूप ढालने में सफलता प्राप्त की। उसके विद्यार्थी सरकारी विभागों मे महत्वपूर्ण पदो पर नियुक्तियाँ पाने लगे। वे सचिव, वकील, न्यायमूर्ति तक बन गए। लेकिन जहाँ तक संस्कृत और वेदों की बात थी, वे केवल उनकी प्रशंसा ही करते थे, उनके जीवन मे, यथार्थ जीवन मे शायद इनकी उपयोगिता न थी।

पण्डित गुरुदत्त अपने जीवन में यह अनुभव कर चुके थे कि उनकी आवाज का कोई महत्व नही है लेकिन फिर भी उनके कुछ प्रशंसक शेष थे—जैसे लाला जीवनदास, लाला रलाराम तथा लाला मुंशीराम जिन्होने हिन्दी, संस्कृत, वैदिक एवं वैदिक संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने के लिए पूरे प्रयत्न किए। लाला मुंशीराम ने जिन्हे बाद में महात्मा मुशीराम और सबसे बाद में स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से जाना जाने लगा, अपने आपको, अपने बच्चों तथा अपनी सम्पत्ति को गुरुकुल के विचारो पर न्यौछावर कर दिया तथा हरिद्वार के पास एक संस्था की नीव डाली जिसे गुरुकुल काँगडी कहा गया। इसकी स्थापना २ मार्च १६०२ को हुई। यह वही संस्थान है जिससे मेरा सम्पूर्ण जीवन जुड़ा है।

आर्यसमाज का वह वर्ग जिसने अपना कार्य डी०ए०वी० जैसी संस्था से प्रारम्भ किया, जिसका उद्देश्य महर्षि दयानन्द के जीवन की याद को ताजा रखते हुए हिन्दी, सस्कृत तथा वैदिक साहित्य को बढ़ावा देना था अपने रास्ते से विचलित हो गया और प्रचलित शिक्षा तन्त्र के मार्ग पर चलने लगा। इस तन्त्र को कालिज पार्टी के नाम से जाना गया। आर्यसमाज का दूसरा वर्ग जिसका उद्देश्य यही था और जो कुछ हद तक सफल भी रहा, धीरे-धीरे असफलता की ओर बढ़ता प्रतीत होता है। वह अपनी पुरानी लोकप्रियता को खोकर आधुनिक शिक्षा तन्त्र की तरफ बढ़ रहा है, गुरुकुल पार्टी के नाम से जाना गया।

मैं कहता हूँ कि दोनो ही वर्ग अपने प्रारम्भिक उद्देश्य में असफल रहे। कालिज पार्टी इसलिए असफल रही क्योंकि यह आधुनिक शिक्षा तन्त्र के साथ मिल गई। इसका नाम ही केवल 'दयानन्द एग्लो-वैदिक कालेज' है, इसके अलावा इसमें कोई बात वेदो वाली नही है। इन्होने अपने आपको सासारिक शिक्षा तक सीमित कर लिया है। इनका उद्देश्य संस्कृत और वेदों के विद्वान् पैदा करना नही रह गया है जैसी इनसे आशा थी। मैं भी अपूर्ण गुरुकुल पार्टी का एक समर्थक हूँ लेकिन मैं कह सकता हूँ कि यह भी असफल रही है। यह युद्ध उस समय प्रारम्भ हुआ जब प्रो० रामदेव तथा मास्टर गोवर्धन ने आचार्य और मुख्याध्यापक के पद सँभाले। इसके बाद पण्डित गंगादत्त और आचार्य नरदेव शास्त्री संस्कृत एवं वेदो के ज्ञान के लिए ही गुरुकुल को बढ़ावा देते रहे। प्रो० रामदेव ने अंग्रेजी, गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन और इतिहास जैसे आधुनिक विषय खोले तथा इन विषयों के अध्यापन के लिए निश्चित अवधि के 'पीरियड' शुरू किए। दोनों अधिकारियों में इस परिवर्तन से काफी फूट पड गई। महात्मा मुंशीराम एक दूरदर्शी व्यक्ति थे। उन्हें इस बात का आभास था कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के बिना गुरुकुलीय शिक्षा अपूर्ण एवं अप्रयोगात्मक थी। उनका लक्ष्य हर तरह के विद्वान् पैदा करना था और इसके लिए आधुनिकी-करण अति आवश्यक था। लेकिन केवल गौतम और कणाद की परम्परा के समर्थक इसे नहीं सहन कर पाए और अपना एक स्वतन्त्र विद्यालय, 'ज्वालापुर महाविद्यालय' के नाम से खोल दिया। बाद में उन्होंने भी विश्वविद्यालय परीक्षाओं में भाग लेना शुरू कर दिया।

हालाँकि, मुंशीराम जी ने पण्डित गुरुदत्त के आदर्शों पर चलने का पूर्ण निश्चय किया जिसके आधार पर अष्टाध्यायी, महाभाषा निघंटु, निरुक्त एवं वेदों का पूर्ण अध्ययन हो सकता था लेकिन वे आधुनिक विषयों को भी नही भूल सके। यही कारण है कि इन दोनों गुटों की दूरी बढ़ती चली गई और महात्मा मुशीराम के नजदीकी प्रशंसक जैसे—महाशय कृष्ण और पण्डित विशम्भरनाथ ने भी उनकी

आलोचना शुरू कर दी। उन्हें चिन्ता थी कि गुरुकुल कालेज पार्टी के रास्ते पर चल रहा है और अपने मूल पथ से भटक गया है। यह इसलिए हुआ क्योंकि कालेज पार्टी के समर्थक लोग प्रयोगात्मक ढंग के थे तथा गुरुकुल पार्टी के लोग आदर्शवादी एवं अप्रयोगात्मक थे। केवल आदर्शवाद अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। ये आदर्शवादी बच्चों के साथ प्रयोग कर रहे थे कि बिना रोजी-रोटी वाली शिक्षा से ही आदर्श प्राप्त किए जा सकते हैं। जब गुरुकुल के स्नातक अपनी शिक्षा पूरी करके सांसारिक मुसीबतों के सम्पर्क में आए तो उन्होंने विश्वविद्यालय की उपाधियाँ लेने के लिए परीक्षाएँ देनी शुरू की जिससे उन्हें कोई रोजगार और पद प्राप्त हो सके। यह गुरुकुलीय सिद्धान्तों से भिन्न बात थी। यहाँ तक कि पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा ने भी डी० ए० वी० कालेज जैसे संस्थान खोलने शुरू कर दिए।

यह बिल्कुल सच है कि न तो गुरुकुल पार्टी और न कालेज पार्टी अपने मूल उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकी। कालेज पार्टी ने एक संस्था 'दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय' नाम से प्रारम्भ की, जिसका उद्देश्य वैदिक विद्वान और प्रचारक पैदा करना था, पर वह भी असफल रही। यह संस्था पण्डित विश्वबन्धु के निदेशन में चलाई गई थी। पण्डितजी वेद के उच्चकोटि के विद्वान् थे, उन्होंने ही होशियारपुर में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान' की नींव डाली जो पंजाब विश्वविद्यालय का लब्धप्रतिष्ठ शोध केन्द्र है। लुडविक स्टर्नबक नामक जर्मन विद्वान् ने महा सुभाषित संग्रह प्रकाशित करने के लिए इस संस्थान को पचास लाख रुपया देने की इच्छा व्यक्त की है। इस कार्य के बीस खण्डों में प्रकाशित होने की आशा थी। गुरुकुल को भी इसी तरह के कार्य करने चाहिए थे लेकिन कालेज पार्टी के सिद्धान्त गुरुकुल पर हावी होने लगे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि विदेशी लोग गुरुकुल को बिल्कुल ही भूल गए हैं। परिस्थितियों के अनुसार दोनों पार्टियों का विलय होने लगा है और दोनों में आत्यन्तिक विरोधाभास समाप्त होने लगा है। गुरुकुल के स्नातक गुरुकुल की उपाधि (विद्यालंकार आदि) लेने के बाद भी रोजगार के लिए अन्य विश्वविद्यालयों की बी०ए० और एम०ए० परीक्षाएँ देने लगे हैं। यही देखकर जब मैं संसद् सदस्य था, मैंने गुरुकुल को विश्वविद्यालय स्तर के समकक्ष बनाने की काफी कोशिश की और उसी प्रयत्न के फलस्वरूप १९६२ में गुरुकुल को विश्वविद्यालय का दर्जा मिल गया।

गुरुकुल एवं कालेज आन्दोलन का साराश और लक्ष्य विद्यार्थी को परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और आर्यसमाजी आवश्यकता में अपेक्षित सन्तुलन बनाए रखना है। एक नव-युवक के लिए यह जरूरी है कि वेदों के अलावा उसे हिन्दी, संस्कृत तथा अन्य देशी-विदेशी भाषाओं का भी ज्ञान हो। जैसे पण्डित गुरुदत्त द्वारा संचालित डी०ए०वी० आन्दोलन जो ऋषि दयानन्द की याद को जीवित रखने के लिए हिन्दी, संस्कृत और वेद तक सीमित था, समयानुसार आधुनिक शिक्षा तन्त्र की ओर मुड़ गया, वैसे ही गुरुकुल आन्दोलन जो संस्कृत, हिन्दी और वेदों के अध्ययन तक ही सीमित था, समय की धारा के साथ न मुड़ सका। इसका परिणाम यह हुआ कि महात्मा मुंशीराम के अलावा कोई भी गुरुकुल समर्थक अपने बच्चों को गुरुकुल में प्रवेश दिलाने से कतराता रहा।

मुझे अनुभव ने इस निश्चय पर पहुँचाया है कि ऋषि दयानन्द की स्मृति जीवित रखने के लिए दोनों ही सिद्धान्त आवश्यक हैं। इसीलिए दोनों तन्त्र एक-दूसरे से मिलते जा रहे हैं। लेकिन जान-बूझकर नहीं। ऐसा क्यों? हम देख रहे हैं कि जो लोग आधुनिक शिक्षा प्रणाली के विद्यालय खोल रहे हैं वे भी आर्यों द्वारा बतलाए गए जीवन के सिद्धान्तों—सादा जीवन और चरित्र की पवित्रता—की बातें करते हैं। हम यह भी देख रहे हैं कि गुरुकुल के संस्थापक भी आधुनिक शिक्षा तन्त्र का अभाव अनुभव कर रहे हैं। मेरा यह सुझाव है कि इन दोनों तन्त्रों का आपस में पूर्ण विलय हो जाना चाहिए। यह तभी संभव है जब हम दोनों शिक्षा-प्रणालियों को जोड़ दें। इसके अनुसार विद्यार्थियों का प्रवेश ७ या ८ वर्ष की आयु में आश्रम प्रणाली पर आधारित विद्यालयों में होना चाहिए जिन्हें हम गुरुकुल कह सकते हैं। हिन्दी, संस्कृत, वेद, अंग्रेजी तथा आधुनिक विषयों की प्रारम्भिक जानकारी के लिए इनके पाठ्यक्रम बनने चाहिए। इन्हें

गुरुकुल के सभी नियमों—सादा जीवन, ब्रह्मचर्य का पालन तथा आदर्श व्यवहार का पालन करना चाहिए। १०-१२ वर्ष तक गुरुकुल में जीवन व्यतीत करने के बाद विद्यार्थियों को स्कूल एवं महाविद्यालयों में शिक्षा लेनी चाहिए। उन्हें डी०ए०वी० विद्यालय कहा जा सकता है। ऐसा करने पर विद्यार्थियों को गुरुकुल के मूल विषयों की—हिन्दी, संस्कृत, वेद—पूर्ण जानकारी होगी जो गुरुकुल में होनी चाहिए। जहाँ तक उच्च शिक्षा का प्रश्न है, विद्यार्थियों में आधुनिक शिक्षा की भी कोई कमी नहीं रहेगी क्योंकि उसकी पूर्ति विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में हो जायेगी। जहाँ तक मैं जानता हूँ पण्डित विश्वम्भरनाथ ने इन्हीं विचारों का प्रतिपादन किया और अपने बच्चों पर भी इन्हें लागू किया। गुरुकुल और आधुनिक स्कूलों का विलय आधुनिक युग की माँग है। मैंने अपने भाई ब्रह्मदत्त लखनपाल के साथ यही किया। मैंने उसे गुरुकुल कुरुक्षेत्र में प्रवेश दिलाकर ८ वर्ष तक वहाँ पर रखा। इसके बाद मैंने उसे वहाँ से हटाकर मास्टर रामलाल के आर्य-स्कूल में लुधियाना रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे हिन्दी और संस्कृत का इतना ज्ञान हो गया कि उसने मैट्रीकुलेशन परीक्षा में पंजाब में सबसे अधिक अंक प्राप्त कर सौ रुपये प्रतिमाह का वजीफा प्राप्त किया। इसके बाद उसे बम्बई भेज दिया गया। वहाँ पर भी उसने अपनी प्रतिभा का ऐसा ही परिचय दिया।

मेरी इच्छा है कि आर्यसमाज के सभी मार्गदर्शकों को इस दिशा में एकजुट होकर आगे आना चाहिए। ऐसा करने से, दोनों पद्धतियों का विलय हो जाने से आर्यसमाज और वैदिक सिद्धान्तों का हमारे समाज पर अधिक प्रभाव पड़ेगा और हमारे नवयुवक वैदिक सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित होंगे। मैं प्राचार्य गोवर्धन दत्त तथा डा० सूरजभान से मिला और उपर्युक्त दिशा में उनसे बातचीत की। मैंने पाया कि वह भी इससे सहमत हैं, यद्यपि वे पुराने समय के लोग थे। जब श्री बलभद्र कुमार हूजा गुरुकुल विश्वविद्यालय में कुलपति पद पर नियुक्त हुए तब पद्मभूषण डा० सूरजभान सलाहकार समिति के सदस्य थे। प्रो० वेदव्यास डी० ए० वी० विद्यालय की कार्यकारिणी और आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष हैं पर अपनी पार्टी के लोगों की तरह नहीं हैं। वह गुरुकुल के सिद्धान्तों से इतने अधिक प्रभावित है कि मैं हमेशा उन्हें गुरुकुलवासी कहता हूँ। डा० धर्मेन्द्रनाथ तर्कशिरोमणि तथा पण्डित चन्द्रगुप्त विद्यालंकार उनके पुराने मित्र थे। उनके साथ मैं ऐसा महसूस करता हूँ कि जैसे मैं गुरुकुल स्नातकों के साथ हूँ। वह केवल अंग्रेजी और विधि के ही ज्ञाता नहीं बल्कि संस्कृत के भी पण्डित है। उन्होंने इस लेख को पढ़ने के बाद मुझे लिखा—

मेरे प्रिय सत्यव्रतजी,

आशा है, आप पूरी तरह अच्छे होंगे। श्री वेदव्रतजी ने मुझे आपके द्वारा लिखित गुरुकुल पार्टी एवं कालेज पार्टी लेख दिखाया जो कि आपकी पुस्तक का एक भाग है, मैंने इसे रुचि से पढ़ा। मैं आपकी इस बात से पूर्णतया सहमत हूँ कि आर्यसमाजियों के दोनों गुटों को मिलकर एक हो जाना चाहिए। जहाँ तक शैक्षणिक मन्तव्यों का प्रश्न है, वह भी पूर्णतया सम्भव है क्योंकि आजकल का वातावरण इस पक्ष में है। मैं इस बारे में विचार करूँगा और आपको अपने सुझाव भेजूंगा।

आदरपूर्वक,

आपका शुभचिन्तक
वेदव्यास

ऐसे लोगों से प्रेरणा लेकर हमे इन दोनों विचारधाराओं के विलय के लिए पूरी मेहनत करनी चाहिए क्योंकि सरकारी आयोगों ने न इस दिशा में कुछ किया है और न कुछ करने की संभावना है। लेकिन वेदव्यासजी के साथ ये समस्या है कि वह बहुमुखी चरित्र वाले गतिशील व्यक्ति हैं, उनका कार्य-क्षेत्र भी बड़ा व्यापक है। आज वह कानपुर हैं तो कल जर्मनी मिलेंगे। वहाँ से लौटने के बाद जापान

जा रहे हैं तो वहाँ से लौटने के बाद कचहरी में व्यस्त हैं। उन्हें पाना एक कठिन काम है। वह आर्य-समाज के एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें दोनों मत वाले आर्यसमाजी अपना मित्र, दार्शनिक एवं पथ-प्रदर्शक मानते हैं।

उपसंहार

८९ वर्षों तक इस दुनिया में रहने के बाद जब मैं सोचता हूँ कि मैंने इतने लम्बे समय में क्या सीखा ? जो मैंने सीखा है, उसका निचोड़ क्या है ? तब कहना पडता है कि मैंने अच्छे तथा बुरे दोनो तरह के दिन देखे हैं। जब मेरे अच्छे दिन थे तो मैंने महसूस किया कि मेरा जीवन गुलाबो तथा गीतो से भरा है और जब बुरा समय आया तो समझा कि मेरा जीवन काँटों की सेज है और आँसुओ से भरा है। लेकिन इस जीवन की वास्तविकता क्या है ? क्या अच्छे दिन मेरी मेहनत का फल और बुरे दिन मेरी किस्मत का फल हैं ? क्या मुझे अपना धन्यवाद करना चाहिए ? क्या अपने प्रयत्नो और स्वतन्त्र इच्छा को अपनी सफलता का रहस्य समझूँ और दु खो के लिए ईश्वर को दोषी ठहराऊँ ? जीवन मे क्या चीज आखिर सबसे आवश्यक है, विचारों की स्वतन्त्रता या भाग्य ? इन ८९ वर्षों ने मुझे क्या शिक्षा दी ?

यदि मैं कारणो के आधार पर सोचता हूँ तो भाग्य स्वतन्त्र विचारों का ही दूसरा नाम है। भाग्य मेरे पूर्वजन्म के कर्मों का फल है जो मुझे इस जीवन में न मिल पाया या यह मेरे स्वतन्त्र विचारो का दूसरा नाम है जिनका इस जन्म में कोई फल नही प्राप्त होगा बल्कि आने वाले जीवन में होगा। हर तरह से भाग्य पूर्वजन्म के स्वतन्त्र विचारों का फल है या स्वतन्त्र इच्छा का परिणाम जो आने वाले जीवन में प्राप्त होगा।

लेकिन यह एक अध्यात्म विद्या है। यह जीवन एक पहेली है। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म तो केवल विचार मात्र ही हैं। जिनसे इस जीवन के कुछ व्यवधानों का हल निकालने की सोचते हैं। लेकिन जीवन की समस्या केवल सोचने से ही हल नहीं हो सकती। हमें सच्चाइयों का सामना करना चाहिए। पूर्वजन्म भी हो सकता है, पुनर्जन्म भी हो सकता है। जैसा हम मानते है वैसा दूसरे लोग नही भी मानते हैं। लेकिन इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता कि वर्तमान जीवन होता है और इसी जीवन में हमें उतार-चढ़ाव देखने को मिलते हैं। कभी हम भाग्य रूपी हिमालय की चोटी पर चढते हैं फिर दूसरे ही पल हम अँधेरी खाई मे गिर जाते हैं। हम इन दोनों परिस्थितियों का सामना कैसे कर सकते है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इन विरोधाभासों का क्या हल निकाला जा सकता है। इस जीवन मे ऐसा देखने को मिलता है कि एक अच्छा व्यक्ति दुखी रहता है ओर एक दुष्ट व्यक्ति आराम का जीवन व्यतीत करता है। इस सम्बन्ध मे मेरे विचार हैं—

१. जीवन की कुछ ऐसी बातें हैं जिनकी जाँच नहीं की जा सकती। कभी-कभी हमे जो सजा दी जाती है, वह दुआ बन जाती है और कभी-कभी दुआ भी सजा बन जाती है। इसे प्रमाणित करने के लिए मेरे पास अनेक उदाहरण हैं। जब कभी हम सोचते हैं कि हमें सफलता मिली है, बाद में हम देखते हैं कि यह विफलता बन जाती है। जब हम सोचते हैं कि हमें असफलता मिली है तो बाद मे वह एक सफलता बन जाती है और लगता है जो हमें मुसीबतें मिली थी, वे एक नया जीवन देने के लिए थी। उसे हम ईश्वर की इच्छा या प्रकृति के नियम की संज्ञा दे सकते हैं। इसी तरह की बात शेक्सपीयर ने अपने हेमलेट नाटक के मुख्य पात्र से कहलवाई है।

मेरा दूसरा अनुभव है कि एक सर्वोच्च शक्ति इस जीवन की देखभाल करती है। हमारे जीवन का हर पल उस महाशक्ति की देखरेख में पूरा होता है। जब मैं अपने बीते हुए जीवन के विषय मे सोचता हूँ तो ऐसे भी क्षण मैंने देखे हैं जब मैं बिल्कुल अन्धकार से घिर गया था। लेकिन मैंने उस अन्धकार से प्रकाश

को फूटते हुए भी देखा। ऐसा व्यर्थ में ही नहीं कह दिया गया कि हर काले बादल में चाँदी की एक रेखा होती है। जब मेरे पिता का देहान्त हुआ तो मैं कुछ सोच नहीं पाया कि मुझे क्या करना चाहिए? तब महात्मा मुंशीराम जी मेरे लिए पिता के समान आए और मुझे गुरुकुल वापिस आने के लिए लिखा। मैंने ऐसा महसूस किया जैसे कोई बच्चा अपनी माँ के आँचल मे लौटकर आ गया हो। जब मैं स्नातक बना तो मुझे अनिश्चितता ने चारों ओर से घेर लिया तब मेरे लिए पूना और कोल्हापुर से प्रस्ताव आ गए। जब मैं कोल्हापुर में भी ऊबने लगा तो मुझे बंगलौर से बुलावा आ गया। बंगलौर के बाद मुझे दयानन्द सेवा सदन में आने का अवसर दिया गया और गुरुकुल कांगड़ी में कार्य करने का मौका भी। मैं जो योजनाएँ स्वयं बनाता हूँ वे ईश्वरीय विधान में विफल हो जाती हैं। मैंने अपने पुत्र विजय लखनपाल को अमरीका भेजने का निश्चय किया। उसका विश्वविद्यालय तय कर दिया गया और फीस भी जमा करा दी गई। लेकिन इसी बीच उसके चाचा और चाची ने उसे अपने व्यवसाय के लिए नियत कर दिया। यह उसके एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद हुआ। अपने जीवन में इस तरह की घटनाएँ देखकर क्या मेरा कहना ठीक नहीं कि हम योजनाएँ बनाते हैं और वह उन्हें विफल करता है। लखनपाल मिल्स मे जाने के बाद २५ वर्षों तक विजय ने इसे काफी ऊँचाई तक उठाया लेकिन इसके बाद फिर १९८५ मे उसे इस संस्था को छोड़ना पड़ा। बहुत कुछ खोने के बाद भी उसने कुछ नही खोया। उस महाशक्ति के इस तरह के काम हैं। मैं महसूस करता हूँ कि मेरी देखरेख वह महाशक्ति करती है और वही मुझे आगे बढ़ाती रही है। शुरू से अब तक मैंने पूरे प्रयत्न किए लेकिन मुझे ऊपर उठाने वाली शक्ति वही महाशक्ति है जो सबके भाग्यों को बनाती है।

आखिर इस जीवन का मार्गदर्शन करने वाला क्या सिद्धान्त है? जीवन की दो विचारधाराएँ हैं—भाग्य और दृढ़ निश्चय। हम भाग्य के बारे में कुछ नहीं जानते। यह समय का गर्भस्थान है। हम देखते हैं कि कभी-कभी हम बिल्कुल भी प्रयत्न नहीं करते और हमें फल मिलता है जो अचानक घटित होता है। हम कोई अच्छा कार्य नहीं करते और फल अच्छा मिलता है और कभी हम कुछ बुरा नही करते और फल बुरा मिलता है। जहाँ भाग्य होता है वहाँ दृढ़ निश्चय भी होता है। कभी हम देखते हैं कि हम प्रयत्न करते हैं और असंभव सफलता मिलती है। हम दृढ़ निश्चय या स्वतन्त्र इच्छा को भी नही भूल सकते। अगर वास्तविकता से ऊपर सोचकर देखें तो भाग्य हमारी स्वतन्त्र इच्छा का फल है जो हम भूतकाल या वर्तमानकाल में करते हैं। जीवन का अन्तिम सिद्धान्त जो हमारे जीवन का मार्गदर्शन करता है, इन दोनों का मिश्रण है। विश्वास रखो जो होना है, वह अवश्य होगा क्योंकि वह हमारे किसी कर्म का फल होगा। चाहे वह भूतकाल अथवा वर्तमानकाल में किया गया हो जिसे करने में हम बिल्कुल स्वतन्त्र हैं। कर भी सकते हैं, नहीं भी कर सकते। परिणाम हमें उस दैविक शक्ति पर छोड़ना चाहिए। दूसरी तरफ हमें सभी परिस्थितियों का डटकर सामना करना चाहिए। आखिर हमारी स्वतन्त्र इच्छा इस जीवन का आखिरी नियम है। अगर स्वतन्त्र इच्छा का प्रयोग करने पर भी कुछ परिवर्तन नहीं होता तो केवल एक ही रास्ता बचता है—आत्मसमर्पण जो भाग्य का दूसरा नाम है। महाभारत में दुर्योधन ने बिल्कुल ठीक कहा है—

> जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः,
> जानाम्य धर्मं न च मे निवृत्तिः।
> केनापि देवेन हृदिस्थितेन,
> यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

मैं सच्चाई जानता हूँ लेकिन मैं इसे नहीं मानता। मैं झूठ भी जानता हूँ लेकिन इसका विरोध नहीं कर सकता। मेरे अन्दर एक ऐसी इच्छा है, जिसका मैं विरोध नही कर सकता और जो मुझे वही करने को

बाध्य करती है जो मैं करता हूं। गीता मे भी यही बात कही गई है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति,
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

'हे अर्जुन, हर प्राणी के हृदय मे एक दैविक शक्ति का निवास है जो उनके व्यवहार को मशीन की तरह नियन्त्रित करती है।' यह मेरे जीवन का अनुभव है। मैं इस जीवनानुभव से दूसरों का मार्गदर्शन करने के लिए बेचैन हूं।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में
अप्रैल १९८६ को मुख्य अतिथि के रूप में दिया गया

विजिटर डा० सत्यव्रतजी सिद्धान्तालंकार का दीक्षांत भाषण

श्री कुलाधिपति जी, श्री कुलपति जी, अध्यापकवृन्द, उपस्थित महानुभावो, देवियो तथा नवदीक्षित युवा-स्नातकवृन्द !

आप सभी तथा समस्त मानव जाति के सुख और समृद्धि की कामना करते हुए मै गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति, कुलपति एवं अधिकारियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ कि आपने मुझे दीक्षान्त भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया। मेरा सम्बन्ध इस विश्वविद्यालय से अत्यन्त लम्बा तथा पुराना है। मैं यहाँ विद्यार्थी के रूप में सात वर्ष की आयु में आया था। मैंने यहाँ १४ वर्ष अध्ययन किया, दो बार मैं इसका कुलपति तथा पिछले ६ वर्षों से इसका परिद्रष्टा रहा हूं। इसलिए मुझे गुरुकुल से विशेष प्रेम है। मेरी आधी से अधिक आयु गुरुकुल से सम्बन्धित रही है। मुझे यहाँ की एक-एक ईट प्रिय है। मेरे मन, बुद्धि और आचार-विचार पर गुरुकुल का अमिट प्रभाव रहा है।

वैदिक धर्म हमारी सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, आचार, मर्यादाओं आदि का आधार है जिसके बिना हम खड़े नहीं रह सकते। यही हमें विश्वबन्धुत्व का सन्देश मिलता है। आप बड़े सौभाग्यशाली है कि आपकी शिक्षा-दीक्षा इस सुरम्य संस्था मे हुई है। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की स्थापना वैदिक आदर्शों को आधार बनाकर हुई है। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली भी अन्य शिक्षा-प्रणालियों की तरह अपने ढंग की एक विशेष शिक्षा-प्रणाली है। जिस प्रकार मौन्टेसरी शिक्षा-प्रणाली या प्रोजेक्ट सिस्टम नाम से विविध शिक्षा-प्रणालियाँ हैं, उसी प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द ने ऋषि दयानन्द से प्रेरणा लेकर इस प्रणाली की स्थापना की थी। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं—गुरु-शिष्य का दिन-रात का घनिष्ठ सम्बन्ध, ब्रह्मचर्य तथा चरित्र-निर्माण। गुरुकुल-प्रणाली के अतिरिक्त अन्य किसी शिक्षा-प्रणाली में चरित्र-निर्माण को इतनी अधिक प्राथमिकता तथा महत्ता नहीं दी गई। यह कहना कि अन्य शिक्षा-प्रणालियों में चरित्र-निर्माण को कोई स्थान नही, गलत होगा, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली ही ऐसी प्रणाली है जिसके विषय मे कहा जा सकता है कि इस शिक्षा-प्रणाली का मुख्य उद्देश्य पुस्तक-शिक्षा के साथ-साथ चरित्र-निर्माण करना है।

गुरुकुल का अर्थ है गुरु का कुल, गुरु का परिवार। यहाँ विद्यार्थी माता-पिता के 'कुल' से 'गुरु' के कुल में प्रवेश करता है। एक छोटे और सीमित परिवार से निकलकर एक विशद् और सार्वभौम परिवार में प्रविष्ट होता है, जहाँ वह माता-पिता के परिवार की सीमाओं को लाँघकर समाज के हर युवा को अपना समकक्ष तथा परिवार का अंग समझता है। क्योकि आपकी शिक्षा-दीक्षा उक्त आदर्शों की सर्वश्रेष्ठ संस्था

में हुई है अतः आप पुनः-पुनः बधाई के पात्र हैं। आपके कुलपति और कुलाधिपति और अधिकारियों से भी कहूँगा कि आप अपने अन्तेवासियों को वैदिक संस्कृति के आदर्शों को जीवन मे उतारने की प्रेरणा दें और ऐसे छात्र उत्पन्न करें जो जात-पांत की सीमाओं को लांघकर, ऊँच-नीच के भेद को भुलाकर एक ऐसे समाज का निर्माण करें जिसमें 'संगच्छध्वंसंवदध्वं' का आदर्श क्रियात्मक रूप धारण करे, और जिसमे चरित्र-निर्माण को शिक्षा का आदर्श समझा जाए।

परिवर्तन प्राकृतिक नियम है। बीज अंकुरित होकर वृक्ष बनता है, पुष्पित-फलित होकर शीतलता, छाया, फूल-फल प्रदान करता है। अत. संस्थाओं में भी युगानुरूप परिवर्तनो की आवश्यकता होती है। गुरुकुल की स्थापना के समय हमारी शिक्षा क्रान्तिकारी वातावरण मे हुई थी जिसमे शिक्षा का उद्देश्य ऐसे युवक उत्पन्न करना था जो स्वावलम्बी हों और स्वतन्त्रता के लिए विदेशी सरकार से लोहा ले सके। परन्तु आज स्थिति बदल गई है। इस स्वतन्त्रता के युग मे हमें ऐसे युवक उत्पन्न करने की आवश्यकता है जो ऊँचे सरकारी पदों पर आसीन होकर अपनी उत्कृष्ट चारित्रिक विशेषताओं के कारण सरकार के सहयोगी बनकर देश में व्याप्त भ्रष्टाचार, अन्धकार, पारस्परिक कलहद्वेष को दूर करके, राष्ट्र की एकता और समृद्धि में सहायक बनें। इसलिए जहाँ एक ओर चारित्रिक उच्चता तथा वैदिक संस्कृति के जन-जन के जीवन मे व्याप्त होने की आवश्यकता है, वहाँ इस प्रकार के पाठ्यक्रमो और अध्ययन-अध्यापन की आवश्यकता है जिसमे यहाँ के छात्र हर प्रकार के सरकारी पदों पर आसीन हो, वे आई०ए०एस०, पी० सी० एस०, भारतीय रक्षा-सेवाओ, डाक्टरी, इंजीनियरी तथा अन्य क्षेत्रों मे उच्च स्थान प्राप्त कर, देश को उन्नति के पथ पर अग्रसर कर सकें।

स्वतन्त्रता से पूर्व गुरुकुल सरकारी अनुदान नही लेता था। वह आत्मनिर्भर था। यह आत्मनिर्भरता विद्यार्थियों को भी मिली थी। उन्होने अपने पैरो पर खड़े होना सीखा। जब व्यक्ति आत्मनिर्भर होता है, दूसरे के सहारे पर नहीं, अपने सहारे पर खड़ा होता है, तब उसके भीतर से शक्ति उत्पन्न होती है जो उसे सब बाधाओं से लड़ने की शक्ति प्रदान करती है। यही कारण है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के समय के गुरुकुल के छात्र अनेक क्षेत्रों में उच्च स्थान और अप्रत्याशित ख्याति प्राप्त कर सके। पत्रकारिता के क्षेत्र में प० इन्द्र विद्यावाचस्पति, आचार्य दीनानाथ सिद्धान्तालंकार, अवनीन्द्रकुमार विद्यालकार, कृष्णचन्द्र विद्यालंकार, आनन्द विद्यालंकार, क्षितीश विद्यालंकार, सतीश विद्यालंकार जैसे अनेक प्रकाश-स्तम्भ गुरुकुल ने दिए। आयुर्वेद के क्षेत्र मे गुरुकुल का जितना योगदान है उतना संसार की किसी भी शिक्षण-संस्था का नही है। मेरी मनोकामना है कि हमारे हाथ से निकल गया आयुर्वेद महाविद्यालय फिर हमारे विश्वविद्यालय का अंग हो और यहाँ आयुर्वेद मे उच्चतम अनुसंधान हों। मुझे पूर्ण आशा है कि हमारे नवीन कुलपति इस दिशा में उद्योग करेंगे और इस उद्योग मे शीघ्र ही सफल होंगे। इतिहास के क्षेत्र मे डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार तथा प्रोफेसर हरिदत्त वेदालंकार जैसे प्रकाण्ड पण्डित गुरुकुल ने प्रदान किए है। इनके द्वारा लिखी गई पुस्तकें समस्त भारत मे पढ़ाई जाती हैं। संस्कृत तथा वैदिक अध्ययन के क्षेत्र मे भी गुरुकुल ने अनेक प्रतिभाएँ दी है। स्वामी अभयदेव विद्यालंकार, पं० जयदेव विद्यालंकार, बम्बई के सत्यकाम विद्यालंकार, आचार्य प्रियव्रत वेद-वाचस्पति, रामनाथ वेदालंकार तथा अन्य अनेक स्नातक वेद के उच्च कोटि के विद्वान् है। उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्र में भी हमारे स्नातकों—पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, पं० चन्द्रगुप्त विद्यालकार, सत्यपाल विद्यालंकार, पं० विद्यानिधि विद्यालंकार, श्री विराज विद्यालंकार, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार—की देन चिरस्मरणीय है।

पुरातन स्नातकों ने जो कार्य किया है उसकी तुलना यदि किसी भी विश्वविद्यालय के स्नातकों के कार्य से की जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि उनकी देन प्रतिशत की दृष्टि से अत्यधिक तथा विशिष्टतम है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व गुरुकुल के छात्र परिस्थिति से लड़ते हुए आत्मनिर्भर हुए और उन्होंने जीवन में अपने आत्मबल से जीवन का रास्ता सफलतापूर्वक बनाया तथा तय किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यद्यपि हमारे रास्ते तथा उद्देश्यों में बदलाहट हुई, और इस बदलाहट में मेरा ही मुख्य हाथ रहा है, तथापि मैं अनुभव करने लगा हूँ कि हम गुरुकुल के मुख्य आधारभूत सिद्धान्तों से दूर होते जा रहे हैं। आप क्षमा करें, गुरुकुल का जो वर्तमान रूप होता जा रहा है वह अन्य कॉलिजों से भिन्न नहीं रहा। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के जिन आधारभूत सिद्धान्तों को लेकर इस संस्था की स्थापना हुई थी, हम उन्हें भूलते जा रहे हैं। कहाँ है वह गुरु-शिष्य का दिन-रात का आधारभूत सम्बन्ध ? कहाँ है वह 'कुल' की, 'परिवार' की भावना ? कहाँ है वह हमारी प्राचीन परम्परा ? कहाँ है वह लगन ? गुरुकुल में परिस्थितिवश परिवर्तन आना आवश्यक है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु अपने आधारभूत सिद्धान्तों को खोकर नहीं। उन सिद्धान्तों को सप्राण तथा सजग रखते हुए हमें परिवर्तन लाना है। गुरुकुल को ऐसा रूप देना है जिससे यहाँ के कार्यकर्ता सिर्फ बाहर के छात्रों की भर्ती कर सन्तुष्ट न हो जाएँ, परन्तु अपने बच्चों को भी यहीं भर्ती करें। मुझे यह देखकर दु:ख होता है कि गुरुकुल की सभा के संचालक भी अपने बच्चों को यहाँ भर्ती नही करते, न यहाँ के अध्यापक ही अपने बच्चों को यहाँ भर्ती करते हैं। दिल्ली पब्लिक स्कूल या सैन्ट्रल स्कूलों की बसें गुरुकुल के कार्यकर्त्ताओं के बच्चों के लिए यहाँ आती हैं और उन्हें गुरुकुल से बाहर के स्कूलों मे शिक्षा के लिए ले जाती हैं। इसका यह अर्थ है कि गुरुकुल की सभा के संचालक तथा गुरुकुल के अध्यापक भी स्वयं यहाँ की शिक्षा से सन्तुष्ट नहीं हैं। मैं गुरुकुल के संचालकों से अनुरोध करूँगा कि जो कमी वे यहाँ अनुभव करते हैं, उसे वे स्वयं दूर क्यों नहीं कर देते। अगर यहाँ की पाठविधि मे कोई कमी है तो उसे दूर करना आपके हाथ में है। अब तो विदेशी शासन नहीं है, अपना शासन है, आप अपनी सरकार से भरपूर सहायता लेते हैं, जो सहायता आपको नहीं मिलती वह भी यत्न करने पर मिल सकती है। अपना दृष्टिकोण बदलिए और ऐसा पग उठाइए ताकि हर व्यक्ति गुरुकुल मे अपने बच्चे की भर्ती ही न करे, अपितु भर्ती करने के लिए उत्सुक हो जाए।

गुरुकुल को सरकारी मान्यता प्राप्त हुई है, परन्तु यह मान्यता उस गुरुकुल को नहीं दी गई जिसमे बी० ए०, एम० ए० की डिग्री दी जाती हैं। बी० ए०, एम० ए०, पी-एच० डी० की डिग्री दीजिए, परन्तु यत्न कीजिए कि यहाँ से जो छात्र निकलें वे इन डिग्रियों के साथ गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के आधारभूत सिद्धान्तों से ओत-प्रोत हों। यह आपका लक्ष्य होना चाहिए।

मेरे सामने भविष्य के गुरुकुल का यह सपना है कि गुरुकुल से ऐसे स्नातक निकलें जिनका तपस्या-मय जीवन हो, जो पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की तरह शुद्ध हिन्दी लिख और बोल सकें, जो संस्कृत मे उव्वट तथा ऋषि दयानन्द जैसा उच्चतम संस्कृत का ज्ञान रखते हों, जो अंग्रेजी में शेक्सपीयर तथा मैकाले की कोटि के हों, जो विज्ञान में श्री सतीश धवन तथा प्रो० यशपाल सरीखे वैज्ञानिक हों, जो हर क्षेत्र में उच्च से उच्चतर शिखर को छू सकें। उड़ान लीजिए तो ऊँची उड़ान लीजिए। सब कुछ संभव है। जो आज असंभव तथा कठिन प्रतीत होता है वह प्रयत्न करने पर कालान्तर मे संभव तथा सुगम हो जाता है। एक भव्य भवन को बनाने के लिए उसकी नींव को दृढ़ करना होता है। अगर हम मानव-समाज के भवन को सुदृढ़ नीव पर खड़ा करना चाहते हैं, तो उसकी नींव को सबसे पहले दृढ़ करना होगा। हमारी शिक्षा-संस्था की नीव वह है जहाँ से बालक शिक्षा-जगत में बाल्यकाल में प्रवेश करता है। आप अगर अपने विद्यालय विभाग को दृढ़ कर सकें तो सम्पूर्ण संस्था अपने आप उन्नति के मार्ग पर चल पड़ेगी। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के आधारभूत सिद्धान्तो को आदर्श तक पहुँचाने के लिए आपको विद्यालय विभाग को दृढ़ करना होगा। गुरुकुल का विश्वविद्यालयीय रूप तभी उभरेगा जब आपका विद्यालय विभाग इतना उन्नत हो जाएगा कि लोग अपने बच्चों को यहाँ भर्ती ही नहीं करेंगे, भर्ती करने के लिए उत्सुक होंगे, तब हमें

बाहर से एक छात्र भी नहीं लेना पड़ेगा। हमारे विश्वविद्यालय में वही छात्र होंगे जो हमारे विद्यालय विभाग की शिक्षा-दीक्षा में से गुजर कर आएँगे।

मेरा अनुरोध है कि आज के बदलते युग में आप गुरुकुल के रूप को ऐसा बदलिए कि यहाँ के आदर्शों, यहाँ की भावनाओं, यहाँ के रंग में रँगे हुए छात्र ही आपके महाविद्यालय विभाग में प्रविष्ट हों, आपको बाहर से छात्र लेने की आवश्यकता न हो, और वे ही छात्र स्नातक बनकर समाज में प्रविष्ट हों, जो हिन्दी-संस्कृत के पण्डित हों, अंग्रेजी के उच्चकोटि के विद्वान् हों, और इस योग्यता के साथ-साथ वे किसी जिले में मजिस्ट्रेट बनें, किसी जगह इन्सपैक्टर जनरल ऑव पुलिस हों, किसी जगह कर्नल हो, कमाण्डर हों और कहीं सरकारी उच्च पदों पर आसीन हों। देश की माँग है और आवश्यकता है कि ऐसी शिक्षा में दीक्षित व्यक्ति ही देश के कोने-कोने में व्याप्त हो जाएँ। जैसे किसी युग में विदेशी सरकार से विद्रोह करने वाले स्वतन्त्रता-सेनानियों की आवश्यकता थी जिसे गुरुकुल ने पूरा किया, वैसे ही आज देश को ऐसे सरकारी सेनानियों की आवश्यकता है जो देश में व्याप्त भ्रष्टाचार, ईर्ष्या-द्वेष, कलह, भेद-भाव को अपने आदर्श क्रियात्मक जीवन से दूर कर सकें जिसे गुरुकुल जैसी प्राचीन आदर्शों से ओत-प्रोत संस्था ही पूरा कर सकती है। परन्तु इस स्थिति पर पहुँचने के लिए हमें अपने आपको बदलना होगा। खड़ा पानी सड़ जाता है, बहता पानी तरोताजा रहता है और गन्दगी को दूर कर देता है। इस बदलाहट के विषय में किसी ने ठीक ही कहा है—

'तू भी बदल ए गाफिल जमाना बदल गया।'

गुरुकुल के भविष्य के संबंध में मेरा सपना

सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

परिद्रष्टा, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

जब तक देश स्वतन्त्र नहीं हुआ था हम अंग्रेजी सरकार से असहयोग करते रहे और उससे किसी प्रकार की सहायता हमने नही ली। देश के स्वतन्त्र होने के बाद से हमारा दृष्टिकोण बदल गया है और गुरुकुल की शिक्षा का लक्ष्य भी बदल जाना चाहिए। पहले हम यहाँ की शिक्षा प्राप्त कर सरकारी नौकरी मे जाना चाहते थे, अब हमारी शिक्षा का लक्ष्य अपनी सरकार को ऐसे कार्यकर्ता देना हो जाना चाहिए जो सरकारी सेवा में जाकर अपनी सरकार को सब प्रकार की सहायता दे सकें। अब जमाना असहयोग का नहीं, सहयोग का है।

अब हमारे सामने जो भविष्य है उसमें मैं चाहता हूं कि गुरुकुल के स्नातक अपने को ऐसा तैयार करें ताकि वे जिला मजिस्ट्रेट बनें, हर सरकारी पद पर आसीन हों। हमारे स्नातक आई०ए०एस० आदि उच्च परीक्षाओ में बैठें, आई०सी०एस० में बैठें और जहाँ भी कोई सरकारी उच्च पद तो वहाँ गुरुकुल के स्नातक दिखलाई दें। गुरुकुल के अधिकारियों को यहाँ के स्नातको को सरकारी सेवाओं के लिए तैयार करना चाहिए।

इसका यह मतलब नहीं कि इस संस्था का वैदिक संस्कृति के उन्नयन का उद्देश्य त्याग देना चाहिए। वह तो हमारा प्रथम उद्देश्य है। हमारे स्नातक हिन्दी, संस्कृत, वैदिक धर्म मे निष्णात हो और इस योग्यता को लेकर वे देश के हर क्षेत्र में छा जायें—यह मेरा सपना है हमारी संस्था की प्रगति इस भविष्य को लाने की तरफ होनी चाहिए।

हमारा मजिस्ट्रेट, हमारा इन्स्पैक्टर जनरल ऑफ पुलिस, हमारा चीफ़ ऑफ़ आर्मी स्टाफ़, हमारा राष्ट्रपति, हमारा प्रधान मन्त्री, हमारे संसद-सदस्य, हमारा सम्पूर्ण शासन-वर्ग हिन्दी-संस्कृत-अंग्रेजी आदि भाषाओं में पारंगत हो, वैदिक संस्कृति से सराबोर हो—ऐसा सपना जब साकार होगा तब गुरुकुल की शिक्षा सफल कही जा सकेगी।

मैंने कैटेरेक्ट का आपरेशन कराया

सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

जिस आयु मे मैं पहुँच चुका हूँ, उसमें चहुँमुखी क्षीणता का होना स्वाभाविक है। प्रत्येक अंश शिथिल हो जाता है, उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है, विशेषकर आँखों पर उसका भारी प्रभाव पड़ता है। प्राय: ७०-८० वर्ष आयु के भीतर कैटेरेक्ट या मोतियाबिंद की शिकायत हो जाती है। इसका सबसे प्रथम लक्षण यह है कि मनुष्य को प्रत्येक वस्तु एक की जगह दो-दो दिखाई देने लगती है। मैं पहले स्वयं मोटर चलाता था परन्तु ३-४ साल से मैं देखने लगा कि सामने से आती हुई एक गाडी दो की भ्रान्ति उत्पन्न करने लगी। सड़क भी एक की जगह दो दीखने लगी। डाक्टरों से परामर्श किया तो उन्होंने कहा कि आपको मोतिया की शिकायत हो रही है।

जब मैं गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता था तब प्रतिवर्ष मोतिया के आपरेशन के लिए शिविर लगवाया करता था। देहरादून के डा० राधके मेरे मित्र थे। वह कुशल नेत्र चिकित्सक थे। उन्हे बुलवाकर मोतिया का आपरेशन करवाया करता था। सैकड़ों व्यक्ति आया करते थे। प्राय: गरीब लोगो की भीड लग जाती थी। उनके खाने-पीने, रहने की व्यवस्था गुरुकुल की ओर से की जाती थी परन्तु आपरेशन के बाद उनका क्या होता था ? वे ठीक हुए या नहीं हुए, उन्हे क्या-क्या और किन-किन कष्टों से गुजरना पडा, यह सब जानने का प्रयत्न मैंने नही किया। अब जबकि मुझे स्वयं कैटेरेक्ट की शिकायत हुई तब मैने इस विषय में सोचना शुरु किया। मैं क्योंकि संसद का सदस्य रहा था और स्वाधीनता आन्दोलन में भी भाग ले चुका था, इसलिए मुझे सरकार की तरफ से मुफ्त आपरेशन कराने की सुविधा थी। इस दशा मे मैने राममनोहर लोहिया अस्पताल के मुख्य प्रशासनिक अधिकारी डॉ० पी० एल० कपूर से पत्रव्यवहार शुरू किया। उनके पत्र आते रहे और उन्होंने सारी सुविधाओ से मुझे अवगत करा दिया परन्तु इसी बीच दिल्ली मे डाक्टरों की हड़ताल शुरू हो गई। मेरे लिए यह समस्या उठ खड़ी हुई कि मैं सरकारी अस्पताल में आपरेशन कराऊँ या न कराऊँ। हड़ताल के दौरान आपरेशन कराना जोखिम उठाना था। मेरा कैटेरेक्ट बढ़ता जा रहा था और इसे मैं देर तक टाल भी नही सकता था।

इसी बीच ग्रेटर कैलाश आर्यसमाज में एक समारोह हुआ। इस अवसर पर अन्य कार्यक्रमों के साथ नेत्र चिकित्सा का कार्य भी शुरू किया गया। डॉ० नितिन वर्मा जो जर्मनी से नेत्र चिकित्सा सीख कर आए थे, इस विभाग में नेत्र चिकित्सक नियुक्त हुए। समाज के प्रधान ने इस चिकित्सा विभाग के उद्‌घाटन के लिए मुझसे आग्रह किया। उद्‌घाटन के समय मैंने डॉ० नितिन वर्मा से प्रश्न किया कि कैटेरेक्ट के आपरेशन कितने प्रकार के होते है ? उनसे मुझे ज्ञात हुआ कि एक आपरेशन का तरीका तो यह है कि आँख के भीतर आपरेशन करके लैंस लगा दिया जाता है जिससे व्यक्ति सब कुछ देख सकता है और बाहर ऐनक लगाने की जरूरत नहीं पड़ती। दूसरा तरीका यह है कि कैटेरेक्ट वाली आँख का आपरेशन कर अन्दर के लैस को निकाल देते हैं और उसकी जगह बाहर ऐनक का प्रयोग करते हैं। इन दोनों के विषय में मैं पहले से भी जानता था परन्तु मैंने सोचा कि अन्दर डाला हुआ लैंस कभी गड़बड़ा

जाए तो बार-बार आपरेशन कौन करायेगा ? अतः मैंने निश्चय किया कि पुराने तरीके से आपरेशन कराना ठीक रहेगा। यह सब निश्चय करके मैंने 'वेणु आई० इन्स्टीट्यूट', जिसमें डॉ० वर्मा काम करते थे, में भरती होकर आपरेशन कराने की सोची। आपरेशन से पूर्व इन्स्टीट्यूट को भी देखना चाहा। यह एक नर्सिंग होम है जो केवल आंखों के लिए बनाया गया है। दिल्ली में कई नर्सिंग होम और कई नेत्र चिकित्सक हैं। नर्सिंग होमों में सब प्रकार के रोगी आते-जाते रहते हैं परन्तु नेत्र चिकित्सा का इंस्टीट्यूट मुझे यहीं मिला। आँख के आपरेशन के लिए मैं १६ नवम्बर को इस नर्सिंग होम में प्रविष्ट हो गया और २० नवम्बर को डॉ० नितिन वर्मा ने मेरी बाईं आँख का आपरेशन कर दिया। २० से २५ तक आँख पर पट्टी बँधी रही। उसके बाद पट्टी तो खोल दी गई परन्तु एक हरा आई-कप मेरी बाईं आँख में चिपका दिया गया। १५ दिसम्बर को यह आई-कप खोला गया और जो टाँके आँख में लगाए गए थे, काट दिए गए। जैसे कैटेरेक्ट का निकालना एक आपरेशन है, वैसे ही टांकों का काटना और निकालना भी एक आपरेशन है, जो टाँके रह जाते हैं, वे परेशानी पैदा करते हैं। आँखों से पानी बहता है, खुजली होती है, कुछ टाँके गहराई में डाले जाते हैं। इनसे परेशान होकर मैं डाक्टर के पास जाता रहा। उसने टाँके निकाल दिए तब मुझे चैन पड़ा। पाँच दिन तक मैं नर्सिंग होम में रहा था जिसका किराया ढाई सौ रुपये प्रतिदिन था। अगर व्यक्ति लम्बे समय तक रहे तो खर्चा बहुत बढ़ जाता है। इसलिए प्राय: नर्सिंग होम मे कुछ दिन रहने के बाद रोगी घर चला जाता है। मैं भी पाँच दिन रहने के बाद घर चला आया। डाक्टर दिन में दो बार मुझे देखने घर आते रहे और दवाई देते रहे। लगभग एक महीने के बाद डाक्टर ने मुझे आँखों के नम्बर दिए जो मैं २ फरवरी १९८७ तक लगाता रहा परन्तु जब पहले-पहल मैंने ये ऐनकें लगाईं तो मेरी परेशानी इतनी अधिक बढ़ गई कि मैंने डाक्टर के पास जाकर कहा कि मैं तो बहुत घबरा गया हूँ। इन ऐनकों से मुझे कुछ का कुछ दिखाई देता है, ऐसा लगता है कि हर वस्तु पर बर्फ पड़ी हुई है। कुछ दिन के बाद वह बर्फ और बरफीलापन तो दूर हो गया पर ऐसा लगा कि सारा मकान धुंध से भरा हुआ है। हर वस्तु अत्यन्त चमकदार दीख रही है। सफेद—इतनी सफेद कि मैंने कभी देखी नहीं। लाल वस्तु गुलाबी दिखती है। ऐसा लगता है कि बिल्कुल नया संसार है। चमकदारी का कुछ ठिकाना नहीं। डाक्टर ने कहा—अभी ठहरिए, अभी आपका आपरेशन हुआ है, बहुत परिवर्तन होंगे, उनसे आपको घबराना नहीं चाहिए। मैं किसी बात पर विश्वास नहीं करता था और हर किसी को जिसने आपरेशन करवाया था मिलने की कोशिश करता था। सब लोग अपने नये-नये अनुभव सुनाते थे। कई बार तो मैं गिर गया। चोट लगी। मेरी आदत कमोट पर पुराने तरीके से बैठने की थी। एक दिन तो मैं ऐसा गिरा कि कोख में सख्त चोट लगी और मुझे अस्थि विशेषज्ञ के पास जाना पड़ा जिसने एक्सरे लेकर बताया कि हड्डी में चोट तो नहीं आई परन्तु आपको चिकित्सा करानी पड़ेगी। उसने एक ऐसी पट्टी दी जो मैं लंबे अर्से तक बाँधता रहा और उससे बहुत कुछ आराम हुआ। डाक्टर ने मुझे १० फरवरी १९८७ सायं ३ बजे अपने घर पर बुलवाया ताकि वह मुझे देखने का नया नम्बर दे।

इस स्थल पर मैं डॉ० नितिन वर्मा के विषय में कुछ प्रशंसात्मक शब्द लिख देना उचित समझता हूँ। जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं बहुत घबरा रहा हूँ और जब मैं उनके पास जाने के लिए तैयार ही हो रहा था तब मैंने देखा, वह स्वयं मेरे घर आ पहुँचे। उनकी बातों से मुझे बहुत सान्त्वना मिली।

मुझे आश्चर्य है कि धनी लोग इतने नेत्र शिविर लगाते हैं परन्तु इन शिविरों के बाद यह नहीं देखते कि आपरेशन के बाद रोगियों पर क्या बीती ? कितने अच्छे हुए ? कितने अपने भाग्य को कोसते हुए यही कहते रहे कि हमारी किस्मत में ही ऐसा था। आपरेशन कई तरह के होते हैं, बड़े गम्भीर भी होते हैं परन्तु १०-१५ दिन और महीने-दो महीने मे रोगी ठीक हो जाता है। आँख का आपरेशन बहुत साधारण समझा जाता है पर मेरा अनुभव तो यह है कि यह बहुत कष्टप्रद आपरेशन है। कष्टप्रद इसलिए नहीं

कि इसमें दुःख-दर्द होता है परन्तु कष्टप्रद इसलिए कि आँख को अपनी पूर्व स्थिति में आने मे तीन-चार महीने लग जाते हैं। कइयों का कहना तो यह है कि उन्हें छह महीने तक सावधानी रखनी पड़ी।

कैटेरेक्ट विशेषज्ञों का कहना है कि पहले एक आँख का आपरेशन किया जाता है, दूसरी आँख को ढक दिया जाता है ताकि पहली आँख जब भली भाँति देखने लगे और दूसरी आँख का कैटेरेक्ट पकने लगे तब दूसरी आँख का भी आपरेशन कर दिया जाए। कहना सबका यही है परन्तु मुझे इसमें अत्यन्त कष्ट की अनुभूति होती है। इसका अभिप्राय यह है कि वृद्धावस्था में कम से कम एक वर्ष तो कैटेरेक्ट की उपासना में ही चला जाता है। इस सम्बन्ध मे मैंने कुछ प्रश्न लिखे है जिनके विषय में, मैं डाक्टरों की सम्मति जानना चाहता हूँ :

१. क्या यह सत्य है कि जब एक आँख मे मोतिया उतर आए तो दूसरी आँख मे भी मोतिया उतरने की शुरुआत हो जाती है ?

२ क्या यह आवश्यक है कि पूर्ण दृष्टि के लिए दोनों आँखों का आपरेशन कराया जाए, भले ही वह साल-दो साल के अन्तर से हो ?

३. क्या यह संभव है कि एक आँख के आपरेशन के बाद मनुष्य ठीक-ठीक तरह से देखने लगे तो दूसरी आँख का आपरेशन अवश्य कराए ?

४. मैंने ऐसे व्यक्ति देखे है जिन्होने एक ही आँख का आपरेशन कराया और जन्मभर जिन्हे दूसरी आँख का आपरेशन कराने की जरूरत नही हुई।

मेरी अभिलाषा तो यह है कि मैंने जब एक आँख का आपरेशन करा लिया है और उसके भिन्न-भिन्न कष्टों को भोग चुका हूँ तो प्रभु मुझे दूसरी आँख के आपरेशन से बचाए।

मैंने दूसरी आँख के मोतिया का आपरेशन भी करा लिया

२०-११-८६ को मैंने अपनी बायीं आँख के मोतिया का आपरेशन कराया था। उस समय डाक्टर ने मेरी दायी आँख को फ्रोस्टेड शीशे से बन्द कर दिया था ताकि बायी आँख के आपरेशन के बाद उसके ठीक हो जाने पर मैं उससे लिखा-पढ़ी कर सकूं। इस बीच में बायी आँख के ठीक हो जाने के बाद अपनी बायी आँख से ही लिखता-पढ़ता रहा। कहाँ लोग सिर्फ एक आँख के आपरेशन के बाद एक आँख से ही काम चला लेते है। परन्तु मेरी तो दायीं आँख पर फ्रोस्टेड शीशा चढ़ा दिया गया था ताकि उस आँख का मोतिया भी पक जाए और साल भर बाद उसका भी आपरेशन कर दिया जाए ताकि मैं दोनों आँखो का उपयोग कर सकूं। वैसे मैं चाहता तो एक आँख का आपरेशन कराकर उससे सब काम-काज चला लेता। किन्तु मैंने ऐसा नही किया। पहला आपरेशन २०-११-८६ को हुआ था, दूसरी आँख का आपरेशन एक साल बाद १०-११-८७ को ढल्ला नर्सिंग होम मे करा लिया। यह आपरेशन भी डॉ० नितिन वर्मा (४६, एम ब्लाक, ग्रेटर कैलाश, टेलीफोन नं० ६४४६५८५) ने किया क्योकि पहला आपरेशन भी इन्ही डाक्टर ने किया था। ये बड़े सहृदय व्यक्ति है, आर्यसमाज मन्दिर मे सप्ताह मे दो बार मुफ्त काम करते हैं, परन्तु नर्सिंग होम में तो अपनी पूरी फीस चार्ज करते है। जर्मनी के पढ़े हुए हैं। मैं इनके काम से अत्यन्त प्रभावित हुआ।

पहला आपरेशन वेनू नर्सिंग होम मे हुआ था, दूसरा ढल्ला नर्सिंग होम में हुआ, परन्तु जो सुख मुझे पहले नर्सिंग होम में हुआ वह दूसरे में नही हुआ, यद्यपि मेरी दोनो आँखें अब ठीक से काम करने लगी हैं। लोग कहते हैं कि ६० वर्ष की आयु मे मोतिया का आपरेशन बहुत कम सफल होता है, कराना हो तो पहले ७०-८० वर्ष की आयु मे ही करा लेना चाहिए। परन्तु मेरा आपरेशन तो ६० वर्ष की आयु मे

भी अत्यन्त सफल हुआ है। दोनो बार के आपरेशन डॉ० वर्मा ने किए और बड़ी सफलता से किए। ये आँख के भीतर भी लैंस डाल सकते हैं। परन्तु मैं तो प्रचलित पद्धति के अनुसार ही यह आपरेशन कराना चाहता था क्योंकि नवीन पद्धति के अनुसार स्वामी सत्यप्रकाश जी ने आपरेशन करवाया था और जब मैंने उनसे अनुभव पूछा तो कहने लगे कि आपरेशन तो ठीक हुआ परन्तु टैन्शन बना रहता है। पुरानी प्रचलित पद्धति के अनुसार आपरेशन करने से यह टैन्शन नहीं महसूस होता क्योंकि हमें ऐनक पहनने की आदत बनी होती है। नवीन पद्धति से आपरेशन कराने में ऐनक लगाने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि जिस लैंस से हमारी रेटीना आँख के भीतर से देखती है, उस तरह का बना-बनाया प्लास्टिक का लैंस आँख के भीतर रेटीना के सामने जड़ दिया जाता है।

इस दूसरे आपरेशन के बाद महीनाभर आँख में दवा के ड्राप डालते रहने चाहिए और सोते समय एक मरहम लगाते रहना चाहिए ताकि आँख भीतर लगे स्टिचेज घुल जाएँ और आँख के सामने भुनगे-से न दीखें जो स्टिचों के लगने से दीखा करते हैं। कभी-कभी डिप्लोपियान्सा भी दीखता है, परन्तु वह भी ठीक नम्बर मिलने से दूर हो जाता है। कहने का मतलब यह है कि मोतिया का आपरेशन करा लेना ही काफी नहीं है, आपरेशन के बाद आफ्टर केयर करना भी उतना ही लाजमी है। अन्यथा, आपरेशन के बाद आँख ठीक लगने लगे, तो भी कालान्तर में रोगी अनेक कष्टों में ग्रस्त हो जाता है।

दोनों आँखों के आपरेशन के बाद मेरा अनुभव है कि आँख के आपरेशन के बाद कई महीनो तक उसकी देख-रेख रखनी चाहिए, उचित दवा का प्रयोग करते रहना चाहिए, अन्यथा आँख को अनेक कष्ट आ घेरते हैं। आँख से पानी निकलने लगता है, आँख के देखने की शक्ति कम हो जाती है, किसी-किसी का रेटिना (वह स्थल जिससे ही वस्तुत: हम देखते हैं) गिर जाता है जिस कारण देखने की शक्ति ही जाती रहती है। जो लोग पुण्य के लिए मोतिया के आपरेशन लिए कैम्प लगाते हैं, वह समझते हैं कि हमने धर्म-कर्म कमा लिया, आँखों का मुफ्त में आपरेशन करवा दिया, उन्हें समझ लेना चाहिए कि मुफ्त आपरेशन करवा देना ही काफी नहीं है। आपरेशन के बाद शुरू-शुरू में तो न दीखने वाली वस्तुएँ भी दीखने लगती हैं, परन्तु आँख से ठीक-ठीक और यथार्थ दीखने में काफी समय लग जाता है। इस अर्से मे डाक्टर की बतलाई हुई दवा डालते रहना चाहिए। मोतिया का मुफ्त आपरेशन कराने, इसके लिए कैम्प लगाने, नि:शुल्क अस्पताल खोलने, इन कामों के लिए चन्दा करने का एक तरह का धर्म के नाम का एक धन्धा बन गया है—इसके फेर में पड़कर कई लोग आँखों से ही हाथ धो बैठते है। मैंने क्योकि बडी उम्र में आपरेशन करवाया था इसलिए मेरी उलझनें ज्यादा रही, शायद ८० वर्ष की आयु में करवाता तो इतनी उलझनें न होती, परन्तु उस समय मुझे कोई कष्ट ही नहीं था, क्यों करवाता। आपरेशन के बाद बिल्कुल ठीक होने में ४-५ महीने लग जाते हैं, इसलिए तब तक सब्र करना पड़ता है। पहली आँख के आपरेशन के एक साल बाद मुझे उससे सब कुछ ठीक दीखने लगा है, पढ़ना-लिखना, पहले की तरह होने लगा है, परन्तु अगर उस आँख को बन्द कर, नये आपरेशन वाली आँख से देखूं तो छपा हुआ अखबार बिल्कुल मध्यम दीखता है, फीका-फीका, साथ ही, वैसे तो सब-कुछ दीखता है, परन्तु टेलीविजन मे हर वस्तु दो-दो दीखती हैं जो शिकायत आपरेशन से पहले भी थी। डाक्टर कहता रहता है कि धीरे-धीरे सब ठीक हो जायगा, धीरज धरो, परन्तु अभी तक तो इस दूसरी आँख की देखने की शक्ति कुछ कम हो गई प्रतीत होती है। यद्यपि धीरे-धीरे यह आँख ढब पर आती जा रही है। दोनों आँखें खोलकर देखूं या पढ़ूं तो सब ठीक दीखता है, परन्तु यह ठीक दीखना पहली आँख के ठीक हो जाने के कारण है। कहने को कह सकते हैं कि दोनों आँखों को खोलकर ठीक पढ़ने का कारण पहली आँख है, दूसरी आँख के पहली आँख की तरह देखने में समय लगेगा। यह सब मैंने इसलिए लिख दिया ताकि जिन्होंने मोतिया का आपरेशन कराना हो उन्हें यह सब पता रहे।

आँख के आपरेशन के बाद उसे अपने स्वस्थ रूप में आने में पर्याप्त समय लग जाता है—इस बात को जन-साधारण के लिए मोतिया का आपरेशन कराने के लिए कैम्प लगाने वाले सभवत: जानते नही । उन्होने यह जानने का प्रयत्न कभी नही किया कि आपरेशन के महीने-दो महीने बाद रोगियो की क्या हालत है। कैम्प लगाया, डाक्टरों ने एक दिन में ४०-५० आपरेशन किए, उनका नाम हुआ—अरे, एक दिन में ४०-५० आपरेशन करता है, इतना बड़ा, इतना लायक है—और, बस छुट्टी । इसके लिए संस्थाओ के नाम पर चन्दा किया जाता है, अखबारो मे दानी महोदय के नाम की प्रशंसा की जाती है, डाक्टरो का भी नाम हो जाता है, परन्तु महीने-दो महीने बाद इन मरीजो की क्या हालत होती है—इसे जानने का कोई प्रयत्न नही करता । कैम्पों में किस तरह आँखो का नाश हो जाता है इसके कई उदाहरण पत्रों मे निकलते रहते है। महाराष्ट्र के घितरौली जिले मे २२ मार्च १९८७ को आई-कैम्प मे ५६ व्यक्तियो के मोतिया के आपरेशन हुए जिनमें १२ की आँखें जाती रही। उत्तर प्रदेश के खुर्जा तथा मुरादाबाद मे कैम्पों मे ४०० व्यक्तियो के अप्रैल १९८६ में मोतिया के आपरेशन हुए जिनमे से ५० व्यक्तियो की आँखो की ज्योति नष्ट हो गई और वे सुजाखा बनने के स्थान में अन्धे हो गए । कैम्पो मे आँखो को जीवाणुओ से बचाने का उतना प्रबन्ध हो नही सकता जितना विशुद्ध अस्पताल मे हो सकता है। आपरेशन कराने से कम-से-कम २४ घण्टे पहले आपरेशन थियेटर को जीवाणु-रहित बनाना आवश्यक है, अन्यथा रोगी को लेने के देने पड़ जाते है। इसके अतिरिक्त मोतिया का आपरेशन कराने के बाद काफी समय तक आँख की देखभाल करना भी आवश्यक है जो आई-कैम्पों या धर्मार्थ किए जाने वाले आपरेशनों मे नही होती। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि कैम्पो मे आँखो के आपरेशन के बाद दानी लोग सबको एक ही नम्बर की ऐनक बाँट देते है। हर एक का नम्बर अलग-अलग होता है—इसकी कोई परवाह नही करता। मेरा अनुभव तो यह है कि मोतिया का आपरेशन कराना जितना आवश्यक है, आपरेशन के बाद दो-तीन या चार-पाँच महीने तक उसकी देखभाल करना भी उतना ही आवश्यक है—इसे अंग्रेजी मे 'आफ्टर केयर' (After Care) कहा जाता है। मैं समझता हूँ, और अपने अनुभव से लिख रहा हूँ कि आपरेशन के बाद की देखभाल जिनकी नहीं होती वे आपरेशन कराकर पछताते हैं। वैसे दिखाई उन्हे भी देता है, परन्तु एक आँख से ही, जो कालान्तर में स्वयं स्वस्थ हो गई होती है। दूसरी आँख कर्मों को रोती रहती है।

आपरेशन कराने से पहले मेरी दायी आँख बायी आँख से बेहतर देखती थी। आपरेशन कराने के एक साल बाद बायी आँख तो ठीक होकर खूब देखने लगी, परन्तु दायी आँख जिसका बाद मे आपरेशन हुआ था देखने तो लगी, परन्तु सब फीका-फीका दीखने लगा। डाक्टर से शिकायत की, वह कहने लगा, घबराइए नही, यह भी पहली आँख की तरह धीरे-धीरे ठीक हो जायगी। ऐसा ही हो रहा है। प्रतिदिन दायी आँख की शक्ति बढ़ती जा रही है। फीका-फीका दीखना भी कालेपन में बदलता जा रहा है और यह आँख भी स्वस्थ होने की दिशा में प्रगतिशील है। ऐसी हालत मे कभी-कभी नम्बर भी बदलना पड़ जाता है। मुझे भी १०-११-८७ को आपरेशन कराने के बाद २०-१-८८ को आँख का नया नम्बर लेना पड़ा।

मोतियाबिंद के आपरेशन के बारे में डॉ० नितिन वर्मा एवं पंडित सत्यव्रत सिद्धांतालंकार के बीच प्रश्न और उत्तर

It has been noticed that nature never affects both the eyes at the same time with cataract. Only one eye is affected and later on the second eye is affected. It is hence that the Surgeons operate only first affected eye and block the second eye so that that eye also may mature in time. When operation of affected eye it done and the other eye is not affected, the alternative to the patients are as follows :

1. Either he should allow the Surgeon to block the second eye which is usually done and remain one-eyed till the second eye due to being blocked is also affected by cataract and operated. The purpose of BLOCK is to hasten the maturing of lens of the eye and make if opaque so that cataract operation if this second eye may also be done to ensure perfect vision.

2. Or, let the unoperated eye have a normal numberless, plain glass and let the patient suffer double vision. It is not possible to have one eye operated, and the second eye unoperated and the patient work both with operated and unoperated eye together. If we want both eyes to work together as we normally do, in health, then both eyes have to be operated in their turn of maturity. THAT IS NATURE'S SCHEME.

QUESTIONS

Dear Dr. Verma,

Phone : 6446586

1. Is it a fact that when one eye gets cataract, the other eye also starts getting cataract ?
2. Is it necessary for perfect vision to get both eyes operated ?
3. Is it possible that one eye may get cataract and may be operated and the other eye may not get cataract and one may live on with one catarated eye only ?
4. If both eyes get cataract and one does not them operated, will he become blind ?
5. While one eye is cataracted and gets glasses, and one can see with the other eye without glasses, should he be allowed to remove glasses and work ordinarily as if he has no numbered glasses.

6. If one can manage without the numbered glasses on while eating ordinarily, is it necessary that he should keep on the numbered glasses ?
7. Sometimes I find that by removing the glasses I can work better than when I put on numbered glasses.
8. Is it necessary to keep the numbered glasses at all times ? For instance, while eating, moving about among friends, and when one can do things better than when he puts on glasses.
9. Is it possible to live the whole life only with one operated eye and not resort to the operation of second eye even if it is cataracted ?
10. At what age generally cataract takes place ?
11. Does everybody pass through the process of curation which I am passing through ? For instance change in vision sharp colours etc.
12. Is it not possible or advised that operated eye may be given one number and the other eye another suitable number instead of keeping it blocked. Thus we shall see as we usually see with both eyes with different number.

Yours Sincerely,
Satyavrata

ANSWERS

Dear Dr Satyavrata,

1. When the cataract is of the senile variety—yes.
2. No. This depends on the state of cataract in both eyes.
3. Yes. This depends on the type of cataract and at what age one get the cataract and how many years one lives after the cataract removal in the first eye.
4. Naturally—the patient gets progressively blind because of cataract.
5. He can since the eye with a non-cataractous lens will normally have better vision than with an eye wearing thick cataract glasses (like yonrs).
6. No.
7. This is possible-refer to answer No. 5.
8. No.
9. Yes—provided that this cataract in the unoperated eye does not lead onto complications such as inflammation and secondary glaucoma.
10. 55 years (senile cataract). There are many types of cataract, and senile cataract is the commonest variety.
11. Yes.
12. Not normally. This is possible if one has squint from earlier on and one has lost the power to use both eyes together.

CONCLUSION

To my 9th question asking if it is possible to live the whole life only with one operated eye and not resort to the opertion of the 2nd eye even if it is cataracted, Dr Verma says : 'yes'. But now the question arises that if one can live the whole life without operation of the 2nd eye then why put block on one eye ?

The answer is that the block on one eye is put for the purpose of diminishing the vision-power of the blocked eye and improving the vision-power of the operated eye. If this block is not put then the blocked eye retains its power of vision resulting in double vision to the patient, because in that case both eyes will be using their power independently. He will see with the operated eye as well as with the unblocked eye both of which will operate at different levels without co-ordination. This will create confusion to the patient. By putting block the vision-power of the blocked eye will diminish and cataract in this blocked eye will mature earlier than in its normal course. By putting block the surgeon prepares the 2nd eye for operation so that double vision may not occur and the vision-power of the 2nd eye may manifest and develop after operation and both eyes may work to one centre enabling the patient to see only one object and not two.

Eye-operation is resorted to for two purposes :

(a) for vision power;

(b) for avoiding double vision.

These two purposes can be contained only by Blocking the 2nd eye after first operation. By cataract-operation the surgeon removes obstructing factors of the vision and makes both eyes capable of full vision. In this process, block is helpful. I wonder if all people who undergo eye-operation understand this, they after one operation, getting vision, do not bother for the double vision that already exists or comes later on They are satisfied with the restoration of vision by the operation of one eye only for restoration of vision is their main problem.

By putting block on one eye-one does not lose anything. One only becomes one-eyed. Nawab of Pataudi is also one-eyed and has captained Indian Cricket team. Pataudi is one-eyed for different reason. He lost one eye due to an accident. The surgeon makes you one-eyed for a short period to make you two-eyed after second operation. Most of the people who get operated in Shivirs remain one-eyed. Two-eye operations are resorted to mostly by educated people who live in cities and understand its value. Those who have one-eye operation restrain double vision, but the double image is so shadowy and mild that they overlook it and do not mind that slight discomfort as their main problem of restoration of vision is solved.

आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

प्रणीत

ग्रन्थों का परिचय

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की रचनाएँ

विद्यामार्तण्ड डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार हिन्दी के जाने-माने लेखक हैं। उनकी प्रत्येक रचना पुरस्कृत हुई है। होमियोपैथी तथा वैदिक सिद्धान्तो पर वे सर्वोत्कृष्ट कोटि के लेखक हैं। उनकी रचनाओ का विवरण हम यहाँ दे रहे हैं :

१. डा० सत्यव्रत जी की होमियोपैथी पर प्राप्य रचनाएँ

१. होमियोपैथिक औषधियों का सजीव चित्रण
(१९८८ संस्करण)···रु० ८५ (हिन्दी)

२. रोग तथा उनकी होमियोपैथिक चिकित्सा
(१९८८ संस्करण)···रु० ८५ (हिन्दी)

३. माँ तथा बच्चा (उनके रोग तथा चिकित्सा)
(१९८८ संस्करण)···रु० २५ (हिन्दी)

४. होमियोपैथी के मूल सिद्धान्त
(१९८८ संस्करण)···रु० ५० (हिन्दी)

५. होमियोपैथी का क-ख-ग
(A B C of Homoeopathy) ···रु० ५४ (हिन्दी)

६. बुढापे से जवानी की ओर (नवीन संस्करण)
(होमियोपैथिक निर्देशों सहित) ···रु० ६० (हिन्दी)

७. From Old Age to Youth through Yoga
(With Homoeopathic Treatment) ···Rs. 78 (English)

८. Dr. Satyavrata's Chart of Comparison of
Biochemic Drugs at a Glance (Now edition) ···Rs. 13 (English)

९. Frist-aid Specifics of Homoeopathic and
Biochemic Treatment ···Rs 50 (English)

२. डॉ० सत्यव्रत जी की वैदिक सिद्धान्तों पर प्राप्य रचनाएँ

१०. गीता-भाष्य (मूल, श्लोक, शब्दार्थ भावार्थ तथा व्याख्या सहित)—भूमिका लेखक भूतपूर्व प्राइम मिनिस्टर श्री लालबहादुर शास्त्री, श्री जयप्रकाश नारायण ने अपनी जेल-डायरी में लिखा है कि वे श्री सत्यव्रत जी लिखित गीता-भाष्य को सर्वोच्च भाष्य समझते रहे और जेल जीवन मे प्रतिदिन इसका अध्ययन करते रहे। (संस्कृत-हिन्दी) नवीन संस्करण ···रु० ६५

११. एकादशोपनिषद्-भाष्य (मूल, अन्वय, शब्दार्थ, भावार्थ तथा व्याख्या सहित—नवीन संस्करण भूमिका लेखक राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन (संस्कृत-हिन्दी) ···रु० ९५

१२. उपनिषद्-प्रकाश—उपनिषदों की धारावाहिक व्याख्या (संस्कृत-हिन्दी)···रु० ६५
१३. संस्कार-चन्द्रिका—सोलहों संस्कारों की विधि तथा व्याख्या (नवीन संस्करण)···रु० ६५
१४. वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व—बार-बार पुरस्कृत ग्रन्थ ···रु० ४०

३. डॉ० सत्यव्रत जी की अन्य प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

१५. वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार (गोविन्दराम हासानन्द द्वारा)
१६. वैदिक संस्कृति का सन्देश (गोविन्दराम हासानन्द द्वारा)
१७. ब्रह्मचर्य-सन्देश (गोविन्दराम हासानन्द द्वारा)
१८. Heritage of Vedic Culture (तारापुर एण्ड सन्स, बेम्बई द्वारा)
१९. Exposition of Vedic Thought (मुन्शीराम मनोहरलाल द्वारा)
२०. सत्य की खोज (गोविन्दराम हासानन्द द्वारा)
२१. डॉ० सत्यव्रत जी की जीवन-कथा (English) (डी० ए० वी० कालेज कमेटी द्वारा)
२२. गीता-सार (राजपाल एण्ड सन्ज़ द्वारा)
२३. How to Learn Hindi (अप्राप्य)
२४. Is Rigveda a Sumerian Document (अप्राप्य)
२५. Glimpses of the Vedas (Model Press, Rani Jhansi Rd., Delhi द्वारा)
२६. Confidential Talks to Youngmen (उपरोक्त Model Press द्वारा)
(डी० ए० वी० कालेज कमेटी, दिल्ली द्वारा)
२७. Reminiscenecs of a Vedic Scholar (डी० ए० वी० कालेज कमेटी द्वारा)
२८. Reminiscences and Reflections of a Vedic Scholar
(डी० ए० वी० कालेज कमेटी द्वारा)
२९. अभिनन्दन ग्रन्थ (गुरुकुल काँगड़ी विद्यालय द्वारा)

४. डॉ० सत्यव्रत जी की अन्य दुर्लभ पुस्तकें

३०. शिक्षा मनोविज्ञान (मंगलाप्रसाद पारितोषिक-प्राप्त ग्रन्थ)* ···रु० १५
३१. शिक्षाशास्त्र—शिक्षा सम्बन्धी सब परीक्षणों का परिचय* ···रु० १०
३२. समाजशास्त्र के मूल तत्त्व (मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त)* ···रु० २५
३३. समाज कल्याण तथा सुरक्षा ···(अप्राप्य)
३४. भारतीय सामाजिक संगठन* ···रु० १०
३५. समाजशास्त्र के मूल सिद्धान्त ···रु० १०
३६. सामाजिक विचारों का इतिहास* ···रु० १५
३७. स्त्रियों की स्थिति ···(अप्राप्य)
३८. व्यावहारिक मनोविज्ञान ···(अप्राप्य)
३९. नानी की कहानियाँ ···(अप्राप्य)
४०. भारत की जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ ···(अप्राप्य)
४१. मानव-शास्त्र ···(अप्राप्य)

इनमें से कुछ तारांकित पुस्तकें हम से प्राप्य हैं, अन्य अप्राप्य है। पत्र-व्यवहार से पता कर लें क्योंकि प्राप्तव्यों की संख्या थोड़ी ही है।

होमियोपैथी तथा वैदिक सिद्धान्तों पर लिखी उक्त सभी पुस्तकें हमारे निम्न पते पर प्राप्त हो सकती हैं :

विजयकृष्ण लखनपाल

डब्ल्यू-७७ ए, ग्रेटर कैलाश (१)

नई दिल्ली-११००४८ (टेलीफोन : ६४११७९०)

सत्य की खोज

[अभिनन्दन-ग्रन्थ]

प्रारम्भिक शब्द

१९८५ के जून-जुलाई की बात है। इस साल गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के नवीन कुलपति की नियुक्ति होनी थी। क्योंकि मैं गुरुकुल विश्वविद्यालय का परिद्रष्टा (विज़िटर) नियुक्त हूँ इसलिए अन्तिम तौर पर यह नियुक्ति मुझे करनी थी। गुरुकुल के ५-६ स्नातक भाई इस सम्बन्ध मे मेरे साथ विचार-विनिमय करने के लिए मुझे मिलने आये। उनमे एक स्नातक श्री प्रशान्त विद्यालंकार भी थे। स्नातक भाइयो से कुछ देर तक इस सम्बन्ध मे बातचीत होती रही, जिसकी चर्चा मैंने अन्यत्र इस ग्रन्थ मे की है। कुछ दिन बाद मुझे श्री प्रशान्त जी का एक पत्र आया जिसमें लिखा था कि आपने आर्यसमाज और गुरुकुल का इतने वर्षों तक कार्य किया, इतना अधिक वैदिक साहित्य लिखा, वैदिक संस्कृति तथा वैदिक विचारधारा पर इतने ग्रन्थ लिखे, अन्य छोटे-मोटे लोगों के सम्बन्ध में उनकी सामाजिक तथा साहित्यिक सेवाओ की प्रशंसा मे अनेक अभिनन्दन-ग्रन्थ लिखे तथा प्रकाशित किये जा चुके हैं, मैं चाहता हूँ कि आपके सम्बन्ध मे भी एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय। उन्होने लिखा कि इस कार्य को वे अपने जिम्मे लेकर इस योजना को कार्यान्वित करना चाहते हैं। इसके लिए वे मेरी स्वीकृति चाहते थे।

मैंने उन्हें इस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया। मैंने कई अभिनन्दन-ग्रन्थ देखे हैं। मेरे पास भी कई लोगो के अभिनन्दन-ग्रन्थ पहुँचे हैं। इन अभिनन्दन-ग्रन्थों से व्यक्ति को आत्म-सन्तोष जरूर होता है, उसकी अह-मन्यता को भी तुष्टि मिलती है, परन्तु इन्हे स्थिर साहित्य के रूप मे सम्भाल रखने की किसी की इच्छा नही होती। प्रायः इन अभिनन्दन-ग्रन्थो मे व्यक्ति की प्रशंसा के गीत गाये जाते हैं, उन्होने जो कार्य किया उसकी चर्चा होती है, इन्हें व्यक्ति स्वयं तो बार-बार पढ़ता है, दूसरा कोई पढ़ता हो या न पढ़ता हो, परन्तु अभिनन्दन-ग्रन्थों का अन्त कबाड़ियों के यहाँ ही होता है, ये किसी पुस्तकालय मे स्थान नही पाते। मै सोचता रहा कि अगर मेरा अभिनन्दन-ग्रन्थ अन्त मे जाकर किसी कबाड़ी के यहाँ ही शरण लेगा तो उसका छपना बेकार है। प्रशान्त जी को उनके पत्र का उत्तर नही मिला, परन्तु मेरे दिमाग में 'अभिनन्दन-ग्रन्थ कैसा होना चाहिए'— इसका कीड़ा रेंगता रहा।

मैं कल्पना करने लगा कि अगर मेरे सम्बन्ध में कोई अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित हो, तो उसमें क्या-कुछ होना चाहिए। सबसे पहली बात जो मेरे ध्यान में आई वह यह थी कि उसमे मेरे वैदिक साहित्य तथा वैदिक विचारधारा पर परिपक्व तथा सुलझे हुए विचार होने चाहिए। प्रश्न यह था कि मेरे इन विचारो को मेरे सिवाय कौन स्पष्ट रूप मे रख सकता है? अगर मेरे वैदिक विचारो को मेरी भाषा मे मेरे सिवाय दूसरा कोई नही रख सकता, तो दूसरी समस्या अपने-आप हल हो जाती है कि यदि ऐसा ग्रन्थ तैयार हो, तो इस ग्रन्थ मे मेरे लिखे विचारों का जो प्रत्येक ग्रन्थ की भूमिका में निहित हैं, समावेश होना चाहिए। जो कोई भी ग्रन्थ लिखा जाय वह ऐसा होना चाहिए जो किसी भी पुस्तकालय के रूप-रंग से ही नही, विषयवस्तु की दृष्टि से

भी शोभा बढ़ा सके। पढ़ने वाला अनुभव करे कि उस ग्रन्थ को पढ़कर उसने कुछ ग्रहण किया, सिर्फ अभिनन्द-नीय व्यक्ति का गुणगान ही नहीं पढ़ा। यह सब सोच-विचारकर मैंने स्वयं प्रशान्त जी की इच्छा को पूर्ण करने के लिए अपने अभिनन्दन-ग्रन्थ को रचने की योजना प्रारम्भ की और प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखन प्रारम्भ कर दिया। बात बड़ी अटपटी-सी लगती है। कोई लेखक अपना अभिनन्दन-ग्रन्थ स्वयं लिखे—यह कहीं सुना नहीं, परन्तु मेरी समझ में यही आया कि अगर अभिनन्दन-ग्रन्थ में अभिनन्दनीय व्यक्ति के व्यक्तित्व को साकारता देनी हो, तो उसकी प्रामाणिक रचना भी उसी को करनी चाहिए। यह सोच-समझकर ही मैं यह ग्रन्थ लिखने बैठा, भगवान् की कृपा से लिखा गया, जिसमें २१ अध्यायों में मैंने भिन्न-भिन्न विषयों पर अपने भिन्न-भिन्न विचारों का वैदिक संस्कृति की दृष्टि से स्पष्टीकरण किया है।

परन्तु, पाठक पुस्तक में जो कुछ पढ़ता है उसके लेखक के विषय में भी कुछ जानना चाहता है। अभिनन्दन-ग्रन्थ पढ़ते हुए इस प्रकार की जिज्ञासा तो हर पाठक के मन में रहती ही है। इस जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिए इस ग्रन्थ के अन्त में 'जिन्दगी के बिखरे फूल' (मीठी-कड़वी यादें)—इस नाम से एक अध्याय दिया गया है जिसमें लेखक की संक्षिप्त जीवन-कथा है। लेखक की जीवन-कथा कोई ऐसी विलक्षण वस्तु नहीं है कि उसे पाठक जीवनी के रूप में अवश्य ही पढ़े, परन्तु जीवन-कथावस्तु ही ऐसी होती है जिसे पढ़ने को जी चाहने लगता है। एक गम्भीर विषय की पुस्तक के साथ जीवन-कथा जैसे मनोरंजक वृत्त को जोड़ देने से पढ़ने-वाले को गरिष्ठ भोजन के साथ चाट चटनी का-सा मजा आ जाता है। मैं अगर स्वतंत्र रूप में केवल अपनी आत्म-कथा ही लिखता, तो कौन उसे पढ़ता ! मेरी आत्मकथा कोई महात्मा गांधी या पं० जवाहरलाल नेहरू सरीखे व्यक्तियों की आत्म-कथा के समान तो नहीं है, जिसे केवल आत्म-कथा पढ़ने की खातिर पढ़ा जाय, परन्तु जो व्यक्ति 'सत्य की खोज'—इस गम्भीर पुस्तक को पढ़ेंगे, उन्हें लेखक की 'जीवन की कुछ मीठी-कड़वी यादें' पढ़ने में भी रुचि उत्पन्न होगी।

मेरे स्नातक भाई गुरुकुल में नवीन कुलपति महोदय की नियुक्ति के विषय में जो चर्चा करने आये थे उस सम्बन्ध में इस भूमिका में कुछ शब्द लिख देना असंगत न होगा। मैंने इस पुस्तक के अन्त में गुरुकुल के कुछ आधारभूत सिद्धान्तों का संक्षेप में उल्लेख किया है। श्री बलभद्रकुमार जी हूजा को मैंने इन सिद्धान्तों से ओत-प्रोत पाया। वे पिछले १० वर्ष से गुरुकुल के कुलपति चले आ रहे थे। उनके पिता श्री गोवर्धन जी शास्त्री लगभग गुरुकुल की स्थापना के काल में संस्था के आधारभूत सिद्धान्तों से प्रेरित होकर ही गुरुकुल में कार्य करते रहे। कुलपति के रूप में श्री बलभद्रकुमार जी का चयन प्रबन्धकों की दूर दृष्टि का सूचक रहा। श्री बलभद्र-कुमार जी को गुरुकुल के प्रति ममता अपने पिता से विरासत में प्राप्त हुई थी। उनके पिता मेरे भी शिक्षक रहे थे। श्री बलभद्रकुमार जी की गुरुकुल की उन्नति के प्रति लगन स्वाभाविक थी, इसलिए अपने दस वर्षों के कुलपतित्व-काल में उन्होंने गुरुकुल की जो सेवा की वह सदा स्मरणीय रहेगी। श्री बलभद्रकुमार जी अब ७० वर्ष के ऊपर हो चुके थे, यूनीवर्सिटी ग्राण्ट्स कमीशन का आग्रह था कि किसी विश्वविद्यालय का कोई कुलपति ३५ वर्ष से अधिक आयु का नहीं रहना चाहिए। इस आग्रह के बावजूद हम सबने उनके दूसरी बार कुलपति बने रहने के लिए प्रयत्न किया, इसलिए प्रयत्न किया क्योंकि हम सबकी आशा रही कि उनकी जो आन्तरिक भाव-नाएँ हैं उनसे उनके द्वारा गुरुकुल उत्तरोत्तर उन्नति करेगा। उनके द्वारा ये आशाएँ पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुईं, परन्तु यह प्रतीत होना कि गुरुकुल-जगत् में दूसरा कोई व्यक्ति है ही नहीं जो गुरुकुलीय भावना को सजग बनाये रखे, क्लिष्ट कल्पना थी। बलभद्रकुमार जी भी कई बार मुझे कह चुके थे कि इस दस वर्ष के बाद वे आत्मोन्नति के मार्ग पर चलने के लिए गुरुकुल के झंझटों से छुट्टी पा लेना चाहेंगे। उनका यह दूसरा कार्य-काल ३१ जुलाई १९८५ को समाप्त हो रहा था, इसलिए नवीन नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ।

यह तो स्पष्ट है कि गुरुकुल की उन्नति के प्रति जो तड़प गुरुकुल के स्नातकों में हो सकती है वह दूसरे विलक्षण लोगों में ही मिलेगी। गुरुकुल उनकी मातृ-संस्था है।

(१) उन्हें प्रयत्न करना चाहिए कि गुरुकुल कांगड़ी का आयुर्वेदिक महाविद्यालय जो गुरुकुल से अलग हो गया है, फिर से गुरुकुल विश्वविद्यालय का अंगीभूत हो जाय और उसके लिए यू० जी० सी० से सहायता मिल सके तो वह प्राप्त की जाय और साथ ही उत्तर प्रदेश सरकार से बात चलाई जाय। वे स्वयं आयुर्वेदालंकार हैं, इसलिए इस बात की उन पर जिम्मेदारी विशेष रूप से आती है।

(२) उन्हें प्रयत्न करना चाहिए कि सरकार या यू० जी० सी० से मिलकर कृषि तथा गोशाला के लिए प्रभूत धनराशि प्राप्त की जाय ताकि गुरुकुल के निवासियों तथा ब्रह्मचारियों को शुद्ध दुग्ध मिले। सरकार भी इसमें प्रयत्नशील है और उनके प्रयत्न से इसमें सफलता मिल सकती है।

(३) उन्हें प्रयत्न करना चाहिए कि स्नातकों द्वारा रचित उत्कृष्ट वैदिक साहित्य का अधिकाधिक प्रचार हो और स्नातकों को उच्चकोटि का वैदिक साहित्य निर्माण करने में गुरुकुल का सहयोग मिले जिसकी यू० जी० सी० आशा भी रखती है और जिस आशा से ही गुरुकुल को विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त हुई है।

(४) उन्हें प्रयत्न करना चाहिए कि गुरुकल की शिक्षा को ऐसा मोड़ दें जिससे गुरुकुल विश्वविद्यालय में वे ही छात्र भर्ती हों जो गुरुकुलीय जीवन मे से गुजर चुके हों और जिनके दैनिक जीवन में गुरुकुलीय जीवन की विचारधारा ओतप्रोत हो। इन छात्रों को जहाँ आर्यसमाज की सेवा के लिए तैयार किया जाय वहाँ शिक्षा को ऐसा भी मोड़ दिया जाय जिससे सरकारी सेवा के लिए भी वे योग्य समझे जायें। हमारी संस्था में पढ़े हुए छात्र आई० ए० एस०, आई० पी० एस० आदि सरकारी सेवाओं में जा सकें—इसके लिए शिक्षण-स्तर पर प्रयत्न किया जाना उचित है क्योंकि अब देश परतन्त्र नहीं, स्वतन्त्र है और देश को सरकारी सेवाओं मे सच्चरित्र व्यक्तियों की आवश्यकता है।

स्नातक भाई जो इस सम्बन्ध में मुझसे मिलने आये थे उनसे मैंने यही कुछ कहा था और मुझे प्रसन्नता है कि स्नातक भाई मेरे विचारों से सहमत थे। डॉ० सत्यकाम जी बड़े उद्यमी, उत्साही तथा क्रियाशील व्यक्ति हैं, इसलिए हम सबको आशा है कि हमारे नवीन कुलपति इन आशाओं को पूर्ण करेंगे और गुरुकुल का यश उज्ज्वल करेंगे।

मैंने अपने जीवन में बहुत-कुछ लिखा है और ८८वें वर्ष की आयु समाप्त करते समय सोचता हूँ कि यह मेरा अन्तिम ग्रन्थ होगा, परन्तु 'मेरे मन कछु और है विधना के मन और'—इस ग्रन्थ के समाप्त करते ही मैंने इसी आशय का एक अन्य ग्रन्थ आंग्ल-भाषा में भी लिख डाला है जो अलग से प्रकाशित हुआ है।

डब्ल्यू-७७ ए, ग्रेटर कैलाश (१)
नई दिल्ली-११००४८

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व

भूमिका

यूरोप में जो लोग विश्व की सामाजिक रचना का एक नये सिरे से निर्माण करना चाहते हैं उनका कहना है कि अब तक हमने विश्व के विकास मे ईर्ष्या-द्वेष, लूट-खसोट, छीना-झपटी को आधार बनाकर सब-कुछ किया, इससे लडाई-झगड़े-अशान्ति बढ़ी, अब हम इन तत्त्वो के स्थान मे सत्य, प्रेम, सहानुभूति, त्याग, तपस्या को आधार बनाकर विश्व का नव-निर्माण करना चाहते हैं। इस विचारधारा को 'नैतिकसैन्यीकरण' का नाम दिया जाता है। भौतिकवाद के गढ यूरोप मे आध्यात्मिकता की इस प्रकार की प्रतिक्रिया का उत्पन्न हो जाना कोई आश्चर्य की बात नही है। भारत के ऋषि-मुनियो ने तो सहस्रो वर्ष पहले, अनुभव से, यह निष्कर्ष निकाल लिया था कि भौतिकवाद जिन तत्त्वों को आधार बनाकर चलना चहता है वे सारहीन हैं, उन्हे जीवन की नीव मे डालकर चलने से मनुष्य एक कदम भी आगे नही बढ सकता। आज तक काम-क्रोध-लोभ-मोह को आधार बनाकर चलने से दुनिया कहाँ तक आगे बढ़ी ?

भारत के आध्यात्मिक विचारकों का तो कहना यह था कि और तो और, भौतिकवाद भी इन तत्त्वो के सहारे अपने भवन का निर्माण नही कर सकता। कौन भौतिकवादी है जो मार-काट, झूठ, चोरी, बेईमानी और संयमहीनता को ठीक कहता हो ? कोई नही कहता। परन्तु क्यो नही कहता ? जब, जो दीखता है वही सत्य है, जो नही दीखता वह झूठ है, तब तो स्वार्थ ही संसार का अंतिम लक्ष्य हो सकता है, परार्थ, सेवा, प्रेम, मैत्री, बन्धुत्व—ये सिर्फ मन परचाने के तत्त्व हो सकते हैं, ऐसे तत्त्व जो जब तक स्वार्थ को सिद्ध करें तब तक ठीक; जहाँ व्यक्ति के स्वार्थ मे बाधक पड़ें, वहाँ गलत। भौतिकवादी दृष्टि से ऐसा ही होना चाहिए, परन्तु आश्चर्य की बात है कि भौतिकवाद भी उन्ही तत्त्वों का नाम लेता है जिनका नाम अध्यात्मवाद लेता है। सचाई, प्रेम, ईमानदारी और इनसे मिलते-जुलते तत्त्व जो अध्यात्मवाद की नीव मे पड़े हैं उन्हें भौतिकवाद भी छोडना नही चाहता। प्रश्न यही है कि भौतिकवाद इन्हें एकदम छोड देने से क्यों घबराता है ? इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि भौतिकवाद इन आध्यात्मिक तत्त्वों को इसलिए नही छोड़ना चाहता क्योंकि उसे भी दीखता है कि घोर-से-घोर जड़वादी जगत् मे सचाई से ही काम चलता है, झूठ से नहीं, प्रेम से ही इस मशीन की कर्कशता को मिटाया जा सकता है, ईर्ष्या-द्वेष, लड़ाई-झगड़े से नही। हाँ, इसमे सन्देह नही कि क्योकि अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सार्वत्रिक तथा सार्वभौम रूप से अध्यात्म तत्त्व हैं, भौतिकवाद के ये मूलतत्त्व नही हैं, इसलिए भौतिकवाद इन तत्त्वों को तभी तक पकड़ता है जब तक ये व्यक्ति के स्वार्थ को सिद्ध करते दीखते हैं, जहाँ इनसे व्यक्ति को अपना स्वार्थ सिद्ध होता नहीं दीखता वही वह इनसे किनारा काटने की कोशिश करता है। भौतिक-वादी को सचाई तब तक ठीक जँचती है जब तक इससे उसका मतलब सिद्ध होता है, जहाँ स्वार्थ को ठेस लगी वही झूठ ठीक और सचाई गलत लगने लगती है। ईमानदारी भी तभी तक ठीक है जब तक अपना मतलब निकलता हो, जहाँ स्वार्थ बेईमानी से सिद्ध होता हो वहाँ बेईमानी ठीक मालूम पडती है। स्वयं कोई सच बोलना नही चाहता, परन्तु दूसरे को झूठ बोलते देख उस पर बरस पड़ता है; स्वयं हरेक बेईमानी करता है, दूसरे को ईमानदारी से न बरतते देख तिलमिला उठता है; अपने आप दुराचार करे तो कुछ नहीं, परन्तु दूस

को सदाचार के हटते देखकर सहन नहीं करता। अपने लिए कुछ नहीं, दूसरे के लिए सब-कुछ! भौतिकवाद इस दृष्टिकोण पर टिकने का प्रयत्न करता है, परन्तु धीरे-धीरे यह जाहिर होने लगता है कि यह दृष्टि अपने को स्वयं काट डालती है। यह कैसे हो सकता है कि हम झूठ और बेईमानी को अपना आधार बनायें और दूसरों से सच और ईमानदारी की आशा करें, यह स्थिति टिक नहीं सकती। दूसरे के लिए जो ठीक है वही हमारे लिए भी ठीक है—ऐसा मानने से ही व्यवहार चल सकता है। सचाई, ईमानदारी, प्रेम—ये तत्त्व जब दूसरे में हों तभी मेरा काम चलता है, इनके बिना नहीं, तब मुझमें भी तो इन्हीं तत्त्वों के आने से संसार का कारोबार चलेगा। तभी तो प्रगाढ़ भौतिकवाद की अवस्था में भी सत्य, अहिंसा, प्रेम, विश्व-बन्धुत्व आदि के आध्यात्मिक तत्त्व मानो हमें चिपटे-से जाते हैं, हमें छोड़ते नहीं। हमारे चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने असत्य को सत्य, द्वेष को प्रेम, दुराचार को सदाचार छुरी की तेज धार की तरह चीरता हुआ आगे बढ़ आता है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि ये ही तत्त्व शाश्वत हैं, नित्य हैं, भौतिकवाद के लाख कोशिश करने पर भी हम इनसे अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते। ये आध्यात्मिक तत्त्व विश्व की रचना के आधार में नींव बनकर बैठे हुए हैं। जिसने कहा था—'सत्येनोत्तभिता भूमिः'—सत्य पर भूमि टिकी हुई है—उसने एक ऐसी सचाई की घोषणा की थी जिसे सहस्रों वर्षों की भौतिकवादी टक्कर भी नहीं हिला सकी। भौतिकवादी विश्व की रचना में कुछ भौतिक तत्त्वों का दर्शन करते हैं, ये तत्त्व ठीक हैं, इससे कोई इन्कार नहीं करता, परन्तु भारत के तत्त्व-वेत्ताओं ने कुछ ऐसे मूल तत्त्वों के दर्शन किये थे जिन्हें अगर विश्व की नींव में से खींच लिया जाय, तो यह विशाल जगत् मिट्टी के ढेर की तरह नीचे आ गिरता है। इन तत्त्वों के दर्शन करने वालों ने वैदिक संस्कृति को जन्म दिया था, और उन्होंने इन्हीं तत्त्वों को आधार बनाकर जीवन के भव्य भवन को खड़ा किया था। इस पुस्तक में हम जगह-जगह उन्हीं तत्त्वों के दर्शन करेंगे।

वैदिक संस्कृति के विषय में बहिरंग दृष्टि से कई पुस्तकें लिखी गयी हैं। यह संस्कृति कब उत्पन्न हुई, कहाँ उत्पन्न हुई, ऐतिहासिक दृष्टि से कहाँ-कहाँ पहुँची? हमने इस पुस्तक में अन्तरंग दृष्टि से विचार किया है। वैदिक संस्कृति क्या है, इसके मूल तत्त्व क्या हैं, उनका वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार क्या है, वर्तमान-कालीन विचारधारा में उनका क्या स्थान है, भारत के ऋषि-मुनियों की जीवन के प्रति दृष्टि क्या थी, संस्कृति के जिन मूल तत्त्वों का उन्होंने दर्शन किया था उन्हें जीवन में क्रियात्मक तथा व्यावहारिक रूप किस प्रकार दिया था—इन्हीं सब बातों का इस पुस्तक में विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है।

डब्ल्यू-७७ ए, ग्रेटर कैलाश (१)
नई दिल्ली-११००४८

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार
[SCIENTIFIC BASIS OF VEDIC THOUGHT]

ग्रन्थ का विमोचन करते हुए प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने कहा

आज का युग संघर्ष का युग है। इस युग मे भौतिक तथा आध्यात्मिक विचारों का भी टकराव हो रहा है। ग्रन्थकर्त्ता ने ठीक ही कहा है कि धर्म तथा विज्ञान के संघर्ष मे हमे धर्म के लिए वैज्ञानिक आधार खोजना होगा। विज्ञान का सच्चा अर्थ है सत्य की खोज, मनुष्य की आन्तरिक आँखें खुलें, हृदय खुले, और यही उद्देश्य धर्म का है। इस दृष्टि से देखने पर ही वस्तु स्थिति समझ मे आ सकती है क्योकि कोई वस्तु अपने-आप मे बुरी नही है। वस्तु का अच्छा अथवा बुरा होना इस बात पर निर्भर करता है कि उसका उपयोग किस प्रकार किया जा रहा है। एक छुरी किसी सर्जन के हाथ मे कल्याणकारी है तो वही अन्य अवसर पर हत्या का साधन बन सकती है। विज्ञान का युद्ध के लिए प्रयोग संहारकारी है, परन्तु इसी विज्ञान का काम मानव को कितनी ही बीमारियों से बचाना भी है। जो लोग धर्म के नाम पर अन्धविश्वास को भी धर्म के समान मान्यता देते हैं उन्हें सोचना होगा कि अन्धविश्वास धर्म नही है। अभी प्रो॰ सत्यव्रत जी ने ठीक ही कहा है कि विज्ञान एक लँगड़े के समान है, धर्म एक अन्धे के समान है। बिना विज्ञान के धर्म अधूरा है, बिना धर्म के विज्ञान अधूरा है। इन दोनो को साथ मिलकर चलना होगा—इस कथन मे गहरी सचाई है। आज के युग मे धर्म की वही मान्यताएँ टिक सकती हैं जिन्हे वैज्ञानिक दृष्टि से पुष्ट किया जा सके। धर्म के कुछ आधारभूत सिद्धान्त हैं। उन सिद्धान्तों को नीव मे रखकर जीवन का निर्माण करना होगा। धर्म की इन मान्यताओं मे, जो विज्ञान-सम्मत हैं, इतना बल है कि वे जीवन को सशक्त बना सकती है। वेदों में, उपनिषदों तथा गीता मे जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे हमारे वैदिक साहित्य की अमरनिधि हैं, हमारे जीवन के लिए प्रेरणा-सूत्र हैं, इस निधि को हम किसी तरह गँवा नही सकते। वेदो की विचारधारा त्रिकाल सत्य है, इनमे दर्शाये गये बुनियादी आदर्श हर परिस्थिति तथा हर काल मे अपनाने योग्य हैं।

इस ग्रन्थ मे अध्यात्म के बुनियादी सिद्धान्तो की तरफ ध्यान खीचते हुए उनका विज्ञान के साथ समन्वय दिखलाने का जो वांछनीय प्रयत्न किया गया है उनकी तरफ युवको तथा युवतियों का ध्यान माना जाना चाहिए। मेरी इच्छा है कि सब लोग इस ग्रन्थ का अध्ययन करें और इसमे भौतिक तथा अध्यात्म का जो समन्वय दर्शाया गया है उस पर मनन करें ताकि युवको मे जो उच्छृंखलता आती जा रही है वह न रहे और वैदिक आदर्श उनके जीवन में ओतप्रोत हो जायें।

मैं ग्रन्थकर्त्ता को ऐसा उत्तम ग्रन्थ लिखने के लिए बधाई देती हूँ, इसी प्रकार का साहित्य सर्जनात्मक-साहित्य कहा जा सकता है।

वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार
[SCIENTIFIC BASIS OF VEDIC THOUGHT]

इसे क्यों पढ़ें ?

आज का व्यक्ति आँखे मूंदकर कोई बात मान लेने को हर्गिज तैयार नही। हर बात को वह विज्ञान की कसौटी पर कसकर परख लेना चाहता है, क्योकि खरे-खोटे की पहचान का सर्वोत्कृष्ट आधार वह 'विज्ञान' को मानता है। 'धर्म-सम्मत', 'शास्त्र-सम्मत' या 'तर्क-सम्मत' से अधिक वह 'विज्ञान-सम्मत' होने मे विश्वास रखता है।

निस्सन्देह, यह स्वस्थ दृष्टिकोण है, स्वस्थ परम्परा है; हालाँकि, स्वयं 'विज्ञान' भी यह दावे से नही कह सकता कि उसकी उपलब्धियाँ चिरनूतन हैं या उसकी संस्थापनएँ 'अन्तिम' हैं; जो विज्ञान स्वयं अभी कसौटी पर है, वह दूसरे के लिए कसौटी क्या होगा ! तथापि, इस धारणा को सम्मान देना ही होगा कि कोई भी विचारधारा तब तक सर्वमान्य नहीं कही जा सकती, जब तक उसका आधार वैज्ञानिक न हो।

आज का युवा-वर्ग खुले शब्दों मे पूछता है कि 'ईश्वर' है तो कहाँ है ? वह दिखाई क्यों नही देता ? वह श्रीकृष्ण के गीता में कहे गए इस महामन्त्र को भी सन्देह की दृष्टि से पढ़ता-सुनता है कि 'फल की आशा त्याग-कर कर्म करो !' व्यक्ति सोचता है कि वह निरुद्देश्य ही क्यो अपना खून बहाए ? जब कुछ मिलने-मिलाने की आशा नही तो वह खून-पसीना एक क्यों करे ? स्पष्ट है कि 'निष्काम कर्म' के महत्त्व को समझाने मे 'गीता' के भाष्यकार अभी तक एक तरह से निष्प्रभाव रहे हैं।

इसी तरह 'शिक्षा' के बारे में भी युवक-युवतियों के मन मे भारी आक्रोश है। वे ऐसे ज्ञानार्जन को निरर्थक मानते हैं जो रोजी-रोटी दिलाने मे असमर्थ है। शिक्षार्थी, शिक्षक और शिक्षण का कोई तालमेल ही नही दीखता !

आज के चिन्तक के लिए 'आत्मा' भी एक उबाऊ विषय होकर रह गया है। 'मन' से आगे एक भी पग उठाने को वह बोझ मानने लगा है।

आवश्यकता थी एक ऐसे ग्रन्थ की, जो इन गुत्थियों को इस तरह सुलझा दे जैसे रात का पर्दा उठाकर जगमगाता सवेरा उतार लाय। यह ग्रन्थ इस दृष्टि से सचमुच आलोक-स्तम्भ सिद्ध हुआ है। देश-विदेश के जिज्ञासुओं ने जिस उत्सुकता से इसे पढ़ा और सराहा है, उसी के परिणामस्वरूप यह नवीन संस्करण शीघ्रता से प्रकाशित करना पड़ा।

वैदिक विचारधारा को विज्ञान-सम्मत ढंग से प्रस्तुत करने में जिस सरल-सुबोध शैली मे लेखक ने युक्तियों और प्रमाणों से कथ्य को सजाया और प्रतिपादित किया है, उसी के फलस्वरूप इसे 'भारतीय दर्शन की अन्यतम उपलब्धि' माना गया है।

विविध संस्थाओं की ओर से राजकीय एवं सार्वजनिक स्तर पर अनेक पुरस्कारों द्वारा इसे निरन्तर सम्मान मिलते जाना, स्वयं मे हर्ष और आश्चर्य का विषय है।

सनातन और शाश्वत वैदिक वाङ्मय को समझाने में यह ग्रन्थ जिज्ञासुओ के लिए 'प्रवेशद्वार' सिद्ध होगा, इस विश्वास के साथ पाठकों के हाथों में यह नया संस्करण समर्पित है।

विजय कुमार
(प्रकाशक)

वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार
[SCIENTIFIC BASIS OF VEDIC THOUGHT]

भूमिका

मैक्स मूलर ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया : वट कैन इट टीच अस' में एक स्थल पर लिखा है : "अगर मैं विश्वभर में से उस देश को ढूंढ़ने के लिए चारों दिशाओं में आँखें उठाकर देखूं जिस पर प्रकृति-देवी ने अपना सम्पूर्ण वैभव, पराक्रम तथा सौन्दर्य खुले हाथों लुटाकर उसे पृथिवी का स्वर्ग बना दिया है, तो मेरी अंगुली भारत की तरफ उठेगी। अगर मुझसे पूछा जाय कि अन्तरिक्ष के नीचे कौन-सा वह स्थल है जहाँ मानव के मानस ने अपने अन्तराल में निहित ईश्वर-प्रदत्त अन्यतम सद्भावों को पूर्ण रूप से विकसित किया है, गहराई में उतरकर जीवन की कठिनतम समस्याओं पर विचार किया है, उनमें से अनेकों को इस प्रकार सुलझाया है जिसको जानकर प्लेटो तथा कांट का अध्ययन करनेवाले मनीषी भी आश्चर्यचकित रह जाएँ, तो मेरी अंगुली भारत की तरफ उठेगी। और, अगर मैं अपने से पूछूं कि हम—यूरोप के वासी—जो अब तक केवल ग्रीक, रोमन तथा यहूदी विचारों में पलते रहे हैं, किस साहित्य से वह प्रेरणा ले सकते हैं जो हमारे भीतरी जीवन का परिशोध करे, उसे उन्नति के पथ पर अग्रेसर करे, व्यापक बनाये, विश्वजनीन बनाये, सही अर्थों में मानवीय बनाये, जिससे हमारे इस पार्थिव जीवन को ही नहीं, हमारी सनातन आत्मा को प्रेरणा मिले, तो फिर मेरी अँगुली भारत की तरफ उठेगी।'[1]

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक शोपनहॉर का कथन था कि विश्व के सम्पूर्ण साहित्यिक भण्डार में किसी ग्रन्थ का अध्ययन मानव के विकास के लिए इतना हितकर तथा ऊँचा उठानेवाला नहीं है जितना उपनिषदों का

---

1. 'If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty that nature can bestow—in some parts a very paradise on earth—I should point to India. If were asked under what sky the human mind has most fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life, and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India. And if were to ask myself from what literature we, here in Europe, we who have been nurtured almost exclusively on the thoughts of Greeks and Romans, and of one Semetic race, the jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more comprehensive, more universal, in fact more truly human, a life, not for this life only, but a transfigured and eternal life—again I should point to India."

अध्ययन। इनके अध्ययन से मुझे जीवन में शान्ति मिली है, इनके ही अध्ययन से मुझे मृत्यु के समय भी शान्ति प्राप्त होगी।[1] शोपनहॉर के इन शब्दों का उल्लेख करते हुए मैक्स मूलर ने लिखा है कि अगर शोपनहॉर की इस भावना का समर्थन करने की आवश्यकता हो, तो दर्शन तथा धर्म के अध्ययन में व्यस्त अपने दीर्घ जीवन के अनुभव के आधार पर मैं इन शब्दों का सहर्ष अनुमोदन करता हूँ।[2]

मैक क्रिंडल ने सिकन्दर के आक्रमणों पर लिखी अपनी पुस्तक में मैगस्थनीज के 'इंडिका' ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए लिखा है कि जब सिकन्दर भारत पर आक्रमण करने के लिए निकला तब उसके गुरु अरस्तू ने उसे आदेश दिया कि वहाँ से लौटते हुए दो तोहफे लेते आना—एक था गीता तथा दूसरा, वहाँ का कोई एक दार्शनिक सन्त। सिकन्दर जब लौटने लगा तब उसने ओनियोक्रोटस नाम के अपने प्रतिनिधि को किसी सन्त को ढूंढ़कर साथ ले चलने के लिए भेजा। एक सन्त तो साथ चल पड़ा, दूसरे ने जिसका नाम 'डैंडीमीज' लिखा है साथ चलने से इन्कार कर दिया। 'डैंडीमीज' शब्द दंडी स्वामी का ग्रीक-रूप जान पड़ता है क्योंकि नाम के साथ 'ईज़' लगाना ग्रीक-पद्धति थी। दंडी स्वामी को सिकन्दर के दूत ने कहा कि आप चलेंगे तो जुपिटर का पुत्र सिकन्दर आपको मालोमाल कर देगा। दंडी स्वामी ने हँसकर उत्तर दिया—हमारे रहने के लिए यह शस्य-श्यामला भारत की धरती, पहनने के लिए वल्कल-वस्त्र, पीने के लिए ये कल-कल रव करती गंगा की शीतल धार, खाने के लिए एक पाव आटा बहुत है—हम आत्म-धन के धनी हैं, आत्म-धन जो धनों का धन है, उस धन की दृष्टि से दरिद्र तुम्हारा सिकन्दर हमें क्या दे सकता है?

औरंगजेब का भाई दारा उपनिषदों पर इतना लट्टू था कि काशी से कुछ पंडितों को बुलाकर लगातार छः महीने तक उनकी व्याख्या सुनता रहा। १६५६ में उसने इनका फारसी में अनुवाद किया। दारा के इसी भाषान्तर को फ्रेंच विद्वान् एन्क्विटिल ड्यू पैरों ने पढ़ा और उसे पढ़कर उसे प्राच्य शास्त्रों को पढ़ने की रुचि हुई। उपनिषदों के फारसी-अनुवाद के आधार पर ही एन्क्विटिल ड्यू पैरों ने १८०१ ईसवी में इनका लैटिन में अनुवाद किया। इस प्रकार दारा द्वारा मुस्लिम एवं एन्क्विटिल द्वारा ईसाई-जगत् में उपनिषदों की विचारधारा का इतना जबर्दस्त सिक्का जमा कि पूर्व तथा पश्चिम में इन ग्रन्थों को अत्यन्त श्रद्धा से पढ़ा जाने लगा।

अरस्तू, दारा शिकोह, मैक्स मूलर तथा शोपनहॉर ने जिस भारतीय विचारधारा से प्रेरणा ग्रहण की थी उसका स्रोत वेद हैं, उपनिषद् हैं, दर्शन हैं। इन्हीं की वाणी को हमने वैदिक विचारधारा कहा है। वैदिक विचारधारा का सार क्या है? इसका सार यह है कि व्यक्ति भौतिक दृष्टि से कितना ही उन्नत हो जाय, चाँद पर जा उतरे, कितना ही समृद्ध हो जाय, धन-कुबेर हो जाय, यह विश्व भी भौतिक दृष्टि से कितनी ही उन्नति कर ले, संसार में सम्पत्ति का इतना ढेर लग जाय कि बाँटे न बँटे, परन्तु अगर व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से दरिद्र रहा, विश्व आध्यात्मिकता से शून्य रहा, तो इस पृथ्वी का मानव और सम्पूर्ण विश्व कहने को उन्नत तथा समृद्ध होता हुआ भी दरिद्र का दरिद्र ही रहेगा। आध्यात्मिक दृष्टि का यह अर्थ नहीं है कि संसार को हम मिथ्या कहें, धन-सम्पति को बेकार कहें। इसका इतना ही अर्थ है कि मानव में शरीर यथार्थ है, परन्तु शरीर के साथ शरीरेतर आत्मा भी यथार्थ है, चराचर जगत् में यह भौतिक जगत् यथार्थ है, परन्तु इस पंच-

1. "In the whole world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads. It has been the solace of my life, it'll be the solace of my death"—Schopenhaur.

2. "If these words of Schopenhaur required any endorsement I shall willingly give it as the result of my own experience during a long life devoted to the study of many philosophies and many religious." —Max Muller.

भौतिक जगत् के साथ इसमे जीवन का संचार करनेवाला जगदितर परमात्मा भी यथार्थ है। शरीर से चलकर शरीर तक ही रुक जाना, इस सृष्टि से प्रारम्भ कर इस सृष्टि में ही अटक जाना—यह दृष्टि अयथार्थ है। और, जब हम सब इसमें ही अटक जाते हैं तब यह कहने की जरूरत पड़ जाती है कि जो दीख रहा है, जिसमें प्राणी उलझ जाता है, वह यथार्थ होता हुआ भी अयथार्थ है, सत्य होता हुआ भी मिथ्या है, इसलिए अयथार्थ और मिथ्या है क्योंकि हम इसमें प्राण डालनेवाली सत्ता को भूलकर इसी को यथार्थ मान बैठते हैं।

वैदिक दृष्टिकोण एक कदम और भी आगे बढ़ता है। वह दृष्टिकोण यह है कि मानव का यह शरीर उस अशरीरी का साधन है जो किसी लक्ष्य की तरफ बढ़ता हुआ इसमे वास करता है, यह दृश्य-जगत् किसी अदृश्य चेतन शक्ति के प्रयोजन को निबाह रहा है। अगर अपने में इस देह को, और विश्व मे इस पंचभूतात्मक जगत् को ही आदि और अन्त मान लिया जाय, जीवन का लक्ष्य खाने-पीने, मौज-बहार के सिवाय दूसरा कुछ न माना जाय, तो इसका अवश्यंभावी परिणाम चोरी-डाका, लूट-खसोट, मार-काट, कत्ल, अनाचार-दुराचार के सिवाय क्या रह जाता है ! क्या आप कहते हैं—'मानव का कल्याण', 'समाज का कल्याण'—यह लक्ष्य तो बना रहता है, परन्तु प्रश्न उठता है—किस मानव, का किस समाज का कल्याण ? मै तो खाता-पीता, मौज-बहार करता अपना खेल खत्म कर शून्य हो जाऊँगा, मिट जाऊँगा, फिर कहाँ का मानव, कहाँ का समाज ? किसकी फिक्र ? किसके प्रति रह जाती है मेरी-आपकी जिम्मेवारी ? फिर तो चार्वाक का कहना ठीक है—'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्, भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'—जब तक जीओ सुख से जीओ, ऋण लेकर घी पीओ, मर गये तब ऋण चुकाने कौन आता है ! यूरोप मे एपिक्यूरस (३४०-२७० ई० पू०) तो नही परन्तु उसके अनुयायी भी कुछ-कुछ इसी भौतिकवादी पन्थ पर चल पड़े थे। अगर यह देह और यह भौतिक जगत् ही सब-कुछ है, तो जो कुछ कहते थे, ठीक कहते थे। परन्तु इस दुनिया को ही आदि और अन्त मानकर चलने से क्या इस दुनिया का भी कारोबार चल सकता है ?

क्या हम इस शरीर को, और इस जगत् को ही आदि और अन्त मानकर चलें ? वैदिक विचारधारा का कहना है—नही, ऐसा करने से तो यह दुनिया भी सिद्ध नही होगी। यह तो है ही, वह भी है जो दीखता है, उससे कौन इन्कार करता है ! समझने की बात यह है कि जो नही दीखता वह भी है, और अगर गहरी दृष्टि से देखा जाय, तो वही है क्योंकि उसी के लिए यह सब-कुछ है। संसार का सारा व्यवहार इसी प्रकार टिक सकता है, अन्यथा सब टूक-टूक हो जाता है।

वैदिक विचारधारा जिस सत्य को आधार बना कर खड़ी है, वह व्यावहारिक सत्य है। वह जगत् को मिथ्या नही कहती, इसे ही अन्तिम सत्य भी नही कहती, वह इन दोनो के समन्वय को लेकर मध्यमार्ग पर चलती है; जगत् को सत्य मानते हुए उसे मानो मुट्ठी मे भरकर आत्मा की झोली मे डाल देती है जिसे वह सत्यों का सत्य—परम सत्य जानती है। इस दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर इस ग्रन्थ मे उन प्रश्नों पर वैज्ञानिक भावना से विचार किया गया है जो जीवन में किसी-न-किसी समय हर किसी को उलझन में डाल देते हैं।

प्रायः अध्यात्म तथा विज्ञान का विरोध समझा जाता है। अध्यात्मवादी जो कहता है उसे जड़वादी स्वीकार नहीं करता; इतना ही नहीं कि वह उसे स्वीकार नही करता, अपितु उसे अवैज्ञानिक भी कहता है। आज के दिनोदिन बढ़ते वैज्ञानिक युग मे हमारी नई पीढ़ी के युवक-युवतियाँ इसी दृष्टिकोण को सत्य मानकर उसके अनुरूप अपना जीवन भी ढाल रहे हैं। परन्तु क्या उन्होंने कभी सोचा कि कहीं वे गलत रास्ते पर तो नही पड़ गये, कहीं जीवन के पथ से भटक तो नही गये ? आइन्स्टीन इस युग के महान् वैज्ञानिक हुए हैं। उनका कहना था कि बिना अध्यात्म के विज्ञान लँगड़ा है, बिना विज्ञान के अध्यात्म अन्धा है—'Science without religion is lame; Religion without science is blind'. इसी को सांख्य ने प्रकृति तथा पुरुष का 'पंगवन्ध-न्याय' कहा है। इस पुस्तक में वैदिक अध्यात्म को विज्ञान की कसौटी पर कसकर उसे परखने का प्रयत्न किया गया है ताकि हमारी नई पीढ़ी जिन मान्यताओं को अवैज्ञानिक कहकर छोड़ती जा रही है उन पर इस दृष्टि से

सोचने का यत्न करे कि उनमें अवैज्ञानिकता कहाँ है? इसीलिए इस पुस्तक का नाम रखा गया है: 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार'। इस दृष्टिकोण को बुद्धिगम्य आधार पर प्रस्तुत करने में ग्रन्थ लेखक को कहाँ तक सफलता मिली है, इसे वह पाठकों के निर्णय पर छोड़ता है।

ग्रन्थ में 'केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय' द्वारा प्रकाशित शब्दावली का ही प्रयोग किया गया है।

यह ग्रन्थकर्ता के लिए गौरव की बात है कि इस ग्रन्थ का विमोचन भारत की प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अनेक उच्च कोटि के विद्वानों के समक्ष किया। ग्रन्थ का विमोचन करते हुए उन्होंने जो कुछ कहा उसे आपने पूर्व पृष्ठों में पढ़ ही लिया होगा।

पुस्तक के लेखन तथा प्रकाशन में लेखक को अनेक मित्रों से उत्साह तथा भिन्न-भिन्न प्रकार का सहयोग मिला है। राज्यसभा के अपने पुराने मित्र श्री रामकुमार जी भुवालका, एवं श्री बी० पी० खेतान, श्री लक्ष्मीनिवास जी बिड़ला, भाई देवदत्त लखनपाल, श्री यशराज पटेल तथा चौधरी प्रतापसिंह जी का भी उत्साह-वर्धन के लिए हृदय से कृतज्ञ हूँ। 'गोविन्दराम हासानन्द' के मालिक श्री विजयकुमार जी ने पुस्तक के प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। वे धन्यवाद के पात्र हैं। सरकार के केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने पुस्तक को अपनी योजना के लिए उपयोगी स्वीकार किया है—यह लेखक के लिए गौरव की बात है। अजय प्रिन्टर्स ने मेरे बार-बार कलम चलाने पर भी शान्ति तथा सहयोग से काम लिया है, और आशातीत शीघ्रता से छपाई का काम समाप्त कर दिया है—इसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाए थोड़ी है।

पुस्तक के आगामी संस्करण के लिए जो भी सज्जन उपयोगी परामर्श देंगे उन्हें अभी से निमन्त्रण तथा धन्यवाद है।

डब्ल्यू-७७ ए, ग्रेटर कैलाश (१)
नई दिल्ली-११००४८

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

वैदिक संस्कृति का सन्देश
[THE MESSAGE OF VEDIC CULTURE]

भूमिका

जिस बिन्दु पर जीवन-यात्रा के अनेक मार्ग फूटते हैं, कोई दायें कोई बायें, वहां मैं किधर जाऊँ, कौन-सा सही रास्ता है, बीसियों पगडंडियों मे से किस पर चलने से मैं अपने लक्ष्य तक पहुँचूंगा—ये प्रश्न प्रत्येक युवक तथा युवती के हृदय में किसी-न-किसी समय उठते हैं। वैदिक काल के युवक तथा युवतियों ने जिस मार्ग को पकड़ा था आज के भौतिकवादी युग मे हमारे युवक तथा युवतियाँ उससे उल्टे मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। क्या वैदिक काल के युवक तथा युवतियाँ भौतिकवादी मार्ग पर नहीं चल सकते थे? उस काल मे भी भौतिक ऐश्वर्यों की कमी नहीं थी, उनके सामने संसार के सब प्रलोभन मौजूद थे। धन-धान्य, सम्पत्ति, भौतिक ऐश्वर्य, संसार के भोग सब-कुछ भोग सकते थे, परन्तु उन्होंने भौतिकवादी मार्ग को यह कह कर छोड़ दिया—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'—सांसारिक ऐश्वर्य-भोग से तृप्ति अवश्य होती है परन्तु चाह फिर भी बनी रहती है, वह अखण्ड आनन्द जिसके लिए मनुष्य पानी मे मछली की तरह इस संसार में प्यासा फिरता है इससे प्राप्त नहीं होता। जब मैत्रेयी के सम्मुख याज्ञवल्क्य ने भौतिक सुख-सामग्री देने का प्रस्ताव रखा तो उसने पूछा—'यन्नु इयं सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनाहं अमृता स्याम्'—अगर सारी पृथिवी धन-धान्य से भरपूर होकर मुझे मिल जाय तो क्या मेरी अमर आनन्द पाने की प्यास मिट जायगी? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'यथैवोपकरणावतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात् अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'—जैसा साधन सम्पन्न व्यक्तियों का जीवन होता है वैसा तेरा जीवन हो जायगा परन्तु अमर आनन्द तुझे प्राप्त नहीं होगा। यह सुन कर मैत्रेयी ने जो उत्तर दिया वह आज के भौतिकवादी युग को चुनौती है। उसने कहा—'येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्'—जिस मार्ग पर चलने से मुझे अमरत्व की प्राप्ति न होगी उस पर चल कर मैं क्या करूँगी?

संसार का वैभव किस को नहीं ललचाता। ऐसे वैभवपूर्ण *संसार की इस प्रकार की उपेक्षा-वृत्ति का* क्या कारण था—इस रहस्य को समझने के लिए वेदों तथा उपनिषदों के विश्व के प्रति दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है। वेदों तथा उपनिषदों का संसार के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण था। यथार्थवाद क्या है? उपनिषद् मे नचिकेता को आचार्य मृत्यु ने और मैत्रेयी को मुनि याज्ञवल्क्य ने बार-बार कहा कि संसार सत्य है, परन्तु साथ ही यह भी कह दिया कि यह अन्त तक टिकनेवाला नहीं है। संसार के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण यही है कि न इसके सत् होने से इन्कार किया जा सकता है और न इस बात से इन्कार किया जा सकता है कि यह टिकनेवाला नहीं है—असत् है।

संसार 'सत्' है—इसे तो मूढ-से-मूढ़ व्यक्ति भी जानता है, परन्तु अगर यह 'असत्' भी है तो प्रश्न उठता है कि किस की अपेक्षा यह 'असत्' है? उपनिषदों के ऋषियों ने शरीर को 'सत्' माना था, परन्तु आत्मा की अपेक्षा इसे 'असत्' माना था; संसार को 'सत्' माना था, परन्तु संसार को जीवन-दान देनेवाली शक्ति—विश्वात्मा—की अपेक्षा इसे 'असत्' माना था। शरीर तथा संसार दोनों 'सत्' हैं, इसलिए न शरीर की उपेक्षा

हो सकती है, न संसार की, इसी दृष्टि से वैदिक दृष्टिकोण समन्वयात्मक है, न निरा भोगवादी, न निरा त्याग-वादी है। यजुर्वेद में कहा है—'तेन त्येक्तेन भुञ्जीथाः'—शरीर तथा संसार सत् हैं इसलिए इनका भोग करो, परन्तु ये अन्त तक टिकने वाले नहीं हैं इसलिए संसार को भोगते हुए त्याग की तरफ टकटकी बाँधे रखो। वैदिक संस्कृति का जीवन के प्रति यह यथार्थवादी दृष्टिकोण है जिसे गीता में श्रीकृष्ण ने 'कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किंचित् करोति सः'—कर्म करते हुए उसमे लिप्त न होने का, निष्काम-कर्म का नाम दिया है।

इस प्रकरण में उपनिषदों ने एक गंभीर प्रश्न को उठा कर उसका उत्तर दिया है। अगर शरीर तथा संसार 'सत्' होते हुए भी अन्तिम रूप में 'असत्' हैं, तो फिर अन्तिम सत्ता, यथार्थ सत्ता क्या है ? यथार्थ सत्ता की व्याख्या करते हुए छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथानक का उल्लेख है। प्रजापति ने घोषणा की कि हृदयाकाश में जिस आत्मा का निवास है वह जरा-मृत्यु से मुक्त है, वही सत्य है, उसी की खोज करनी चाहिए, उसी को पाना चाहिए। इस घोषणा को इन्द्र ने सुना। उसके मन मे चाह उत्पन्न हुई कि उस आत्मा का पता लगाये। वह आत्मा का स्वरूप जानने के लिए प्रजापति के पास पहुँचा। प्रजापति ने कहा—'जागृत् अवस्था' (Waking state) में जो यह देखना, सुनता, सूँघता, छूता है वही आत्मा है। इन्द्र ने पूछा कि अगर वह दीखनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला देह ही आत्मा है तब तो वह तो पैदा होता है, मरता है। क्या आत्मा पैदा होता, वृद्ध होता और मर जाता है ? ऐसा नही हो सकता, आप तो कहते थे आत्मा जरा-मृत्यु से मुक्त है, अमर है। प्रजापति ने कहा, इन्द्र तुम ठीक कहते हो; देह आत्मा नही है, परन्तु 'स्वप्नावस्था' (Dreaming state) में शरीर से जो अलग होकर जिधर चाहता है डोलता है वही आत्मा है। इन्द्र ने पूछा कि अगर स्वप्न में डोलनेवाली जो सत्ता है वही आत्मा है तब तो मन की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही आत्मा हुआ। यह ठीक है कि शरीर के लूला-लँगड़ा होने पर, अन्धा हो जाने पर स्वप्न मे यह भागा फिरता है, सुजाखे की तरह देखता है, परन्तु यह तो मन की एक अवस्था का नाम हुआ। स्वप्न में कभी यह हँसता है, कभी रोता है, कभी भय खाता है—इन मानसिक अवस्थाओं को जो अब हैं और तब नही, यथार्थ तथा अन्तिम सत्ता कैसे मान लिया जाय ? प्रजापति ने कहा, इन्द्र तुम ठीक कहते हो, स्वप्न मे डोलनेवाला आत्मा नही, परन्तु 'सुषुप्तावस्था' (Dreamless sleeping state) मे जाकर जो जागृतावस्था के देह से अलग होकर, स्वप्नावस्था मे डोलनेवाले मन से अलग होकर, अपने को शरीर तथा मानसिक अवस्थाओं मे से निकाल कर विश्राम करता है, जिसको शरीर का, मन का तथा किसी भी शारीरिक तथा मानसिक अवस्था का भान नही रहता, जो सुषुप्तावस्था मे जाकर फिर लौट आता है और जाग उठने पर कहता है—'अत्यन्त सुख से सोया'—वही आत्मा है, वही यथार्थ सत्ता है। इन्द्र ने पूछा, स्वप्नावस्था मे तो 'मैं हूँ'—इसका भी भान नही रहता, फिर आत्मा को यथार्थ सत्ता कैसे मान लूँ, उस समय तो उसका अभाव हो जाता है। डॉक्टर राधाकृष्णन ने लिखा है कि इन्द्र ने हजारों साल पहले आत्मा के सम्बन्ध में जो शंका उठाई वह संसार के विचारकों को सदा से परेशान करती रही है। गौतम बुद्ध ने कहा कि अगर वृक्ष के फल-फूल-पत्ते-टहनियाँ-छाल काट दिये जायें तो वृक्ष कहाँ रहता है, जब किसी प्रकार का ज्ञान न रहा तब आत्मा कहाँ रहता है, इसलिए विज्ञान ही आत्मा है। ब्रैडले का कथन था कि मन मे जो ठोस अनुभव भरे पड़े हैं उन्हें निकाल दिया जाय तो आत्मा की सत्ता नही रहती। बर्कले का कहना था कि मनुष्य जब चिंतन नही कर रहा होता तब उसका अस्तित्व ही नहीं रहता। लॉक का कहना था कि जिस समय भी मनुष्य ऊँघता है उसी समय आत्मा नाम की चीज नष्ट हो जाती है क्योंकि आत्मा की सत्ता तभी मानी जा सकती है जब मनुष्य चिंतन कर रहा होता है। बिना चिंतन के आत्मा की सत्ता को मानना परस्पर विरोधी बात है। इन्द्र ने भी बुद्ध, ब्रैडले, बर्कले और लॉक की तरह शंका उठाई कि सुषुप्तावस्था में जब कोई प्रतीति ही नही रही तब आत्मा जैसी नित्य, यथार्थ सत्ता का अस्तित्व ही कैसे मानें ? प्रजापति ने कहा, नहीं इन्द्र, तुम्हारी यह शंका निरर्थक है। आत्मा ही वह सत्ता है जो सुषुप्ति में से निकलने के बाद मानव की पूर्व-सत्ता के साथ एकात्मता अनुभव करती है, अन्यथा अगर सुषुप्ति के समय कोई सत्ता नहीं रहती तो जाग उठने

पर 'मैं आनन्द से सोया'—यह भान भी नहीं हो सकता। यह 'मैं' कौन है जो जाग्रतावस्था में आँखों से देखता हुआ आँखो से अलग है; कानों से सुनता हुआ कानों से अलग है; यह 'मैं' कौन है जो स्वप्न मे चिंतन करता हुआ चिंतन से अलग है; सपने लेता हुआ सपनों से अलग है; यह 'मैं' कौन है जो सुषुप्ति मे जाकर फिर वहाँ से लौट आता है और अपने को सुषुप्ति की आनन्दमय अवस्था से अलग अनुभव करता है ? अनेकता के मनको में एकता का सूत्र पिरोनेवाली, भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाओं को एकरूपता मे लाने वाली जो अभौतिक सत्ता है वही आत्मा है, वही यथार्थ सत् है, उसकी दृष्टि से यह शरीर तथा यह संसार सत् होता हुआ भी सापेक्ष रूप में असत् है। संसार का जितना भी दृश्य जगत् है वह तभी तक दृश्य है जब तक वह किसी द्रष्टा के देखने मे आता है; अगर द्रष्टा न हो—और द्रष्टा को ही तो वैदिक विचारधारा ने आत्मा कहा है—तब यह दृश्य जगत् समाप्त हो जाता है। द्रष्टा के बिना दृश्य की कोई सत्ता ही नही हो सकती क्योकि द्रष्टा की चेतना मे ही दृश्य का अस्तित्व प्रतीतिगम्य हो सकता है।

वैदिक संस्कृति के ऋषियों का कथन है कि जो पिंड मे है वही ब्रह्माण्ड मे है, जो परमाणु मे है वही सम्पूर्ण विश्व मे है। अगर पिंड मे शाश्वत, निरन्तर सत्ता शरीर की नही आत्मा की है, तो ब्रह्माण्ड मे भी शाश्वत तथा यथार्थ सत्ता भौतिक जगत् की नही विश्वात्मा की, ब्रह्म की है। आत्मा को यथार्थ सत् मानते हुए उन्होंने शरीर का तिरस्कार नही किया था, तभी कहा था—'अन्नाद्ध्येव सर्वाणि भूतानि जायन्ते'; विश्वात्मा को यथार्थ सत् मानते हुए उन्होंने ससार का तिरस्कार नही किया था, तभी कहा था—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:'। यह भोगवाद तथा त्यागवाद की समन्वयात्मक दृष्टि थी जिसे लेकर भारत के ऋषियो ने मानव जीवन की ही नहीं की थी उसे क्रियात्मक जीवन मे साकार रूप भी दिया था। यह व्यापक, सर्वांगीण तथा समन्वयात्मक दृष्टि वेदों तथा उपनिषदो की एक-एक पंक्ति में झलक उठती है।

इस दृष्टि को बुद्धिगम्य तथा सर्व साधारण तक पहुंचाने के लिए ही यह ग्रन्थ लिखा गया है। इससे पहले मैंने 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' एक ग्रन्थ लिखा था जिसकी विद्वत-जगत् ने बहुत सराहना की है। आशा है, यह ग्रन्थ उसका पूरक सिद्ध होगा।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

डब्ल्यू-७७ ए, ग्रेटर कैलाश
नई दिल्ली-११००४८

संस्कार-चन्द्रिका
[संस्कार-विधि की वैज्ञानिक व्याख्या]

भूमिका

ऋषि दयानन्द का जन्म १८२४ तथा स्वर्गवास १८८३ ईस्वी मे हुआ। उनका जीवन-काल ५६ वर्ष का रहा। उन्होंने ३६ वर्ष की आयु में १८६० मे गुरु विरजानन्द के पास विद्याध्ययन प्रारंभ किया। ऋषि ने जो कुछ ठोस कार्य किया उसके पश्चात् किया। इस प्रकार उन्हें ठोस कार्य करने का समय कुल २२-२३ वर्ष मिला जिसमें उन्होंने कुछ वर्ष तपस्या मे बिताये, और बचे हुए समय मे देश के कोने-कोने मे जाकर वैदिक धर्म का प्रचार किया, वेदो का भाष्य किया, अनेक लघु-पुस्तिकाएँ लिखी, सत्यार्थप्रकाश, संस्कार-विधि तथा ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका जैसे विशालकाय एवं मौलिक ग्रन्थो की रचना की। इनमे से एक-एक ग्रन्थ सब काम छोड़कर जीवन खपा देने के लिए काफी था, फिर इतने थोड़े समय में इतना काम कर जाना ऋषि दयानन्द जैसे आदित्य ब्रह्मचारी के लिए ही संभव था। वैदिक संस्कृति के उपासकों के लिए जो कुछ उपयोगी था वह सब कुछ समेट कर ऋषि ने अपने ग्रन्थों के रूप में हमें दे दिया।

मानव-जीवन के दो पक्ष हैं—सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। ऋषि दयानन्द ने अपने समय के चिन्तकों के मस्तिष्क में मौलिक तथा रचनात्मक विचारों से हलचल मचा दी। उन्होंने जहाँ रूढ़िवाद तथा मतवाद पर कुठाराघात किया वहाँ पश्चिम से उफन रहे भौतिकवाद को भी ठंडा कर दिया। इन दोनों के स्थान मे उन्होंने भारत के ऋषि-मुनियों को प्राचीन वैदिक संस्कृति की प्राण-प्रतिष्ठा की जिसे स्थिर तथा मूर्त रूप देने के लिए 'सत्यार्थप्रकाश' ग्रन्थ लिखा। यह उनका सैद्धान्तिक कार्य था। परन्तु सिद्धान्त व्यवहार के बिना, विचार क्रिया के बिना अनंकुरित रह जाता है। जिस प्रकार के मानव की ऋषि कल्पना कर रहे थे उसे क्रिया में उतारे बिना उनका सारा लिखा-लिखाया 'वाचो विग्लापनम् हि तत्' रह जाता। बीज अंकुरित हो तभी वृक्ष बनता है। ऋषि दयानन्द ने अपने समय के मानव के मस्तिष्क में जो हलचल मचा दी थी उसका लक्ष्य नवमानव का निर्माण था। वे कूड़े-कर्कट को भस्म कर उसकी जगह समाज के नवीन भवन की नीव रखना चाहते थे जिससे नवमानव तथा नवसमाज उठ खड़ा हो। मानव के इस नवनिर्माण के विचार को क्रियात्मक रूप देने के लिए उन्होंने 'संस्कार-विधि' ग्रन्थ की रचना की। 'सत्यार्थप्रकाश' उनकी विचारधारा का सैद्धान्तिक अर्थात् विचारात्मक पक्ष है। 'संस्कार-विधि' उसी विचारधारा का व्यावहारिक अर्थात् क्रियात्मक पक्ष है। इस सूत्र को लेकर हमने इस ग्रन्थ में संस्कार-विधि की व्याख्या की है।

संस्कार-विधि के सम्बन्ध में विद्वानों ने बहुत शोध तथा खोज-बीन की है। मूलसंस्कार-विधि की फोटोस्टेट प्रति आर्य-साहित्य-प्रचार ट्रस्ट ने प्रकाशित की है। रामलाल कपूर ट्रस्ट के तत्वावधान में आर्य-समाज-शताब्दी-संस्करण अनेक टिप्पणियों सहित प्रकाशित हुआ है। वैदिक यंत्रालय ने अनेक बार संशोधन करके इसके संस्करण प्रकाशित किये हैं। हमने यथासम्भव इन सब के मत को यथास्थान दिया है, परन्तु यथासम्भव ऋषि दयानन्द के कथन तथा उनकी भाषा को ज्यों-का-त्यों रखने का प्रयत्न किया है। इन सब की टीका-टिप्पणियों से विधि-मार्ग पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। एक शब्द घट गया या बढ़ गया—इससे

विधि-भाग पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? असल बात संस्कार की आत्मा तक पहुँचना है।

हमारा ग्रन्थ शोध-ग्रन्थ नहीं है, इस व्याख्या-ग्रन्थ का लक्ष्य सस्कार-विधि की आत्मा को समझने का प्रयत्न करना है, इसीलिए इसे संस्कार-विधि की वैज्ञानिक व्याख्या कहा है। इस दिशा मे कार्य आज से ५०-६० वर्ष पहले श्री पं० आत्माराम जी ने पं० भीमसेन जी शर्मा के सहयोग से 'संस्कार-चन्द्रिका' नाम से प्रकाशित अपने ग्रन्थ में किया था, परन्तु उस ग्रन्थ तथा इस ग्रन्थ मे नाम की थोड़ी-सी समानता होते हुए भी वस्तुगत महान् भेद है। यह भेद पुस्तक का अध्ययन करते हुए स्पष्ट हो जायगा।

हमने प्रत्येक संस्कार को दो भागों मे बाँटा है—'विवेचनात्मक भाग' तथा 'मन्त्रार्थसहित विधि-भाग'। विवेचनात्मक भाग में उस संस्कार के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है; विधि-भाग मे संस्कार की विधि को भिन्न-भिन्न शीर्षक देकर स्पष्ट तथा सरल रूप मे लिखा गया है ताकि संस्कार कराते हुए कोई कठिनाई न आये।

मन्त्रों के अर्थ करते हुए संस्कृत-शब्दो को कोष्ठक में काले टाइप मे दिया गया है, शब्दों के अर्थ को कोष्ठक के बाहर सफेद टाइप मे दिया गया है। लक्ष्य यह रहा कि अगर केवल सस्कृत-शब्दावली पढ़ते जायें, तो मन्त्र का अन्वयसहित अर्थ समझ मे आ जाय, अगर संस्कृत-शब्दावली को छोडकर केवल हिन्दी अर्थ पढ़ते जायें तो मन्त्रार्थ का एक हृदयंगम पूरा सार्थक वाक्य बने। प्राय देखा जाता है कि मन्त्रार्थ करते हुए व्याख्याकार केवल शब्दों का अर्थ दे जाते हैं। जिन्हे एक साथ पढने से पूरा सार्थक वाक्य भी नही बन पाता। 'शब्दार्थ' के बाद मन्त्र का 'भावार्थ' भी दिया गया है जिससे मन्त्र के अन्तर्निहित गूढ भाव पर प्रकाश पडे।

मैं चाहता था कि कोई प्रकाशक इस ग्रन्थ के प्रकाशक का बोझ अपने पर ले लेता, परन्तु उस ओर से निराश होकर मुझे स्वयं इसके प्रकाशन का भार अपने पर लेना पडा, मेरे पुराने मित्र श्री रामकुमार जी भुवालका, श्री बी० पी० खेतान, श्री लक्ष्मीनारायण जी बिड़ला, चौ० प्रतापसिंह जी, श्री यशराज जी पटेल, रघुमल चैरिटी ट्रस्ट तथा रायबहादुर बिस्सेसरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट से जो सहयोग प्राप्त हुआ है उसके लिए उनका धन्यवाद है।

डब्ल्यू-७७ ए, ग्रेटर कैलाश (१)
नई दिल्ली-११००४८

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

उपनिषद्-प्रकाश

[बारह उपनिषदों पर व्याख्यात्मक विशद विवेचन]

दो शब्द

वैसे तो ग्यारह उपनिषदों पर मेरा एक अन्य ग्रन्थ भी है, परन्तु उस ग्रन्थ तथा इस ग्रन्थ में एक मौलिक भेद है। वह ग्रन्थ संस्कृत पढ़े हुओं के लिए विशेष काम का है। उसमें सम्पूर्ण उपनिषद् के प्रत्येक स्थल का पदच्छेद, शब्दार्थ, भावार्थ, व्याख्या—सब कुछ दिया हुआ है। इसमें पदच्छेद, शब्दार्थ, भावार्थ पर इतना बल नहीं दिया गया जितना उपनिषद् की गहराई मे जाकर उसका व्याख्यात्मक विवेचन किया गया है। संस्कृत का बहुत-सा भाग तो जैसे-का-तैसा दिया गया है, अगर पढ़ते हुए उसे छोड़कर भी पढ़ें तो भी सारा सिलसिला क्रमबद्ध है। दोनों ग्रन्थों का विषय एक ही होने पर भी दोनों की अपनी-अपनी विशेषता है। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि ये दोनों ग्रन्थ एक-दूसरे के पूरक हैं। 'एकादशोपनिषद्-भाष्य' में जिन बातों की तरफ इशारा भर किया है, 'उपनिषद्-प्रकाश' मे उन पर गहराई में व्याख्यात्मक विवेचन किया गया है; 'एकादशोप-निषद्-भाष्य' में प्रत्येक शब्द का अर्थ दिया गया है, 'उपनिषद्-प्रकाश' में प्रत्येक शब्द का विवेचन न करके उपनिषत्कार के कथन को व्याख्यात्मक सरल भाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है।

जब से मैंने उपनिषदों पर लिखना शुरू किया तब से 'उपनिषद्-प्रकाश' जैसे ग्रन्थ के लिखने की भी मुझे अन्तस् से प्रेरणा होती रही, और पाठकों से माँग भी आती रही। पाठक चाहते थे कि ऐसा ग्रन्थ उनके हाथों में आए जिसका वे सरल, सम्बद्ध भाषा मे प्रतिदिन पाठ कर सकें। उसी कमी को यह ग्रन्थ पूरा करता है। इसे ऐसा लिखा गया है जिसे पढ़कर मुझे स्वयं आनन्द आता है। मैं अपने ही इस ग्रन्थ को कई बार पढ़ा करता हूँ और ऋषियों की वर्णन-शैली का आनन्द उठाया करता हूँ क्योंकि यह शैली मेरी नहीं, उपनिषदों के ऋषियों की है। आज के लिखने वाले उपनिषदों के ऋषियों की जूठ लिखा करते हैं।

इस ग्रन्थ की लम्बी-चौड़ी विस्तृत विषय-सूची देने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक उपनिषद् का प्रतिपाद्य-संकेत पृष्ठ के ऊपर ही दे दिया गया है जिससे पाठक समझ जाये कि वह किस प्रकरण को पढ़ रहा है, पहले को, दूसरे को या तीसरे को किसके पास मेरे दोनों ग्रन्थ होंगे वह एक के प्रकरण को देखकर एक दूसरे का आसानी से मेल बैठा सकेगा।

मेरी सदा यह सम्मति रही है कि वैदिक विचारधारा को समझने के लिए जितना वस्तुजात उपनिषदों से मिलता है, उतना अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं। उपनिषदों में जिस विषय को उठाया गया है उसका सिलसिले-वार वर्णन है। वेदों को समझने में कठिनाई होती है। पहले तो मन्त्र को समझना ही कठिन, फिर मन्त्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझना और कठिन। वेदों को समझने-समझाने के लिए जिस अगाध पाण्डित्य की आवश्यकता है, वह उपनिषदों को समझने के लिए नहीं। आध्यात्मिक रहस्यों को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए इन्हें ऐसी सरल भाषा में लिखा गया है कि वह आसानी से समझ पड़ जाती है। गहन विषय को कथानकों, अलंकारों से ऐसा जड़ा गया है कि पढ़ने में मन नहीं ऊबता।

वैसे तो उपनिषदों के ऋषियों की एक ही टेक है—शरीर अलग है, आत्मा अलग है। प्रत्येक उपनिषद् के वाक्य, कथानक तथा अलंकार का अन्त इसी बात में है। किसी कवि ने ठीक कहा है :

रूह और जिस्म का रिश्ता भी अजब है,
सारी उम्र साथ रहे, लेकिन तुअर्रुफ़ न हुआ।

विचारक देखता है कि सारी आयु आत्मा और शरीर का साथ रहा है, परन्तु अन्त समय पर ही ज्ञात होता है कि ये दोनों एक नहीं हैं, अलग-अलग हैं। मृत्यु के समय यह भेद पता चला तो किस काम का? उपनिषद् के ऋषियों ने यह प्रयत्न किया है कि अपने जीवन में ही वह अनुभूति उपलब्ध हो जाय। ऐसा होने पर व्यक्ति के जीवन में ही क्रान्ति नहीं होती, समाज का जीवन भी पलटा खा जाता है। आज जो भौतिकता की मार पड़ी हुई है वह अपने-आप मिट जाती है।

मैंने अभी तक वैदिक साहित्य पर बहुत कुछ लिखा है। अब मैं जीवन के ८३ वर्ष पूरे कर ८४वें वर्ष में प्रवेश कर रहा हूँ। कौन जानता है, जीवन कितना शेष हैं। सोचता हूँ, जितना समझा है, जाना है, उसे मानव-समाज के हित के लिए पीछे छोड़ जाऊँ। किसका काम पूरा हुआ है, पर फिर भी रात-रात जागकर जो कुछ अधूरा है उसे पूरा करने की चेष्टा में लगा हूँ। ये पंक्तियाँ भी मैं रात के बारह बजे लिख रहा हूँ। जिस भावना से मेरी लेखनी को विराम नहीं मिलता उसे एक कवि ने बड़े मार्मिक शब्दों में रख दिया है :

शमा के मानिन्द जला रहा हूँ ज़िन्दगी
बुझ तो जाऊँगा, पर सुबह तो कर ही जाऊँगा।

२४-१-१९८१
डब्ल्यू-७७ ए, ग्रेटर कैलाश (१)
नई दिल्ली-११००४८

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

गीता-भाष्य

[मूल, अन्वय, शब्दार्थ, व्याख्या, भावार्थ]

भूमिका

गीता भारतीय-साहित्य की अमर निधि है। संस्कृत-वाङ्मय के प्रमुख आचार्यों ने अन्य ग्रन्थों के साथ इस ग्रन्थ पर टीका अवश्य लिखी है। गांडीव फेंककर, युद्ध से पीठ फेरकर खड़े अर्जुन को गीता की ललकार ने युद्ध में सन्नद्ध कर दिया, 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' का गायत्री की तरह जप करते हुए देशभक्तो ने फाँसी की रस्सी पर झूलकर हँसते-हँसते प्राणो का उत्सर्ग कर दिया, शकराचार्य से लेकर आधुनिक युग के तिलक, अरविन्द, गांधी, विनोबा ने इस ग्रन्थ का मंथन किया, आज भी घर-घर इसका पाठ होता है, महलो मे गीता है, झोंपड़ियों मे गीता है, हज़ारो साल पुराने इस ग्रन्थ से देश-विदेश में मानव को जीवन की दिशा-निर्धारण करने मे प्रेरणा मिलती रही है, मिल रही है, मिलती रहेगी --यही सब क्या गीता की विचारधारा को जानने-समझने के लिए, हमारे-आपके अन्तःकरण मे उत्सुकता उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त नही है? गीता का सरल हिन्दी मे अनुवाद तथा भाष्य हमने अपनी तथा दूसरो की इसी उत्सुक जिज्ञासा की तृप्ति के लिए किया है।

१. गीता का काल

गीता बहुत पुराना ग्रन्थ है। पाश्चात्य-विद्वान् इसका काल ईसा से २००-३०० साल पूर्व का बतलाते हैं। गर्बे का कहना है कि मूल-गीता ईसा से २०० साल पहले लिखी गई थी, इसको वर्तमान रूप ईसा के २०० साल बाद किसी वेदान्ती ने दिया। भारतीय परम्परा के अनुसार गीता इससे बहुत अधिक प्राचीन-काल की रचना है गीता के १८ अध्याय महाभारत के भीष्म-पर्व के २३ से ४० तक के अध्याय हैं। महाभारत के रचयिता व्यास हैं और व्यास के अनुसार गीता के रचयिता श्रीकृष्ण हैं। ऐसी हालत मे श्रीकृष्ण का काल ही महाभारत का तथा गीता का काल है। प्रश्न यह है कि श्रीकृष्ण का काल क्या है?

मैगस्थनीज़ एक यूनानी यात्री था। वह भारत आया। उसने 'मथुरा' को 'मैथोरा' लिखा है। इस स्थान का वर्णन करते हुए उसका कहना है कि वहाँ के लोग 'हिरैक्लीज़' की पूजा करते थे। यह 'हिरैक्लीज़' क्या है? भाषा-विज्ञान के अनुसार 'हिरैक्लीज़' अपभ्रंश है—'श्रीकृष्ण' का। वह कैसे? 'श्री' का 'सरी' और 'सरी' का 'सिरै' हो जाना तो साधारण बात है। 'स' को 'ह' हो जाना भाषा-विज्ञान का ही सिद्धान्त है। इस दृष्टि से 'श्री' का 'सिरी', 'सिरी' का 'सिरै', 'सिरै' का 'हिरै' हो गया; 'कृष्ण' का यूनानी भाषा मे 'क्लीज़' हो गया। यूनानी भाषा में नाम के अन्त मे 'ईज़' लग जाता है—जैसे 'मैगस्थनीज़'। 'श्रीकृष्ण' का यूनानी भाषा में 'हिरैक्लीज़' हो गया—'श्री' का 'हिरै' और 'कृष्ण' का 'क्लीज़'। अब प्रश्न यह है कि यूनानियों के अनुसार 'हिरैक्लीज़' का क्या काल है?

मैगस्थनीज़ चन्द्रगुप्त के दरबार में यूनान का राजदूत बनकर आया था। उसका कहना है कि डायोनिसियस से चन्द्रगुप्त तक १५३ पीढ़ियाँ हो चुकी हैं, और डायोनिसियस से १५ पीढ़ी बाद हिरैक्लीज़

हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि चन्द्रगुप्त से १५३—१५ = १३८ पीढ़ी पूर्व हिरैक्लीज, अर्थात श्रीकृष्ण हुए। १३८ पीढ़ियों में कितना समय गुजरा ? ऐतिहासिक लोग प्राचीन वंशो की गणना करते हुए एक पीढ़ी को २० वर्ष का समय देते हैं। इस प्रकार चन्द्रगुप्त से १३८ × २० = २,७६० वर्ष पूर्व हिरैक्लीज या श्रीकृष्ण हुए। चन्द्रगुप्त का क्या काल है ?

चन्द्रगुप्त का काल ईसा से ३१२ वर्ष पूर्व माना जाता है। ऐसी हालत मे हिरैक्लीज अर्थात श्रीकृष्ण ईसा से २,७६० + ३१२ = ३,०७२ वर्ष पूर्व हुए। आजकल ईस्वी सन् १९६५ चल रहा है। श्रीकृष्ण ईसा से ३,०७२ वर्ष पूर्व हुए। और ईसा से अब तक १९६५ वर्ष बीत चुके हैं, इसलिए श्रीकृष्ण आज से ३,०७२ + १९६५ = ५,०३७ वर्ष पूर्व हुए। यही गीता काकाल है।

गीता महाभारत का ही अंग है। महाभारत के युद्ध के विषय मे इस देश की परम्परा भी यही चली आती है कि उस युद्ध को हुए ५,००० वर्ष बीत गये। मैगस्थनीज के कथन के आधार पर गीता के जिस काल का हमने उल्लेख किया वह भारतीय परम्परा के भी अनुकूल है।

२. गीता का प्रतिपाद्य विषय

भगवद्गीता पर दो दृष्टियो से विचार किया जा सकता है। एक दृष्टि 'सैद्धान्तिक' या 'पारमार्थिक' (Doct rinal or Metaphysical) है; दूसरी दृष्टि 'नैतिक' या 'व्यावहारिक' (Ethical or Practical) है। सैद्धान्तिक दृष्टि से गीता में भिन्न-भिन्न, परस्पर विरोधी सिद्धान्त पाये जाते हैं; नैतिक या व्यावहारिक दृष्टि से गीता मे आधारभूत सिर्फ एक विचार—निष्कामता, निस्सगता का विचार—पाया जाता है। हम पहले 'सैद्धान्तिक' पक्ष पर कुछ लिखेंगे, फिर 'नैतिक' या 'व्यावहारिक' पक्ष पर प्रकाश डालेंगे।

(क) गीता पर सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार : गीता को पढने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय मुख्य तौर पर 'साख्य'-'योग'-'वेदान्त'—इन तीन दार्शनिक आधारो को लेकर विचार होता था। गीता मे 'साख्य' और 'योग' शब्दो की इतनी अधिक चर्चा है, और 'वेदान्त' शब्द की चर्चा का इतना अधिक अभाव है कि गीता का गहन अध्ययन करने वाले के ध्यान मे यह बात आये बगैर नही रह सकती। 'ज्ञानयोगेन साख्यनाम् कर्मयोगेन योगिनाम्' (३-३), 'सांख्ययोगो पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पडिताः' (५-४, ५), 'अन्ये साख्येन योगेन' (१३-२५)—इन सब स्थलो मे सांख्य तथा योग का सिद्धान्त रूप मे वर्णन है। 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग सिर्फ एक स्थल पर पाया जाता है—'वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्' (१५-१५), और वेदान्त के 'ब्रह्मसूत्र—शब्द का प्रयोग भी सिर्फ एक जगह मिलता है—'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' (१३-५)। इन दो स्थलो मे वेदान्त के सिद्धान्त के तौर पर नही, परन्तु 'वेदान्त' तथा 'ब्रह्मसूत्रो' का जिक्र यह बतलाने के लिए किया गया है कि इनमें उसी ब्रह्म का वर्णन है, अन्य कुछ नही। इससे यह स्पष्ट है कि सिद्धान्त की दृष्टि से गीता की अन्तःसाक्षी यह कहती है कि इस ग्रन्थ का मुख्य दार्शनिक आधार साख्य तथा योग है, वेदान्त—जिसे नवीन वेदान्त कहा जाता है—गीता मुख्य दार्शनिक आधार नही है।

यही कारण है कि सांख्य तथा योग के सिद्धान्त गीता मे सर्वत्र पाये जाते हैं। साख्य के कौन-से सिद्धान्त गीता में पाये जाते है ? सांख्य के अनुसार सृष्टि की रचना 'प्रकृति' (Matter) तथा 'पुरुष' (Spirit) से हुई। गीता ने प्रकृति को 'क्षेत्र' तथा पुरुष को 'क्षेत्रज्ञ' (१३-१) का नाम दिया है। साख्य प्रकृति को सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों वाला मानता है—'सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृतिः', गीता में जगह-जगह (७-१२; १४-५) सत्त्व, रज, तम का वर्णन है। साख्य के सिद्धान्त के अनुसार जीव अकर्ता है; गीता के अनुसार भी प्रकृति के गुण ही काम करते हैं, जीव काम नहीं करता—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते' (३-२७)। सांख्य के इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए गीता मे कहा है : 'ईश्वरः सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' (१८-६१)—

ईश्वर हमारे भीतर बैठा हुआ 'यंत्रवत्' हमारा संचालन कर रहा है। इस सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं है कि हम कुछ नहीं करते, वही सब-कुछ करता है, हम तो मशीन की तरह चल रहे हैं। इसका यह अर्थ है कि हम चाहे जो करें, कर्म करने में तो हम स्वतन्त्र हैं, स्वतन्त्र तो दीखते ही हैं—इससे कौन इन्कार कर सकता है, परन्तु कर्म का फल तो हमारे हाथ मे नहीं, वह तो 'यंत्रवत्' चल रहा है, उसमे कारण-कार्य का अखंड नियम (Law of Cause and Effect) काम कर रहा है, उसमें कोई दया नही, रियायत नहीं। साख्य के इसी सिद्धान्त को गीता ने 'निमित्त मात्र'—यह संज्ञा दी है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र होता हुआ भी फल भोगने में परतंत्र है, 'यंत्रवत्' है, कारण-कार्य के नियम के अधीन है। सृष्ट्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे भी गीता ने साख्य के सिद्धान्त को ही स्वीकार किया है। सांख्य में 'प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः'—इस प्रकार सृष्ट्युत्पत्ति का जो वर्णन किया है, गीता (७-४; १३-५, १९) में भी सांख्य के अनुसार ही सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। इस विषय की विशेष चर्चा हमने इस पुस्तक के ४२५ पृष्ठ में की है। कहने का अभिप्राय यह है कि गीता ने साख्य के सिद्धान्तों को अपने में पचा लिया है।

सांख्य के सिद्धान्तों की तरह गीता में योग के सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी अनेक स्थानों पर पाया जाता है। गीता (१२-९) में कहा है: 'अभ्यासयोगेन'; छठे अध्याय (१०-११) मे कहा है: 'योगी युञ्जीत सततम्'—'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य'—'तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा'—इस सारे प्रकरण मे योग के क्रियात्मक पक्ष पर बल दिया गया है, और बार-बार 'योग'-शब्द को दोहराया गया है।

सांख्य तथा योग का गीता में जिस प्रकार जगह-जगह उल्लेख है, वैसे नवीन वेदान्त का नहीं है। इसी प्रकार सांख्य तथा योग के सिद्धान्तों का जिस प्रकार प्रचुरता से गीता में प्रयोग किया गया है, उस प्रकार नवीन वेदान्त के सिद्धान्तों का खुलकर प्रयोग नहीं किया गया। इस सबसे स्पष्ट है कि गीताकार का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण नवीन वेदान्त के अनुसार न होकर सांख्य तथा योग के अनुसार है।

परन्तु जैसा हमने पहले कहा, सैद्धान्तिक दृष्टि से गीता मे परस्पर विरोधी भिन्न-भिन्न सिद्धान्त पाये जाते हैं। गीता में सांख्य का मत दिखलाई पड़ता है, परन्तु साख्य से भेद भी दिखलाई पड़ता है। सांख्य को अनीश्वरवादी कहा जाता है, परन्तु ऋषि दयानन्द सांख्य को अनीश्वरवादी न मानकर ईश्वरवादी[1] मानते हैं, गीता का साख्य भी अनीश्वरवादी न होकर ईश्वरवादी है। इस दृष्टि से वह योग के अधिक निकट है क्योकि सांख्य के विषय में टीकाकारों का भले ही मतभेद हो, योग तो टीकाकारो के मत मे भी असन्दिग्ध तौर पर ईश्वरवादी है।

ईश्वरवाद के दो रूप हैं। एक है—'ईश्वरवाद' (Theism); दूसरा है—'ब्रह्मात्मैकत्ववाद' (Pantheism)—नवीन वेदान्तवाद—शंकर के अनुसार ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व का वाद। 'प्रकृति' तथा 'पुरुष' (जीव)—इन दो के साथ 'ईश्वर' को जोड़ दिया जाय, तो इस प्रकार का 'ईश्वरवाद' (Theism) 'त्रैतवाद' बन जाता है; ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता मानी जाय, प्रकृति तथा पुरुष (जीव) को ब्रह्म का ही रूपान्तर माना जाय, तो इस प्रकार का 'ब्रह्मवाद' (Pantheism) 'एकत्ववाद' बन जाता है। जैसा हमने कहा, गीता में सैद्धान्तिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न सिद्धान्त पाये जाते हैं, परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले सिद्धान्त भी पाये जाते हैं। गीता मे 'त्रैतवाद' तथा 'ब्रह्मात्मैकत्ववाद' दोनों पाये जाते हैं।

उदाहरणार्थ, गीता में 'त्रैतवाद' १३वें अध्याय में पाया जाता है। इस अध्याय के २१वें श्लोक में कहा है: 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्'—पुरुष, अर्थात् जीव प्रकृति के गुणो का उपभोग करता है। इसका आशय यह है कि पुरुष अर्थात् जीव तथा प्रकृति—ये दो अलग-अलग तत्व हैं। इसी से अगले २२वें

१. कई विद्वानों का कहना है कि 'स हि सर्ववित् सर्वकर्ता' (३-५६), 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' (५.११)—इन सूत्रो में सांख्य ने ईश्वर की सत्ता को माना है।

श्लोक में कहा है : 'परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुष: पर:'—पुरुष, अर्थात् जीव के अतिरिक्त 'परमात्मा' नाम का एक परम पुरुष है। इससे स्पष्ट है कि गीता ने यहाँ पुरुष, प्रकृति, परमात्मा—इन तीन तत्वों का प्रतिपादन करते हुए 'त्रैतवाद' का समर्थन किया है। गीता के १५वें अध्याय के १६वें श्लोक मे कहा है : 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च'—इस लोक मे क्षर अर्थात् प्रकृति तथा अक्षर अर्थात् जीव—ये दो तत्त्व हैं। इसी से अगले १७वें श्लोक मे कहा है : 'उत्तम: पुरुषस्त्वन्य: परमात्मेत्युदाहृत:। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर:'—इन दोनों के अतिरिक्त 'परमात्मा' या 'ईश्वर' नाम का एक अन्य तत्त्व है। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि जहाँ प्रचलित टीकाओ के अनुसार साख्य प्रकृति तथा पुरुष—इन दो तत्त्वो को मानता है, वहाँ गीता सांख्य के प्रचलित दो तत्त्वो से एक कदम आगे जाकर योग की तरह प्रकृति, पुरुष तथा ईश्वर—इन तीन तत्त्वों को मानती है। सस्कृत ग्रन्थो में साख्य को निरीश्वरवादी सांख्य और योग को सेश्वरवादी सांख्य कहा जाता है। गीता सेश्वरवादी साख्य है, और गीता का यह सेश्वरवादी साख्य प्रकृति, पुरुष तथा ईश्वर—इन तीन तत्त्वों को मानता है।

इसका यह अर्थ नही कि गीता मे 'ब्रह्मात्मैकत्ववाद' (Pantheism) या 'नवीन वेदान्त' नहीं है। गीता के दूसरे अध्याय के ७२वे श्लोक मे 'ब्रह्मनिर्वाण' शब्द आया है; ५वे अध्याय के २४वे श्लोक मे कहा है : 'स योगी ब्रह्मनिर्वाण ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति'—यहाँ 'ब्रह्मनिर्वाण' तथा 'ब्रह्मभूत' शब्द आये हैं; १७वे अध्याय के १९वें श्लोक मे 'वासुदेव: सर्वम्' कहा है। जीवात्मा का 'ब्रह्मनिर्वाण', उसका 'ब्रह्मभूत' होना, सब कुछ वासुदेव होना—यह 'ब्रह्मात्मैकत्ववाद' या 'नवीन वेदान्त' (Pantheism) है।

'त्रैतवाद' तथा 'एकत्ववाद'—इन दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तो की तरह गीता मे 'अवतारवाद' भी पाया जाता है, अवतारवाद का विरोधी वाद भी पाया जाता है। 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्' (४-७)—इसे अवतारवाद का पोषक कहा जाता है, परन्तु अगर सब वही है—'वासुदेव: सर्वम्'—तब अवतारवाद कैसा ? ११वे अध्याय मे जब श्रीकृष्ण ने अपना 'विश्वरूप' दिखलाया है, तब अवतारवाद कहाँ रहता है, तब तो वही सब कुछ है। अवतार तो सब कुछ से भिन्न, एक निराला व्यक्तित्व है।

इसी तरह गीता मे कही कर्म को, कही भक्ति को, कही ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ कहा है। जिज्ञासु संशय मे पड जाता है कि वह इन तीनो मे से किसे अपने लिए सर्वोत्तम; माने क्योकि गीता तो जब कर्म की बात कहती है तब उसे भक्ति तथा ज्ञान से ऊँचे आसन पर बैठा देती है, जब भक्ति तथा ज्ञान की बात कहने लगती है तब इन्हें सर्वोच्च कह जाती है। यह सब विरोधी जँचने लगता है।

गीता के इन सब परस्पर विरोधी सिद्धान्तो का क्या समाधान है ?

इसका एक समाधान तो यह दिया जाता है कि आज जो गीता उपलब्ध है वह मूल गीता नही है, इसमें समय-समय पर नये श्लोक मिलते रहे हैं, इसीलिए इसमे 'त्रैतवाद' भी पाया जाता है, 'ब्रह्मात्मैकत्ववाद' भी पाया जाता है, इसमे 'अवतारवाद' भी पाया जाता है, 'विश्वरूपवाद' भी पाया जाता है, इसमे 'कर्मयोग' भी पाया जाता है, 'भक्तियोग' तथा 'ज्ञानयोग' भी पाया जाता है, इसमे 'कर्मकाड' का खंडन भी पाया जाता है, कर्मकांड के स्थूल रूप 'यज्ञ' का नया अर्थ करके उसका समर्थन भी पाया जाता है।

इसका दूसरा समाधान यह दिया जाता है कि गीता का सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी विशेष सिद्धान्त पर आग्रह नही है। गीताकार के समय जो भी सिद्धान्त प्रचलित थे उन सबका उसने आश्रय लिया है। गीता का मुख्य विषय एकत्ववाद, द्वित्ववाद, त्रैतवाद, अवतारवाद, विश्वरूपवाद या किसी भी वाद का प्रतिपादन करना नही है, गीता में सब वादों का उल्लेख है, परस्पर विरोधी वादो का भी उल्लेख है, परन्तु गीता उन सबमे विरोध देखने के स्थान में उनका समन्वय करने का प्रयत्न करती है, और उन सबकी दिशा को मोड़कर अपने मुख्य विषय—'नैतिकता' तथा 'व्यावहारिकता'—की तरफ लाने का प्रयत्न करती है। गीता का लक्ष्य किसी

पारमार्थिक या पारलौकिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना नहीं है, उसका मुख्य विषय जीवन की व्यावहारिक समस्या को, नैतिक समस्या को हल करना है। यह ठीक है कि कई विद्वान्—विशेषकर श्रीअरविन्द—इस बात को नहीं मानते, उनका मत है कि गीता नैतिक या व्यावहारिक समस्याओं को हल करने वाला ग्रन्थ न होकर पारमार्थिक सत्य को प्रकट करने वाला ग्रन्थ है, हमने उनका मत पुस्तक में जगह-जगह विस्तार से दिया है, परन्तु हम जो कुछ लिख रहे हैं यह भी एक ऐसा पक्ष है जिस पर अनेक विद्वान् सहमत हैं।

(ख) गीता पर नैतिक या व्यावहारिक दृष्टि से विचार—हमने अभी कहा कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय पारमार्थिक समस्याओ का हल करना नही, जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को हल करना है। व्यावहारिक समस्याओं में सबसे बड़ी समस्या कर्तव्य तथा अकर्तव्य की है, यह समस्या कि हम क्या करें, क्या न करें; क्या उचित है, क्या अनुचित है। कर्तव्य-अकर्तव्य, उचित-अनुचित की व्यावहारिक समस्या ही नैतिक कहलाती है। अर्जुन के सम्मुख व्यावहारिक जगत की यही नैतिक समस्या उठ खड़ी हुई थी। वह निश्चय ही नही कर पा रहा था कि जो स्थिति उसके सम्मुख उपस्थित हो गई है उसमें क्या करे, क्या न करे। गीता का मुख्य विषय इसी समस्या को हल करना है। इस समस्या का हल करने के लिए श्रीकृष्ण ने जिस नवीन तथा अद्भुत विचार को जन्म दिया उसे उसने 'निष्कामता', 'निस्संगता', 'फलासक्ति-त्याग', 'निमित्तमात्रता', 'भगवदर्पणता' का नाम दिया। इसी विचार को केन्द्र में रखकर गीता ने सब पारमार्थिक सिद्धान्तों का आश्रय लिया है, भले ही वे एक-दूसरे से विरोधी हो, या विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव मे सत्य हो। पारमार्थिक सिद्धान्तों का आश्रय लेते हुए गीता का किसी भी एक सिद्धान्त पर आग्रह नही है, सब पारमार्थिक सिद्धान्त ठीक भी हो सकते हैं, सब गलत भी हो सकते हैं; गीता का आग्रह है तो सिर्फ़ एक बात पर, और वह यह कि तू जो कुछ कर, निष्काम भाव से कर, आसक्ति छोड़कर कर, निस्संग भाव से कर, फल की आशा से मत कर, फिर भले ही पारमार्थिक दृष्टि से कुछ भी मानकर चल।

सम्भवतः इसी आशय से गीताकार ने कहा है : 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः' (४-११)—जो जिस मार्ग से भी चले, द्वैत से, त्रैत से, अद्वैत से, सगुण से, निर्गुण से, अवतार से, विश्वरूप से, कर्म से, भक्ति से, ज्ञान से—सब पारमार्थिक सिद्धान्तों का परिणाम एक है, यह एक कि सब पारमार्थिक सिद्धान्तों का प्रवाह उसी एक दिशा की तरफ़ ले जा रहा है, वह एक दिशा की मानव जीवन का सार निस्संगता और निष्कामता है, मनुष्य निमित्त मात्र है, वह अहंकार के नशे मे डूबा व्यर्थ ही समझता है कि मैं कर्ता हूँ, वस्तुतः सृष्टि का चक्र मनुष्य नहीं, वह चला रहा है, इसलिए जो कुछ है वही है, वही है।

गीता का सार यही है, गीता के एक-एक शब्द, उसकी एक-एक पंक्ति से यही ध्वनि निकलती है। 'निष्कामता'—यह एक ऐसा नवीन तथा अद्भुत विचार है कि सदियाँ बीत जाने पर भी इस विचार की नवीनता आज भी वैसी ही बनी हुई है जैसे पाँच हज़ार साल पहले थी। इसी अद्भुत विचार के कारण गीता विश्व-साहित्य का मूर्धन्य तथा अमर ग्रन्थ बना हुआ है।

गीता पर श्री शंकराचार्य, श्री मध्वाचार्य, लोकमान्य तिलक, श्रीअरविन्द, महात्मा गांधी, आचार्य विनोबा भावे, श्री सातवलेकर के सारगर्भित ग्रन्थ हैं। हमने अपने इस हिन्दी-भाष्य मे अपने विचारों के साथ-साथ इन सब विद्वानों के विचार दिये हैं, ताकि पाठक सबके विचारों को जानें, और जहाँ तक सम्भव हो, सबके विचारों को जानकर अपना स्वतन्त्र विचार कर सकें।

३. हमारे भाष्य की विशेषताएँ

वैसे तो गीता की अनेक टीकाएँ हैं, इसके अनेक भाष्य हैं, फिर इस ग्रन्थ की क्या आवश्यकता हुई? हमारे भाष्य की विशेषताएँ अग्रलिखित हैं :

(क) जन-तंत्र के इस युग में इस भाष्य को संस्कृत-प्रधान रखने के स्थान मे हिन्दी-प्रधान बना दिया गया है। ऊपर मोटे-मोटे अक्षरो मे गीता का धारावाही हिन्दी में सिलसिलेवार अनुवाद दिया गया है जो संस्कृत-भाग को पढ़े बिना भाव को स्पष्ट कर देता है। इस दृष्टि से यह जनता के लिए लिखी गई पुस्तक है।

(ख) इस अनुवाद तथा भाष्य की दूसरी विशेषता यह है कि यद्यपि इसमे सस्कृत का मूल भाग हिन्दी-अनुवाद के नीचे दिया गया है, यद्यपि इसे जन-साधारण की पुस्तक का रूप दिया गया है, तथापि सस्कृत के पडितों के लिए, या जो गीता के श्लोक पढ़ना चाहे, उनके लिए, श्लोक देकर, प्रत्येक श्लोक का पदच्छेद दिया गया है, प्रत्येक पद का अर्थ हिन्दी मे दिया गया है, प्रत्येक पद के ऊपर अक दिये गये हैं ताकि उन अको के आधार पर श्लोक का अन्वय किया जा सके। इससे जहाँ गीता का भाव स्पष्ट होता है वहाँ सस्कृत न जानने वाले गीता का अध्ययन करने के साथ-साथ सस्कृत भाषा का भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से हमने जो कुछ कहना था वह हिन्दी-भाग मे दिया गया है, सस्कृत-भाग मे नहीं; शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से हमने जो कुछ कहना था वह सस्कृत भाग मे दिया गया है, हिन्दी भाग मे नही।

(ग) इस अनुवाद की तीसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक अध्याय के अन्त मे उपसहार देते हुए उस अध्याय के सम्बन्ध मे गीता के मुख्य-मुख्य टीकाकारो ने जो विशेष विचार व्यक्त किये हैं उनका सरल भाषा मे प्रतिपादन कर दिया गया है। गीता पर शकराचार्य, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य की प्राचीन टीकाओ के अतिरिक्त लोकमान्य तिलक, श्री अरविन्द, आचार्य विनोबा तथा प० सातवलेकर की अर्वाचीन टीकाएँ हैं। इन सबके विचारों को बिना टीका-टिप्पणी के हमने यथास्थान दे दिया है। जहाँ-जहाँ आवश्यकता अनुभव हुई हमने अपने विचार भी व्यक्त किये हैं।

(घ) इस अनुवाद तथा भाष्य को आदरणीय प्रधानमत्री श्री लालबहादुर जी शास्त्री ने देखा, इसे सराहा, और अपने व्यस्त कार्यक्रम में से समय निकालकर इसकी भूमिका लिखकर हमे सम्मानित किया, इसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन गीता के निष्काम कर्म का साकार भाष्य है, इसलिए उनसे उत्तम इस ग्रन्थ की भूमिका किससे लिखवाई जाती।

४. धन्यवाद

पुस्तक के प्रकाशन मे बम्बई के सेठ श्री यशराजजी पटेल ने, जिनके पिता मेरे मित्र थे और जो गुरुकुल में मेरे छात्र रह चुके हैं, सहयोग दिया —इसलिए वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

श्री पं० शान्तिस्वरूप जी शर्मा वेदालंकार ने इसके प्रूफ देखने मे सहयोग दिया और उनके सुपुत्र श्री पं० बुद्धदेव शास्त्री, एम० ए० ने, जो गुरुकुल विश्वविद्यालय में संस्कृत के उपाध्याय हैं, मूल प्रति मे गीता के श्लोक तथा शब्दार्थ लिखने में सहायता दी, इसके लिए हम पिता-पुत्र दोनों के आभारी हैं।

इस ग्रन्थ को पढ़कर जो सज्जन आगामी संस्करण के लिए उचित परामर्श देंगे उनका अग्रिम धन्यवाद है।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

धारावाही हिन्दी में एकादशोपनिषद्-भाष्य

[सभी उपनिषदों का मूल, अन्वय, शब्दार्थ, व्याख्या, भावार्थ]

भूमिका

प्राचीनभारत के नभोमंडल की जाज्वल्यमान तारकावली में उपनिषद् वे सितारे हैं जिनका प्रकाश जीवन-यात्रा की घटाटोप अन्धकारपूर्ण रात्रि मे हजारो सालों से बटोही का मार्ग-प्रदर्शन करता रहा है। मैं किधर जाऊँ, मेरा सही रास्ता कौन-सा है, बीसियो पगडंडियों में से किस पर चलने से मैं अपने लक्ष्य तक पहुँचूंगा—यह प्रश्न जैसे नचिकेता के हृदय मे उठा, जैसे मैत्रेयी के हृदय मे उठा, वैसे आज भी हर एक युवक-युवती के हृदय में उठता है, परन्तु आज के उत्तर से नचिकेता और मैत्रेयी को भिन्न उत्तर मिला था, और वे हमसे भिन्न मार्ग पर चले थे। यह नही कि वे उस मार्ग पर चल नही सकते थे जिस पर आज का भौतिकवादी जगत् चलता चला जा रहा है। भौतिकवादी मार्ग पर चलने की भी उन्हे खुली छूट थी, परन्तु उन्होने इस मार्ग को यह कहकर छोड़ दिया था—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'—मनुष्य की धन-धान्य से अन्तिम तृप्ति नही हो सकती—'तवैव राजन् मानुषं वित्तम्'—यह रुपया-पैसा मेरे अन्तरतम की बेचैनी को दूर नही कर सकता, यह अपने पास रख—'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'—वित्त से संसार के सुखभोग मिल सकते हैं, आत्मा को जिस अमरता की तलाश है वह इससे नहीं प्राप्त होती! आत्मा की अमरता का यह सन्देश भौतिकवाद की दलदल में फँसे हुए हम लोगों के कानों मे भी पड़ता है, हमारे जीवन मे वह भी समय आता है, जब हम इधर नही उधर देखने लगते हैं, प्रकृति की तरफ नही परमात्मा की तरफ मुँह उठाकर अनित्य के स्थान में नित्य की तलाश करने लगते हैं, हम भी समझ जाते हैं—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'—'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'—परन्तु हम बहुत देर मे समझते हैं, ऐसे समय समझते हैं जब इस तत्त्व को समझने का जीवन में हम कोई क्रियात्मक लाभ नही उठा सकते। कौन भौतिकवादी है जो संसार की चकाचौंध मे सारी आयु गुजार देने के बाद एक दिन यह नही देख लेता कि यह सब धोखा था, इसमे से कुछ भी तो टिकनेवाला न था, परन्तु जब उसकी आँखें खुली, तब उसके हाथ में क्या रह गया था? इसको नित्य मानकर उसने झूठ बोला, दुराचार किया, अत्याचार किया, खून बहाया, अवाही-तबाही मचाई, परन्तु यह सब तो एक भूलभुलैयाँ का गोरखधंधा था, असली वस्तु, वह वस्तु जिसकी उसे तलाश थी, जिसे वह जन्म-जन्मान्तर से ढूँढ़ रहा था, जो हाथ आती-आती उसके हाथ से निकल जाती थी, उसे तो वह छू तक न सका था! यह भावना हर मनुष्य के जीवन में किसी-न-किसी समय साकार बनकर खड़ी हो जाती है, अध्यात्मवादी के जीवन में बहुत पहले, भौतिकवादी के जीवन मे बहुत देर बाद, परन्तु देर में या अबेर में, यह कठोर, निष्ठुर सत्य, हम मानें न मानें किसी का पीछा नहीं छोड़ता, नही छोड़ता। इस आधारभूत स।ई को जिन्होंने पकड़ लिया था, उन्होंने इस सचाई की दिग्दिगन्त मे घोषणा कर दी थी, उन्होंने ऐलान किया था—'इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति, न चेदवेदीत् महती विनष्टिः'—अगर इसे यहाँ, इस जन्म में पा लिया तो ठीक, नही तो महानाश ही महानाश है। ऐसी घोषणा करने वाले प्राचीन भारत के ऋषि-मुनियों ने जिस

सत्य का दर्शन किया था, इस भौतिक संसार को सत्य मानते हुए भी इसके पीछे छिपे हुए, इसके भी प्राण, इसके भी जीवन, जिस सत्यो के सत्य, जिस तत्त्वों के तत्त्व के दर्शन किये थे, उसका नाम उन्होंने 'ब्रह्म' रखा था, और संसार-भर का ध्यान इससे उसकी तरफ खीचने के लिए जिस विद्या को उन्होंने जन्म दिया था, उसका नाम 'ब्रह्म-विद्या' रखा था, 'ब्रह्म-विद्या' का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थो का नाम ही 'उपनिषद्' रखा था।

उपनिषदों को समझने के लिए उपनिषदों के ऋषियों के दृष्टिकोण को समझना जरूरी है। जैसे आज हर बात भौतिक दृष्टिकोण को सामने रखकर कही या लिखी जाती है, वैसे उपनिषत्कारों ने आध्यात्मिक दृष्टिकोण को सामने रखकर सब-कुछ कहा तथा लिखा था। उनका कहना था कि सृष्टि सत् है, परन्तु इससे भी ज्यादा कोई दूसरी वस्तु सत् है, उस सत् की सत्ता से ही इस सृष्टि का रूप सत् दीखता है, असली सत् यह नही वह है—वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, उसी को जानकर मनुष्य अमृत होता है। उनका कहना था कि जो इस दृष्टि को पा लेता है, वह जैसे हम इस सृष्टि को प्रत्यक्ष देखते हैं, वैसे ब्रह्म को प्रत्यक्ष देखने लगता है। प्रत्यक्ष का यह मतलब नही कि इन स्थूल आँखों से प्रत्यक्ष देखने लगता है, इसका मतलब यह है कि इन आँखों से तो वह इस सृष्टि को ही देखता है, परन्तु इस सृष्टि की हर वस्तु को वह एक पर्दे के तौर पर देखता है, इस पर्दे के पीछे इसकी ओट मे वह पर्दवाले को, ओटवाले को भी देख लेता है। जैसे भौतिकवादी की यथार्थवादी दृष्टि है, वैसे उपनिषद् के ऋषियो की भी यथार्थवादी दृष्टि है। याज्ञवल्क्य ने बार-बार कहा है कि संसार है, परन्तु यह अन्त तक रहनेवाला नही है। संसार का यही अन्तिम सार है—यह है, इससे भी हम इन्कार नहीं कर सकते, यह अन्त तक रहनेवाला नही है, इससे भी हम इन्कार नही कर सकते। इस यथार्थवादी दृष्टिकोण को लेकर ही जगह-जगह उपनिषद् में कहा है—यह सत् नही, वह सत् है, इन्द्रिय नही, मन-प्राण-आत्मा सत् है। इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि उपनिषद् का यह दृष्टिकोण काल्पनिक नही यथार्थ दृष्टिकोण है, ऐसा दृष्टिकोण जिसके सामने भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी दोनों विचारको को सिर झुकाना पड़ता है।

उपनिषद् के रहस्य को समझने के लिए एक बात और समझ लेनी जरूरी है। ऋषियो का कहना था कि ब्रह्म को ढूँढने के लिए कही दूर भटकने की जरूरत नही। जो कुछ ब्रह्मांड मे है, वही कुछ पिंड मे है। विज्ञान भी तो यही कहता है कि जो नियम परमाणु में काम कर रहे हैं, ठीक वही नियम सौर-मडल मे काम कर रहे हैं। इसी बात को उपनिषद् के ऋषि और आगे ले गये हैं। उनका कहना है कि जो नियम भौतिक में काम कर रहे हैं, वही आध्यात्मिक मे काम कर रहे है। इस बात को प्रकट करने के लिए उपनिषद् मे 'अथाधिदैवतम्' तथा 'अथाध्यात्मम्'—इन दो वाक्यों का प्रयोग किया गया है। 'अथाधिदैवतम्' का अभिप्राय है—देखो, ब्रह्मांड में क्या नियम काम कर रहे हैं; 'अथाध्यात्मम्' का अभिप्राय है—देखो, वही नियम पिड मे काम कर रहे हैं! अधिदैवत तथा अध्यात्म, ब्रह्मांड (Macrocosm) तथा पिंड (Microcosm)—इन दोनों की एकात्मता को समझ लेना उपनिषद् के रहस्य को समझ लेना है। हमने इस एक गुर का सहारा लेकर कठिन-से-कठिन स्थलों को बड़ी आसानी से खुलते देखा है, और यह अनुभव किया है कि इस तत्त्व को गाँठ बाँध लिया जाय, तो उपनिषद् की कोई बात उलझी नही रहती।

उपनिषद् में दो-तीन स्थल ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में अक्सर वाद-विवाद रहा करता है। उनके विषय में कुछ स्पष्टीकरण कर देना अप्रासंगिक न होगा—

सबसे पहला विवाद तो यह चला करता है कि उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय एकत्व है, या द्वित्व ? एकत्ववादियों के लिए 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन'—छान्दोग्य का 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'—'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहमस्मि' आदि वाक्य उनके मत का निश्चय करने के लिए पर्याप्त हैं; द्वित्ववादियो के लिए 'द्वा सुपर्णा सखाया' तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनेक वाक्य उनके मत का निश्चय करने के लिए पर्याप्त

हैं। परन्तु अगर हम उपनिषदों का गहराई से अध्ययन करें, तो पता चलेगा कि उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय न एकत्व है, न द्वित्व। उपनिषद् दर्शन के, तर्क के ग्रन्थ नहीं, अनुभूति के, साक्षात्कार के ग्रन्थ हैं। 'नैषा मतिस्कर्केणापनेया'—यह उपनिषदों का दृष्टिकोण है। किसी ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय वह होता जो सम्पूर्ण ग्रन्थ में एक समान दीख रहा हो, एक-एक अध्याय और एक-एक पृष्ठ पर उभर-उभर आता हो। इस दृष्टि से उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय सिर्फ यह है कि ब्रह्मांड मे हम प्रकृति मे उलझे रहते हैं, पिंड मे हम शरीर में उलझे रहते, हैं प्रकृति का जीवन ब्रह्म से है, शरीर का जीवन आत्मा से है, हमारे उलझने की असली वस्तु ब्रह्मांड मे प्रकृति नहीं ब्रह्म है, पिंड मे शरीर नहीं आत्मा है। जैसे भौतिकवादी प्रकृत तथा शरीर को यथार्थ समझता है, वैसे उपनिषद् का ऋषि ब्रह्म तथा आत्मा को यथार्थ समझता है, जैसे भौतिकवादी का 'भौतिक-यथार्थवाद' (Physical realism) अनुभव के आधार पर खड़ा है, वैसे अध्यात्मवादी का 'आध्यात्मिक यथार्थ-वाद' (Spiritual realism) भी अनुभव के आधार पर खड़ा है। उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय 'एकत्व'-'द्वित्व' नहीं, 'आत्म-तत्त्व' उसका प्रतिपाद्य विषय है। उपनिषद् के ऋषि का कथन है कि यह युक्ति से सिद्ध करने की जरूरत नहीं कि संसार टिकनेवाली वस्तु नहीं है, यह तो हम सब का अनुभव है कि शरीर मे से जब प्राण निकलने लगता है, तब आँख, नाक, कान सब इन्द्रियाँ भागने लगती हैं, फिर हम इसमें क्यों उलझे रहें, उस आत्म-तत्त्व को पाने का यत्न क्यों न करें जिसके कारण यह सब कुछ है, और जिसके बिना यह सब कुछ रहता हुआ भी नहीं रहता, होता हुआ भी क्षण भर में नहीं हो जाता है? यह विचार उपनिषद् के पृष्ठ-पृष्ठ पर, पंक्ति-पंक्ति पर अंकित है। यही उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय है। 'एकत्व' और 'द्वित्व' तो अवान्तर बातें हैं। उपनिषत्कार दार्शनिक दृष्टि से नहीं, अनुभव की दृष्टि से सत्य की खोज में निकले हैं, वे जानना चाहते हैं कि जीवन को किस दिशा में ढाला जाय जिससे जिस सुख की तलाश में यह मनुष्य जन्म-जन्मान्तर से भटक रहा है वह उसे मिल जाय। उपनिषत्कार की दृष्टि दिमागी उड़ान की दृष्टि नहीं, जीवन की सबसे मुख्य क्रियात्मक समस्या को हल करने की दृष्टि है। 'एकत्व' ठीक है, या 'द्वित्व' ठीक है—इसको जाननेवालों के जीवन पर इस बात का क्या असर पड़ता है? 'एकत्व' वाले भी उसी रास्ते पर भागे चले जा रहे हैं, जिस पर 'द्वित्व' वाले। उपनिषद् के दृष्टिकोण को जाननेवाले का तो जीवन का रास्ता ही बदल जाता है। वह नचिकेता की तरह संसार के प्रलोभनों के मिलने पर भी उन्हे अनित्य समझकर छोड़ देता है, याज्ञवल्क्य की तरह आयु के एक भाग मे आकर संसार से उपराम हो जाता है, अनित्यों मे नित्य की, अध्रुवों मे ध्रुव की तलाश करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'एकत्व' या 'द्वित्व' उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय नहीं है, यह दर्शन-शास्त्र का विषय है, इन बातों की उपनिषदों में कहीं-कहीं झलक दीख जाती है, आखिर दार्शनिक तथा अनुभूति की दृष्टियाँ भी कहीं-कहीं पास-पास से गुजरा करती हैं, परन्तु अनुभूति के ग्रन्थ में दार्शनिक विवाद को खड़ा कर देना ग्रन्थ के मर्म को न समझना है। उपनिषद् के कुछ इने-गिने वाक्यों का भले ही कोई एकत्वपरक अर्थ करे, या द्वित्वपरक, ये ग्रन्थ एकत्ववाद या द्वित्ववाद को लक्ष्य मे रखकर नहीं लिखे गये, और न ही ऐसे स्थलों की उपनिषदो मे इतनी भरमार है कि इस समस्या को उपनिषदों की मुख्य समस्या बना लिया जाय।

दूसरा विवाद कुछ ऐसे स्थलो के विषय मे है जो कुछ लोगों की दृष्टि में आपत्तिजनक हैं। आपत्तिजनक स्थलों के विषय मे एक स्थल तो बृहदारण्यक उपनिषद् के षष्ठ अध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण है जिसमे गर्भाधान-विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन है। मैक्समूलर ने इस स्थल को अश्लील कहकर इसका अंग्रेजी मे अनुवाद करने के स्थान में इसलिए लैटिन में अनुवाद किया था ताकि थोड़े ही लोग इसे पढ़ सकें। भारत में *'गर्भाधान'-संस्कार सोलह संस्कारों मे से एक मुख्य संस्कार समझा जाता था, और इसको उत्तम सन्तान* उत्पन्न करने का साधन माना जाता था। आज भी सुप्रजनन-शास्त्र (Eugenics) की पुस्तकों में उत्तम सन्तान कैसे उत्पन्न हो—यह विचार किया जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के उक्त स्थल में यही चर्चा है कि

वेदज्ञ, विद्वान्, धर्मनिष्ठ सन्तान कैसे उत्पन्न हो—इसमें गर्भाधान-विधि का भी वर्णन है, इतने से यह स्थल अश्लील कैसे हो सकता है ? गर्भाधान के साथ इस स्थल में अन्य संस्कारों का भी वर्णन है। इसी प्रकरण में एक जगह (६-४-१८) यह वर्णन आता है कि जो माता-पिता चाहे कि उनका पुत्र सब वेदों का ज्ञाता हो, वे 'मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा।' इसका अर्थ कई विद्वानो ने यह किया है कि माता-पिता मास और चावल पकवाकर औक्ष से वा आर्षभ से घृत-सहित खाये, अर्थात् बैल का मांस खाये। इस अर्थ करने का कारण यह है कि 'मांसौदन' शब्द मे 'मांस' शब्द आया है। परन्तु इस सारे प्रकरण को आगे-पीछे देखने से क्या 'मांस' की बात ठीक जँचती है ? सारे प्रकरण को पढ़ जायें, तो तिल, चावल, घृत के सिवाय किसी और वस्तु का कही जिक्र नही, एकाएक 'मास' शब्द आ गया है। असल में, 'माष' की जगह किसी लेखक की गलती से 'मांस' शब्द लिखा गया है। उस समय के लेखको की गलतियाँ आजकल छापेखाने के भूतो (Printer's devil) की गलतियाँ कहलाती हैं। चावल के साथ माष अर्थात् उड़द की संगति तो स्पष्ट है, मांस की कोई संगति नही बैठती। शुभ कार्यों मे आज तक की परम्परा तिल-चावल माष को मिलाने की है, तिल-चावल के साथ मांस मिलाने की तुक कहाँ बैठती है ? उपनिषदो के लेखकों से कहीं-कहीं शब्दों की गलतियाँ कई जगह रह गई हैं, और जो गलती एक बार रह गई, वह रहती ही चली गई, उसमें सुधार का किसी ने प्रयत्न नही किया। तैत्तिरीय उपनिषद् मे 'शिक्षा' के स्थान मे 'शीक्षा', 'तत्' के स्थान मे 'त्यत्', 'निष्काम' के स्थान मे 'नीकाम' चलता चला आ रहा है। छान्दोग्य ६-२-१ में 'तस्मादसतः सज्जायत'—यह वाक्य आता है। इसका शुद्ध पाठ 'तस्मादसतः सज्जायते' या 'तस्मादसतः सदजायत इति'—यह होना चाहिए, परन्तु सब जगह छपी उपनिषदों में 'तस्मादसतः सज्जायत'—यही पाठ पाया जाता है। एक बार गलत लिखा गया, सो लिखा गया। जिस स्थल के विषय में हम चर्चा कर रहे हैं उसका शुद्ध पाठ 'मांसौदन' न होकर 'माषौदन' होना चाहिए, परन्तु एक बार कोई गलती से 'मांस' लिख गया, सो वैसा चलता चला गया। आगे के स्थल का अर्थ स्पष्ट है कि जो माता-पिता ऐसे भोजन का सेवन करेंगे, वे—'जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा'—शरीर में बैल के समान और ज्ञान मे ऋषभ के समान पुत्र-रत्न को उत्पन्न करेंगे। बैल के मास से ही मतलब होता तो 'औक्षेण' और 'आर्षभेण' मे विकल्प क्यो कहा जाता ? उक्षा और ऋषभ का बैल-विषयक तो एक ही अर्थ है ! आगे-पीछे के प्रकरण को देखकर युक्ति-संगत अर्थ यही प्रतीत होता है कि जो चाहे शरीर की बलिष्ठ तथा ज्ञान की धनी (ऋषभ-श्रेष्ठ) सन्तान हो वह घी-मिश्रित चावल और उड़द का सेवन करे।

उपनिषदों के भाव की गहराई तक न जाने का परिणाम है कि कई विद्वान् उपनिषद् की विचार-परम्परा से बिल्कुल विपरीत अर्थ कर देते हैं। छान्दोग्य (४-२-५) में 'रैक्व' ऋषि की कथा आती है, जिसमे लिखा है कि राजा जानश्रुति ब्रह्म-विद्या के उपदेश के लिए रैक्व के पास गया, और साथ धन-धान्य, रथ तथा अपनी कन्या को भी लेता गया। ऋषि के विषय में लिखा है—'तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाच'। 'उपोद्गृह्णन्' का सीधा-सादा अर्थ है, मुख को ऊपर करके, परन्तु कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ कर दिया है—उस स्त्री के मुख को चूमकर ! ऐसे अर्थ न प्रकरण में खपते हैं, न शब्दों से ही ऐसा कोई अर्थ निकलता है। उपनिषद् में तो ऐसा कोई अर्थ निकलता भी प्रतीत होता हो, तब भी सारे ग्रन्थ के विचार-क्रम को देखते हुए उससे मेल खानेवाला ही अर्थ करना चाहिए, दूसरा नहीं, क्योंकि हर ग्रन्थ के भाव को समझने का यही सही तरीका है।

उपनिषदों की विचारधारा चित्त को इतने आग्रह से खीचती है कि इतनी पुरानी होने पर भी यह नित नई बनी हुई है। मुसलमान कई शताब्दियों तक भारत पर राज्य करते रहे, परन्तु उपनिषदो की उड़ान के सामने उन्होंने भी मस्तक नमा दिया। शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र, औरंगजेब का भाई दारा शिकोह उपनिषदों पर इतना लट्टू हो गया था कि काशी से कुछ पंडितों और संन्यासियो को बुलाकर लगातार छः महीने तक

उनकी कथा और व्याख्या सुनता रहा। वह उपनिषदों की विचारधारा से इतना प्रभावित हुआ कि १६५६ ईस्वी में उसने इनका फ़ारसी मे अनुवाद किया। कालान्तर मे दारा शिकोह के इसी भाषान्तर को फ्रैंच विद्वान् एन्क्विटिल ड्यू पेरों (Anquetil Du Peron) ने पढ़ा, और उसे पढ़कर ही उसे प्राच्य शास्त्रों तथा संस्कृत ग्रन्थो को पढ़ने की रुचि हुई। उपनिषदों के फ़ारसी अनुवाद तथा मूल संस्कृत के आधार पर ही एन्क्विटिल ड्यू पैरों ने १८०१ ईस्वी मे इनका लैटिन में अनुवाद किया। इस प्रकार दारा शिकोह द्वारा मुस्लिम तथा एन्क्विटिल ड्यू पेरो द्वारा ईसाई-जगत् में उपनिषदो की विचारधारा ने इतना ज़बर्दस्त सिक्का जमाया कि पूर्व तथा पश्चिम—दोनों जगह के लोग इन ग्रन्थों को अत्यन्त श्रद्धा से पढ़ने लगे। इसके बाद राजा राममोहन राय ने १८१६-१८१६ में, ई० रोअर (E. Roer) ने १८४८-१८७४) में तथा मैक्स मूलर (Max Muller) ने १८७६-१८८४ में उपनिषदों का अंग्रेज़ी मे अनुवाद किया। जर्मनी में एफ० मिशल (F. Mischel) ने १८८२ में, ओ० बोहटलिंक (O. Bohtlink) ने १८८६ मे तथा पॉल डुसन (Paul Deussen) ने १८६७ में इनका जर्मन में अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न भाषाओं में उपनिषदों के अनेक भाषान्तर हुए और संसार भर के विचारकों को उपनिषदों के अथाह समुद्र मे से अनेक रत्न मिले। जर्मन विद्वान् शोपनहॉर ने तो लिखा कि अगर जीवन में मुझे किसी चीज़ से आत्मिक शान्ति मिली है तो उपनिषदो से, और अगर मृत्यु के समय मुझे किसी चीज़ से शान्ति मिल सकती है तो उपनिषदों से !

भारत की भाषाओं मे उपनिषदों के अनेक भाषान्तर हुए हैं। हिन्दी मे ही कम-से-कम आधे दर्जन भाषान्तर हैं। इन सब ग्रन्थों के होते हुए हमें इस ग्रन्थ के लिखने की क्या आवश्यकता हुई ? हमें इस ग्रन्थ के लिखने की तब प्रेरणा हुई जब हमने आज तक के हुए हिन्दी-संस्कृत-अंग्रेजी सब अनुवादो को पढ़ा। हमे प्रायः सभी ग्रन्थों में शब्द-जाल अधिक दिखाई दिया, भाव की प्रधानता कम दिखाई दी। इसका मुख्य कारण यह समझ मे आया कि सबने संस्कृत भाग को प्रधानता देकर अपनी लेखनी उठाई है। हमे यह समझ पड़ा कि जिन भावो को उपनिषत्काल में संस्कृत भाषा मे लिखा गया था, उन्हीं भावो को बिना शब्दों के जाल मे उलझे सर्वसाधारण की भाषा मे लिखने की ज़रूरत है। दूसरे शब्दों मे, उपनिषदों को ऐसी भाषा मे लिखने की ज़रूरत है जिससे ऐसा लगे कि यह मक्खी पर मक्खी नही मारी गई, शब्द-पर-शब्द नही रख दिया गया, शब्दों मे से भाव निकालकर निखारा गया है। यह तभी हो सकता था जब उपनिषद् के भावो को धारावाही स्वतत्र भाषा में लिखा जाय, बीच में किसी प्रचार का अटकाव न आने दिया जाय। उपनिषदों के समय वे लोग सस्कृत मे सोचते, बोलते और लिखते थे, आजकल हम हिन्दी में सोचते, बोलते और लिखते हैं। हमने इस ग्रन्थ मे यह प्रयत्न किया है कि अगर उपनिषदों के ऋषि हमारे युग मे आ जाएँ, तो वे अपने विचारों को हिन्दी भाषा मे किस प्रकार, किन शब्दों में व्यक्त करें। इसीलिए हमने मूल संस्कृत भाग को हिन्दी से जुदा करके अलग दिया है, उसे हिन्दी के साथ मिलाया नही है। जो सिर्फ़ उपनिषद् के भाव को समझना चाहे, वह सिलसिलेवार हिंदी भाग को पढता चला जाय, उसे यह हिन्दी का एक स्वतंत्र मौलिक ग्रन्थ प्रतीत होगा, और सब बात परस्पर सम्बद्ध प्रतीत होगी। जो हिन्दी और संस्कृत का मिलान करना चाहे, वह नीचे मूल संस्कृत को देखकर मिलान करता जाय। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ शब्द-प्रधान नही, भाव-प्रधान है। परन्तु इसका यह मतलब नही कि शब्दों का हमने ध्यान नहीं रखा। शब्दो का भी हमने इतना ध्यान रखा है कि उपनिषद् में भिन्न-भिन्न स्थलों पर जो शब्द आये हैं, उन शब्दों की भी भाव को दृष्टि मे रखते हुए पूरी-पूरी मीमांसा करने का प्रयत्न किया है। संभूति-असंभूति क्या है, विद्या-अविद्या क्या है, त्रिणाचिकेत अग्नि क्या है, नचिकेता, यम, इन्द्र, वायु, यज्ञ, उमा आदि का क्या अर्थ है, अधिदैवत तथा अध्यात्म क्या है, तप-दम-कर्म, तप-ब्रह्मचर्य-श्रद्धा—इन त्रिकों का क्या अर्थ है, ऋत तथा सत्य का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है, अंगुष्ठमात्र से क्या अभिप्राय है, भूः-भुवः-स्वः के आधार में क्या विचार-प्रक्रिया है, जहाँ अनेक शब्द इकट्ठे दिए गये हैं उनका एक-दूसरे से क्या रिश्ता है—इन सबका अपने-अपने स्थान में हमने विवेचन किया है, इन शब्दों को ऐसा ही लिखकर नही छोड़

दिया गया, हर एक शब्द मे से उसका भाव निकालने का प्रयत्न किया गया है। इस भाव-प्रधान ग्रन्थ की दूसरे शब्द प्रधान ग्रन्थो से यही विशेषता है। दूसरे ग्रन्थ सिर्फ़ पडितो के लिए लिखे गये हैं, परन्तु आज क्योकि जनता का युग है, इसलिए यह ग्रन्थ पडितों तथा सर्वसाधारण जनता दोनों के दृष्टिकोण से लिखा गया है।

इसके लिखने की प्रेरणा मुझे तब हुई जब मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल ने मुझे उपनिषद् पढ़ाने को कहा। वे स्वय मनोविज्ञान की पडिता हैं, उन्होने स्वय उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे हैं। उन्हे उपनिषद् जैसे ग्रन्थ पढ़ाने के लिए मुझे भी तपस्या करनी पड़ी। जितने भाष्य मिल सके सब इकट्ठे किए। दिन-रात उपनिषदो मे विचरने लगा। भाव स्पष्ट होते थे, परन्तु कही-कही बिल्कुल अस्पष्ट होते थे। कभी-कभी एक-एक स्थल को स्पष्ट करने मे कई दिन लग जाते थे। पति-पत्नी का ज्यो-ज्यो उपनिषद् पढ़ने-पढाने का यह सिलसिला चला, त्यो-त्यो मैं सोचने लगा कि यह सब कुछ लिखता क्यो न चला जाऊँ? बस, जो हम लोग मिलकर पढ़ते थे, उसे लिखता चला गया। लिखते-लिखते यह ग्रन्थ तैयार हो गया। इसलिए इस ग्रन्थ को मेरे द्वारा लिखने का श्रेय मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल को है।

मैंने यह जो कुछ लिखा है, यह तो इस ग्रन्थ की सरसरी भूमिका है। उपनिषद् के आध्यात्मिक दृष्टि-कोण को निबन्धो के रूप मे मैंने एक पृथक् ग्रन्थ मे लिखा है है जिसका नाम है—'वैदिक सस्कृति के मूल तत्त्व'। जो महानुभाव उपनिषद् की विचारधारा को स्वतन्त्र रूप से जानना चाहे उनके लिए वह ग्रन्थ उप-निषदो की भूमिका का काम करेगा। उस ग्रन्थ को पढ़ लेना उपनिषदो की आधारभूत विचारधारा को समझ लेना है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे एक बड़ी अधिक कठिनाई आ खड़ी हुई थी। वह कठिनाई वैयक्तिक थी इसलिए उसके विवरण मे जाने की आवश्यकता नही। इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उस कठिनाई का हल न होता तो ग्रन्थ का प्रकाशन रुक जाता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए जिन महानुभावो ने योगदान दिया उनका आभारी हूँ। योगदान देनेवालो के नाम निम्नांकित है :

श्री देवदत्त लखनपाल द्वारा	२,५०० रु०
आर्य धर्म सेवा संघ ट्रस्ट द्वारा	२,००० रु०
राय बहादुर विस्सेसरमल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट द्वारा	२,००० रु०
रघुमल चैरिटी ट्रस्ट द्वारा	१,००० रु०
श्री मेघराज जी, न्यू इंडिया प्रेस द्वारा	१,००० रु०
श्री परमेश्वरी देवी खेतान मैमोरियल ट्रस्ट द्वारा	५०० रु०
राय बहादुर चौ० प्रतापसिंह जी ट्रस्ट द्वारा	५०० रु०
श्री भुवालका जन-कल्याण ट्रस्ट द्वारा	५०० रु०
श्री अलकापुरी जन-कल्याण ट्रस्ट द्वारा	५०० रु०
	१०,५०० रु०

पुस्तक पर १८ हज़ार रु० के लगभग व्यय आया है जिसमे उक्त महानुभावो के योगदान से लेखक को पुस्तक के प्रकाशन में बडी सहायता मिली है। आशा है, जिन्होने पुस्तक के प्रकाशन मे हाथ बटाया है वे इसकी रूपरेखा, कलेवर तथा विषय को देखकर प्रसन्न होगे कि उनका योगदान एक उत्तम कार्य के लिए हुआ है।

मेरे मित्र श्री पं० शान्तिस्वरूप जी वेदालंकार ने तो ग्रन्थ के निर्माण में मेरे जैसा ही हिस्सा लिया है। संस्कृत भाग का लेखन वे न करते तो ग्रन्थ अधूरा रह जाता। उनके लिए यह ग्रन्थ उनके आत्मज के समान है क्योंकि यह जितना मेरा है उतना ही उनका है। उन्हें जितना धन्यवाद दूं, थोड़ा है।

आशा है, यह ग्रन्थ वर्तमान उदीयमान हिन्दी संसार की थोड़ी-बहुत सेवा कर सकेगा, जितने अंश में यह हिन्दी-भाषी जगत् की सेवा कर सकेगा उतने अंश में मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

विद्या-विहार, बलबीर ऐवेन्यू
देहरादून

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

EXPOSITION OF VEDIC THOUGHT

PREFACE

In his book "India : what can it teach us" Prof. Max Muller writes : "If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with the wealth, power and beauty that nature can bestow—in some parts a very paradise on earth—I should point to India. If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of the choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life, and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India. And if I were to ask myself from what literature we, here in Europe, we who have been nurtured exclusively on the thoughts of Greeks and Romans, and of one Semitic race, the Jews, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more comprehensive, more universal, in fact more truly human, a life, not for this life only, but a transfigured and eternal life—again I should point to India."

Schopenhaur, the famous German philosopher, said : "In the whole word there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads. It has been the solace of my life. It'll be the solace of my death." Quoting these words of Schopenhaur, Max Muller says : "If these words of Schopenhaur required any endorsement, I shall willingly give it as the result of my own experience during a long life devoted to the study of many philosophies and many religions."

Quoting from the book "INDIA" of Magesthenese, McCrindle describing the wars of Alexander writes that when the Greek King proceeded to invade India, his mantor, Aristotle, asked him to bring two gifts from that famous country while returning—one was the 'Gita', and the other some Saint-philosopher. While returning, Alexander directed his emissary Oniocratese, to find out a Saint who could accompany him back home. The emissary contacted two Saints, one of whom accepted the invitation, while the other named Dandamese declined. It appears that the word 'Dandamese' is a Greek form of the Sanskrit word 'Dandi-Swami'—दंडी स्वामी—as 'ese' was use as a suffix to the proper names in Greek language. The emissary told the Saint that if he accompanied Alexander who was extolled as the son of Jupiter —God Himself—the King would be pleased to bestow upon him immense wealth and riches. Hearing this, Dandamese laughed and retorted : Having the verdure and

greenery of India surrounded by Himalayas as an abode, bark of trees as clothes for covering the body, clean cold running water of the river for quenching thirst, a handful of grains for sustenance is all one needs for keeping the body and soul together. It passes one's understanding as to why one needs more than this for living unless it were to accumulate and perish. We of this land of the 'Rishis' possess the richness of the soul before which all the wealth of the world pales into insignificance, and without which the richest man possessing all the material wealth of the world is but a pauper in our eyes.

Aurangzeb's brother Dara Shikoh was so much fascinated by the Upanishads that he invited some learned Pandits from Kashi and listened to their discourses for six months expounding their teachings. In 1656 he translated them into Persian. Anquitil Deu Peron, a French scholar, rendered the Persian version of the Upanishads into Latin in 1801. Thus the Muslim world by Dara and the Christian world by Anquitil Deu Peron were so much influenced by the Upanishadic thought that these store-houses of spiritual knowledge were avidly read with great interest by scholars of the East and the West.

The sources of Indian thought from which Aristotle, Dara Shikoh, Max Muller and Schopenhaur drew inspiration were the Vedas, the Upanishads and other classical Sanskrit literature containing Vedic thought. But, what is the quintessence of Vedic thought ? The quintessence of Vedic thought is that however much advances mankind may make in the material world—we may land on the moon, travel in space with the speed of light, even tear open the bowels of the earth and make it yield unimaginable wealth—so long as we are devoid of the treasure lying hidden in the world of the Spirit, all our achievements are of no avail. But, spiritualism does not mean that this world is nothing but Maya—माया—and the wealth of the world is an illusion. t only means that though the body is real, the soul which animates the body and is apart from the body is also real ; though the world of matter is real, God which activates the world and is apart from the world is also real. To start with the body in living beings and the world of matter in the universe and to end therein as the Alpha and Omega of existence is an unreal assessment of reality. When we regard the body and the world of matter as the terminus of reality, then arises the necessity of enlightening our understanding to the fact that all that meets the eye in which we entangle ourselves though real is yet relatively unreal, because its reality is derived from and is dependent on a far greater and more fundamental reality which is independent of all other realities and without which neither the physical body nor the material universe would sustain their existence.

The Vedic point of view goes a step further. This view is that man's visible body is an instrument of an invisible bodyless conscious energy which is making use of it to achieve certain ends towards which this energy is moving. Similarly, this world of matter is also an instrument of a Conscious Supreme Power which is making use of it towards the fulfilment of certain pre-planned objective. If the body in man and the material world in the universe were to be the beginning and the end of all existence, then what remains to be object of life except to eat, drink and make merry

and to vegetate? And if eating, drinking and merry-making is the be-all and end-all of life, then what justification there is for doing good to your fellow-beings, of social welfare and other schemes of social upliftment where self-sacrifice is involved? A totally materialistic society has no room for unselfish behaviour. On the other hand, the invitable and logical conclusion of selfish attitude of life is the encouragement of unsocial activities like theft, dacoity, murder and all the misdeeds one can think of. If the life ends here and there is no beyond, then why think of others, of welfare of society and doing good to others? If once gone is gone for ever, then to whom are we responsible, for whom have we to care? In that case 'Charvak'—चार्वाक—is right when he says:

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

That is, enjoy to the utmost so long as you live; beg, borrow or steal, for who returns after the body is put to flames and is reduced to dust and ashes. No God, no Soul, no Ethics, no Morality!

The same path was followed by Epicurians in the West, and they were right if our existence ends with the dissolution of the body.

Is it possible that this visible body and the visible world of matter is the ultimate so far as existence is concerned? The Vedic seers did not deny the reality of the visible, their only contention was that all that is visible rests on and exists for the invisible. We see the tree, its branches, leaves, flowers and fruits, but it rests on its roots which are far deep in the earth lying invisible imparting nourishment from the unseen to the seen, we see the superstructure of a building but it rests on the foundation which we do not see. If we rely on the visible and set our eyes against the invisible from which it draws its sustenance, the visible will fall into pieces.

The Vedic thought rests on the rock-foundation of practicability. It does not negate the existence of matter nor does it accept it as the final reality. The truth lies in the mean and is an amalgam of both. Accepting the world as real, it grasps it in its totality, and lays it down at the feet of the non-material 'Param Atman'—परम आत्मा—which is the ultimate reality. Keeping this Vedic concept in view the author has tried to expound the Vedic thought in the following pages.

It is generally thought that Spiritualism and Science are antagonistic to each other. Materialist does not accept what the spiritualist believes. He rejects it calling it unscientific. It is said that modern age is progressive and is based on scientific concepts. Youngmen of today decry everything which binds us with the past, calling it unprogressive, unscientific and, therefore, unacceptable. But have they ever thought that they might have chosen the wrong path and thus might have been derailed from the track of life? Einstein was one of the greatest scientists of modern times He said: "Science without Religion in lame; Religion without Science is blind." Perhaps the scientist had taken the simile from out of the leaves of Sankhya philosophy wherein the relationship between the Body and the Soul is compared to the one between the blind and the lame. The blind cannot see though they can walk; the lame cannot

walk though they can see. When a lame rides over the shoulders of a blind, both can walk and see. The simile holds good between Spiritualism and Materialim as well. Standing on their own, both are helpless but together they overcome their disability.

The author has tried to interpret the Vedic doctrines in the light of modern thought to enable the reader to test for himself as to how far we are justified in condemning the teachings of the 'Rishis' of yore as unprogressive and unscientific. Hence, the title of the book 'Exposition of Vedic Thought'

The author is indebted to Mrs and Mr Bharat Bhushan of P.T.I. both of whom have very ably contributed towards the completion of the manuscript. Thanks are due to Mr Vedavarata Kashyap who prepared the Index of the books Thanks are also due to Messrs Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd, the famous publishers of Oriental books, who undertook the publication of the manuscript, though for reasons best known to the printer the publication has been overdelayed.

Satyavrata Siddhantalankar

W-77A, Greater Kailash (I)
New Delhi-110048.

HERITAGE OF VEDIC CULTURE

This is the culture that hast and will time defy,
As surely as the rock resist'th the billows and the sky;
For it teacheth thee O Man, that no matter where thou art or what thou hast,
If thou followest its three-fold path, Enjoyment—
Non-Attachment—Remuniciation, thou too might'st be forever blest.

What is Vedic culture? Vedic culture is a way of life shown to the world by the saints and sages of India. It embraces both the materialistic and the spiritualistic aspects of human existence. Its philosophical and psychological concepts coupled with its prevalent institutions, customs, and manners enable the individual to view life in the right perspective, to differentiate between appearance and reality, and to determine the relative importance that should be paid to the various aspects of existence in the different chapters of life. Its pragmatic philosophy of Enjoyment-Renuniciation guarantees to the individual mental equipoise, serenity, and claim, and helps the individual to lead a life free from passions.

Vedic culture has its mine of information and knowledge in Vedic literature. The principal components of this literature are the four Vedas, nine Brahmana Granthas, eleven Upanishads, six Vedantas, four Upa-Vedas, six Darshanas or systems of philosophy, and the Bhagawad Gita. The present book is therefore an exposition of the cultural heritage which we have derived from these treatises.

There are, no doubt, a number of books already in existence on this subject. But the 'approach of this book is new, very original, and pragmatic' for several reasons. Man and the world are viewed as a whole; due emphasis being attacked to the physical and non-physical aspects of existence. The discussions do not end merely with a theoretical exposition of the various philosophical and psychological concepts. It is also shown how these principles were translated into practice by means of the existing social, religious, and economic institutions, customs, manners, etc., and the corresponding benefits which both the individual and the society as a whole derived from them. Vedic culture has not been treated in isolation from the other creeds that have attracted man. Appropriate and exhaustive reference have been made to the other scriptures of the world. Thus the teachings of Buddha, Christ, Moses, Mohammed, Confucius, etc., also find their footing in the book. Several important philosophical and psychological concepts of the West have been synthesized with the Vedic ideals. It

is due to this blending of Eastern and Western thought that the reader will say to himself at the end of the book : 'Yes, the East and the West have been made to meet'.

Written in a simple, lucid, and comprehensive style this book is meant for : all who are interested in a new and happy way of living; those foreigners and Indians who desire to know something concrete about India's approach to life, her institutions, and her philosophy; and the university students of Indian and Western philosophy, psychology, and religion. It is truly a book intended for everybody and one which if opened with expectations will certainly be closed with profit.

Taking the words of Bunyan we can, with reference to the present book, address them to the twentieth century pilgrim :

This book will make a Traveller of thee,
If by its counsel thou wilt ruled be;
...Yea, it will make the slothful active be;
The blind also delightful things to see.

ABOUT PROFESSOR SATYAVRATA SIDDHANTALANKAR

Professor Stayavrata Siddhantalankar, who was nominated to the Parliament of India by Dr S. Radhakarishnan, holds the doctorate (Vidya Martand) degree of the Gurukula Kangri University, Hardwar. He has been its Vice-Chancellor for two terms of office extending over a period of ten years. Gurukula Kangri University was founded seventy years ago for the cultural revival of ancient Indian ideals with an emphasis both on the Eastern and the Western lore. Besides being an orator of outstanding ability Professor Satyavrata Siddhantalankar is a voluminous writer in Hindi, Sanskrit, and English. He is the author of more than twenty books on culture, education, sociology, and psychology. Most of his works are used either as reference books or as textbooks by the different universities at the graduate and postgraduate levels.

He was awarded the All-India Mangalaprasad Prize for his outstanding literary work in Sociology by the All-India Hindi Sahitya Sammelan of Allahabad. The Language Department of the Punjab Government honoured him as a litterateur by holding a special darbar at Chandigarh.

According to the Indian tradition the writing of commentaries on the Upanishads, the Gita, and the Vedanta is known as 'Prasthana Trayee', and the one who writes on these subjects is universally acclaimed an 'Acharya'. Verily this is the highest honour in the filed of learning. Professor Satyavrata Siddhantalankar has written exhaustive commentaries and made original contributions on all these three treatises which are deemed to be the embodiments of India's culture and Indian way of life. His commentary on the Upanishads is prefaced by Dr S. Radhakrishnan, on the Gita by the late Prime Minister Shri Lal Bahadur Shastri. And the present book 'Heritage of Vedic Culture' is a very original expostion of Vedic philosophy coupled with the different aspects of Indian thought. Thus Professor Satyavrata Siddhantalankar may rightly be styled as an exponent of 'Prasthana Trayee'.

INTRODUCTORY NOTE

The title of the book is 'Heritage of Vedic Culture'.

Jawaharlal Nehru wrote in "The Discovery of India': "What is may inheritance ? To what am I an heir ? To all that humanity has achieved during tens of thousands of years, to all that it has thought and felt and suffered and taken pleasore in, to its cries of triumph and its bitter agony of defeat, to that astonishing adventure of man which began so long ago and yet continues and beckons to us. To all this and more in common with all men. But thre is a special heritance for those of us of India...something that is in our flesh and blood and bones, that has gone to make us what we are and what we are likely to be."

That inheritance which in the words of Jawaharlal Nehru is in our flesh and blood and bones is contained in the wisdom of the Vedas the Upnishads, the Gita, and all these we know and designate as Vedic cutlure.

The present book is an exposition of the fundamental tenets of Vedic culture. These have been inherited by those of us who look to the past with pleasure, pride, and prestige.

Professor Satyavrata Siddhantalankar is a prolific writer on Vedic thought. Dr S. Radhakrishnan while writing the Foreword of his translation of the Upanishads has said :

"The texts of the Upanishads are not to be read simply. They are meant for meditation. . .The very first verse of Isha Upanishad makes out that this world is a perpetual procession of events where everything supersedes another. But this passing show is not all. It is informed by the Supreme Spirit, enveloped by God. We should not look at the world merely from the outside as a succession of events but perceive beneath it the burning intensity of significance which penetrates the succession. Every occasion of the world is a means for transfiguring out insight. By renouncing everything we become the lords of everything."

Continuing further regarding Professor Satyavrata Siddhantalankar's exposition of the Upanishads he says : "I am pleased to find that Professor Satyavrata who was for some years Vice-Chancellor of Gurukula University, Hardwar, and is well known as the author of many important works in Hindi on Ancient Indian Culture, Education, etc., has now written an exhaustive account of the Upanishads."

Corresponding to his translations of the Upanishas Professor Satyavrata Siddhantalankar has also written an exhaustive explanatory translation of the Bhagawad Gita.

In its foreword the late Prime Minister of India Shri Lal Bahadur Shastri remarked that it is an enlightening and thought provoking thesis written in a very luid style, and meant both for the academician as well as the common man.

With such credentials it is needless to say that Professor Satyavrata Siddhantalankar together with his associate author S.J. Taraporevala is a fit person to write on the Heritage of Vedic Culture. It is this heritage that has inspired, still inspires, and will continue to inspire the Indian people.

After Independence there has been growing consciousness in the educational system of the country to learn more of our ancient heritage. Most of the universities have prescribed curricula to meet this urgently pressing demand. Moreover though there has always been a substantial degree of interest and appreciation in the West for Vedic thought and culture, in recent years the desire to gain a knowledgeable insight into the same has grown deeper and intenser.

It is therefore hoped that this book will meet the demands of the universities as well as the persons of the West who desire to know about India's cultural heritage. This heritage has survived through the ages and penetrates deeply into the everyday life of the people of this ancient most culture and civilization.

Wilson College, Bombay.

Sd/- M.M. David
Lecturer in History and Indian Culture

HERITAGE OF VEDIC CULTURE

PREFACE

In recent times there is an upsurge of persons in Europe who are anxious to overhaul and completely reconstruct the social structure of the modern world. These people endorse the widely prevalent view that whatever has been achieved so far in the course of evolution has been based only on selfishness, jealousy, distrust, hatred, greed, avarice, and aggrandisement. And since these elements have ultimately led to restlessness and war, this thinking intelligentia proposes to substitute them with the other and the exactly opposite qualities of truth, love, sympathy, self-abnegation, and sacrifice in order to create a new world. The emergence of this type of spiritual awakening in Europe which is the stronghold of materialism is not surprising in the context of the degenerated present conditions.

But centuries ago, Indian saints and sages had come to the conclusion that the elements on which materialism was based were without content. They upheld that humanity could not move even one step forward by making them the basic principles of life. This factual statement is corroborated by experience. For how far has the world advanced by making jealousy, distrust, hatred, anger, lust, greed, and attachment the basis of social reconstruction? The spiritual thinkers of India went to the extent of propounding that materialism could not even survive without the constituents of spiritualism. Is there any materialist who considers himself to be following the right code of conduct when he indulges in murder, falsehood, theft, dishonesty, and licentiouness? No, not even one, but why not?

If it is upheld that only that which is visible is true, and that the invisible is not true, then selfishness can and must be the 'summum bonum' of life. In this context selflessness, service, love, friendliness, brotherhood, and benevolence can be considered right only when they help to achieve some personal, selifish end and wrong when they obstruct it. Yes, this should necessarly always be the materilitic point of view. It is, however, amazing to note that even the materialists speak highly of those very elements which are valued as essentials by the spiritualists. Is it not surprising that even the materialists hestiate to give up totally their allegiance to truth, love, honesty, and other similar elements? The reason is not far to seek.

The materialists also realize that ultimately it is truth and not untruth which both works and survives in the world. They readily admit that it is love not jealousy,

sympathy not hatred, co-operation not antagonism, and non-violence not violence which mitigate the harshness of the machine of life.

However, it cannot be denied that truth, love, sympathy, non-violence, etc., which are the universally recognised essentials of spiritualism, are not accepted as basic tenets by materialism. In the ultimate analysis it will be found that in practice materialists adhere to them only so long as they fulfil their personal ambitions and do not hesitate to abandon them the moment they seem not to subserve their interests. Their conception of truth and falsehood, of honesty and dishonesty, also undergoes a change in accordance with this criterion. For example, to the materialists, truth turns into falsehood if it comes into conflict with their aims and objectives, and falsehood occupies the lighted niche of truth if it helps them to further themselves. For them, honesty is the right code of conduct if by practising it something is gained. Dishonesty will be equally welcome if it pays more. Their ideal, in the words of Shakespeare, is : "Let me if not by birth, have lands by wit : All with me's meet that I can fashion fit.'

In the bridge game of materialism, the trump card which every materialst holds in his hands is 'no criterion for myself, all criteria are for others.' And the tricks he plays to complete his rubber are : 'truth is not for myself, but my temper is for the liar,' 'corruption is for me, but honesty is for my neighbour.' But even the materialist finds this outlook in the long run to be self-contradictory. How is it possible to live a life of falsehood and dishonesty but at the same time to expect truth and honesty from others ? This self-contradictory outlook cannot sustain itself and therefore it cannot be upheld. The belief which is indispensable in our dealings with others is : 'what is good for others must be good for me too', and 'I must do unto others as I would others do unto me'. If it be necessary for the smooth sailing of our own boat that others should manifest truth, honesty, and love, is it not equally incumbent upon us to manifest the same qualities for the proper maintenance of harmonious relations with others ?

This is the reason why even in the very midst of materialism, we cannot completely divorce ourselves from truth, non-violence, love, non-attachment, self-surrender, and sacrifice. Truly these qualities must remain a part and parcel of our being howsoever rank materialistic we may be. Regardless of any knowledge, desire, or effort on our part we invariably discover that truth, love, and goodness are triumphantly marching ahead leaving falsehood, hatred, and corruption far behind. The hound of goodness is swifter than the stag of evil. Why is it so ? It is so because these elements are permanent, eternal, universal, and cannot be separated from our being despite the worst influences of materialism. It is these spiritual elements which lie buried deeply in the very foundation of the world structure. The Vedic saint declared : 'On truth stands this earth.'* In pronouncing this he indeed revealed the reality which could not be shattered or falsified through the course of thousands of years of the materialistic epoch.

*सत्येनोत्तभिता भूमि : (ऋग्वेद, १०/८५/१)

It is undeniable that some of the elements proclaimed by materialists in the composition of the world structure are factual. But the uniqueness of the Vedic philosophers lies in apprehending some other basic and fundamental elements. These if withdrawn from the world will lead to the collapse of its structure like the house that was built on the sand by the sea. It is these philosophers who gave birth to Vedic culture, it is they who made these elements the basis of their scheme of life. Readers will have a glimpse of these elements in the course of this book.

The difference between a number of books on this subject and this book lies in the fact that whereas the former discuss Indian culture in its outer aspects, the latter is an attempt to discuss it in its inner aspect. For instance, while most of the books confine themselves to the study of its time, its origin, and its historical influence in different parts of the world, this book explains its inner meaning, its scientific, psychological, and spiritual background. It also explains the outlook of India's saints and sages towards life and the way they had translated into action the main elements of Vedic culture as visualised by them.

A significant feature of this book is that singly by itself neither materialism nor spiritualism has been advocate to be the correct approach to life. Rather it is maintained throughout the treatment of the subject that true religion and true philosophy lie in an all-embracing approach. Thus it presents a synthesis of materialism and spiritualism. Several important Western philosophical and psychological concepts have also been synthesized with the Vedic views. It is these contributions that make the approach original and pragmatic. The generally prevalent view that East is East and West is West and never shall the twain be met has been transformed into the fact that both their melodies can be harmonized. This alone can ensure the twentieth century pilgrim his progress along the earthly journey.

We are indebted to Mr M. D. David for his Introductory Note and many useful suggestions that have enhanced the utility of the work.

Our grateful thanks are due to Mrs Chandravati Lakhanpal who has been a constant source of inspiration and encouragement; Mr & Mrs Vijay Krishna Lakhanpal for their help in the course of the preparation of the book; Mrs J.H. Taraporevala and Mr Russi J. Taraporevala for their active interest and cooperation; Mr J. A. Lobo, Mr S.D. David, Miss D. H. Sahiar, for undertaking and executing certain works pertaining to the book; and lastly the staff of Leaders Press Private Limited for all their care and attention in the printing of the work.

Satyavrata Siddhantalankar

GLIMPSES OF THE VEDAS

INTRODUCTION

Glimpses of the Vedas has been written with a view to giving a first-hand knowledge, to the English-knowing public of with the Vedas, which in the words of Max Muller are the oldest books in the library of mankind, contain, and to stimulate thought among scholars to evaluate the intellectual calibre of those whose thoughts they are said to represent.

India has been the repository of the Vedas. Having read, studied, and translated the Vedas, Prof. Max Muller wrote in his book India : What Can it Teach Us :

"If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty that nature bestows—in some parts a very paradise on earth—I would point to India. If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of the choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India. And if I were to ask myself from what literature we, in Europe, we who have been nurtured almost exclusively on the thoughts of Greeks and Romans, and of one Semitic race, the Jews, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more comprehensive more universal, in fact more human, a life, not for this life only, but a transfigured and eternal life—again I should point to India."

Sir William Jones, a judge of the Calcutta High Court and who was the founder of Asiatic Society in Calcutta, wrote :

"It is impossible to read the Vedant or many fine compositions in illustration of it, without believing that Pythogoras and Plato derived their sublime theories from the same fountain with the sages of India."

Shopenheur, a great German scholar, having read the translation of the Upani shads which are the expositions of the Vedas, exclaimed :

"In the whole world, there is no study so beneficial, so elevating, as that of the Upanishads. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death."

Romain Rolland, a French philosopher, who studied the philosophical thoughts contained the Vedas and in the Upanishads, said :

"If there is one place on the face of the earth where all dreams of living men have found a home from the very earlist days when men began to dream of existence, it is India."

A French scholur, named Jacolliot, wrote in his book Bible in India (Vol. II, Chapter I):

"Astonishing fact ! The Hindu revelation (Veda) is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with Modern Science, as it proclaims the slow and gradual formation of the world."

Bishop West Cott told the late Mr C.F. Andrews—a great humanitatian Christian missionary who had made India his home—the following :

"India and Greece were the two great nations who had made history of the world. As Greece had been the leader of Europe, India would always be the leader of Asia."

Mr Maeterlink, the Noble Prize winner, relating to the Nasadiya Sukta of the Rig Veda, writes in his book The Great Secret :

"Is it possible to find in our human annals, words more majestic, more full of solemn anguish, more august in tone, more terrible ? Where could we find at the very fountain, of life a completer and more irreducible confession of ignorance ? Where, from the depths of our agnosticism, which thousands of years have augmented, can we point to a wider horizon ? At the very outset it passes all what has been said, and goes further than we shall ever dare to go, lest we fall into despair, for it does not fear to ask itself whether Supreme Being knows what He has done—knows whether He is or is not the Creator, and questions whether He has become conscious of Himself."

Dr Alfred Wallace, the co-discoverer of the theory of evolution with Darwin, writes in his book Social Environment and Moral Progress :

"The wonderful collection of hymns known as the Vedas is a vast system of religious teachings as pure and lofty as those of the finest portions of the Hebrew scriptures. Its authors were fully our equals in their conception of the universe and the Deity expressed in the finest poetic language. (p. 11)

In it we find many of the essential teachings of the most advanced thinkers. (p. 13).

We must admit that the mind which conceived and expressed in appropriate language such ideas as are everywhere present in those Vedic hymns, could not have been inferior to those of our very best religious teachers and poets, to our Milton, Shakespeare and Tennyson. (p. 14)"

Dr Alfred Wallace, believing as he did in physical evolution, was in a fix as to how there could be a conciliation between the concept of physical evolution and that of social evolution in the face of the highest thoughts contained in the Vedas which are considered as the products of the highest antiquity.

What is the age of the Vedas. According to Hindu conception the Vedas are eternal and were revealed in the beginning of creation. But let us not go by what the Hindus believe. Let us see what the western scholars have to say in this regard. Prof. Max Muller says in his 'Physical Religion' (p. 18):

' Whether the Vedic hymns were composed in 1000 or 1500 or 2000 or 3000 years B.C. no power on earth could ever fix."

Jacobi, another Vedic scholar of world-wide fame, has fixed 4500 B.C. for the Rig Veda on astronomical calculations.

Anyhow, the fact remains that the Vedas are admittedly the oldest books in the library of mankind and 'go far back in time of history, when according to the theory of evolution mankind had not set its pace on progress and civilisation. The question the western scholars have to solve is as to how these books do contain thoughts which outdo the modernmost thinking.

We have not picked up stary Mantras (verses) from the Vedas. We have translated Sukta after Sukta (chapter after chapter) and shown a consistent thought running throughout as a thread in a rosary. We have, at the end, also given selected Mantras containing the highest thoughts humanity has ever dreamt of.

It is for the reader to assess objectively the psychological, spiritual and the cultural content of the Vedas from the material placed before him in these GLIMPSES.

W-77A Greater Kailash I
New Delhi 110048

Satyavrata Siddhantalankar

FOREWORD

I regard it as a rare privilege to write a Foreword to the "Reminiscences of a Vedic Scholar". The career of Dr Satyavrata Siddhantalankar is literally packed with highest achievements in academic and national activities of which any scholar can be justly proud.

Born on 5th March 1898, in a devout and dedicated Arya Samajic family, with poor material resources, young Satyavarata had, thanks to the generous help of Mahatma Munshi Ram (later Swami Shraddhanand), his education at Gurukula Kangri with remarkable success and graduated as Siddhantalankar with distinction. The story of his life is fascinating and, I have no doubt, shall be a source of inspiration to the younger generation.

Dr Satyavrata has been twice Vice-Chancellor of Gurukula University for 10 years. Since 1980, he has been Visitor of the University. He was awarded the coveted Mangla Prasad Prize by Hindi Sahitya Sammelan in 1960 for his outstanding book on Sociology. In 196:, he was honoured by the Punjab Government as a litterateur in a Public Darbar, held at Chandigarh, when a Dushala along with Rs 1,200/- were presented to him by the Chief Minister. In 1976, he was awarded Rs 1,200/- by Gangaprasad Upadhyaya Puraskar Samiti, Allahabad, for his Hindi book "Scientific Basis of Vaidic Thought". In 1977, Uttar Pradesh Government also awarded him Rs 2,500 on the same book. In 1978, Dr Satyavrata presided over the International Aryan Conference at Nairobi, in East Africa. In 1979, Delhi Administration honoured him for literary attainments in Sanskrit and Vaidic knowledge, by presenting him Rs 2,001/- and a Dushala. In the same year, his 80th birthday was celebrated by Servants of People Society, New Delhi, and was attended by Vaidic luminaries of the Capital, when an honorary title of 'Veda Maneeshi' was conferred on him in recognition of his services to Vaidic studies. In 1980, he was awarded Rs 1,100/- by Ramkrishna Harjimal Dalmia Puraskar Committee for his book 'Vaidic Vichaardhaaraa Kaa Vaigyaanik Aadhaar' which had already won him many awards. In 1981, Bharatiya Vidya Bhavan honoured him at Madras by giving him Rajaji Award of Rs 10,000/- for his literary attainments in Vaidic Thought. All reviewers declared his books on Vaidic Thought as the best books written on the subject for the last several years. In the same year, President of India honoured Dr Satyavrata as an outstanding Vaidic Scholar by awarding him Rs 5,000/- per annum for life.

Generally, English books are translated into Hindi and other Indian languages, but the credit goes to Dr Satyavrata that two of his books have been translated from

Hindi into English. His book "वैदिक संस्कृति के मूल तत्व" has been translated as "Heritage of Vaidic Culture" and pubished by Taraporewala & Sons of Bombay and the second book "वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार" has been translated into English as "Exposition of Vaidic Thought", published by Munshiram Manoharlal of Delhi.

In 1982, he was invited by Dutch Indians to deliver lectures on Indian Culture in Holland, Belgium, Germany and England. In 1986, at Mahatma Hans Raj Birthday Celebrations, held on 24.4.1986 at New Delhi, Dr Satyavrata was publicly honoured by the DAV College Trust and Management Society as an outstanding Arya Samajic stalwart who has devoted the major part of his life for the propagation of Vedic Religion.

Dr Satyavrata has been a Freedom Fighter and went to jail in 1930 during Mahatma Gandhi's movement. His wife, Shrimati Chandravati Lakhanpal, who died in 1969, also went to jail as the Dictator of U.P. Congress Working Committee in 1932. She was also awarded the coveted Mangla Prasad Prize for her book on "Educational Psychology". It is a unique achievement as both husband and wife were awarded Mangla Prasad Prize, both of them were Members of Parliament (Dr Satyavrata was nominated to Rajya Sabha in 1964 by President Radhakrishnan) and both of them were Freedom Fighters.

Dr Satyavrata's book titled "Reminiscences of a Vedic Scholar", which has been serialised in Aryan Heritage, is fascinating and thought-provoking on many subjects of vital importance for Aryan Culture. It is his brief autobiography which is being published as a separate booklet, as it will be an inspiration for Aryan youths. Dr Satyavrata has carved out for himself a career full of glory and honour. I came in contact with Dr Satyavrata only four years ago and since then have been recipient of his generous affection. This emboldened me to request him to write a book for us in our Centenary Year. He graciously agreed. "Reminiscences of a Vedic Scholar" is his invaluable gift to the DAV Community in its Centenary Year.

Veda Vyasa
President
DAV College, Managing Committee

New Delhi
1.6.1986

RELIGION IS SPIRITUAL COMMUNISM

Is Religion a source of unity or a source of division for Humanity? Is it a centripetal force—a force that brings man mearer to his fellow-men, nation nearer to its fellow-nations, a country nearer to its fellow-countries, or is it a centrifugal force driving man from man, nation from nation and country from country? The question has been answered both ways. There are those who like Religion to an angel of heaven with its wings of peace and harmony spread out for the shelter of the worried and wearied humanity; there are also those who see in Religion nothing but the naked sword of the Crusader and curses of eternal damanation for the non-believer. Turn over the pages of History and it appears as if the verdict of this stern observer of men and matters favours the view that Religion has brought more sorrow than joy, more suffering than comfort in the world Picture to your mind's eyes the devastation wrought by holy-wars, the rivers of blood shed in the name of God, the walls of separation raised between man and man in the name of Caste and Creed, the indignities heaped upon fellow-beings by man himself calling all this Religion, and you will realize the justice of the indignation of those who take the first opportunity of condeming Religion and all that it stands for.

But in fairness to Religion, may one ask, if all this is truly Religion? Is all this in accordance with the fundamental principles of Religion? Is all this sanctioned by the original promulgators of the respective Faiths? Do the Vedic Seers, the Budha, the Christ and Mohammed set us all one against the other or is their message, a message of the common fatherhood of God and universal brotherhood of man?

There is no doubt that religions have fought against religions which has led saner section of society to hate religion. Despite this fact, all religions, in whatever respect they may differ from one another, agree in one thing. All Religions regard God as our common father. Be it a Hindu, a Christian, or a Mohammaden—whatever their conception of the Godhead—all acquiesce in the fatherhood of God. The correlated idea of fatherhood is that of sonship for the former implies the latter. If God is our common father, we are all his children, and consequently, amongst ourselve, brothers. These basic ideas are founded on the assumption that Love is the essence of all Religions. Father always loves his children. And as father loves his children, even so must children love one another. There is no room for hatred in any Religon of the world. When Religion beings to sing hymns of hate, it ceases to be Religion—it becomes irreligious:

The fundamental idea of a social structure based on the religious conception of life, therefore, is Love—and Love that should subsist among brothers and sisters of a common stock. In Religion we are all Comrades, nay, more than Comrades, we are brothers. All property belongs to God for he is the author of all that lives, moves and has its being. Ours is a joint family in which we, all of us, share equally the gifts of God inherited by all of us from our common father. For is it not said in one of the scriptures that He maketh his sun to rise on the civil and on the good, and sendeth rain on the just and on the unjust in equal measure.

Religious State is a communistic state. Communism is the irresistible logical corollary of a train of thought which starts with the assumption of a common father who alone to the exclusion of all others—is the master of the world. Religious state cannot but be a communistic state because it must conform to the conception of God's being our common father. Communism is undoubtedly on surer grounds with God as its foundation than without God. In fact every religion worth the name has propounded only socialistic and communistic ideas.

The first protagonist of communism was the Rigvedic Seer who sang :

> अज्येष्ठासो अकनीयास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय
> युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्नीः सुदीना मरुद्भ्यः।

"Let there be none high among you, let there be none low among you. Advance towards attainment of prosperity as brothers. The most excellent ordainer of the universe and the just Divinity is their Father. Let the earth pouring forth abundant prosperity, as caw yields milk, bring auspicions days for the living creatures."

Further another Rishi sings :

> मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य
> नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी। (ऋ०, १०,११७,६)

"The fool accummulates wealth in vain, for verily I tell you the truth, this acquisition will spell his ruin. With this wealth he will neither benefit his friends nor the noble of society. Verily, the man who enjoys his wealth alone without any partaker is the embodiment of sin only."

Atharva Vedı depicts a perfect communistic state when it says :

> समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि
> सम्यञ्चः सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।

"O Ye mankind, I put you to a common yoke. Hence, let your place of drinking water be common, and together partake ye of a common food. Love together like spokes attaced to nave of the chariot from all around and worship together the symobl of light."

The State visualized by the Vedic seers is one where equality among the children of God reigns supreme. 'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास' no distinction of big or small, high or low, 'संभ्रातर :' all equal partners like brothets—this is the conception of the Vedic State.

Budhism is another great religion which has enwrapped humanity for centuries and has guided its movements. Budha was a prince born in the lap of luxury. The prince forsook the palace and stood in line with the peasant proclaiming by practice rather than precept, the equality of status between man and man. Budha established brotherhoods, members of which were allowed the minimum requirements of life, things indispensable—a suit of clothes, almsbowl, a razor, a needle, a water-strainer, a medicant's staff, a nail-cutter and a tooth-stick. Budha founded an order of the poor and threw in his lot with the toiling millions of humanity. He was a democrat of democrats, a man of the people and an organiser of the first Church of communistic principles in East—known as the Sangha.

The same spirit of equality and brotherhood pervades the teachings of Christianity. After the crucifixion of Christ his disciples organised themselves on the principles of their great teacher. They associated themselves in a spirit of communism, each throwing into the common stock whatever property he possessed and all his gains. The widows and orphana of the community were thus supported, the poor and the sick sustained.

Christ himself was the son of a carpenter and from his personal experience must have known the tyrannies of the capitalistic system of society. His outburst that it was easier for a camel to pass through the eye of a needle than for a richman to enter into the kingdom of God is the most trenchant criticism of a structure of society which enables a few to accumlate all the wealth of the nation at the expense of the many. He was so much convinced of the utter worthlessness of the system of accumulation of riches that he exclaimed : "Lay not up for yourselves treasures upon earth, where moth and dust doth corrupt, and where thieves break through and steal." To the poor labouring humanity he extended his invitation : saying, "Come unto me all ye that labour and are heavy laden and I shall give you rest." Sending the twelve disciples on a mission of divine dispensation he taught : "Provide neither gold, nor silver nor brass for your purses, neither two coats, neither shoes for your journey, for the workman is worthy of his meat."

The voice of the suffering humanity found an eloquent expression in the wails of Christ when he said : "For I was an hungered, and ye gave me no meat : I was thirsty and ye gave me no drink. I was a stranger, and ye took me not in : naked, and ye clothed me not : sick, and in prison; and ye visited me not. Then shall they also answer him, saying, Lord, when saw we thee an hungered, or a stranger, or naked or sick or in prison and did not minister unto thee ? Then shall he answer them, saying, Verily, I say unto you, inasmuch as ye did not to one of the least of these, ye did it not to me."

Mohammed—the great prophet of Islam—also thought in terms of the poor, the neglected and the down-trodden of society. His was a practical brother-

hood of man that knew no caste, creed or colour and which bade men meet on the common platform of humanity. The simple life of the early leasers of Islam shows that they not only preached but also practised equality with the rest of their people. At the fall of Jerusalem, Omer, the Khalif, came from Madina riding on a camel, carrying a bag of corn and one of dates, a wooden dish and a leathern water bottle. Just think of a conquerer entering the city of his conquest in the manner of an ordinary citizen. Equality is the fundamental teaching of Islam and brotherhood is its enviable achievement. Who has not witnessed the spectacle of Muslims spreading out a carpet and sitting to dine together whether they knew one another or not? Could the conception of equality and brotherhood go any further?

An acquintance with the principal religions of the world will convince you that religion has always spoken of God as the universal Father, of men and women as His children, and so, as brothers and sisters amongst themselves; of the rich as usurpers of property which belongs to one and all; and of the poor who voluntarily gave up the life of material existence as inheritors of the kingdom of heaven. That has been the cry of the Vedic seers, of Jesus Christ and of Mohammed. That has been the ideal which the propagators of all faiths have set before themselves to achieve in their early struggles. But, unfortunately, as religion gathered strength and as humanity rallied round its banner, unscrupulous politicians took hold of it to make it subserve as an instrument in the realization of their worldly ambitions and have dragged it down from its high pedestal to the quagmire of power and pelf. All that we attack in religion is irreligion; all that we abhor in Hinduism is un-Hindu; all that we dislike in Christianity is Un-Christian; all that we criticize in Islam is Un-Islamic. God gave us the earth to live, water to drink, air to breathe, light to enjoy and all without a farthing, but man has turned this heaven on earth into a veritable hell by his inordinate desire of greed and exclusive possession: The essence of all Religions is Communism. Communism in Religion is a spiritual communism before which material communism propagated by Marxists pales into insignificance. It is not only a communism between man and man but a higher communism, a communism which levels down the barriers between man and man and also the barriers which have, cycle after cycle of this world of Maya kept the creature away from his Creator, the man away from his Maker, the son away from his Father whom he has been searching from birth to death and death to birth.

W-77A, Greater Kailash (I)
New Delhi-48

Satyavrata

समाजशास्त्र के मूल तत्व
[ELEMENTS OF SOCIOLOGY]
भूमिका

संसार को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है—जड़ तथा चेतन। चेतन के फिर दो हिस्से हैं—मनुष्य 'स्वयं', तथा 'स्वयं' के अतिरिक्त चेतन के साथ सम्बन्ध रखने वाला सामाजिक पर्यावरण। 'सामाजिक पर्यावरण' के भी फिर दो हिस्से हैं—'विशेष' तथा 'सामान्य'। संसार के इन हिस्सों की तरह मनुष्य के ज्ञान के भी यही विभाग किए जा सकते हैं। जड़ पदार्थों के सम्बन्ध में ज्ञान 'भौतिक-विज्ञान' कहलाता है, जिसमे ज्योतिष, रसायन-शास्त्र, भौतिक-विज्ञान, यन्त्र-विद्या आदि आ जाते हैं। चेतन पदार्थों के सम्बन्ध में जिन विज्ञानों का मनुष्य के 'स्वयं' के साथ सम्बन्ध है, वे 'वैयक्तिक विज्ञान' कहलाते हैं। 'वैयक्तिक विज्ञानों' में मनोविज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र आदि गिने जाते हैं। वैयक्तिक के बाद मनुष्य के 'सामाजिक पर्यावरण' मे दो प्रकार के विज्ञान हैं—'विशेष सामाजिक विज्ञान' तथा 'सामान्य सामाजिक विज्ञान'। 'विशेष सामाजिक विज्ञान' मे इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, विधान-शास्त्र आदि सब आ जाते हैं, क्योकि ये समाज के विशेष-विशेष विषयों के विज्ञान हैं। इन सबके अतिरिक्त एक ऐसा विज्ञान भी है जो समाज के किसी विशेष विषय का अध्ययन नहीं करता, सब सामाजिक विषयों का सामान्य अध्ययन करता है। 'यह सामान्य सामाजिक विज्ञान' ही समाज-शास्त्र कहलाता है। 'समाज-शास्त्र' सब सामाजिक विज्ञानों का सार है, उनका निचोड़ है, इसलिए यह विज्ञानों का भी विज्ञान है, मानो सामाजिक विज्ञानों का मूर्धन्य है। जैसे हम 'भौतिक विज्ञानों' द्वारा अपने चारों तरफ की भौतिक दुनिया की जानकारी हासिल करते हैं, जैसे 'विशेष सामाजिक विज्ञानों' द्वारा संसार की भूत तथा वर्तमान घटनाओं एवं आर्थिक समस्याओ आदि की जानकारी हासिल करते हैं, वैसे 'सामान्य सामाजिक विज्ञान' द्वारा उस दुनिया की जानकारी हासिल करना भी हमारा कर्तव्य है। जिसे हम 'समाज' कहते हैं, वह 'समाज' जिसमें हम पैदा होते, जिसमे रहते, और जिसमें जीते-मरते हैं।

'समाज-शास्त्र' हमारे दिन-दिन के व्यवहार मे, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, पठित-अपठित, धनी-निर्धन, उच्च-नीच—हर किसी के जीवन में काम आता है। जब हम तलाक पर बहस करते हैं, बेकारी की समस्या की चर्चा करते हैं, लड़के-लड़कियों की सह-शिक्षा पर विचार करते हैं, परिवार टूटेगा या रहेगा, राज्य को वैयक्तिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का अधिकार है या नहीं, गृहोद्योग ठीक है या यन्त्रीकरण, संस्कृति तथा सभ्यता में क्या भेद है, धर्म का मनुष्य-जीवन में क्या स्थान है, धर्म-निरपेक्ष राज्य का नारा कहाँ तक उचित है—आदि समस्याओं पर वाद-विवाद करते हैं, तब हम 'समाज-शास्त्र' के ही क्षेत्र में होते हैं। असल में, देखा जाय तो ये ही समस्याएँ मनुष्य को हर समय घेरे रहती है, इसलिए 'समाज-शास्त्र' ही एक ऐसा विषय है जो मनुष्य को हर समय मानो चिपटे हुए है। व्याख्याताओं के व्याख्यान, पत्रकारों के लेख,

उपदेष्टाओं के उपदेश—सब 'समाज-शास्त्र' के किसी-न-किसी विषय को केन्द्र बनाकर चला करते हैं, इसलिए यह विज्ञान सबके काम का विज्ञान है, और इसका अध्ययन, मनुष्य जिस किसी भी क्षेत्र में हो, उसे उस क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टि का विचारक बना देता है।

यह ठीक है कि 'समाज-शास्त्र' का अध्ययन मात्र कुछ नहीं कर सकता। जिस समय भौतिक विज्ञानों का आविष्कार होने लगा था, उस समय लोग समझने लगे थे कि अब संसार उन्नति के मार्ग पर चलकर न जाने कहाँ-से-कहाँ पहुँच जायगा। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। आगे चलने के स्थान पर हम पीछे लौटे; उन्नति करने के स्थान पर भौतिक आविष्कारों के सहारे हम एक-दूसरे का गला काटने लगे। सामाजिक विज्ञानों के कारण भी समाज में काम कर रहे नियमों का ही पता चलेगा, इससे ज्यादा कुछ नहीं होगा। भौतिक-नियमों के ज्ञान से मनुष्य आगे भी बढ़ सकता है, इनका सदुपयोग तथा दुरुपयोग भी कर सकता है। सामाजिक नियमों के ज्ञान से भी इनका सदुपयोग तथा दुरुपयोग दोनों हो सकते हैं। हिटलर तथा मुसोलिनी ने सामाजिक नियमों के ज्ञान का दुरुपयोग किया, परन्तु क्योंकि किसी चीज का दुरुपयोग हो सकता है, इसीलिए तो वह बुरी नहीं हो जाती। विज्ञान ने उन्नति भी तो की है, और यह उन्नति भौतिक नियमों के ज्ञान से की है। हमारा अन्तरात्मा भला हो, तो हम भी सामाजिक विज्ञानों के ज्ञान से अपना ही नहीं, संसार का भला कर सकते हैं। इसी कारण जैसे हमारा अब तक भौतिक विज्ञानों की तरफ ध्यान था, वैसे अब विद्वानों का सामाजिक विज्ञानों, और उनमें भी खास कर 'समाज-शास्त्र' की तरफ ध्यान खिंचता चला जा रहा है।

यूरोप में तो अनेक वर्षों से यह विषय विश्वविद्यालयों में अन्य विषयों की तरह पढ़ाया जाता रहा है, परन्तु इधर कुछ वर्षों से भारत के विश्वविद्यालयों ने भी इस विषय की तरफ ध्यान दिया है, और बी० ए० तथा एम० ए० की पाठविधि में इसका समावेश किया है। इस समय विद्यार्थियों को अपने विषय का अध्ययन करने के लिए बीसियों पुस्तकों के लिए दौड़-धूप करनी पड़ती है, कोई एक ऐसी पुस्तक नहीं है जो उनकी पाठविधि के हर पहलू पर प्रकाश डालें, और इस तरतीब और सिलसिले से डाले जिस तरतीब और सिलसिले से ये विषय उनकी 'समाज-शास्त्र' की पाठविधि में रखे हुए हैं। यह पुस्तक इस दृष्टि से लिखी गई है कि विद्यार्थियों की इस माँग को यह एकदम पूरा कर दे, और उन्हें एक ही पुस्तक में अपनी हर बात का समाधान मिल जाय। पुस्तक को इस ढंग से लिखा गया है कि विद्यार्थियों के काम तो वह आये ही, साथ ही 'समाज-शास्त्र' की जानकारी हासिल करने वाले अन्य पाठक भी इस पुस्तक का पूरा लाभ उठा सकें।

पारिभाषिक शब्दों की समस्या को हल करने के लिए हमने हिन्दी के साथ अंग्रेजी के शब्द हर जगह दे दिए हैं। यह समय बीच का समय है। हिन्दी के शब्द बन रहे हैं, वे शब्द नये हैं, इसलिए उनके अर्थ उन शब्दों पर रूढ़ होने में कुछ समय लगेगा। अंग्रेजी भाषा में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध रूढ़ हो चुका है, इसलिए, इस बीच के युग में, हिन्दी-अंग्रेजी शब्दों को साथ-साथ रखने से विषय अधिक स्पष्ट होता दीखता है। जब विषय स्पष्ट हो जायगा, तब शब्द अपने-आप बनने लगेंगे। पुस्तक के अन्त में शब्दानुक्रमणिका अंग्रेजी से हिन्दी में दी गई है, हिन्दी से अंग्रेजी में नहीं। इसका यह कारण है कि हमारे साहित्य की जो अवस्था है, उसमें अध्यापक तथा विद्यार्थी अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों से तो परिचित हैं, हिन्दी के पारिभाषिक शब्द, क्योंकि अभी वे बने ही नहीं, बन रहे हैं, अतः उनसे वे अपरिचित हैं। वे पुस्तक में जो विषय ढूंढ़ना चाहें, अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों के सहारे आसानी से ढूंढ़ सकते हैं।

पुस्तक लिखने में सभी पुस्तकों से सहायता ली गई है, इसलिए सबका एक साथ आभार स्वीकार है।

हमारे मित्र, डा० रामनारायण सक्सेना, जो अब आगरा के 'समाज-शास्त्र' के इन्स्टीट्यूट के डाय-

रेक्टर हैं, 'समाज-शास्त्र' के माने हुए विद्वान् हैं। उन्होंने पुस्तक के 'प्रारम्भिक शब्द लिखे हैं, इसलिए उनका हार्दिक धन्यवाद है।

उत्तर प्रदेश की सरकार ने उत्कृष्ट पाठ्य-पुस्तक के तौर पर इस ग्रन्थ पर एक हजार रुपया पारितोषिक देकर लेखक को सम्मानित किया है—इसके लिए लेखक उत्तर प्रदेश सरकार का भी आभारी है। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद ने इस पुस्तक को हिन्दी मे समाज-शास्त्र की सर्वोत्तम पुस्तक घोषित कर लेखक को बारह सौ रुपये का मंगलाप्रसाद पारितोषिक देकर सम्मानित किया है—इसके लिए लेखक सम्मेलन का भी आभार स्वीकार करता है।

३ मार्च १९६२ को पंजाब सरकार ने चण्डीगढ़ में लेखक की हिन्दी-सेवाओ के उपलक्ष्य मे सार्वजनिक दरबार लगाकर और ग्यारह सौ रुपये की थैली भेंट कर जो सम्मान किया उसके लिए लेखक पंजाब सरकार का कृतज्ञ है।

यह हर्ष का विषय है कि यह पुस्तक संशोधित तथा परिवर्धित रूप मे पाठकों के सम्मुख आ रही है। यह संस्करण प्रथम संस्करण से दुगुना हो गया है और पिछले तृतीय संस्करण की अपेक्षा इसमे १०० पृष्ठ बढ गए हैं। मैटर इतना बढ जाने के कारण पुस्तक का दाम साढ़े बारह से पन्द्रह रुपया करना पडा है जो पृष्ठ-सख्या को देखते हुए कम ही है। अध्यापको तथा विद्यार्थियों ने इस पुस्तक को अपना कर लेखक का जो सम्मान किया है उसके लिए वह सबका आभारी है।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

मानव-शास्त्र

[ANTHROPOLOGY]

भूमिका

'मानव-शास्त्र' का अर्थ है—मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाला शास्त्र। इसके मुख्य तौर पर दो भाग हैं—'भौतिक मानव-शास्त्र' तथा सांस्कृतिक या सामाजिक मानव-शास्त्र'। 'भौतिक मानव-शास्त्र' में मनुष्य के भौतिक पहलू का अध्ययन किया जाता है। उदाहरणार्थ, मनुष्य का शरीर कब बना, कैसे बना, उससे रुधिर में कौन से तत्त्व हैं जो दूसरे प्राणियों में नहीं पाए जाते; कौन से शारीरिक गुण सन्तति में संक्रान्त होते हैं, कौन से नहीं होते, पर्यावरण का मनुष्य की शारीरिक भिन्नताओं पर क्या प्रभाव पड़ता है, एक ही रुधिर के लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध से प्रजातियों में क्या भेद पड़ जाता है, प्रजातीय भेद क्या है, भिन्न-भिन्न प्रजातियों के सम्मिश्रण से उनमें शारीरिक तथा मानसिक क्या-क्या भेद आ जाते है—इन सब बातो का अध्ययन 'भौतिक मानव-शास्त्र' के अन्तर्गत है। 'सांस्कृतिक या सामाजिक मानव-शास्त्र' में मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक संगठनो का अध्ययन किया जाता है। उदाहरणार्थ, परिवार की रचना क्या है, मनुष्य ने अपनी आर्थिक समस्या को हल करने के लिए सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक क्या-क्या उपकरण बनाए, राजा तथा प्रजा का भाव कब और कैसे पैदा हुआ, ईश्वर की पूजा या जादू के विचार का समाज में कैसे विकास हुआ—इन तथा ऐसी बातों का अध्ययन 'सांस्कृतिक' या 'सामाजिक' 'मानव-शास्त्र' के अन्तर्गत है। 'भौतिक' तथा 'सांस्कृतिक' या 'सामाजिक' दोनों प्रकार के मानव-शास्त्र का अध्ययन वर्तमान तथा प्राचीन देशों कालों की दृष्टि से हो सकता है। 'मानव-शास्त्र' का विज्ञान के रूप में प्रयोग मुख्य तौर पर प्राचीन मानव के 'भौतिक' तथा 'सांस्कृतिक' या 'सामाजिक' अध्ययन के लिए किया जाता है। हम भी इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग करेंगे और इस ग्रन्थ में प्राचीन मानव के 'भौतिक' तथा 'सांस्कृतिक' या 'सामाजिक' इतिहास का अध्ययन करेंगे।

मनुष्य के विकास आदि समस्याओं पर अटकलें तो देर से लड़ती चली आ रही हैं, परन्तु मानव-शास्त्र का विज्ञान के तौर पर अध्ययन लगभग पिछले सौ वर्ष से होने लगा है। पहले तो मानव-शास्त्र का रूप था यात्रियों द्वारा जंगली जन-जातियों के अद्‌भुत रीति-रिवाजों के किस्से-कहानियों की चर्चा करना, परन्तु १८५९ में जब डार्विन ने अपनी विकासवादी विचारधारा को संसार के सामने रखा, तब से मानव-शास्त्र को भी विचार करने के लिए एक नवीन पृष्ठभूमि का सहारा मिल गया। विकासवाद की कल्पना के एक निश्चित विचारधारा का रूप ले लेने के बाद से आदिवासियों के सम्बन्ध में यात्रियों के वर्णनों को विकासवादी दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। इस काल में मानव-शास्त्र पर जो-कुछ लिखा-पढ़ा जाता था, उसके आधार में विकासवाद की विचारधारा काम कर रही थी। यह मान लिया जाता था कि मनुष्य की 'भौतिक' तथा 'सांस्कृतिक' या सामाजिक' प्रगति नीचे से ऊँची तरफ और सरल से विषम की तरफ, अविकसित से विकसित की तरफ जा रही है। मानव-शास्त्री घर में बैठे-बैठे यात्रियों के वर्णनों के आधार पर आदि-मानव के परिवार, आर्थिक व्यवस्था, राजनैतिक तथा धार्मिक संगठन आदि के सम्बन्ध में विकास-

वादी दृष्टिकोण को आधार में रखकर एक ढाँचा खड़ा कर देते थे, जिन जन-जातियों के विषय में यह ढाँचा खड़ा किया जाता था उनके बीच में जाकर ये विद्वान् किसी बात को देखने-आजमाने का प्रयत्न नहीं करते थे। इनकी मानव-शास्त्रीय विचार-शृंखला का आधार विकासवाद था, वे जन-जातियाँ नहीं थीं जिन्हें, असल में, मानव-शास्त्रीय विचार-शृंखला का आधार होना चाहिए था।

मानव-शास्त्र के अध्ययन की इस कमी को अमरीका में श्री बोआस (Boas) तथा इंगलैंड में श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने अनुभव किया। इन दोनों मानव-शास्त्रियों ने मानव-शास्त्र को एक नई दिशा दी। इनका कहना था कि हमें घर में आराम कुर्सियों पर बैठे-बैठे, विकासवाद को वेद-वाक्य मानकर नहीं चलना। मानव-शास्त्र की प्रयोगशाला आजकल की जीवित जन-जातियाँ हैं। उन जन-जातियों में जाकर, उनमें रहकर, उनके साथ होकर उनके रीति-रिवाजों, उनकी धारणाओं, उनके पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक संगठनों का अध्ययन करने से ही हम उनके वास्तविक रूप को समझ सकते हैं। इस प्रकार के मानव-शास्त्र के अध्ययन को उन्होंने 'क्षेत्र-कार्य' (Field-Work) का नाम दिया। अमरीका में बोआस ने क्रोबर, लोई, हरस्कोविट्स आदि को 'क्षेत्र-कार्य' में दीक्षित किया और इन लोगों ने भिन्न-भिन्न जन-जातियों में जाकर उनके जीवन, रीति-रिवाजों, प्रथाओं आदि का अध्ययन कर मानव-शास्त्र को अपना ऋणी बनाया। इसी प्रकार इंगलैण्ड के मैलिनोवस्की ने १९१४ से १९१८ तक मैलेनेशिया में ट्रोब्रियेंड द्वीप-वासियों के बीच रहकर उनके जीवन का अध्ययन किया और 'क्षेत्र-कार्य' करने वाले अपने सरीखे विद्वानों की परम्परा को जन्म दिया।

कुर्सी पर बैठे-बैठे कल्पनाएँ लड़ाने वाले विकासवादियों तथा क्षेत्र-कार्य करने वाले इन मानव-शास्त्रियों में विचारों की अनेक टक्करें होती रहीं, जिनका वर्णन हम पुस्तक में जगह-जगह करेंगे, परन्तु 'क्षेत्र-कार्य' करने का एक प्रत्यक्ष फल राजनीतिक क्षेत्र में दीख पड़ा। कुर्सी पर बैठकर कल्पनाएँ लड़ाने वालों को तो किसी व्यक्ति के सम्पर्क में आने की आवश्यकता नहीं थी, परन्तु क्षेत्र-कार्य' करने वाले लोग जन-जातियों के सम्पर्क में आने लगे। इस सम्पर्क से तथाकथित सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित को एक-दूसरे के निकट आने का अवसर मिला। संसार के सब भागों में तथाकथित असभ्य तथा अशिक्षित मानव-जातियाँ मौजूद हैं, उन पर आजकल की सभ्य तथा शिक्षित जातियों का राज है, इस राज से अनेक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं, इन समस्याओं के पैदा होने का मुख्य कारण होता है अशिक्षित जन-जातियों के रीति-रिवाजों, उनकी प्रथाओं आदि से परिचित न होना। 'क्षेत्र-कार्य' करने वालों ने इस विचार को जन्म दिया कि अगर इन जन-जातियों के रीति-रिवाजों, प्रथाओं आदि के सम्बन्ध में जानकारी रखी जाय, तो इनके सम्बन्ध की अनेक समस्याएँ, जो बिना मतलब के उठ खड़ी होती हैं, आसानी से सुलझाई जा सकती है। इस दृष्टि से राजनीतिक क्षेत्र में मानव-शास्त्र के अध्ययन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने लगा, खासकर उन देशों में जिनमें 'साम्राज्यवाद' का बोलबाला था क्योंकि उन्हें दूसरे देशों के साथ ही नहीं उलझना पड़ता था, उन देशों की जन-जातियों के साथ उलझने से पैदा होने वाली समस्याओं को भी सुलझाना पड़ता था। ऐसे देशों में भारत भी एक ऐसा देश था जिसमें विदेशी शासन था। इन शासकों के लिए यहाँ की जन-जातियों का अध्ययन इसलिए आवश्यक हो गया जिससे इनके सम्बन्ध की शासन की गुत्थियों को सुलझाया जा सके।

इस उद्देश्य को सम्मुख रखकर लार्ड कर्जन के समय १९०५ में सर हर्बर्ट रिज़ले की अध्यक्षता में भारत में 'प्रजातीय पर्यवेक्षण विभाग' (Ethnogrphical Survey Department) खुला जिसका काम देश के भिन्न-भिन्न भागों की प्रजातियों का अध्ययन कर उनकी प्रथाओं, उनके रीति-रिवाजों, उनके धर्म आदि का अन्वेषण करना था। यह विभाग कुछ दिनों तक चलकर बन्द हो गया। १९१६ में जब भारत के पशुओं के पर्यवेक्षण के लिए नया विभाग खुलने लगा तब डा० नेलसन अनेन्डेल ने भारतीय प्रजातियों

के पर्यवेक्षण के विभाग को फिर से खोलने पर बल दिया। उस समय से मानव-शास्त्र को सरकारी तौर पर मान्यता प्राप्त होने लगी।

सरकारी तौर पर मान्यता प्राप्त होने के साथ-साथ इस समय अन्य संस्थाओं का भी मानव-शास्त्र की तरफ ध्यान खिंचने लगा। १९२१ में श्री आशुतोष मुकर्जी के उद्योग से कलकत्ता विश्वविद्यालय ने इस विषय को पाठ्य-विषयों में सम्मिलित किया। १९२१ में ही राँची के एस० सी० रॉय महोदय ने 'मैन इन इंडिया' नाम का एक त्रैमासिक पत्र जारी किया जिसका काम विशेष तौर पर आदिवासियों की चर्चा करना था। इसी समय बंगाल की 'एशियाटिक सोसायटी' के प्रकाशनों में भी जन-जातियों के सम्बन्ध में कई खोजपूर्ण लेख प्रकाशित हुए।

१९४५ में डॉ० बी० एस० गुहा तथा डॉ० सेमुअर सेवेल को भारत सरकार ने मानव-शास्त्र के एक पृथक् विभाग की योजना बनाकर सरकार के सम्मुख उपस्थित करने का आदेश दिया। इस योजना के अनुसार १९४६ में भारत सरकार की तरफ से कलकत्ता में 'मानव-शास्त्र-विभाग' खोल दिया गया जिसके डायरेक्टर का काम श्री गुहा के सुपुर्द हुआ। इस विभाग के अधीन पाँच वर्ष की योजना बनाई गई और पाँच वर्षों में खर्च करने के लिए ८ लाख रुपया इस विभाग को दिया गया। इस समय मानव-शास्त्र का पृथक् विभाग भारत सरकार के केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय के अधीन कलकत्ते में काम कर रहा है। इस विभाग में अनुसंधान के लिए आठ विभाग खोले गए है। ये आठ विभाग है—'सामाजिक मानवशास्त्र-विभाग', 'सामाजिक मनोविज्ञान-विभाग', 'भाषा-विभाग', 'मानव जीव-शास्त्र तथा एक्स-रे विभाग', 'नृ-वंश-विभाग', 'जीव-रसायन-विभाग', 'तुलनात्मक आकार विज्ञान विभाग' (जिसमें शरीर रचना और रीढ़दार जन्तु-शास्त्र सम्मिलित हैं) तथा 'देह-विज्ञान-विभाग'।

मानव-शास्त्र के उक्त आठों विभागों का अध्ययन करने के लिए भारत सरकार की तरफ से तीन अनुसंधान केन्द्र खुले हुए हैं। ये अनुसंधान-केन्द्र शिलांग, नागपुर तथा पोर्टब्लेयर (अण्डमान तथा निकोबार द्वीप-समूह) में स्थापित हैं और एक केन्द्र दक्षिण भारत में खोले जाने की योजना विचाराधीन है। जहाँ-जहाँ आदिवासियों की संख्या ज्यादा है, वहाँ-वहाँ उक्त प्रकार के केन्द्र खोलकर भारत सरकार मानव-शास्त्र के कार्य को 'क्षेत्र-कार्य' (Field-Work) की पद्धति के अनुसार आगे बढ़ाना चाहती है।

सरकारी तौर पर मानव-शास्त्र के अध्ययन के साथ-साथ भारत के विश्वविद्यालयों ने भी इस विषय की तरफ विशेष ध्यान देना शुरू कर दिया है। १९२१ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में मानव-शास्त्र के पढ़ाये जाने की बात हम ऊपर कह आए हैं। १९४७ में भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय की प्रेरणा से दिल्ली विश्वविद्यालय के इस समय के वाइस चान्सलर सर मारिस ग्वायर ने इस विषय को दिल्ली विश्वविद्यालय में जारी किया। इस संस्था के अध्यापकों तथा छात्रों ने उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले के जौनसार-बावर तथा टिहरी-गढ़वाल की जन-जातियों में जाकर 'क्षेत्र-कार्य' किया। १९५४ में इन्हीं लोगों ने कुल्लू की घाटी की कनेत जनजाति का भी अध्ययन किया। इसी साल इन लोगों ने प्लानिंग-कमीशन के आग्रह पर इस बात की पड़ताल की कि अपराधी जन-जातियों के कानून (Criminal Tribes Act) के रद्द किए जाने के बाद से दिल्ली की साँसी नाम की अपराधी जन-जाति का किस हद तक पुनर्वास हुआ और किस हद तक नहीं हुआ।

१९५० में डॉ० मजूमदार की देख-रेख में लखनऊ विश्वविद्यालय ने भी 'मानव-शास्त्र' का अध्यापन शुरू कर दिया। इनकी मण्डली ने भी कानपुर में तथा देहरादून के जौनसार-बावर में 'क्षेत्र-कार्य' किया। इसके बाद से तो अनेक विश्वविद्यालयों ने इस शास्त्र का अध्यापन जारी कर दिया है। कलकत्ता, दिल्ली तथा लखनऊ के अतिरिक्त आगरा, सागर, बिहार, पटना, बड़ौदा, गौहाटी, मद्रास तथा हैदराबाद—इन स्थानों के विश्वविद्यालयों में अब 'मानव-शास्त्र' एक मुख्य विषय के तौर पर पढ़ाया जाने लगा है।

जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है तब से भारत सरकार तथा विश्वविद्यालयों के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों में भी मानव-शास्त्र के प्रति दिलचस्पी बढ़ती चली जा रही है। इस सम्बन्ध में कई पत्र भी प्रकाशित हो रहे हैं। लखनऊ विश्वविद्यालय से स्व० डॉ० मजूमदार की देखरेख में अंग्रेजी की एक त्रैमासिक पत्रिका १९५० से 'ईस्टर्न ऐन्थ्रोपौलोजिस्ट' नाम से निकल रही है। दिल्ली में आदिम जातियों की समस्याओं को मुख्य विषय बनाकर एक 'आदिम जाति सेवा संघ' स्थापित है जिसके प्रधान भारत के राष्ट्रपति तथा उप-प्रधान ट्राइबल कमिश्नर महोदय हैं। इस संघ की तरफ से 'वन्य-जाति' नाम की एक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित हो रही है। इन दोनों पत्रिकाओं के अतिरिक्त दिल्ली विश्वविद्यालय के मानव-शास्त्र विभाग की तरफ से एक द्वि-वार्षिक पत्रिका प्रकाशित हो रही है, जिसका नाम है—'ऐन्थ्रोपौलोजिस्ट'। इन पत्रों में भी मानव-शास्त्र के भिन्न-भिन्न पहलुओं तथा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जो लोग कार्य कर रहे हैं, उनकी गतिविधियों पर प्रकाश डाला जाता है।

जैसा हमने ऊपर कहा, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से भारत सरकार ने 'मानव-शास्त्र' पर विशेष ध्यान देना शुरू किया है। विदेशों के भी कई मानव-शास्त्री इस देश की जन-जातियों के अध्ययन के लिए आने लगे हैं। इस अर्से में जो लोग आए हैं, उनमें से मुख्य-मुख्य मानव-शास्त्री हैं—ग्रीस के प्रिंस पीटर, इंगलैण्ड के हैमनडोर्फ़ तथा ड्यूमोंट, अमरीका के ओस्कर ल्यूइस तथा मौरिस ओपलर। इन सब मानव-शास्त्रियों को भारत सरकार का पूरा-पूरा सहयोग प्राप्त रहा है।

भारत सरकार की तरफ से कलकत्ते में 'मानव-शास्त्र विभाग' खुला हुआ है, जो सरकार द्वारा नियुक्त एक डायरेक्टर की देख-रेख में कार्य करता है। भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में भी 'मानवशास्त्र-विभाग' खुले हुए हैं जो भारत सरकार के 'मानव-शास्त्र-विभाग' से सर्वथा स्वतन्त्र हैं, और स्वतन्त्र रूप से ही अपना-अपना कार्य करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बहुधा दोनों विभाग एक ही जगह काम करने लगते हैं, दोहरा कार्य होने लगता है और किन्हीं-किन्हीं समस्याओं पर दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध विचार प्रकट करने लगते हैं। इस दोहरेपन को हटाना श्रेयस्कर है। इसके साथ भारत सरकार को यह उद्योग करना चाहिए जिससे सरकारी विभाग तथा विश्वविद्यालयों के मानव-शास्त्रीय विभाग का परस्पर सहयोग हो सके।

ऊपर हमने जो-कुछ लिखा उससे स्पष्ट है कि आज के युग में मानव-शास्त्र के अध्ययन की तरफ सरकार का, विश्वविद्यालयों का तथा जनता का ध्यान दिनोदिन अधिकाधिक आकर्षित हो रहा है। ऐसी हालत में इस विषय पर हिन्दी में उच्चकोटि के ग्रन्थों का होना भी आवश्यक है। यही सब-कुछ सोचकर हमने 'मानव-शास्त्र' पर यह ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ के लिखने में इस विषय के प्राय. सभी हिन्दी-अंग्रेजी ग्रन्थों का सहारा लिया गया है, इसलिए एतद्विषयक सब ग्रन्थों का हम एक साथ आभार स्वीकार करते हैं।

यह ग्रन्थ का नवीन संस्करण है। पहले दो संस्करण अल्पकाल में निकल गए—यह विषय की कठिनता तथा जटिलता को देखते हुए आशातीत सफलता है। पुस्तक के सम्बन्ध में जिन महानुभावों ने अपने निर्देश भेजे उन्हें इस संस्करण में ध्यान में रखा गया है। 'मानव-शास्त्र' के विषय में जो जिज्ञासा दिनोदिन बढ़ रही है उसे इस ग्रन्थ ने कुछ अंश तक पूरा किया है, और हमें पूरी आशा है कि यह संस्करण अपने संशोधित रूप में उस आशा को और अधिक पूर्ण करेगा।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

सामाजिक विचारों का इतिहास
[HISTORY OF SOCIAL THOUGHT]
भूमिका

पिछले दिनों सानफ्रांसिस्को में डाक्टरों की एक कान्फ्रेंस हुई। उसमें एक स्वीडिश डाक्टर ने कहा कि वह एक ऐसी औषधि के निर्माण मे लगा हुआ है जिसे किसी शहर के जलाशय के पानी में घोल दिया जाय तो उसे पीने वाले सब लोग अपने विचारों में ढीले पड़ जायेंगे और उन्हें जो-कुछ समझाया जायगा उसी को मान जायेंगे। कम्यूनिस्ट देशो में इसी काम के लिए 'विचार-प्रक्षालन' (Brainwashing) की प्रक्रिया का सहारा लिया जाता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति अपनी विचारधारा में ढीला पड़ जाता है, उसे जो-कुछ समझाया जाता है, उसी को ठीक मानने लगता है। अभी तक तो यह काम विचारों की प्रबलता के आधार पर किया जाता था, अब यह काम भी औषधि के प्रयोग से किये जाने का सोचा जा रहा है।

ऐसी बातें लोग क्यों करते हैं, और क्यों ऐसा सोचते हैं ? ऐसा इसलिए करते और इसलिए सोचते हैं क्योंकि विचार एक प्रबल वस्तु है। संसार जो-कुछ है विचार का स्थूल रूप है। संसार में उथल-पुथल हुई, एक राज्य आया दूसरा गया, संस्कृतियों, सभ्यताओ ने जन्म लिया, वे बढ़ीं, उनका नामोनिशान मिट गया—यह सब क्या था अगर विचारों का खेल नहीं था। असली लड़ाई विचारो की लड़ाई है, विचार जब लड़ते हैं तब उन्हीं का स्थूल रूप घोड़ो की टापो और तोपों की दनदनाहट में सुनाई देने लगता है। संसार में खून की धारें तभी बहती हैं जब पहले विचार के जगत् में तलवारें चमकने लगती हैं, शान्ति तभी आती है जब पहले विचार के जगत् में प्रेम की गंगा बहने लगती है।

विचार एक अद्भुत वस्तु है। विचार संसार को बना सकता है, यही संसार को बिगाड़ सकता है। आज हमारी अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक संस्थाएँ बनी हुई हैं। इन सब का स्रोत विचार ही है। दुनिया में कुछ विचारक आये। उन्होने मनुष्य की तथा समाज की समस्याओं को सोचा-समझा, सोच-समझ कर कुछ सिद्धान्त बनाये, कुछ निष्कर्ष निकाले। इन सिद्धान्तों में कुछ इतने बलवान् थे कि उन्होंने संसार का नक्शा बदल दिया, क्रान्तियाँ कर डालीं, संसार को कुछ-का-कुछ बना दिया।

संसार के इस प्रकार के सबल विचार कौन-से हैं जिनसे दुनिया का नक्शा बदला है या बदल सकता है—इसी की चर्चा इस पुस्तक में की गई है। जिन विचारकों की हमने इस पुस्तक में चर्चा की है वे अपने विचारो के अनुसार दुनिया को ढालना चाहते थे। कुछ अपने उद्देश्य में सफल हुए, कुछ नहीं हुए। कोई विचारक अपने उद्देश्य में सफल हो या न हो, हम लोग जो आज दुनिया की समस्याओं पर सोचते-विचारते हैं, हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि सामाजिक क्षेत्र में विचारों में किस-किस प्रकार की उड़ान अब तक ली गई है। इसलिए यह जानना आवश्यक है ताकि हम भी अपने विचारों को उनके विचारों के साथ मिलायें, उनके विचारों के साथ अपने विचारों की तुलना करें। हो सकता है, विचारों की इस घुमरघेरी में से गुजरते हुए हम भी दुनिया को कोई ऐसा विचार दे सकें जो समाज का ढाँचा बदल दे, संसार की अनगिनत तथा अनन्त समस्याओं का समाधान कर सके।

यही कारण है कि भारत के तथा यूरोप के मुख्य विचारकों तथा उनकी विचारधाराओं का हमने इस पुस्तक में वर्णन किया है। समाजशास्त्र के विद्यार्थी जितने भी सामाजिक विचारकों का अध्ययन करेंगे उतना ही उनका अपना विचार-क्षितिज विस्तृत होता जायगा, और उतना ही वे दूसरे विचारकों को भी आसानी से समझ सकेंगे। समस्याएँ सबकी एक ही है, समाधान जुदा-जुदा हैं, इसलिए जितने भी विचारकों के समाधान हमारी समझ में आयेंगे उतनी ही हमारी गुत्थियाँ सुलझेंगी। भारतीय विश्व-विद्यालयों ने जितने विचारकों का अध्ययन आवश्यक समझा है उन सबका वर्णन इस पुस्तक में है, उनसे अधिक का भी वर्णन है। इन सब विचारकों का अध्ययन कर विद्यार्थी स्वयं भी एक सामाजिक विचारक बन सकता है, इसलिए हमने अधिक-से-अधिक विचारकों का वर्णन किया है।

विश्वविद्यालयों की माँग को तो यह पुस्तक पूरा करेगी ही, साथ ही हिन्दी के उस वर्ग की माँग को भी पूरा करेगी जो अपने अध्ययन को विश्वविद्यालयों की पाठ-विधि तक ही सीमित न रख कर व्यापक बनाना चाहते हैं।

हिन्दी में इस विषय की अन्य पुस्तकों के सम्बन्ध में तो लेखक टिप्पणी नहीं करना चाहता, परन्तु इस पुस्तक की विशेषता यह अवश्य है कि इसमें जो-कुछ लिखा गया है उसे ग्रन्थकर्त्ता ने संसार के विचारकों की विचारधारा को समझकर लिखा है, जब तक वह विचारधारा उसे स्पष्ट नहीं हुई तब तक उसने लेखनी को विश्राम दिये रखा है, और साथ ही इसमें जो-कुछ लिखा है वह इतना स्पष्ट लिखा है कि पढ़ने वाले की वह समझ में आ सकता है। किसी ग्रन्थ के विषय में इस बात को उसकी विशेषता कहना कुछ अटपटा-सा लगता है, क्योंकि किसी भी ग्रन्थ में विचार की स्पष्टता का होना तो आवश्यक ही है, परन्तु हिन्दी में इस विषय के जो ग्रन्थ देखने में आये हैं उन्हें ध्यान में रखते हुए इस ग्रन्थ की इस विशेषता पर विशेष बल देना आवश्यक हो गया है।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

भारत की जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ

[TRIBES AND INSTITUTIONS OF INDIA]

भूमिका

'वनस्पति के' जीवन को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। 'बीज' जिससे वृक्ष-पौधे फूटते हैं, जो वनस्पति का आधार है; 'शाखा-प्रशाखा-पत्ती-पुष्प-फल' जो वनस्पति का मानो शरीर है; वनस्पति का 'आभ्यन्तर-रस' जो उसे जीवन प्रदान करता है। 'प्राणि-जगत्' को भी इसी तरह तीन भागों मे बाँटा जा सकता है। प्राणी का 'रज-वीर्य' जिससे वह जीवन शुरू करता है, जो उसका मूलाधार है; प्राणी के 'अंग-प्रत्यंग' जो उसके शरीर हैं; प्राणी का 'व्यवहार', उसकी शिक्षा-दीक्षा' जो उसका जीवन है। वनस्पति तथा प्राणी की तरह 'समाज' के भी इसी प्रकार के तीन भाग हैं। समाज के 'मूल तत्त्व' जो हर समाज में काम कर रहे हैं; समाज की 'संस्थाएँ' जो मानो समाज रूपी वनस्पति की शाखा-प्रशाखाएँ या समाज रूपी प्राणी के अंग-प्रत्यंग हैं; समाज का 'कल्याण' या अकल्याणमय जीवन जो उस समाज को जीवित या मृत, उन्नत या अवनत बनाते हैं।

समाज की उक्त तीन बातों को सम्मुख रख कर हमने तीन ग्रन्थ लिखे हैं। समाज के मूल तथा आधारभूत तत्त्वों को दृष्टि में रखकर 'समाजशास्त्र के मूल-तत्त्व' ग्रन्थ को लिखा है जिसमे समाज के उन सब मूल तत्त्वों का वर्णन है जो प्रत्येक समाज के आधार में काम करते हैं; समाज के शरीर अथवा समाज की संस्थाओं को दृष्टि में रखकर 'भारत की जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ' ग्रन्थ लिखा है जिसमे इस देश के आदिवासियों तथा हिन्दू-मुसलमान आदि निवासियों की संस्थाओ का विस्तार से वर्णन है; समाज के कल्याण या अकल्याणमय जीवन को दृष्टि मे रखकर 'समाज-कल्याण तथा सुरक्षा' नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें इस देश की शिक्षा, निर्धनता, बेकारी, अपराध, कल्याण-योजनाओं आदि का वर्णन है, उन सब समस्याओं का वर्णन है जिनके समाधान से समाज उन्नत हो सकता है। इन तीनों ग्रन्थो के समन्वय से समाज के मूल, समाज के शरीर तथा समाज जीवन—समाज के इन तीनों पहलुओं पर प्रकाश पड़ जाता है।

अभी तक हमारे दो ग्रन्थ ही प्रकाशित हुए थे—'समाजशास्त्र के मूल तत्त्व' और 'समाज-कल्याण तथा सुरक्षा'। हमारे मित्रों का अनुरोध था कि समाजशास्त्र के विषय पर हमारी रचनाओं को तब तक वे अधूरा मानते रहेंगे जब तक हम 'भारत की संस्थाओं' पर भी एक ग्रन्थ नहीं लिखेंगे। मित्रों के इस आग्रह को टालना हमारे लिए जब कठिन हो गया तब इस ग्रन्थ को न लिखना भी हमारे लिए कठिन हो गया। आत्म-सन्तोष के अतिरिक्त मित्रों के उक्त आग्रह को न टाल सकना— इन दो बातों से इस ग्रन्थ की रचना हुई है।

हमने इस ग्रन्थ में केवल यूरोपियन विद्वानों की बातों का उल्लेख नहीं किया। जहाँ उसकी जरूरत पड़ी वहाँ किया भी है, परन्तु भारत की संस्थाओं पर भारतीय दृष्टिकोण क्या है—इसको अधिक महत्त्व दिया है। वर्ण-व्यवस्था का आधार क्या था, आश्रम-व्यवस्था क्या थी, संस्कारों की प्रथा के आधार में

क्या तत्त्व काम कर रहे थे, गृहस्थ-आश्रम का आदर्श क्या था, वैदिककाल में स्त्रियों की क्या स्थिति थी—इन सब विषयों पर हमने प्रचलित विचार-सरणी को न अपना कर इनकी तात्त्विक विवेचना की है, और हमें पूर्ण आशा है कि पाठकों को इन विचारों में कुछ मौलिकता का आभास मिलेगा। हमने इस ग्रन्थ में अपनी लेखनी को खुली छूट दी है, इसलिए ग्रन्थ कुछ बड़ा हो गया है, परन्तु बड़ा होने से इसकी उपादेयता भी कुछ बढ़ ही गई है।

समाज से सम्बन्ध रखने वाले सब विषयों का इस पुस्तक में समावेश है इसलिए यह पुस्तक सर्व-साधारण के काम की तो है ही, परन्तु विश्वविद्यालयों की 'समाज-शास्त्र' विषयक स्नातक तथा स्नात-कोत्तर कक्षाओं में भी इसका उपयोग किया जा सकेगा—इसमें सन्देह नहीं। पुस्तक के आगामी संकरणों को अधिक उपयुक्त बनाने के लिए जो महानुभाव अपने निर्देश भेजेंगे उनका हृदय से स्वागत किया जायेगा।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

विद्या विहार

३० जून, १९६०

होमियोपैथिक औषधियों का सजीव चित्रण

[HOMOEOPATHIC DRUG PICTURES]

भूमिका

१९३० के लगभग की बात है। मैं मसूरी गया हुआ था। एक दिन मेरे एक मित्र जो देहरादून के एस०पी० थे, मेरे ठिकाने पर आये और कहने लगे कि उन्हें नींद नहीं आती, इसका कोई इलाज है ? मुझे तब तक ऐलोपैथी तथा आयुर्वेद से ही परिचय था, होमियोपैथी का मुझे तब तक ज्ञान नहीं था, इसलिए ब्रोमाइड और सर्पगंधा आदि का मैंने नाम ले दिया। वे कहने लगे कि इन दवाओं को उन्होंने आजमा लिया है, इन से नींद तो आ जाती है, परन्तु इन की नींद-नींद न होकर बेहोशी होती है। उन्हें डाक्टरों ने वायु-परिवर्तन की सलाह दी थी, परन्तु मसूरी के जलवायु से उन्हें कुछ लाभ न हुआ, वे दूसरी जगह अपना इलाज कराने चले गये।

मई १९३५ से मैं गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का उपकुलपति चला आ रहा था। १९३७-३८ मे कुछ परेशानियों से मुझे भी उन्निद्र-रोग हो गया। संस्था की रोजमर्रा की समस्याओं के साथ नींद भी न आना—एक विकट कठिनाई खड़ी हो गई। मैंने भी ब्रोमाइड लेना शुरू किया, परन्तु उस से मुझे भी वही अनुभव हुआ जो मेरे एस० पी० मित्र को हुआ था। वे अब तक ठीक हो चुके थे और अपने काम पर जुटे थे। मैंने उन्हें पत्र लिखकर पूछा कि उन्होंने क्या इलाज करवाया था? उनका उत्तर आया कि वे मुरादाबाद के एक होमियोपैथ के इलाज से ठीक हुए थे। मेरे भी एक होमियोपैथ-मित्र बिजनौर मे रहते थे। मैं छुट्टी लेकर उनके पास चला गया। प्रात:काल के १०-११ बजे का समय था। मैं उनके घर पर बैठा था। उन्होंने अपने बक्से में से ४-५ छोटी-सी, मीठी-मीठी गोलियाँ मेरे मुँह में डाल दीं, और पलंग पर लेट जाने को कहा। लेटते ही मैं सो गया, और दो घण्टे के बाद जब आँख खुली तो ऐसा तरो-ताजा होकर उठा मानो मुझे कोई रोग ही नही था। इस समय तक मैं यह तो जान चुका था कि 'होमियोपैथी' नाम से एक चिकित्सा-पद्धति है, परन्तु इसकी औषधि के प्रयोग का अनुभव कभी नही किया था। होमियोपैथी की औषधि के अपने ऊपर प्रयोग का यह पहला अवसर था।

पहले ही दिन के अनुभव से मेरा अपने मित्र की योग्यता और होमियोपैथी पर विश्वास जम गया और उनका मेरे रोग को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने का उत्साह बढ़ गया। रात को सोने से पहले मैंने उन्हें फिर दवा देने को कहा तो बोले—होमियोपैथी में बार-बार दवा नहीं दी जाती, बिना दवा के नींद आ जायेगी। मैं लेटा, परन्तु नींद नहीं आयी। ११-१२ बजे मैं उनके मकान पर गया, और उन्हें जगाकर कहा कि भाई नींद तो नही आ रही। उन्होने फिर कुछ गोलियाँ दे दी और अपने ही कमरे में सो जाने को कहा। वे तो दवा देते ही खुर्राटे भरने लगे किन्तु मैं रात भर करवटें बदलता रहा। सवेरे मैंने कहा कि मुझे तो रात भर नींद नहीं आयी, तो बोले—२०० शक्ति की दवा दी थी, १००० शक्ति की देनी पड़ेगी। उन्होंने १००० शक्ति की दवा मेरे मुँह में डाल दी। उससे भी नींद नही आयी, और वे और ऊपर

चढ़े। दो-चार दिन में वे सी० एम० तक पहुँच गये, और तब मुझे नये-नये लक्षण अनुभव होने लगे—ऐसे लक्षण जो मुझे पहले अनुभव नहीं हुए थे। जरा-जरा-सी मीठी गोलियाँ थीं, इसलिये मैं यह तो सोच ही नहीं सकता था कि ये लक्षण इस औषधि के भी हो सकते हैं, इसलिये मैं यही सोचता रहा कि मेरा रोग होमियोपैथी के बस का नहीं रहा, यह स्वयं ही बढ़ता जा रहा है।

मेरी और उनकी बेतकल्लुफी थी, इसलिये मैं उनकी होमियोपैथी की पुस्तकें लेकर पढ़ने लगा। सबसे पहले मेरे हाथ में कैन्ट की 'मैटीरिया मैडिका' पड़ी। अचानक मैं इस ग्रन्थ में ऑरम मेटैलिकम का विवरण पढ़ रहा था, उसके सब लक्षण मेरे ऊपर पूरे घट रहे थे। मैंने डाक्टर को कहा—यह दवा मुझे क्यों नहीं देते? बोले—यही दवा तो दी है, परन्तु देने में गलती हो गई है। यह बहुत गूढ़ क्रिया करने वाली औषधि है, इसे न तो बार-बार देना चाहिए था, न इतनी जल्दी उच्चशक्ति तक जाना चाहिये था। तुम्हारे मेरे पास लगातार बने रहने और मेरे घबरा कर एक शक्ति की दवा के बाद झट उससे ऊँची शक्ति की उसी दवा को बार-बार दिये जाने से अब औषधि गडबडाने लगी है। इसलिये अब हाथ-पर-हाथ धर कर बैठे रहने या दवा का असर दूसरी दवा से नष्ट कर देने के सिवाय कोई चारा नहीं, परन्तु अब मुझे उसमें भी डर लगता है।

वे कहने लगे कि होमियोपैथी में औषधि का चुनाव कर लेना ही काफी नहीं है, औषधि तथा रोग के स्तर का एक होना, औषधि का ठीक समय पर देना, समय से पहले न देना, ठीक शक्ति की औषधि का देना—दर्जनों बातें हैं जिन पर ध्यान देना लाज़मी होता है—उसी में कहीं भूल हो गई है।

उन बेचारों का २० साल हुए देहान्त हो चुका है, परन्तु उनकी ईमानदारी को मैं अब तक भुला नहीं सका। उन्होंने अपनी गलती बिना लाग-लपेट के स्वीकार कर ली, और मुझे कहा कि होमियोपैथी में सबसे बड़ी कठिनाई किसी कठिन रोग में अपने सगे-सम्बन्धी-मित्र का इलाज करना होता है क्योंकि जहाँ ऐलोपैथी-आयुर्वेद-यूनानी में रोज-रोज दवा दी जाती है, वहाँ होमियोपैथी में रोज-रोज दवा नहीं दी जाती, दे दी जाय तो रोग घटने के स्थान में गडबडा सकता है और औषधि का अपना रोग रोगी के रोग में आ उलझ सकता है। क्योंकि मरीज समझ नहीं पाता कि बिना दवा के रोग कैसे दूर होगा इसलिए वह दवा लेने पर आग्रह करता है, और डाक्टर भी कभी-कभी बिना दवा की गोलियाँ देने के स्थान में घबरा कर जब दवा नहीं दी जानी चाहिये तब तब दवा दे डालता है, ऊँची शक्ति पर चला जाता है, दोहरा देता है, परिणामस्वरूप रोग घटने के स्थान पर गडबड़ा जाता है, कभी-कभी दवा का ही अपना रोग उत्पन्न हो जाता है।

मैं अपने मित्र के इलाज से ठीक तो नहीं हुआ, उल्टे औषधि का नया रोग उत्पन्न हो गया, परन्तु इस बीमारी में उनके सम्पर्क में आकर एक नवीन चिकित्सा-पद्धति में मेरी रुचि जागृत हो गई। यह एक विलक्षण चिकित्सा-पद्धति थी। इसमें औषधि की *मात्रा जितनी कम होती जाती थी उतनी* उसमें रोग को दूर करने की शक्ति बढ़ती जाती थी; इसमें दवा के लगातार सेवन करने के स्थान में दवा का एक बार या देर-देर में सेवन करना महत्त्व रखता था; इसमें दवा को बार-बार देने से दवा का अपना नया रोग भी उत्पन्न हो जाने का डर रहता था; यह पद्धति प्रचलित पद्धतियों से बिल्कुल निराली थी।

मैं अपनी बीमारी के दिनों में कई जगह भटका। एक महीने मेरठ रहा, फिर लाहौर चला गया—भिन्न-भिन्न इलाज कराये, अन्त में एक साल तक घोर कष्ट पाने के बाद स्वस्थ हो गया, परन्तु इस अर्से में होमियोपैथी की औषधियों का अपने ऊपर जो प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था, दवा से एकदम लाभ भी हुआ, और दवा के ठीक ढंग पर न दिए जाने पर हानि भी हुई—इस अनुभव ने मुझे इस विलक्षण चिकित्सा-पद्धति की तरफ बरबस खींच लिया।

१९३८ में मेरी बीमारी के दिनों में मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल महादेवी कन्या पाठ-

शाला कालेज देहरादून की प्रिन्सिपल नियुक्त हो गई थी। उन दिनों एक दिन मैं देहरादून के बाजार में से गुजर रहा था कि एक दुकान पर एक भगवे वस्त्रधारी सज्जन बैठे दिखलाई दिए। उनके पास होमियोपैथिक औषधियों का एक बक्सा था, मुफ्त दवा बाँटते थे। उनका पूरा नाम क्या था—यह तो मुझे स्मरण नहीं रहा, परन्तु वे अपने को भटनागर कहते थे। मैं उनके पास बैठ गया, और होमियोपैथी की चर्चा करने लगे। जब उन्हें पता चला कि मैं गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का उपकुलपति हूँ और मेरी पत्नी स्थानीय कालेज की प्रिन्सिपल हैं, तब उनकी मेरे प्रति दिलचस्पी कुछ जाग उठी। मैने जब उन्हे कहा कि मुझे होमियोपैथी से लाभ भी हो चुका है, नुकसान भी हो चुका है, इसलिए मुझे इसकी गहराई में जाने की उत्कट इच्छा है, तब वे अपना होमियोपैथी का पूरा ज्ञान मुझे देने के लिए उत्सुक हो उठे और मेरे निवास-स्थान पर आकर लगातार महीनों इस पद्धति पर गहराई मे चर्चा करते रहे। मैं और मेरी पत्नी—हम दोनों उनकी बातों को ध्यान से सुनते रहे और उन्हें भी इस बात की प्रसन्नता रही कि उनके ज्ञान का लाभ उठाने वाला कोई उन्हे मिल गया। उनका भी कई साल हुए देहान्त हो चुका है। जहाँ मेरे बिजनौर के मित्र होमियोपैथ डाक्टर ने मेरी होमियोपैथी के विषय मे रुचि को जागृत किया, वहाँ श्री भटनागर ने मेरी होमियोपैथी के ज्ञान की गाड़ी को पटरी पर डाल दिया।

१९३८-३९ के बाद से तो मुझे होमियोपैथी ने व्यसन के रूप मे पकड़ लिया। मैने कलकत्ते से होमियोपैथी का सारा साहित्य मँगवाया और मेरे दिन-रात के अध्ययन का मुख्य विषय होमियोपैथी की पुस्तकें हो गया। उन दिनो अनेक प्रसिद्ध होम्योपैथ डाक्टरो को मैने गुरुकुल विश्वविद्यालय मे निमन्त्रित कर इस पद्धति पर उनके व्याख्यान करवाए। डॉ० युद्धवीर सिंह जी दिल्ली के प्रसिद्ध होम्योपैथ हैं। उन्हे व्याख्यानों के लिए निमन्त्रित किया। लायलपुर में एक डॉ० हरबंस सिंह हुआ करते थे, उनके व्याख्यान करवाए। एक दृष्टि से मैंने संस्था में होमियोपैथी का वातावरण उत्पन्न कर दिया।

इन दिनों मैंने शौकिया होमियोपैथिक औषधियों का रोगियों को देना शुरू कर दिया था। गुरुकुल विश्वविद्यालय में एक प्रोफेसर थे—लालचन्द जी, उनके पिता को प्रोस्टेट-ग्लैंड की शोथ की शिकायत थी, कैथीटर लगाने से पेशाब आता था, पेशाब मे जलन होती थी, बड़े परेशान थे, मैंने उन्हे कैन्थरिस की कुछ मात्राओं से ठीक कर दिया, तो वे मेरे ऐसे भक्त बने कि कहते लगे—मैं आपकी कुछ सेवा करना चाहता हूँ, कुछ-न-कुछ भेंट तो अवश्य स्वीकार करनी ही होगी। मैंने हजार मना किया, कहा कि परमात्मा ने मुझे सब-कुछ दिया है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, परन्तु वे न माने। अन्त मे, उन्होने कहा कि होमियोपैथी के साहित्य को ही कुछ पुस्तकें मँगवा लीजिए। उन दिनों बम्बई की राय एण्ड कम्पनी ने बोगर की 'कार्ड-रिपर्टरी' प्रकाशित की थी। प्रो० लालचन्द जी के पिता ने वह 'कार्ड-रिपर्टरी' तथा बोनिनघॉसन की 'कैरेक्टरिस्टिक्स एण्ड रिपर्टरी' मँगवाकर मुझे भेंट कर दी। इस पर भी उनको सन्तोष नहीं हुआ। वे कहने लगे कि आपने मेरा इतना बड़ा कष्ट दूर किया है कि मैं कुछ बड़ी राशि आपको भेंट करना चाहता हूँ। उन दिनों मैंने गुरुकुल विश्वविद्यालय के चिकित्सा-विभाग के लिए 'श्रद्धानन्द-चिकित्सालय की योजना' प्रारम्भ की हुई थी जिसमें बाहर से आने वाले रोगियों के निवास के लिए १०-१२ वार्ड बनवाने का काम शुरू किया था। मैंने उनसे कहा कि अगर आप अपने नीरोग होने के उपलक्ष में कुछ-न-कुछ करना ही चाहते हैं, तो दो हजार रुपये से चिकित्सालय में एक वार्ड बनवा दीजिए। उन्होंने अपने नाम से ऐसा वार्ड झट से बनवा दिया।

गुरुकुल विश्वविद्यालय में एक आयुर्वेद-कालेज है जिसमे एनोटोमी, फिजियोलोजी, डिसेक्शन आदि आधुनिक विषय पढ़ाए जाते हैं। मेरी योजना यह थी कि गुरुकुल विश्वविद्यालय के साथ एक होमियोपैथिक कॉलेज भी खोल दिया जाय, जिसमें जो विद्यार्थी होमियोपैथी पढ़ना चाहे वे एनोटोमी, फ़िजियोलोजी आदि विषयो को आयुर्वेद के छात्रों के साथ पढ़ें, और होमियोपैथी का 'मैटीरिया-मैडिका' अलग से एक-दो प्रोफेसरों

से पढ़ लें। इस प्रकार होमियोपैथिक 'मैटीरिया-मैडिका' पढ़ाने वाले एक-दो प्रोफ़ेसर रखकर हम उसी स्टाफ से एक की जगह दो कालेज सफलतापूर्वक चला सकते हैं। इस योजना को शासक-सभा ने स्वीकार कर लिया, परन्तु जब इसे कार्यान्वित करने का समय निकट ही आ रहा था तभी १५ नवम्बर १९४१ को मेरा सेवा-काल समाप्त हो गया और मेरे गुरुकुल छोड़ने के बाद उस योजना को मूर्त रूप देने का किसी को उत्साह न रहा। ४ जून १९६० से मई १९६६ तक मैं फिर गुरुकुल विश्वविद्यालय का उपकुलपति रहा परन्तु तब तक परिस्थितियां बिल्कुल बदल चुकी थी; नई समस्याएँ थी और इन समस्याओ मे उलझे रहने के कारण मैं इधर ध्यान नहीं दे सका।

होमियोपैथी में मेरे विश्वास का मुख्य कारण इसका भौतिक न होकर आध्यात्मिक चिकित्सा-पद्धति होना है। यह पद्धति 'भौतिकवाद' (Materialism) पर आश्रित न होकर 'अध्यात्मवाद' (Spiritualism) पर आश्रित है। मनुष्य का जो स्थूल शरीर हमें दीखता है उस पर सूक्ष्म तत्वों का अमिट प्रभाव पल-पल हमें अनुभव होता है। घोर 'भौतिकवादी' (Materialist) भी इससे इन्कार नही कर सकता। मेरे एक रोगी को जब पता चला कि अदालत में उसके खिलाफ निर्णय हो गया है—यह सुनते ही उसे पक्षाघात हो गया। गुस्सा आते ही शरीर थरथर काँपने लगता, भय से कभी-कभी हार्ट-फेल हो जाता। स्थूल देह पर इन सूक्ष्म मनोभावों का इतना भयंकर परिणाम क्यों होता है ? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि भौतिक का नियन्त्रण अभौतिक से, स्थूल का नियन्त्रण सूक्ष्म से हो रहा है। स्थूल मे जो गति आती है उसका सूत्रपात सूक्ष्म मे होता है। मन कहता है, देह करता है; देह कहे और मन करे—ऐसा नही होता। सब चिकित्साओ में होमियोपैथी ही एक एसी चिकित्सा-पद्धति है, जो इस आध्यात्मिक सचाई को पकड़कर चलती है। भारतीय अध्यात्म-शास्त्र का कहना है : 'मन एव मनुष्याणा कारणं बन्ध मोक्षयो'— मन ही मानव के रोग में बँध जाने या उससे छूट जाने का कारण है। इस सत्य को आधार बनाकर होमियोपैथी का कहना है कि मानव के स्थूल शरीर के अनुप्राणन का कारण सूक्ष्म शरीर है—वह शरीर जिसे इस पद्धति में 'जीवनी शक्ति' (Vital force, Dynamic) कहा जाता है; जिसे भारतीय अध्यात्म-शास्त्र मे 'कारण-शरीर' (Causal body) कहा जाता है; रोग का प्रारम्भ 'स्थूल शरीर' मे नही, 'जीवनी-शक्ति' में है, 'कारण शरीर' में, 'सूक्ष्म शरीर' में है, उसे रोग मुक्त कर लिया, तो शरीर अपने-आप रोग-मुक्त हो जाता है, ठीक ऐसे जैसे मन को भय से मुक्त कर लिया तो शरीर पर भय का प्रभाव नही होता। जीवनी-शक्ति स्थूल न होकर सूक्ष्म है, सूक्ष्म तत्व पर सूक्ष्म तत्व का ही प्रभाव होता है, ठीक ऐसे जैसे मन जैसे सूक्ष्म तत्त्व पर मनोभाव जैसे सूक्ष्म तत्त्व का झट से प्रभाव होता देखा जाता है। इस विचारधारा को आधार बनाकर होमियोपैथी में सूक्ष्म जीवनी-शक्ति पर सूक्ष्म औषधि का प्रयोग किया जाता है, औषधि के जिस रूप का प्रयोग किया जाता है वह इतनी सूक्ष्म होती है कि उसमें औषधि का स्थूल अंश न के बराबर होता है। यह सब 'अध्यात्मवाद' नहीं तो क्या है ? इसीलिए होमियोपैथी को मै 'भौतिक विज्ञान' (Material Science) न कहकर 'आध्यात्मिक विज्ञान' (Spiritual Science) कहता हूँ, परन्तु क्योकि आध्यात्मिक होते हुए भी तत्त्वतः इसका भौतिक शरीर पर प्रभाव है, इसीलिए मैं इसे 'आध्यात्मिक भौतिकवाद' (Spiritual Materialism) कहता हूँ। दूसरे शब्दों में यह पद्धति है तो भौतिक, क्योंकि इसका ध्येय भौतिक शरीर को रोग-मुक्त करना है, परन्तु इसका आधार अभौतिक है, आध्यात्मिक है—इसमें पश्चिम के भौतिकवाद तथा पूर्व के अध्यात्मवाद का समन्वय है, और इस समन्वय में भौतिकवाद पर अध्यात्मवाद को तरजीह दी गई है। मैंने अपने हिन्दी के ग्रन्थ 'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व' तथा अंग्रेजी के ग्रन्थ 'Heritage of Vedic Culture' में भारतीय अध्यात्मवाद को 'भौतिक अध्यात्मवाद' (Material Spiritualism) का नाम दिया है, क्योंकि वैदिक दृष्टिकोण से कोरा अध्यात्मवाद निरर्थक है, वैदिक दृष्टि भौतिक को सत्य मानकर ही अध्यात्म की तरफ चलती है; इसी तरह होमियोपैथी में कोरा भौतिक-

वाद निरर्थक माना गया है, होमियोपैथिक दृष्टि आध्यात्मिक को सत्य मानकर भौतिक की तरफ चलती है, इसीलिए होमियोपैथी को मैंने 'भौतिक अध्यात्मवाद' का नाम न देकर 'आध्यात्मिक भौतिकवाद' (Spiritual Materialism) का नाम दिया है।

प्रश्न हो सकता है कि मुझे इस ग्रन्थ के लिखने की आवश्यकता क्यों हुई ? मैंने होमियोपैथी की हिन्दी-अंग्रेजी की सैकड़ों पुस्तकें पढ़ी, परन्तु मुझे वे सब समुद्र की तरह अथाह जल-राशि प्रतीत हुई, जिसका कोई ओर-छोर नहीं दीखा। हनीमैन का 'मैटीरिया मैडिका प्यूरा', हेरिंग के 'गाइडिंग सिम्पटम्स', एलन का 'एन्साइक्लोपीडिया ऑफ मैटीरिया मैडिका' आदि ग्रन्थों में एक-एक औषधि के दो-दो हजार लक्षण दिए हुए हैं जो विद्यार्थी को तो क्या नामी-गरामी होमियोपैथ को भी चकरा देते हैं, उसे समझ नहीं पड़ता कि एक ही औषधि के इतने लक्षणों में से वह किस को चुने। औषधि का निर्वाचन करते हुए अनेक बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है , औषधि के लक्षण ही नहीं, अपितु 'व्यापक लक्षण' (General symptoms) क्या हैं, किन-किन 'विशेष रोगों' (Particulars) के लिए उसका उपयोग होता है, औषधि की 'प्रकृति' (Modality) क्या है—वह 'शीत-प्रधान' (Chilly) है या 'उष्णता-प्रधान' (Hot) है, औषधि का धातुरूप रूप (Constitution) क्या है—औषधि का नाम लेते ही यह सब एक-साथ आँखों के सामने तस्वीर की तरह आ खड़ा हो, ऐसी पुस्तक की आवश्यकता थी जो चालू पुस्तकों में मुझे एक न मिली। जब तक औषधि को देखते ही ऊपर की सब बातें एक-साथ सामने न आ खड़ी हों, जब तक औषधि का मूर्त तथा सजीव चित्रण आँखों में न खिंच जाय, जब तक किसी रोगी को देखकर हम यह न कह सकें—आइए, सलफर महोदय, फॉसफोरस महोदय, ऐसिड फॉस महोदय, नक्स महोदय, आइए श्रीमती पल्सेटिला, श्रीमती सीपिया, श्रीमती इग्नेशिया, श्रीमती नैट्रम म्यूर—जब तक औषधि का जीता-जागता चित्र हमे अपने रोगी में चलता-फिरता न दिखलाई दे, तब तक हमारा अपनी औषधियों से परिचय अधूरा रह जाता है। होमियोपैथी के विद्यार्थी को इस प्रकार की पुस्तक की आवश्यकता है जो इस कमी को पूरा कर सके। इसी कमी को पूरा करने के लिए यह पुस्तक लिखी गई है, और इसीलिए इसका नाम 'होमियोपैथिक औषधियों का सजीव चित्रण' (Homoeopathic Drug Pictures) रखा गया है। इस पुस्तक की रचना का यही मुख्य लक्ष्य है।

मुझे निश्चय है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा त्यों-त्यों आध्यात्मिकता-प्रधान अपने देश में होमियोपैथी का प्रचार भी बढ़ता जायगा, और क्योंकि अधिकांश विद्यार्थी हिन्दी-भाषी होंगे इसलिए हिन्दी-भाषी राज्यों के होमियोपैथिक कालिजों में तो यह ग्रन्थ 'पाठ्य-पुस्तक' (Text-Book) का काम देगा ही क्योंकि इसकी मुख्य रचना होमियोपैथिक औषधियों का जीता-जागता चित्र उपस्थित करने के लिए की गई है जिसकी विद्यार्थी को या होमियोपैथी की चिकित्सा के विषय में जानकारी चाहने वाले किसी भी व्यक्ति को आवश्यकता है, किन्तु साथ ही इसका भारत की सब भाषाओं में भी अनुवाद होगा ताकि सम्पूर्ण देश की, सब भाषाओं के लोग इससे लाभ उठा सकें।

ऐ ३५ वर्षों के दिन-रात के परिश्रम के परिणामस्वरूप मेरे लाड़ले ग्रन्थ ! जाओ, जाओ, भारत के कोने-कोने मे जाओ, भारत की हर भाषा के जामे को पहनकर जाओ और अध्यात्म-प्रधान इस देश में जिस आशा से मैंने तुम्हें जन्म दिया है उस आशा को सफल बनाओ।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

रोग तथा उनकी होमियोपैथिक चिकित्सा

[PREFACE BY DR. JUGAL KISHORE, B.Sc., D. M. S.]

Hony. Hom. Physician to the President of India

'DISEASES AND THEIR HOMOEOPATHIC TREATMENT' (रोग तथा उनकी होमियोपैथिक चिकित्सा) By Prof. Satyavrata Siddhantalankar, (Ex) M P. and Vice Chancellor of Gurukula University is the first and a very bold attempt on the Homoeopathic Literature in Hindi.

Homoeopathic Therapeutics is a very challenging subject as there are too many pitfalls. Unlike the Therapeutics in the Orthodox school of Medicine where hardly a very few therapeutic agents are mentioned for a particular disease, the therapeutics in Homoeopathic medicine, encompasses much larger range of drugs. Even for a single malady or a symptom-complex almost all the drugs of our Materia Medica (2,000 or odd remedies) may be applicable depending upon certain conditions. This is why nobody can prepare an exhaustive book on Homoeopathic Therapeutics. In my opinion, the books on Homoeopathic Therapeutics may sometimes lead us away from the concept of sick person as a whole and highlight only a few remedies to the exclusion of so many sometimes, more important remedies. Sometimes the author gives his own bias and this does not encourage the student to make an independent judgment by going to Materia Medica. Our Therapeutics is really an application of our Materia Medica to sick *individuals; therefore, Homoeopathic* Therapeutics should be actually called as an Applied Materia Medica which includes comparative or differential Materia Mediea as applid to sickness in all forms.

Prof. Satyavrata has made an attempt to write MATERIA-MEDICA ORIENTED THERAPEUTICS as it undoubtedly should be. There can be no pretensions as to originality in a work like this nor does the author put forth any such claim. The present book, therefore, is a useful compilation from various authoritative sources on Materia Medica and Therapeutics. The authors from whom the subject-matter has been drawn have been liberally quoted in the text. In any book on Homoeopathic Therapeutics the choice of drugs for a particular 'Disease' will be influenced by the experiences of the physician or his favourite authors, and therefore, profuse quotations from more than a dozen prominent authors of Homoeopathic

Therapeutics in the text of the book is a great help to the reader, who wants to be acquainted with the experiences of recognised authorities in the science.

A brief account of diseases preceding the drugs is very useful to the layman but to the regular students in our Colleges that may not be adequate, nor is that the object of the author. For regular students of our Colleges, however, this brief account of diseases preceding the drugs given in the book will be useful as a SHORT REFRFSHER.

The language of the author is immaculate and one feels delighted as one reads the book written in easy, flowing style. The expression is so simple that it can be understood by everybody who can read Hindi, although to make the text of the book more easily understood, the author has, as far as possible, given the terms in English also. Numerous cross references make it very useful.

Prof. Satyavrata Siddhantalankar's earlier book in Hindi on HOMOEO-PATHIC DRUG PICTURES (होमियोपैथिक औषधियों का सजीव चित्रण) has been considered by the Profession as a very useful contribution to Hindi Literature on Homoeopethy. This COMPANION VOLUME will be a welcome addition and will fulfil the need for a TEXT-BOOK in Hindi on this subject.

Prof. Satyavrata Siddhantalankar is a man of vast learning in every sense of the word, having written extensively more than twenty-five books on various subjects, and his interest in Homoeopathy and the development of its Literature is intense. The very fact that after completing his first book on HOMOEOPATHIC DRUG PICTURES (होमियोपैथिक औषधियों का सजीव चित्रण) he has so soon come out with the production of such a voluminous book on Homoeopathic Therapeutics speaks Volumes for his love for the science. I earnestly hope that the Profession as well as the students will welcome this undoubtedly useful book. I also hope that a second edition will soon be needed to improve upon this one. I congratulate Prof. Satyavrata for making such a useful contribution to Hindi Literature on Homoeopathy.

रोग तथा उनकी होमियोपैथिक चिकित्सा

कुछ अपनी कुछ ग्रन्थों की

अपनी बात

१९१६-१७ की बात है' जब मैं गुरुकुल कॉंगड़ी मे बारहवी-तेरहवी कक्षा मे पढ़ता था, तब इंदौर की हिन्दी-साहित्य-परिषद् की ओर से 'हिन्दी मे उच्च शिक्षा'—इस विषय पर देश-भर से निबन्ध आमन्त्रित किये थे गये जिनमे से सर्वोत्कृष्ट निबन्ध पर स्वर्ण-पदक देने की घोषणा थी। मेरे मन मे विचार उठा, क्यो न मैं भी निबन्ध लिखूं ? परन्तु न-जाने कौन-कौन लोग निबन्ध लिखेंगे, गुरुकुल मे भी मुझसे उच्च कक्षाओ के छात्र निबन्ध लिखने लगे थे, उनके मुकाबिले मे मेरा लिखना बेकार होगा—इस दुविधा मे बहुत-सा समय बीत गया। सफल-व्यक्ति की घोषणा हो—और वह व्यक्ति मैं न होऊँ—यह तो लज्जा की बात थी, इसलिए मन ने कहा, या तो लिखने का विचार ही छोड़ दो, या लिखना है तो इस प्रकार लिखो कि किसी को पता ही न चले कि तुमने लिखा भी था। लज्जा तो तभी आती है जब दूसरो को पता हो कि तुम भी मैदान मे थे। मुझे इसका एक उपाय सूझा। दिन-भर मैं पुस्तकालय मे बैठा अपने मतलब की पुस्तकें तलाशता, उन्हे पढता, नोट लेता, और सवेरे दो बजे उठकर निबन्ध लिखता, ५ बजे जब सब का उठने का समय होता तब चादर तान कर सो जाता। महीने-भर मे मैंने रात-रात जागकर ५०-६० पृष्ठ का निबन्ध लिख डाला, और निश्चित समय पर उसे यथा-स्थान रवाना कर दिया, किसी को कानोकान खबर नही हुई कि मैं भी मैदान मे था। गुरुकुल से १३वी, १४वी कक्षाओं के छात्रो ने निबन्ध भेजे, अन्य सस्थाओ से भी पहुँचे, सब की चर्चा होती रही, परन्तु मेरे निबन्ध लिखने का किसी को पता न था। तीन महीने बीत गये, कोई सूचना न मिली, मैं भी आशा छोड़कर बैठ गया, परन्तु इतना सन्तोष रहा कि मेरी असफलता का किसी को पता तो न चला।

चौथे महीने इंदौर से मुझे एक तार मिला। लिखा था, आपका निबन्ध सर्वोत्कृष्ट घोषित किया गया है। इस पर सुवर्ण-पदक भेजा जा रहा है, निबन्ध को प्रकाशित करने की आज्ञा दीजिए। महात्मा मुशीराम जी उस समय गुरुकुल के आचार्य थे। उन्होंने मुझे बुलाकर सन्देश सुनाया, थपथपाया, कहा—तुम तो छुपे रुस्तम निकले, तुमने बतलाया ही नही कि तुमने निबन्ध लिखा था।

महात्मा मुंशीराम जी, जो पीछे चल कर स्वामी श्रद्धानन्द हुए, हम सब के लिए देवता के समान थे, मेरे लिए तो देवता से भी बढ़कर थे। मैं जब सातवी-आठवी मे पढ़ता था, मेरे पिता का देहान्त हो गया। मैं घर पर गया, घरवालो ने कहा कि तुम्हारी फीस देने वाला कोई नही रहा, इसलिए तुम अब आगे नही पढ़ सकते, यही रह कर उर्दू पढ़ लो, कही मुंशीगिरी कर लेना। मैंने महात्मा जी को पत्र लिख दिया कि मेरे पिता जी का देहान्त हो गया है, मेरी फ़ीस कोई नही दे सकता, इसलिए मैं अब गुरुकुल मे नही आ सकता। महात्मा जी का लौटती-डाक से पत्र आया—पुत्र, तुम निश्चित होकर चले आओ, तुम से कोई फीस नहीं ली जायगी। यह पत्र न आता तो मैं गुरुकुल लौट कर न आता और मेरे जीवन का कॉंटा ही बदल जाता—इसलिए मैं सदा उन्हें देवता से भी बढ़ कर मानता रहा हूँ। महात्मा जो की कृपा से गुरुकुल कॉंगड़ी मे मैंने निःशुल्क शिक्षा

प्राप्त की है, इसलिए संस्था का ऋण चुकाने के लिए बरसों तक वहाँ का वाइस चांसलर रह कर भी मैंने उसके साथ कभी वेतनभोगी का-सा सम्बन्ध नहीं रखा, जब तक रहा आजीवन सदस्य के तौर पर रहा, और फिर जब संस्था की पुकार आयी तब भी निःशुल्क ही सेवा करता रहा।

जब मुझे इंदौर-साहित्य-परिषद् का पुरस्कार मिला उस समय मेरी आयु १८-१९ वर्ष की थी। उन दिनों गुरुकुल में एक हेड क्लर्क थे जिनका नाम था लाला मुरारीलाल। कहने को तो वे हेड क्लर्क थे परन्तु उनका ज्ञान किसी प्रोफेसर से कम न था। पटियाला-केस में आर्यसमाज को विद्रोही राजनीतिक संस्था घोषित करके जिन आर्यसमाजियों को रियासत से निकाल दिया गया था उनमें से वे भी एक थे। आफिस के समय वे दफ्तर का काम करते, बाकी समय वे सुकरात, प्लेटो, हर्बर्ट स्पेंसर, कॉन्ट आदि पाश्चात्य दार्शनिकों तथा अरविन्द घोष, सांख्य, योग, वेदान्त आदि भारतीय दर्शनों का अध्यन करते। वे हर समय दार्शनिक ज्ञान में डूबे रहते। मुझे जब उक्त पारितोषिक मिला तब उनका ध्यान मेरी तरफ गया। उन्होंने मुझे बुला कर कहा—तुम्हारी उम्र अभी छोटी है, पुरस्कार मिलने से फूल मत जाना, अभी तुमने जीवन का बहुत लम्बा रास्ता तय करना है, ज्ञान प्राप्त किये बगैर यह रास्ता तय भी हो गया, तो भी जीवन सफल नहीं होगा; तुम मेरे पास आया करो, मैं तुम्हें बतलाऊँगा कि ज्ञान प्राप्त करने और उसे आत्मसात् करने का सही रास्ता क्या है।

पहले तो मैं उनकी बातों को सुन कर हँस पड़ा। ये जोड़ने-घटाने वाले सज्जन मुझे क्या सिखलायेंगे, परन्तु ज्यों-ज्यों मैं उनके संपर्क में आता गया, मेरा सिर उनके प्रति श्रद्धा से नत हो गया। वे मेरे सामने हर्बर्ट स्पेंसर और सांख्य दर्शन के समन्वय पर अत्यन्त सुलझे हुए तथा गंभीर दार्शनिक विचार रखते, सुकरात और प्लेटो की विचारधाराओं की बारीकियों पर प्रकाश डालते, मुझे कहते कि जो कुछ उन्होंने कहा है उसे मैं लिख डालूँ। मैं उनकी विचार-सरणी को लिखने लगा, लिखते-लिखते कापियाँ-पर-कापियाँ भरने लगा, यहाँ तक कि वे जो कुछ कहते उस सब को लिपि बद्ध कर लेने की मेरी रुचि ही नहीं, उत्सुकता भी बढ़ने लगी, मैं अनुभव करने लगा कि अन्य गुरुओं से मैं उतना नहीं सीख रहा था जितना उनसे सीख रहा था, मैं उन्हें अपना गुरु मानने लगा। वही समय था जब मैंने उनकी प्रेरणा से प्लेटो, डार्विन, हर्बर्ट स्पेंसर के सब ग्रंथ पढ़ डाले। कुछ समझ में आता, कुछ नहीं आता, परन्तु मैं उन ग्रंथों को पढ़ता जाता, उनके नोट लेता जाता, कागजों के दस्तो-के-दस्ते भरता जाता। मेरा उनके साथ दो-तीन साल का ही संपर्क रहा, परन्तु उन्होंने मुझे एक रास्ते पर डाल दिया—पढ़ते जाओ, जो पढ़ा है उसे लिखते जाओ, जितना लिखते जाओगे उतना दिमाग में गड़ता जाएगा—बस, इसी रास्ते पर चल कर मैंने १९ वर्ष की आयु से लिखना शुरू किया और उम्र-भर लिखता ही चला गया और अब जब मैं ७७ वर्ष की आयु में पग रख रहा हूँ, लिखता ही चला जा रहा हूँ, लिखता ही चला जा रहा हूँ।

इस बीच मैंने खूब लिखा, हिन्दी में लिखा, अंग्रेजी में लिखा, जो विषय सामने आया उसी पर लिखा, समाज-शास्त्र पर लिखा, शिक्षा-शास्त्र पर लिखा, मनोविज्ञान पर लिखा, उपनिषदों पर, गीता पर, संस्कृति पर—जिधर नजर गई उसी पर लिखा, लिखते-लिखते मेरी पुस्तकों की संख्या बढ़ती गई, और अब तक मैंने जो कुछ लिखा उसके छपे पृष्ठों की संख्या १२,००० पृष्ठों तक पहुँच गई। मेरे सभी ग्रंथों का सम्मान हुआ, वे विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाने लगे, अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन ने मेरे 'समाजशास्त्र के मूल तत्व' ग्रंथ पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया, अन्य ग्रंथों पर सरकारी पारितोषिक मिलते रहे, श्री प्रताप सिंह कैरों के प्रधानमंत्रित्व-काल में पंजाब के लैंग्वेज डिपार्टमेंट ने मेरी हिन्दी-सेवा के उपलक्ष्य में सरकारी दरबार कर के १२०० रुपये की थैली तथा दुशाला भेंट करके मेरा सम्मान किया, मेरी सांस्कृतिक तथा साहित्यिक सेवाओं की स्वीकृति के रूप में राष्ट्रपति ने मुझे राज्य-सभा का सदस्य मनोनीत किया। आज जब मैं अपने जीवन के ७६-७७ वर्षों पर विहंगम दृष्टिपात करता हूँ, तो मुझे संतोष का साँस आता है, यह सोचकर आता है कि यद्यपि मैं अपने पीछे कोई पार्थिव धन-सम्पत्ति नहीं छोड़ जाऊँगा, तो भी साहित्यिक निधि के रूप में

जो-कुछ छोड़ जाऊँगा वह मेरे किसी एक वंशज के लिए न होकर अपने देश के मानव-मात्र के लिए होगा।

१९६१ मे मेरी पत्नी का देहान्त हो गया। वृद्धावस्था में दोनों में से किसी एक का चले जाना रह जाने वाले के लिए समस्या खड़ी कर देता है—इकलेपन की समस्या। जवानी मे आदमी काम-काज मे लगा रहता है, बुढ़ापे मे दोनों साथी बीते दिनों की मधुर स्मृतियों मे दिन बिताया करते हैं, परन्तु जब वार्धक्य आ जाय, इसके साथ व्यक्ति इकला रह जाय, तब दिन काटे नही कटते, क्योंकि न कोई काम हो सकता है, न किसी जीवन-साथी के साथ बैठकर दिन-भर गप्पें लड़ाई जा सकती हैं। मन की इस मे विकट स्थिति में जर्मन विद्वान् गेटे का एक वाक्य पढ़ा—Without Haste Yet Without Rest—काम जल्दी मत करो, बिना काम के बैठे भी मत रहो। मेरे लिए यह वाक्य गुरु-मंत्र हो गया—जीवन की यात्रा को यात्रा समझो, दौड मत लगाओ, परन्तु आराम से लेट भी मत जाओ। गेटे के इस मंत्र से मैंने इकला रहने से इन्कार कर दिया, आराम से पेंशनर का जीवन बिताने का विचार छोड़ दिया, अपने को बूढ़ा समझने की बात को भुला दिया। यही भाव वैदिक वाङ्मय मे 'चरैवेति-चरैवेति'—ठहरो मत, चलते चलो, चलते चलो—इन शब्दों मे निहित है, इसी पर आज का नारा चल पड़ा है—आराम हराम है। 'चरैवेति-चरैवेति' की ध्वनि कान में पड़ते रहने के कारण अब मैं इतना काम मे व्यस्त रहता हूँ कि दिन छोटा दीखने लगा है, अपने चारो तरफ के थके-थके जवान अपने सामने बूढ़े लगने लगे हैं, सवेरे तीन बजे उठता हूँ, उपनिषदों के ऋषियों, गीता के श्रीकृष्ण, गौतम-कणाद, सुकरात, अफलातून, अरस्तू की मडली मे जा बैठता हूँ, उन सब से अलग-अलग चर्चा करता हूँ, इसी मे सारा दिन बिता देता हूँ। मेरी टेबल पर संसार भर के महापुरुष आसन जमाये बैठे रहते हैं और मैं जिससे भी चर्चा करना चाहूँ, जिस समय भी चाहूँ, वे अपनी बात करने को तैयार रहते हैं। ऐसी मंडली से जो दिन-रात घिरा हो उसे इकलापन कहाँ सता सकता है ?

१९६९ से पहले मैंने जो ग्रन्थ लिखे है वे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक स्तर के है, परन्तु उसके बाद मुझे भौतिक स्तर के ग्रंथ लिखने की भी प्रेरणा हुई। १९३७-३८ मे मेरा होमियोपैथी से परिचय हुआ था। मुझे यह विज्ञान भौतिक होता हुआ भी आध्यात्मिक दीखा। क्यो आध्यात्मिक दीखा इसका उल्लेख मै अपनी पुस्तक 'होमियोपैथिक औषधियो का सजीव चित्रण' मे कर चुका हूँ। इस भौतिक विज्ञान की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक होने के कारण मेरी इसमे रुचि बढ़ती गई, परन्तु अन्ततोगत्वा था तो यह भौतिक ही। जब मेरा होमियोपैथी से परिचय हुआ तब गुरुकुल काँगड़ी के आयुर्वेद महाविद्यालय के प्रिन्सिपल डॉ० राधाकृष्ण ग्रोवर थे, डॉ० इन्द्रसेन सर्जरी के प्रोफेसर थे, मुर्दे की चीरा-फाड़ी सिखाते थे। मैं जानता था कि ऐनैटोमी, फ़िज़ियोली को जाने और इनकी शब्दावली को समझे बगैर, डिसेक्शन किये बगैर न ऐलोपैथी समझ आ सकती है, न होम्योपैथी। मैं उस समय गुरुकुल मे प्रोफेसर था, आपसदारी का मामला था, इसलिए मैं डॉ० राधाकृष्ण से घरेलू तौर पर ऐनैटोमी तथा फिजियोलोजी पढ़ने लगा, डॉ० इन्द्रसेन के साथ डिसेक्शन—मुर्दे की चीर-फाड़—करने लगा। डॉ० राधाकृष्ण ग्रोवर एक होनहार डॉक्टर थे, अपने विषय के मँजे हुए विद्वान थे, १०-१२ साल हुए उनका देहान्त हो चुका है। डॉ० इन्द्रसेन चाकू हाथ मे लिये मुर्दे को चीरते जाते थे, बीच-बीच मे ऊँघते भी जाते थे, परन्तु उन्हें इतना ज्ञान था कि मुर्दा-शरीर के हर अंग-प्रत्यंग को, नस-नाड़ी को, ऊँघते-ऊँघते भी बताते जाते थे। इस तैयारी के साथ जब मैंने होमियोपैथी की पुस्तकों को पढ़ना शुरू किया, तो भौतिक विज्ञान के साथ-साथ उसके आध्यात्मिक पक्ष को जान कर ऐसा लगा मानो जीवन का एक रहस्य हाथ में आ गया। जैसा मैं पहले लिख चुका हूँ, १८-१९ वर्ष की आयु में मैंने लिखना शुरू किया; समाज-शास्त्र, शिक्षा, मनोविज्ञान, संस्कृति तथा आध्यात्मिक विषयों पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे; परन्तु इस बीच आध्यात्मिकता से ओतप्रोत भौतिक विज्ञान—होमियोपैथी—का जो मैंने अब तक अध्ययन तथा अनुभव प्राप्त किया था उसे १९६९ के बाद समेट देने के लिए ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा हुई जिससे इस आयु मे इकला रह जाने पर भी मैं इकला न रहा।

जिस आयु में लोग इकलेपन की शिकायत किया करते हैं उस आयु में मेरे साथियों की संख्या अनगिनत हो गई है। अब जहाँ मेरे संगी-साथियों में दुनिया के हर युग के बड़े-बड़े शिक्षा-शास्त्री, समाज-शास्त्री, अध्यात्म-शास्त्री हैं, वहाँ विश्व-भर के होमियोपैथ भी उस मंडली मे शामिल हो गये हैं। हनीमैन, बोनिनघॉसन, हेरिंग, डनहम, फैरिंगटन, कैंट, ड्यूई, ह्यूजेज, ज्हार, टॉयलर से दिन-भर घिरा रहता हूँ, इन्ही से चर्चा किया करता हूँ, जब चाहता हूँ, जिस से भी चाहता हूँ, उसी से समय बिताने लगता हूँ, इन सबसे घिरे रहने के कारण मैं अपने इकलेपन को भूल गया हूँ।

इंग्लैंड के पोयट-लाउरियेट रौबर्ट सौदी (१७७४-१८४३) की एक कविता को मैं नही भूल सकता। उसकी निम्न पंक्तियों मे मेरे जीवन की आज की मनोवृत्ति का सार आ जाता है :

My days amid the dead are past;
Around me I behold,
Where'er these casual eyes are cast,
The mighty minds of old;
My never-failing friends are they,
With them I converse day by day.
With them I take delight in weal
And seek relief in woe;
And while I understand and feel
How much to them I owe;
My cheeks have often been bedewed
With tears of thoughtful gratitude.
My thoughts are with the Dead; with them
I live in long-past years,
Their virtues love, their faults condemn,
Partake their hopes and fears,
And from their lessons seek and find
Instruction with an humble mind.
My hopes are with the dead; anon
My place with them Will be,
And I with them shall travel on
Through all Futurity;
Yet leaving here a name, I trust,
That will not perish in the dust.

ग्रंथ की बात

यह तो रही अपनी बात। अब थोड़ा-बहुत इस ग्रन्थ की बात भी लिख दूं। जब से मैंने 'होमियोपैथिक औषधियों का सजीव-चित्रण' (Homoeopathic Drug Pictures) प्रकाशित किया है तब से मुझे अनेक पत्र आने लगे हैं कि 'औषधियों' पर तो आपने लिखा, एक पुस्तक 'रोगों' पर भी अवश्य होनी चाहिए, औषधियों

तथा रोगों को जानने से ही होमियोपैथी का ज्ञान पूरा हो पाता है। इन पत्रों के आने से पहले भी मेरी योजना यही थी। पहली पुस्तक 'मैटीरिया मैडिका' (Materia Medica) थी, दूसरी पुस्तक 'थेराप्युटिक्स' (Therapeutics) पर होनी चाहिए। इसलिए पहली पुस्तक के प्रकाशन के बाद मैंने दूसरी पुस्तक को लिखना स्वयं शुरू कर दिया।

अब तक होमियोपैथिक चिकित्सा पर हिन्दी तथा अंग्रेजी में जो पुस्तकें मेरे देखने मे आयी थी उनमे भिन्न-भिन्न रोगों पर भिन्न-भिन्न औषधियाँ देकर विषय की इतिश्री कर दी गई थी। होमियोपैथिक चिकित्सा की पुस्तक के विषय मे मेरा विचार इन सबसे भिन्न रहा। क्योकि होमियोपैथी का आधार रोग के 'नाम' न होकर रोग के 'लक्षण' हैं, इसलिए होमियोपैथिक चिकित्सा की पुस्तक में रोगों के लक्षणो पर विशेष बल देने की आवश्यकता है। होमियोपैथिक थेराप्युटिक्स का आधार होमियोपैथिक मैटीरिया-मैडिका होनी चाहिए क्योकि मैटीरिया-मैडिका ही लक्षणों का संग्रह है। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ की अन्य ग्रन्थो से विशेषता यह है कि इसमे जहाँ रोगों का नाम दिया गया है, वहाँ उनकी औषधियो का उल्लेख करते हुए उस-उस रोग मे दी जानेवाली अन्य औषधियों की आपसी तुलना भी साथ-साथ की गई है। रोगो के नामों को तो छोडा नही जा सकता, सब चिकित्सक रोगों के नाम से ही रोग का परिचय पाते हैं, रोगी भी रोग का नाम लेकर आते या रोग का नाम जानना चाहते हैं, हमे सदियो से इसी प्रकार सोचने की आदत पड गई है, परन्तु होमियोपैथी का कहना यह है कि एक ही रोग के भिन्न-भिन्न लक्षण होते हैं, इन लक्षणों की भिन्नता के कारण भी होमियोपैथिक औषधि भिन्न-भिन्न हो जाती है। रोगी कहता है—मुझे सिर दर्द है। एलोपैथ झट से ऐस्पिरीन या इसी वर्ग की कोई औषधि दे देगा, भले ही उसका प्रभाव सामयिक ही हो, परन्तु होमियोपैथ जो रोग को जड से उखाड डालना चाहता है, उसके लिए सिर-दर्द के विषय में बीसियो बातें जानना आवश्यक है। क्या सिर-दर्द सवेरे शुरू होता है, दोपहर को, रात को, मध्य-रात्रि को, दाईं तरफ, बाईं तरफ, जलन के साथ होता है, किस कारण से होता है—अनेक लक्षणों को जानना उसके लिए आवश्यक है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ मे सिर्फ रोग तथा उसकी औषधि ही नही दी गई, पहले रोग का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, फिर उसके सामान्य लक्षणो पर दी जाने-वाली मुख्य औषधि, तथा उस औषधि के साथ-साथ उसके समान लक्षणो वाली अन्य औषधियो का उल्लेख करते हुए उनकी आपसी तुलना साथ-साथ दी गई है ताकि एक औषधि को दूसरी से भिन्न किया जा सके। डॉ० जुगल किशोर जी के शब्दो मे यह प्रक्रिया 'मैटीरिया-मैडिकाभिमुख चिकित्सा-शास्त्र' (Materia Medica Oriented Therapeutics) की प्रक्रिया है जो किसी भी 'होमियोपैथिक थेराप्युटिक्स' की पुस्तक मे होना आवश्यक है। इस दृष्टि से यह ग्रंथ होमियोपैथी का 'मैटीरिया-मैडिकाभिमुख चिकित्सा-शास्त्र' (Materia Medica Oriented Therapeutics) है जिसमे थेराप्युटिक्स पर लिखते हुए हर समय मैटीरिया-मैडिका का सूत्र हाथ में रहता है। होमियोपैथिक चिकित्सा की पुस्तकों में औषधियां किस क्रम से दी जाये—यह भी लेखक के सामने बड़ी भारी समस्या है। कई लेखक अंग्रेजी के वर्ण-क्रमानुसार औषधियो को ए-बी-सी के क्रम से दे देते हैं। यह पद्धति श्रेष्ठ नही है। प्रायः अनेक रोगों के कुछ मुख्य लक्षण सब रोगियो मे एक-समान होते हैं, इसलिए इन रोगों की औषधियो मे भी कुछ का स्थान दूसरों से मुख्य है। इस बात को सामने रखते हुए उस रोग की मुख्य औषधि को इस पुस्तक मे मुख्य स्थान दिया गया है, रोग मे आने-जाने वाले अन्य लक्षणो को ध्यान में रखते हुए जिन अन्य औषधियों की जरूरत पड़ती है उनका क्रमशः उल्लेख किया गया है।

इस ग्रंथ को लिखते हुए मैंने संसार के सर्वश्रेष्ठ होमियोपैथिक चिकित्सकों की पुस्तको को आधार बनाया है। मैंने जो कुछ लिखा है वह हनीमैन, बोनिनघॉसन, हेरिंग, डनहम, फैरिंगटन, बर्नेट, कैंट, नैश, ड्यूई, ह्यू जेज, ज्हार, टॉयलर, बोरिक आदि महान् होमियोपैथो का अनुभव है, इसलिए होमियोपैथिक चिकित्सा की दृष्टि से इस ग्रन्थ की एक-एक पंक्ति प्रामाणिक है। जिस होमियोपैथ ने, जिस रोग मे, जिन लक्षणों पर, जिस औषधि का, जिस शक्ति में निर्देश दिया है, उसका उल्लेख हर जगह किया गया है।

इस पुस्तक का पूरा लाभ उठाने के लिए इसकी क्रम-पद्धति को समझ लेना भी आवश्यक है। इसमें पुस्तक की पृष्ठ-संख्या को महत्त्व नहीं दिया गया, रोग-संख्या को महत्त्व दिया गया है। ग्रन्थ में ४७५ रोगों का वर्णन है। शुरू-शुरू में इन रोगों की अंग्रेजी के वर्णानुक्रम से सूची दी गई है। प्रत्येक रोग की संख्या है। किसी पृष्ठ को नहीं, परन्तु रोग की उस संख्या को जो रोग के शुरू में अंकित है निकालने से उस रोग का वर्णन मिल जाता है। उस रोग के समान अन्य रोग जहाँ-जहाँ आते हैं, उनके निर्देश (Cross references) भी इस रोग के आगे दिये गये अंकों में दिये गये हैं। उन अंकों के रोगों को देखने से उक्त रोग से मिलने-जुलने रोगों की जानकारी हो जाती है। अंग्रेजी के वर्णानुक्रम के बाद हिन्दी के वर्णानुक्रम से रोगों की सूची दी गई है ताकि जो पाठक अंग्रेजी नहीं जानते वे हिन्दी की सूची से रोग को ढूँढ सकें। रोगों की हिन्दी की सूची में भी पृष्ठ-संख्या नहीं दी गई, न उसका कोई महत्त्व है, उस रोग की भी रोग-संख्या को देखकर उस रोग तथा उस से मिलते-जुलते अन्य रोगों तक पहुँचा जा सकता है। अंग्रेजी में रोगों के लिए शब्द निश्चित हैं, इसलिए अंग्रेजी जानने-वालों के लिए ढूंढने में कोई कठिनाई नहीं होगी; हिन्दी में ये शब्द कुछ निश्चित हैं, कुछ अनिश्चित हैं, फिर भी प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी की सूची में चालू शब्दों का प्रयोग किया जाय ताकि सिर्फ हिन्दी जाननेवालों के लिए भी मतलब का रोग ढूंढने में कठिनाई न हो।

पुस्तक के अन्त में उन सब औषधियों की दो सूचियाँ दी गई हैं जिनका जिक्र ग्रंथ में आया है। पहली सूची हिन्दी के वर्णानुक्रम से दी गई है जिसमें प्रत्येक औषधि का हिन्दी में नाम देकर उसके आगे उसका अंग्रेजी में भी नाम दिया गया है; दूसरी सूची अंग्रेजी के वर्णक्रमानुसार दी गई है। इन दोनों सूचियों के आधार पर अंग्रेजी तथा हिन्दी जानने वाले औषधि के अंग्रेजी नाम को शुद्ध रूप में लिख कर बाजार से औषधि को ले सकेंगे। दोनों सूचियों में औषधि की पोटेन्सी भी दे दी गई है। यह पोटेन्सी बोरिक के मैटीरिया-मैडिका के आधार पर दी गई है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि इस पोटेन्सी में ही दवा दी जाती है। प्रायः तरुण-रोगों में निम्न शक्ति, जीर्ण रोगों में उच्च शक्ति दी जाती है। मूल अर्क तथा १ से ३० तक निम्न शक्ति, २०० तथा इस से ऊपर उच्च शक्ति मानी जाती है; निम्न शक्ति दोहराई जाती है, उच्च शक्ति दोहराई नहीं जाती, औषधि का प्रभाव-काल, जो सप्ताह से महीने तथा महीनों हो सकता है, समाप्त होने पर ही अगर रोग के लक्षण फिर उभर आयें तब ही उच्च शक्ति को दोहराया जाता है। अंग्रेजी की सूची में कुछ औषधियाँ मोटे-काले अक्षरों में दी गई हैं। ये काले अक्षरों में इसलिए दी गई हैं क्योंकि इनका अन्य औषधियों से अधिक प्रयोग होता है, इन्हें 'अनेक कार्य साधक' (Polychrest) कहा जाता है। पोटेन्सी का उल्लेख करते हुए जहाँ ३-३० लिखा है, उसका अर्थ है ३ से ३० के बीच की कोई शक्ति।

यद्यपि पुस्तक में अशुद्धियाँ बहुत कम हैं, तो भी थोड़ी-बहुत जो ध्यान में आयी हैं उनकी सूची अन्त में पृष्ठ ८१२ पर दी गई है। पुस्तक पढ़ना शुरू करने से पहले इन अशुद्धियों को ठीक कर लेना आवश्यक है।

इस ग्रन्थ का विमोचन महामहिम राष्ट्रपति श्री० वी० वी० गिरि के कर-कमलों से हो रहा है—मेरे लिए इससे ज्यादा प्रसन्नता तथा आदर की बात क्या हो सकती है। राष्ट्रपति श्री गिरि होमियोपैथी के अनन्य भक्त हैं, और स्वयं बायोकैमिक औषधियों का अपने घर में तथा मित्रों पर प्रयोग करते हैं। बायोकैमिस्ट्री पर उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी है जिसकी एक प्रति उन्होंने मुझे भी दी है। उनका जितना धन्यवाद करूँ थोड़ा है।

नेहरू होमियोपैथिक मैडिकल कॉलेज के संस्थापक प्रसिद्ध होमियोपैथ डॉ० युद्धवीर सिंह जी ने इस पुस्तक को पढ़कर लिखा है कि "मैं कह सकता हूँ कि हिन्दी में ही नहीं, अंग्रेजी में भी इतनी उपयोगी पुस्तक अब तक नहीं छपी है।"

डॉ० जुगल किशोर जी भारत के लब्धप्रतिष्ठ होमियोपैथ हैं। उन्होंने पुस्तक के महत्त्व को देखकर

इसकी भूमिका लिखने का मुझे सम्मान दिया है इसके लिए उनका हृदय से आभारी हूँ। श्री मेघराज अग्रवाल ने अपने प्रेस मे पुस्तक के शीघ्र प्रकाशन में बहुत रुचि ली है, इसलिए उनका भी हार्दिक धन्यवाद है।

जिन दिनों में इस पुस्तक का प्रकाशन हो रहा है, वे अत्यन्त महँगाई के दिन हैं। कागज नहीं मिलता, मिलता है तो तिगुने दाम पर मिलता है, वह भी नाज-नखरे के साथ; कागज, छपाई, गत्ता, कपड़ा, जिल्द—सबमें आग लगी हुई है। अगर मुझे जरा भी आभास होता कि पुस्तक-प्रकाशन में महँगाई के इस संकट का सामना करना पड़ेगा, तो शायद मैं इस प्रचंड ज्वाला मे हाथ न डालता, परन्तु प्रकाशन का कार्य शुरू करने के बाद मझधार में सब-कुछ छोड़ देना भी बुज़दिली होता, इसलिए 'सर्वं वै पूर्णम् स्वाहा' के घोष मे जैसे-तैसे ग्रन्थ का प्रकाशन हो गया है।

'होमियोपैथिक औषधियों का सजीव चित्रण' और 'रोग तथा उनकी होमियोपैथिक चिकित्सा'—ये दोनों ग्रंथ मेरी ३६-३७ वर्षों की साधना के फल हैं, इसलिए मुझे पूरी आशा है कि जिन-जिन के हाथों में भी ये ग्रंथ पहुँचेंगे वे होमियोपैथी के एक साधक की बरसों की साधना का लाभ अनायास उठा सकेंगे।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

FROM OLD AGE TO YOUTH THROUGH YOGA AND HOMOEOPATHIC TREATMENT

In the words of Francis Bacon 'Some books are to be tasted, others to be swallowed and some few to be chewed and digested'. This book is meant to be chewed and digested as it concerns the very life and being of my readers.

There is an old adage : 'Youth once gone cannot return nor can old age once come can go'—जाकर जो न आए वह जवानी देखी, आकर जो न जाए वह बुढ़ापा देखा'—but it is possible to keep young in spirit even though the body becomes old. What is youth and what is old age. A person is young if physically his muscles and organs are active, agile and elastic, and mentally he is high in spirit ; similarly, a person is old if he is rigid in joints and muscles and depressed in mind irrespective of the fact what his numerical age is. Francis Bacon wrote : 'A man who is young in years may be old in hours if he has lost no time, but that happenth rarely.'

How to keep young is the burden of the song of this booh, A couple of years ago the author came across a rare book : 'Old Age—its Causes and Prevention' by Mr Sanford Bennet, published in 1922 in San Francisco, in which a photograph of Madame De Lanclos Ninon, a French lady, was given, who lived 350 years ago, and died at the age of 91. She looked so handsome at the age of 85 that looking at her figure, King Louis the 14th, remarked that her health was a miracle of his kingdom. There was not a wrinkle on her face. A French writer named Jeen Sowel, explaining the reasons of her immaculate figure, wrote that she used to sit before a mirror for hours and perform every day some exercises of contraction and relaxation of her face and her body which were recorded in her diary. Sanford Bennet who was suffering from a failing health took to those exercises with the result that if his photograph taken at the age of 50 were compared with the one at the age of 72 during the course of which he had taken full advantage of those exercises, then he looked older in the photograph taken at 50 than the one taken at 72. At 72 he looked younger than at 50. There is another photograph of a lady, given in the same book, who underwent the course of those exercises after performance of which she looked much younger than what she was. Her face became beaming with vigour and stregth.

We are giving in the book photographs of Madame De Lanclos Ninon, Sanford Bennet and the lady who performed the exercises from which one can judge for one-

self as to how much benefit one can derive if one were to practice regularly the exercises taken from her record and mentioned in this book.

These days many books have been written on Geriatrics, and as the population of old people is rapidly increasing due to scientific and technological advancement, thirst for knowledge is also growing as to how to solve the problems that every one has to face in old age. One of such books is by Gaylord Hauser—**Treasury of Secrets.** Mac Kanna's book—**Revitalize Yourself** is also worth reading. In the present book we have drawn upon every available source and have contributed enough of our own to make the book of practical use. Whatever has been written has been done so with scientific explanations. When one knows the scientific basis of a method, one does not require to be prompted to follow up the instructions in life. One follows the instructions by oneself as one comes to know their value.

We have discussed herein the problems of old age and their solutions from scientific point of view along with giving details of Yogic methods of Aasans, besides Praanaayaam, and Brahmacharya which stand for—Purity of the Body, Mind and Soul.

Let it be remembered that this book is not on Aasans (Poses). The number of Aasans (भासन) is legion. They are not meant for every body, particularly not for old people. They can make a person a wrestler or a gymnast or an acrobat. Our object is not to make Wrestlers, Gymnasts or Acrobats of our old people and enable them to perform extra-ordinary physical feats or acrobatic performances like the ones we witnessed during IXth Asiad in Delhi in November-December 1982.

To be a Gymnast and an Acrobat is alright. It helps to build the body, but it is not given to every body to successfully perform gymnastic and acrobatic exercises. It would have been better if the organisers of the Asiad had also arranged an exhibition of Yogic Aasans for the benefit of the people as well as of the Gymnasts.

This book is written with a view to make life healthy and free from ailments attendant to old age, besides enabling old men to enjoy a peaceful and blissful life. The object is that if a person is young, by making use of the instructions contained in this book, he should so equip himself with strength and vigour as to gladly and successfully meet the challenges of old age ; if he is old, he should take advantage of these instructions so that the problems of age, physical and mental, may not sit heavily on his shoulders. Happiness all along from beginning to end. We have suggested some Aasans (भासन), no doubt, but they are only those ones which are necessary to keep a person agile, elastic, strong, tranquil and peaceful in old age. The object is that when old age comes, as come it must, one should be free from pains in finger-joints, free from paints in knees, free from pains in shoulders, free from pains in muscles, free from pains in the back. One should be able to walk straight, stand erect and live the octogenarian life like a young man with a smile on his face. He should not spend his life cursing the inevitable old age.

It is true, old age is inevitable, there is no escape from it, but instead of being alarmed from it one should chalk out a way and programme in life so that one may enjoy it and live happy and contented with it. Without a programme, simply to live is to vegetate. Seneca has rightly said : 'Nothing is less worthy of honour than an old man who has no other evidence of having lived long except his age.' Bacon said : 'Old men go to death, and death comes to youngmen'. One cannot forget Joseph Campbell's couplet : 'As a white candle in a holy place, so is the beaulty of an aged face.'

Old age is full of problems. In what manner can one pass through old age as if there were no problems - this is what we have undertaken to solve in this book. The book is not ment solely for old people. It is undoubtedly meant for solving the problems of old people, but mainly it is meant for those who have yet to become old, as, no doubt, every body has to sooner or later ; for those who are standing at the threshold of the evening of life ; for those who are not yet facing the problems of old age, but who inevitably have to face those problems one day or the other. The book is a warning to them : Prepare yourself from now on, otherwise, when the demon will come, as come he must, he will find you unaware and will pounce upon you to your chagrih, and there will be weeping and guashing of teeth. To be aware of the calamity in time and be prepared so that it may not inflict any injury on us is the sign of WISDOM. One should remember as Joseph Jonbert has said : 'Old age takes from the intellecutual man no quaiities save those which are useless to wisdom.'

All what has b.en written in this book is on the basis of personal experience of the author who is passing through 86th year of his life. Instructions contained in this book are his life companions and so he finds himself sound and healthy in all respects. If one understands the basic principles underlying the philosophy enunciated herein, one can develop one's own method of exercises and way of living on the basis of what has been written in this book.

A Special featute of this book is that it mentions Homoeopathic as well as other treatments, such as, Allopathic, Ayurvedic, Unaani along with Yogic Aasans relating to the problems of old age.

Before I end, I must thank my niece Mrs Nutan Pandit who started this work, but due to other pressing occupations could not carry it through. Had she not pushed it on, I would not have undertaken to complete it. Besides, I am indebted to Mr Bharat Bhushan of P. T. I. who helped me in many ways during the course of preparation of this book and also to Mr D.R. Kawatra, Editor 'Better Life' for valuable suggestions. Of course, Shri Narayan Singh, Proprietor of the Press, a handsome enterprising youngman true to his words has won laurels for handing over to me the last proofs for corrections just in time, a rare phenomenon for a Press. May God bless them.

W 77A, Greater Kailash (I)
New Delhi—110048.

Satyavrata Siddhantalankar

पण्डित सत्यव्रत का लेखन-परिदृश्य

प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की साहित्य-साधना

डा० भवानीलाल भारतीय

अध्यक्ष, दयानन्द शोध पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय

गुरुकुल कांगड़ी के स्नातकों ने विगत काल में साहित्य लेखन के उच्चतर मानदण्ड स्थापित किये हैं। इन्होंने धर्म, दर्शन, अध्यात्म, समाजशास्त्र, राजनीति, इतिहास आदि के क्षेत्रों में अपनी लेखनी चलाकर उच्चस्तरीय साहित्य का प्रणयन किया है। प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालकार की यशस्वी लेखनी विगत पचास वर्षों से निर्बाध गति से चलती रही है। उनकी सर्वप्रथम कृति 'कान्फिडेंशल टाक्स टु यंगमेन' १९२५ ई० में मथुरा में आयोजित महर्षि दयानन्द की जन्म शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित हुई थी। इसके प्रकाशक लेखक के भ्राता पं० सोमदत्त ही थे। वस्तुतः यह पुस्तक उनके कुछ ऐसे लेखों का संग्रह थी जो बंगलोर से प्रकाशित होने वाले किसी पत्र में छपे थे। लेखक ने इसमें ब्रह्मचर्य की महत्ता का विवेचन किया था। ग्रन्थ की लोकप्रियता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि गुजराती तथा हिन्दी में इसके अनुवाद हुए। 'ब्रह्मचर्य सन्देश' शीर्षक हिन्दी अनुवाद आर्यसमाज के यशस्वी प्रकाशक गोविन्दराम हासानन्द ने १९५६ ई० में दिल्ली से प्रकाशित किया।

उनका एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व' शीर्षक से १९५३ ई० में देहरादून से प्रकाशित हुआ था। लेखक ने इसमें आर्य जाति की वेदाधारित सांस्कृतिक विरासत की मार्मिक विवेचना की है। प्रो० सिद्धान्तालकार के साहित्य की एक उल्लेखनीय उपलब्धि उनके द्वारा रचित तथा दो खण्डों में एकादश उपनिषदों की धारावाही टीका है। इसके लेखन की प्रेरणा उन्हें तब मिली जब उन्होंने अपनी विदुषी पत्नी स्व० चन्द्रावती लखनपाल के साथ उपनिषद् वाङ्मय का तलस्पर्शी अध्ययन एवं विचार किया। विद्या विहार देहरादून से उपनिषदों का यह लोकप्रिय अनुवाद सर्वप्रथम १९५४ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता का भी सरल भावार्थबोधक अनुवाद किया जिसे विजयकृष्ण लखनपाल ने १९६५ ई० में प्रकाशित किया। उपनिषदों में विवेचित विषयों का एक अन्य सारगर्भित मूल्याकनपरक ग्रन्थ 'उपनिषद् प्रकाश' शीर्षक से गोविन्दराम हासानन्द ने प्रकाशित किया है।

प्रो० सिद्धान्तालंकार लिखित वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व के लेखन की कहानी भी कुछ कम रोचक नहीं है। आर्यसमाज के विख्यात नेता पं० ठाकुरदत्त अमृतधारा वालों ने साहित्य लेखन को प्रोत्साहित करने के लिए एक ट्रस्ट का निर्माण किया। प्रो० सत्यव्रत जी भी इस ट्रस्ट के ट्रस्टी थे। ठाकुरदत्त धर्मार्थ ट्रस्ट ने वैदिक विचारधारा पर लिखी गई किसी उत्कृष्ट कृति पर ५०० रुपये का पुरस्कार देने की घोषणा की। इससे प्रेरित होकर प्रो० सत्यव्रत ने वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व शीर्षक ग्रन्थ का प्रणयन किया तथा इसे पुरस्कार समिति के विचारार्थ भेजा। यद्यपि इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को उक्त पुरस्कार के लिए सर्वथा उपयुक्त पाया गया किन्तु ट्रस्ट के संस्थापक पं० ठाकुरदत्त ने आपत्ति प्रस्तुत करते हुए कहा कि ट्रस्ट के सदस्य होने के कारण प्रो० सत्यव्रत को यह पुरस्कार नहीं दिया जा सकता। चाहे पुरस्कार उन्हें नहीं मिला किन्तु वैदिक

संस्कृति के मूल तत्त्व की आर्यसामाजिक साहित्य में निर्विवाद श्रेष्ठता स्वीकार की गई। लेखक ने स्वयं ही इसका अंग्रेजी अनुवाद भी किया जिसे विख्यात प्रकाशक तारापोरवाला ने बम्बई से 'हेरिटेज आफ़ वैदिक कल्चर' शीर्षक से प्रकाशित किया।

स्वामी दयानन्द ने मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए षोडश संस्कारों का विधान स्वरचित संस्कार विधि में किया है। इन संस्कारों की महत्ता एवं उपयोगिता को शरीरशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि के दृष्टिकोण से समय-समय पर परखा जाता रहा है। संस्कारों में की जाने वाली क्रियाओं की वैज्ञानिक एवं बुद्धिसंगत व्याख्या भी आवश्यक समझी गई है। एतदर्थ प्रो० सिद्धान्तालंकार ने 'संस्कार-चन्द्रिका' शीर्षक वृहत् व्याख्यात्मक ग्रन्थ लिखा जो विजयकृष्ण लखनपाल द्वारा १९७७ में दिल्ली से प्रकाशित हुआ। 'संस्कार-विधि' की अनेक व्याख्यायें यों तो अतीत काल में भी लिखी गई थीं, जिनमें पं० आत्माराम अमृतसरी तथा पं० भीमसेन शर्मा के संयुक्त लेखन में लिखित संस्कार-चन्द्रिका, पं० रामगोपाल विद्यालंकार लिखित 'संस्कार प्रकाश' तथा पं० रामगोपाल शास्त्री लिखित 'संस्कार-विधि मण्डनम्' आदि उल्लेखनीय रही हैं, तथापि प्रो० सत्यव्रत ने आर्यों के संस्कारों की जैसी तार्किक समीक्षा की है वह अपूर्व है।

प्रो० सिद्धान्तालंकार के कृतित्व को शीर्षस्थान प्राप्त हुआ उनकी लब्धप्रतिष्ठ पुस्तक 'वैदिक विचार-धारा का वैज्ञानिक आधार' के लेखन से। इस ग्रन्थ की श्रेष्ठता का अनुमान उन पुरस्कारों से लगाया जा सकता है जो लेखक को इसके प्रणयन से प्राप्त हुए हैं। भारतीय विद्याभवन ने इस ग्रन्थ को राजाजी पुरस्कार से पुरस्कृत किया। इसी प्रकार उत्तरप्रदेश सरकार का पुरस्कार, पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय स्मारक पुरस्कार, तथा हजारीमल डालमिया पुरस्कार भी इस ग्रन्थ पर दिये गए हैं। प्रो० सत्यव्रत ने 'आर्यन हेरिटेज' के कई अंकों में स्वजीवन के संस्मरणों को लिखते समय अपने साहित्य लेखन के कड़वे-मीठे अनुभवों को भी निबद्ध किया है।

पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार और उनकी कतिपय रचनाएँ

आचार्य उदयवीर शास्त्री

भारतीय दर्शनों के प्रख्यात भाष्यकार

बात कुछ पुरानी हो गयी है। सन्-महीना आदि विस्मृति की अँधियारी मे सूझ नही पड़ रहे; पर इतना याद आ रहा है, कि वह बात उस समय की है, जब पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार देहरादून के उच्चवर्गीय निवास—डालनवाला नामक उपनगर मे कोठी बनाकर निवास कर रहे थे। इन पंक्तियो का लेखक उन्ही दिनो देहरादून की मुख्य व्यापार सरणि पल्टन बाजार की एक दूकान मे आयुर्वेदिक चिकित्सा कार्य जीवन निर्वाहार्थ चला रहा था। दूकान के साथ ही पीछे की ओर संलग्न उसका निवास स्थान था। गुरुकुलो के नाते दोनो का एक दूसरे के स्थानों पर जाना-आना प्राय: लगा रहता था।

एक दिन औषधालय मे बैठे पंडितजी के साथ साधारण चिकित्सा विषयक चर्चा चल रही थी। पंडितजी बोले—होमियोपैथिक पद्धति व चिकित्सा पर ग्रन्थ लिखना चाहता हूँ। यह सुनकर उसे कुछ आश्चर्य हुआ, उसी मुद्रा में बोला—आपका होमियोपैथी से क्या सम्बन्ध? आप सिद्धान्तालंकार हैं, किसी वैदिक-अवैदिक सिद्धान्त पर ग्रंथ लिखिये। मेरी बात सुनकर कुछ मुस्कराते हुए पंडित जी बोले—बस! शास्त्री जी, आप भी कुछ नही जानते, किसी विषय का ग्रंथ लिखने मे क्या बाधा है? दस ग्रंथ इकट्ठे किये, ग्यारहवाँ तैयार हो गया। यह सुन मैं भी हंस दिया और बात आई-गई हो गई।

इस प्रसंग को हुए आज लगभग ४५-५० वर्ष बीत चुके हैं। पंडित जी भी कुछ समय के बाद देहरादून छोड़कर स्थायी रूप से दिल्ली आकर बस गये, और मुझे भी सन् १६४२ मे बलात् अनिवार्य रूप से देहरादून छोड़ना पड़ा, तथा अनेकत्र भटकता फिरता सन् १६५८ के नवम्बर मे मैं भी स्थायी रूप मे रहने की भावना से दिल्ली के दामन में बसे गाजियाबाद में आ टिका। वहाँ पर रहते मुख्य कार्य ग्रंथ लेखन ही रहा।

गाजियाबाद रहते मुझे तेरह-चौदह वर्ष हो चुके थे। एक दिन अचानक मेरे एक पुराने लाहौरी शिष्य डॉ० प्रेमनाथ आये; इन्होंने लाहौर नेशनल कॉलिज से बी० ए० उत्तीर्ण करने के अनंतर होमियोपैथी डॉक्टरी की डिग्री प्राप्त कर देश विभाजन के बाद दिल्ली आकर प्रैक्टिस प्रारम्भ कर रक्खी थी। बहुत दिन के बाद मुलाकात हुई थी, दो-तीन दिन अपने साथ ही उन्हें ठहरा लिया। उन्हें अध्ययन मे रुचि थी, अकसर मिलने पर मेरे पुस्तकालय को टटोलते रहते थे। तीसरे दिन विदा होते समय पुस्तकालय से दो पुस्तकें निकाल कर लाये, और बोले—कुछ दिनों के लिए ये पुस्तकें मुझे दे दीजिए। मैंने देखा, वे दो पुस्तकें पंडित जी की लिखी होमियोपैथी की थी। पंडितजी ने ये मुझे सस्नेह प्रदान की थी, उनके प्रति मेरा आकर्षण था, मेरे प्रति उनके स्नेह की यह धरोहर थी। न देने की भावना से मैंने कहा—आप इनका क्या करेंगे? आपने तो इंग्लिश व अन्य भाषाओं में लिखी बीसों पुस्तकें इस विषय की पढ़ी होंगी, यह आपके लिए क्या उपयोगी रहेगी? मेरी बात सुनकर डॉ० प्रेमनाथ ने कहा—शास्त्री जी! आपका कहना ठीक है, अनेक पुस्तकें मैंने इस विषय पर पढ़ी

हैं, मेरा यही विषय है, पर इतनी विशद और प्रत्येक विषय को इतना स्पष्ट प्रस्तुत करने वाली पुस्तक किसी भाषा मे मुझे नही मिली : एक होमियोपैथ डॉक्टर की वाणी से उक्त पुस्तकों के विषय में यह विचार सुनकर देहरादून के पंडित जी के कथन की वास्तविकता को उस दिन समझ पाया। पंडित जी की लेखन पद्धति के पीछे छिपा क्या रहस्य है जो उसे इतना आकर्षक और उपयोगी बनाता है, वह कुछ स्पष्ट होकर सामने आया।

जिस विषय पर पण्डित जी कलम उठाते हैं, उस विषय पर अपने पूर्ववर्ती लेखकों के विचारों को पूर्णतया जानने, समझने का प्रयास करते हैं। ऊहापोहपूर्वक उन पर चिन्तन-मननकर अपने सुविचारित सिद्धान्तों का निर्णय कर तद्विषयक रचना मे उन्हीं को प्रमाणपूर्वक विस्तार के साथ प्रस्तुत कर दिया जाता है। इसी प्रकार के सिद्धान्त-चयन में पण्डित जी की उपाधि का वास्तविक स्वारस्य है; ऐसा समझना अनुचित न होगा।

पण्डित जी ने विभिन्न विषयो पर अनेक ग्रन्थों की रचना की है। पर इस समय केवल दो रचना सामने हैं—१. उपनिषद्-प्रकाश और २. श्रीमद्भगवद्गीता।

(१) **उपनिषद्-प्रकाश** : इस भाग मे ग्यारह मुख्य उपनिषदो मे से छान्दोग्य, बृहदारण्यक दो उपनिषदों को छोड़कर शेष नौ का विस्तृत भाष्य प्रस्तुत किया गया है, जिनमे ईश, केन, कठ, प्रश्न, माण्डूक्य, ऐतरेय, श्वेताश्वतर का समावेश है।

सभी उपनिषद् अध्यात्म विषय का विवरण प्रस्तुत करते हैं। यह विषय अपने मे स्वय रहस्यमय व परोक्ष जैसा है। उसके अनुरूप उपनिषदों की भाषा भी अनेकत्र कुछ वैसी ही बन गई है। इसी कारण उपनिषदों के अनेक स्थल व सन्दर्भ विभिन्न व्याख्याकारों द्वारा विविध रूप व परस्पर विरोधी व्याख्यान होने के कारण—विवादास्पद बन गये हैं। जबकि उपनिषत्कार ऋषियों ने किसी एक मात्र निर्धारित लक्ष्य का विवरण प्रस्तुत करने की भावना से ही उपनिषदों की रचना की होगी। इसके अतिरिक्त उपनिषदों मे कतिपय स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ प्रयुक्त पदो का लोक-प्रसिद्ध अर्थ करने पर प्रसंग प्राप्त प्रतिपाद्य एक ओर लुढ़क जाता है, और व्याख्यात अभिमत अर्थ को संवादी बनाने के लिए इधर-उधर से जोड़े गये लम्बे व्याख्यान के घटाटोप मे वास्तविकता ओझल हो जाती है। ऐसा ही ईशोपनिषत् का एक लम्बा सन्दर्भ प्राय: सभी व्याख्याकारो के लिए नाड़िन्धम बना रहा है।

यह सन्दर्भ सख्या ६ से १४ के ६ मन्त्रों का है, जिसमे विद्या, अविद्या, सम्भूति (सम्भव) असंभूति (असम्भव), मृत्यु, विनाश आदि पदों का प्रयोग हुआ है। इन मन्त्रों मे लौकिक दुःख को पार कर अलौकिक अक्षय आनन्द (अमृत) को प्राप्त करने का उपाय बताया है। किस प्रकार हम लौकिक दुःखों को पार कर सकते है, और किस प्रकार अक्षय आनन्द (अमृत) को प्राप्त कर सकते हैं? इन्ही के साधन व माध्यम आदि का विवरण इन मन्त्रों में प्रस्तुत किया गया है।

इस सबको स्पष्ट समझने के लिए आवश्यक है, यहाँ प्रयुक्त विशिष्ट पदो का प्रसंगानुसार अभिलक्षित अर्थ जान लेना उपयोगी होगा—

विद्या-पद अध्यात्म की उपासना का निर्देशक है। इसके विपरीत 'अविद्या' पद अधिभूत की उपासना का निर्देश करता है। इन दोनों उपासनाओं की तरह इनका फल भी एक-दूसरे से भिन्न है। 'मृत्यु' पद का अर्थ यहाँ 'मरण' न होकर लौकिक जीवन में होने वाले 'ताप-त्रय' को कहता है—अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत दुःख। यहाँ दुःख पद न कहकर मृत्यु पद का प्रयोग दुःख की क्लिष्ट रक्षा का द्योतक है।

अविद्या से मृत्यु (तापत्रय) को पार करने और विद्या की उपासना से अमृत को प्राप्त करने का माध्यम क्या है? यह अगले तीन मन्त्रों में बताया गया है। यहाँ 'सम्भूति' (सम्भव), 'असम्भूति' (असम्भव) और 'विनाश' इन विशिष्ट पदों का प्रयोग हुआ है। 'सम्भूति' और 'सम्भव' समानार्थक पद हैं। अर्थ है—

उत्पन्न होना और उत्पन्न हुआ पदार्थ। यह पद समस्त कार्य जगत् को कहता हुआ भी प्रकृत में यह केवल जगद्रचना की परम्परा में अन्तिम चरम परिणति मानव शरीर का बोधक या वाचक है। इसी प्रकार 'असम्भूति' और 'असम्भव' पद समानार्थक है। सम्भूति-सम्भव और असम्भूति-असम्भव केवल प्रत्यय भेद के कारण भिन्न पद है, अर्थ एक है। असम्भूति का अर्थ हुआ—उत्पन्न न हुआ पदार्थ, अर्थात् कार्य जगत का मूल उपादान कारण अनादि तत्त्व, जो स्वयं कभी उत्पन्न नहीं होता, पर आगे विविध जगत् के रूप में परिणत होता रहता है। प्रस्तुत प्रसंग में सम्भव, असम्भव पदों का अर्थ पॉसिब्ल, इम्पॉसिब्ल समझना चिन्त्य प्रतीत हुआ। अन्तिम मन्त्र में असम्भूति' के स्थान पर 'विनाश' पद का प्रयोग किया जाता है जो दोनों पदों की पर्यायता का बोधक है। अत: विनाश पद का अर्थ नष्ट होना न होकर धात्वर्थ के आधार पर मूल तत्त्व का बोधक है। 'विविधानि-वस्तूनि कार्यजातानि नश्यन्ति-अदर्शनतां यान्ति यस्मिन् स: विनाश: प्रधानमित्यर्थ:।' प्रधान पद का भी ठीक वही अर्थ है—'प्रकर्षेण सर्वात्मना धीयते, अन्तर्लीयते कार्यजगत् यस्मिस्तत् प्रधानम्। यहाँ मूल उपादान तत्त्व के लिए 'असम्भूति' पर सर्ग की—अथवा रचना व उत्पत्ति की—भावना से तथा 'विनाश' पद लय की भावना से प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रसंग में यह ध्यान रखने योग्य है, कि उपासना चाहे अध्यात्म की हो या अधिभूत की; उपासक सर्वत्र केवल एक मानव शरीरयुक्त आत्मा ही रहता है। सर्वत्र योनि शरीरों मे आत्मा समान रहते हैं, शरीर सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न; पर उपासना के क्षेत्र में आत्मा के लिए केवल मानव-शरीर माध्यम रहता है, इससे अतिरिक्त अन्य कोई माध्यम उपासना के लिए बना नहीं है; इसलिए उपासना के क्षेत्र में मानव-शरीर का—माध्यम की दृष्टि से—प्राधान्य व उत्कर्ष मानना अनिवार्य है। यही भाव 'सम्भूत्या अमृतमश्नुते' पदों से अभिव्यक्त किया गया है। यहाँ 'सम्भूति' पद मानव-शरीर का बोधक है; जिस एकमात्र माध्यम से आत्मा अमृत प्राप्ति के साधनों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा आदि एवं ईश्वर प्रणिधान आदि का अनुष्ठान कर सकता है। यही अध्यात्म उपासना का स्वरूप है। इससे विमुख होकर यदि व्यक्ति अपने शरीर के सँवारने-सिंगारने में ही लगा रहता है, अध्यात्म अनुष्ठानों के लिए उसका सदुपयोग नहीं करता, अध्यात्म का केवल आडम्बर मात्र खड़ा रखता है; ऐसे ही व्यक्ति के लिए 'विद्याया रता:, सम्भूत्यां रता:' कहा गया है।

अधिभूत की उपासना का स्वरूप आधुनिक विज्ञान स्पष्ट उदाहरण है। उसने अधिभूत की उपासना के फलस्वरूप लौकिक जीवन की सुख-सुविधाओं के लिए विविध साधनों के अम्बार लगा दिये हैं। अधिभूत की कमनीय उपासना से लौकिक सन्ताप-त्रय (मृत्यु) को किस प्रकार पार किया जा सकता है, आज का मानव इसे स्पष्ट अनुभव कर रहा है।

सभी उपनिषदों में अध्यात्म उपासना के विविध प्रकारों का उल्लेख हुआ है पर उन सबका अन्तर्भाव अथवा उनका सार प्रश्नोपनिषद् के पाँचवें प्रश्न मे निहित है, जहाँ शिवि के पुत्र अथवा शिवि देश के निवासी सत्यकाम ने पिप्पलाद ऋषि से प्रश्न किया है—ओंकार की उपासना से किन लोकों की प्राप्ति होती है? तात्पर्य है—अध्यात्म उपासना का सर्वोच्च निर्बाध प्रकार ओंकार उपासना है। छान्दोग्य मे इसी का 'उद्गीथ उपासना' के नाम से वर्णन हुआ है। पातञ्जल योग दर्शन मे इसी को 'तस्यवाचक: प्रणव:, तज्जपस्तदर्थ भावनम्' रूप में कहा गया है। यही ईश्वर प्रणिधान है, जिससे समाधि की सिद्धि होती है—'समाधिसिद्धि-रीश्वर प्रणिधानात्।'

प्रश्नोपनिषद् के उक्त उपासना प्रसंग की 'उपनिषद्-प्रकाश' नामक व्याख्या में ओंकार उपासना के व्यावहारिक रूप को रुचिकर, अभिनन्दनीय रीति पर प्रस्तुत किया गया है। प्रतीत होता है, मानो लेखक स्वयं इसका अभ्यास करता रहा हो, और अपने अनुभव को ही कागज पर उतार रहा हो।

(२) **श्रीमद्भगवद्गीता**—विदेशी लेखकों ने भारत के प्राचीन इतिहास को दूषित करने—अथवा उसे इतिहास का रूप न रहने देने—की भावना से भारतीय प्राचीन इतिहास के मुख्य ग्रन्थ रामायण और महाभारत

को कल्पित आख्यान व रूपक का आकार देने में कोई कसर उठाकर नहीं रखी। पहला ग्रन्थ एक आदर्श पुरुष राम के रूप में साकार दिखाने का प्रयास है। उसके पात्र सब कल्पनाप्रसूत एवं अव्यवहार्य घटनाओं के जाल से ओत-प्रोत हैं। दूसरे ग्रन्थ में—प्रत्येक मानव के आन्तर में उठनेवाली दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों के संघर्ष और उसके सत्परिणामों को दिखाने का प्रयास है, जिसमें आसुरी प्रवृत्तियों का पराजय और दैवी प्रवृत्तियों का विजय रहता है। यहाँ पात्रों के जो नाम हैं, उनमें यह रहस्य अन्तर्हित है।

विदेशी लेखकों के ऐसे कथन का अनुकरण लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य को प्रारम्भ में किया है, या नहीं? यह मुझे ज्ञात नहीं; पर महात्मा गांधी ने गीता व्याख्या के प्रारम्भ में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है, उसे पढ़कर कुछ ऐसी भावना बनती है कि कदाचित् महात्मा गांधी के अपने विचार ही तदनुरूप रहे हों। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने भी अपने गीता-भाष्य के प्रारम्भ में इस रूपक का अनुकरण कर बड़े विस्तार के साथ उसका उल्लेख किया है। इस विषय में उनकी अपनी मान्यता क्या रही होगी? यह उनके लेख से स्पष्ट नहीं होता।

भगवद्गीता के प्रस्तुत व्याख्याकार ने भी महाभारत की ऐतिहासिक घटना को रूपक का आकार देने में विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है; पर दबे शब्दों में भारत युद्ध के ऐतिहासिक भाव को भी कायम रक्खा है। लेखक ने अपनी लेखन शैली की क्षमता और परिपक्वता के कारण यह प्रकट न होने देने का पूरा प्रयास किया है, कि वह भारत युद्ध के ऐतिहासिक तथ्यांश को स्वीकार नहीं करता।

इतिहास की पृष्ठभूमि को बताने के लिए दुष्यन्त से प्रारम्भ कर सौ कौरव और पाँच पाण्डव भाइयों तक संक्षिप्त घटनाक्रम बताकर आगे युद्ध होने तक की मध्यगत प्रत्येक मुख्य घटना का सन्तुलन आन्तर-मानस की दैवी आसुरी प्रवृत्तियों के साथ करते हुए यह स्पष्ट और दृढ़ किया है, कि इन घटनाओं के पीछे आन्तर-प्रवृत्तियों के रूपक का आकार किस प्रकार छिपा हुआ है। यदि भारतीय पात्रों की छाया में रूपक के आकार को स्वीकार नहीं किया जाता, तो गीता में प्रतिपादित आध्यात्मिक भावों की पृष्ठभूमि नष्ट हो जाती है। इसके लिए रूपक की कल्पना को आवश्यक व महत्त्वपूर्ण बताकर व्याख्याकार महोदय ने भारतीय इतिहास को विशृंखल करने वाली विदेशी लेखकों की उद्भावनाओं को बल प्रदान किया है, जो तथ्य के विपरीत हैं।

यद्यपि व्याख्याकार लिखता है, कि इसका यह अभिप्राय नहीं, कि महाभारत का युद्ध कल्पित है, क्योंकि सही घटनाओं के सहारे ही ऐसे रूप की उद्भावना की जाया करती है। पर भारतीय इतिहास को लक्ष्य कर उसे रूपक के आकार मे प्रस्तुत करना इतना रुचिकर व आकर्षक प्रतीत होता है, कि साधारण पाठक उससे प्रभावित व अभिभूत होकर वह रूपक में उलझा रहता है, वस्तुभूत ऐतिहासिक तथ्य उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है। इस दिशा में बल देने के कारण ही प्रथम लिखा है, कि प्रस्तुत व्याख्याकार ने भारतीय युद्ध सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्य को दबे शब्दों में स्वीकार किया है।

जहाँ तक गीता में आध्यात्मिक भावनाओं के प्रतिपादन की पृष्ठभूमि का सवाल है, उसके लिए प्रथमाध्याय के उत्तर भाग और द्वितीय अध्याय के प्रारम्भिक श्लोकों में वर्णित अर्जुन की मोहग्रस्त स्थिति क्या गीतागत आध्यात्मिक प्रतिपादन के लिए उचित एवं उपयुक्त पृष्ठभूमि नहीं मानी जा सकती? गीता का 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत: स्थितो अस्मिगतसंदेह: करिष्ये वचनं तव' यह उपसंहार-वाक्य तो यही प्रमाणित करता है, कि गीता प्रतिपादित अध्यात्म की पृष्ठभूमि गीता के प्रारम्भ में वर्णित अर्जुन का मोहग्रस्त होना पर्याप्त है, उसकी अन्यत्र अथवा अन्य किसी पृष्ठभूमि की तलाश करना व्यर्थ है।

यह अलग बात है, कि अपने सगे-सम्बन्धियों को सामने लड़ने-मरने के लिए खड़े देख अर्जुन को वास्तविक मोह हुआ, अथवा गीता में अध्यात्म-प्रतिपादन की पृष्ठभूमि तैयार करने के लिये वेदव्यास ने स्वकल्पनामूलक उसका उल्लेख किया। क्योंकि श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद रूप गीता के ये १८ अध्याय

(७०० श्लोक के लगभग) युद्ध के लिए खड़ी दोनों सेनाओं के बीच में प्रवचन नहीं किये गये। यदि वस्तुत: अर्जुन को मोह हुआ हो, तो वहाँ अपनी साधारण बोलचाल की भाषा में ही पन्द्रह-बीस मिनट या कुछ न्यूनाधिक समय लेकर ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया होगा। अर्जुन जैसे योद्धा क्षत्रिय को ऐसे अवसर पर जोश दिलाने या युद्ध निमित्त उभारने के लिए जिस भाषा का प्रयोग पर्याप्त समझा गया होगा, वह कुछ ऐसा रहा होगा, जो द्वितीय अध्याय के पाँच (३३ से ३७ तक के) श्लोकों में कथित है। ये १८ अध्याय तो शान्तिकाल में निश्चिन्त बैठे वेदव्यास की रचना हैं। दोनों अवस्थाओं में अर्जुन के मोह को गीता की पृष्ठभूमि मानने के लिए कोई बाधा नहीं है।

गीता के प्रस्तुत विद्वान् व्याख्याकार ने प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'उपसंहार' शीर्षक के नीचे अध्याय के प्रतिपाद्य विषय को आधुनिक रीति पर स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में अपने विचार दिये हैं, जो आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं। उसके अनन्तर गीता के आधुनिक मूर्धन्य व्याख्याकार लोकमान्य तिलक, अरविन्द, विनोबा आदि के विचार अपेक्षित स्थानों पर दिये गये हैं, जो गीता के प्रस्तुत व्याख्याकार के गीता विषयक गहन गम्भीर अध्ययन एवं विवेचनपूर्वक परिमार्जित सिद्धांतों को पकड़ लेने का परिणाम हैं।

इस ग्रन्थ में कतिपय आधुनिक सम्पादकीय न्यूनता रह गई हैं। १. प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में विषय-निर्देशक शीर्षक दिये गये हैं, ग्रन्थ के अन्त में उनकी सूची अध्यायवार परिशिष्ट-१ के नीचे दे देनी अभीष्ट थी। इससे खोजियों को विशिष्ट विषय पर जानकारी लेने अथवा निबन्ध आदि लिखने में सुविधा रहती है।

२. प्रत्येक अध्याय के अन्त में उपसंहार के अनन्तर जो विभिन्न व्याख्याकारों के विचार उपशीर्षकों के नीचे दिये गये हैं, उन उपशीर्षकों की अकारादि क्रमानुसार सूची परिशिष्ट-२ में पृष्ठनिर्देश के साथ दे दी जानी चाहिए।

३. परिशिष्ट-३ में गीता के समस्त श्लोकों की अकारादि क्रमानुसार सूची पृष्ठनिर्देश के साथ दी जानी आवश्यक है। यदि श्लोकार्द्ध या पाद की ऐसी सूची दी जाय, तो और भी अच्छा है।

ऐसे स्पष्ट सन्देह-रहित सुविचारपूर्ण गीता-भाष्य के लिए विद्वान भाष्यकार गीताप्रेमी पाठकों की बधाई के पात्र हैं। ऐसी अभिरुचिपूर्ण रचनाओं के लिए रचयिता का हार्दिक अभिनन्दन।

गीताभाष्य

डा० लक्ष्मीनिधि शर्मा

आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन-विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आचार्य पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी द्वारा लिखित गीताभाष्य, गीता पर लिखे गए सभी ग्रन्थों मे मौलिक और महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें गीता के प्रमुख प्राचीन और अर्वाचीन टीकाकारों के प्रमुख विचारों का विवेचन करते हुए आचार्य जी ने अत्यन्त सरल और स्पष्ट ढंग से गूढ़ तत्त्वों को प्रस्तुत किया है। आचार्य शंकर, रामानुज तथा मध्व के साथ ही तिलक, श्रीअरविन्द घोष, राधाकृष्णन और विनोबा की व्याख्याओं की तुलना की गई है।

सिद्धान्तालंकार जी ने बड़े ही सरल प्रकार से कर्म मार्ग और कर्मसंन्यास मार्ग का अन्तर स्पष्ट किया है। गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय निष्काम कर्म है। आचार्य शंकर से लेकर श्रीअरविन्द घोष और विनोबा तक अनेक आचार्यों ने कर्मयोग की अवधारणा से सम्बन्धित समस्याओ का उत्तर देने की चेष्टा की है —परन्तु अधिकाश व्याख्याओं मे कही न कही कोई शंका बनी रहती है। प्रस्तुत भाष्य में श्री सत्यव्रत जी ने समस्याओं को हृदयग्राही बनाते हुए उनकी समकालीन सार्थकता दिखाने का प्रशसनीय कार्य किया है। कर्मयोग की सार्वभौमिकता, सार्वत्रिकता और व्यावहारिकता दिखाते हुए उन्होंने हमारे वर्तमान जीवन में इसके महत्त्व को प्रदर्शित किया है। स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी की मान्यता के संदर्भ में श्रीअरविन्द द्वारा प्रतिपादित अतिमानस, अवतारवाद और आरोहण की अवधारणाओ का विश्लेषण भी अत्यन्त रोचक है। सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नो के विवेचन में श्रीअरविन्द, आचार्य विनोबा तथा अन्य आचार्यों के दृष्टिकोण की व्याख्या से इस भाष्य का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया है।

पण्डित जी के अनुसार 'गीताज्ञानामृत' अर्जुन के लिए ही नहीं, इसकी धारा अमरतत्व के हर एक पिपासु के लिए बह रही है। जो भी इस अमृत का पान करे वही अर्जुन है। इसी प्रकार कुरुक्षेत्र केवल स्थान विशेष का सूचक न होकर एक सार्वदेशिक सत्य का द्योतक है। यह हाथ पर हाथ रखकर न बैठने के स्थान में कर्म करने का क्षेत्र है। यह कर्म करने वाले प्रत्येक कर्त्तव्यशील व्यक्ति की 'कर्मभूमि' है। जीवन के कुरुक्षेत्र में जो कर्मक्षेत्र का ही दूसरा नाम है, दुर्योधन के १०० भाई एक तरफ हैं, युधिष्ठिर के ५ भाई दूसरी तरफ हैं। एक ओर १०० तथा दूसरी ओर पाँच, यही आसुरी और दैवी शक्तियों का सघर्ष है जो कुरुक्षेत्र या कर्मक्षेत्र में निरन्तर होता रहता है। दोनों का वश भी एक है। इस संघर्ष में आसुरी शक्तियां भीषण प्रहार करती हैं। दुर्योधन का आध्यात्मिक अर्थ है - दुः+योधन अर्थात् बुरी तरह युद्ध करने वाला। इससे वही लड़ सकता है जो धैर्यपूर्वक स्थिर रहे, विचलित न हो। युधिष्ठिर इसी का प्रतीक है। धृतराष्ट्र का अर्थ है, राष्ट्र को धृत करने वाला, टिकाए रखने वाला। यदि राष्ट्र को टिकाए रखने वाला ही अंधा हो तो उसी की आँखों के सामने राष्ट्र नष्ट हो जाएगा। अन्धे धृतराष्ट्र को पुत्रमोह के कारण दुर्योधन का अनर्थ नही दिखता था। सबको नष्ट होते हुए देखते भी वह कुछ नही देखता था—यही उसका अंधापन था। सही अर्थों में हम धृत-

राष्ट्र तभी कहा सकते हैं जब आँख खोलकर चलें। आसुरी प्रवृत्तियों के प्रभाव में हम अंधो जैसा व्यवहार करते हैं।

दुर्योधन, युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, कुरुक्षेत्र—ये शब्द गीता मे निरर्थक नहीं हैं। ये सब अर्थपूर्ण हैं। जीवन की कर्मभूमि में जो धर्म-अधर्म की, उचित-अनुचित की लड़ाई होती है, इस कुरुक्षेत्र अर्थात् धर्मक्षेत्र में सैकड़ों असुरों तथा पाँच देवों का युद्ध धर्म-अधर्म का, उचित-अनुचित का, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का युद्ध है। यह जीवन रूपी राष्ट्र इस युद्ध के संहारकारी परिणामों से तभी बच सकता है जब इस राष्ट्र का धारण करने वाला अंधा न हो। आसुरी प्रवृत्तियों के मायाजाल में फँस कर उचित-अनुचित को भूलने न लगे, कुरुक्षेत्र को धर्म-क्षेत्र समझे—पापक्षेत्र या ममताक्षेत्र न समझे।

इस संदर्भ में पंडित जी ने स्पष्ट किया है कि गूढ़ रहस्य की बातें कह देने भर से हृदय में नहीं उतरती। उन्हें किसी आख्यान में बाँध देने से सरल बुद्धि के लोग भी बहुत कुछ समझ जाते हैं। ऋषियों-मुनियों का आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने का यही तरीका था। यही विधि पंडित जी ने अपने भाष्य में अपनायी है। प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में आपने बड़े ही सुरुचिपूर्ण ढंग से जटिल प्रश्नों की हृदयग्राही व्याख्या प्रस्तुत की है।

पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार तथा गीता-टीका

डा० निगम शर्मा

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

वह अपने को जान ले, इसी चिकीर्षा में मानव की परम प्रतिष्ठा है। समस्त उपनिषदों का रहस्य इसी में सन्निहित है। आत्मा से संयुक्त होकर आत्मा का आनन्द पाने के लिए ही यह लम्बी यात्रा है। तृष्णा में इसी शरीर में अपना शरण बनाकर एक अशान्त पिपासा उत्पन्न कर दी है।

समस्त शास्त्र इसी जिज्ञासा के उपशम के लिए अपनी प्रवृत्ति का प्रयोजन स्पष्ट करते हैं। इसी सन्तोष के अभाव में मानव अतृप्त-सा, व्याकुल-सा, उन्मत्त-सा, अन्धा-सा एक लम्बे समय से भटक रहा है।

'जानत तुम्हहि तुमहि ह्वै जाई' कहकर तुलसी ने आत्म-विभोर होकर जिस असीमता की ओर इङ्गित किया, 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' कह कर जिस ओर भिक्षु-सूत्रों की प्रवृत्ति हुई, 'यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्' कहकर ऋग्वेद ने उसी कृतार्थता की पूर्वपीठिका स्थापित की। अतएव किसी भी टीकाश्रित लेखक में आत्म-दर्शन की यह उद्भावना अवश्य होती है। मानव-जगत् के सारे व्यापार इसी ओर उन्मुख हैं।

उपनिषदें, भिक्षु-सूत्र तथा गीता इस गहन ज्ञान के लिए अध्यात्म-क्षेत्र की पाथेय हैं। इस विषय को लेकर सम्प्रदाय के आचार्यों ने उच्च टीकायें तथा भाष्य लिखे हैं जिनकी भारतीय ग्रन्थों में प्रतिष्ठा तथा प्रसिद्धि है। इनमें भी विश्व-साहित्य में श्रीमद्भगवद्गीता का बहुत प्रचार है। विश्व की सभी शिष्ट भाषाओं में गीता का भाष्य तथा व्याख्यान उपलब्ध है। दर्शन-क्षेत्र के विद्वानों ने गीता की स्तुति तथा सराहना की है। गीता की भाषा मधुर तथा विचार सर्वोपयोगी हैं। अध्यात्म-क्षेत्र की मधुमती व्याख्या सरल और सरस भाषा मे कथोपकथन के रूप में इस प्रकार से दर्शायी गयी है जिससे सुगम रूप अन्य कोई हो ही नही सकता। अर्जुन का विषाद हर एक का विषाद है, उसका समाधान भी योगेश्वर श्रीकृष्ण ही कर सकते हैं।

श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का भाष्य तथा स्थान-स्थान पर दी गयी टिप्पणी मार्मिक सूझ-बूझ का परिचय देती है, साथ ही अध्यात्म-क्षेत्र मे उनके पावन अभ्यास का भी परिचय मिलता है।

श्री सत्यव्रत जी की भाष्य-टिप्पणी उद्बोध देने की सुन्दर प्रक्रिया रखती है। उदाहरण के लिए गीता १२-२ पर उनकी टिप्पणी इस प्रकार है—

> मय्यावेश्य मनो ये मां नित्य युक्ता उपासते।
> श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

भक्त को अपने मन को अपने ध्यान के लक्ष्य मे भीतर डाल देना चाहिये—यह अर्थ है 'आवेश' का। मन जब तक लक्ष्य के इधर-उधर चक्कर काटता है, तब तक तो लक्ष्य के साथ सिर्फ स्पर्श ही होता है। लक्ष्य

के साथ मन का स्पर्श होना पर्याप्त नहीं है। मन को लक्ष्य के भीतर प्रवेश कर जाना होगा उसके भीतर समाहित हो जाना होगा, तभी उपासना अपना रंग ला सकेगी। तब उपास्य-उपासक के बीच का भेद मिट जाता है।

इसी प्रकार 'नित्य युक्त' की व्याख्या करते हुए आप कहते हैं कि 'उपासक अपने उपास्य के साथ अनुप्रविष्ट हो गया, परन्तु यह अनुभूति क्षणिक न हो, कुछ समय तक ही ठहरने वाली न हो, नित्य यही वृत्ति=अनुभूति बनी रहे, तभी यह उपासना फलवती होती है।'

परा श्रद्धा के विषय में भी आप समझाते हैं कि 'श्रद्धा का अर्थ अन्ध श्रद्धा नहीं है। श्रद्धा बना है— 'श्रत्' और 'धा' से। श्रत् का अर्थ है 'सत्य', सत्य पर जो आधारित हो वह 'श्रद्धा' कहलाती है। सगुण विभूति में अथवा विश्व रूप में तन्मयता से जब प्रवेश किया जाय और वह प्रवेश जब सदा बना रहे, और श्रद्धापूर्वक बना रहे। ध्येय को सत्य मान कर उसमें अटल-श्रद्धा से भक्ति बनी रहे तभी उपासना उपासना कहलाती है। इस प्रकार सगुण उपासना पर उनकी टिप्पणी श्रद्धा-सुमन बिखेरती है।''

अर्जुन का चुप हो जाना (२-९), यह मोह का प्रथमांक है। हंसते हुए सहज भाव से श्रीकृष्ण जी का यह कहना कि जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए, उनके लिए तुम शोक करते हो और प्रज्ञावान् की भांति बातें करते हो। यह तो अटल सत्य है कि जिनके प्राण उड़ गये और जिनके प्राण अभी नहीं गये—उनके विषय में औचित्यवादी शोक नहीं करते (२-११)। यहाँ पर आरम्भ की भूमिका में श्री सत्यव्रत जी तीन दृष्टियों से — (१) सांख्य-दृष्टि, (२) स्वधर्म-दृष्टि तथा (३) योग-दृष्टि से समझाते हैं। पहले साख्य= संन्यास=वैराग्य की दृष्टि से अर्जुन के मोह को दूर करने का प्रयास किया गया। फिर स्वधर्म-दृष्टि से कर्त्तव्य-पालन के लिए उन्मुख किया गया और पुनः योग-दृष्टि=समत्व भावना से कर्म करने के लिए प्रेरित किया गया।

मात्रा स्पर्शाः (२-१४) पर नीलकण्ठ यह भी अर्थ सुझाते हैं—'दश प्रज्ञामात्रा वागादयः, इन्द्रिय-विषयरूपाः, यद्वा प्रमात्रा सह स्पर्शाः' यह बहुत ही सुन्दर चिन्तन का परिणाम है। सत्यव्रत जी भी सुगम भाषा में यही कहते हैं—'उसे सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख की अनुभूति इस कारण होती है क्योंकि आत्मा का मात्रा से—इन्द्रियों से स्पर्श रहता है। इन्द्रियों तथा शरीर का आत्मा के साथ सम्पर्क होने के कारण वह भान आत्मा पर आरोपित हो जाता है। ये स्पर्श तो आते-जाते रहते हैं, अनित्य है अतः इन्हें सहन कर।'

सांख्य-शास्त्र प्रकृति को ही कर्त्ता मानता है। गीता भी इसी विषय का समर्थन करती है (१३-२९)। नीलकण्ठ भी समर्थन करते हैं—

> आत्मा कर्तादिरूपश्चेन्माकांक्षी स्तर्हि मुक्तताम्।
> न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः ।।

सत्यव्रतजी भी कहते हैं—इस दृश्य नाशवान् जगत् में अदृश्य आत्मा को देखना ही वास्तविक देखना है। इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को—प्रकृति तथा आत्मा को पृथक्-पृथक देख लेना ही कृतार्थता है। मनुष्य मोहवश (१८-६०) जो करना चाहिये, वह नहीं कर पाता पर ईश्वर की प्रबल इच्छा से विवश होकर वह कार्य कर जाता है जो उसी के लिए नियत है। डा० राधाकृष्ण को उद्धृत करते हुए प० सत्यव्रत जी परामर्श देते हैं—परमात्मा हमारा स्वेच्छापूर्वक सहयोग चाहता है जिससे सौन्दर्य और शुभ का प्रसव बिना पीड़ा के प्रयास-हीन रूप से हो जाय। जब हम परमात्मा के प्रकाश के लिए अपने अहंकार का परित्याग कर देते हैं, उस प्रकाश के लिए पारदर्शक माध्यम बन जाते हैं, तब वह अपने कार्य के लिए हमारा उपयोग करता है।'

इसी कारण गीता (३-१७) आत्म-रति (न स्त्रीषु) की श्लाघा करती है। सत्यव्रत जी भी कहते हैं—'उसके लिए ऐसा कोई कार्य नहीं रहता जिसे करना आवश्यक हो।'

यह सारा उल्लास कुरुक्षेत्र का है जिसके लिए कहा जा सकता है—'कुत्सितं रौति, इति कुरु पापं तस्य क्षेपणात् त्रायते, इति कुरुक्षेत्रम् । पापनिवर्त्तकं ब्रह्म-सदनम् ।'

गीता के प्रायः शब्द पारिभाषिक हैं। उनके यथायोग औचित्य के आधार पर सरल भाषा में पं० सत्यव्रतजी ने स्पष्ट किया है जिससे सरल मुग्ध व्यक्ति भी गीता के गहन विषय का रसास्वाद पा सकता है। साथ ही उच्च कोटि के मर्मज्ञ टीकाकारों का भी उद्धरण देकर अपने कथन को प्रामाणिक और प्रशंसनीय आधार दिया है। गीता को उपनिषद् का नवनीत कहा गया है जो कि बहुत ही सराहना के योग्य शब्द है। यही कारण है कि उच्च आचार्यों ने गीता को हृदयंगम करके अपने सिद्धांतों को संबल दिया है। प० सत्यव्रत जी का यह बहुत ही ग्राह्य तत्वबोध है। इतनी सरल और परिष्कृत भाषा भी एक चमत्कार का विषय मानी जायेगी।

निर्गुण-उपासना के विषय में भी कुछ कार्य-तत्त्व का अवधारण करते हुए आप कहते हैं—'सगुण के ही समान निर्गुण उपासना के लिए भी तीन बातें आवश्यक हैं: (१) *संनियम्येन्द्रियग्रामम्*—निर्गुण उपासना का सीधा अर्थ है—सगुण संसार से चित्त हटा लेना। ससार मे हम ज्ञानेन्द्रियों तथा मन द्वारा विहार करते हैं। जब तक हम बाहर विचरते रहेंगे, तब तक भीतर दृष्टि नही हो सकती, इस हेतु निर्गुण उपासना के लिए प्रथम विन्यास यह है कि—दो पर संयम करना—इन्द्रियों पर तथा मन पर, इन दोनों को अपने वश मे कर लेना। (२) *सर्वत्र समबुद्धयः*—निर्गुण उपासना के लिए दूसरा विमर्श यह है कि साधक को सर्वत्र समबुद्धि से देखना चाहिए। निर्गुण-ब्रह्म ही सम-भाव से सम्पूर्ण विश्व में रम रहा है। उसकी उपासना करनी हो तो सम-भाव को धारण करना आवश्यक होगा। संसार के विषयों मे विषय-भाव है, नाना विषय हैं, इनमे पड़े रहने से सम-भाव नही उत्पन्न हो सकता। जब इन्द्रियों तथा मन को विषयों में से हटा लिया तब परमात्मा के दर्शन तो एकदम नहीं हो सकते, परन्तु परमात्मा को पाने की दूसरी सीढ़ी पर चरण रखा जाता है। तब सम-बुद्धि की भावना को जन्म दिया जा सकता है। सम-बुद्धि ब्रह्मबुद्धि उत्पन्न होने से पूर्व की अवस्था है क्योंकि ब्रह्म-सत्ता सर्वत्र एक-सी है प्रत्येक वस्तु मे परमेश्वर है, अतः उस समरस को पाने से पूर्व समरसता को पा लेना, उसे ही पा लेने का साधन है। गीता ने स्वयं (५-१८) कहा है—'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः, इहैव तैं जितः स्वर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः (५-१९), साधुष्वपि पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते (६-९)। मनुष्य के लिए समरसता की अवस्था संभव है, इसमे सन्देह नही।

(३) प्राणि-मात्र के साथ आत्म-भाव—'सर्वभूतहितेरताः' के विषय में आप समझाते हैं—'दूसरो के स्वार्थ मे अपना स्वार्थ देखना। अपने हित में, अपने कल्याण मे लगे रहने के स्थान पर सब के कल्याण मे अपने को खपा देना, जिनको भगवान् ही देखना है, पाना है, वह जब सभी स्थानों पर सम-बुद्धि से देखेगा, तब उसे सर्वत्र एक ही तत्त्व दिखायी देगा, दूसरा तत्त्व दीखेगा ही नहीं। वह जहाँ दुःख देखेगा, रोग देखेगा, अकल्याण देखेगा, उसी को दूर करने में वह जुट जायेगा क्योंकि मानव-मात्र का दुःख उसी का दुःख है, मानव-मात्र का रोग उसी का रोग है, मानव-मात्र का अकल्याण उसी का अपना अकल्याण है।'

इस प्रकार सरल-सुबोध-सर्वगम्य भाषा में गीता के दुर्बोध-स्थलों को अपनी टिप्पणियों से समझाने का प्रयत्न सिद्धान्तालंकार जी ने किया है। हिन्दी भाषा मे वह भी इतना मधुर तथा सहज रूप में स्पष्ट करना कठिन काम है पर पण्डित जी ने बहुत ही वैदुष्य एवं चिन्तन का निरूपण प्रस्तुत किया है।

बीच-बीच में विनोबा, सातवलेकर, योगी अरविन्द, तिलक आदि मनीषी-विचारकों के मतों से अपने कथन को पुष्टि इन्होंने की है। नवें अध्याय के प्रारम्भ में राजविद्या-राजगुह्य जैसे शब्द आये हैं। आपने विनोबा के मत का उद्धरण देते हुए कहा है—यह विद्या शब्दों में न समाने वाली परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव की कसौटी पर कसी हुई है। राजविद्या का अर्थ है 'विद्यानां राजा' जो सबसे बड़ी विद्या हो, वह राजविद्या, इसी प्रकार राजगुह्य=गुह्यों का राजा, जो सबसे रहस्यमयी वस्तु हो, वह 'राजगुह्य'। राजन् शब्द श्रेष्ठ

या उत्कृष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है।

प्रसन्न मन से मैं कब अपने आपको उस परिरमणीय परमात्मा में समर्पित कर दूंगा, यह वैदिक ऋषि की लालसा है (ऋ०-७-८६-२) गीता की साक्षी से (११-५४) श्री सत्यव्रत जी परामर्श देते हैं—"जब साधक भगवान् को लक्ष्य में रखकर उस यात्रा के लिए निकल पड़ता है, तब इस यात्रा का पहला पडाव होता है 'ज्ञान'। जब तक इस बात का ज्ञान ही नहीं हो कि वह किधर जा रहा है, तब तक उस मार्ग पर उसका पग उठेगा ही कैसे? लक्ष्य को जान लेने के उपरान्त साधक उसे स्पष्ट देखने लगता है, लक्ष्य को देखने लगना ही इस यात्रा का दूसरा पड़ाव है, इस पडाव का नाम है 'दर्शन'। लक्ष्य को देख लेने के अनन्तर साधक सत्य को—यथार्थ को अपनाता जाता है और असत्य को—अयथार्थ को छोड़ता जाता है और यथार्थ सत्ता मे प्रविष्ट होता जाता है, अयथार्थ सत्ता से—मिथ्या से—अज्ञान से निकलता जाता है। साधक की यात्रा के इन तीनों क्रमों को गीता में 'ज्ञातु द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप' कहा है।

इसी विषय को समझाते हुए (३-३) में नीलकण्ठ सुझाव देते हैं कि प्रकृति-पुरुष के अन्तर को जो जानते हैं, वे ही स्पष्ट रूप से आत्म-अनात्म विषय का परिचय पालते हैं—ज्ञानार्थं युज्यते, इति ज्ञानयोगः, ज्ञानोपायः, वेदान्त श्रवण मनन निदिध्यासनात्मकः। इस ज्ञान योग से सांख्य लोग ब्रह्म मे निष्ठा प्राप्त करते है। योगियों के लिए—सिद्ध सिद्धयोः समं भूत्वा समत्वं योग उच्यते' (२-४८) सन्ध्योपासन आदि के द्वारा निर्विकल्पक का अनुष्ठान करने वाले कर्मयोगी है और ऊहापोह के द्वारा ब्रह्म मे कौशल प्राप्त कर लेने वाले सांख्य है। वसिष्ठ ने भी यही परामर्श दिया है—

> द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
> योगो वृत्ति निरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥

गीता मे व्यापक तथा विस्तृत रूप को स्वीकार करके तप, सन्यास समाधि एव प्राणायाम आदि के लिए 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग हुआ है। लोकमान्य तिलक की साक्षी मे सत्यव्रत जी का कहना है कि 'यज्ञ शब्द का व्यापक अर्थ लेकर इस सामाजिक तत्त्व को समझाया गया है। अपनी कुछ वस्तु छोड़े बिना न तो सबको एक-सी सुविधा मिल सकती है और न जगत् के व्यवहार ही चल सकते हैं। उदाहरणार्थ पश्चिम के समाज-शास्त्री कहते हैं कि अपनी स्वतंत्रता को परिमित किये बिना औरों को एक सी स्वतंत्रता नही मिल सकती। यदि गीता की परिभाषा में इस अर्थ को कहना हो तो हम कहेंगे—जब तक प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता के कुछ अंश का भी यज्ञ न करे तो इस लोक के व्यवहार भी नहीं चल सकते। इससे यह निश्चय है कि यज्ञ ही सारी समाज-रचना का आधार है। (गीता ३-४३) यज्ञ से मानव कृतकल्प बनता है। यज्ञ उस परम्परा को जन्म देता है जिस सोपान से मानव परमेष्ठी तक सुगमता से पहुँच सकता है। यज्ञ एक आराधना है और आराधना आत्म-तृप्ति का साधन है।

'कामान् मनोगतान्' (२-५५) के विषय को समझाते हुए आचार्य नीलकण्ठ ने 'स्थूल सूक्ष्म कारण-शरीरभोग्यान्' कहा है जो बहुत ही उपयुक्त है। इस गहन विषय पर श्री सत्यव्रत जी की टिप्पणी भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनका कहना है, 'विषयों से हटना—यह स्थितप्रज्ञता का नकारात्मक रूप है और अपने आप में जुड़ जाना—यह स्थितप्रज्ञता का सकारात्मक रूप है। स्थितप्रज्ञ अपने को सांसारिक विषयों से हटा लेता है और आध्यात्मिक विषयों से अपने को जोड़ लेता है।' यह बहुत ही आवश्यक और पूरक टिप्पणी है।

नीलकण्ठ यज्ञ (३-१०) को परमात्मा की आराधना के रूप मे स्वीकार करते हैं। श्री प० सत्यव्रत जी का कहना है—'जैसे तुम को यज्ञ की भावना से उत्पन्न किया है, वैसे तुम भी यज्ञ की भावना से ही सांसारिक सूत्र को चलाओ। यदि प्रत्येक काम को तुम यज्ञ की भावना से ही सम्पादन करोगे तो यह यज्ञ तुम्हारे लिए कामधुक् होगा और तुम्हारी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करेगा।' यह टीका भी पूर्वाचार्य की कथन-

पूर्ति है।

सत्त्व रज और तम से अभिभूत व्यक्ति अपनी-अपनी वासना के अनुसार यज्ञ करते हैं। सत्रहवें अध्याय में गीता ने व्यापक रूप से इन पर विचार प्रस्तुत किया है। व्याख्याकारों ने यहाँ पर अपनी-अपनी सूझ के अनुसार उत्तम टिप्पणियाँ दी हैं। आचार्य सत्यव्रत जी का भी कथन इस प्रसंग में युक्तियुक्त तथा सराहनीय है। आहार-विचार-यजन आदि कार्यों पर इन गुणों का सर्वथा प्रभाव पड़ता है। जो जैसी श्रद्धा रखता है, उसकी उसी प्रकार की प्रकृति (स्वभाव) बनती है। (१७-३) सात्त्विक लोग शास्त्रपूर्वक देवों की अर्चना-आराधना-उपासना करते हैं और यही उचित भी है। इसमें शान्ति, तृप्ति तथा आनन्द की प्राप्ति होती है।

योगी अरविन्द का उद्धरण देते हुए पं० सत्यव्रत जी परामर्श देते हैं कि गीता राजनीति-शास्त्र का ग्रंथ नहीं है अपितु आध्यात्मिक जीवन का ग्रन्थ है। गीता जिस कर्म का प्रतिपादन करती है वह मानव-कर्म न होकर दिव्यकर्म है।

सत्यव्रत जी बहुत ही मधुर पर स्पष्ट रूप में निर्देश करते हैं कि (२-७२) समाज ने जिन कर्त्तव्यों को हमारे लिए निश्चित किया है, वे दिव्यकर्म नहीं अपितु मानव-कर्म हैं। जब मानव दिव्यकर्म करने लगता है, तब वह स्वयं कर्म नहीं कर रहा होता, मनुष्य को माध्यम बनाकर भगवान् ही कर्म कर रहा होता है। मनुष्य तो निमित्त-मात्र होता है।

'निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्' (११-३३)। दिव्यकर्म का यह अभिप्राय नहीं कि उसमें मानव-कर्म आ ही नहीं सकता, अथवा इन दोनों का सदा विरोध है। समाज-सेवा, अपने-अपने धर्म का पालन, निश्चित किये गए कर्त्तव्य-कर्म—ये सब दिव्यकर्म के अंग हो सकते हैं। आजकल के युग में ये 'दिव्य कर्म' के अंग हैं भी, अतएव ये चल भी रहे हैं फिर भी ऐसा भी अवसर कभी आ सकता है जबकि इन दोनों में अन्तर्विरोध उठ खड़ा हो। बुद्ध के जीवन में ऐसा अवसर आया। दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द के जीवन में भी ऐसा अवसर आया। उस समय इन्होंने मानव-कर्म को—कर्त्तव्य कर्म को परे फेंक दिया और दिव्य कर्म को पकड़ा।'

इतनी सरल और सुबोध भाषा में ऐसे मार्मिक स्थलों का आख्यान करना अथवा उनकी सार गर्भित पर सरस व्याख्या करना कठिन है पर अनेक टीकाओं की उपस्थिति में पं० सत्यव्रत जी की टीका गीता की गौरवशालिनी टीका है। इन्होंने जन-मन की भाषा में इस गहन विषय को सफल रूप में समझाया है और वे इस प्रयास के कारण गुरुकुल को धन्य तथा गुरुकुल की ओर से धन्यवाद के पात्र हैं। तत्तेऽस्तु श्रायुषम्।

आनन्द आत्मा को नित्य-तृप्ति देने वाला अमरता का धर्म है, अन्य सुख इन्द्रियमात्र गोचर होने से भंगुर तथा परिणाम में क्लेशदायक है। अतः सात्त्विक गुणानुरूप यज्ञ-पूजा ही कल्याणार्थ विहित है।

गीता का सहारा लेकर अन्य भी अनुरूप विषयों पर श्री सत्यव्रत जी की टिप्पणियाँ बहुत ही सजग और भास्वर हैं। उनकी अनुभूति में उपलब्ध वाक्य बहुत सुगम और आत्म-रस को देने वाले हैं। आपका कथन है—मनुष्य का परम प्रयोजन यही है कि ईर्ष्या-रहित होकर श्रद्धा से आत्मा को सम्पन्न करे और बन्धनों से छुटकारा पाये। अज्ञान से उत्पन्न मोह मनुष्य को आसक्ति में डालता है। अतः यह पावन तथा आवश्यक धर्म है कि तपस्वी बनकर इस अज्ञान-मल का प्रक्षालन करे, भक्ति का सम्पादन करे तथा सेवा-भावना से प्रभु की आराधना करे (१८-६५)। जब तक व्यक्ति परमात्मा का इष्ट नहीं बन पाता तब तक इस गुह्य विषय को समझने की पात्रता भी नहीं आती। अतएव भगवान् ने कहा—

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

यही तो मनुष्य की परम कृतार्थता है। निराशा—रजनी के तीर पर बहुत धीर होकर वीरता के साथ

इस संघर्ष में विजय-प्राप्ति करे। संघर्ष छोटा हो या बड़ा हो, उपकरणसाध्य हो या केवल आत्मसाध्य हो, श्री दोनों हाथों में तभी लगती है जबकि विधाता के लिए नविष्ठ वाणी पहुँचती है। अथवा ईश्वर ही हृदय-नीड़, में सुनृत-वाक् की स्थापना करते हैं, जिसकी कुलबुलाहट अथवा चहचहाट मे अमरता का साम-गान मिलता है। 'जानत तुम्हहिं-तुम्हहि ह्वै जाई' कह कर तुलसी ने भी इसी आनन्द की मधुर परिभाषा की है। 'अहं श्लोककृद-अहं श्लोककृत्' कहकर उपनिषत् का भी यही निनाद है।

पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का गीता-भाष्य एवं अन्य भाष्यकार

डॉ० महावीर

प्रवक्ता संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

गीता भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि है। हजारों वर्षों से भारतीय जानता इस अमर ग्रंथ से प्रेरणा एवं जीवन प्राप्त करती रही है। इस ग्रन्थ-रत्न की कीर्ति कौमुदी ने न केवल भारतवर्ष को अपितु समस्त विश्व को आलोकित किया है। विश्व की अनेकानेक भाषाओ मे तथा हमारे देश की प्रान्तीय भाषाओ मे जिन संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है, उनमें गीता सर्वप्रमुख है। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र मे मोहग्रस्त अर्जुन को योगेश्वर कृष्ण द्वारा दिये गये गीता के अमृत-रस का पान करते हुए अनेक देशभक्त वीरों ने हँसते-हंसते अपने जीवन-सुमन भारतमाता के चरणों में समर्पित किये हैं। आत्मा की अजरामरता का गीता मे गूंजने वाला दिव्य सन्देश—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक:।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत:॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि,
तथा शरीराणि विहाय जीर्णाण्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

आज के मृतप्राय व्यक्ति के जीवन मे नवचेतना भर देता है। मृत्यु जैसी दारुणतम घटना पर भी यह विजय प्राप्त करा देता है।

गीता भारतीय मनीषा का परमोज्ज्वल रूप है। इस देश के प्रात:स्मरणीय ऋषि-मुनियों, संत-महात्माओं एवं आचार्यों ने दिव्य-साधनाओं, तपस्याओं द्वारा जिन जीवन-सत्यों का साक्षात्कार किया, मानव-जीवन को सुखी, आनन्दमय एवं सफल बनाने के लिए जो सुन्दर-सुन्दर उपदेश, दर्शन, उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मणादि ग्रन्थों में दिये, गीता उन सबका सार है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन:।
पार्थो वत्स: सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

गीता का ज्ञान केवल अर्जुन के लिए ही नहीं है, अपितु अमरत्व की इच्छा रखने वाले प्रत्येक पिपासु एवं जिज्ञासु के लिए है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब वह अर्जुन के समान जीवन के चौराहे पर मोहग्रस्त होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति को प्राप्त हो जाता है, ऐसे नाजुक क्षणों में गीता का प्रत्येक श्लोक कर्त्तव्य-मार्ग का बोध कराकर निराश जीवन में आशा और नवोत्साह का संचार करता है। आज भी भारत के ग्राम-ग्राम में, घर-घर मे, खेत-खलिहान में महल एवं झोपड़ी में श्रद्धापूर्वक गीता का

पाठ किया जाता है।

यूद्धों का महान् विजेता सिकन्दर जब भारत विजय की कामना से यूनान से अपने गुरु से विदा लेकर आ रहा था, तब गुरु ने शिष्य से यही कहा था कि उस परम पवित्र भारतभूमि से मेरे लिए गंगाजल के साथ गीता की पुस्तक अवश्य लेते आना।

गीता के सम्बन्ध में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के विचार अत्यन्त मार्मिक एवं स्पृहणीय हैं। गांधी जी ने यंग-इंडिया में लिखा था।

"मुझे भगवद्गीता में एक ऐसी सान्त्वना मिलती है, जो मुझे बाइबल के 'सर्मन आन दी माउट' तक में नहीं मिलती। जब निराशा मेरे सामने आ खड़ी होती है, जब मैं अपने को बिलकुल एकाकी अनुभव करता हूँ, जब मुझे प्रकाश की कोई किरण दिखलायी नही पड़ती, तब मैं गीता की शरण लेता हूँ और तब मुझे गीता में कोई-न-कोई ऐसा श्लोक दीख पडता है, जिसे पढ़कर मैं विषम विपत्तियों में भी मुस्कराने लगता हूँ।'

गीता सदियों से केवल विद्वानों का ही नहीं, सर्वसाधारण का भी समान रूप से मान्य ग्रन्थ रहा है, क्योंकि इसमें सार्वभौम सिद्धान्तों का, जीवन का सुस्पष्ट मार्गदर्शन है। गीता में ऐसे अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिनको व्यावहारिक रूप प्रदान कर आज का अशान्त मानव शान्ति प्राप्त कर सकता है। यदि हम गीता के 'निष्काम कर्म' के विचार को ही पकड लें तो हमारी अनेक उलझन भरी समस्याएँ अपने आप सुलझने लगती हैं। फल में आसक्त न रहते हुए जब मनुष्य कर्त्तव्य की भावना से कर्म में संलग्न होता है। तब वह सुख-दुःख से क्षुब्ध नहीं होता। गीता ने इस मानसिक-व्यवस्था का बहुत सुन्दर वर्णन किया है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

यह तथा इसी प्रकार के अनेक सार्वभौम सिद्धान्तो के प्रतिपादन के कारण गीता को न केवल भारत में अपितु सम्पूर्ण विश्व मे अत्यधिक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

मानव-जाति के लिए गीता मे वर्णित इन विविध सिद्धान्तों की महती उपयोगिता एवं आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए आद्य शंकराचार्य, रामनुजाचार्य एव श्री मध्वाचार्य से लेकर वर्तमान युग के महामनीषी लोकमान्य तिलक, योगी अरविन्द, महात्मा गांधी, आचार्य विनोबा भावे, डॉ० राधाकृष्णन्, स्वामी आत्मानन्दी सरस्वती आदि ने गीता पर अनेक विद्वत्तापूर्ण भाष्य एव टीकाएँ लिखकर इस ग्रन्थ रत्न को जन-जन तक पहुँचाने का अभिनन्दनीय प्रयास किया। इन महापुरुषों के सत्प्रयासों से गीता का ज्ञान सीमाओं को तोड़कर सर्वत्र फैल गया। गीता पर भाष्य लिखने वाले ये सभी मनीषी अधिकारी विद्वान थे। इन का प्रत्येक शब्द गहन चिन्तन एव मनन की अपेक्षा रखता है। इन सबके जीवन भी गीता के श्लोकों की व्यावहारिक व्याख्या-रूप रहे हैं। गीता पर लिखे जाने वाले भाष्यो को इस सुदीर्घ परम्परा को देखकर एक प्रश्न उत्पन्न होने की सहज संभावना यह है कि प्राचीन एव अर्वाचीन आचार्यों के इन भाष्य मे अवश्य ही कोई कमी होगी, जिसकी पूर्ति के लिए नये-नये भाष्यों का निर्माण हो रहा है, किन्तु यह शका निर्मूल है। सत्य तो यह है कि गीता एक विशाल महासागर है, जिसमें अनेकानेक रत्न छिपे हुए हैं। इन भाष्यकारों ने गीतारूपी समुद्र में गोते लगाकर जिन रत्नों को जिस रूप में पाया उनको उसी रूप में पूरी ईमानदारी और विश्वकल्याण की भावना से प्रस्तुत कर दिया। अतः किसी भी भाष्य की उपयोगिता एवं मौलिकता में किंचित्मात्र भी सन्देह करने की आवश्यकता नही है।

गीता के गूढ़ विचारों को सरल एवं व्यावहारिक रूप देकर अधिक-से-अधिक लोगो तक पहुँचाना अत्यन्त पुनीत कर्म है और साहित्य की ही नही, देश की भी सेवा है। भाष्यों की इस श्रेष्ठ परम्परा में वर्तमान युग के महान् विचारक, उत्कृष्ट लेखक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के प्राचीन स्नातक,

वर्तमान में विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा, भूतपूर्व संसद सदस्य प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का गीता-भाष्य मौलिक एवं विद्वत्तापूर्ण होते हुए भी सरल, प्राञ्जल एवं सर्वग्राही भाषा में लिखा होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी रचना इस प्रकार से की गई है, जिसे पढ़कर विद्वद् वर्ग एवं साधारण वर्ग दोनों समान रूप से लाभ उठा सकते हैं।

प्रो० सत्यव्रत जी के गीता-भाष्य को हाथ में लेते समय मेरे मस्तिष्क में एक प्रश्न उत्पन्न हुआ था कि इतने सुन्दर-सुन्दर भाष्यों के होते हुए इस भाष्य की क्या आवश्यकता थी किन्तु भाष्य का अध्ययन करते-करते इस शंका का स्वतः समाधान हो गया।

जगद्‌गुरु शंकराचार्य, मध्वाचार्य यहाँ तक कि योगी अरविन्द आदि के भाष्य उत्कृष्ट होते हुए भी केवल पंडित वर्ग को ही आनन्द प्रदान करने वाले हैं। इन विद्वानों ने गीता को एक दार्शनिक तथा पारमार्थिक ग्रंथ का रूप प्रदान किया है, जिसे पढ़कर साधारण जन अधिक लाभान्वित नहीं होते। अतः एक ऐसे भाष्य की कमी का अनुभव करते हुए जो पण्डित एवं साधारण जनों को उपकृत कर सके, उक्त भाष्य का निर्माण हुआ। अपने भाष्य के विषय में स्वयं लेखक के ये विचार हैं—"गीता का सरल हिन्दी में अनुवाद तथा भाष्य हमने अपनी तथा दूसरों की उत्सुक जिज्ञासा की तृप्ति के लिए किया है।" वे आगे लिखते हैं—"गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय पारमार्थिक समस्याओं का हल करना नहीं, जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को हल करना है।"

प्रो० सत्यव्रत जी ने इस ग्रन्थ में अपने किसी सिद्धान्त या विचार को बलपूर्वक पाठकों पर थोपने का प्रयास नहीं किया है। यद्यपि वे महर्षि दयानन्द की वैदिक विचारधारा से पूर्णतः प्रभावित हैं और निराकार, निर्गुण, ईश्वर की सत्ता में पूर्ण आस्था रखते हैं, जो कभी अवतार नहीं लेता, फिर भी भाष्य करते समय किसी भी श्लोक के अर्थ को बलपूर्वक बदलने का प्रयास नहीं किया है। अपने बुद्धि एवं तर्कसंगत विचारों की स्थापना के साथ-साथ लेखक ने स्थान-स्थान पर अन्य भाष्यकारों के विचार प्रस्तुत कर दिये हैं, परस्पर विरोधी दिखायी देने वाले विचारों में समन्वय करने का भरसक प्रयास विद्वान् भाष्यकार का रहा है और अनेक स्थानों पर अपने विचार उद्धृत करके निर्णय पाठकों पर छोड़ दिया है।

एक ओर अनेक विद्वानों ने गीता की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है, तो दूसरी ओर इस पर यह आक्षेप भी भी लगाया जाता है कि, इसमें परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। गीता का रचयिता पूर्व के अध्यायों में जो कुछ कहता है, आगे चलकर उससे विपरीत कथन करता है। विरोधाभास से गीता के महत्त्व पर प्रश्नचिह्न अंकित होने लगता है, जबकि वास्तविकता इससे भिन्न है। यह तो हमारी दृष्टि का दोष है कि हम उसे सही रूप में समझ नहीं पाते। 'नैष स्थाणोरपराधः यदेनतन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति।'

जैसे पाश्चात्य विद्वान् एवं उनके उच्छिष्ट भोजी भारतीय विद्वान भी भारतीय दर्शनों में परस्पर विरोध की बात कहते हैं, जो कि सर्वथा निर्मूल है। जैसे बाह्य रूप से पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हुए भी सभी दर्शनों का लक्ष्य, प्रतिपाद्य एक ही है, ठीक इसी प्रकार अलग-अलग भासित होने वाले गीता के कथनों में वस्तुतः कोई भिन्नता नहीं है। पूर्ववर्ती भाष्यकार इस समस्या का उतना सुन्दर निराकरण नहीं कर पाये थे, जो कि पं० सत्यव्रत जी ने कर दिखाया है।

समन्वयवादिता, भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की बहुत बड़ी विशेषता रही है और आज भी है। इसी प्रवृत्ति के कारण भिन्न-भिन्न वेश-भूषा, भाषा, खान-पान और रहन-सहन, रीति-रिवाज रखने वाले अनेक प्रान्तों के निवासी होते हुए भी भारत में एकता है। भाष्यकार ने बाह्य रूप में विरोधी दीख पड़ने वाले विचारों में समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयास किया है। इसमें मीमांसकों के कर्मकाण्ड, उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड एवं स्मृतियों की आश्रम-व्यवस्था के साथ गीता के निष्काम कर्म की संगति स्थापित की गई है।

गीता का सबसे मुख्य प्रतिपाद्य विषय है—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की मीमांसा। यह ऐसा विवादास्पद विषय है जो स्पष्ट नहीं हो पाता, इस जटिल विषय को गीता के श्लोकों की छाया में सुलझाने का प्रयास किया गया है।

गीता को ठीक तरह से जानने के लिए महाभारत के ऐतिहासिक आख्यान को समझना बहुत आवश्यक है। इसको समझे बिना गीता का आशय ठीक-ठीक समझ में आ नहीं सकता, और महाभारत के आख्यान तथा युधिष्ठिर, दुर्योधन, धृतराष्ट्र आदि शब्दों के यौगिक अर्थ तथा इसी परिप्रेक्ष्य में घटना-क्रम को हृदयंगम कर लेने पर गीता का रहस्य स्वयं ही स्पष्ट होता चला जाता है, इस बात को ध्यान में रखकर प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में महाभारत के आख्यान की अत्यन्त भावग्राही व्याख्या की गयी है।

भाष्यकार ने प्रत्येक अध्याय के अन्त में उपसंहार देते हुए उस अध्याय के सम्बन्ध में गीता के अन्य टीकाकारों के उल्लेखनीय विशेष विचार भी सरल भाषा में प्रतिपादित कर दिये हैं, जिससे लेखक की निरभिमानता एवं दूसरे विद्वानों के प्रति आदर की भावना परिलक्षित होती है।

इस भाष्य में डॉ० सत्यव्रतजी ने साधारण जनता के लिए जो कुछ कहना था वह हिन्दी-भाग में कह दिया है और शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से जो कहना था, वह संस्कृत-भाग में कह दिया है। इससे यह पुस्तक सभी के लिए उपादेय हो गयी है।

पं० सत्यव्रत जी के इस गीता भाष्य की भूमिका भारत के प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने लिखी है, जो इसकी गरिमा को अभिव्यक्त करती है क्योंकि शास्त्री जी का सम्पूर्ण जीवन गीता के निष्काम कर्म का साकार भाष्य है।

गीता के प्रत्येक भाष्य ने इसकी गरिमा को बढ़ाया है और गीता के सन्देश को कोटि-कोटि मानवों तक पहुँचाने में योगदान दिया है। इस युग के स्वस्थ चिन्तक, वयोवृद्ध अनुभवी लेखक की लेखनी से लिखित यह गीता-भाष्य भी इसी दिशा में किया गया एक अभिनन्दनीय-वन्दनीय कार्य है। इस प्रकार के सुन्दर भाष्य का निर्माण कर वे अरविन्द, तिलक, महात्मा गांधी, आचार्य विनोबा भावे एवं डॉ० राधाकृष्णन् जैसे भारत-रत्नों की पंक्ति में सम्मिलित हो गये है। परम श्रद्धेय पण्डित जी के सम्मान में प्रकाशित किये जाने वाले अभिनन्दन-ग्रन्थ के माध्यम से मैं सर्वशक्तिमान् से यही प्रार्थना कर रहा हूँ कि पण्डित जी दीर्घायु हो, जिससे उनके ज्ञान एवं अनुभव का लाभ हमें निरन्तर इसी प्रकार प्राप्त होता रहे।

'उपनिषद्-प्रकाश' विश्व वाङ्मय को अनुपम देन

डॉ० सिद्धेश्वर भट्ट

आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

विद्या मार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार कृत 'उपनिषद्-प्रकाश' का मैंने अवलोकन किया। औपनिषदिक चिन्तन की गहराइयों में जाकर श्री सिद्धान्तालंकार ने उसका व्याख्यात्मक विवेचन इस ग्रंथ में सारगर्भित रूप से प्रस्तुत किया है। भाषा की स्पष्टता तथा सरलता इस ग्रन्थ मे श्लाघनीय है। वस्तुत: यह उनके गहन अध्ययन, सूक्ष्म चिन्तन एवं बौद्धिक प्रखरता का प्रदर्शक है। औपनिषदिक दर्शन को जनसाधारण-सुलभ भाषा एवं विचार शैली मे प्रस्तुत करने के लिए श्री सिद्धान्तालंकार साधुवाद के पात्र हैं।

उपनिषद वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग ही नहीं, वैदिक ज्ञान की पराकाष्ठा भी है। मंत्रद्रष्टा ऋषियों की प्रगाढ़ तत्त्वदृष्टि इनमें अभिव्यक्त हुई है। समस्त भारतीय संस्कृति, आचार एवं विचार के प्रस्थान रूप प्रमुख उपनिषदों पर प्राचीन काल से लेकर अब तक अनेकों व्याख्यात्मक विस्तृत विवेचन हुए है। प्रत्येक भाष्यकार ने अपनी-अपनी दृष्टि एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि को लेकर टीकाएँ प्रस्तुत की हैं। यही कारण है कि प्रत्येक भाष्य की अपनी निजी विशेषता है, अपना अनूठा योगदान है और अपनी सार्थकता है। श्री सिद्धान्तालंकार द्वारा रचित टीका भी इस दृष्टि से अपना विशेष स्थान रखती है। उनकी आर्यसमाजी पृष्ठ-भूमि, पाश्चात्य विचारधारा का अध्ययन एवं मनन और जीवन के व्यापक अनुभव का निचोड़ इसमें स्पष्ट झलकता है।

वेदान्त दर्शन अपनी सूक्ष्मता एवं जटिलता के कारण प्राय: दुरूह लगता है। प्रस्थान-त्रय पर टीकाओं, उपटीकाओं, व्याख्या ग्रंथों आदि के होते हुए भी प्रत्येक युग में देश, काल व अवस्था के अनुरूप नये प्रतिपादन एवं अर्थघटन की आवश्यकता होती रहती है। वर्तमान युग में भी नये सन्दर्भ मे ऐसी आवश्यकता थी और राष्ट्रभाषा मे इस प्रकार की टीका बहुत ही वांछित थी। इस कमी की पूर्ति करने का श्रेय श्री सिद्धान्तालंकार को जाता है। इससे भारतीय संस्कृति के प्रति गुरु ऋण तो उन्होंने चुकाया ही है, राष्ट्रभाषा की समृद्धि मे भी योगदान दिया है। उनके अन्य ग्रंथों की तरह यह ग्रंथ भी विश्व वाङ्मय को उनकी अपनुम देन है। आशा है उनके ज्ञान का प्रकाश हमें सर्वदा आलोकित करता रहेगा।

उपनिषदों के वैज्ञानिक भाष्यकार

डॉ० जगदीशसहाय श्रीवास्तव

आचार्य, दर्शन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता प्रस्थान-त्रयी ग्रंथ कहे जाते हैं क्योंकि इनमें ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित है। पर इन तीनों ग्रंथों में उपनिषदों का विशेष महत्त्व है क्योंकि ब्रह्मसूत्र और गीता में उपनिषदों के ही सार-तत्त्व का वर्णन मिलता है। ब्रह्मविद्या एक गुह्य विद्या है जिसका अध्ययन निष्ठापूर्वक गुरु के समीप बैठकर किया जाता है। उपनिषदों में निहित गूढ अर्थों को आत्मसात करने के लिए श्रवण-मनन एवं निदिध्यासन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार ब्रह्मविद्या एवं साधारण विद्याओं में गुणात्मक अन्तर पाया जाता है। डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार द्वारा संपादित 'एकादशोपनिषद्' ब्रह्म-तत्त्व के अनुशीलन के लिए एक अप्रतिम ग्रंथ है।

विद्वान लेखक ने 'एकादशोपनिषद' में उपनिषदों की शब्दार्थ एवं भावार्थ सहित व्याख्या प्रस्तुत की है। पुस्तक को सरलतम शब्दों में उपनिषदों के मूल मन्तव्य को समझाकर इस प्रकार विद्वद् समाज के समक्ष प्रस्तुत किया गया है कि जिज्ञासु स्वाभाविक रूप में ब्रह्मविद्या की ओर उन्मुख हो सकें। डॉ० सत्यव्रत, हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत तीनों भाषाओं के एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान हैं जिन्होंने वेद, उपनिषद, गीता एवं अन्य आनुषंगिक विषयों पर अनेक प्रामाणिक ग्रंथों का प्रणयन किया है। इन ग्रंथों की शृंखला में 'एकादशोप-निषद्' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

डॉ० सत्यव्रत जी ने उपनिषदों के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए दो अन्य ग्रन्थों की भी रचना की है जिनके नाम हैं 'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व' एवं 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार'। उनका विवेचन आध्यात्मिक होने के साथ वैज्ञानिक भी है। सरलता, प्राञ्जलता व प्रभविष्णुता उनके भाष्य के आन्तरिक गुण हैं। उपनिषदों के गहनतम विचारों को सरलतम शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति उनकी मौलिक विशेषता है। भौतिक विज्ञानों की प्रगति के साथ उनकी संगति में यदि हम समतुल्य आध्यात्मिक विचारों का प्रसार नहीं करते तो हमारे जीवन में असंतुलन होना अनिवार्य है। इस दृष्टि से 'एकादशोपनिषद' की उपा-देयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मुझे आशा और विश्वास है कि जिज्ञासु एवं अध्यात्म-प्रेमी इस पुस्तक का समुचित समादर करेंगे।

एकादशोपनिषद्

वेदमार्तण्ड पण्डित भगवद्दत्त वेदालंकार

रिसर्च स्कालर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

बहुमुखी प्रतिभा के धनी गुरुवर्य श्री प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार विरचित एकादशोपनिषत् भाष्य देखने को मिला। पंडित जी गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय में अनेक पदों पर कार्य करते रहे हैं। वे गुरुकुल विश्वविद्यालय में अनेक वर्षों तक उपाध्याय रहे। तत्पश्चात् गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता तथा उपकुलपति पदों को भी इन्होंने सुशोभित किया। समय-समय पर इन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे। भारतीय संस्कृति में उपनिषदों का अपना एक अनुपम व विशिष्ट स्थान है। मानव जीवन के अन्तिम ध्येय मोक्ष की कुंजी उपनिषदों मे ही है। सांसारिक भोग-विलासों मे फँसे अतृप्त, अशान्त, रोगग्रस्त तथा सर्वप्रकार से दु:खी जीव को चिर शान्ति का पैगाम देने वाली ये उपनिषदें ही हैं। पर आज का मानव शान्ति-मुक्ति न देने वाली इन उपनिषदों की शरण मे न जाकर वैज्ञानिक चकाचौंध में शान्ति की खोज में भटक रहा है। विज्ञान की भूलभुलैयाँ में फँसा दिग्भ्रमित हो रहा है। सुख-शान्ति की खोज मे वैज्ञानिक अन्वेषणों द्वारा उसने अपने महाविनाश के साधन खोज डाले हैं। उपनिषदें कहती हैं कि हे मानव ! चिर शान्ति व अनन्त सुख की उपलब्धि भौतिकता मे नही है। जीवन मे भौतिकता की अपनी एक सीमा है। असीम व अनन्त सुख-शान्ति तो आध्यात्मिक जीवन मे ही प्राप्त हो सकती है। इसलिये अध्यात्म के जिज्ञासु मनीषियों द्वारा उपनिषदो के अनेक भाष्य समय-समय पर हुए हैं। वे सब भाष्य प्राय: संस्कृत भाषा में ही उपलब्ध होते हैं और कुछ समय से देश-विदेश की अनेक भाषाओ में उनके अनुवाद हुए हैं पर अध्यात्म सम्बन्धी प्रच्छन्न, गुहानिहित गूढ रहस्य सर्वजन-सुलभ न हो सके। वेदों व उपनिषदों की गुह्य परिभाषाओं वाली वर्णन-शैली कई स्थलों पर विद्वानों की भी बुद्धि की पकड़ मे न आ सकी। कई भाष्यों में शब्दजाल ज्यों का त्यों रहने दिया गया। जिससे उनके अन्तर्निहत रहस्य उजागर न हो सके। कई स्थलों पर संस्कृत के अनेकार्थवाची शब्दों का रूढ़ अर्थ ले लिया गया जिससे उपनिषदों का असली भाव गड्डमड्ड हो गया। पंडित जी ने अपने भाष्य में यथासम्भव गूढार्थक परिभाषाओं के भावों को उजागर करते हुए धारावाहिक रूप मे सरल हिन्दी में सर्वजन-सुलभ बनाने का प्रयत्न किया है। इससे यह भौतिक ग्रंथ बन गया है। उदाहरणार्थ कुछ परिभाषाएँ द्रष्टव्य हैं यथा—सम्भूति, असम्भूति, विद्या, अविद्या, त्रिवाचिकेत अग्नि आदि। 'इसी प्रकार मांसौदन या चयित्वा सर्पिष्मिन्तमश्री यातामीश्वरों जनयितवा औस्येन वार्षमेय वा' इस उद्धरण में मांसौदन, उसात या ऋषभ की बुद्धिगम्य तथा प्रौढ़ व्याख्या यहाँ देखने को मिली। इसी प्रकार उपनिषदों के अनेक स्थलों को उन्होंने अपने भाष्य में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उपनिषदों के इस अनुपम भाष्य को करके प्रोफेसर जी ने विद्वानो विशेषकर सर्वसाधारण जनों का महान् उपकार किया है।

डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का एकादशोपनिषद् भाष्य

प्रोफेसर रामप्रसाद वेदालंकार

आचार्य एवं उप-कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय

सृष्टि के रचनाकाल से ही जीवन की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियो पर चलते हुए भटक जाने वाले इस मानव के मस्तिष्क में प्राय: ये प्रश्न उठते रहे हैं कि मैं कहाँ जाऊँ ? कहाँ है मेरी मंजिल ? मुझे कहाँ जाना है, उसका कौन-सा सही और सरल मार्ग है ? इस मानव-जीवन का क्या उद्देश्य है ? उस उद्देश्य की प्राप्ति के साधन कौन-कौन से हैं ? जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति क्या है ? इस संसार मे सच्चा सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ?

शंकाकुल मनुष्य की इन अनेकानेक शंकाओं को दूर करके उसके मन-मस्तिष्क को, सम्पूर्ण जीवन को आलोक, उल्लास, अध्यात्म एवं आनन्द से भर देने के लिए हमारे वन्दनीय ऋषि-महर्षियों ने उपनिषदों का परम पावन ज्ञान प्रदान किया। वस्तुत: उपनिषद् वह आध्यात्मिक मानसरोवर है जिससे ज्ञान की सरिताएँ निकल-निकलकर मानव मात्र के इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण के लिए निरन्तर प्रवाहित होती रहती है।

उपनिषद् इस पवित्र देश की अमूल्य आध्यात्मिक संपदा है। भारतीय संस्कृति एवं धर्म के भव्य प्रासाद की यही सुदृढ़ आधारशिला है। यही वह सुधा-रस है जिसका पान कर मानव का जीवन धन्य हो जाता है, सार्थक हो जाता है। उपनिषदों के तत्वज्ञान ने न केवल भारतीय विद्वानों, चिन्तकों एवं साधकों को ही प्रभावित किया है अपितु तत्वान्वेषी विदेशी विद्वान् भी इन उपनिषदों का अध्ययन कर आनन्द-रस मे डूब गये। दीर्घकाल तक भारत पर शासन करने वाले मुसलमानों का मस्तक भी इन उपनिषदों के सामने झुक गया था। शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र और कट्टर मुसलमान औरंगजेब का भाई दाराशिकोह तो इनका दीवाना ही बन गया था, और उसकी दीवानगी इस सीमा तक बढ़ गयी थी कि उसने काशी के पण्डितो को बुलाकर उनसे संस्कृत भाषा सीखकर ये उपनिषद् मूल रूप में पढ़े और स्वयं १६५६ ईस्वी मे इनका फारसी मे अनुवाद 'सिर्रे-ए-अकबर' (महान् रहस्य) के नाम से किया। वह इन उपनिषदों को 'दैवी रहस्यों का अद्‌भुत भाण्डा-गार' कहता है।

कुछ समय पश्चात् दाराशिकोह के इस अनुवाद को पढ़कर फ्रेंच विद्वान् एन्क्वेटिलड्यू पैरों इतना प्रभावित हुआ कि उसने अनेक प्राच्य ग्रन्थों का अध्ययन संस्कृत में किया और उपनिषदों का लैटिन में अनुवाद किया। इस प्रकार यह परम्परा आगे ही आगे बढ़ती रही। बहुत से पाश्चात्य विद्वानों ने इनके अनुवाद, भाष्य अपनी-अपनी भाषाओं मे करके अपनी लेखनी को सार्थक किया। जर्मन विद्वान् शोपन-हॉर तो उपनिषदों के तत्वज्ञान पर अत्यन्त मुग्ध था। वह लिखता है—"अगर जीवन में मुझे किसी वस्तु से आत्मिक शान्ति मिली है तो वह केवल उपनिषदों से और यदि मृत्यु के समय भी मुझे किसी वस्तु से शान्ति मिल सकती है तो वह भी इन उपनिषदों से ही।"

इस प्रकार भारतीय एवं विदेशी तत्ववेत्ताओं, विद्वानों द्वारा बहुधा प्रशंसित अदित अध्यात्म-ज्ञान

के अक्षय स्रोत रूप इन उपनिषदों के ज्ञान का आलोक चहुँ ओर पहुँचाने के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में अनेक भाष्य एवं अनुवाद किये गये, जिनके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। इन सभी भाष्यकारों, टीकाकारों एवं अनुवादकों का अपना एक महत्त्वपूर्ण योगदान है किन्तु इनका अध्ययन करने से यह अनुभव होने लगता है कि इनमें से अधिकांश भाष्य ऐसे हैं जो जन-सामान्य की रुचि जगाने में और इन उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषयों को जनता तक सहज रूप में पहुँचाने और उनको हृदयंगम कराने में ये सफल नहीं हो पाते। कतिपय विद्वान् ऐसे हैं जिनके भाष्यों में शब्दाडम्बर की अधिकता है और भावों की न्यूनता। वे अपने पांडित्य-प्रदर्शन में ही अधिक उत्सुक दिखाई देते हैं। यह ज्ञान जन-जन तक पहुँच कर गाँव और नगर, कुटिया और महल, विद्वान् और साधारण व्यक्ति को लाभ प्रदान कर सके, इसमें उनकी रुचि नहीं है।

किसी भी शास्त्रीय ग्रन्थ पर लिखी जाने वाली टीका अथवा भाष्य का एकमात्र यही लक्ष्य होना चाहिए कि वह उस ग्रन्थकर्ता के भाष्य को अपने पाठकों के समक्ष अत्यन्त स्पष्ट एवं सरल रूप में अभिव्यक्त कर सकने में समर्थ हो। भाष्य करते समय भाष्यकार के समक्ष केवल ग्रन्थकार के विचारों को सुस्पष्ट करने का लक्ष्य होना चाहिए। उसे अपने व्यक्तिगत विचारों को भाष्य के माध्यम से अध्येताओं पर लादने का प्रयास नहीं करना चाहिए। भाष्यकार एकदम निष्पक्ष एवं ग्रन्थकार के प्रति पूर्ण न्याय करने वाला हो। इस प्रकार के भाष्य से ग्रन्थ की लोकप्रियता के साथ-साथ भाष्यकर्त्ता का यश भी चहुँ ओर फैलता है। पाणिनी प्रणीत 'अष्टाध्यायी' पर महाभाष्य जैसे श्रेष्ठ भाष्य का निर्माण करके पतंजलि न केवल स्वय ही व्याकरण जगत् मे अमर हो गये, अपितु पाणिनि को भी व्याकरण के सूर्य के रूप प्रतिष्ठित कर गये। कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष सदृश महाकवियों के अद्वितीय महाकाव्यों पर संजीवनी टीका लिखकर मल्लिनाथ संस्कृत साहित्य जगत् में सर्वोच्च टीकाकार के रूप मे अमर हो गये। आज भी इन कवियों के मनोभावों को जानने के लिए सहृदय पाठक मल्लिनाथ की टीका का ही आश्रय लेते हैं।

उपनिषदों पर लिखे गये पूर्ववर्ती अनेक भाष्यों में कतिपय न्यूनताएँ दिखाई देती हैं। एक तो वे संस्कृत भाग को प्रधान समझकर लेखन में प्रवृत्त हुए। सस्कृत में ही उन्होंने उपनिषत्कारो के अभिप्राय को स्पष्ट करने का प्रयास किया। यह प्रवृत्ति उस काल के लिए तो उपयुक्त थी जब सर्वत्र संस्कृत भाषा का प्रचार-प्रसार था। सभी भारतवासी परस्पर संस्कृत भाषा में ही संभाषण करते थे, संस्कृत में ही सोचते, विचारते एवं लिखते थे, किन्तु वर्तमान काल में संस्कृत का राष्ट्र में वह स्थान नही रहा। उसका स्थान उसकी पुत्री राष्ट्रभाषा हिन्दी भाषा ने ले लिया है। आज हमारे देश के सर्वमान्य नागरिक हिन्दी में ही सोचते हैं और हिन्दी में कही हुई, लिखी हुई बात को ही भली भाँति हृदयंगम कर पाते हैं। इस दृष्टि से देखने पर माननीय पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार के भाष्य की उपयोगिता एवं महत्व स्वयं स्पष्ट हो जाता है। यह जनता के लिए जनता की भाषा में लिखा गया भाष्य है। मनीषी लेखक ने एक शब्द का पर्यायवाची दूसरा और उसका पर्यायवाची तीसरा शब्द लिखकर केवल वाग्विलास ही प्रदर्शित नही किया है अपितु शब्दों में छिपे हुए अमूल्य भावों को चिन्तन, मनन द्वारा निकालकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। इस प्रक्रिया को सुगम बनाने के लिए मान्य विद्वान् ने एक विशिष्ट शैली को अपनाया है। उनका यह भाष्य एक ओर जन साधारण तक उपनिषदों के दिव्य-सन्देश को पहुँचाने का प्रशंसनीय प्रयास है, दूसरी ओर विद्वद् वर्ग के लिए भी प्रचुर मात्रा में चिन्तन सामग्री इसमें विद्यमान है। दोनों के मिश्रण से कहीं विसंगति या दुरूहता उत्पन्न न हो जाये इस बात को ध्यान में रखते हुए प्रो० सत्यव्रत जी ने पहले धारावाहिक रूप में हिन्दी भाषा में भाष्य किया है, जिसमें चिन्तन का प्रवाह अवरुद्ध नहीं होता, क्योंकि अन्य भाष्यकारों की भाँति लेखक ने बीच-बीच में संस्कृत की शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है। यह भी विशेष प्रयास किया गया है कि पाठक की रुचि भी बनी रहे, नीरसता उत्पन्न न होने पाये। इस हिन्दी भाग को पढ़ते समय ऐसा लगता है मानो हम हिन्दी भाषा

के किसी अत्यन्त रोचक ऐवं हृदयग्राही ग्रंथ का अध्ययन कर रहे हैं। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि इस भाष्य मे भाव-गाम्भीर्य अथवा विचारों की, चिन्तन की प्रौढ़ता मे कहीं कोई कमी है। स्थान-स्थान पर पर विद्वान् लेखक का वैदुष्य, चिन्तन, मनन तथा वैदिक साहित्य मे उनकी गहरी पैठ परिलक्षित होते है। और यह स्वाभाविक ही है जिस कर्मयोगी ने बाल्यकाल मे स्वामी श्रद्धानन्द जैसे महान् सन्यासी के चरणो मे, प्रकृति की रमणीय गोद मे, गुरुकुल काँगड़ी की पावन भूमि मे वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थो आदि का अध्ययन किया हो। जिस उद्भट विद्वान् ने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य, उत्तम शिक्षक, कुलपति जैसे सम्मान-नीय पदों को अनेक वर्षों तक सुशोभित किया हो, और न केवल वैदिक साहित्य पर अपितु चिकित्साशास्त्र मनोविज्ञान आदि पर उत्तमोत्तम ग्रथो का निर्माण कर साहित्य एव जनता की महान् सेवा की हो, महान् दार्शनिक डा० राधाकृष्णन्, भारतीय इतिहास के उन्नत भाल पर तिलक के समान शोभायमान इस देश के प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री जैसे महापुरुषों से जिनका निकट का सम्बन्ध रहा हो और आज भी गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा के रूप मे जो हमारा मार्गदर्शन कर रहे हैं, उनकी लेखनी मे जीवन-तत्त्व की विद्यमानता स्वाभाविक ही है।

इस भाष्य में उपनिषत्कारों के हार्दिक मनोभावों का हृदयग्राही विवेचन ही नही है, अपितु प्रत्येक शब्द का अर्थ भी दिया गया है। प्रत्येक शब्द का अर्थ पण्डित जी के सहृदय पाठको के आग्रह पर तब दिया जब लेखक की ज्ञान-धारा से प्रभावित होकर अनेक पाठको ने निवेदन किया कि सुगमता के लिए प्रत्येक शब्द का अर्थ भी दिया जाये, तब पण्डित जी ने यह सुझाव सहर्ष स्वीकार कर लिया, जिससे अध्ययन में कोई कठि-नाई नही रह जाती।

उपनिषदों मे कुछ ऐसे शब्द अथवा विषय हैं जो सदा विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं और रखते रहेंगे। उनको ठीक-ठीक समझे बिना हम उपनिषदो के गूढ़ार्थ को हृदयगम नही कर सकते। ये कुछ ग्रंथियाँ हैं जो जिज्ञासु जनों को दुरूह प्रतीत होती हैं। जैसे—विद्या और अविद्या, संभूति और असंभूति, त्रिणाचिकेत अग्नि, अंगुष्ठमात्र परिमाण हृदय आदि। इन्हें लेखक ने यूँही छोड़ नही दिया, अपितु पूर्व विवेचना करके मूल ग्रथकार के प्रति सर्वत्र अपनी श्रद्धा प्रकट की है। स्वतंत्र भारत के द्वितीय राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् जो स्वयं विश्व के उच्चकोटि के दार्शनिक माने जाते थे, उन्होने इस भाष्य की भूमिका लिखकर इसकी उत्कृष्टता पर अपनी मोहर लगा दी है। एक ही जिल्द मे इन सभी उपनिषदों का इतना अच्छा भाष्य एकसाथ प्रस्तुत कर प्रो० सत्यव्रत जी ने महनीय कार्य किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आज की विषम परिस्थितियो मे जब कि देश का युवा वर्ग अपनी सभ्यता और सस्कृति के विमुख होता जा रहा है। अध्यात्म-सुधा को भूलकर मदिरा के पान में मदमस्त हो रहा है। ईश्वर की उपासना त्यागकर ऐसे स्थानों पर जा रहा है, जिसको देख-कर उसका भविष्य अन्धकारमय होकर हमें पीड़ित कर रहा है। छोटे-छोटे स्वार्थों में डूबकर देश के गौरव और अस्मिता को बेचने के लिए तत्पर हो रहा है, ऐसे पथभ्रष्ट युवकों को विद्यामार्तण्ड सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार का यह एकादशोपनिषद् भाष्य निश्चय ही सुपथ पर चलने के लिए प्रेरित करेगा।

अन्त मे विद्या के धनी माननीय पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार के उत्तम स्वास्थ्य एवं शतायु होने की प्रार्थना हम उस जगत्पिता परमात्मा से करते हैं।

उपनिषद् प्रकाश

डॉ० जयदेव वेदालंकार, पी-एच०डी०, डीलिट्
अध्यक्ष दर्शन-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

वेदों के ज्ञान काण्ड को समझने के लिए उपनिषदों का गहन आलोड़न-विलोड़न परमावश्यक है। उपनिषद् प्रकाश डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार द्वारा एक ऐसी सीढ़ी का प्रणयन हुआ है जो वेदों के गहनतम ज्ञान तक पहुँचने की एक अनुपम कड़ी कही जा सकती है।

उपनिषद् प्रकाश मान्य लेखक की विचारोत्तेजक ११ उपनिषदों पर विवेचनात्मक कृति है।

मध्यकालीन उपनिषद् भाष्यकारों ने प्रायः अपने भाष्यों में दर्शन के प्रमाण-मीमांसा, तत्त्वमीमांसा आदि की शास्त्रार्थ शैली से विवेचना प्रस्तुत की है। उपनिषद प्रकाश में विचारों का गुम्फन उस तर्क के जंगल से हटकर आधुनिक परिवेश और आवश्यकता को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत किया गया महान् प्रयास है।

ईशोपनिषद् की विवेचना करते हुए लेखक ने स्पष्ट लिखा है कि उपनिषद् के प्रथम वचन (मन्त्र) को चार भागों में विभाजित करके उन चार वाक्यों को 'महावाक्य' संज्ञा दी है। जैसा कि लिखा है—

१. 'ईशावास्यम् इदं सर्वम्'

२. 'यत् किंचित् जगत्याम् जगत्'

३. 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'

४. 'मागृधः कस्यस्वित् धनम्'

उपनिषदों के पूर्व भाष्यकारों ने उक्त उपनिषद् के वचन को महावाक्य की संज्ञा नही दी है। आचार्य शंकर अपने भाष्य मे 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्यों को अपने तत्त्वमीमांसीय दर्शन को समझाने के लिए महावाक्यों की संज्ञा देते हैं। यदि यह माना जाय कि आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का अनुभववादी दर्शन है तो यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नही होगा कि आगे चलकर इतिहासविद् यह सिद्ध करेंगे कि इनके दर्शन को समझने की कुंजी उपर्युक्त उपनिषद् के चार महावाक्य हैं। इन्हें माननीय विद्वान् लेखक का दर्शन कहा जा सकता है। वे स्वयं लिखते हैं—'ईशावास्योपनिषद् के पहले मन्त्र में चार महावाक्य हैं'[1] स्वयं इनकी व्याख्या करते हुए कहते हैं, "दीखने वाले को ही मानने वाले भौतिकवादी कहलाते हैं, आजकल की परिभाषा मे वैज्ञानिक कहलाते हैं, प्रकृतिवादी कहलाते हैं—न दीखने वाले को मानने वाले अध्यात्मवादी कहलाते हैं। ईश्वरवादी कहलाते हैं प्रश्न यह है कि भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद, विज्ञान तथा धर्म, प्रकृतिवाद तथा ईश्वर-वाद, नास्तिकता तथा आस्तिकता इनमे कौनसा मार्ग सत्य है।"[2]

आगे वे स्वयं लिखते हैं, "उपनिषद् की पहली घोषणा यह है कि प्रकृति अन्तिम सत्य नहीं हो सकती, क्योंकि वह जड़ है। जड़ सदा साधन एवं भोग्य होता है। इस सन्दर्भ मे डॉ० सिद्धान्तालंकार ईश्वर के

---

१. उपनिषद् प्रकाश, पृष्ठ ६

२. वही, पृष्ठ ४

साम्प्रदायिक स्वरूप पर समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। उनका मत है कि "ईश्वर यहूदी, ईसाई, इस्लामी मान्यताओं के अनुसार किसी लोक विशेष में रहता है, परन्तु उपनिषदों के अनुसार ईश्वर किसी लोक विशेष में नहीं रहता है अपितु वह सर्वव्यापक है, वह कण-कण और अणु-अणु में वास करता है।"[१]

दूसरे महावाक्य 'यत् किञ्चित् जगत्यां जगत्' की व्याख्या मे इनकी मान्यता है कि "ईश्वर भी ठीक है, प्रकृति भी ठीक है, न ईश्वर मिथ्या है न प्रकृति मिथ्या है। सत्य यह है कि प्रकृति मे, जगत् मे ईश्वर समाया हुआ है। संसार तो जगती मे जगत् है, प्रवाह मे प्रवाह है। नदी की बहती धार है, इस धार के तले मे उसका पाट है, इसकी सत्ता है, वह मिथ्या नही है।"[२]

इसी उपनिषद् के तीसरे महावाक्य की व्याख्या में वर्णन किया है कि 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:' उपनिषद् के ऋषि ने जब मूल तत्त्वो की ओर ध्यान खीचा—ईश्वर तथा संसार तो प्रश्न उठता है कि इन दोनो का समन्वय कैसे हो? अध्यात्मवादी त्याग की बात करता है, आधिभौतिकवादी संसार के भोग की बात कहता है। ऐसी हालत में इन दोनों के समन्वय मे अध्यात्म तथा आधिभौतिक का मेल होना उचित है। उसी मेल को 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:' कहा है। अध्यात्म कहता है 'त्याग', आधिभौतिक कहता है 'भोग'। इन दोनो के मेल से बनता है 'त्यागपूर्वक भोग।'[3]

उपनिषद् के चौथे महावाक्य मे कहा है, "मागृध कस्यस्वित् धनम्" किसी के धन के लालच मे मत पड़ो। जो कुछ है भगवान् का है। आप इस श्रुति का सामाजिक अर्थ करते हुए कहते है कि 'आजकल राष्ट्रवादी कहते हैं कि जो कुछ है राष्ट्र का है। ये राष्ट्रवादी आस्तिकवादी होते तो कहते कि जो कुछ है भगवान का है।'[४] जो साधक यह मानते हैं, वे इन भोगो को भगवान् का प्रसाद मानकर उपभोग करते हैं। प्रसाद को घर-घर मे बाँटा जाता है, उसको घर मे दबाकर नही रखा जाता।'[५] वास्तव मे यदि इस उपर्युक्त विचारधारा को विश्व के अधिकतर व्यक्ति स्वीकार कर लें तो शान्ति की प्राप्ति के लिए मानव भटक रहा है, यह भटकाव एकदम दूर हो सकता है। जब कोई विदेशी भारत मे आता है तो उससे पूछने पर वह कहता है कि 'I Want Peace' (मैं शान्ति चाहता हूँ)। यहाँ आकर वह एलोपैथिक की टेब्लेट्स तो छोड़ देता है परन्तु जब उस सच्ची शान्ति को न पाकर सुलफा और भग के चक्कर मे पड़ जाता है और वह भारत से भी खाली हाथ लौट जाता है। उपनिषद् के ऋषि उपर्युक्त चार महावाक्यो के द्वारा सम्पूर्ण मानव समाज को तनाव रहित, स्वार्थ रहित, शान्ति सम्पन्न जीने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। ऐसा विश्व जहाँ युद्ध न हो, हिंसा का दौर न चले, दूसरे के धन को हड़पने की प्रवृत्ति न पनपे, विश्वासघात की परम्परा समाप्त हो, बन्धुत्व की भावना बढ़े, यह तभी सम्भव है जब ईशोपनिषद् के इस मार्ग का अनुसरण करके समाज रहना सीखे। विद्वान लेखक इस सन्दर्भ का उपसहार करते हुए लिखता है, दूसरे से लेना नही, दूसरे को देना—यह विकास की दिशा है।'[६]

"सामान्यत: यह सिद्धान्त माना जाता है कि जीवात्मा जैसा कर्म करता है वैसा फल उसे भोगना पड़ता है। परन्तु ईशोपनिषद् मे 'न कर्म लिप्यते नरे' अर्थात् 'कर्म करते हुए त्यागपूर्वक जो कर्म करता है, वह मोह-माया उलझन से बच जाता है।"[७] यहाँ पर कर्म को न करने का उपदेश नही है अपितु सौ वर्ष तक कर्म करते हुए

---

१. उपनिषद् प्रकाश, पृष्ठ ५
२. वही, पृष्ठ १०
३. वही, पृष्ठ ११
४. वही, पृष्ठ १५
५. वही, पृष्ठ 15
६. वही, पृष्ठ १६
७. वही, पृष्ठ १६

जीने का उपदेश है।

इसी उपनिषद् में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए मान्य लेखक ईश्वर के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या करते हैं—"स पर्यगात् शुक्रं-अकायं अव्रणं-अस्नाविरं शुद्धं-अपापविद्धम्। कविः मनीषि परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥"[१]

इस मन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि वह ईश्वर सब जगह है, कायारहित है, न उसकी नस नाड़ी हैं, न उसे घाव हो सकता है, वह शुद्ध और पवित्र है, वह सर्वज्ञ, कवि और मनीषि है, वह अपने आप मे स्वयंभू अर्थात् निरपेक्ष सत्ता है। उसका कोई कारण नही है। सृष्टि के यथार्थ व्यवहार तथा पदार्थों को जानकर उसकी व्यवस्था करता है।[२] मान्य विद्वान यहाँ 'स्वयंभू' शब्द की विशेष व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'स्वयंभूः' का अर्थ है जो स्वयं अर्थात अपने आप हो। संसार में जो भी वस्तु है, उसका कोई न कोई कारण होता है, कारण तीन हैं—उपादान कारण, निमित्त कारण तथा साधारण कारण। सृष्टि के उपादान कारण की खोज करते हुए भारतीय दार्शनिक सृष्टि के उपादान कारण की खोज करते हैं और वे प्रकृति को स्वयंभूः मानते हैं। इसी प्रकार निमित्त कारण ईश्वर भी स्वयंभूः है।

संसार का तीसरा साधारण कारण जीवात्मा—जिसके इस ब्रह्माण्ड का निर्माण होता है, वह भी स्वयंभूः है। आप इनके निष्कर्ष लिखते हैं—"इस दृष्टि से तीन स्वयंभूः नित्य हो गये, प्रकृति—परमात्मा तथा जीव। यहाँ इस उपनिषद् में प्रस्तुत प्रसंग मे स्वयंभू शब्द ईश्वर के लिए है।"[३]

केनोपनिषद् मे उस ईश्वर के स्वरूप का निषेधात्मक प्रणाली से वर्णन है। 'नइदं यत् इदं उपासते' अर्थात् जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है। अर्थात् शब्दों के द्वारा ईश्वर के किसी एक गुण की व्याख्या की जा सकती है। क्योकि वहाँ ईश्वर तक आँख, वाणी, मन आदि कोई भी नहीं जा सकते हैं।[४] जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह वास्तव में उससे परे है[५] वास्तव मे उपनिषद्कार 'शब्दो के द्वारा ही ब्रह्म को जाना जा सकता है, इस मान्यता को स्वीकार नही करते हैं। वह ब्रह्म इन सबसे परे का विषय है। इस उपर्युक्त विषय के रहस्य को उद्घाटित करने के लिए उपनिषद् प्रकाशकार आधुनिक मनोविज्ञान के चेतना, अवचेतना और अचेतन को विस्तारपूर्वक समझाते हुए बतलाते हैं कि चेतन मन की आँखें खुलने पर भी हो सकता है अवचेतन मन की आँखें न खुली हों। प्राचीनी ऋषि इसी चेतना या संस्कारों को चार सतह तक मानते थे। योग दर्शन ने इनको प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार (वर्तमान) नाम से कहा है। वह ब्रह्म इन चेतनाओ से ऊपर है।[६]

आचार्य शंकर ने ब्रह्म के प्रतिपादन मे माना है कि ब्रह्म किसी भी विशेष के द्वारा नही कहा जा सकता। वह पूर्णरूपेण निर्विशेष अर्थात् ब्रह्म सर्वथा गुणविहीन है।[७]

उपनिषदों के वे मन्त्र जो ब्रह्म को सविशेष सिद्ध करते हैं। उनका भी आचार्य शंकर विधेयात्मक विधि से अर्थ न करके निषेधात्मक विधि से करते हैं। जैसे कि 'सत्यं ज्ञानानन्तं ब्रह्म' तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्र० व०, अनु० १) का अर्थ करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म असत्य नही है अर्थात् वह विकाररहित है।[८] इसी प्रकार ज्ञान

---

१ ईशावास्योपनिषद्, मंत्र ८
२. वही, पृष्ठ २६
३. पृष्ठ, ३२
४. नतत्र चक्षुर्गच्छति''' (केन० प्र० ख०, मंत्र ३)
५. नइदं यत् इदं उपासते (वही मं० ४)
६. अविद्याक्षेत्र मुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् (यो० सा पा०, सूत्र २)
७. अशेष विशेष प्रत्यनीकचिन्मात्र ब्रह्मैव परमार्थतः। नानाविध ज्ञातृज्ञेय तत्कृतज्ञानभेदादि परिकल्पितं ''मिथ्याभूतम् (छा०६/८-७) पर शांकरभाष्य
८. अतः सत्यंब्रह्मेति ब्रह्मविकारान् निवर्तयति (तै० उ० ब्रा०२-१)

का अर्थ भी उनकी दृष्टि में—ब्रह्म में अज्ञान नही है। अनन्त का अभिप्राय है कि वह ब्रह्म सान्त नहीं है। आचार्य शंकर ब्रह्म को परब्रह्म और अपरब्रह्म दो रूपों में मानते हैं। उनका कथन है कि परब्रह्म में स्वतः ही उभयलिंगत्व नही हो सकता। यह नहीं हो सकता है कि एक ही वस्तु स्वतः ही स्वतःरूप विशेषण वाली भी हो। और इसके विपरीत भी हो। आगे उन्होंने कहा है अपरब्रह्म का निषेध नहीं किया जा सकता।[1] यह स्पष्ट है कि आचार्य शंकर ब्रह्म सभी विशेषणों से रहित और निर्विकल्प मानते हैं। उनके मत मे उपनिषदें ब्रह्म को निर्विशेष ही स्वीकार करती हैं।[2]

आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म सविशेष है निर्विशेष नही। उनके अनुसार ब्रह्म जीवात्मा को कर्मों की प्रेरणा देता है, वह सर्वफल प्रदाता है, वह उन सभी में आत्मभाव से रहता हुआ उनका नियन्त्रण करता है। 'परस्यैव ब्रह्मणः सर्वात्मकं सर्वं शरीरत्वं सर्वनियंतृत्वं च प्रतिपद्यते' (श्री० भाष्य १-२-१६) अतः विशिष्टाद्वैत के अनुसार ईश्वर का स्वरूप सर्व सद्गुणों से सम्पन्न है। वह सभी परिणामों से रहित सर्वोत्कृष्ट सत्ता है। यह अपरिवर्तनशील आश्रयरूप ईश्वर में स्थित होकर रहता है। आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म केवल ज्ञान स्वरूप ही नही है अपितु उसमें अन्य अनेक गुणों का भी सन्निवेश है। वह सभी प्रकार के ज्ञान, शक्ति आदि कल्याण गुणों का आश्रय है। आनन्द इसका सारभूत गुण है।[3]

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार अपने इस भाष्य में ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "ब्रह्म को जानने वाला व्यक्ति सृष्टि मे जो भी परम रहस्य है, जो कुछ भी जानने योग्य है, उसे पा लेता है।" "ब्रह्मविद् आप्नोति परम्" तब यह वाणी कही गई कि—"तदेषा अभ्युक्ता" क्या वाणी कही गई कि ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है। अनन्त है, जो हृदय आकाश की गहन गुहा मे उस ब्रह्म को जान लेता है। "यः वेदनिहितं गुहायां परमे व्योमन्" वह सब कामनाओ से तृप्त हो जाता है। "सः अश्नुते सर्वान् कामान्" क्योकि उस ज्ञानी का ब्रह्म के साथ साक्षात् हो जाता है। "सः ब्रह्मणा विपश्चिता इति" यहाँ ब्रह्म को कोई व्यक्ति विशेष नही कहा, सत्य, ज्ञान और अनन्तता को ही ब्रह्म कहा है। सत्य जानने का अर्थ है ज्ञान। ये दोनों अनन्त हैं। न सत्य का अन्त है न ज्ञान का ही अन्त है। सत्य की खोज अनन्त की खोज है। उस खोज का साधन ज्ञान है, वह वह भी अनन्त है। इसी भाव को एक शब्द मे कहा जाए तो ऋषि कहते हैं वही ब्रह्म है। मनुष्य जब अपने को सत्य के ज्ञान में, जो अनन्त है, लगा देता है, उसके साथ एक हो जाता है तब उसके भीतर संसार की कोई कामना नही रहती, वह सत्य के इसी अनन्त ज्ञान में अपने को तृप्त अनुभव करता है। वह मानव हृदयाकाश की गुहा मे निहित ब्रह्म के साथ रहने लगता है, उसकी और कोई कामना नही बच रहती।[4]

मान्य विद्वान् की ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध मे उपर्युक्त व्याख्या उनकी मौलिक प्रतिभा की द्योतक है। उपनिषदो के भाष्यकारों के रूप मे आचार्य शंकर और रामानुज दोनो ही अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिनिधि आचार्य हैं। दोनों ही आचार्यों का प्रभाव उपनिषद् प्रकाश मे दृष्टिगोचर नही होता है। यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि इस प्रसंग में मान्य विद्वान् की एक निश्चित और स्पष्ट अवधारणा है। आचार्य शंकर का प्रभाव प्रस्तुत प्रसंग में नही है।

मान्य विद्वान के विचारों को स्पष्ट रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है कि ईश्वर, जीव तथा प्रकृति, ये तीन तत्त्व हैं, इनमें प्रकृति क्षर भी है और अक्षर भी है। क्षर का अर्थ है खर जाने वाली, अक्षर का अर्थ है न खरने वाली। प्रकृति इन दोनों गुणों से युक्त है "संयुक्तमेतत् क्षरं अक्षरं च" प्रकृति व्यक्त भी है और अव्यक्त भी, उसका क्षर रूप व्यक्त है और अक्षर रूप अव्यक्त 'व्यक्त-अव्यक्त' इस क्षर-अक्षर तथा व्यक्त-अव्यक्त

---

१. न तावत् स्वतःएव परस्य ब्रह्मणः उभयलिंगवत्वमेपपद्यते न ह्येकं वस्तु स्वतः एवं रूपादि विशेषोपेतम् (ब्र०सू० ३-२-११)
२. अतश्चान्यतर लिंगपरिग्रहे समस्त विशेषण रहित निर्विकल्पमेव ब्रह्म सूत्र श्यामकर भाष्य ३-२-२२
३. जीवनांकर्मानुगुण्येन 'प्राज्ञस्यानन्दः सारभूतोगुणः इतिप्राज्ञः आनन्द शब्देन व्यपदिश्यते (श्री भाष्य ३-२-१३
४. उपनिषद् प्रकाश, पृष्ठ ३२६-३२६

प्रकृति का अर्थात् विश्व का ईश्वर भरण करता है। 'भरते विश्वमीश' ईश्वर तो सर्वशक्तिमान् है। ईश, आत्मा अनीश है—'अनीष चात्मा' वह आत्मा संसार के भोग में पड़कर संसार के बन्धनों में बँध जाता है, यही उसी का बन्ध है। 'बध्यते भोक्तृ भावात्' संसार में रम जाने के स्थान में जब वह ब्रह्म को जान लेता है तब वह बन्धनों के सब पाशों से मुक्त हो जाता है। 'मुच्यते सर्वपाशै:'[1] इसलिए कहा है कि तस्मिन् त्रयं सुप्रतिष्ठितं अक्षरं च' ये तीनों अक्षर सुप्रतिष्ठित हैं। ब्रह्मवेत्ता लोग इन तीनों के परस्पर अन्तर तथा भेद को जान लेने पर 'अत्र अन्तरं ब्रह्मविद: विदित्वा' ब्रह्मलीन होकर उसमें रमकर लीना ब्रह्मणी तत्परा योनि से अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं योनिमुक्ता:।[2] ज्ञ और अज्ञ ये दोनों अज हैं, अजन्मा हैं, ज्ञ + अज्ञौ द्वौ अजौ इन दोनों में से ज्ञ अर्थात् ज्ञानमय तो ईश परमात्मा है अज्ञ अर्थात् ज्ञान रहित जो है वह अनिश है, जीवात्मा है, इन दोनों अजों के अतिरिक्त एक है तीसरी अजा 'अजा हि एका' जो भोक्ता के भोग्य के लिए लगी हुई है। भोक्तृ भोग्यार्थयुक्ता' इस प्रकार तीन अज अर्थात् अजन्मा हैं : एक अज परमात्मा, दूसरा अज जीवात्मा, तीसरा अज प्रकृति है। अनन्त च आत्मा विश्वरूपहि अकर्त्ता जब ज्ञानी इन तीनों को अपने-अपने रूप मे जान लेता है तब जानो कि उसने ब्रह्म के यथार्थ रूप को जान लिया—'ब्रह्मेतत्'।

वस्तुत: मान्य विद्वान् ने उपनिषदों की व्याख्या करने को तत्त्वमीमांसा के दार्शनिक मतभेदों पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं समझी है। उपनिषदों का दर्शन सहज और अनुभूतिपरक है, उसकी सहज और उन ऋषि प्रचेताओं की साधना से निसृत अनुभूतियों को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे आध्यात्मिक सागर को गागर में भरने का स्तुत्य प्रयास किया है। वह चाहे ईशोपनिषद् का सम्भूति-असम्भूति, विद्या और अविद्या का दार्शनिक विवाद हो, कठोपनिषद् का यम और नचिकेत का आख्यान एवं उपाख्यान का विवाद हो, चाहे केनोपनिषद् के ब्रह्म को न जानने अथवा जो जानता है, वह नही जानता का अज्ञेयवाद हो, चाहे प्रश्नोपनिषद् के छ: प्रश्नों द्वारा ब्रह्माण्ड और ब्रह्म की व्याख्या का प्रश्न हो, वह चाहे मुण्डकोपनिषद् के यज्ञविद्या और तत्त्वज्ञान के श्रेष्ठ होने का विवाद हो, चाहे मध्यकालीन आचार्यों मे सब अधिक विवाद का विषय माण्डूक्य उपनिषद् का 'ओ३म' के चार पाद की व्याख्या हो, वह चाहे ऐतरेयोपनिषद् की अव्याकृत और व्याकृत सृष्ट्युत्पत्ति की समस्या हो, चाहे तैत्तिरीयोपनिषद् के शिक्षा से लेकर सृष्टिक्रम और ब्रह्म के स्वरूप की विवेचना हो, छान्दोग्योपनिषद् के ओंकार-उपासना के रहस्य तथा 'तत्त्वमसि' के दार्शनिक विवाद का समाधान हो, बृहदारण्यकोपनिषद् की देवासुर कथा से लेकर तुरीयावस्था तक का विवेचन हो और श्वेताश्वतरोपनिषद् के सृष्टि रचना में तीनों कारणों का वर्णन हो, इन सभी उपनिषदो की व्याख्या में कही पर मान्य लेखक उलझते प्रतीत नही होते हैं। प्रवाहमयी भाषा मे सरल और स्पष्ट भावो के अभिव्यक्त करने में लेखक पूर्णत: सफल है। इतना अवश्य है कि वे आधुनिक मनोविज्ञान तथा विज्ञान से सहायता लेते प्रतीत होते हैं।

---

१. श्वेता०, उ०प्र०, अ० ८, पृष्ठ ४८७

२. श्वेता०, अ० ६

डॉक्टर सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का होमियोपैथिक चिकित्सा-साहित्य को योगदान

डॉ० रामनाथ वेदालंकार

पूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दयानंद चेयर पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

एक ओर वेद, उपनिषद्, गीता, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, मानवशास्त्र, मनोविज्ञान, तुलनात्मक धर्म-विज्ञान आदि का प्रौढ़ पाण्डित्य और दूसरी ओर होमियोपैथी के जटिल चिकित्साशास्त्र का गम्भीर वैदुष्य यह मणि-कांचन-संयोग डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की एक अनुपम विशेषता है। वे न केवल इन विविध शास्त्रो के मर्मज्ञ विद्वान् हैं, किन्तु इन सभी विषयों पर उच्च कोटि के साहित्य-निर्माता भी हैं।

होमियोपैथी की ओर इनका झुकाव कैसे हुआ, इसकी चर्चा करते हुए ये लिखते हैं कि सन् १९३७-३८ मे, जब ये गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय के कुलपति थे, कुछ परेशानियो से इन्हे उन्निद्र रोग हो गया। नीद आती ही न थी। तभी इनके एक होमियोपैथ मित्र की मीठी-मीठी छोटी-छोटी गोलियो से इन पर जो अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार का प्रभाव हुआ उससे ये होमियोपैथी के प्रबल जिज्ञासु बन गये।

इनका कथन है कि "होमियोपैथी मे मेरे विश्वास का मुख्य कारण इसका भौतिक न होकर आध्यात्मिक चिकित्सा-पद्धति होना है। यह पद्धति भौतिकवाद पर आश्रित न होकर अध्यात्मवाद पर आश्रित है। मनुष्य का जो स्थूल शरीर हमे दीखता है उस पर सूक्ष्म तत्त्वों का अमिट प्रभाव पल-पल हमे अनुभव होता है। मेरे एक रोगी को जब पता चला कि अदालत मे उसके खिलाफ निर्णय हो गया है, तब यह सुनते ही उसे पक्षाघात हो गया। गुस्सा आते ही शरीर थर-थर काँपने लगता है, भय से कभी-कभी हार्टफेल हो जाता है। स्थूल देह पर इन सूक्ष्म मनोभावो का इतना भयंकर परिणाम क्यों होता है ? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि भौतिक का नियन्त्रण अभौतिक से, स्थूल का नियन्त्रण सूक्ष्म से हो रहा है। सब चिकित्साओ मे होमियोपैथी ही एक ऐसी चिकित्सा-पद्धति है, जो इस आध्यात्मिक सचाई को पकड़ कर चलती है।"

होमियोपैथिक ओषधियों का सजीव चित्रण

सन् १९७२ मे होमियोपैथी पर इनकी प्रथम पुस्तक 'होमियोपैथिक ओषधियों का सजीव चित्रण' प्रकाशित हुई। मेरी क्योंकि होमियोपैथी में कुछ-कुछ रुचि थी तथा मैं इस बात से भी परिचित था कि ये लिखते तभी हैं जब इनके पास पाठक को देने के लिए कोई चामत्कारिक विषय-वस्तु होती है, और जब लिखते हैं तब ऐसा लिखते हैं कि हृदय तथा बुद्धि दोनों को छू जाए, अतः मैंने तुरन्त इस पुस्तक को मँगा लिया। प्रारम्भ मे मुझे कुछ निराशा हुई और मेरे मन ने कहा कि इससे अच्छे तो होमियोपैथी के कई अन्य मैटीरिया मैडिका हैं, जिनमे इससे कई गुणा अधिक ओषधियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, पर ज्यो-ज्यो मैं इसे सूक्ष्मता से देखता गया त्यों-त्यों इस पुस्तक पर मेरी आस्था अधिकाधिक जमती गयी।

होमियोपैथी पर अंग्रेजी और हिन्दी में अनेक ग्रन्थों के विद्यमान होते हुए भी इस पुस्तक को लिखने की आवश्यकता क्यों हुई, इसका उत्तर और इस पुस्तक की विशेषता लेखक के ही शब्दों मे इस प्रकार है—

"मैंने होमियोपैथी की हिन्दी-अंग्रेजी की सैकड़ों पुस्तकें पढ़ी, परन्तु मुझे वे सब समुद्र की तरह अथाह जलराशि प्रतीत हुई, जिसका कोई ओर-छोर नही दीखा। हनीमैन के 'मैटीरिया मैडिका प्यूरा', हेरिंग के 'गाइडिंग सिम्परम्स', एलन के 'एन्साइक्लोपीडिया ऑफ मैटीरिया मैडिका' आदि ग्रन्थों में एक-एक ओषधि के दो-दो हजार लक्षण दिये हुए हैं, जो विद्यार्थी को तो क्या नामीगरामी होमियोपैथ को भी चकरा देते हैं, उसे समझ नही पड़ता कि एक ही ओषधि के इतने लक्षणों मे से वह किसको चुने। ओषधि का निर्वाचन करते हुए अनेक बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। ओषधि के लक्षण ही नहीं, अपितु व्यापक लक्षण क्या हैं, किन-किन विशेष रोगों के लिए उसका उपयोग होता है, ओषधि की प्रकृति क्या है, वह शीत-प्रधान है या उष्णता-प्रधान है, ओषधि का धातुगत रूप (कांस्टिट्यूशन) क्या है—ओषधि का नाम लेते ही यह सब एक साथ आँखों के सामने तस्वीर की तरह आ खड़ा हो, ऐसी पुस्तक की आवश्यकता थी, जो चालू पुस्तको मे मुझे एक न मिली। जब तक ओषधि को देखते ही ऊपर की सब बातें एक साथ सामने न आ खड़ी हों, जब तक ओषधि का मूर्त तथा सजीव चित्रण आँखों में न खिंच जाए, जब तक किसी रोगी को देखकर हम यह न कह सकें—आइए, सलफर महोदय, फासफोरस महोदय, ऐसिड फॉस महोदय, नक्स महोदय, आइये श्रीमती पल्सेटिला, श्रीमती सीपिया, श्रीमती इग्नेशिया, श्रीमती नेट्रम म्यूर, जब तक ओषधि का जीता-जागता चित्र हमे अपने रोगी मे चलता-फिरता न दिखलाई दे, तब तक हमारा अपनी ओषधियो से परिचय अधूरा रह जाता है। होमियोपैथी के विद्यार्थी को इस प्रकार की पुस्तक की आवश्यकता है जो इस कमी को पूरा कर सके। इसी कमी को पूरा करने के लिए यह पुस्तक लिखी गयी है।"

जब होमियोपैथी की लगभग दो सौ ओषधियों पर सरल भाषा तथा सरल शैली मे वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करने वाली यह पुस्तक प्रकाशित हुई, तब होमियोपैथिक जगत् मे धूम-सी मच गयी और बहुत शीघ्र ही होमियोपैथी के प्रायः सभी अच्छे 'बुक स्टालों' पर यह उपलब्ध होने लगी। देश-विदेश मे प्रसिद्धि-प्राप्त होमियोपैथ डॉ० दीवान हरिश्चन्द्र ने इसे 'भविष्य का अभूतपूर्व ग्रन्थ' कहा। नेहरू होमियोपैथिक मैडिकल कालेज के संस्थापक सुप्रसिद्ध होमियोपैथ डॉ० युद्धवीरसिंह ने अपना मत प्रकाशित किया कि "होमियोपैथिक ओषधियो का पूरा सजीव चित्रण सामने ला खड़ा करने वाला ऐसा ग्रन्थ अब तक न हिन्दी में लिखा गया है, न अंग्रेजी मे।"

यह पुस्तक होमियोपैथी के जिज्ञासुओं के लिए इतनी अधिक उपयोगी सिद्ध हुई कि लेखक के पास पाठकों के इस आशय के अनेक पत्र आने आरम्भ हो गये कि इसी कोटि की एक पुस्तक रोगो के होमियोपैथिक इलाज के विषय में भी आप लिख दें तो बड़ा उपकार हो। लेखक की तो पहले से ही यह योजना थी, पाठको के पत्रों से उन्हें और भी उत्साह मिला।

रोग तथा उनकी होमियोपैथिक चिकित्सा

शीघ्र ही लेखक की दूसरी पुस्तक 'रोग तथा उनकी होमियोपैथिक चिकित्सा' प्रकाशित होकर पाठकों के हाथों में पहुँच गयी। इसमें प्रथम प्रत्येक रोग की आवश्यक जानकारी देकर फिर किन लक्षणों मे, किस स्थिति में, किस प्रकृति के रोगी को कौनसी ओषधि देनी उपयोगी होगी, इसका सविस्तर विवेचन दिया गया है। लेखक के ही शब्दों में इस ग्रन्थ का परिचय इस प्रकार है —

"इस पुस्तक मे ४७५ रोगो का वर्णन है। पुस्तक की विशेषता यह है कि प्रत्येक रोग की ओषधियों के लक्षणों का वर्णन करते हुए मैटीरिया मैडिका को आधार में रखा गया है। सिर-दर्द में यह दो, जुकाम में यह दो—इस प्रकार का सिलसिला होमियोपैथी में नही चलता। होमियोपैथी मे तो रोगों के भिन्न-भिन्न नाम ही नहीं होते, सिर्फ रोगो के लक्षणों का वर्णन किया जाता है। परन्तु आज के मरीज तो रोग का नाम लेकर हमारे सामने आते हैं। कोई कहता है, मुझे जुकाम है, कोई कहता है खाँसी है, कोई कहता है कब्ज है। होमियोपैथी में

जुकाम, खाँसी, कब्ज इन नामों से दवाएँ नहीं हैं, परन्तु फिर भी इन लक्षणों पर दवाएँ दी तो जाती ही हैं। यही कारण है कि हमने इस ग्रन्थ में रोगों के नाम तो दिये हैं, परन्तु उनकी दवाओं का उल्लेख करते हुए मैटीरिया मैडिका में उन दवाओ के जो लक्षण दिये गये हैं, उन लक्षणों को सामने रखते हुए रोग का वर्णन किया है। उस रोग मे अगर अन्य दवाएँ भी निर्दिष्ट हैं, तो उनकी लक्षणो मे आपसी समानता तथा भेद को भी स्पष्ट किया गया है, उनके लक्षणों की तुलना की गई है। इसे 'मैटीरिया मैडिका' पर आश्रित रोग-चिकित्सा' कहा जा सकता है।"

होमियोपैथी मे रोगी के मानसिक लक्षणों का विशेष महत्त्व है। औषध-निर्णय मे उनकी प्रधान भूमिका रहती है। अतः लेखक ने इस ग्रन्थ मे रोग-लक्षणों मे मानसिक लक्षणो को भी समाविष्ट किया है। मन के विकारों की भी चिकित्सा होमियोपैथी से सफलतापूर्वक हो सकती है। इसलिए लेखक ने रोगो मे मनोविकारों को भी स्थान दिया है तथा उनके लिए भी लक्षणानुसार ओषधियाँ लिखी है। उदाहरणार्थ क्रोध, कंजूसी, चिन्ता, किसी का साथ चाहना, शराब-सिगरेट आदि की उत्कट इच्छा, किन्ही विशेष खाद्य या पेय पदार्थों के प्रति रुचि या अरुचि होना, मानसिक अवसाद, भय, भुलक्कडपन, ईर्ष्या, घमंड, आत्मघात की इच्छा, शका-शीलता, रोने-धोने की प्रवृत्ति आदि पर किस स्थिति में कौनसी होमियोपैथिक औषध कार्य करती है, इसका वर्णन किया है।

लगभग आठ-आठ सौ पृष्ठो के उपर्युक्त दोनो बृहद् ग्रन्थ होमियोपैथी के महान् कोशो के समान हो गये हैं, जिनमे होमियोपैथिक चिकित्सा-पद्धति के जनक एव उन्नायक डॉ० हनीमैन, कैंट, फेरिंगटन, क्लार्क, बोनिनघाँसन, एलन, हेरिंग, नैश, बर्नेट आदि विद्वानो ने जो कुछ लिखा है, उसका सारांश आ गया है। दोनो ग्रन्थो की भूमिकाएँ होमियोपैथी के मूलभूत सिद्धान्तो का भी परिचय करा देती हैं, जिनमे होमियोपैथी के जन्म की कहानी, 'समः समं शमयति' का सिद्धान्त, ओषधि-परीक्षा (प्रूविंग), शक्तिकरण, शक्तिक्रम, पुराने तथा नवीन रोगो मे ओषधि के प्रयोग में अन्तर, ओषधि का निर्वाचन, रोगी के लक्षणो का मूल्य निर्धारण करने की टैक्नीक, सर्द तथा गर्म प्रकृति आदि विषयों का संक्षिप्त विवेचन आ गया है। मैने एक बार लेखक से प्रश्न किया कि इतनी विस्तृत जानकारी देने वाले ग्रन्थ आप कैसे लिख पाये। उन्होने उत्तर दिया कि होमियोपैथी के जाने-माने विद्वानो ने जो ग्रन्थ लिखे हैं, उन्हे मैं पढ़ता जाता था और जो नवीन बात किसी औषध के विषय मे मिलती थी उसे अपने उस-उस औषध के रजिस्टर मे लिख लेता था। इस प्रकार जो एक विशाल संग्रह तैयार हो गया, उसी के आधार पर मैंने पुस्तकें लिख डाली। लेखन-शैली और भाषा लेखक की अपनी है, सामग्री सब दूसरों की है, उसे इस रंगत मे लेखक ने प्रस्तुत किया है कि वह एक नवीन कलेवर धारण करके महान् उपयोगी बन गई है।

इन दोनों बहुमूल्य ग्रन्थरत्नो को पाकर पाठक तो सम्भवतः सन्तुष्ट हो गये, क्योकि उन्हे औषध-क्रम तथा रोग-क्रम दोनो प्रकार की पुष्कल सामग्री प्राप्त हो गयी थी, परन्तु लेखक ने इन्ही दो ग्रन्थो पर विराम नही कर दिया। अभी वह पाठकों को और भी बहुत कुछ देना चाहता था।

होमियोपैथी का क ख ग

कुछ वर्ष बाद सन् १९८५ मे होमियोपैथी पर लेखक की एक और पुस्तक प्रकाशित हुई 'होमियोपैथी का क ख ग'। कहने को तो यह कखग है, किन्तु नवीन जानकारी देने वाले किसी सम्पूर्णांग-शास्त्र से कम नही है। रोचकता इसकी अपनी एक विशेषता है। भूमिका मे लेखक ने बताया है कि अनेक प्रसिद्ध ऐलोपैथ कैसे होमियोपैथ बन गये।

होमियोपैथी का श्रीगणेश एक ऐलोपैथ द्वारा ही हुआ, जिनका नाम था हनीमैन (१७५५-१८४३)। डॉ० बोनिनघाँसन (१७८५-१८६५) जर्मनी के प्रसिद्ध एलोपैथ डाक्टर थे। ४२ वर्ष की आयु मे वे क्षयरोग से

पीड़ित हो गये। चिकित्सकों ने घोषित कर दिया कि उनका रोग ला-इलाज है। उन्होंने अपने मित्रों को अन्तिम पत्र लिख दिये कि अब वे संसार से विदा होने वाले हैं। उनके एक होमियोपैथ मित्र थे डॉक्टर वीहे, जिन्होंने उन्हें होमियोपैथिक ओषधि के कुछ पाउडर भेजे, जिनके सेवन से वे पूर्ण स्वस्थ हो गये और ८० वर्ष की आयु तक जीवित रहे तथा प्रसिद्ध होमियोपैथ बने। डॉ० क्रौम्पटन बर्नेट (१८५०-१६०१) इंगलैण्ड के प्रसिद्ध ऐलोपैथ थे। वे जीर्ण प्लुरिसी के शिकार थे। उन्होंने ऐलोपैथी के अतिरिक्त भी अनेक इलाज किये, पर किसी चिकित्सा से लाभ नहीं हुआ। अन्त में उन्होंने होमियोपैथिक औषध ब्रायोनिया ली, जिससे १५ दिन में उनका प्लुरिसी का दर्द जाता रहा। उन्होंने ऐलोपैथी को अन्तिम नमस्कार किया और होमियोपैथी के अध्ययन में जुट गये तथा होमियोपैथी की अनेक पुस्तकों के लेखक के रूप में प्रसिद्ध हुए। ऐसी ही रोचक कथाएँ अन्य भी अनेक ऐलोपैथिक डॉक्टरों की हैं।

इस पुस्तक को लेखक ने तीन भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में होमियोपैथी के मूल सिद्धान्तों का परिचय दिया गया है, जिसमें कुछ शीर्षक इस प्रकार हैं—होमियोपैथी का मूल सिद्धान्त, ओषधि-सिद्धि (प्रूविंग), ओषधि-निर्माण तथा शक्तिकरण का सिद्धान्त, विविध शक्तियाँ (पोटेन्सीज), ओषधि देने की विधि, ओषधि का लक्षणानुसार वैयक्तिकीकरण करना, उच्च शक्ति की ओषधि को दोहराना। द्वितीय भाग में ओषधियों तथा रोगों के लक्षणों का परिचय है, जिसमें एकोनाइट, एस्कुलस, एगारिकस आदि ८६ ओषधियों पर विचार किया गया है। इस ओषधि-परिचय की विशेषता यह है कि प्रसिद्ध होमियोपैथ चिकित्सकों के अनुभव की छोटी-छोटी घटनाओं से विषय को पुष्ट किया गया है। प्रत्येक ओषधि के शीर्षक के साथ यह भी दे दिया है कि यह ओषधि शीत या उष्ण किस प्रकृति की है तथा किस रोग में मुख्यतः काम आती है। तृतीय भाग में अंगों तथा 'की-नोट' के आधार पर रोगों की ओषधियों का विवरण है अर्थात् मस्तिष्क के रोग, सिर के रोग, आँखों के रोग, कानों के रोग आदि में किस लक्षण में कौन सी औषध किस शक्ति में काम आती है इसकी तालिकाएँ दी गई हैं। पुस्तक संक्षिप्त होते हुए भी बड़े काम की है।

अन्य ग्रन्थ

लेखक के होमियोपैथी से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थों में एक अत्युपयोगी ग्रन्थ है 'होमियोपैथी के मूल सिद्धान्त', जिसका विषय नाम से ही स्पष्ट है। होमियोपैथी के मूल सिद्धान्तों को समझे बिना होमियोपैथिक औषधों का प्रयोग घातक परिणाम भी उत्पन्न कर सकता है, अतः चिकित्सक और रोगी दोनों को ही इन सिद्धान्तों से परिचित होना आवश्यक है।

लेखक की एक अंग्रेजी पुस्तक 'फर्स्ट-एड स्पेसिफिक्स ऑफ होमियोपैथिक एण्ड बायोकैमिक ट्रीटमेंट' है, जिसमें २६६ रोगों पर अनुभवी चिकित्सकों की अनुभूत होमियोपैथिक तथा बायोकैमिक चिकित्साएँ दी गयी हैं।

बायोकैमिक ओषधियों के विशिष्ट गुण धर्मों तथा अन्य विवरणों को सूचित करने वाला एक विस्तृत चार्ट भी लेखक ने प्रकाशित किया है, जो 'डॉ० सत्यव्रता'ज चार्ट ऑफ कम्पैरिजन ऑफ बायोकैमिक ड्रग्स ऐट ए ग्लान्स' नाम से प्रसिद्ध है।

इनके अतिरिक्त लेखक की एक अन्य पुस्तक है 'बुढ़ापे से जवानी की ओर', जो सीधे होमियोपैथी से सम्बद्ध न होती हुई भी होमियोपैथी की पृष्ठभूमि में लिखी गयी है। यह योगासन, प्राणायाम एवं ब्रह्मचर्य को विशेष महत्त्व देती है तथा इसमें शरीर के प्रत्येक अंग के लिए व्यायाम प्रदर्शित किये गये हैं, जिन्हें नियम से करते रहने पर मनुष्य वर्षों तक स्वस्थ रह सकता है, यहाँ तक कि बुढ़ापे को भी जवानी में परिणत कर सकता है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त में उस-उस अंग को स्वस्थ रखने या नीरोग करने के लिए होमियोपैथिक ओषधियाँ भी दी गई हैं। लेखक ने इस पुस्तक का अंग्रेजी रूपान्तर 'फ्रॉम ओल्ड एज टु यूथ थ्रू योग' (विद होमियोपैथिक

एण्ड अदर ट्रीटमेंट्स)' नाम से प्रकाशित किया है।

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की सभी पुस्तकें, जिनका इस लेख में परिचय दिया गया है, जीवन का सन्देश देने वाली, निराश हृदय में भी आशा का संचार करने वाली तथा मृत के लिए भी संजीवनी बूटी का कार्य करने वाली हैं। सरल एवं विश्लेषणात्मक शैली से लिखी गयी ये पुस्तकें युग-युग तक होमियोपैथी के प्रचार-प्रसार में योगदान करती हुई लेखक का नाम अमर करती रहेंगी।

हम वैदिक संस्कृति के अनन्य उपासक, लेखनी के जादूगर एवं सफल होमियोपैथ के रूप में डाक्टर सत्यव्रत जी का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं और आपके स्वास्थ्य एवं दीर्घायुष्य की कामना करते हुए आशा करते हैं कि भविष्य में अन्य भी विविध ग्रन्थरत्न आपकी जीवनस्राविणी लेखनी से प्रसूत होते रहेंगे।

वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार

डा० त्रिभुवन सिंह

प्रो० हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वेद, भारतीय ही नही अपितु विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। विश्व के प्रायः सभी विद्वानों, विचारको एवं समालोचकों ने इनके महत्त्व को स्वीकार किया है। ये ईश्वरीय ज्ञान हैं जिनका प्रकाशन जगत् के कल्याणार्थ सृष्टि-रचना के आरम्भ मे ही अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरादि ऋषियो के हृदयो मे किया गया। इन ऋषियो से ही यह ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा के माध्यम से लोक मे विकीर्ण हुआ। वैदिक साहित्य का यह ज्ञान ही भारतीय धर्म और साधना का मूलाधार है जिस पर संस्कृति और सभ्यता का भव्य प्रासाद निर्मित है। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही ईश्वरोपासनादि के सम्बन्ध मे विविध मतमतान्तर प्रचलित रहे, पर सभी ने अपने मत का आधार वेदों को ही माना। भारतीय दर्शनों में प्रतिपादित सिद्धान्तो की पुष्टि वेदो के प्रमाणो से ही हुई। वेदो का महत्त्व केवल भारतवर्ष तक ही सीमित नही रहा अपितु विश्व के अनेक देशो के मनीषी इसमे सन्निहित ज्ञान और इसके गुणो से प्रभावित हुए। मैक्समूलर, विन्टरनित्ज, राथ, कोलब्रुक तथा मैकडॉनल जैसे विद्वानों ने अपना सम्पूर्ण जीवन ही वेदों के अध्ययन के लिए समर्पित कर दिया।

वेद, समस्त सत्य विद्याओ के मूल स्रोत हैं, और समस्त सत्य विद्याएँ वेदो से ही जानी जाती हैं। समस्त भारतीय ज्ञान-विज्ञान वेदों मे ही निहित है। वैदिक विचारधारा—वह चाहे जीवन का कोई भी क्षेत्र क्यो न हो—स्वय में प्रमाण है। आज के इस भौतिकवादी युग में—जबकि आध्यात्मिक और सामाजिक मूल्यो का विघटन तेजी के साथ हो रहा है—वेदो की महत्ता स्वयंसिद्ध है। हम जीवन का एकांगी विकास करके सुखी नही हो सकते। जीवन का सम्पूर्ण विकास है—व्यक्ति की भौतिक उन्नति के साथ ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति, उसका आत्मिक विकास। यही वैदिक विचारधारा का सारतत्त्व है।

प्रख्यात मनीषी तथा सुविचारक डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने अपनी पुस्तक 'वैदिक विचार-धारा का वैज्ञानिक आधार' में उपनिषदों की इसी विचारधारा को विज्ञान की कसौटी पर कसकर जाँचा-परखा है।

एक लम्बे युग से अध्यात्म और विज्ञान को परस्पर विरोधी मानकर चलने की परम्परा रही है। आधुनिक जड़वादी दर्शन अध्यात्म को बिल्कुल मिथ्या मानता है, उसे अवैज्ञानिक सिद्ध करता है। वह मानता है कि सिर्फ भौतिक जगत् ही सत्य है, उसके परे कोई सत्ता नहीं है। आध्यात्मिक विचारधारा इससे भिन्न है। अध्यात्मवादी मानता है कि सिर्फ जगत् ही सत्य नही है वरन् इसके परे भी कोई सत्ता है, जिसने इसका निर्माण किया है। उसी सत्ता से यह सृष्टि का सारा कार्य-व्यापार संचालित है। जिस तरह शरीर सत्य है उसी तरह शरीर मे समायी हुई आत्मा भी सत्य है, और जिस तरह पञ्चभूतों से निर्मित यह जगत् सत्य है, वैसे ही इस जगत् का निर्माण करने वाला परमात्मा भी सत्य है। मानव शरीर साध्य नही बल्कि साधन है, अतः हम इसे साधन मानकर ही चलें। यही वैदिक विचारधारा है। यही वैदिक विचारधारा का व्यावहारिक सत्य है।

वस्तुतः देखा जाय तो विज्ञान और अध्यात्म में कहीं भी टकराव की स्थिति नहीं है। दोनों एक-दूसरे

के पूरक हैं। दोनों का उद्देश्य सत्य की खोज है। दोनों का पथ एक है। अन्तर इतना ही है कि जहाँ विज्ञान की सीमा समाप्त हो जाती है वहाँ धर्म आगे बढता है, हमे मार्ग दिखाता है। जिस तरह विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त हैं वैसे ही धर्म के कुछ आधारभूत सिद्धांत हैं। उन सिद्धान्तों को नीव मे रखकर ही हम जीवन का निर्माण कर सकते हैं।

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने औपनिषदिक दर्शन के कुछ गूढ़ प्रश्नों का उत्तर देते हुए विज्ञान के साथ उनका सामंजस्य दिखाने का स्तुत्य प्रयास किया है। 'मन क्या है ?', 'ईश्वर क्या है ?', 'सृष्टि की रचना कैसे होती है ?', 'मृत्यु क्या है ?', 'क्या मृत्यु के बाद पुनर्जन्म होता है ?' इत्यादि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तर विज्ञान या भौतिकवादियों ने दिये हैं। ये उत्तर कहाँ तक तर्कसंगत हैं और उनसे हमारी जिज्ञासाओ का कितना समाधान होता है, यही इस पुस्तक के विवेचन का मुख्य विषय है। पुस्तक का सार-संक्षेप या निचोड़ इस प्रकार है।

कुल मिलाकर ग्रंथ बारह अध्यायो मे विभाजित है जिनमे द्वितीय, चतुर्थ एवं अष्टम अध्याय क्रमशः प्रथम, तृतीय तथा सप्तम अध्याय के पूरक रूप मे हैं। प्रथम अध्याय मे मन का भौतिकवादी दृष्टिकोण से विश्लेषण तथा द्वितीय अध्याय मे अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से विश्लेषण है। भौतिकवादी मन की सत्ता अस्वीकार करता है। वह मानता है कि शरीर का सारा कार्य-व्यापार अपने आप चल रहा है। मानव शरीर की रचना ही कुछ इस ढंग की है कि उद्दीपक के उपस्थित होने पर अनुक्रिया अपने आप हो जाती है। इस सम्पूर्ण व्यापार का संचालन संवेदन और प्रेरक तन्त्रिकाओ द्वारा होता है जिसका केन्द्र मस्तिष्क है। भौतिकवादी कहता है कि यदि मन जैसी कुछ सत्ता है तो यही मस्तिष्क है। पर अध्यात्मवादी मस्तिष्क को मन नही मानता। उसका कहना है कि मन तो चिन्तन और संकल्प-विकल्प का कार्य करता है जो मस्तिष्क द्वारा सभव नहीं। क्योंकि मस्तिष्क तो स्वचालित यत्र है जो सोचने-विचारने का कार्य नही कर सकता—जैसा कि भौतिकवादी स्वीकार करते हैं। डा० सिद्धान्तालंकार जी ने इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है—"एक मनुष्य पहाड़ से गिर पड़ा, गिरते-गिरते रास्ते मे एक वृक्ष की टहनी को पकडकर लटक गया। अब उसकी बाँह पर एक ततैया आकर काटने लगा। ततैये के काटने पर निश्चित अनुक्रिया तो यह होनी चाहिए कि वह हाथ से ततैये को उडा दे, परन्तु वह सोच मे पड जाता है, सोचता है कि वृक्ष की टहनी को छोड़ दूंगा तो नीचे गिर जाऊँगा, हड्डी-पसली चूर-चूर हो जायगी। वह टहनी को नही छोडता। टहनी छोड़ूँ या न छोड़ूँ—इसमे चुनाव कौन करता है ? निश्चय ही यह चुनाव मशीन नही करती। चुनाव करना चेतन का स्वभाव है। मनुष्य पर अविद्यमान, अनागत घटनाओ का प्रभाव पडता है, विगत घटनाएँ जो इस समय मौजूद नही उनका स्मृति द्वारा प्रभाव पड़ता है: संवेगो का—काम, क्रोध, लोभ, मोह का प्रभाव पड़ता है। अगर मनुष्य मशीन ही हो, उसके भीतर कोई स्वतंत्र चिन्तन करने वाली सत्ता न हो, तो ये सब प्रभाव कैसे पड़ सकते हैं ?" इससे यह सिद्ध होता है कि मन की सत्ता कही न कहीं अवश्य है और जो मस्तिष्क तो नही ही है। यह सत्ता अभौतिक है जिसका इस भौतिक शरीर पर प्रभाव पड़ता है। यही आध्यात्मिक विचारधारा है।

तृतीय और चतुर्थ अध्याय का विषय चेतना, मन तथा आत्मा के विश्लेषण से सम्बन्धित है। यह तो सभी मानते हैं कि इस भौतिक शरीर के भीतर कोई चेतन या अभौतिक तत्त्व है जो इसे चलाता है। कोई इसे चेतना कहता है, कोई मन, तो कोई आत्मा। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक विचारधारा इन सबको एक ही मानती है। इसके लिए वे 'मन' शब्द का प्रयोग करते हैं। पर भारतीय विचारधारा मे इन तीनो का अलग-अलग अर्थ है। चेतना का प्रयोग तो मन और आत्मा दोनों के लिए होता है परन्तु मन तथा आत्मा इन दोनों शब्दो का अलग-अलग सत्ता के लिए प्रयोग होता है।

सांख्यकार कपिल के अनुसार 'मन' चेतन नहीं है। वह प्रकृति के विकास का परिणाम है इसलिए प्राकृतिक है, भौतिक है। इसके विपरीत 'आत्मा' चेतन है। वह प्रकृति के विकास का परिणाम नही है, इसलिए

अप्राकृतिक है, अभौतिक है। मन कारण है, साधन है, औजार है और आत्मा इस कारण, साधन या औजार का इस्तेमाल करने वाला। उपनिषदों में भी मन को अन्न से बना इसलिए भौतिक माना गया है। इस बिन्दु पर आकर भारतीय और पाश्चात्य विचारकों के मत एक हो जाते हैं। पर मन सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य विचारधारा में कुछ मूलभूत अन्तर भी है जिसे विद्यालंकार जी ने बड़ी ही कुशलता से उभारा है। उनका कहना है कि शरीर-क्रियात्मक मनोविज्ञानवादी या व्यवहारवादी मन की व्याख्या करते हुए केवल तंत्रिका-तंत्र पर ही अटक जाते हैं, वे आत्मा को सत्ता तक नहीं पहुँच पाते, जबकि भारतीय विचारक मन को भौतिक मानते हुए भी उसे आत्मा का कारण या साधन मानते हैं। निश्चय ही इस व्याख्या से ग्रंथकार की गहन विश्लेषण शक्ति का परिचय मिलता है और उसकी मौलिकता भी दिखाई देती है।

मनुष्य के भीतर जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया चलती है, जिसे क्रमशः चित्त, अहंकार, मन तथा बुद्धि का नाम दिया गया है—इसमें मन का कार्य सिर्फ संकल्प-विकल्प करना है, 'यह ठीक है या वह ठीक है' इस प्रकार के द्वन्द्वों को सामने लाकर उन पर विचार करना है, निश्चय करना नहीं। क्योंकि निश्चय करने का कार्य बुद्धि द्वारा होता है। चित्त, अहंकार, मन तथा बुद्धि की सत्ता सूक्ष्म है, इसलिए अभौतिक है किन्तु सूक्ष्म प्रकृति के अंशों से निर्मित होने के कारण जड़ भी है। अभौतिक होने के कारण वह आत्मा के निकट है, और भौतिक होने के कारण शरीर के, इन्द्रियों के निकट है। चित्त, अहंकार, मन तथा बुद्धि की सत्ता एक तरह से आत्मा तथा शरीर के बीच सेतु का—माध्यम का कार्य करती है।

मन, आत्मा तथा चेतना, ये तीन ऐसे शब्द हैं जो आपस में एक-दूसरे से कुछ इस तरह जुड़े हैं कि इनमें भेद कर पाना कठिन है। चेतना तथा आत्मा दोनों अभौतिक हैं, इसलिए मन से अलग हैं, पर चेतनता के गुण के कारण चेतना और आत्मा दोनों एक भी हैं। लेकिन एक होते हुए भी दोनों की सत्ता अलग है। चेतना की सत्ता व्यापक है, वह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है जबकि आत्मा सिर्फ व्यक्ति में, व्यष्टि में सीमित है।

यहीं चौथे अध्याय में 'चेतना' की सत्ता पर अलग से विचार किया गया है। इसमें माण्डूक्योपनिषद् मे वर्णित चेतना की चार अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय— का फ्रायडीय मनोविश्लेषण की सचेतन, अवचेतन तथा अचेतन अवस्थाओं से तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इसी प्रसंग मे यह भी चर्चा है कि फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद अचेतन तक जाकर रुक जाता है। औपनिषदिक विचार उसके आगे निकल-कर तुरीयावस्था में जा पहुँचता है जिसमे जाकर विश्व-चेतना से सम्पर्क हो जाता है। इसे लेखक ने समष्टि-चेतना कहा है जो सच्चिदानन्द रूप है और जहाँ पहुँचकर आत्मा का आनन्दमय के साथ सम्पर्क हो जाता है।

पंचम अध्याय में 'ईश्वर' की सत्ता का विवेचन है। अधिकांश धर्मों में ईश्वर की कल्पना महामानव के रूप में की गई है और उसका निवास स्वर्गलोक माना गया है। पर यह कल्पना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि यदि ईश्वर महापुरुष है तो वह अनादि, अनन्त और अविनश्वर कैसे हो सकता है? यद्यपि भारतीय योगदर्शन में भी ईश्वर को 'पुरुष विशेष' कहा गया है, पर वहाँ पुरुष का मतलब है संसार रूपी पुरी में निवास करने वाला। अर्थात् परमात्मा संसार के अणु-अणु में वर्तमान है। योगदर्शन कहता है कि परमात्मा ऐसा पुरुष विशेष है जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि क्लेशों से अछूता है। योगदर्शन तो केवल सर्वसाधारण को समझाने के लिए ईश्वर को पुरुष विशेष कहता है अन्यथा वह तो उसे अपुरुष ही बतलाता है।

वस्तुतः ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं है, वरन् वह शक्ति है, चैतन्य-स्वरूप शक्ति। शक्ति, प्रकृति में भी होती है, पर वह अचेतन है, जड़ है, जबकि ईश्वर चेतन शक्ति है। जड़ जगत में उसी की सर्जनात्मक चेतन शक्ति व्याप्त है। प्रकृति परिवर्तनशील है और इस परिवर्तन को लाने वाली चेतन सत्ता ईश्वर है। सृष्टि में हर वस्तु का प्रयोजन है, एक निश्चित उद्देश्य है जो वह सिद्ध करता है कि उसके निर्माण के पीछे कोई न कोई चेतन शक्ति अवश्य है। सृष्टि मे इतनी विविधता है कि इसे देखकर आश्चर्य होता है, पर सारी विविधता एकसूत्रता में पिरोई हुई है, प्रत्येक का एक-दूसरे से तालमेल है। यह नियम उस चेतन सत्ता का ही

है जो जगत् के कण-कण में व्याप्त है और जिसे हम ईश्वर का नाम देते हैं। ईश्वर की इतनी सूक्ष्म और विशद व्याख्या कर पाश्चात्य मनीषा के साथ उसका तालमेल बिठाना सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जैसे विचारक-चिन्तक के ही वश की बात है।

यहीं एक प्रश्न यह भी उठाया गया है कि क्या ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं? इसका उत्तर है—नहीं। ईश्वर की सत्ता को हम अनुभव कर सकते हैं उसका दर्शन नही कर सकते। इसका कारण है—ईश्वर, चेतन सत्ता है जो सर्वव्यापी है। वह हमारे आपके भीतर भी है। जबकि देखने के लिए द्रष्टा और दृश्य में दूरी होनी चाहिए। चेतन सत्ता सर्वव्यापी है, इसलिए उसमे दूरी नही है और इसीलिए हम उसके दर्शन नही कर सकते। ठीक वैसे ही, जैसे हम शरीर के भीतर की वस्तुओं का दर्शन नही कर सकते। फिर ईश्वर तो निराकार है, न तो उसका कोई रूप है न रंग। वह तो अभौतिक है। वह तो नेत्रों का विषय ही नहीं है। फिर भला हम उसे कैसे देख सकते हैं? यदि हमे ईश्वर के स्वरूप का दर्शन ही करना है तो हम गीता के इन श्लोकों[1] को पढ़ें जिसमें भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि—"हे अर्जुन! मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में ओंकार हूँ, आकाश में शब्द और पुरुषों मे पुरुषत्व हूँ। मैं पृथ्वी मे पवित्र गंध और अग्नि मे तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ। हे अर्जुन, तू सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज मुझको ही जान, मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ। हे भरत श्रेष्ठ! मैं बलवानों की आसक्ति और कामनाओं से रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतों में धर्म के अनुकूल अर्थात् शास्त्र के अनुकूल काम हूँ।"[2] वस्तुत: ईश्वर का यही वास्तविक रूप है।

षष्ठ अध्याय सृष्टि की उत्पत्ति या उसकी रचना से सम्बन्धित है। इसमें मूल प्रश्न यह है कि सृष्टि का निर्माण किसी एक मूल तत्त्व से हुआ है अथवा दो या दो से अधिक से। पहले विज्ञानवादियों ने सृष्टि-रचना मे १०६ मूल तत्त्वों को स्वीकार किया था, बाद में यह संख्या घट कर १०२ हो गई और अब मात्र, ३ रह गई है। सांख्यदर्शन ने भी सृष्टि रचना के मूल में सत्, रज, तम—इन तीन तत्त्वो को ही स्वीकार किया है। लेकिन विज्ञानवादी अब कहने लगे हैं कि भौतिक पदार्थ ३ जरूर हैं पर उनका मूल तत्त्व एक ही है। सांख्यदर्शन ने इसे साम्यावस्था-प्रकृति का नाम दिया। प्रकृति से जो पदार्थ बने उसे विकृति कहा। यहाँ तक भौतिकवाद और सांख्यवाद की दिशा एक है। लेकिन सृष्टि रचना के सम्बन्ध में दोनों का दृष्टिकोण एकांगी है क्योकि दोनो ने चैतन्य गुण की उपेक्षा की है। ऐसी स्थिति में हमे इस क्रम मे जड़ और चेतन इन दोनों मूल तत्त्वों को स्वीकार करना पड़ेगा। डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी के ये विचार मौलिक और उपादेय हैं। सृष्टि की रचना मे 'जड़' और 'चेतन' इन दोनों मूलतत्त्वों का समान योग है क्योंकि न (जड़) से चेतन पैदा हो सकता है और न चेतन से जड। वैदिक साहित्य मे इसी चेतन को 'जीव' तथा 'ब्रह्म' इन दो रूपों में माना गया है और इस तरह सृष्टि-रचना में तीनों की सत्ता स्वीकार की गई है।

सप्तम और अष्टम अध्याय में क्रमश: कर्म तथा निष्काम कर्म का विवेचन है। कर्म के सम्बन्ध

---

१. रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययो: ।
प्रणव: सर्ववेदेषु शब्द: खे पौरुषं नृषु ॥८॥
पुण्यो गन्ध: पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिबुद्धि मतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवतां चाहं कामराग विवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥ (श्रीमद्भगवद्गीता, सप्तम अध्याय)

२. श्रीमद्भगवद्गीता ('तत्त्वविवेचनी हिन्दी टीका', टीकाकार-जयदयाल गोयन्दका), पृष्ठ ३०८, ३०९, ३१०।

में पहले भौतिकवादी विचारधारा को लें। भौतिकवादी पुनर्जन्म को नहीं मानते, इसलिए कर्म के सिद्धान्त पर दार्शनिक दृष्टि से विचार नहीं करते। भारतीय दर्शनों में चार्वाक-दर्शन भी इसी मत का है जो यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्, भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः—की बात करता है। पर भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा ने इस पर गहराई से विचार किया है। कर्म के सम्बन्ध मे भारतीय विचारधारा यह है कि जैसे हमने पिछले जन्म में कर्म किए वैसा हमें यह जन्म मिला और जैसे इस जन्म में कर्म करेंगे वैसा अगला जन्म मिलेगा। यह भौतिक जगत् में विद्यमान कारण-कार्य के नियम की तरह ही सत्य और अटल है। इसी को कर्म का सिद्धान्त कहते हैं।

कर्म की चर्चा करते हुए ही यह प्रश्न सामने आता है कि क्या मनुष्य कर्म करने मे स्वतंत्र है या वह भाग्य से बँधा हुआ है? इस पर बड़ा विवाद है। पुरुषार्थवादी पुरुषार्थ को ही सब कुछ मानते हैं जबकि भाग्य-वादी भाग्य को। डा० सत्यव्रत जी ने इस संदर्भ में वैदिक विचारधारा का उल्लेख किया गया है और यह माना गया है कि जीवन में दोनों साथ-साथ चलते हैं। इसी मे आगे यह भी बताया गया है कि किसी भी कर्म का नाश नहीं होता, उसका फल अवश्य मिलता है। हाँ, यह अवश्य है कि कभी-कभी वह फल हमे दिखाई नही देता। वस्तुतः वह चित्त में आकर संस्कार रूप में सुरक्षित हो जाता है। शरीर का नाश होने पर भी कर्मों का नाश नहीं होता। आत्मा, उन कर्मों को बीज-रूप संस्कारों के रूप में सूक्ष्म शरीर में लेकर अगले जन्मों में जाता है जहाँ वे बीज समय पाकर कर्मफल के रूप में फलित होते हैं।

कुल मिलाकर कर्मफल का सिद्धान्त यह बताता है कि कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है। उससे बचा नहीं जा सकता। तो फिर प्रश्न उठता है कि ऐसा क्या उपाय है कि हम कर्म भी करें और उसके बंधनों मे भी न फँसें। इसका वैदिक समाधान यह है कि हम कामना रहित कर्म करें जिसमे फल की कोई इच्छा न हो। गीता मे इसी को 'निष्काम कर्म, कहा गया है। 'निष्काम' का अर्थ 'निष्कर्मण्यता' कदापि नही है। कर्म नही, बल्कि कर्म के फल की आशा छोड़ना ही निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म के इस प्रसंग में ही सकाम कर्म की चर्चा की गई है, साथ ही निष्काम कर्म पर लोकमान्य तिलक, योगिराज अरविन्द, आचार्य विनोबा भावे तथा आचार्य रजनीश के विचारों को भी प्रस्तुत किया गया है। अन्त मे निष्कर्ष रूप मे लेखक ने यह भी बता दिया है कि आज के भौतिकवादी मनुष्य के लिए वैदिक विचारधारा के निष्काम कर्म की कितनी उपादेयता है।

नवें अध्याय मे मानव की आधारभूत समस्या—शिक्षा—पर वैदिक दृष्टिकोण से विचार करते हुए उसके वैज्ञानिक आधार पर प्रकाश डाला गया है। शिक्षा निश्चय ही मानव की आधारभूत समस्या है क्योंकि वही मनुष्य को मनुष्य बनाती है अन्यथा मनुष्य और पशु मे कोई भेद न रहे। हमारी आज की जो शिक्षा प्रणाली है वह इतनी दूषित है कि उससे हम मनुष्य को मनुष्य तो नही ही बना सकते। फिर इसका उपाय क्या है? हम लोगों को कैसी शिक्षा दें कि वे सभ्य और सुसंस्कृत मानव बन सकें। इसके लिए हमें पीछे लौटना होगा। शिक्षा की विचारधारा का अध्ययन करना होगा। वैदिक विचारधारा में इसे 'गुरुकुल शिक्षा पद्धति' कहा गया है, जिसमें बालक को शिक्षा का केन्द्र मानकर उसके आचरण का—उसके चरित्र का निर्माण किया जाता था। इसमें बालक अपने माता-पिता के कुल से अलग होकर गुरु के कुल में जाता था जहाँ उसका 'उपनयन संस्कार' होता था। 'उपनयन' का अर्थ है—'निकट ले जाना' अर्थात् शिष्य अपने को गुरु के अत्यन्त निकट ले जाय। वहाँ गुरु का कर्तव्य था शिष्य को पुत्र की तरह से पालना, उसे विविध शास्त्रों की शिक्षा देना तथा उसके चरित्र का निर्माण करना। 'आचार्य' का अर्थ ही है—'आचार सिखाने वाला'। इस तरह गुरु के आश्रम में रहता हुआ शिष्य, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ ज्ञानार्जन करता था तथा अपने चरित्र का निर्माण करता था। वहाँ उसे अपरा के साथ परा विद्या, मन्त्रज्ञान के साथ आत्मज्ञान तथा सुविद्या के साथ विद्या का ज्ञान भी दिया जाता था जिससे वह आगे चलकर अपने जीवन का सर्वांगीण विकास कर सके। इस तरह वैदिक शिक्षा-पद्धति पूर्ण और विज्ञान सम्मत थी। दुर्भाग्य से इस शिक्षा पद्धति का देश में लोप हो गया। महर्षि दयानन्द के इस परम्परा

को पुनरुज्जीवित किया और आधुनिक संदर्भों में इसकी उपादेयता सिद्ध की। मैं डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के विचारों से पूर्णतः सहमत हूँ कि आज देश को ऐसी ही शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है और तभी हमारा कल्याण भी संभव है।

दसवाँ अध्याय जीवन की विवेचना से सम्बन्धित है। जीवन के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं—एक भौतिकवादी, दूसरा अध्यात्मवादी। भौतिकवादी इस जीवन को ही आदि-अन्त मानते हैं, इसलिए सुखपूर्वक जीने की सलाह देते हैं। जीवन के सम्बन्ध में अध्यात्मवादी का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। वह इस जीवन को मिथ्या मानता है। उसकी दृष्टि में यथार्थ जीवन, इहलोक नहीं बल्कि परलोक का जीवन है, अतः हमें उसको ध्यान में रखते हुए जीवन व्यतीत करना चाहिए। अब देखना यह है कि जीवन के सम्बन्ध में भौतिकवादियों की विचारधारा सत्य है या अध्यात्मवादियों की? वास्तविकता इससे भिन्न है। न तो भौतिकवादी विचार-धारा ही पूर्णतः सत्य है और न आध्यात्मिक विचारधारा ही। वस्तुतः दोनों विचारधाराएँ मिलकर जीवन को पूर्णता प्रदान करती हैं। हमारा भौतिक जीवन आध्यात्मिक जीवन का अंग है। जीवन के सम्बन्ध में वैदिक दृष्टिकोण भी यही है। इसे ही सत्य मानकर जीवन-पथ पर आगे बढ़ना चाहिए। यदि हम पार्थिव जीवन को ही सब कुछ मान लें तो जीवन में सार्थकता नहीं रह जाएगी। जीवन का कोई उद्देश्य नहीं रह जाएगा। इसलिए भौतिक जीवन के साथ आध्यात्मिक जीवन की डोर का बँधा होना आवश्यक है। यही जीवन की सम्पूर्णता है। लेखक ने वास्तविक जीवन के सम्बन्ध में कठोपनिषद् का उदाहरण देकर इस विषय को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है।

ग्यारहवें अध्याय में पुनर्जन्म की व्याख्या की गई है। भौतिकवादी चूँकि आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करते इसलिए वे पुनर्जन्म को नहीं मानते। पर भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा पुनर्जन्म में विश्वास करती है। वह मानती है। इस शरीर से अलग आत्मा की स्वतंत्र सत्ता है। जो न जन्म लेती है और न मरती है वह मात्र एक शरीर छोड़कर दूसरे में प्रवेश करती है। आत्मा का यही शरीरा-तरण ही 'पुनर्जन्म' है। आत्मा सत् वस्तु है। सत् वस्तु का कभी अभाव नहीं होता बल्कि उसका रूपान्तरण होता है। आज का विज्ञानवादी भी यही मानता है। जिस तरह सृष्टि का प्रवाह अनादि और अनन्त है, उसी तरह आत्मा भी अनादि और अनन्त है।

वस्तुतः पुनर्जन्म का सिद्धान्त इतना जटिल है कि सहज ही किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों ने इसके पक्ष और प्रतिपक्ष में अनेक तर्क दिए हैं। डा० सिद्धान्तालकार जी ने उन तर्कों की बड़ी गहराई से छानबीन की है और अपना निष्कर्ष निकाला है। पहले उन्होंने उन युक्तियों की परीक्षा की है जो पुनर्जन्म को मानने के सम्बन्ध में दी गई हैं। उनमें मुख्य ये हैं—१. पुनर्जन्म का विचार सार्वत्रिक है। २. मनुष्य में अमरता का विचार पाया जाता है। ३. कारण-कार्य के नियम के आधार पर पुनर्जन्म मानना पड़ता है। ४. कई ऐसे मेधावी बालक पाये जाते हैं जो जन्म से ही अद्भुत बुद्धि को लाते हैं। ५. भौतिक-जगत् में शक्ति की अक्षयता या उसके रूपान्तरण का नियम आध्यात्मिक जगत् में भी लागू होता है। ६. विकासवाद की साक्षी भी पुनर्जन्म मानने के लिए बाध्य करती है। ७. कभी-कभी ऐसे लोग भी मिल जाते हैं जिन्हें पूर्व जन्म की स्मृतियाँ याद रहती हैं (इस सन्दर्भ में स्वयं लेखक ने भी कई लोगों के दृष्टांत एकत्र किए हैं)।

पुनर्जन्म को न मानने के सम्बन्ध में मात्र तीन तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं। एक तो यह कि यदि पुनर्जन्म होता है तो पूर्वजन्म की स्मृतियाँ क्यों नहीं रहतीं? दूसरा यह कि यदि आत्मा नाम की कोई सत्ता होती ही नहीं (जैसा कि भौतिकवादी मानते हैं) तो पुनर्जन्म किसका? तीसरा यह यदि आनुवंशिकता और पर्यावरण के आधार पर जीवन की सब विषमताओं का हल हो जाता है तो फिर पुनर्जन्म मानने की आवश्यकता ही क्या है? लेखक ने अपनी गहन विवेचन-शक्ति के अनुसार इसका बड़ा ही स्पष्ट उत्तर दिया है और यह सिद्ध किया है कि

पुनर्जन्म का सिद्धान्त सत्य है।

ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में 'मृत्यु' जैसे भयावह सत्य का विवेचन है। मृत्यु है क्या ? मृत्यु, वस्तुतः शरीर का नाश है। वैदिक विचारधारा मृत्यु को तनिक भी भयावह नहीं मानती। वह तो मानती है कि आत्मा अजर-अमर है। उसका कभी नाश नहीं होता। बहुत से ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने हँसते-हँसते मृत्यु का वरण किया क्योंकि उन्हें तो आत्मा की अनश्वरता का पता था। फिर आधुनिक विज्ञानवादी विचारधारा से देखें तो शरीर का भी नाश नहीं होता। वह तो पंचमहाभूतों से बना है और शरीर की मृत्यु हो जाने पर ये पंच महाभूत अपने मूल तत्त्व में चले जाते हैं। इस तरह से शरीर का नाश नहीं बल्कि रूपान्तरण होता है। शरीर का यह रूपान्तरण ही मृत्यु है। जिस तरह आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे में चला जाता है वैसे ही शरीर के तत्त्व भी शरीर का नाश होने पर अपने मूल तत्त्वों में चले जाते हैं और पुनः इन मूल तत्त्वों से नए शरीर का निर्माण होता है। इस तरह से तो मृत्यु का कहीं अस्तित्व ही नहीं सिद्ध होता। जो उपनिषदों के इस रहस्य को जान लेता है वह मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने इस सन्दर्भ में नचिकेता का प्रसंग उद्धृत किया है। नचिकेता का मृत्यु से साक्षात्कार होता है। वह मृत्यु से पूछता है कि—'मृत्यु क्या है?' मृत्यु उत्तर देता है कि—'प्रेय' ही मृत्यु है, 'श्रेय' जीवन है।' जो लोग शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं, वे ही मृत्यु का अनुभव करते हैं पर जो आत्मा को सत्य मानते हैं उन्हें मृत्यु का भय नहीं होता। यही बात गीता में अर्जुन से श्रीकृष्ण ने भी कही थी। वैदिक ऋषियों ने इस सत्य को सदियों पहले ही जान लिया था।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने अपने इस ग्रन्थ में वैदिक विचारधारा का सारतत्त्व ही निचोड़ कर रख दिया है। वेदों की इस विचारधारा को आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर कसकर और इसकी सत्यता प्रमाणित कर भौतिक वादियों को चुनौती दी है। इस दिशा में किया जाने वाला यह प्रथम मौलिक कार्य है। निश्चय ही इससे आने वाली पीढ़ियों का मार्गदर्शन होगा।

पंडित सत्यव्रत प्रणीत
वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार

डा० विजयपाल शास्त्री

प्रवक्ता, दर्शन विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

वैदिक सिद्धान्त मन-प्रादुर्भूत केवल कल्पना पर आधारित नहीं हैं, अपितु चिरन्तन ऋषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा से प्रसूत होने के कारण त्रिकालाबाधित सत्य हैं। यह सार्वकालिक सत्यता वैज्ञानिक निकष पर परीक्षित होकर अत्यधिक ग्राह्य और विश्वसनीय होगी। वैदिक विचारधारा पूर्ण रूप से वैज्ञानिक भित्ति पर आधारित है। सम्प्रति आवश्यकता है उस वैज्ञानिक आधार को सर्वजन बोध्य और सर्वत्र प्रकाशित करने की। वैज्ञानिक आधार के बिना वैदिक धर्म अन्धविश्वास के रूप में प्रचारित होने लगा है। विज्ञान लँगड़ा है, धर्म अन्धा है। दोनों अपूर्ण हैं। दोनों का समन्वय ही पूर्णता का लाभ करा सकता है। इस वैज्ञानिक आधार की जितनी आवश्यकता पहले थी, उससे कहीं अधिक अब है। वैदिक विचारधारा को वैज्ञानिक आधार दिये बिना साम्प्रतिक परिस्थितियों में न व्यक्ति आस्थावान् बन सकता है, न समाज समुन्नत हो सकता है और न राष्ट्र एक सशक्त जीवन पा सकता है। भौतिक और अध्यात्म का समन्वय ही आज पथ भ्रंश पर अग्रसर युवकों को सन्मार्ग दिखा सकता है। आइये देखें, वह कौन-सा वैज्ञानिक आधार है जिस पर वैदिक मान्यताएँ आरूढ़ होकर त्रिकालाबाधित और सार्वभौम बन गयी हैं।

वैदिक सिद्धान्तों का सार इस प्रकार है—१. मन देह में रहता है किन्तु देह से उसकी पृथक् अभौतिक सत्ता है। २. चेतना एक व्यापक तत्त्व है जिसकी चार अवस्थाएँ हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था। ३. आत्मा जड़ से भिन्न, चेतन तथा नित्य है जो कर्ता और सुख-दुःख का भोक्ता है। ४. परमात्मा इस विश्व का सर्जक पालक, और संहारक है। ५. सृष्टि प्रक्रिया के तीन मूल तत्त्व हैं—परमात्मा, प्रकृति और पुरुष। ६. कृत कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, यह अटल नियम है। मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है। ७. निष्काम कर्म करके हम कर्म-बन्धन से मुक्त हो सकते हैं। ८. बालक के व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कारों का महान् योगदान है। शिक्षा के लिए बालक आचार्य कुल में रह कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे एवं आचार्य उसे गर्भस्थ करे। ९. हमारा भौतिक जीवन आध्यात्मिक जीवन का अंग है। दोनों जीवन सत्य हैं। दोनों मिल-कर जीवन की शृंखला को पूर्ण करते हैं। दोनों को सत्य मानकर ही लक्ष्य पर पहुँचा जा सकता है। १०. असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती और सत् का अभाव कभी नहीं होता। आत्मा सद्वस्तु है। वह कभी नहीं मरता। यह एक चोला छोड़कर दूसरा चोला धारण करता है। यही पुनर्जन्म है जो एक चिरन्तन सत्य है। ११. जीवन जितना सत्य है, मृत्यु भी उतनी ही सत्य है। प्रत्येक जीवधारी की मृत्यु होती है। मृत्यु देह की होती है आत्मा की नहीं। देह के रूपान्तरण का नाम ही मृत्यु है।

उपर्युक्त वैदिक सिद्धान्त वैज्ञानिक निकष पर किस प्रकार विशुद्ध उतरते हैं, यह हमें विचार करना है। सर्वप्रथम मन को ही लें।

मन (Mind)

वैदिक सिद्धान्त के अनुसार मन की शरीर से पृथक् सत्ता है। यह शरीर में रहते हुए भी भौतिक नहीं अपितु एक अभौतिक तत्त्व है। यद्यपि इसके अभौतिक होने में मतभेद हो सकता है, क्योंकि सांख्य आदि दार्शनिक इसे प्रकृति का ही परिणाम मानते हैं, फिर भी यह एक दिव्य तत्त्व है। इसलिए वेद में इसे जागृत् और स्वप्नावस्था में दूर जाने वाला (मज्जाग्रतो दूरमुदैति तदु सुप्तस्य) दूर जाने वाला (दूरङ्गमम्) ज्योतियो की भी ज्योति (ज्योतिषां ज्योतिः) जीर्ण न होने वाला (यदजिरम्) तीव्र गति वाला (जविष्ठम्) समस्त कार्यों को करने वाला (यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते) तथा यज्ञों का निर्वाहक (येन यज्ञ स्तायते) आदि कहा गया है। जिसे हम जीवन कहते हैं वह इसी मन के स्तर पर प्रकट होता है। इस मन का कार्य केवल बाह्य क्रिया-कलाप को संगृहीत कर लेना ही नहीं है या द्रष्टा बनकर उसे देख लेना भर नहीं है बल्कि यह अपनी इच्छा से काम करने मे स्वतन्त्र है। घटनाओं को घटित करना और उनका नियमन करना भी मन का ही कार्य है।

मन को अन्तःकरण कहा जाता है। बुद्धि अहंकार चित्त इसी के स्तर पर रखे गये नाम हैं। संकल्प-विकल्प करना, विचार करना इसका मुख्य कार्य है। मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मे प्रथम अनुभूति चित्त (Consciousness) है। चित्त से अभिप्राय चेतना शक्ति से है। यह चेतना शक्ति सर्वत्र हमारे भीतर बाहर चिति शक्ति के रूप में विद्यमान है। दूसरी अनुभूति अहंकार (Individuality) की है। चेतना के आने प र ही मैं की अनुभूति होती है। आन्तरिक विकास का तीसरा स्तर मन (Mind) कहलाता है। चिन्तन करना सकल्प-विकल्प करना, यह ठीक है या यह ठीक है ऐसा विचार करना मन का कार्य है। मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की चतुर्थ अवस्था है बुद्धि (Intelligence)। मन मे उलझ रहे विकल्पों मे से एक का चुनाव करना इसका कार्य है। इन चारो को सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। यह अति सूक्ष्म है, अतः अभौतिक कहलाता है। यह सूक्ष्म प्रकृति के सूक्ष्म अंशों से बना है, इसलिए यह भौतिक भी है। यह सूक्ष्म शरीर ही आत्मा तथा शरीर के बीच का सेतु है।

भौतिकवादी दृष्टिकोण

भौतिकवादी मन को शरीर से पृथक् सत्ता नहीं मानते। उनके अनुसार यह शरीर की परिस्थितियों का ही परिणाम है। उदाहरण के लिए अधिक मदिरापान से एक वस्तु की दो वस्तु दिखायी देने लगती हैं। एल० एस० डी० जैसे नशीले पदार्थों के सेवन से आकाश में उड़ने की अनुभूति होती है। जिगर की खराबी से नैराश्य की अनुभूति होने लगती है। इससे सिद्ध होता है कि जिसे हम मन या विचार कहते हैं वह भौतिक परिस्थिति का ही परिणाम है।

भौतिकवादियों का कहना है, कि शरीर एक स्वचालित यन्त्र (Automatic machine) है। जैसे स्टेशनों पर रखी हुई भार मापक मशीन में २५ पैसे का सिक्का डालने पर भारसूचक टिकट स्वतः बाहर निकल आता है, खांचा मशीन (Slot machine) में वस्तु का निर्धारित मूल्य डाल देने पर अन्दर से इच्छित वस्तु स्वयमेव बाहर आ जाती है। इन मशीनों मे मन जैसी कोई वस्तु नहीं बैठी होती। वैसे ही यह शरीर भी विशेष परिस्थिति के उपस्थित होने पर स्वयं क्रिया करता है। यह प्रतिक्रिया स्वचालित शरीर यन्त्र की स्वयं-क्रिया है। मनुष्य का समस्त व्यवहार उद्दीपक अनुक्रिया (Stimalas-Response) के रूप में स्वतः चल रहा है। इस उद्दीपक अनुक्रिया का संचालन तन्त्रिकातन्त्र (Nurvous System) के द्वारा होता है। अंगुलि में काँटा चुभने पर शरीर में फैली संवेदन तन्त्रिकाएं (Sernory nesves) उसकी सूचना मस्तिष्क तक पहुँचाती है। तब मस्तिष्क से यह सन्देश प्रसारित किया जाता है कि अँगुली से काँटा निकाल लो। मस्तिष्क से इस सन्देश को अंगुली तक ले जाने वाली तन्त्रिकाएँ प्रेरक तंत्रिकाएँ (Motos nerves) कहलाती हैं। इस सन्देश के पहुँचते ही हम अँगुलि से काँटा निकाल देते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण प्रक्रिया में मस्तिष्क और तंत्रिकातन्त्र ही दिखाई देते हैं। मन कहीं दिखाई नहीं

देता। मन को न मानकर भी शरीर की क्रियाओं की समस्या का समाधान हो जाता है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण

अध्यात्मवादी कहता है कि भौतिकवादी का यह कथन कि मनुष्य का समस्त व्यवहार तन्त्रिकातन्त्र से चल जाता है है, ठीक नही है। यदि मस्तिष्क स्वचालित यन्त्र है तो उसे पूर्व-निश्चित उत्तर बाहर भेज देना चाहिए। क्योंकि मशीन सोचकर काम नही करती। मशीन यह कभी नही कहती कि सोचकर उत्तर दिया जायेगा। जो कुछ होता है वह खट से हो जाता है। किन्तु मन तो सोचता है। अनेक विकल्पो मे से एक का चुनाव करता है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति वृक्ष से नीचे गिरने लगता है। गिरते-गिरते वह एक हाथ से वृक्ष की शाखा पकड़ लेता है। उसी समय उसके दूसरे हाथ पर एक ततैया डंक मारने आ बैठता है। मनुष्य यदि मशीन होता तो वह टहनी छोड़कर उस हाथ से ततैये को उड़ा देता, किन्तु वह ऐसा नही करता, क्योकि वह जानता है कि शाखा छोड़ते ही नीचे गिर पड़ूंगा। मशीन मे यह सोचने की शक्ति नही होती। तो फिर वह कौन है जो यह चुनाव करता है? कोई तो है जो शरीर से पृथक है और शरीर की रक्षा के लिए चिन्तित है। वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार वही मन है।

तन्त्रिका-तंत्र (Nervous System) के कार्य को भी नकारा नही जा सकता। किंतु उसे मन का निवास-स्थान तो माना जा सकता है। मन नही कहा जा सकता। यह तो सत्य है कि मस्तिष्क के अभाव मे मन या चेतन टिक नहीं सकते किन्तु मन की सत्ता को सर्वथा नकार नही सकते। खूंटी कोट का आधार है। खूंटी के गिरने पर कोट भी गिर जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोट खूंटी है या खूंटी कोट है। नदी का पाट नदी की धारा का आश्रय है, किन्तु दोनों पृथक्-पृथक् हैं। इसी प्रकार मस्तिष्क (Brain) या तन्त्रिका तन्त्र (Nervous System) तो मन रूपी कोट को टांगने की खूंटी है, तथा मन रूपी नदी की धारा का पाट है।

यदि भौतिकवादी यह कहे कि मन की शरीर से पृथक् सत्ता मानने पर अभौतिक मन का भौतिक शरीर पर प्रभाव कैसे पड़ सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि प्रेम, इच्छा, द्वेष, आशा, निराशा, उत्साह आदि तत्त्व अभौतिक और अदृश्य हैं फिर भी इनका शरीर पर प्रभाव स्पष्टपरिलक्षित होता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मन केवल तन्त्रिकातन्त्र पर पड़े उद्दीपक की अनुक्रिया (Response to stimulus) मात्र नही है। भौतिक भौतिक का संचालन नही कर सकता। अभौतिक ही भौतिक का संचालन या उपभोग कर सकता है। यह मन ही है जो शरीर के उपभोग का साधन है। इसके निम्नलिखिति कारण हैं—

१. सोद्देश्यता (Purposefulness)—विश्व के समस्त प्राणियों में सोद्देश्यता पाई जाती है। प्रत्येक प्राणी किसी न किसी उद्देश्य के लिए जी रहा है। भविष्य में कोई ऐसा लक्ष्य अवश्य है जिससे पाने के लिए वह सतत सचेष्ट रहा है। यह लक्ष्य चाहे ज्ञात हो या अज्ञात हो, किन्तु यह निश्चित है कि प्राणी का व्यापार लक्ष्यहीन नहीं हो सकता। यह लक्ष्य शरीर यन्त्र की उद्दीपक अनुक्रिया का परिणाम नही हो सकता, क्योकि शरीर जड़ है। यह उद्दीपक अनुक्रिया वर्तमानकाल मे ही हो सकती है। यह लक्ष्य मन या चेतना के माने बिना सम्भव नही है।

२. भविष्य की घटना का प्रभाव (Influence of the future)—जो घटना अभी घटित नहीं हुई उसको सोचकर अभी से चिन्ता होने लगती है। मान लीजिए, मुझे एक मास बाद कोई परीक्षा देनी है। परीक्षा अभी आयी नहीं। किन्तु उसकी मुझे प्रतीक्षा है और उसके लिए मैं प्रयत्नरत हूँ। भविष्य का यह प्रभाव मन को माने बिना सम्भव नही। तन्त्रिका-तन्त्र (Nervous System) पर वर्तमानकालीन उद्दीपकों की ही अनुक्रिया (Response to Stimulus) हो सकती है।

३. **अतीत का प्रभाव** (Influence of the past)—जिस प्रकार भविष्य की घटनाओं का प्रभाव मन पर पड़ता है वैसे ही अतीत की घटना का भी प्रभाव पड़ता है। अतीत के प्रभाव को स्मृति कहते हैं। यदि भूतकाल में मेरे साथ कोई दुःखद घटना घटित हुई है तो उसकी स्मृति से मुझे अब भी रोमांच हो सकता है। यह प्रभाव भी किसी मन या चेतन सत्ता को माने बिना सम्भव नहीं है। स्मृति का आधार तन्त्रिका-तन्त्र नहीं हो सकता। इसलिए मानना पड़ेगा कि कोई स्थायी तत्त्व अवश्य है जो भूतकाल में घटित घटना के समय भी था और वही अब भी है।

भौतिकवादी स्मृति के लिए चेतन सत्ता को मानना आवश्यक नहीं समझता। उसके अनुसार स्मृति तन्त्रिका-तन्त्र पर पड़ा हुआ एक ठप्पा या संस्कारांकन (Engram) है जिसे वर्तमान मे हम देख रहे हैं, किन्तु ऐसा मानना ठीक नही। ऐसा मानने पर स्मृति और प्रत्यक्ष में कुछ अन्तर नही रह जायेगा; क्योंकि भौतिक-वादी के अनुसार स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों वर्तमानकालीन ही हैं। किन्तु, इससे समस्या का समाधान नहीं होता। विगत घटना भयानक थी किन्तु उसकी स्मृति सुखद भी हो सकती है इसलिए स्मृति तंत्रिका-तन्त्र पर पड़ा हुआ संस्कारांकन नही है वल्कि वह एक चेतना की शक्ति है जिसे मन चेतना या आत्म कहा जाता है।

आत्मा (Soul or Spriit)

भारतीय विचारधारा के अनुसार शरीर और मन से पृथक् एक चेतन तत्त्व आत्मा है जो इन दोनों का भोक्ता है। शरीर भोगायतन है। मन भोग का साधन है तथा आत्मा भोक्ता है। आत्मा का मुख्य रूप चेतनता है। न्याय दर्शन के अनुसार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और ज्ञान आत्मा के लिंग हैं। आत्मा के बिना ये गुण नही रह सकते। सांख्य के अनुसार संघात के पदार्थ होने से, त्रिगुण से विपरीत होने से, अधिष्ठाता होने से, भोक्ता होने से तथा मोक्ष की ओर प्रवृत्ति करने से आत्मा की सिद्धि होती है।

भौतिकवादी का मत

पाश्चात्य विचारक न मन को मानते हैं और न आत्मा को। हाँ, चेतना को स्वीकार करते हैं। यह चेतना (Consciousness) तन्त्रिका-तन्त्र की स्वचालित क्रिया है। आत्मा और मन का किसी को अनुभव नही होता, किन्तु चेतना का अनुभव सबको होता है। मैग्डूगल चेतना को एक नैसर्गिक शक्ति मानते हैं। नैसगिक शक्ति से अभिप्राय यह है कि प्राणी का समस्त व्यापार यन्त्रवत् स्वतः चल रहा है। उद्दीपक (Stimulus) के सामने आते ही उसमें स्वतः अनुक्रिया (Response) होती है। उसके लिए आत्मा को मानने की आवश्यकता नहीं है। बच्चा उत्पन्न होते ही माता के स्तनों में मुँह लगा देता है। हरिण का बच्चा पानी में तैरने लगता है। ये क्रियाएँ उसे किसी ने सिखायीं नही। तन्त्रिका-तन्त्र स्वचालित यन्त्र की तरह स्वयं अनुक्रिया करता है।

अध्यात्मवादी का मत

भौतिकवादी का उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है। यह तो ठीक है कि तन्त्रिका-तन्त्र की नैसर्गिक शक्ति से क्रिया स्वयं हो जाती है, किन्तु तन्त्रिका-तन्त्र पर पहले से कोई संस्कार तो अंकित होना ही चाहिए। संस्कारांकन के बिना नैसर्गिक शक्ति भला स्वतः कार्य कैसे करेगी। नवजात शिशु के तन्त्रिका-तन्त्र पर स्तन-पान के संस्कार अभी तो पड़े नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि ये संस्कार गत जन्मों के स्तनपान के हैं। गत जन्मों के इन संस्कारों का प्रभाव एक स्थायी आत्मतत्त्व को माने बिना नही पड़ सकता।

आत्मा मन से भिन्न है

पाश्चात्य मनोविज्ञान मन को नहीं मानता। किन्तु वैदिक विचारधारा में जैसे देह से पृथक् मन की

सत्ता है वैसे ही मन के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता है। मन संकल्प-विकल्प करता है। विचार करता है। आत्मा उस संकल्प-विकल्प तथा विचार का द्रष्टा है। मनुष्य मन नही है बल्कि आत्मा है। आत्मा मन से परे है। मन चंचल है, आत्मा स्थिर है। मन एक रोग है, आत्मा उसका चिकित्सक है। मन अन्धकार है, आत्मा प्रकाश है। मन चिन्ताओं का घर है, आत्मा आनन्दमय है। मन इन्द्रिय रूपी अश्वों की लगाम है। आत्मा उस लगाम को पकड़ने वाला सारथि है, रथ का स्वामी है। इसलिए वृहदारण्यक मे कहा गया है—'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च' अर्थात् आत्मा ही दर्शन करने योग्य, श्रव्य करने योग्य मनन करने योग्य और ध्यान करने योग्य है।

ईश्वर (God)

इस विश्व का उत्पादक पालनकर्त्ता और संहार करने वाला ईश्वर है जो सर्वव्यापक है, सर्वशक्तिमान् है और नित्य है। ऐसी वैदिक मान्यता है। योग दर्शन के अनुसार क्लेश कर्म विपाक और आशय से अस्पृष्ट पुरुष-विशेष ईश्वर है। इसका यह अर्थ नही है कि ईश्वर मनुष्य जैसा ही कोई प्राणि विशेष है। मनुष्य तो क्लेश कर्मादि से परामृष्ट होता है। अतः वह पुरुष जैसा कैसे हो सकता है। पुरुष विशेष का तो अभिप्राय ही यह है कि वह अपुरुष है। पुरुष विशेष तो उसे पुरी मे शयन करने के कारण कहा जाता है। जैसे यह आत्मा शरीर रूपी पुरी मे शयन करने के कारण पुरुष कहलाता है वैसे ही ईश्वर भी इस संसार रूपी पुरी अर्थात् नगर में निवास करने के कारण पुरुष विशेष कहलाता है। विशेषता उसकी यही है कि वह बड़ी पुरी में रहता है। शरीर एक छोटा पुर है, विश्व एक बड़ा पुर है।

ईश्वर किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नही है, बल्कि वह एक शक्ति विशेष है। शक्ति तो शक्ति ही है, यह शक्ति-विशेष क्या है? शक्ति प्रकृति में भी होती है। इसी शक्ति से वह पृथ्वी आदि का विस्तार करती है। किन्तु प्रकृति की शक्ति जड़ है। ईश्वर एक चेतन शक्ति है। यही उसकी विशेषता है। प्रकृति की शक्ति विचार नही कर सकती। जो विचार नहीं कर सकता वह इस विशाल अचिन्तनीय विचित्र विश्व का निर्माण नही कर सकता। इस विश्व का कर्ता कोई सर्वज्ञ ही हो सकता है। सर्वज्ञता चेतन में ही हो सकती है।

विद्युत के उपकरण पंखे, फ्रिज, कूलर आदि विद्युत शक्ति के कारण ही चलते हैं। विद्युत के जाते ही सब शान्त हो जाते हैं। मानव-शरीर मे भी एक शक्ति है। उसी से उस शरीर का संचालन होता है। इसी प्रकार इस समस्त विशाल ब्रह्माण्ड मे भी एक शक्ति काम कर रही है। वही ईश्वर है। विद्युत की शक्ति सोच नही सकती, बोल नही सकती। मनुष्य की शक्ति जिसे हम आत्मा कहते हैं वह चेतन शक्ति है जो सोच सकती है, विचार कर सकती है। दोनों शक्तियों मे भेद है। इस विश्व मे भी सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी आदि सभी गति कर रहे हैं। इनमे जो एक चेतना शक्ति प्रवाहित हो रही है, भारतीय विचारक उसे ईश्वर कहते हैं।

उस शक्ति विशेष ईश्वर का अनुभव किया जा सकता है, उसे देखा नहीं जा सकता। तारों मे विद्युत शक्ति को आँखों से नहीं देखा जा सकता। केवल हाथ से छूकर उसका अनुभव किया जा सकता है। अपने भीतर विद्यमान चैतन्य शक्ति का भी अनुभव मात्र होता है। वैसे ही इस असीम ब्रह्माण्ड में व्याप्त चेतन शक्ति का साक्षात्कार भला कैसे हो सकता है। जब इस छोटे से शरीर में व्याप्त आत्मा का दर्शन सम्भव नही तब इतने बड़े विश्व की शक्ति का दर्शन किस प्रकार सम्भव है। उसका भी अनुभव ही किया जा सकता है। उस शक्ति-विशेष की अभिव्यक्ति जगत् के रूप में होती है। उस शक्ति का पता न चलने के कारण ही उसका स्वरूप-निर्धारण भी इदमित्थं रूपेण सम्भव नही है। इसीलिए कभी उसे सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात कह दिया जाता है और कभी अपाणिपादः जवनो गृहीता अचक्षुः अकर्ण (पुरुष विशेष मन से असभ्य और मन से ही गम्य) कह दिया जाता है।

ईश्वर की सत्ता में यह प्रमाण है कि सृष्टि में एक सर्जनात्मक चेतन शक्ति विद्यमान है। यह सर्जनात्मक

शक्ति जड़ जगत् और प्राणि जगत् दोनों में प्रवाहित हो रही है। गति अपने आप नहीं होती। विश्व भी उसी परमेश्वर से गतिमान है। दूसरा प्रमाण है—सृष्टि में क्रम तथा नियमबद्धता का होना। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी सभी अपनी परिधि में नियम से घूम रहे हैं। उस नियम में कभी व्यवधान नहीं आया। क्या यह नियमबद्धता बिना किसी नियामक के सम्भव है? तीसरा प्रमाण है—सृष्टि में प्रयोजन का होना। संसार में प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक घटना का कोई न कोई प्रयोजन है। पृथ्वी को शस्य-श्यामला करने के लिए ही सूर्य जल का आकर्षण करता है। वर्षा होती है। वृक्षों का प्रयोजन है अशुद्ध वायु को शुद्ध करना और पृथ्वी को हरा-भरा बनाना। प्राणी के शरीर के एक-एक अवयव का पृथक् प्रयोजन है। इस प्रयोजन के पीछे कोई शक्ति अवश्य है जो प्रयोजन का निर्माण करती है। चौथा कारण है सृष्टि की विविधता में एकरूपता का होना। प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न होकर भी एकसूत्र मे पिरोई हुई-सी लगती है। सबका प्रयोजन भिन्न-भिन्न होता हुआ भी सम्मिलित-सा है। सूर्य का चन्द्र से, चन्द्र का पृथ्वी, से पृथ्वी का वनस्पतियों से, वनस्पतियों का जीव-जन्तुओं से और उसका मनुष्यो से सम्बन्ध है। सृष्टि की सब वस्तुएँ मिलकर एक शृंखला बनाती हैं। सृष्टि अत्यन्त विशाल है। उनकी विशालता बुद्धि से परे की बात है। सृष्टि के अस्थायित्व में एक स्थायित्व है। ये सब प्रमाण ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

सृष्टि के तीन मूल तत्त्व—ईश्वर, जीव, प्रकृति

सृष्टि के मूल तत्त्व क्या और कितने हैं इस विषय मे दार्शनिक जगत् और विज्ञान के क्षेत्र में तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं—१. एक तत्त्ववाद (Monism), २. द्वैतवाद (Dualism) और ३. त्रैतवाद (Triadism or Pluralism)। एकत्ववाद के अनुसार सृष्टि का निर्माण जड़ या चेतन में से केवल एक तत्त्व से हुआ है। जड तत्त्व से सृष्टि मानने वालों में प्राचीन चार्वाक मतानुयायी तथा आधुनिक विज्ञान के पक्षपाती हैं। चार्वाक किसी चेतन तत्त्व का सृष्टि में उपयोग नहीं मानता। पृथिवी आदि चार महाभूतों से ही चैतन्य उत्पन्न हो गया है। आधुनिक वैज्ञानिक इलैक्ट्रोन, प्रोटोन एवं न्यूट्रोन—इन तीन तत्त्वों से सृष्टि का विकास मानते है।

एक चेतन तत्त्व से सृष्टि मानने वालों में आचार्य शंकर तथा पाश्चात्य दार्शनिक बर्कले प्रमुख हैं। इनके अनुसार एक चेतन तत्त्व से ही जड़ जगत् का विकास हुआ है। शंकराचार्य के अनुसार एक ब्रह्म की ही सत्ता है। जगत् स्वप्न के समान मिथ्या है। यह जगत् ब्रह्म का ही परिवर्तित रूप है। यह परिवर्तन विवर्त कहलाता है। बर्कले के अनुसार दृश्य जगत् की सत्ता द्रष्टा की सत्ता पर ही आश्रित है। द्रष्टा नहीं तो दृश्य नहीं। दृष्टि ही सृष्टि है।

द्वैतवाद के अनुसार जड़ और चेतन पुरुष मे दो तत्त्व ही सृष्टि के मूलभूत तत्त्व हैं। यही सिद्धान्त सांख्य दर्शन का है। सांख्य दर्शन सृष्टि-रचना मे ईश्वर का उपयोग नहीं मानता। आत्मा और प्रकृति के संयोग से ही यह संसार बना है।

त्रैतवाद के अनुसार ईश्वर, जीव, प्रकृति इन तीन तत्त्वों से सृष्टि का निर्माण हुआ है। यही वैदिक विचारधारा है। यही सिद्धान्त वैज्ञानिक है। क्योंकि वस्तु के निर्माण मे तीन कारणों का होना आवश्यक है—उपादान कारण (Material Cause), निमित्त कारण (Efficient Cause) और सहकारी कारण या असमवायी कारण (Formal Cause)। अरस्तू एक चौथा कारण भी मानता है: सोद्देश्यता (Final Cause)। उदाहरण के लिए घट का उपादान कारण मिट्टी है। मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बन सकता। उपादान कारण वही होता है जिसके बिना कार्य न बन सके। जिसके बनाने से कार्य बने वह निमित्त कारण होता है। कुम्हार घट का निमित्त कारण है, क्योंकि उसी के बनाने से घडा बनता है। वह नहीं बनायेगा तो घड़ा नहीं बनेगा। दण्ड, चक्र, पानी, प्रकाश, अग्नि आदि सहकारी कारण हैं। इसी प्रकार इस जगत् का उपादान कारण प्रकृति है। प्रकृति न हो तो जड़ पदार्थों का निर्माण नहीं हो सकता। जड़ कार्यों का कारण भी जड़ ही होना

चाहिए। प्रकृति जड़ है। ईश्वर इस जगत् का निमित्त कारण है। इस नियमित तथा विचित्र जगत् का कर्त्ता कोई सर्वज्ञ ही हो सकता है। वह सर्वज्ञ ईश्वर है। जीवात्माओं के कर्म संस्कार इस संसार के सहकारी कारण हैं, क्योंकि उन्हीं के कर्मफल भोग के लिए ईश्वर ने यह जगत् बनाया है। यदि जीवात्मा न हो तो संसार की रचना निरुद्देश्य हो जाती है।

इस प्रकार सृष्टि की रचना में न एक तत्त्व से काम चलता है और न दो तत्त्वों से। तीन तत्त्वों के मानने से ही सृष्टि बन सकती है। यही बात ऋग्वेद में कही गयी है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
> समानं वृक्षं परिषस्व जाते ।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति
> अनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति ॥ १/१६४/२०

इस मन्त्र मे जीवात्मा और परमेश्वर को दो पक्षी बताया गया है जो जगत् रूपी वृक्ष पर बैठे हैं। जीव वृक्ष के फलों का भोग करता है। परमेश्वर उस पर निगरानी रखता है। यह त्रित्ववाद ही वेद प्रतिपादित सिद्धान्त है।

कर्मफल योग

वैदिक विचारधारा मे यह एक प्रमुख सिद्धान्त है कि कर्म का फल अवश्य ही भोक्तव्य है। जो फल भोग है उसका कारण कर्म है। यदि कर्म है तो उसका फल भी है। 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' यह अटल सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का वैज्ञानिक आधार है कारण—कार्य का नियम (Law of Cause and effect)। कार्य बिना कारण नहीं होता। कारण से ही कार्य होता है। कार्य है तो कारण अवश्य है। कारण है तो कार्य भी अवश्य है। यही बात कर्म सिद्धान्त मे भी है। कर्म है तो फल भी अवश्य है। फल है तो कर्म भी अवश्य है। कर्म कारण है, फल कार्य है।

कारण-कार्य के नियम और कर्म सिद्धान्त मे जहाँ इतनी समानता है वहाँ असमानता भी है। कारण-कार्य का नियम भौतिक जड़ जगत् का है। कर्म सिद्धान्त चेतन आत्मा का है। कारण और कार्य के बीच मे कोई व्यवधान नहीं। आग मे हाथ देंगे तो वह जलेगा ही। किन्तु कर्म और फल के बीच में चेतन का व्यवधान है। कारण-कार्य अन्धा नियम है, कर्म का सिद्धान्त अन्धा नहीं है। कर्म के बन्धन को काटा भी जा सकता है। कारण कार्य के सिद्धान्त को टाला नहीं जा सकता है। कर्म की बेड़ियों को काटा जा सकता है।

कर्म-सिद्धान्त मे भाग्य और पुरुषार्थ का संघर्ष बहुत प्राचीन है। भाग्यवादी कहता है—जीवन हमारे हाथ में नहीं है, भाग्य के हाथ मे है। जो हम कर रहे हैं, भोग रहे हैं, वह पिछले कार्यों का फल है। पुरुषार्थवादी कहता है कि किये हुए कर्म ही भाग्य बन जाते हैं। पुरुषार्थ करके कर्म के बंधनों से मुक्त हुआ जा सकता है। इस विषय में वेद का कथन है कि भाग्य और पुरुषार्थ साथ चलते हैं। जो फल हम इस जीवन मे भोग रहे हैं वह पिछले जन्म के कर्मों का भी फल है तथा इस जीवन मे हम स्वतन्त्र कर्म भी करते हैं। यह जीवन कर्म के बन्धन में पड़ने के लिए नहीं बल्कि उस बन्धन को काटने के लिए है। केवल भाग्यवाद समाज और राष्ट्र मे अकर्मण्यता भर देगा। केवल पुरुषार्थ भी संसार के झमेले मे उलझा देगा। पुरुषार्थ का उद्देश्य कर्म के बन्धन से मुक्ति का होना चाहिये।

कर्म के विषय में यह बात निश्चित है कि कर्म का नाश भोग के बिना नहीं होता, भोग से ही उसका नाश होता है। मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र है, किन्तु कर्म करके उसके फल से बच सके यह उसके वश मे नहीं है। इसलिए उसे फल भोगने में परतन्त्र बताया गया है। वेद कहता है, 'कृतं' मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य

आहित:' —अर्थात् दैव मेरे दक्षिण हस्त में है किन्तु पुरुषार्थ मेरे बायें हाथ का खेल है। इसका भावार्थ यही है कि पुरुषार्थ और भाग्य साथ-साथ चलते हैं।

निष्काम कर्म (Disinterested Action)

निष्काम कर्म वैदिक विचारधारा की ही देन है। भौतिकवाद में तो सकाम कर्म को ही प्रधानता दी गयी है। निष्कामता का अर्थ यह है कि कर्म करो किन्तु त्याग भाव से (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:) निष्काम कर्म का अर्थ कर्म का त्याग नहीं बल्कि कर्म के फल की आशा को त्यागना है। कर्म करते रहो किन्तु कर्म में स्वयं को बाँधो मत। सुख का भोग करो, किन्तु यह सोच कर करो कि मुझे इसे छोड़ना पड़ेगा, जब छोड़ूंगा तो मुझे कष्ट नहीं होगा। निष्काम कर्म से क्या होगा ? होगा यह कि जीवन में महान् शान्ति का लाभ होगा। जीवन मे आनन्द ही आनन्द होगा, उद्वेग नहीं होगा, तृष्णा नहीं होगी, दु:ख नहीं होगा। गीता में कहा है—

विहाय कामान् य: सर्वान् पुमांश्चरति नि:स्पृह:।
निर्ममो निरहंकार: स शान्तिमधिगच्छति ।।

अर्थात् जो मनुष्य समस्त कामनाओं को छोड़कर स्पृहारहित, ममत्व-रहित तथा अभिमान-रहित होकर आचरण करता है वह शान्ति का लाभ करता है। यह शान्ति का अधिगम ही निष्काम कर्म का फल है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या निष्काम कर्म सम्भव है ? प्रत्येक व्यक्ति फल की आशा से प्रेरित होकर ही कर्म में प्रवृत्त होता है। ऐसा कोई कर्म नहीं जिसके साथ फलेच्छा न हो। वेद कहता है—निष्काम कर्म सम्भव है। गीता कहती है जीवन एक यज्ञ है। यज्ञ के लिए कर्म करना निष्काम कर्म है। यह बन्धन मे नहीं डालता। हाँ, यज्ञ से अन्यत्र कर्म बन्धन का कारण। (यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:)। यज्ञ की मूल भावना है कि यह मेरा नहीं है (इदं न मम)।

निष्कामी कर्म को देखता है। सकामी फल को देखता है। फल को मत देखो। वह तो मिलेगा ही। डाक्टर सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने निष्काम कर्म का बहुत ही सुन्दर विवेचन करते हुए लिखा है—"नाली के पार जाना हो तो बीच में पत्थर रखकर उस पर पार होते हैं। पत्थर पर ही नहीं चढ़े रहते। संसार से पार जाना हो तो विषयों का सहारा लेते हैं, विषयों में ही नहीं डूबे रहते। उनमें डूबे रहना ही वासना है। संसार से खेलो, पर संसार तुमसे न खेले। संसार तुम्हारा हो, पर तुम संसार के न हो। दुकान तुम्हारी हो, पर तुम दुकान के न हो—यही निष्कामता है यही निस्संगता है, यही वैदिक संस्कृति का जीवन का सही मार्ग है।"

शिक्षा और जीवन (Education and Life)

शिक्षा मानव जीवन का मुख्यतम आधारस्तम्भ है। आधुनिक शिक्षाविद् बालक की शिक्षा का स्थान विद्यालय तथा विश्वविद्यालय तक सीमित रखते हैं। बहुत हुआ तो इसमें घर को और जोड़ देते हैं। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार बालक की शिक्षा जन्म लेने के बाद ही प्रारम्भ नहीं होती बल्कि वह जन्म लेने से पहले ही गर्भाधान के समय से ही प्रारम्भ हो जाती है। वैदिक मान्यता के अनुसार बालक की शिक्षा में संस्कारों का महान् योगदान है। ये संस्कार जन्म के पहले के (Pre-natal) भी होते हैं और जन्म के बाद के (Post-natal) भी होते हैं। प्रसव के पूर्व के संस्कार हैं—गर्भाधान पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन। प्रसवोत्तरकालीन संस्कार हैं—अन्नप्राशन निष्क्रमण कर्ण वेध आदि।

वैदिक शिक्षा विज्ञान का दूसरा सिद्धान्त यह है कि बालक आठ वर्ष की आयु के पश्चात् माता-पिता के कुल से हटाकर गुरु के कुल भेज देना चाहिये। वहाँ आचार्य उसे माता के समान अपने गर्भ में धारण करेगा, अर्थात् अपने नियन्त्रण में उसको शिक्षा देगा। इस संस्कार को उपनयन संस्कार कहते हैं। (आचार्य

उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः (अथर्व ११/३/५/३)।

संस्कारों का बालक के मस्तिष्क पर अद्भुत स्थायी प्रभाव पड़ता है। ये संस्कार ही उसके भावी जीवन का निर्माण करते हैं।

यह जीवन दो प्रकार का है पार्थिव तथा आध्यात्मिक। यह जीवन जो हम जी रहे हैं यह पूर्ण नही है। आध्यात्मिक जीवन ही यथार्थ जीवन है। यह भौतिक जीवन भी मिथ्या नही है अपितु यह जीवन उस अलौकिक आध्यात्मिक जीवन का अंग है, पूरक है, आध्यात्मिक जीवन भी भौतिक जीवन के बिना अपूर्ण है। दोनो मिलकर पूर्ण जीवन बनाते है। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है—आत्मा इन्द्रिय और मन तथा संस्कार। ये ही हमारे अग्रिम जन्मों का अवधारण करते हैं। शरीर रथ है आत्मा रथी है, बुद्धि सारथि है मन लगाम है, इन्द्रियाँ अश्व हैं जो रूपादि विषयों की ओर दौड़ती हैं। इस प्रकार भौतिक आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता मे ही वैदिक सिद्धान्त पर्यवसित है।

मृत्यु और पुनर्जन्म (Death and Reincarnation)

गीता मे कहा गया है—

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

अर्थात् जिसकी उत्पत्ति हुई है उसकी मृत्यु निश्चित है, और मृत पुरुष का जन्म भी निश्चित है। योगदर्शन मे मृत्यु का भय अभिनिवेश कहलाता है। यह अभिनिवेश प्राणीमात्र मे पाया जाता है। किन्तु प्रश्न यह है कि यह मृत्यु और पुनर्जन्म है क्या? और ये दोनो शरीर से सम्बन्ध रखते हैं या आत्मा से? इसके उत्तर मे वेद का सिद्धान्त है कि मृत्यु शरीर का रूपान्तरण है और आत्मा का रूपान्तरण पुनर्जन्म है। मृत्यु आत्मा की नही होती, शरीर की होती है। जन्म भी आत्मा का नही होता। मृत्यु और पुनर्जन्म केवल चोला बदलना है। आत्मा एक चोले को छोड़ता है तो मृत्यु कहलाती है। दूसरे को धारण करता है तो पुनर्जन्म कहलाता है। आत्मा तो न कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है (न जायते म्रियते का विपश्चित्)

चार्वाक कहते हैं कि शरीर ही आत्मा है। मरने के बाद पुनर्जन्म नही होता। जब यह शरीर जलकर भस्म हो गया तो फिर इसका जन्म कैसा (भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः) आधुनिक भौतिकवादियो का भी यही सिद्धान्त है कि आत्मा नाम का कोई नित्य पदार्थ नही है। किन्तु अब यह बात दृढ़तर प्रमाणो से सिद्ध हो चुकी है कि मृत प्राणी का पुनर्जन्म होता है। इसमे निम्नलिखित हेतु हैं—१. कारण-कार्य का नियम पुनर्जन्म को सिद्ध करता है। हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति जन्म से ही क्रोधी है कोई शान्त प्रकृति का है, कोई बुद्धिमान उत्पन्न होता है कोई मूर्ख। ऐसा क्यों होता है। आनुवंशिकता (Heridity) और पर्यावरण (Environment) से तो इस समस्या का समाधान नही होता, क्योंकि बुद्धिमान पिता की सन्तान मूर्ख देखी जाती है और सदाचारी पिता का पुत्र दुराचारी पाया जाता है। इसलिए जन्मजात गुण-दोष पुनर्जन्म को सिद्ध करते हैं। दूसरा हेतु यह है कि आजकल भी कुछ बालक असाधारण मेधावी पाये जाते हैं जिनको पूर्वजन्म की घटनाएँ ज्यों की त्यों याद हैं।

तीसरी युक्ति यह है कि आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी सत् वस्तु का कभी नाश नही होता। गीता भी यही कहती है—"ना भावो विद्यते सतः" अर्थात् सत् का अभाव नही होता। इस आधार पर शरीर का भी नाश नहीं होता। शरीर पञ्चभौतिक है। मरने पर शरीर पाँचों भूतों मे मिल जाता है। आत्मा भी सद्वस्तु है फिर उसका नाश कैसे सम्भव है।

चौथा हेतु यह है कि आधुनिक जीवविज्ञान भी यह कहता है कि शरीर के भीतर शरीर से पृथक कोई जीवनी शक्ति है जो शरीर का निर्माण करती है। इसकी टूट-फूट की मरम्मत करती है। यदि उसका यह काम

इस जीवन में पूर्ण नहीं होता तो वह इसे छोड़कर चली जाती है।

विपक्षी कहते हैं कि पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि पूर्वजन्म की स्मृति नही होती। किन्तु यह तर्क सशक्त नही है। पूर्वजन्म की स्मृति के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं, आज भी दुर्ग्याना तीर्थ अमृतसर में एक बारह वर्षीय बालक संजीव वेद प्रवचन कर रहा है जिसे रामायण-गीता-उपनिषदें सब कण्ठस्थ हैं। इसके लिए १४-१२-८६ का पंजाब केसरी समाचार पत्र द्रष्टव्य है। इससे सिद्ध होता है कि वह पूर्वजन्म मे यह सब अध्ययन कर चुका है। दूसरी बात यह है कि जब इसी जन्म की पुरानी बातें याद नहीं रहती तब पूर्व जन्म की बातें कैसे याद रहती हैं।

भारतवर्ष मे कभी नचिकेता ने भी यमाचार्य के सम्मुख यही प्रश्न उठाया था कि मरने के बाद यह आत्मा कहाँ जाता है। उपनिषदों का सार यही है कि—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥

अर्थात् आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। जिस शरीर से वह संयुक्त हो जाता है उसे उसी नाम से कहने लगते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि भारतीय ऋषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा से निसृत वैदिक सिद्धान्त वैज्ञानिक कसौटी पर विशुद्ध उतरते हैं। प्रयोगशाला मे बैठकर परीक्षण करना ही विज्ञान नही होता। वह तो विज्ञान का एक द्वार मात्र है। युक्ति, तर्क और प्रमाणों से परीक्षित ज्ञान ही विज्ञान कहलाता है। इस विज्ञान के आधार पर वैदिक सिद्धान्त पूर्णतया निर्दुष्ट सिद्ध होते हैं, क्योंकि वे चिरन्तन सत्य हैं।

इस दिशा मे डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार द्वारा किये गये इस महनीय प्रयास से वैदिक मान्यताओ को तो आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे ठोस धरातल मिला ही है, साथ ही मानव समाज और राष्ट्र को भी एक समुचित दिशा मिली है।

आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व

श्री वेदप्रकाश शास्त्री

रीडर, संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

वैदिक परम्परा एवं वेदो के प्रति निष्ठावान् तपोमूलक जीवन के प्रति अतन्द्रित नित्य नैमित्तिक जीवन-चर्या मे निरालस भाव से व्याप्त, स्वाध्याय प्रिय तथा आत्मभावनिष्ठ मनीषियो ने एक स्वर से मानव निर्माण में सार्वकालिक एवं सार्वभौम रूप से सक्षम जिस संस्कृति का उद्‌गान किया है, वह विश्व की प्रथम तथा वेद समर्थित संस्कृति आर्य संस्कृति ही है। आज विश्व के मूर्धन्य भाषावैज्ञानिक तथा भाषा-तत्त्व विशारद निरन्तर सारस्वत समर्चना करते हुए निर्विवाद रूप से इस तथ्य की पुष्टि अपनी तर्कमयी मनीषा से करते हैं कि विश्व की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद है। ऋग्वेद में अनेकशः अर्य एवं आर्य शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है। आर्यों के आचार-विचार, व्यवहार, आध्यात्मिक एवं भौतिक अभ्युदय का विशद एवं सर्वांगीण वर्णन ऋग्वेद मे सुवर्णित है। अतः आर्य संस्कृति का अपर नाम वैदिक संस्कृति भी है। अतः कालक्रम की गणना के प्रसंग मे जितनी प्राचीनता वेद की है उतनी ही प्राचीनता आर्य संस्कृति की भी है। आर्य संस्कृति में पालित-पोषित मनुष्य कर्त्तव्याकर्त्तव्य का समुचित ज्ञान करता हुआ ही कर्म मे प्रवृत्त होता है। क्योकि आर्य संस्कृति का मूल उद्देश्य ही एक दिव्य गुण सम्पन्न मानव का निर्माण करना है। संसार में समय-समय पर अनेक संस्कृतियो ने जन्म लिया। मानव ने द्रुतगति से उन नवीन संस्कृतियो के साथ अपने को संयुक्त किया। किन्तु परिणाम मे वे संस्कृतियाँ मानव को अतृप्ति की दिशा मे ही प्रेरित करती रही, और अन्त मे मनुष्य को पश्चाताप की अग्नि में परितप्त होने के अतिरिक्त कुछ न मिला। क्योकि उन संस्कृतियों ने जिस भौतिकवाद की उत्तुंग पीठ पर जन्म लिया था, वह भौतिकवाद आत्मवाद के आश्रय पर ही चिरजीवी हो सकता है, अन्यथा तो उसकी गति पतनोन्मुख ही होती है। और परिणामस्वरूप विश्व की आर्येतर संस्कृतियो के साथ ऐसा ही हुआ। आर्य संस्कृति के विषय मे मानव के हृदय मे एक सहज रूप से जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जो आर्य संस्कृति इतनी प्राचीन होकर भी आज भी मानव निर्माण मे उतनी ही समर्थ होकर सुख और शान्ति की अभीप्सा करने वाले प्रत्येक मानव से वरणीय बनी हुई है, तथा वेदो से लेकर उपनिषद्, दर्शन, गीता एवं अन्य भारतीय संस्कृत वाङ्मय ने जिसका शाश्वत परम्परा मे निर्विषम स्वर से उच्चैः उद्‌गान किया है—उस आर्य संस्कृति के वे मूल तत्त्व कौनसे हैं जिनके आधार पर आर्य संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के श्रेष्ठतम एवं प्राचीनतम वैदिक अर्चा से भरपूर वैदिक वाङ्मय के तत्त्ववेत्ता मनीषी मानवीय मूल्यो के प्रति आस्थावान् आचार्य प्रवर प० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालकार ने अपने दीर्घकालीन स्वाध्याय एवं स्वस्थ चिन्तन के आधार पर आर्य संस्कृति के उन मूलभूत तत्त्वो की गवेषणा की है, जिनके आधार पर आर्य संस्कृति का शुद्ध स्वरूप सहज रूप में पाठक जन के चित्त में प्रतिबिम्बित हो जाता है। ये मूलभूत तत्त्व वे हैं जिनका वेद, उपनिषद्, सूत्रग्रंथ, स्मृति-शास्त्र, दर्शन शास्त्र, रामायण तथा गीता आदि में बृहन्मीमांसा के साथ वर्णन किया गया है, तथा जिनका विशद अध्ययन पर्याप्त समय की अपेक्षा रखता है। किन्तु सूक्ष्म द्रष्टा पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार ने समस्त भारतीय वाङ्मय का गहन अध्ययन करके

सरल एवं सारगर्भित शैली में 'आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व' पुस्तक लिखकर सामान्य जन को भी आर्य संस्कृति के वास्तविक रूप से अवगत करने का सुखद सौभाग्य प्रदान किया है। लेखक ने जिन मूलभूत तत्त्वों को अपनी सूक्ष्मेक्षिका से देखकर ग्रन्थ में उपनिबद्ध किया है, उनका संक्षेप से इस प्रकार परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

आर्य संस्कृति का केन्द्रीय विचार —जो संस्कृति विश्व में व्याप्त है उस आर्य संस्कृति का केन्द्रीय स्थल भौतिक न होकर आध्यात्मिक है। आर्य संस्कृति ने जहाँ जन्म लिया, जहाँ वह अपनी शैशव क्रीड़ा करती हुई उत्तरोत्तर पुष्टि प्राप्त करके पूर्ण विकसित हुई वह स्थल ऋषियों और मुनियों के तपोवन थे, अतएव आर्य संस्कृति को तपोवन की संस्कृति के नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। संस्कृति कोई भी हो, वह आर्यों की संस्कृति हो या अनार्यों की संस्कृति हो, वह अध्यात्म-प्रिय हो या भौतिक प्रिय हो, वह ऊँची हो या नीची हो, उसका उद्गान देव करें या असुर करें, किन्तु उसका स्वरूप आत्मिक ही होता है, संस्कृति का सम्बन्ध मनुष्य के चिन्तन से है, उसके विचारों से है। उसके मानसिक चिन्तन, मनन तथा आत्मिक स्वीकरण पर ही उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि निर्मित होती है, विद्वान् लेखक का यह स्पष्ट मत है कि यदि सभ्यता और संस्कृति को पृथक्-पृथक् दृष्टि से देखें तो दोनों में महान् अन्तर है, क्योंकि सभ्यता भौतिक है तथा संस्कृति आध्यात्मिक है। उक्त भेद को लेखक के शब्दों मे ही इस प्रकार देखा जा सकता है—"सभ्यता तथा संस्कृति में आधारभूत भेद हैं। सभ्यता शरीर है, संस्कृति आत्मा है। सभ्यता बाहर की चीज है, संस्कृति भीतर की चीज है, सभ्यता भौतिक विकास का नाम है, संस्कृति आध्यात्मिक विकास का नाम है। रेल, तार, रेडियो, मोटर, हवाई जहाज आदि ये सब सभ्यता के विकास के निर्देशक हैं, तथा सच्चाई-झूठ, ईमानदारी-बेईमानी, संतोष-असंतोष, संयम-संयमहीनता आदि ये सब संस्कृति के ऊँचे या नीचे विकास के निदर्शक हैं।" क्योंकि संसार मे हम देखते हैं कि एक व्यक्ति सभ्यता की दृष्टि से बहुत महान हो सकता है। सांसारिक वैभव का उन्नत रूप उसके पास होने पर भी यदि वह व्यक्ति सत्य से दूर होकर, अहिंसा को भूलकर, अस्तेय को न मानकर असत्य, हिंसा एवं स्तेय का अवलम्ब लेकर जीवन में चलता है तो ऐसे व्यक्ति को सभ्यता की दृष्टि से उन्नत कहकर भी संस्कृति की दृष्टि से असंस्कृत या कुसंस्कृत ही कहा जाएगा। इसके विपरीत यदि भौतिक साधनों के पूर्ण न रहने पर कोई व्यक्ति सच्चाई, प्रेम, सदाशयता, अहिंसा एवं अस्तेय का पालन करता हुआ जीवन-चर्या को चलाता है तो वह सभ्यता की दृष्टि से एक क्षण के लिए अनुन्नत कहा जा सकता है, किन्तु संस्कृति की दृष्टि से वह सुसंस्कृत है। उसका आत्मिक, बौद्धिक स्वरूप समुज्ज्वल है, जिसमे निश्छलता निवास करती हुई उसे शान्ति प्रदान करती है। आर्य संस्कृति का मुख्य केन्द्र विचारों की पावनता रही है, जिस पावनता मे व्यक्ति का मन निर्मल होकर दर्पण की भाँति सत्य को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित करने में समर्थ होता है। सत्यनिष्ठ व्यक्तित्व में मानवीय गुण-गण का समावेश स्वत: ही हो जाता है। समस्त मानवीय गुणों का समूह ही तो आर्य संस्कृति का एक अनुपम एवं अक्षय कोष है। आर्यावर्त के ऋषियो ने तपोवनों में शुद्ध सात्विक जीवन बिताते हुए साधनालीन होकर समस्त संसार को सुख देने वाली जिस आर्य संस्कृति की सरिता को प्रवाहित किया था उसके प्रमुख स्रोत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह थे। संसार के लोगों ने जब-जब इस पञ्च स्रोतस्विनी में अवगाहन किया तब-तब संसार मे दया, ममता, उदारता, निश्छलता, निष्कलंकता, विश्वबंधुता आदि गुण मानव को मानो उपहार रूप में मिलते रहे, जिसके कारण संसार के नर-नारी अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं से पीड़ित नहीं होते थे। मानव की आत्मा का परिष्कार करते हुए उसकी चेतना शक्ति को उद्बुद्ध करके एक विशिष्ट गुण सम्पन्न व्यक्ति का निर्माण करना आर्य संस्कृति का प्रमुख लक्ष्य रहा है। आर्य संस्कृति में शरीर का संस्कार करने वाले भौतिक संसाधनों की उपेक्षा तो नहीं की जाती है एवं उनकी इतनी अपेक्षा भी नही की जाती है कि भौतिक चकाचौंध में मानव आत्मा के स्वरूप को भी भली भाँति न पहचान सके। अत: आर्य संस्कृति का मुख्य विचार-बिन्दु आत्मिक रहा है।

विचारों के संघर्ष में आर्य संस्कृति का दृष्टिकोण—वर्तमान काल में मानव समाज की सारी शक्ति मात्र अर्थोपार्जन के क्षेत्र में लगी हुई है। इस भौतिक अभ्युदय को ही मनुष्य ने प्रथम एवं अन्तिम लक्ष्य मान लिया है, भौतिक वैभव की प्राप्ति पर वह प्राप्त प्राप्तव्य हो जाता है अन्यथा वह स्वयं को दीन, हीन एवं कुण्ठित-सा देखता है। किन्तु आर्य संस्कृति के दृष्टिकोण में भौतिक अभ्युदय मनुष्य की जीवन-यात्रा का साधन मात्र है, वह जीवन की प्रथम आवश्यकता अवश्य है किन्तु अन्तिम नहीं। आज सारे संसार के व्यक्तियों मे एक ही प्रतिस्पर्धा है और वह है कोरे भौतिकवाद की। मनुष्य को झूठ बोल कर यदि धन मिलता है तो वह असत्य का सहारा अवश्य लेगा क्योकि उसके आगे सत्य का नही अपितु धन का महत्त्व है। आर्य सस्कृति ने जहाँ मानव को भौतिक ऐश्वर्य सम्पन्न होने का संदेश दिया है, वहाँ आत्मिक ऐश्वर्य से भी भरपूर होने का आदेश दिया है। जीवन को दो मार्गों का निर्देश देते हुए श्रेय एवं प्रेय शब्दों का प्रयोग किया गया है। आध्यात्मिक अभ्युदय को श्रेय के नाम से तथा भौतिक अभ्युदय को प्रेय के नाम से व्यवहृत किया है। श्रेय एवं प्रेय का समान रूप से समुन्नत होना ही आर्य संस्कृति को ईप्सित है।

निष्काम-कर्म—आर्य संस्कृति का महत्त्वपूर्ण तत्त्व निष्काम कर्म है। कभी-कभी निष्काम का अर्थ विपरीत दिशा से जाने वाले कुछ लोगों ने निष्कर्मण्यता से ले लिया, तथा जीवन के प्रति उदासीन होकर कर्म से सर्वथा अपने को विमुख कर लिया है। वास्तव मे निष्काम से अभिप्राय अनासक्ति से है। कार्य करके उसकी फलान्विति के प्रति किसी प्रकार का ऊहापोह न करना ही निष्कामता है, क्योकि सकाम भाव से किया गया कर्म ईप्सित फल की प्राप्ति न होने पर चित्त मे चिन्ता एवं उद्वेग उत्पन्न करता है, और यदि ईप्सित फल की प्राप्ति हो जाती है तो कर्त्ता के मन मे अहं उत्पन्न हो जाता है। अतः अशान्ति एवं अहं से बचने का उपाय आर्य संस्कृति में निष्काम भाव से किए गए कर्म को कहा गया है। कर्मफल के प्रति आसक्ति का होना बन्धन है तथा अनासक्ति का होना ही मोक्ष है। मनुष्य को कर्त्तव्य की ओर उन्मुख करना तथा फल के प्रति उदासीन करना ही आर्य संस्कृति को इच्छित है। कभी-कभी यह विचार उत्पन्न होता है कि निष्काम कर्म हो ही नही सकता क्योंकि व्यक्ति किसी न किसी कामना को लेकर ही कर्म मे प्रवृत्त होता है; यदि कामना ही समाप्त हो जाय तो कर्म मे प्रवृत्ति ही न होगी। किन्तु विद्वान् लेखक इस पक्ष से सहमत नही हैं, उनके अनुसार निष्काम कर्म संसार में होता है किन्तु वह तभी हो सकता है जबकि उसके मूल में कर्त्तव्य बुद्धि हो। भगवान कृष्ण ने गीता के अन्दर कर्म से पराङ्मुख अर्जुन को कर्म के प्रति श्रद्धावान करते हुए इसी निष्काम कर्म की विशद विवेचना की है।

जब अर्जुन युद्ध क्षेत्र में पहुँच कर अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन होने लगा तथा व्यामोह से आवृत मन वाला होकर निम्न वचनों का प्रयोग करने लगा—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति,
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते,
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च,
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।

हे कृष्ण ! मेरे तो अंग शिथिल हुए जा रहे हैं, मुख सूखा जा रहा है, शरीर मे कम्पन हो रहा है, हाथ से गाण्डीव नीचे को गिरा जा रहा है, शरीर दाह-सा हो रहा है तथा सिर में चक्कर सा आ रहा है। मेरे चतुर्दिक मेरे भाई, भतीजे, चाचा, ताऊ, पूज्य गुरुजन तथा समीप के सम्बन्धी जन खड़े हैं। मैं युद्ध में इन सभी को मारकर राज्य का भोग करना नहीं चाहता। इन सब को मारकर राज्य भोगने की अपेक्षा से तो मैं भिक्षा-

वृत्ति से प्राणयात्रा पूरी करना अधिक श्रेयस्कर मानता हूँ । क्योंकि सगे-सम्बन्धियों को मार भोग भोगने की इच्छा रुधिर से सने भोग भोगने के समान है । अर्जुन को इस प्रकार खिन्न एवं कर्तव्यपराङ्‌ मुख देखकर भगवान कृष्ण के द्वारा निम्न वाक्य का प्रयोग किया गया—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषये समुपस्थितम्,
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन !
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते,
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।

हे अर्जुन ! मोह में मत पड़ । आर्यों का काम रणक्षेत्र से पलायन करना नहीं है, पलायन करने वाले की संसार में अपकीर्ति होती है । जिस मार्ग का तुम अवलम्ब ले रहे हो वह सुख-शान्ति का मार्ग नहीं है । तुम कर्म करने से पहले फल के विषय में सोचने लगे हो, जबकि तुम्हारा कर्त्तव्य कर्म करना है, फल का चिन्तन करना नहीं—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" अतः हे अर्जुन, उठो हृदय की दुर्बलता का परित्याग करके अपने कर्त्तव्य का पालन करो । इस प्रकार अर्जुन के समान ही प्रत्येक व्यक्ति को निष्काम भाव से कर्म करने का सन्देश जो गीता ने दिया है वह आर्य संस्कृति की परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है ।

कर्म का सिद्धान्त—मनुष्य कर्म करने के लिए ही संसार में आया है, यदि उसने श्रेष्ठ पुरुषों की श्रेणी से स्वयं को अलंकृत करना है तो उसको कर्मवीर बनना ही होगा, क्योंकि कर्म न करके अकर्मण्यता का वरण करने वाले व्यक्ति को तो 'अकर्मादस्यु' कहकर आर्य से भिन्न अनार्य की संज्ञा से व्यवहृत किया है । आर्य संस्कृति में कर्म की जिस सूक्ष्मता से व्याख्या की गई है वह अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होती । यजुर्वेद मे स्पष्ट रूप से—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" कहकर मनुष्य को जीवनपर्यन्त कर्म करने की इच्छा से भर-पूर होने का संदेश दिया है । यह कर्म व्यवस्था कितनी विचित्र है कि इसके आधार पर मानव बन्धन और मोक्ष दोनों ही प्राप्त करता है, कर्म करके जहाँ वह मुक्ति का अधिकारी होता है, वहीं वह कर्म करके बन्धन को भी प्राप्त करता है । अतः स्पष्ट है कि कुछ कर्म बन्धन के कारण तथा कुछ कर्म मुक्ति के कारण बनते हैं । समग्र भारतीय वाङ्मय कर्मगत विधि निषेध की व्यवस्था से ही भरा पड़ा है, विधेय का करना तथा अविधेय से मुख मोड़ना ही मानव के उत्थान का मूल मन्त्र है । मानव जो कुछ भी जीवन में सुख-दुःख, उत्थान-पतन, कीर्ति-अपकीर्ति, जन्ममरण, बन्धन-मोक्ष आदि द्वन्द्वों का अनुभव करता है, उसके मूल मे मनुष्य कृत कर्म ही प्रमुख हेतु होते हैं, अतः मनुष्य की सुखद या दुखद स्थिति उसके कर्मानुसार ही होती है । संसार मे प्रायः दो प्रवृत्तियाँ मनुष्य के जीवन में स्थान बनाए रहती हैं, प्रथम प्रवृत्ति कर्मवादियों की है जिसके अनुसार व्यक्ति कर्मशील होकर अपनी इच्छा शक्ति को प्रबल करता हुआ, इच्छित भोग को प्राप्त करता है । दूसरी प्रवृत्ति भाग्यवादियों की है जिसके अनुसार व्यक्ति कुछ न करता हुआ भी—भाग्यानुसार भोगो को प्राप्त करता है । यहाँ यह विचारणीय है कि ये दोनों प्रवृत्तियाँ परस्पर निरपेक्ष भाव से रहती हैं या अन्योन्य सापेक्ष भाव से रहती हैं । आर्य संस्कृति की परम्परा में कर्म ही भोग का जनक है, अथवा कहो कि कर्मानुसार फलान्विति का अपर नाम भोग है, क्योंकि मनुष्य जैसा करता है वैसा ही उसका फल भी भोगता है । विद्वान् लेखक ने कर्म की इस सैद्धान्तिक सूक्ष्मता को (जिसको दर्शन-शास्त्र में विशेष प्रक्रिया के साथ वर्णित किया गया है) अत्यन्त सरल शब्दावली का प्रयोग करते हुए सर्वजनगम्य बना दिया है । कर्म का त्रिधा विभाजन करते हुए कर्म की एवं कर्मफल की गूढ़ ग्रन्थी का उन्मोचन कर दिखाया है । कर्म के वे तीन प्रकार हैं—१. क्रियमाण कर्म, २. सञ्चित कर्म, ३. प्रारब्ध कर्म । अर्थात् क्रियमाण कर्म वे होते हैं जिनको व्यक्ति वर्तमान काल में करता है । हर व्यक्ति की सापेक्षता अथवा निरपेक्षता में मनुष्य के द्वारा किया गया प्रत्येक क्रियाकलाप क्रियमाण कर्म की संज्ञा से बोध्य होता है । यह क्रियमाण कर्म कालान्तर में सञ्चित कर्म की

संज्ञा को प्राप्त करता है तथा सञ्चित कर्म जब परमात्मा की कर्मफल व्यवस्था के अनुसार सहज रूप से जीव को मिलना होता है, तब उसका नाम प्रारब्ध या भाग्य हो जाता है। अत: स्पष्ट है कि मनुष्य की सुखदुःखात्मक स्थिति मे मूल रूप से उसका क्रियमाण कर्म ही क्रमश: सञ्चित तथा प्रारब्ध बनकर सामने आता है। कर्म मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक तीन प्रकार से किया जाता है। मानसिक कर्म प्रच्छन्न कर्म होता है जिसका पता समाज के किसी व्यक्ति को नही लग पाता है। किन्तु वाचिक एवं शारीरिक कर्म अपर व्यक्ति द्वारा गम्य होते हैं। आर्य संस्कृति मे तीनो प्रकार के फल रहित नही होते हैं। मानसिक कर्म का फल मन के द्वारा अवश्य तथा वाचिक कर्म का फल वाणी के द्वारा एवं शारीरिक कर्म का फल शरीर के द्वारा भोगा जाता है। इस कर्मफल व्यवस्था को प्रथम स्मृतिकार मनु ने भी इस प्रकार व्यक्त किया है—'मानसं मनसैवाय-मुपभुङ्क्ते शुभाशुभं, वाचा वाचकृतं कर्मकामेनैव च कायिकम्" /मनु०/यह कर्मफल मीमांसा मनुष्य को जीवन के प्रति चिन्तन करने के लिए निःसन्देह प्रेरित करती है, तथा मनुष्य यह जानना चाहता है कि किन कर्मों का फल सुख होता है, किन कर्मों का फल दुःख होता है। क्योकि मनुष्य सुखाकांक्षी होता है, दुःख की कामना करने वाला नही। जब उसे आर्य संस्कृति के इस सुचिन्तित दृष्टिकोण का परिचय मिल जाता है और वह सुचिन्तना के साथ अपनी बुद्धि से कर्मफल व्यवस्था को स्वीकार कर लेता है तब वह कर्मों के शुभ एवं-अशुभ स्वरूप के अवगमन मे विलम्ब नही करता है। आर्य संस्कृति का कर्मफल के विषय मे यह भी दृष्टिकोण स्पष्ट है कि जो कर्त्ता है वही भोक्ता है। उससे भिन्न व्यक्ति भोक्ता नही हो सकता। जब कभी मनुष्य भ्राति या अज्ञानवश यह मान लेता है कि उसके द्वारा कृत कर्म का फल अन्य को मिल जाएगा, या अन्य के द्वारा शमित कर दिया जाएगा तब निश्चित रूप से समाज मे अकरणीय कर्म शृङ्खला की वृद्धि करने लगता है किन्तु यह ज्ञान होने पर कि कर्त्ता से भिन्न फल का प्रापक कोई नही होगा, तब वह कर्म के महत्त्व को समझता है। इस प्रकार मानव जीवन मे समुचित सामाजिक व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाए रखने मे कर्म की इस सैद्धान्तिक प्रक्रिया का ज्ञान होना आवश्यक है। आर्य संस्कृति की इस—विवेचना ने ऐतिहासिक परम्परा मे पठनीय अनेक मनुष्यो को हिंसा से अहिंसा की ओर, असत्य से सत्य की ओर, स्तेय से अस्तेय की ओर, वक्रता से सरलता की ओर, कर्कशता से कोमलता की ओर चलने की प्रेरणा देकर सामान्य मानव की श्रेणी से ऊपर उठाकर देव श्रेणी के पुरुषों की परम्परा से अलंकृत कर दिया है।

आत्मतत्त्व—आर्य संस्कृति के तात्त्विक विवेचन मे आत्मतत्त्व का विशेष महत्त्व है। मनुष्य के दृश्यमान शरीर पिण्ड में जहाँ हाथ, पाँव, आँख, नाक, कान इत्यादि दृष्टिगत होते हैं, वहाँ इन अवयवो के पीछे कोई सत्ता है, शक्ति है जिसके आधार पर यह सुन्दर शरीर चल रहा है, बोल रहा है, चिन्तन कर रहा है। आर्य संस्कृति मे उस सत्ता का नाम आत्मतत्त्व निश्चित किया गया है। लोक मे हम देखते हैं कि जो हमारा प्रिय व्यक्ति अभी हमे प्रसन्न करता हुआ बोल रहा था, चल रहा था, एक क्षण मे उसका हँसना, बोलना, चलना बन्द हो जाता है, उसके शरीर की गति समाप्त हो जाती है, वह निश्चेष्ट हो पृथ्वी पर गिरा पड़ा होता है, और हम उसके पार्थिव शरीर को ले जाकर श्मशान मे अग्नि के मध्य स्वाहा कर देते हैं। यहाँ प्रश्न उदित होता है कि किसके रहने से जीवित था, किसके न रहने पर वह मृत घोषित किया गया। यही वह आत्मतत्त्व है जिसको खोजने का निरन्तर प्रयत्न किया जाता रहा है। उपनिषदों के अन्दर इसी आत्मा को लेकर अनेक प्रकार से गूढ़ चिन्तन किया गया है। यह आत्मा कहाँ से आता है, कहाँ जाता है? इसकी क्या गति है, इसका क्या स्वरूप है? इत्यादि प्रश्नों की उद्भावना करते हुए अनेक प्रकार से प्रश्नोत्तर शैली मे सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत किया है। यह आत्मा अजर, अमर है, यह अनादि है, इसको कोई भी प्राकृतिक शक्ति किसी प्रकार की हानि नही पहुँचा सकती। इस प्रकार का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को होना चाहिए। सांस्कृतिक परम्परा मे दो प्रकार की विद्या का वर्णन मिलता है: प्रथम अपरा विद्या तथा द्वितीय परा विद्या। अपरा विद्या के माध्यम से संसार की समस्त विद्याएँ सीखी जाती हैं, प्रकृति के स्थूल से स्थूल एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप का ज्ञान हमे अपरा विद्या के माध्यम

से प्राप्त होता है, किन्तु वह समस्त भौतिक ज्ञान ही कहा जाता है। आत्मिक ज्ञान तो परा विद्या के द्वारा प्राप्त होता है—'यथातदक्षरमधिगम्यते सा परा।' केवल भौतिक ज्ञान प्रदान करने वाली विद्या से भौतिक गुणों का समावेश ही मानव में होता है, आत्मिक गुणों का समावेश उसी विद्या से सम्भव है जिसके द्वारा आत्मज्ञान की ज्योति प्रज्वलित होती है। जब व्यक्ति आत्मतत्त्व को जान लेता है तब उसके लिए अन्य कुछ भी वेद्य नही रहता है क्योंकि यह सारा जगत् उसी आत्मज्योति से ज्योतिर्मय होकर भासमान हो रहा है।

विश्वबन्धुत्व का आधार आत्मतत्त्व—आज संसार में एक मानव दूसरे मानव से, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से तथा एक द्वीप दूसरे द्वीप से ईर्ष्या करता हुआ निरन्तर उसको समाप्त करने की दिशा में चिन्तन कर रहा है, इसका एकमात्र कारण है 'आत्मतत्त्व का विवेक न होना, जब व्यक्ति को आत्मिक चेतना का ज्ञान हो जाता है तब उसकी अविद्याजन्य संकीर्णता समाप्त हो जाती है, उसका स्वार्थ परार्थ मे परिणत हो जाता है। उसके चित्त में औदार्य एवं दाक्षिण्य आदि गुणों का साम्राज्य हो जाता है। वह समस्त संसार के पुरुषों को ही नही अपितु प्राणी मात्रा को अपनी मित्र दृष्टि से देखता है।

संसार में उसको अपना कोई भी शत्रु दृष्टिगत नहीं होता है, क्योंकि आत्मा-आत्मा का शत्रु कैसे हो सकता है। आत्मा आत्मा का अहित एवं अमंगल कैसे कर सकता है। वह तो एक ही पथ का पथिक है, वह एक ही स्थान से आया है, एक ही स्थान को जाना है। अतः ईर्ष्या, विद्रोह, छल एवं प्रवञ्चना का मानव जीवन से कैसा नाता? आर्य संस्कृति ने मानव जीवन से समग्र दुर्विचारों को दूर करने तथा सद्विचारो को आधानित करने के लिए आत्मतत्त्व का जो चिन्तन दिया है, वह चिन्तन आर्य संस्कृति की एक विलक्षण विशेषता है।

वर्णाश्रम व्यवस्था—समग्र संसार में रहने वाले मानव समूह को आर्य संस्कृति ने चार वर्णों तथा चार आश्रमों में विभिक्त किया है। वर्ण व्यवस्था का आधार मनुष्य की वह प्रवृत्ति है जिसके आधार पर वह समाज में अपनी विशेषता उजागर करना चाहता है किसी राष्ट्र मे चार प्रकार की प्रवृत्ति का होना आवश्यक है, वे चार प्रवृत्तियाँ चार वर्णों के माध्यम से प्रकट होती हैं। मानव समूह से अज्ञान को दूर कर ज्ञान का आलोक प्रदान करना जिसका कार्य है उसको ब्राह्मण के नाम से बोधित किया जाता है। राष्ट्र को बाह्य तथा आन्तरिक शत्रुओ से सुरक्षित रखना तथा समय आने पर शत्रुओं का मर्दन करना जिसका कार्य है उसे क्षत्रिय वर्ण से भूषित किया गया है। राष्ट्र के पुरुषों की जीवन-निर्वाह की सामग्री को जुटाना, विभिन्न प्रकार से कृषि एवं पशुपालन-वाणिज्य आदि के द्वारा लोगों का भरण-पोषण करना जिसका कार्य है उस मानव वर्ग को वैश्य के नाम से बोधित किया गया, तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य की शारीरिक दृष्टि से सेवा करने वाले वर्ग को शूद्र की संज्ञा से व्यवहृत किया गया। आर्य संस्कृति में ये चारो वर्ण व्यक्ति की निजी क्षमता एवं इच्छा पर निर्भर करते हैं। इन वर्णों के आधार जाति न होकर कर्म हैं। कर्म के आधार पर ही वर्ण प्रदान किया जाता है। ये चारों वर्ण एक-दूसरे से श्रेष्ठ या हीन नही हैं। जैसे शरीर में मुख, हाथ, उदर तथा पाद का स्थान भिन्न-भिन्न होने पर भी शरीर की पुष्टि तथा रक्षा की दृष्टि से प्रत्येक अंग का महत्त्व समान ही है वैसे ही चारों वर्णों की शक्ति समान रूप से राष्ट्र को सुव्यवस्थित करने मे ही लगती है, समुचित वर्ण व्यवस्था के रहते हुए राष्ट्र की अनेक समस्याओं का समाधान स्वतः ही हो जाता है।

जिस प्रकार वर्ण व्यवस्था आर्य संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है वैसे ही आश्रम व्यवस्था भी है। ये आश्रम क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के नाम से कहे जाते हैं। मानव जीवन को आर्य संस्कृति ने इन चार आश्रमों में विभक्त किया है। ये आश्रम प्रवृत्तिवाद एवं निवृत्तिवाद के परिचायक हैं। भोगवाद एवं त्यागवाद का व्यवस्थित रूप इन आश्रमों में देखने को मिलता है। इन आश्रमों के साथ लगा हुआ श्रम शब्द कभी भी व्यक्ति को श्रमशून्य या क्रियाशून्य नहीं होने देता है। ब्रह्मचर्या श्रम में विद्याध्ययन तथा शरीर की पूर्ण पुष्टि प्राप्त की जाती है, गृहस्थाश्रम में सन्तानोत्पत्ति धर्म एवं धनार्जन करते हुए जीवन बिताना

होता है, वानप्रस्थाश्रम का समय आते ही व्यक्ति स्वतः ही पुत्रों पर गृह का उत्तरदायित्व सौंप कर स्वयं को समाज सेवा तथा धर्म कार्य मे लगा देता है, संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होकर तो व्यक्ति का एक-एक क्षण—आत्मचिन्तन तथा समाज कल्याण के चिन्तन मे लग जाता है। इस प्रकार वह इन चार आश्रमों का पालन करता हुआ अपनी संसार-यात्रा को पूर्ण करता है। मानव की इस विशाल जीवन-यात्रा में ये चार आश्रम चार सुखद पड़ाव हैं, जिनका आश्रय प्राप्त करता हुआ मनुष्य अपनी यात्रा को सफल करता है। यदि मानव-जीवन मे ये चार आश्रम विधिपूर्वक स्वीकृत हो जाएँ तो संसार से छीना-झपटी का रूप समाप्त हो सकता है। इस आश्रम व्यवस्था से समाज मे अद्भुत शान्ति का वातावरण बनता है तथा मानव-जीवन निरापद होकर अपनी यात्रा पूर्ण कर लेता है।

संस्कारों की परम्परा—आर्य संस्कृति ने समग्र सृष्टि मे मानव को प्रमुखतम स्थान दिया है। मानव से श्रेष्ठ कृति संसार मे दूसरी नही है। अतएव मानव निर्माण की दिशा मे आर्य संस्कृति सदैव जागरूक रही है। जिस मानव को हम सर्वश्रेष्ठ कहते हैं उसका विधिवत् संस्कारो की परम्परा मे निर्माण होने पर ही श्रेष्ठतम निर्माण सम्भव है। अन्यथा तो वह संस्कारो के अभाव मे पशु योनि से भी अधिक पतित हो सकता है। आर्य संस्कृति मे गर्भाधान से लेकर व्यक्ति की मृत्यु पर्यन्त सोलह संस्कारो की व्यवस्था की गई है। इन संस्कारो का कार्य ही मनुष्य का संस्कार करते हुए उसे सुसंस्कृत करना है। शुद्ध संस्कारो के रहने पर ही सुसंस्कृति को जीवत मिलता है। जिस प्रकार एक बढ़ई किसी वक्राकृति की काष्ठ को लेकर उसकी वक्रता को दूर करके उसे किसी विशेष आकृति मे बदल देता है और उसका मूल्य बढ़ा देता है, उसी प्रकार संस्कारो के द्वारा व्यक्ति के जन्म-जन्मान्तरों के दूषित विचारो का संस्कारों के माध्यम से शमन कर दिया जाता है तथा आत्मा की दीप्ति को बढ़ाने वाले गुणो का आधान कर दिया जाता है। जो आत्मा इस समय पुरुष रूप मे दृष्टिगत हो रही है वह इससे पूर्व किस रूप मे थी, कुछ नही कहा जा सकता। उसका वातावरण क्या था, उसके पिछले संस्कार क्या थे, उसकी प्रवृत्ति कैसी थी, इन सभी प्रश्नों का उत्तर नही दिया जा सकता। किन्तु इतना अवश्य है कि वह अब मानव शरीर में है। और मानव का निर्माण करना आर्य संस्कृति को अभीष्ट है। संस्कारो के बल से ही उसके पूर्वजन्म के दूषित से दूषित विचारो का क्षय सम्भव है। जब व्यक्ति निरन्तर संस्कारो की परम्परा मे पलेगा उसको वातावरण सुसंस्कृत मिलेगा, तो दूषित विचारों का प्रभाव उस पर पड़ ही नही सकता है, प्रत्युत शनैः-शनैः उसके संस्कारो मे पवित्रता का वास होता रहेगा और परिणामतः वह 'मनुर्भव' के अनुसार पूर्ण मानव की संज्ञा प्राप्त कर लेगा। जब व्यक्ति सुसंस्कृत हो जाता है, तो उसके जीवन मे पुरुषार्थ चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के प्रति प्रवृत्ति स्वतः ही उदित हो जाती है। आर्य संस्कृति मे परिगणित इस पुरुषार्थ चतुष्टय में मानव के भोग एवं त्याग का समन्वित रूप देखने को मिलता है।

इस प्रकार आर्य संस्कृति ने मानव के समग्र जीवन को सूक्ष्म दृष्टि से देखकर उसके उत्थान के लिए एक सुखद मार्ग से चलने का निर्देश दिया है। आर्य संस्कृति के विचारो मे जो सूक्ष्मता, विशदता, विमलता एवं सजीवता है, वह अन्यत्र नही है। यही कारण है कि विश्व को जब-जब संत्रस्त जीवन से ऊब कर निर्भय, निश्छल, शांत एवं उदार जीवन जीने की इच्छा हुई है, तब-तब आर्य संस्कृति ने ही एक नवचेतना का विस्तार करते हुए विश्व के कोटि-कोटि मानवों का मार्ग आलोकित करते हुए संजीवन दिया है। यह आर्य संस्कृति प्राचीनतम होकर भी उस उषा के समान नित्य नवीन है जिसके आते ही मानव जीवन का आकाश अन्धकार रहित होकर प्रकाशमय हो जाता है।

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के ग्रन्थों में विषय-वस्तु वैशिष्ट्य : एक विवेचना

श्री जगदीश विद्यालंकार

पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

भौतिकवाद की सुविधाओं मे डूबा आज का यूरोप विश्व की जिस सामाजिक रचना का निर्माण करना चाह रहा है उसका ताना-बाना भारत की आध्यात्मिक शक्तियों के केन्द्रस्थल सत्य, प्रेम, सहानुभूति, त्याग, तपस्या आदि के स्रोतों से रहा है। भारत के ऋषि-मुनियो ने सहस्रो वर्ष पूर्व जिस सत्य का मंथन किया था, आज वह सत्य मानव शान्ति का मूलाधार बना हुआ है। भारत के इन्ही ऋषि-मुनियो के विचार-सागर मे गोता लगाकर आज के भारत के ऋषि डा० सत्यव्रत जी ने अमृत रूपी विचार-मंथन अपने ऐतिहासिक ग्रंथ 'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व' में प्रस्तुत किया है। उक्त ग्रन्थ की भूमिका ही आप्त विचारों के नवनीत से समाहित है। ग्रंथ की भूमिका में जीवन के सार तत्त्वों का विवेचन करते हुए लेखक ने लिखा है, "सचाई प्रेम, ईमानदारी और इनसे मिलते-जुलते तत्त्व जो अध्यात्मवाद की नींव मे पड़े हैं उन्हे भौतिकवाद भी छोड़ना नही चाहता। प्रश्न यही है कि भौतिकवाद इन्हें एकदम छोड़ देने से क्यों घबराता है? इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि भौतिकवाद इन आध्यात्मिक तत्त्वों को इसलिए नहीं छोड़ना चाहता क्योंकि इसे भी दीखता है कि घोर से घोर जड़वादी जगत् में सचाई से ही काम चलता है, झूठ से नही, प्रेम से ही इस मशीन की कर्कशता को मिटाया जा सकता है, ईर्ष्या-द्वेष, लड़ाई-झगड़े से नहीं।"[1]

विद्वान लेखक का यह निष्कर्ष कि भारत के तत्ववेत्ताओं ने कुछ ऐसे मूल तत्त्वों के दर्शन किये थे जिन्हे अगर विश्व की नीव में से खींच लिया जाए तो यह विशाल जगत मिट्टी के ढेर की तरह नीचे आ गिरता है। एक लेखक का यह यथार्थ-बोध जीवन की मूलभूत संस्कृति से जुड़ा हुआ है। लेखक ने इस पुस्तक की भूमिका मे यह प्रतिपादित किया है कि उक्त पुस्तक में वैदिक संस्कृति के बाह्य कलेवर की ओर ध्यान नही दिया गया है तथा न इस तथ्य पर विचार किया गया है कि यह संस्कृति कब उत्पन्न हुई, ऐतिहासिक दृष्टि से कहाँ-कहाँ पहुँची, इन सब बिन्दुओं से हटकर प्रतिपादित पुस्तक मे वैदिक संस्कृति के अंतरंग स्वरूप पर विचार किया गया है। वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्वों पर जहाँ उक्त पुस्तक मे गहन विवेचना है, वहाँ वैदिक संस्कृति के वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार को लेखक ने तत्वान्वेषण की दृष्टि से सबके सामने प्रस्तुत किया है। लेखक ने पुस्तक की भूमिका मैक्समूलर के इस कथन से प्रारम्भ की है—"अगर मैं विश्वभर में उस देश को ढूंढने के लिए चारो दिशाओं में आँखें उठाकर देखूं जिस पर प्रकृति देवी ने अपना सम्पूर्ण वैभव, पराक्रम तथा सौंदर्य खुले हाथों लौटाकर उसे पृथ्वी का स्वर्ग बना दिया है, तो मेरी अँगुली भारत की तरफ उठेगी। अगर मुझसे

---

१. डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार—'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व', नई दिल्ली, चन्द्रावती लखनपाल; ४/२४, आसफ अली रोड, १९८३, पृष्ठ १०

पूछा जाय कि अन्तरिक्ष के नीचे कौनसा वह स्थल है जहाँ मानव के मानस ने अपने अन्तराल मे निहित ईश्वर-प्रदत्त अन्यतम सद्भावों को पूर्ण रूप से विकसित किया है, गहराई में उतरकर जीवन की कठिनतम समस्याओं पर विचार किया है, उनमें से अनेकों को इस प्रकार सुलझाया है जिसको जानकर प्लेटो तथा कांट का अध्ययन करने वाले मनीषि भी आश्चर्यचकित रह जाएँ, तो मेरी अँगुली भारत की तरफ उठेगी।"[1] लेखक ने भोग एवं त्याग के बारे में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के बारे में, आसक्ति एवं वैराग्य के बारे मे ऐसा समन्वय-मूलक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है जो पूर्व एवं पश्चिम को एक वैचारिक धरातल पर ला देता है। वैदिक संस्कृति ने जीवन के कार्यक्रम का निर्माण जिस विचार को आधार बना कर किया है, वह विचार है—"शरीर के पीछे आत्मा है, प्रकृति के पीछे परमात्मा है, शरीर आत्मा का साधन है, प्रकृति परमात्मा का साधन है। यह इहलौकिक विचार है जिससे वैदिक संस्कृति ने जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को बनाया है। शरीर हो, आत्मा न हो, प्रकृति हो परमात्मा न हो, तो जीवन की दिशा एक तरफ चली जाती है, शरीर हो परन्तु आत्मा का साधन हो, प्रकृति हो परन्तु वह परमात्मा का साधन हो, तो जीवन की दिशा दूसरी तरफ चल पड़ती है।"[2] मनीषी लेखक ने अपनी उक्त पुस्तक की भूमिका मे वैदिक जीवन का स्वरूप अत्यन्त सरल रूप से समझाने का प्रयत्न किया है। "मानव में शरीर यथार्थ है, परन्तु शरीर के साथ शरीरेतर आत्मा भी यथार्थ है, चराचर जगत मे यह भौतिक जगत यथार्थ है, परन्तु इस पंचभौतिक जगत के साथ इसमे जीवन का संचार करने वाला जगदितर परमात्मा भी यथार्थ है। शरीर से चलकर शरीर तक ही रुक जाना, इस सृष्टि से प्रारम्भ कर इस सृष्टि में ही अटक जाना— यह दृष्टि अयथार्थ है। और जब हम सब इसमे ही अटक जाते हैं तब यह कहने की जरूरत पड़ जाती है कि जो दीख रहा है, जिसमे प्राणी उलझ जाता है, वह यथार्थ होता हुआ भी अयथार्थ है, सत्य होता हुआ भी मिथ्या है, इसलिए अयथार्थ और मिथ्या है क्योंकि हम इसमे प्राण डालने वाली सत्ता को भूलकर इसी को यथार्थ मान बैठते हैं।"

वैदिक दृष्टिकोण एक कदम और भी आगे बढ़ता है। वह दृष्टिकोण यह है कि मानव का यह शरीर उस अशरीरी का साधन है जो किसी लक्ष्य की तरफ बढ़ता हुआ इसमे वास करता है, यह दृश्य जगत किसी अदृश्य चेतन शक्ति के प्रयोजन को निभा रहा है।"[3]

सत्यव्रत जी ने अपने ग्रंथों मे भौतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का एक ऐसा सेतु प्रस्तुत किया है जो परस्पर टकराव पर आश्रित न होकर मिलन पर आश्रित है। लेखक की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' का विमोचन करते हुए भूतपूर्व प्रधान मंत्री एवं श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा था, "आज का युग संघर्ष का युग है। इस युग में भौतिक तथा आध्यात्मिक विचारों का भी टकराव हो रहा है। ग्रंथकर्ता ने ठीक ही कहा है कि धर्म तथा विज्ञान के संघर्ष मे हमें धर्म के लिए वैज्ञानिक आधार खोजना होगा। विज्ञान का सच्चा अर्थ है सत्य की खोज, मनुष्य की आंतरिक आँखें खुलें, हृदय खुले, और यही उद्देश्य धर्म का है। इस दृष्टि से देखने पर ही वस्तुस्थिति समक्ष में आ सकती है क्योंकि कोई वस्तु अपने आप मे बुरी नही है। वस्तु का अच्छा अथवा बुरा होना इस बात पर निर्भर करता है कि उसका उपयोग किस प्रकार किया जा रहा है। एक छुरी किसी सर्जन के हाथ में कल्याणकारी है तो वही अन्य अवसर पर हत्या का साधन बन सकती है। विज्ञान का युद्ध के लिए प्रयोग सहारकारी है परन्तु इसी विज्ञान का काम मानव को कितनी ही बीमारियों से बचाना भी है।"[4]

---

१. डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार—'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार', गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली-६ १९८१, पृष्ठ ११

२. वैदिक संस्कृति के मूल तत्व, पृष्ठ ११५

३. वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार, पृष्ठ १३

४. वही, पृष्ठ ७

आध्यात्मिकता एवं विज्ञान के समन्वय को जिस सुन्दरता से लेखक ने उक्त पुस्तक में अंकित किया है उसके लिए श्रीमती गांधी ने लेखक को बधाई दी। 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' नामक ग्रंथ में विद्वान लेखक ने जहाँ मन के सम्बन्ध में भौतिकवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए एक स्थल पर प्रश्न उठाते हुए लिखा है, "भौतिकवाद वर्तमान युग की ही उपज नही है। यह सदा से चला आ रहा है। भौतिकवाद का कथन है कि शरीर एक स्वचालित यंत्र है, इसे चलाने वाला इसके भीतर कोई नही बैठा। जैसे स्टेशन पर तोल की मशीन होती है, १० पैसे का सिक्का डालें तो खुद-ब-खुद भार-सूचक टिकट बाहर निकल आता है, वैसे ही इन्द्रियों के सम्मुख जब विषय उपस्थित होते हैं तो उनकी अनुक्रिया अपने आप स्वभाव से हो जाती है।" इसी प्रश्न का उत्तर उसी पृष्ठ में श्वेताश्वतरोपनिषद् के आधार पर उन्होने लिखा, "यह तो इस शरीर के रचनहारे की महिमा है कि उसने यह अद्भुत यंत्र ऐसा बनाया है कि यह अपने आप चलता प्रतीत होता है।"[1]

विद्वान लेखक ने अपनी गवेषणा में भौतिकवादियों की इस चुनौती का उक्त पुस्तक मे जोरदार ढंग से जवाब दिया है जिसके अनुसार भौतिकवादी मन की शरीर से पृथक सत्ता से इनकार करता है। लेखक ने इच्छा शक्ति एवं कर्तृत्व शक्ति के आधार पर मन की आध्यात्मिक दृष्टिकोण से व्याख्या की है। सिद्धान्तालंकार जी की लेखनी जीवन के सर्वांग स्वरूप को सम्मुख रखते हुए रँगी हुई है। मानव जीवन के विविध पक्ष चाहे वह समाजशास्त्र से सम्बन्धित हो या फिर विज्ञान से उन्होंने जीवन के प्रत्येक पक्ष पर अपने बारीक चिन्तन की छाप छोड़ी है जो उनके ग्रंथों मे सर्वत्र दिखलाई पडती है। मानव जीवन पर पड़ने वाले सस्कारों के अध्ययन के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी पुस्तक 'संस्कार-चंद्रिका' मे लिखा है, "मनुष्य को बिल्कुल बदल देने, उसमे आमूलचूल परिवर्तन कर देने का जो प्रयास वैदिक संस्कृति मे किया गया था उसमे दो-चार नही, सोलह सस्कार हैं। संस्कार आत्मा के जन्म धारण करने के पहले से शुरू हो जाते हैं, कुछ जन्म ग्रहण करने के बाद किये जाते हैं। जन्म ग्रहण करने से पहले जो संस्कार किये जाते थे, उनमे सबसे पहला संस्कार 'गर्भाधान' संस्कार है, वह संस्कार जिसे आज का जडवादी जगत् विषय-तृप्ति का साधनमात्र समझता है। इस संस्कार को वैदिक सस्कृति नवीन आत्मा के आवाहन का एक पवित्र यज्ञ मानती थी।"[2]

विद्वान लेखक ने उक्त पुस्तक में ऋषि दयानन्द द्वारा प्रणीत १६ संस्कारो का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। पुंसवन संस्कार के व्याख्या स्थल पर लेखक ने अत्यन्त सजीव शब्दो मे हृदय को अनुभव का स्पन्दन-केन्द्र माना है। लेखक के शब्दों मे—"हृदय अनुभव का स्थान है। पति-पत्नी मे हृदय की एकता होनी चाहिए—इसी भाव को व्यक्त करने के लिए पति पत्नी के हृदय का स्पर्श करता है। पति द्वारा पत्नी के हृदय का इस प्रकार घर-बार के लोगों, कुटुंबियों तथा दोस्त-मित्रों के सामने स्पर्श करना उसकी तरफ से इस बात की सार्वजनिक घोषणा है कि वह अपनी पत्नी को हृदय से प्रेम करता है, और इस क्रिया को सार्वजनिक संस्कार का रूप देना पति की तरफ से इस बात की घोषणा करना है कि वह अपने जीवन मे ऐसा कोई काम नहीं करेगा जिससे उसकी पत्नी के हृदय को ठेस पहुँचे। जिसके प्रति प्रेम होता है उसके प्रति त्याग, तपस्या—सभी कुछ करना पड़ता है, इसलिए गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते हुए पति जब अपनी पत्नी के हृदय को पुंसवन संस्कार के समय स्पर्श करता है, तब सब लोगों के सामने एक बड़ी भारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है।"[3]

डा० सत्यव्रत जी जर्मन दार्शनिक शोपनहॉर के उस कथन से प्रभावित थे जिसमें उसने यह घोषणा

---

१. वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार पृष्ठ १७

२. वही, पृष्ठ १७

३. संस्कार-चंद्रिका, पृष्ठ ३३

की थी कि "विश्व के सम्पूर्ण साहित्य-भंडार में किसी ग्रंथ का अध्ययन मानव के विकास के लिए इतना हितकर तथा ऊँचा उठाने वाला नही है, जितना उपनिषदों का अध्ययन। उसके अध्ययन से मुझे जीवन में शान्ति मिली है, इसके अध्ययन से ही मुझे मृत्यु के समय भी शान्ति प्राप्त होगी।"[1] शोपनहॉर के इन्ही शब्दो का उल्लेख करते हुए मैक्समूलर ने लिखा, "अगर शोपनहॉर की इस भावना का समर्थन करने की आवश्यकता हो, तो दर्शन तथा धर्म के अध्ययन मे व्यस्त अपने दीर्घ जीवन के अनुभव के आधार पर मैं इन शब्दों का सहर्ष अनुमोदन करता हूँ।"[2]

उपनिषदों मे समाहित ज्ञान की अविरल धारा से मान्य लेखक इतने प्रभावित रहे हैं कि उन्होने उपनिषद पर दो पृथक ग्रंथो की रचना की। लेखक की ऐतिहासिक कृति 'उपनिषद्-प्रकाश' मे जहाँ लेखक ने प्रत्येक शब्द का विवेचन न करके उपनिषद्कार के कथन को व्याख्यात्मक सरल भाषा मे व्यक्त करने का प्रयत्न किया है वहाँ लेखक के अन्य ग्रंथ 'एकादशोपनिषद्' मे सम्पूर्ण उपनिषद् के प्रत्येक स्थल का पदच्छेद, शब्दार्थ, भावार्थ, व्याख्या आदि का विश्लेषण कर दोनो ग्रंथो को एक-दूसरे का पूरक बना दिया है। ऐसी सहज, सरल शैली को अपनाया है जो कथाओ एवं अलंकारो से ओतप्रोत है।

'उपनिषद् प्रकाश' की भूमिका मे लेखक ने अपनी मनोभावना व्यक्त करते हुए लिखा है कि इस ग्रंथ की रचना अन्तस की प्रेरणा से की गई है। लेखक की यह मान्यता है कि वैदिक विचारधारा को समझाने के लिए जितना वस्तुजात उपनिषदो से मिलता है उतना अन्य किसी ग्रन्थ से नही। वैसे तो लेखक ने अपने प्रत्येक ग्रंथ के द्वारा आध्यात्मिक रहस्यो को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए ऐसी सहज, सरल शैली को अपनाया है जो कथाओ एवं अलंकारों से ओतप्रोत है।

डा० सत्यव्रत ६० वर्ष के युवा हैं। 'बुढ़ापे से जवानी की ओर' नामक पुस्तक के वे स्वयं नायक हैं। उक्त पुस्तक के प्रयोजन की ओर जनमानस का ध्यान आकृष्ट करते हुए वे एक स्थल पर लिखते हैं, "मृत्यु तो हर किसी को आती है, वृद्धावस्था का आना भी स्वाभाविक है, परन्तु इसके बजाय कि बुढ़ापा एक भूत बनकर सिर पर आ चढ़े और हम हाय बुढ़ापा-हाय बुढ़ापा, का राग अलापने लगें, हम ऐसा जीवन कैसे बिता सकते हैं जिससे बुढ़ापे के आने पर भी बुढ़ापा न आया प्रतीत हो, मनुष्य बूढ़ा होता हुआ भी युवा सम जीवन व्यतीत करे।"[3] इस उपाय को सामने रख देना इस पुस्तक का मुख्य लक्ष्य है। विद्वान लेखक ने अपने इस ग्रंथ में दीर्घ जीवन का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन करने के साथ-साथ दीर्घ जीवन की आसन, प्राणायाम, ब्रह्मचर्य आदि भारतीय पद्धतियों का विवरण भी दिया है। लेखक का यह ग्रंथ सहज ही पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करता है।"[4]

१५ दिसम्बर,१९८६ को उत्तर प्रदेश शासन के मत्स्य पालन विभाग के मंत्री श्री सीताराम निषाद ने जब गुरुकुल पुस्तकालय का अवलोकन किया तब उन्होंने जिस पुस्तक को सर्वप्रथम पढ़ने की इच्छा व्यक्त की थी वह विद्वान लेखक डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की उपर्युक्त पुस्तक थी। डा० सत्यव्रत ने जहाँ वैदिक संस्कृति के दृष्टिकोण को बहुमुखी तरीके से प्रस्तुत किया है वहाँ समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, होमियोपैथिक चिकित्सा-शास्त्र पर उनके ग्रंथ उनकी अनुपम विद्वत्ता से परिपूरित हैं। उनके समग्र चिन्तन से जीवन का कोई पक्ष नही बचा। होमियोपैथी पर उनकी पुस्तकें सहस्रों डाक्टरों एवं होमियोपैथिक पद्धति से चिकित्सा करने वाले महानुभावों के लिए बाइबल की तरह प्रयोग मे आती हैं।

---

१. संस्कार-चन्द्रिका, पृष्ठ १४३

२. वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार, पृष्ठ १२

३. वही, पृष्ठ १२

४. डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालकार, 'बुढ़ापे से जवानी की ओर', विजय कृष्ण लखनपाल, नई दिल्ली, १९८२, पृष्ठ १०

डा० सत्यव्रत ने जहाँ उपनिषदों के रहस्य को जन-जीवन की भाषा में प्रतिबिम्बित किया वहाँ गीता पर भी उनका भाष्य अपने ढंग का अनूठा है। लेखक के गीता-भाष्य पर टिप्पणी करते हुए हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्व० लालबहादुर शास्त्री ने उक्त पुस्तक की भूमिका में लिखा है, "प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का गीता-भाष्य रोचक एवं विवेकपूर्ण है। भाषा प्रांजल तथा सुन्दर है। इसकी रचना उन्होंने इस प्रकार की है ताकि पंडित वर्ग तथा सर्वसाधारण जनता दोनों लाभ उठा सकें।"

संस्कार-चन्द्रिका : एक अध्ययन ग्रन्थ

डा० सत्यव्रत राजेश

प्रा० वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

विद्यामार्तण्ड डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। आपने अनेक विषयों पर लिखा जिनमें शिक्षा, मनोविज्ञान, चिकित्सा, धर्म, दर्शन तथा उपनिषद् आदि को गिनाया जा सकता है। जहाँ आपने बहुत लिखा, वहाँ यह भी मानना पड़ता है कि बहुत अच्छा लिखा। आप लिखते समय विषय की तह तक पहुँचते हैं जिससे विषय स्पष्ट होकर सम्मुख खड़ा-सा लगता है। आपकी कृति 'संस्कार-चन्द्रिका' भी ऐसी ही है।

महर्षि दयानन्द के ग्रंथो मे वेदभाष्य के पश्चात ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कार-विधि दयानन्द-त्रयी के नाम से प्रसिद्ध है। ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका जहाँ वेद के प्रवेश का मार्ग उद्घाटित करती है, सत्यार्थप्रकाश जहाँ मतमतान्तरो का सम्यक् ज्ञान कराकर सत्यपथ प्रदर्शित करता है वहाँ संस्कार-विधि मानव-निर्माण की विधि का मार्ग दिखलाती है।

ऋषियो के ग्रंथ व्याख्येय होते हैं। उनका समझना सर्वसाधारण के लिए सरल नही होता तथा बिना समझे उधर प्रवृत्ति भी नही होती। यही कारण है कि संस्कार-विधि जैसे अमूल्य ग्रंथ के होते हुए भी जन-साधारण की उधर उतनी रुचि नही बन पाई जितनी बननी चाहिए थी। इसलिए विद्वानो का इधर ध्यान गया और उन्होंने संस्कार-विधि पर अपनी लेखनी उठाई। बुद्धदेव जी मीरपुरी ने जिन मंत्रो के अर्थ महर्षि ने नही किये थे उनका अर्थ करके इस कार्य को आगे बढ़ाया। स्व० आत्माराम जी अमृतसरी ने 'संस्कार-चन्द्रिका' नामक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की तथा भिषग्रत्न अत्रिदेव विद्यालंकार ने 'संस्कार-विधि विमर्श' मे शरीर विज्ञान को सम्मुख रखते हुए संस्कार विधि को पुष्ट किया। डा० हरिदत्त जी एकादशतीर्थ ने भी इस विषय पर अपनी लेखनी उठाई। इन प्रशंसनीय प्रयासो के होते हुए भी युगधर्म वैज्ञानिकता की पुट चाहता था, जिसकी अभी तक कमी थी। डा० सिद्धान्तालंकार ने अपनी सशक्त लेखनी से इस न्यूनता का पूर्णता का प्रयास प्रस्तुत पुस्तक 'संस्कार-चन्द्रिका' में किया है।

इस पुस्तक में उन्होंने संस्कारों की आत्मा तक पहुँचने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम उन्होंने संस्कारों के प्राणरूप अग्निहोत्र पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। जो अपने ढंग का निराला है। एक ही स्थल पर इतनी गवेषणात्मक तथा विचारात्मक यज्ञ विषयक सामग्री कम ही मिलती है। यज्ञ के लाभ, उपयोगिता तथा विस्तार को उन्होंने आयुर्वेद तथा होमियोपैथी के दृष्टान्त से भी पुष्ट किया है। यज्ञ से बनने वाली कार्बन-डाय-आक्साइड गैस के आक्षेप के निवारण में उनका यह तर्क कितना सजीव है कि "हम रोज सोडा, कोको, लिम्का आदि पीते हैं, इनमें कार्बन-डायऑक्साइड की गैस ही तो होती है। रसोईघर में हम चूल्हा जलाते हैं, घंटों वहाँ काम करते हैं—क्या सब लोग रसोईघर में मर जाते हैं ?"

संस्कार-पद्धति का दार्शनिक विवेचन भी विषय की गहराई तक छू जाता है। संस्कार का अर्थ, मानव के नवनिर्माण की योजना, उनका आधार संस्कार-पद्धति, कर्मजन्य संस्कारों के भुगतान का प्रकार, उनका सूक्ष्म

शरीरों में रहना तथा नव संस्कारों द्वारा पुरातन संस्कारों में परिवर्तन आदि विषयों पर उन्होंने सूक्ष्म गवेषणा प्रस्तुत की है। जिसे पढ़कर संस्कारों की महत्ता तथा अनिवार्यता पाठक के चित्त पर चित्रित-सी हो जाती है। लेखक का यह कथन यथार्थ है कि वैदिक संस्कृति की असली योजना, वह योजना जिसके लिए इस संस्कृति ने जन्म लिया, संस्कारों द्वारा मानव का नवनिर्माण करना है। हम बाँध बाँधते हैं, नहरें खोदते हैं, सड़कें बिछाते, हैं, परन्तु वह मानव जिसके लिए यह सब कुछ करते हैं, वह कहाँ है। उसके लिए हमने पंचवर्षीय या दसवर्षीय कौनसी योजना बनाई है? 'गर्भाधान संस्कार का वैज्ञानिक आधार' 'शीर्षक में गाल्टन, बिजमैन आदि वंशानु-संक्रमणवादियों तथा पर्यवरणवादियों की विचारधारा पर विचार प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध किया है कि माता-पिता के संस्कारों मे वह बल है कि नवीन संस्कारों से पुराने संस्कारों को बदल दिया जाता है। निषेक संस्कार पर व्यक्ति की आयु, ऋतु, क्षेत्र अम्बु और बीज विषयो पर आयुर्वेद आदि की दृष्टि से विचार करके इस विषय का सुन्दर मार्गदर्शन किया है। प्राकृतिक तथा औषधिजन्य क्षेत्रीकरण के अन्तर्गत निदान तथा उपचार पद्धति को भी प्रस्तुत किया है, जिसमे आयुर्वेद तथा होमियोपैथी पद्धति की औषधियो को रोगशमनार्थ प्रयोग करने का उल्लेख किया है। समस्त प्रकरण ज्ञानमय तथा लाभमय बन गया है। आवश्यकतानुसार पुत्र तथा कन्या उत्पन्न करने की विधि को अनेक ग्रन्थों के उद्धरण तथा अनेक डाक्टरों के मत से पुष्ट किया है। इस समस्त प्रकरण को पढ़कर गर्भाधान संस्कार का महत्त्व स्वाभाविक रूप से सम्मुख उपस्थित हो जाता है। लेखक का यह प्रयास प्रशनीय कहा जाएगा।

संस्कारों को विवेचनात्मक तथा विध्यात्मक रूप मे प्रस्तुत किया गया है। विधि से पूर्व विवेचनात्मक भाग को प्रस्तुत करके वे पाठक की रुचि को जागृत करते हैं। उसे पढ़कर पाठक उस विधि को जानने की इच्छा प्रकट करता है। इस प्रकार शुष्क से लगने वाले विधि भाग को सरस बना दिया गया है।

पुसवन संस्कार शारीरिक विकास की दिशा है। उस संस्कार से सम्बद्ध सभी विषयो पर विद्वत्तापूर्वक प्रकाश डाला है। आयुर्वेदिक ग्रंथों के उद्धरणपूर्वक इस समय के अकरणीय तथा करणीय, लाभप्रद तथा हानि-कर, दोनों ही कर्तव्याकर्तव्यों की उत्तम विवेचना प्रस्तुत की है। सीमन्तोन्नयन को मानसिक विकास की दिशा बतलाकर माता-पिता के मानसिक विचारों का सन्तान पर कैसे प्रभाव पड़ता है, इस विषय का सुन्दर चित्रण सुश्रुत का उद्धरण देकर किया गया है।

जन्म-पूर्व संस्कारों में बालक पर जहाँ माता-पिता के संस्कारों का प्रभाव अधिक रहता है वहाँ जन्मोत्तर संस्कारों मे पर्यावरण सम्बन्धी संस्कार भी अपना प्रभाव डालने लगते है। जातकर्म मे उन संस्कारो को, बालक के उत्तम जीवन के लिए, डालने का प्रयास प्रारम्भ हो जाता है। उस समय किये जाने वाले क्रियाकलापो मे क्या रहस्य भरा हुआ है उसे उद्‌घाटित कर पाठक के सम्मुख रखा गया है। इसी प्रकार नामकरणनिष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, कर्णवेध प्रभृति संस्कारों पर भी समस्त ज्ञेय बातो को जाना जा सकता है।

उपनयन संस्कार मे आयु, द्विजत्व, उसे बाहर धारण करना, इस संसार की सब सभ्य समाजो द्वारा मान्यता, अन्तेवासी से सम्बन्ध, महत्त्व, कन्याओं को इसका अधिकार तथा उपनयन संस्कार के समय की अवान्तर विधियों पर प्रकाश, लेखक के तलस्पर्शी अध्ययन तथा विद्वत्ता का परिचायक है। लेखक जहाँ वैदिक पद्धति से परिचित हैं वहाँ अन्य मतमतान्तर सम्बन्धी उनका ज्ञान भी विस्तृत है। वेदारम्भ का महत्त्व दिखलाते हुए पूर्वजन्म, माता-पिता तथा पर्यावरण सम्बन्धी संस्कारों को ऊहापोह करते हुए शिष्य तथा गुरु के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है। अध्यापन के विषय तथा विधि भी उनकी लेखनी से अछूते नही रहे। पिता द्वारा बालक को दिये उपदेश की व्याख्या हृदयग्राही है। वेदारम्भ की अवान्तर विधियो का महत्त्व बतलाते हुए समाजवाद का, समता का भाव उकेरा गया है।

विवाह संस्कार भी एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। उस पर भी बहुत कुछ विचार किया है। बाल विवाह, उसके कारण तथा उससे होने वाली हानियो का विस्तृत विवेचन करके उसके प्रतिरोधक बाल विवाह के अधि-

नियम तथा उसकी आलोचना का सुन्दर विवेचन किया है। लेखक का यह कथन कि अगर कानून मे ऐसी व्यवस्था होती कि बाल विवाह हो जाने पर भी वह विवाह नही माना जाएगा, त्याज्य (Vaid) समझा जायेगा; तब लोग इस विवाह से बचते, सर्वथा उचित है। विवाह संस्कार की व्याख्या पर लेखक को ४ भाग बनाने पड़े जो इस संस्कार पर उनके विस्तृत अध्ययन तथा मनन के परिचायक हैं। लगता है कोई भी ज्ञेय विषय उनकी लेखनी से अछूता नही बचा। संस्कार से लेकर विवाह सामग्री तक भी उनकी दृष्टि है। गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ, संन्यास तथा अन्त्येष्टि—क्या ये संस्कार हैं ? इस विषय पर उनके विचार बहुत महत्त्व रखते है। संस्कारो के मूल ग्रंथ किसी भी गृह्यसूत्र मे इनका उल्लेख संस्कारों के अन्तर्गत नही है। केवल आश्वलायन तथा कौशिक ने अन्त्येष्टि सम्बन्धी विधि बतलाई है। किन्तु वे इसे संस्कार मानते हैं यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। गृह्यसूत्रकार अनेक पर्व आदि का भी अपने ग्रंथों मे उल्लेख करते हैं किन्तु वे उन्हें संस्कार नही मानते। लेखक ने इस शंका के समाधान की भी सफल प्रयास किया है। अन्त्येष्टि के सम्बन्ध में विभिन्न मतों मे जो प्रथा प्रचलित है उसका भी चित्रण प्रस्तुत किया गया है तथा अन्त में जलाने की विधि को सर्वोत्तम सिद्ध किया है। शालादि कर्म, वाणिज्य-विधि, श्रावणी उपाकर्म की विधि तथा ईश्वर-भक्ति के गीतों को संग्रह करके इस ग्रंथ की उपयोगिता को बढा दिया गया है।

संक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि 'संस्कार-चन्द्रिका' अपने नाम को सार्थक करती हुई संस्कारो पर पड़े आवरण को हटा कर उनमे छिपे अर्थों तथा भावों को चन्द्रिका की भाँति जगमगा देती है। समस्त मंत्रो का अर्थ करके लेखक ने अपनी ज्ञानप्रभा को प्रकट किया है। कहीं-कहीं तो अर्थ मे चमत्कार दृष्टिगत होता है। जातकर्म मे 'पुन्छम्' पद का अर्थ 'पुत=पुत्र, शम्=गर्भाशय मे जो सो रहा है—गर्भस्थ सन्तान को' करके लेखक ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इतने पर भी उनका सत्य के प्रति इतना आग्रह रहा कि प्रसूति-गृह के होममंत्रों मे जिस मंत्र का अर्थ बुद्धि मे नही समाया उसके विषय मे स्पष्ट लिख दिया कि शण्डामर्क आदि रोगो के विषय मे हम कुछ नही जानते। सब मिलाकर यही कहा जा सकता है कि संस्कार-विधि पर लिखे ग्रन्थों मे डा० सिद्धान्तालंकार का ग्रन्थ अनुपम, प्रशंसनीय तथा मार्गदर्शक है, इसमे दो राय नही हो सकती।

ब्रह्मचर्य-सन्देश : एक दृष्टि

डा० मनुदेव बन्धु

प्राध्यापक, वेद विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

वैदिक सभ्यता व संस्कृति में चार आश्रम बनाये गये हैं। ये चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नाम से जाने जाते हैं। मानव की औसत आयु १०० वर्ष मानी गई है, ऐसा वेद मे लिखा है तथा सन्ध्या करते समय प्रार्थना करते हैं— 'जीवेम शरदः शतम्' हम सौ वर्ष तक जीयें। इस सौ वर्ष के जीवनकाल को चार भागों मे विभक्त किया गया है। जन्म से २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य काल, २६ से ५० वर्ष तक गृहस्थ का काल, ५१ से ७५ तक वानप्रस्थ का काल और ७६ से १०० वर्ष तक संन्यास का काल माना गया है।

ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण जीवन का आधार है तथा चारो आश्रमों में मुख्य तथा अनिवार्य है। संसार के सभी मनुष्यो को अनिवार्य रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। अन्य तीनों आश्रमों मे प्रवेश स्वेच्छानुसार करना चाहिए परन्तु ब्रह्मचर्य का पालन तो अनिवार्य तथा अत्यावश्यक भी है। ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता के अन्तर्गत इसके मौलिक अर्थ पर भी चिन्तन करना होगा। 'ब्रह्म' का अर्थ वेद, ईश्वर, अन्न तथा वीर्य होता है। 'चर्य' का अर्थ पालन करना है। 'ब्रह्मणि चरतीति ब्रह्मचारी'। ब्रह्म (वेद, ईश्वर, अन्न तथा वीर्य) का पठन, चिन्तन, भक्षण तथा रक्षण करने वाले को ब्रह्मचारी कहते हैं। महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में ब्रह्मचर्य को यम तथा सार्वभौम महाव्रत कहा है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला महाव्रती कहलाता है। पतंजलि आगे लिखते है 'ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः' ब्रह्मचर्य का पूर्णरूपेण पालन करने से अतुल वीर्य का लाभ होता है।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने वीर्य को बिन्दु नाम दिया है तथा साथ मे इसकी महत्ता के सम्बन्ध मे लिखा है—'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्' वीर्य की हानि से मनुष्य मृत्यु की ओर अग्रसर होता है और वीर्य की रक्षा करने से जीवन का सम्वर्धन होता है। वीर्य का निर्माण हमारे शरीर मे सप्तम धातु के रूप मे होता है। हम भोजन करते हैं, भोजन से रस बनता है, चालीस बूंद रस से एक बूंद रक्त बनता है, चालीस बूंद रक्त से एक अंश मांस बनता है, इसी प्रकार मांस से चर्बी बनती है, चर्बी से अस्थि बनती है, अस्थि से मज्जा बनता है और सर्वान्ते सम्पूर्ण धातुओं का सार-तत्त्व वीर्य या शुक्र का निर्माण होता है। यही वीर्य समस्त शरीर का आधारस्तम्भ है। जिसके शरीर मे प्रभूत वीर्य होता है वह ओज व तेज से परिपूर्ण होता है। उसकी आयु बढ़ जाती है। वीर्य का मूल्यांकन हम स्वर्ण और रजत से नही कर सकते।

महर्षि दयानन्द संस्कार-विधि में वीर्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं—"यदि पुरुष के शरीर मे अधिक वीर्य है तो पुत्र होगा और यदि स्त्री मे अधिक आर्त्तव है जो कन्या उत्पन्न होगी।" मानव की उत्पत्ति तथा समस्त प्राणीजगत् की उत्पत्ति इसी वीर्य के द्वारा ही होती है। एक बच्चा पूर्ण युवा होने पर अपने ही समान शिशु को जन्म देने में सक्षम हो जाता है। उसकी जो सन्तान होगी वह अपने उत्पादको के गुणो तथा रंग-रूप को लेकर आती है। वह शिशु अपने माता-पिता की एक प्रतिकृति होता है। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि वीर्य के एक कीटाणु में उस पुरुष की सारी शक्तियाँ समाहित हैं। हम देखते हैं एक वटवृक्ष

का बीज राई के समान सूक्ष्म है, परन्तु उसी बीज मे एक महान् वटवृक्ष बना देने की क्षमता है; क्योंकि वह बीज सम्पूर्ण वट वृक्ष का सारतत्त्व है। अतः हमे कामवासना के द्वारा अभिभूत होकर हस्तमैथुन या गुदा मैथुन से वीर्यपात नही करना चाहिए।

प्रो० सत्यव्रत लिखते हैं, "ब्रह्मचर्य का प्रचलित अर्थ है—जननेन्द्रिय का संयम। परन्तु इसका इतना सीमित अर्थ नही। 'ब्रह्म' का अर्थ है—महान्, 'चर्य' का अर्थ है—गति करना। महानता के लिए गति करना, प्रयत्नशील होना—यह ब्रह्मचर्य का अर्थ है। प्राचीन ऋषि-मुनियों का कहना था कि महान् बनने के लिए इन्द्रियों का संयम आवश्यक है, संयमो में वीर्य रक्षा मुख्य संयम है। जो व्यक्ति देश-सेवा करता हो, उसके लिए वीर्य-रक्षा अत्यन्त आवश्यक है। उसे संयम से रहना चाहिए। प्रत्येक इन्द्रिय को अपने वश मे रखना चाहिए। इन्द्रियों का दास नही होना चाहिए। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि सब विषयों पर विजय पाना चाहिए।"[1]

प्रो० सत्यव्रत अन्यत्र लिखते हैं "हिन्दू-शास्त्रों मे अविवाहित रहने को तो ब्रह्मचर्य कहा ही है, विवाहित व्यक्ति के लिए भी ब्रह्मचर्य का विधान है। स्त्री-पुरुष का संग दो दृष्टियों से हो सकता है : एक काम-वासना से, दूसरे सन्तानोत्पत्ति के लिए। ये दोनों भावनाएँ अलग-अलग हैं। स्त्री-पुरुष का संग सन्तानोत्पत्ति के लिए होना चाहिए, काम-वासना को तृप्त करने के लिए नही। इस प्रकार का विवाहित स्त्री-पुरुष का सन्तानोत्पत्ति के लिए संग विवाहित का ब्रह्मचर्य कहलाता है। इस प्रकार के संग से जो पहली सन्तान होती है उसे 'धर्मज' कहा गया है, वह धर्म की सन्तान है। अन्य सन्तानों को 'कामज' कहा गया है, वे काम भावना से उत्पन्न होती हैं।"[2]

अथर्ववेद मे ब्रह्मचर्य की महत्ता पर लिखा है—

> ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
> अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥—अथर्ववेद ११/५/१८

जब कन्या ब्रह्मचर्याश्रम से पूर्ण विद्या पढ चुके, तब अपनी युवावस्था मे पूर्ण जवान पुरुष को अपना पति बनावे। इसी प्रकार पुरुष भी सुशील धर्मात्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह करके दोनो परस्पर सुख-दुःख मे सहायकारी हों। क्योंकि अनड्वान् अर्थात् पशु भी यदि सम्पूर्ण जवानी पर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् सुनियमो में रखा जाय तो वह अत्यन्त बलवान होके निर्बल जीवों को जीत लेता है।

> ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
> इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥—अथर्ववेद ११/५/१९

ब्रह्मचर्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म-मरण को जीत के मोक्ष-सुख को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य परमेश्वर के नियम में स्थित होके सब लोको का प्रकाश करने वाला हुआ है, वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य से प्रकाशित होके सबको प्रकाशित कर देता है। इससे ब्रह्मचर्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है।

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी थी। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज भारतभूमि के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में 'ब्रह्मचर्य' को क्रियात्मक रूप देने के लिए गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की थी। ऐसे महापुरुष ने इस पुस्तक की भूमिका इसलिए लिखी थी क्योंकि उन्होने पुस्तक

---

१. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, 'सामाजिक विचारों का इतिहास', पृष्ठ २६१

२. वही, पृष्ठ २६२

के महत्त्व को देख लिया था।

ब्रह्मचर्य विषय पर सबसे अधिक प्रामाणिक, सबसे अधिक खोजपूर्ण यही पुस्तक देखने में आई है। भाषा परिमार्जित है, प्रतीत होता है। कोई विज्ञानवेत्ता सांसारिक तत्त्व विवेचना पर व्याख्यान दे रहा है। इस पुस्तक की उपयोगिता इस बात से भी सिद्ध होती है कि यह पुस्तक अंग्रेजी व गुजराती में भी छप चुकी है। अंग्रेजी में 'Confidential Talk to Yougmen' नाम से छपी है। हम चाहते हैं कि प्रत्येक नवयुवा और नवयुवती के हाथ में यह पुस्तक हो।

डा० सत्यव्रत की प्रेरक कृति 'वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व'

डॉ० विनोद चन्द्र सिंह

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्रा० भा० इतिहास विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

वैदिक संस्कृति के वैज्ञानिक विवेचन के लिए डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का उपरोक्त ग्रंथ एक अनुपम प्रयास है। विषय प्रवेश के लिए और विषय की गहन जानकारी के लिए, दोनों ही दृष्टियों से ग्रंथ की जितनी भी प्रशंसा की जाय, कम होगी।

वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्वों को जाननेवालों का यह निश्चित विचार है कि प्राचीन काल में अपने देश को ऋषियो ने जिस मार्ग पर डाला था, उसी के अनुसरण से हमारा और सम्पूर्ण विश्व का कल्याण हो सकता है। डा० सत्यव्रत के शब्दों में, "भारत के भविष्य का निर्माण अगर ऋषि-मुनियों के निर्धारित किये हुए लक्ष्य को सम्मुख रखकर होगा, तो यह देश फिर से संसार का मार्ग-प्रदर्शक बनेगा, फिर से दुनिया का सरताज होगा।" इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हमें वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्वों की खोज करनी होगी। इसमे तो तनिक भी सन्देह नही है कि भारतीय संस्कृति के प्राण वेद और उपनिषद् रहे हैं। गीता का भी कम महत्त्व नही है। वैदिक संस्कृति के पीछे मूलभूत विचार प्रकृति और आत्मतत्त्व का रहा है। जीवन का वही मार्ग सुख देनेवाला है जिसमे मनुष्य संसार को भोगता हुआ भी उसमे लिप्त न हो। त्यागमय भोग ही वैदिक संस्कृति का आदर्श है। वास्तव मे वैदिक संस्कृति यथार्थवादी है। संसार जो कुछ दिखाई देता है वह उसे वैसा मानती है, उसकी सत्ता को पूरी तरह स्वीकार करती है। भोगना और त्यागना इन दोनों सत्यों का सम्मिश्रण संसार की अन्य किसी संस्कृति मे नही है। भोग और त्याग का समन्वय, भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद का मेल केवल वैदिक संस्कृति मे पाया जाता है। डा० सत्यव्रत के अनुसार यही इस संस्कृति का आधारभूत मौलिक विचार है।

विचारों के संघर्ष में वैदिक संस्कृति के दृष्टिकोण को प्रस्तुत ग्रंथ में स्पष्ट करने का प्रयास स्तुत्य है। वैदिक दृष्टि से आर्थिक समस्या मनुष्य की प्रथम समस्या तो है परन्तु अन्तिम समस्या नही है। अध्यात्मवादी वैदिक संस्कृति का दृष्टिकोण यह है कि आर्थिक समस्या के हल हो जाने पर भी मनुष्य की वास्तविक समस्या हल नही हो जाती। मनुष्य इस भौतिक शरीर तक ही सीमित नही। इस मानव शरीर के पीछे उसकी आत्मा है। संसार की वास्तविक सत्ता प्रकृति नहीं, परमात्मा है। जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण वैदिक संस्कृति का है। इस दृष्टिकोण के अनुसार पूँजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद मनुष्य को पशु स्तर पर मानकर उसकी समस्या का हल खोजते हैं। ये तीनों वाद मनुष्य को शरीर मात्र समझते हैं जो एक भ्रामक कल्पना है। पूंजीवाद, समाजवाद और कम्यूनिज्म क्या है? ये भौतिकवादी चट्टानें ही तो हैं जो वैदिक संस्कृति की लहरों को आगे नहीं बढने देती, ये वे दीवारें हैं जिनमें आज हम कैदी की तरह बन्द हैं'''हम जब तक इन भौतिकवादों से बँधे रहेंगे, इनमें कैद रहेंगे, तब तक विश्व-शांति और विश्व-प्रेम का नाम भर लेते रहेंगे, इन्हें प्राप्त नही कर पायेंगे। वैदिक संस्कृति के अध्यात्मवाद का दृष्टिकोण मानव में शरीर की सत्ता को मानकर आगे चलता है।

पंडित जी ने प्रस्तुत ग्रंथ के तीसरे और चौथे अध्याय में निष्काम कर्म और कर्म-सिद्धान्त का सुन्दर विवेचन किया है। अर्जुन और श्रीकृष्ण तो चले गये, परन्तु श्रीकृष्ण ने जिस जादू से अर्जुन की दुविधा, उसके मोह, तथा उसकी कायरता को दूर किया था, वह आज भी गीता के उपदेश के रूप मे मौजूद है। जिस समय किसी में भी दुविधा या कायरता के विचार का उदय हो, उस समय उसे दूर करने वाले निष्काम कर्म के उदात्त विचार की गूँज गीता के पन्ने-पन्ने से उठती हुई सुनाई पड़ सकती है। यह सन्देश वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्वों में एक सबसे महान तत्त्व है। अपने देश के प्रचलित कथानकों के अनुसार मानवदेह चौरासी लाख योनियों के बाद ही मिलता है। अतः उसे पाकर हाथ से यूँही निष्फल जाने देना मूर्खता की पराकाष्ठा है। वैदिक संस्कृति के सभी शास्त्र एक ही स्वर से मनुष्यों को जगा रहे हैं—

उत्तिष्ठित जाग्रत प्राप्य वरान निबोधत।

विद्वान लेखक ने पाँचवें, छठे और सातवें अध्याय में मोटे रूप से आत्म-तत्त्व पर गहन विचार किया है। वे आत्म-तत्त्व को एक यथार्थ सत्ता स्वीकार करते हैं। उपनिषद् ने ठीक कहा है—"जिसके बिना आँखें देख नहीं सकतीं, जिसकी आँख साधन है, जो आँखों द्वारा देखता है वही आत्मा है; जिसके बिना कान सुन नहीं सकते, जिसके कान साधन हैं, जो कानों द्वारा सुनता है वही आत्मा है; जिसके बिना नासिका सूँघ नहीं सकती, जिसके लिए नासिका साधन है, जो नासिका द्वारा सूँघता है वही आत्मा है; जिसके बिना मुख रस ले नहीं सकता, जिसका मुख साधन है, जो मुख द्वारा रस लेता है वही आत्मा है; जिसके बिना त्वचा स्पर्श नही कर सकती, जिसकी त्वचा साधन है, जो त्वचा द्वारा स्पर्श करता है वही आत्मा है; जिसके बिना मन मनन नहीं करता, जिसका मन साधन है, जो मन द्वारा सोच-विचार करता है, वही आत्मा है।" सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से संसार चलता है। इस कथन का अभिप्राय है कि अहंकार आत्म-तत्त्व का साधन है। याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा है कि वास्तव में बाल-बच्चे, स्त्री, परिवार, बिरादरी, समाज, देश और जाति—यह सब कुछ अहंकार का ही विकसित रूप है। किन्तु इस अहंकार के साथ-साथ यदि आत्म-तत्त्व जाग रहा हो तो स्वार्थ, पदार्थ को जन्म देगा। सारा खेल तो स्व का है। वैदिक संस्कृति की घोषणा है कि यह स्वप्रकृति नहीं पुरुष है, दूसरे शब्दों में अहंकार नहीं, आत्म-तत्त्व है। अगले प्रसंग में डा० सत्यव्रत जोरदार शब्दों मे इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि विश्व-बन्धुत्व का आधार आत्म-तत्त्व है। वैदिक आर्यों ने घोषणा की थी—'समंजन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः।'

'जीवन-यात्रा के चार पड़ाव' शीर्षक के अन्तर्गत विद्वान लेखक ने जीवन विषयक दो दृष्टियों—भोग और त्याग का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। विश्व-इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट है कि मानव समाज इन्हीं दो मार्गों में से किसी एक पर चलता आया है। किन्तु वैदिक संस्कृति का दृष्टिकोण भोग और त्याग का समन्वय है। भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, वर्तमान और भविष्य, इन सब पर विचार करते हुए भारत के ऋषियों ने बड़े वैज्ञानिक ढंग पर जीवन का कार्यक्रम बनाया था। यह ब्रह्मचर्याश्रम से आरम्भ होकर, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते हुए संन्यास आश्रम पर समाप्त होता था। अन्तिम आश्रम तक पहुँचते-पहुँचते व्यक्ति मे स्वार्थ की एक तह भी बाकी नही रह जाती थी। वास्तव में वैदिक संस्कृति का मूल उद्देश्य सम्पूर्ण मानव का निर्माण था। इस योजना को सफल बनाने के लिए संस्कारों की पद्धति को प्रचलित किया गया। वैदिक संस्कृति में मनुष्य-जन्म का उद्देश्य शुभ संस्कारों द्वारा आत्म-तत्त्व के मैल को धोना और उसे निखारते जाना है।

वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्वों में जो स्थान चार आश्रमों को है, वही स्थान चार वर्णों को है। वर्ण-व्यवस्था इस संस्कृति की प्राण थी। यह व्यवस्था जाति-व्यवस्था नहीं थी। वास्तव में इसका प्रारम्भ बड़े गहन सिद्धान्तों पर हुआ था। पंडित जी के शब्दों में, "वर्ण-व्यवस्था किन्हीं स्वार्थी ब्राह्मणों के दिमाग की

उपज नहीं थी, यह मानव समाज के उन महान आध्यात्मिक सिद्धान्तों का वर्गीकरण तथा नियमन था जिनके बीच कोई समाज एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकता था।" वर्ण व्यवस्था के रूप में वैदिक संस्कृति ने समाज के आध्यात्मिक दिशा की तरफ विकसित होने के एक महान सिद्धान्त का आविष्कार किया है। आज जो व्यवस्था प्रचलित है वह वर्ण-व्यवस्था का कुत्सित रूप है। यह वह भव्य भवन नहीं है जिसका निर्माण वैदिक संस्कृति ने किया था। वास्तविकता तो यह है कि वर्ण-व्यवस्था के आधार में जो सजीव तत्त्व हैं वे ही मानव समाज की समस्याओं का यथार्थ और अन्तिम हल हैं।

आर्थिक समस्या के प्रति वैदिक संस्कृति के दृष्टिकोण को समझाते हुए डा० सत्यव्रत सि[illegible]न्तालंकार ने लिखा है कि वैदिक सामाजिक व्यवस्था के प्रवर्तक इस बात को तो स्वीकार करते थे [illegible]ाजिक व्यवहार के लिए आवश्यक है किन्तु उन्होंने ऐसा सामाजिक संगठन किया था, जिसके फ[illegible]स से होने वाले अनर्थ हट जाते थे। वर्ण-व्यवस्था की रचना में मुख्य आधार यही था। वैदिक संस्कृति में पैसा पैदा करने वालों को समाज में तीसरा स्थान दिया गया था। यह पैसे का सामाजिक अवमूल्यन था। प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था मे पैसा जोड़ने की जगह पैसा छोड़ने का महत्त्व था। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वैदिक संस्कृति भौतिकवाद से अपरिचित थी। सच्चाई तो यह है कि अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का जैसा समन्वय भारतीय संस्कृति मे पाया जाता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है अध्यात्मवाद के जिन पांच तत्त्वों पर विशेष जोर दिया गया, वे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं।

अन्त मे विद्वान लेखक का कथन है कि वैदिक संस्कृति कभी जीवित संस्कृति थी। आज आवश्यकता उसके पुनर्निर्माण की है। तभी हम पुनः जगतगुरु कहलाने के अधिकारी हो सकेंगे।

पंडित जी ने निष्कर्ष निकालते हुए लिखा है, कि वैदिक संस्कृति के जिन मूल तत्त्वों का इस पुस्तक में विवेचन किया है, वे एक हजार साल से फिर पनपने की, प्राणवान् होने की बाट जोह रहे हैं। भौतिकवादी चकाचौंध मे आज हम अपने मार्ग से भटक गये हैं। साहस बटोरकर हमे अपने प्राचीन आदर्शों का अनुसरण करना होगा। तभी हमारा, अपने देश का तथा विश्व का कल्याण सम्भव है।

सत्य की खोज : पंडित सत्यव्रत की महनीय रचना

डा० अमरनाथ पाण्डेय
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार द्वारा विरचित 'सत्य की खोज' पुस्तक को पढ़ने का अवसर मिला। श्री सिद्धान्तालंकार ने अपने जीवन में सत्य के जिन पक्षों का साक्षात्कार किया है, उन्हें बड़ी स्पष्टता से इस रचना मे प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक महान् व्यक्ति का अपना मार्ग होता है, क्योंकि उसकी परिस्थितियाँ अपनी होती हैं। वह अपनी परिस्थितियों के अनुसार मार्ग का निर्माण करता है और इस प्रकार निर्मित मार्ग अत्यन्त आकर्षक एवं सत्यनिष्ठ होता है। इस प्रकार के मार्ग की समीक्षा होनी चाहिए और देखना चाहिए कि किस प्रकार साधक अपने मार्ग पर चलकर किसी लक्ष्य तक पहुँचता है। उपन्यास आदि में जो कल्पनाएँ रहती हैं, वे सुदृढ़ आधार नहीं तैयार कर सकतीं। पाठक के मन में एक प्रकार का कुतूहल अवश्य उत्पन्न होता है, किन्तु जिस आस्था की अपेक्षा है, वह उन्मीलित नहीं हो पाती। प्रस्तुत कृति में कल्पना के लिए कोई स्थान नही है। श्री सिद्धान्तालंकार एक साधक के रूप में अपने जीवन मे साक्षात्कृत तत्त्वों के आधार पर भारतीय ऋक्थ की मीमांसा करते हैं। उन्होंने अपने जीवन में जो कुछ देखा है, समझा है और जिसे कल्याणमय माना है, उसे प्रस्तुत करने का यथाशक्ति प्रयास किया है। इस सृष्टि में जो श्रेयस् और तात्त्विक है, उसकी समीचीन व्याख्या इस रचना में मिलती है। परम तत्त्व, अध्यात्म, कर्म, त्याग आदि के सम्बन्ध में जो रहस्य हमारे साहित्य में मिलता है, उसकी विशद अवतारणा यहाँ की गयी है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सिद्धान्तालंकार जी ने जिस शैली का आश्रय लिया है, वह उनकी अपनी शैली है और प्रसन्नता का विषय है कि अत्यन्त गूढ़ विषयों को भी स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया गया है। यहाँ दो दृष्टियो से अनुशीलन अपेक्षित है। एक बात तो यह है कि परम तत्त्व आदि का स्वरूप क्या है और उनको किन रूपों में हमारे ऋषियों और आचार्यों ने देखा है और दूसरी यह है कि श्री सिद्धान्तालंकार की दृष्टि में भारतीयों के लिए क्या आदर्श है और उसकी प्राप्ति किस प्रकार की जाय। एक विस्तृत वाङ्मय से परम स्पृहणीय तत्त्वों का संकलन किया गया है, जिनका साक्षात्कार मानव के कल्याण के लिए अत्यधिक अपेक्षित है।

श्री सिद्धान्तालंकार गुरुकुल के छात्र रहे हैं। उन्होंने गुरुकुल के जिस रूप को देखा है और आज उसके जिस रूप को देख रहे हैं, उसमे महान् अन्तर है। वे वर्तमान स्थिति से दुःखित हैं और इसीलिए उन्होंने शिक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। वे स्वामी दयानन्द के जीवन के प्रेरक प्रसंगों की समीक्षा करते हैं और गुरुकुल के सम्बन्ध मे अपनी विचारधारा भी प्रस्तुत करते हैं। उनके मन में गुरुकुल के स्वरूप के सम्बन्ध में कल्पनाएँ हैं। वे चाहते हैं कि गुरुकुल का निर्माण सिद्धान्तों के आधार पर हो। गुरुकुल के छात्रों के सम्बन्ध में लेखक की अपनी मान्यताएँ हैं। ब्रह्मचारियों के जीवन का निर्माण किस प्रकार हो, उनके लिए क्या अपेक्षाएं हैं—इस प्रश्नों को ध्यान मे रखते हुए एक सुविमृष्ट पद्धति निर्दिशित की गयी है।

इतिहास हमारे सम्मुख है। हमें अपने इतिहास को देखना है और अपने देश को भी। इतिहास से हम सीखते हैं और यहाँ आवश्यक है कि इतिहास के सन्दर्भों की मीमांसा करके देश के लिए उपयोगी परम्पराओं का

आश्रय लें, जिससे हम सुन्दर देश का निर्माण कर सकें। विश्व के इतिहास में किस प्रकार विभिन्न स्थितियाँ उत्पन्न होती रही हैं और कैसे समाज प्रभावित हुआ है तथा दूषित परम्पराओं का उन्मूलन किया गया है— इस प्रकार के अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों पर लेखक का ध्यान केन्द्रित रहा है। इतिहास-दर्शन के विषय में अनेक तथ्य सामने आते हैं। श्री सिद्धान्तालंकार ने सभी स्थूल क्रियाओं के कारक तत्त्वों की बड़ी सूक्ष्म परीक्षा की है और कहीं भी ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उन्होंने अनपेक्षित निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया है। उनके विवेचन से यह प्रकट होता है कि उन्होंने सर्वत्र निर्विवाद मान्यताओं का आश्रय लिया है और उन्हीं के आधार पर निर्गलित रहस्यों की उपस्थापना की है। उन्होंने देखा है कि मनुष्य एक स्वस्थ शरीर और स्वच्छ मन के द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है। उनके सामने ऐसे अनेक निदर्शन रहे हैं, जिनसे उनकी विचारधारा प्रभावित होती रही है। इस कृति से यह बात सामने आती है कि लेखक ने परिस्थितियों को सूक्ष्म दृष्टि से देखा है, उनके कारण उसके मन पर कैसे आघात-प्रतिघात पड़ते रहे हैं और उसने किस प्रकार उन परिस्थितियों में अपनी जीवन-पद्धति का निर्माण किया है।

श्री सिद्धान्तालंकार के मित्र चाहते थे कि उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जाय। आजकल प्रकाशित होने वाले अभिनन्दन-ग्रन्थों के सम्बन्ध में सिद्धान्तालंकार जी के अपने विचार हैं। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक के विचार अनेक दृष्टियों से अत्यन्त समीचीन हैं। उन्होंने स्वयं अभिनन्दन-ग्रन्थ के सम्बन्ध में एक सुन्दर रूपरेखा बनायी है और उसके अनुसार ग्रंथ का निर्माण किया है। 'सत्य की खोज' में जीवन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया गया है और साथ ही लेखक ने अपनी जीवन-यात्रा का भी संक्षेप में उपनिबन्धन किया है। लेखक का व्यक्तिगत जीवन और उससे सम्बद्ध अनेक सार्वजनीन सिद्धान्तों का स्वरूप इस ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है और ऐसा प्रतीत होता है, जैसे लेखक का जीवन भी एक सिद्धान्त की विविध भंगिमाओं से मण्डित हो गया है। श्री सिद्धान्तालंकार प्रशंसा के पात्र हैं, क्योंकि उन्होंने अभिनन्दन-ग्रन्थ का एक प्रशस्त स्वरूप निर्धारित किया है, जिसके अनुसार निर्मित साहित्य अभिनन्दनीय होगा। इस प्रक्रिया में प्रकट होती है लेखक की निःस्पृहता और साथ ही सिद्धान्तों के प्रति उसका समर्पण। मनुष्य अपनी साधना से किस प्रकार विघ्नों को दूर कर अपने अभीष्ट की प्राप्ति करता है—इसकी सुन्दर पद्धति इस कृति में प्रदर्शित की गयी है। इस रचना की बहुत बड़ी उपलब्धि यह है कि कहीं भी लेखक ने अपलाप नहीं किया है। जो कुछ प्रतिपादित किया है, वह स्पष्ट है और पाठक को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। अनेक स्थलों पर ऐसा सुन्दर विवेचन मिलता है कि मन बार-बार उसी ओर खिंच जाता है।

एक आदर्श जीवन की कामना मानव-मन में है। यह जीवन अनायास उपलब्ध नहीं हो सकता। इसके लिए आवश्यक होता है कि अनभीष्ट का परित्याग किया जाय तथा श्रेयस्कर का वरण किया जाय। यह सामान्य रूप से सम्भव नहीं होता। इसका अनुष्ठान आस्था और दृढ़ मन से ही हो सकता है। आदर्श जीवन को देखकर विस्मय होता है और आनन्द मिलता है, किन्तु जिस साधना के कारण वह बनता है, वह कठिन है। लेखक ने दोनों स्थितियों का उपन्यास किया है—एक आदर्श जीवन का चित्र भी प्रस्तुत किया है और वहाँ तक पहुँचाने वाली साधना का स्वरूप भी।

श्री सिद्धान्तालंकार की रचना 'सत्य की खोज' एक ऐसी विशिष्ट रचना है, जो संस्कृत वाङ्मय में निगूढ़ रहस्य का उन्मीलन करती है और महनीय जीवन का स्वरूप प्रस्तुत करती है। श्री सिद्धान्तालंकार ने इस रचना के द्वारा हिन्दी-जगत् का उपकार किया है, अतः अभिनन्दनीय हैं।

आर्यसमाज : साहित्यिक परिदृश्य

(गुरुकुल विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित प्रसार व्याख्यान माला)

आर्यसमाज—उपलब्धियाँ, सीमाएँ और अपेक्षाएँ

डा० भवानीलाल भारतीय
आचार्य एवं अध्यक्ष, दयानन्द चेयर, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

प्रास्ताविक

यह बहुत ही सुखद बात है कि गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी व्याख्यान-माला का समारम्भ कर रहा है। अपने गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती से आलोक पाकर देश और समाज को अज्ञान की कंदराओं से निकालने के लिए स्वामीजी ने पाखंड-खण्डिनी पताका फहराई। संस्कृत के उद्‌भट विद्वान होते हुए भी हिन्दी को लेखन का आधार बनाकर वह सामान्य जनजीवन के साथ जुड़े। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश से ससार मे अभूतपूर्व वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। सत्यार्थप्रकाश का प्रथम मुद्रण १८७५ तथा द्वितीय संस्करण १८८४ में हुआ। इस दूसरी आवृत्ति का महत्त्व इस बात से भी है कि इस सस्करण की भाषा अधिक प्रांजल और टकसाली है तथा आधुनिक हिन्दी-लेखन का मार्ग इसने प्रशस्त किया है। पुरानी सधुक्कडी हिन्दी को नया वैचारिक क्षितिज देकर स्वामीजी ने यह सिद्ध कर दिया कि वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की विविध वैचारिक सरणियों का उच्चतर अध्ययन-अध्यापन और चिंतन-मनन हिन्दी मे हो सकता है। वह हिन्दी को आर्यभाषा कहते थे। मादाम ब्लावत्स्की को लिखे एक पत्र मे स्वामीजी ने स्पष्ट संकेत दिया था कि वह जिस पत्र का उत्तर उनसे चाहें, उसको नागरी लिपि मे लिखवाकर उनके पास भेजा करे।

भारतीयता और राष्ट्रीयता का पांचजन्य उन्होंने बजाया। वह भारतीय नवजागरण के अग्रदूत थे तथा समाजसुधार, शिक्षा, औद्योगिक तथा वैज्ञानिक उन्नति और स्वतन्त्रता की उन्होने सर्वप्रथम कल्पना की थी। यही कारण था कि उन्होंने धर्म व्यवस्था, आदर्श राज्य व्यवस्था, स्वतन्त्रता तथा समानता, समाज व्यवस्था तथा सर्वांगीण शिक्षा व्यवस्था पर अपने मौलिक तथा उपादेय विचार व्यक्त किए। सत्यार्थप्रकाश एक खण्डन-मण्डनात्मक ग्रंथ ही नही है, उसमे मनु आदि धर्मशास्त्रकारों का युगानुरूप नवीन भाष्य प्रस्तुत किया गया है। वह आधुनिक मनु की ऐसी विधि तथा आचार सहिता है जिसमें देश, काल, जाति, वर्ण, वर्ग तथा अलगाववाद से ऊपर उठे हुए मानवमात्र के लौकिक तथा पारलौकिक अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्ति का विधान बताया गया है। आत्मिक तथा भौतिक उन्नति का ऐसा संतुलित उपाय इतने विशद वैचारिक और व्यावहारिक स्तर पर महर्षि से पूर्व किसी समाजसुधारक तथा युगद्रष्टा ने नही दिया था।

स्वामीजी का निर्वाण ३० अक्टूबर १८८३ को हुआ। उनके निर्वाण को सौ वर्ष हो गए। इस लम्बे अन्तराल मे देश ने कई उतार-चढ़ाव देखे और आज जिन विस्फोटक एवं विषम परिस्थितियों मे देश खडा हुआ है, उनसे मानवधर्म, लोकतंत्र, सामाजिक समानता, सामूहिक अभ्युदय और लोकजीवन के उत्कर्ष से सम्बन्धित मूल्यों को खतरा पैदा हो गया है। अतः इन जटिल समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में स्वामीजी के कार्य का पुनर्मूल्याकन होना चाहिए। आशा है, इस व्याख्यानमाला के प्रसंग से देश के अनुभवी-विशेषज्ञ विद्वान् ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के अनुदान का अनेक विचार-बिन्दुओ से अध्ययन-मनन करेंगे तथा ऋषि के विचारसूत्रों के

पल्लवन द्वारा वर्तमान समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करेंगे। मुझे विश्वास है कि इस भाषणमाला से ऋषि दयानन्द के बहुमुखी और विराट् व्यक्तित्व के विविध पहलू उजागर होंगे। आर्यसमाज के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान डॉ० भवानीलाल भारतीय का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने व्याख्यानमाला का अपने व्याख्यानो द्वारा शुभारम्भ कर महर्षि को अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि समर्पित की है।

बलभद्र कुमार हूजा
कुलपति

उन्नीसवीं शताब्दी का युग हमारे इतिहास मे विशिष्ट महत्त्व का है। इस काल मे यूरोपीय जातियो के भारत मे आगमन के कारण उत्पन्न हुई परिस्थितियों का पूर्ण लेखा-जोखा हमारे इतिहासकारो ने लिया है और बहुत विचार के पश्चात् इसे नवजागरण का युग कहा है। वस्तुतः मध्यकालीन परिस्थितियो ने हमारे धर्म, समाज तथा राष्ट्रीय जीवनधारा को इतना विकृत, दूषित तथा हीन बना दिया था कि एक बार तो उससे उबारना सर्वथा अशक्य नहीं तो कठिन अवश्य प्रतीत होने लगा। धर्म और उपासना के क्षेत्र मे वैदिक एकेश्वरवाद तथा उपनिषद् प्रतिपादित ब्रह्मवाद की तो बात ही दूर रही, पुराणोक्त अवतारवाद तथा बहुदेववाद के सिद्धान्त भी केवल ग्रंथों में ही रह गये और उनके स्थान पर हनुमान और भैरव, शीतला और चामुण्डा, मकबरे और मजार, श्मशान और समाधिस्थल, नदी और वृक्ष, पशु और पक्षी पूजा और आराधना के पात्र बन गये। सामाजिक क्षेत्र में कट्टरता, अनुदारता तथा संकीर्ण भावों का प्रचलन हुआ जिसके परिणामस्वरूप नारी को पर्दे में रखना, उनका बाल्यकाल में ही विवाह करना, विधवाओं का उत्पीडन मृत पति के साथ उसकी विधवा को जबरदस्ती चिता पर भस्म कर देना, जन्म के साथ ही कन्याओ का वध कर देना आदि अनेक कुप्रथाएँ जन्म ले चुकी थीं। बगाल में कुलीन प्रथा के कारण अपने आपको आभिजात्य वर्ग का ब्राह्मण मानने वाले लोग अनेक स्त्रियों से विवाह कर लेते थे, पुनः जीवन-भर उन निर्दोष बालाओं के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध रखना भी उनके लिए कठिन हो जाता था, तथापि वे स्त्रियाँ अपने पति के जीवित रहते ही कौमार्य अथवा वैधव्य की-सी स्थिति में रहने के लिए विवश हो जाती थी।

श्रम के वर्गीकरण तथा मनुष्य की वैयक्तिक योग्यता एवं अभिरुचि के स्वस्थ आधार पर बनाई गई वर्ण व्यवस्था सर्वथा नष्ट हो चुकी थी। इसके स्थान पर भारत का बृहत् हिन्दू समाज नाना जातियों, उपजातियों, शाखा-प्रशाखाओं तथा वर्गों में विभक्त होकर हतवीर्य, नष्टप्राय तथा नामशेष हो रहा था। मध्यकालीन संकीर्ण चिन्तन ने हमारे समाज मे अछूत, अन्त्यज तथा दलित कहलाने वाली उन अनेक जातियों को भी जन्म दिया था जिनसे भोजन अथवा वैवाहिक सम्बन्ध रखना तो दूर, उनके निकट सम्पर्क में आने, एक ही स्थान पर उनके पास बैठने, उनके हाथ की दी हुई वस्तु को खाने से भी पापलिप्त होने की आशंका की जाती थी। इधर मुसलमानों के सम्पर्क ने हमारी कूपमण्डूकता की प्रवृत्ति को अधिकाधिक बढ़ाया, क्योंकि हम यह मानने लगे थे कि अन्य मतावलम्बियो के स्पर्श-दोष से हमारा भोजन, निवास, यहाँ तक कि हमारा शरीर भी दूषित हो सकता है।

ईसाई जातियों के भारत आगमन ने हमारे देश में परिवर्तन की एक नवीन दिशा दिखलाई। इनके माध्यम से हमें समकालीन योरप की गतिविधियों की जानकारी मिली। औद्योगिक उन्नति के कारण यूरोप तथा अमेरिका आदि पश्चिमी देशों में परिवर्तन की जो लहर उत्पन्न हुई थी, उसे मध्यकालीन परम्पराओं और

रूढ़ियों को ढोने वाली यूरोपीय जातियाँ भी विस्मय-विमुग्ध होकर देख रही थी। नवीन ज्ञान एव विज्ञान ने मानवी चिन्तन को अंधविश्वास, परम्परानुपालन तथा रूढिवाद से मुक्त किया और उसे सोचने-विचारने तथा बुद्धि एवं तर्कप्रवण बनाने मे नवीन आयाम प्रदान किये। रेल, तार, डाक आदि के आविष्कारों ने देशों की भौगोलिक सीमाओं को कम किया और प्राच्य तथा पाश्चात्य जातियों का परस्पर सवाद होने लगा।

नवजागरण के आन्दोलनों मे आर्यसमाज का आन्दोलन सर्वप्रमुख है। यो तो नव-जागृति की लहर राजा राममोहन राय के स्फूर्तिदायी व्यक्तित्व के कारण सर्वप्रथम बंगाल मे उत्पन्न हो चुकी थी, किन्तु उसकी व्याप्ति केवल बंग देश तक ही सीमित रही। राममोहन राय ने अपने विशाल अध्ययन, उदार दृष्टि तथा लोकहित के व्यापक चिन्तन के कारण देश और समाज मे परिवर्तन को गति प्रदान की। तथापि पश्चिमी आदर्शों के प्रति अत्यधिक प्रशसा एवं सभ्रम के दृष्टिकोण के कारण वे अपने आन्दोलन को राष्ट्रीयता की उस सुदृढ भूमि पर प्रतिष्ठित नही कर पाये, जो आगे चलकर स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज को प्राप्त हो सकी। राममोहन राय ने धर्म और समाज के क्षेत्र मे सुधार, परिष्कार और परिवर्तन को पूर्ण रूप से अपनाने पर भी राष्ट्रहित का कोई ऐसा व्यापक आधार ढूँढने मे सफलता प्राप्त नही की, जिसके कारण सम्पूर्ण जनमानस को चेतना-सम्पन्न बनाना सम्भव होता। उनकी दृष्टि मे भारत पर अंग्रेजो का राज्य एक दैवी वरदान ही था और वे आने वाले युगो तक इस राज्य की स्थिरता और दृढता को देखने के इच्छुक थे।

श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर को सामाजिक परिवर्तन का साधन बनाने का वैसा अवसर भी नही मिला जो उनके पूर्ववर्ती राजा राममोहन राय को प्राप्त हुआ था। यह अवश्य है कि वैदिक एकेश्वरवाद तथा औपनिषदिक ब्रह्मवाद को ब्राह्म पूजा पद्धति मे सर्वोपरि महत्त्व देकर उन्होने हिन्दू धर्म मे व्याप्त बहुदेवोपासना, जड पूजा तथा अपदेवताओं की अर्चना जैसे अन्धविश्वासों को धक्का दिया। परन्तु केशवचन्द्रसेन ने अपने पूर्ववर्ती ब्राह्म नेताओ के किये-कराये पर पानी फेर दिया जब कि उन्होने ईसाई मान्यताओं, ईसाई विश्वासो तथा ईसाई ढग की पूजा-पद्धति की श्रेष्ठता एवं वरेण्यता का प्रतिपादन कर भारतीय हिन्दू धर्म की अस्मिता को ही ठेस नही पहुँचाई, उस पादरी वर्ग में प्रसन्नता की एक लहर भी उत्पन्न कर दी जो हिन्दू धर्म की इस परोक्ष आलोचना को देखकर गद्‌गद हो रहे थे।

यों तो विदेशी शक्तियो ने इस देश में प्रारम्भ मे ही अपने वाणिज्य और व्यवसाय की स्थापना कर अपनी जड़ो को मजबूत किया था, किन्तु उनकी शक्ति में अधिक अभिवृद्धि उस समय हुई जबकि अपने उद्योग, व्यवसाय और व्यापार को सर्वथा सुरक्षित तथा स्थायी बनाने के लिए उन्होने सैन्य शक्ति जोडनी आरम्भ की। व्यापारिक प्रतिष्ठानो की रक्षा के लिए एकत्रित यह सेना कालान्तर मे इस देश की सिक्ख, मराठा, राजपूत, मुसलमान, गोरखा जैसी जातियो को उनके शक्ति स्रोतों से पृथक कर किस प्रकार सम्पूर्ण देश को ही दास बना लेगी, यह इतिहास की एक स्मरणीय किन्तु शिक्षाप्रद घटना है जो हमे बताती है कि फिरंगियों पर विश्वास करके हमारे पूर्वजो ने कैसी भूल की थी। परन्तु बात केवल राजनैतिक पराधीनता की ही नहीं है। यदि अंग्रेज लोग केवल हमें पराजित करके ही संतोष कर लेते और अपनी ईसाइयत एवं तज्जन्य संस्कृति तथा जीवन-पद्धति को हम पर थोपने का प्रयास नही करते तो सम्भवतः हम उन्हे यहाँ से निकालने में इतनी जल्दबाजी नही करते। परन्तु लार्ड मैकाले ने अपनी शिक्षा नीति का प्रचलन कर मानो हमे यह संकेत दे दिया कि उस पद्धति से शिक्षित लोग गोरे शासकों और उनके अधीन रहने वाले करोडों शासितो के बीच मध्यस्थ का कार्य करेंगे। यहाँ तक ही नही, इसी शिक्षा नीति को सफल बना कर वे काली चमडी वाले हिन्दुस्तानियों को आचार, विचार, खानपान तथा चिन्तन की दृष्टि से गोरा अंग्रेज बनाकर ही दम लेगे।

इधर तो पश्चिमी शिक्षा तथा यूरोपीय भावधारा मे दीक्षित भारत का नवयुवा वर्ग बेतहाशा पश्चिम का अंधानुकरण करने लगा, और उधर ईसाई प्रचारकों के कूट जाल मे फँस कर हमारे देश का अबोध, अशिक्षित तथा अंधविश्वासों के पंक मे आकण्ठ मग्न साधारण वर्ग अपनी आस्थाओ से मुँह मोड़ कर ईसाई

बनने में ही अपना त्राण देखने लगा। सर्वश्री माईकेल मधुसूदनदत्त, नीलकण्ठ शास्त्री, रामचन्द्रबोस तथा पण्डिता रमाबाई आदि पठित वर्ग के भारतीय तो ईसाइयों द्वारा की गई हिन्दू धर्म की आलोचना का उत्तर देने में सर्वथा अक्षम ही थे, अतः उन्हें स्वधर्म का परित्याग कर ईसाइयत को स्वीकार करने में किञ्चित विलम्ब भी नहीं हुआ। दूसरी ओर, अपने धर्म के मौलिक तत्त्वों से अपरिचित साधारण वर्ग के लोगों के द्वारा ईसाई प्रचारकों के आक्रमणों का उत्तर देना तो और भी कठिन हो रहा था।

कुछ इसी प्रकार की परिस्थितियों में गुजरात देशोत्पन्न एक चतुर्थाश्रमी दयानन्द सरस्वती ने सामान्यतः समस्त प्राणियों के हित और विशेषतः स्वदेश-वासियों की अधोगति को दूर करने की दृष्टि से एक प्रबल आन्दोलन की आधारशिला बम्बई महानगर में १० अप्रैल १८७५ को रखी और उसे आर्यसमाज का नाम दिया। स्वामी दयानन्द के विचारानुसार संसार की सर्वाधिक प्राचीन, पूर्ण सभ्य तथा नाना प्रकार के आध्यात्मिक, दार्शनिक तथा भौतिक उपलब्धियों के सर्वोच्च सोपान पर प्रतिष्ठित आर्य जाति के आदर्शों की यदि पुनः स्थापना का प्रयास किया जाय और आर्य सभ्यता, संस्कृति एवं चिन्तन के आधारभूत वेदों की शिक्षाओं का पुनः प्रचलन किया जाय तो आर्यावर्त देश अपनी लुप्त परम्पराओं और गौरव को एक बार फिर प्राप्त कर सकेगा और आर्यावर्त की उन्नति ही अवशिष्ट संसार की उन्नति का कारण बनेगी। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की थी। इस प्रबल आन्दोलन को जन्म देने के पश्चात् वे मात्र आठ वर्षों तक ही जीवित रहे थे, किन्तु इसी अल्पावधि में उन्होंने अपने महान् तेजस्वी व्यक्तित्व, अपार संकल्पबल तथा अपरिमित प्रज्ञा के द्वारा इस समाज को ऐसी राह पर डाल दिया, जिससे कि आगामी आधी शताब्दी तक वह इस देश की धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय प्रगति का पूर्ण पर्याय बन गया। यहाँ संक्षेप मे आर्यसमाज की उन उपलब्धियों तथा सफलताओं की चर्चा आवश्यक है जो उसने अपने शताधिक वर्षों के जीवन-काल में अर्जित की है।

सर्वप्रथम हमे धार्मिक क्षेत्र मे आर्यसमाज की उपलब्धियों का विवेचन करना है। हम देख चुके हैं कि स्वामी दयानन्द के आविर्भाव काल मे हिन्दू समाज में प्रचलित पूजा-उपासना की प्रणाली अत्यन्त विकृत हो चुकी थी। सच्चिदानन्दादि लक्षणो से युक्त परमात्मा के स्थान पर नाना देवी-देवता, जड़ मूर्तियाँ, नदी, पर्वत, वृक्ष आदि हमारे आराध्य देवो का स्थान ले चुके थे। आर्यसमाज ने बताया कि चेतन एवं प्रज्ञावान् मनुष्य के लिए जड़ पदार्थों की पूजा श्रेयस्कर नही है। इसी प्रकार आर्यसमाज ने सच्चे धर्म का स्वरूप-निरूपण करते हुए यह स्पष्ट किया कि वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता है और यह धर्म धर्मी से सर्वथा अपृथक रहता है। आर्यसमाज ने धर्म की उसी परिभाषा को मान्यता प्रदान की जो प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा स्वीकृत एव अनुमोदित है। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद के अनुसार धर्म वह तत्त्व है जिससे मनुष्य अपनी इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति करता है। दूसरे शब्दों मे मनुष्य की आध्यात्मिक भावनाओं के विकास के साथ-साथ उसका लौकिक उत्थान भी धर्म-साधना का लक्ष्य है। महर्षि मनु ने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध को धर्म का लक्षण घोषित किया, किन्तु साथ ही यह भी कह दिया कि आचार ही मनुष्य का परम धर्म है। स्वामी दयानन्द के विचारानुसार सत्य, न्याय, पक्षपात-रहित तथा वेदाज्ञा के अनुकूल आचरण ही धर्म है। इस प्रकार विभिन्न परिभाषाओं को प्रस्तुत करने के अनन्तर आर्यसमाज ने यह स्पष्ट कर दिया कि धर्म के जो मूलभूत तत्त्व हैं उन्हें स्वीकार करने मे किसी भी देश, वर्ग या समाज के लोगों को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह सार्वभौम, सार्वकालिक तथा सार्वजनीन धर्म ही मनुष्य मात्र के लिए आचरणीय है। सत्य, अहिंसा, करुणा, सर्वभूतहित, विश्वबन्धुत्व आदि धर्म के वे मूल तत्त्व हैं, जिन्हें स्वीकार करने में किसी भी व्यक्ति को कोई विप्रतिपत्ति नही है।

इसके साथ ही आर्यसमाज ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि आज संसार में धर्म के नाम पर जो नाना प्रकार के पाखण्ड, अनाचार, ढोंग तथा रूढ़िबद्ध कर्मकाण्ड आदि प्रचलित हैं, उन्हें धर्म कहना उचित नही है।

यह अत्यन्त संतोष का विषय है कि आर्यसमाज द्वारा प्रदत्त धर्म की इस मौलिक किन्तु व्यापक परिभाषा को सभी विचारशील एवं प्रबुद्ध लोगो ने स्वीकार किया है। जिन मतो एवं सम्प्रदायो मे धर्म के नाम पर नाना प्रकार के अंधविश्वास, मिथ्या कर्मकाण्ड तथा अनर्थक कर्म प्रचलित थे, उन मतो के अनुयायियों ने भी आर्य-समाज के धर्म-विषयक मन्तव्य की गुरुता को अनुभव करते हुए अपने सम्प्रदाय-तन्त्र मे पर्याप्त परिशोधन एवं सुधार कर लिए हैं। स्वर्ग, नरक, परलोक आदि के सम्बन्ध मे जो अवैज्ञानिक धारणाएँ प्रचलित हो चुकी थी, आज उनका मूलोच्छेद भी हो चुका है। अतः यह कहने मे हमे किसी प्रकार का संकोच नही होना चाहिए कि आर्यसमाज ने मनुष्य के मनुष्यत्व को धर्म का पर्याय बताते हुए उसके कर्त्तव्य कर्मों को ही धर्म कहकर एतद्-विषयक सारे भ्रमों का परिहार कर दिया है।

आर्यसमाज ने धर्म का वास्तविक रूप निर्णीत करने के पश्चात् उस धर्म को जानने के लिए वेदरूपी प्रदीप का परिचय अखिल मानव जाति को कराया। जो लोग वेदो को प्रमाण मानते भी थे, उन्हे भी वेद के वास्तविक स्वरूप, उसकी उत्पत्ति, उसके प्रतिपाद्य विषयों आदि का सम्यक् ज्ञान नही था। यह विडम्बना ही थी कि वेदों को सारे शास्त्रों का मूलाधार एव परम प्रमाण मानने वाले भारत के आचार्य और सम्प्रदाय भी वेदों की विषयवस्तु तथा वैदिक वाङ्मय की परिसीमा के वास्तविक ज्ञान से अनभिज्ञ थे। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने इस सम्बन्ध मे नाना युक्तिया एवं प्रमाण आदि देकर वैदिक ज्ञान की आवश्यकता, उपयोगिता, महत्ता तथा सार्वभौमता का प्रतिपादन किया। साथ ही उन्होने यह भी बताया कि वेदो के वास्तविक अर्थ करने की प्रक्रिया कौन-सी है? यह एक इतिहाससम्मत तथ्य है कि आर्यसमाज ने वैदिक ज्ञान के पुनरुद्धार तथा उसके प्रचार के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है उसकी महत्ता को निष्पक्ष व्यक्तियों ने स्वीकार भी किया है। वेदों के अध्ययन-अध्यापन, प्रचार-प्रसार तथा इन ग्रन्थो पर भाष्य, टीका, व्याख्या, विवेचना आदि के लेखन मे आर्यसमाज के विद्वानों ने सार्थक श्रम किया है।

वेदों के प्रामाण्य के सिद्धान्त को शास्त्रीय तथा तर्कपूर्ण शैली मे प्रस्तुत करने के साथ-साथ आर्यसमाज का आर्षग्रन्थ-प्रमाणवाद का सिद्धान्त भी भारत के धार्मिक एवं दार्शनिक जगत् मे एक क्रान्तिकारी उद्घोष है। इस मन्तव्य के प्रचार के द्वारा आर्यसमाज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी ग्रन्थ का केवल सस्कृत मे लिखा जाना अथवा किसी मत-सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थो की श्रेणी मे आ जाना ही पर्याप्त नही है। देखना यह होगा कि क्या इस ग्रन्थ मे निरूपित बाते बुद्धिवाद, तर्क तथा सृष्टिक्रम के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल। यदि किसी धर्म-ग्रन्थ कही जाने वाली पुस्तक मे मानवी चिन्तन को कुण्ठित करने वाली, मानव समाज मे विषमता, विरोध तथा वैमत्य का प्रचार करने वाली बातें लिखी हैं तो ऐसे ग्रन्थो को अनार्ष मानकर उनका बहिष्कार ही किया जाना चाहिए। इसी प्रसग मे आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने यह स्पष्ट किया कि विमल मेधा के धनी, पुरातन ऋषियों की लेखनी से निकला साहित्य ही आर्ष-सञ्ज्ञायुक्त है, क्योकि इन ग्रन्थों मे विवेचित बाते बुद्धि तथा विज्ञान के सर्वथा अनुकूल है तथा इनसे मनुष्य अपने चिन्तन का विकास कर सकता है। इस प्रकार वेदो तथा परवर्ती आर्ष साहित्य को प्रमाण कोटि मे रखकर आर्यसमाज ने हमारे शास्त्रीय वाङ्मय का जैसा विवेकपूर्ण विश्लेषण किया है, वह धार्मिक जगत् में एक अभूतपूर्व उपलब्धि ही मानी जाएगी।

आर्यसमाज ने धर्म में आचार-पक्ष को महत्त्व दिया है। इस दृष्टि से पंचमहायज्ञों का नित्य करना, अष्टांग योग की विधि से साधनापूर्वक योगाभ्यास तथा आश्रममर्यादा को स्वीकार करते हुए जीवनयापन, यह आर्यसमाज द्वारा प्रतिपादित धर्म का क्रियात्मक पहलू है। पंचमहायज्ञों मे ईश्वर, अग्नि आदि जड़ देवता, माता, पिता, पितामह आदि पितृगण, अतिथि तथा क्षुद्र जीवजंतुओं के सम्बन्ध में मनुष्य के कर्त्तव्यों का विधि-विधान बताया गया है। प्रकारान्तर से यों तो सभी मतावलम्बी उपर्युक्त यज्ञों का पालन और आचरण करते हैं, किन्तु मन्वादि स्मृतिकारों द्वारा प्रतिपादित शास्त्रीय विधि से पंच यज्ञो की पद्धति का निर्धारण कर आर्यसमाज ने मानव जाति का असीम उपकार किया है। इसी प्रकार यम-नियमादि योगांगो का सेवन करते हुए धारणा,

ध्यान और समाधि रूपी संयम की साधना करने से जिस योग की सिद्धि एवं कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति होती है, वही मनुष्य का परम-पुरुषार्थ है।

आर्यसमाज ने आश्रम धर्म का जिस रूप में निरूपण किया वह शरीरशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त, श्रेयस्कर तथा मानव-जीवन के लिए अत्यन्त हितकारी है। यह बात नहीं है कि आर्यसमाज के पूर्व आश्रम प्रणाली का विधान था ही नही। आश्रम व्यवस्था के समस्त नियम स्मृतिकारों तथा धर्मशास्त्रकारों ने विस्तार से वर्णित किए हैं, किन्तु उनकी वैज्ञानिक व्याख्या एवं स्वरूप-विवेचना अत्यन्त सतर्क ढंग से आर्यसमाज ने की है। उसने ब्रह्मचर्य साधना के लिए प्राचीन गुरुकुल प्रणाली की शिक्षा जारी की, जहाँ रहकर छात्र अपने गुरुजनों के सान्निध्य मे विद्योपार्जन करता है। इन गुरुकुलों में उसे केवल पुस्तकीय ज्ञान ही नही सिखलाया जाता, अपितु यहाँ शरीर, मन, आत्मा और बुद्धि का समुचित विकास करने के साधन भी प्रस्तुत किए जाते हैं। गृहस्थ के कर्त्तव्य कर्मों को भी सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित प्रणाली से निभाने के लिए आर्यसमाज ने सदा ही प्रेरणा दी है। उसका दृष्टिकोण मध्यकाल की श्रमण-संस्कृति तथा जैन, बौद्ध विचार-धारा से नितान्त भिन्न रहा है, जिसमे गृहस्थ जीवन को हेय दृष्टि से देखा गया है तथा वैराग्यप्रधान भिक्षु जीवन को ही मानव का आदर्श बताया गया है। आर्यसमाज ने मनु के शब्दो मे यह स्पष्ट घोषित किया कि जिस प्रकार नदियाँ और नाले सागर मे जाकर स्थिरता एवं शान्ति प्राप्त करते है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी, वनस्थ एवं संन्यस्त जन भी स्वजीवन निर्वाह के लिए गृहस्थियों के ही नजदीक जाते है। इसी प्रकार वाणप्रस्थ व्यवस्था को पुनरुज्जीवित करने तथा संन्यासी वर्ग मे प्रचलित पाखण्डों और रूढ़ कर्मकाण्ड के आचरणो को पृथक् कर लोकहित की दृष्टि से सर्वत्र भ्रमण करते हुए पारमार्थिक सिद्धि को प्राप्त करना ही सन्यासाश्रमी का लक्ष्य निर्धारित करना आर्यसमाज के एतद्विषयक स्वस्थ चिन्तन का परिचायक है।

आर्यसमाज वैयक्तिक हित की ही भाँति सामाजिक हित को भी महत्त्व देता है। उसने अपने दसवे नियम में यह स्पष्ट कर दिया है कि सामाजिक तथा सर्वहित के नियमो को पालने मे हमे अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता का किंचित् परित्याग तो करना ही होगा। वैदिक दृष्टिकोण को आधारबिन्दु बनाकर आर्यसमाज ने वर्ण-व्यवस्था को समाज के सन्तुलित विकास का महत्त्वपूर्ण साधन माना है। आज हम देखते हैं कि वर्णव्यवस्था पर नाना प्रकार के आरोप-प्रत्यारोप लगाये जाते हैं। कभी उसे सामाजिक वैषम्य का प्रतीक कहा जाता है तो कभी ब्राह्मणों की अधिनायक मनोवृत्ति का सूचक। इन आरोपो मे अधिक सत्यता नही है। पुराकालीन भारतीय ऋषियों ने समाज के सार्वत्रिक विकास के लिए श्रम-विभाजन-पूर्वक व्यक्ति के योगदान की दृष्टि से ही वर्ण-व्यवस्था की कल्पना की थी।

इस योजना में अज्ञान एवं अविद्या को निर्मूल कर मानव जाति को ज्ञानालोक से प्रकाशित करने का दायित्व ब्राह्मणो का माना गया है। अन्याय और अत्याचार के प्रतिरोध हेतु सन्नद्ध रहने की अपेक्षा क्षत्रिय से की गई है। समाज को भौतिक अभावों से मुक्त कर उसके जीवन को आवश्यक वस्तुओं से परिपूर्ण रखने का दायित्व वैश्यों को सौंपा गया है। किन्तु शूद्र समाज की लांछना एवं तिरस्कार का पात्र नही है। वह अपनी शारीरिक शक्ति के द्वारा अन्य वर्णस्थों की सेवा द्वारा ही स्वजीविका का उपार्जन करता है। इस प्रकार आर्य-समाज ने वर्ण-व्यवस्था को एक तर्कसंगत तथा बुद्धिग्राह्य आधार प्रदान किया है। तथापि जन्मगत जातियों के जटिल जाल से हिन्दू समाज को मुक्त कर उसे गुण, कर्म पर आधारित सुसंगत वर्ण-व्यवस्था में ढाल देना एक कठिन कार्य है। इस क्षेत्र में बहुत कुछ करने पर भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि अभी हमारी गति बहुत धीमी रही है। अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देने पर भी यह ध्यान रखना होगा कि विवाह के लिए जिन जोड़ों का मिलान कराया जाय, वे गुण, कर्म, स्वभाव, अभिरुचि तथा शरीर, मन तथा बुद्धि के विकास की दृष्टि से एक-दूसरे के सर्वथा अनुकूल हों।

आर्यसमाज ने नारी जागरण के क्षेत्र में बहुत मूल्यवान कार्य किया है। उस युग की कल्पना कीजिए

जब कि नारी पुरुष समाज द्वारा लांछना, प्रताड़ना, शोषण तथा अपमान का ही पात्र समझी जाती थी। समान अधिकार दिए जाने की बात तो दूर रही, घर में उसका रहना भी अशुभ एवं अमंगल का सूचक माना जाता था। कन्याओं का जन्म होते ही उनका वध कर दिया जाता था और उधर विधवा नारी का दर्शन ही अकल्याण का प्रतीक बन गया था। ऐसी स्थिति में नारी के सर्वतोमुखी कल्याण के लिए प्रयास करना तथा उसमें सफलता पा लेना आर्यसमाज की एक महती उपलब्धि ही कही जायेगी। आर्यसमाज ने नारी के उत्थान के लिए जो कार्यक्रम बनाया उसमें वैदिक और उपनिषद्‌कालीन नारी के आदर्श को सामने रखा गया था। आर्यसमाज की यह मान्यता रही है कि अत्यन्त पुरातन काल में नारी को महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त रही और वह समाज के सभी वर्गों के आदर तथा सम्मान की पात्र थी। मनुस्मृति का वह श्लोक प्रायः इस संदर्भ में उद्धृत किया जाता है जिसमें यह कहा गया है कि जहाँ नारियों की पूजा अर्थात् सम्मान होता है वहाँ देवता निवास करते हैं। यह सत्य है कि मध्यकालीन स्मृति ग्रन्थों तथा धर्मशास्त्र के निबंध-ग्रन्थों में नारी के पद की वह गुरुता और महत्ता सुरक्षित नहीं रह सकी जो उसे वैदिक काल में प्राप्त थी। तथापि आर्यसमाज का यह प्रयत्न रहा कि वह नारी को उसके गौरवपूर्ण पद पर पुनः प्रतिष्ठित करे और समाज में उसे आदर का स्थान दिलाये।

इसी संदर्भ में हमें आर्यसमाज द्वारा किये गये सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन के उस कार्य का भी जायजा लेना होगा जिसके कारण नारी का शोषण, अपमान तथा उत्पीड़न बन्द हो सका है। इस प्रसंग में बाल-विवाह का उन्मूलन, वृद्ध एवं अनमेल विवाहों के विरोध में जनमानस को प्रबुद्ध करना, पर्दे की प्रथा का बहिष्कार, नारी शिक्षा को प्रोत्साहित करना, विधवाओं के पुनर्विवाह को शास्त्रसम्मत ठहराना, दहेज तथा विवाहों में अपव्यय आदि पर रोक लगाने आदि कार्यों को लिया जा सकता है।

दलितोद्धार तथा अस्पृश्यता का निवारण आर्यसमाज की सामाजिक क्रान्ति के ध्वजवाहक रहे हैं। आर्यसमाज मानव समुदाय की एकता का पक्षपोषक रहा है। उसकी दृष्टि में जन्म, रंग, प्रान्त, देश, लिंग आदि के आधार पर भेदभाव की जो रेखाएँ उभर आई हैं, वे सर्वथा कृत्रिम हैं तथा मानव समाज की उन्नति में बाधक भी हैं। इस दृष्टिबिन्दु को सामने रखकर आर्यसमाज ने अस्पृश्यता की भावना को दूर करने तथा दलित एवं अछूत समझी जाने वाली जातियों के उद्धार का कार्यक्रम बनाया। कालान्तर में देश के स्वतन्त्रता प्राप्त करने तथा भारत के संविधान में देश के सभी नागरिकों को समान अधिकार दिए जाने के परिणाम-स्वरूप पठित वर्ग में अस्पृश्यता तथा पारस्परिक भेदभाव की बुराई कुछ सीमा तक कम तो हुई, किन्तु कट्टर एवं संकीर्ण विचारों के लोगों में से इस विकृति को सर्वथा दूर करना सम्भव नहीं हो सका। तथापि आर्यसमाज के एतद्‌विषयक प्रयत्नों का महत्त्व कम नहीं होता। आर्यसमाज ने आर्थिक अथवा राजनैतिक संरक्षण देकर दलित जातियों को यथास्थिति में रखने का कभी समर्थन नहीं किया। उसकी तो यह धारणा रही है प्रत्येक वर्ग को शिक्षा, संस्कार तथा सदाचार की दृष्टि से उन्नत बनने का अवसर मिलना ही चाहिए। इस शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में दलित जातियों में पाई जाने वाली अनेक कुरीतियों का उन्मूलन करने के लिए आर्य-समाज ने श्लाघनीय प्रयास किया था। इसी का यह परिणाम हुआ कि इस वर्ग के अनेक बालक आर्यसमाज द्वारा संचालित गुरुकुलों में अध्ययनार्थ प्रविष्ट हुए। वहाँ से अपना अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् उन्होंने अपना जीवन जिस ढंग से व्यतीत किया उससे यह सिद्ध हो गया कि आर्यसमाज जात-पाँत का भेदभाव किए बिना प्रत्येक बालक को सदाचारी, सुशिक्षित तथा संस्कारशील बनाने के लिए कृतसंकल्प है। इस प्रकार भारतीय समाज को विषमता, पार्थक्य तथा भेदभाव के वात्याचक्र से मुक्त कर स्वतन्त्रता, समता तथा बंधुत्व का स्वस्थ वातावरण प्रदान करना आर्यसमाज का प्रमुख लक्ष्य रहा है।

यहाँ तक हमने आर्यसमाज द्वारा धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में किये गये क्रान्तिकारी कार्यों का मूल्यांकन करने का प्रयास किया। परन्तु यह ध्यान रखना होगा कि आर्यसमाज का मानवजीवन के प्रति

दृष्टिकोण समग्रता का है। उसने धर्म, दर्शन और अध्यात्म की ही भाँति सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में भी स्वस्थ चिंतन प्रदान किया है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने विदेशियों द्वारा किए जाने वाले देश के आर्थिक शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने पदे-पदे यह अनुभव किया था कि जब तक परकीय शासन समाप्त नहीं हो जाता तब तक स्वदेशवासियों को न तो भर पेट खाने के लिए रोटी ही मिलेगी और न वे अपनी उन्नति ही कर पायेंगे। इसी दृष्टि से स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में शासकों द्वारा लागू किये गये उन कारणों की कठोर आलोचना की है जो इस देश के दरिद्र वर्ग का शोषण करते हैं। नमक उत्पादन पर लगाये गये कर, वनों में पैदा होने वाली घास, लकड़ी तथा अन्य वस्तुओ को वहाँ से लाकर बेचने वाले गरीब लकड़हारों पर लगाये गये कर, अदालतों मे लागू की गई स्टाम्प ड्यूटी आदि के बारे मे स्वामीजी ने अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से अपने विचार व्यक्त किए हैं तथा शासक वर्ग से अपील की है कि वह दरिद्र वर्ग का शोषण बन्द करे। उन्होंने कृषि कर्म की प्रशंसा करते हुए किसान को राजाओं का भी अन्नदाता बताया और श्रमिक वर्ग के उत्थान को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया।

गोरक्षा तथा अन्य उपयोगी पशुओ के संरक्षण, संवर्धन को वे देश की आर्थिक उन्नति का एक सुदृढ़ उपाय मानते थे। गोरक्षा के प्रश्न को उन्होने विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से ही देखा था। भावुकता का किंचित मात्र भी आश्रय लिये बिना उन्होने निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया कि गाय की रक्षा तथा गोधन की वृद्धि देश की आर्थिक उन्नति की रीढ़ है। गोधन का विनाश राष्ट्र का विनाश है। गोरक्षा की दयानन्द प्रतिपादित नीति का अनुसरण करते हुए कालान्तर में आर्यसमाज ने गोसंवर्धन तथा गोसंरक्षण की अनेक महत्त्वाकांक्षी योजनाएँ क्रियान्वित की। यह एक विडम्बना ही थी कि भारत के संविधान मे गो आदि उपयोगी पशुओ की रक्षा को सुनिश्चित बनाने के लिए विभिन्न धाराओं का समावेश किए जाने पर भी कतिपय कारणो से गोवंश का उत्तरोत्तर ह्रास ही होता गया। परिवर्तित परिस्थितियों में इस समस्या का हल मात्र आन्दोलन चलाने से होने वाला नहीं है। विशुद्ध आर्थिक आधार पर गोरक्षा के महत्त्व को प्रतिपादित करने से ही इस समस्या में निहित साम्प्रदायिकता की मनोवृत्ति का उन्मूलन किया जा सकता है। स्वामी दयानन्द को भी गोरक्षा का आर्थिक पहलू ही वजनदार प्रतीत हुआ था।

प्राय: यह कहा जाता है कि आर्यसमाज ने धर्म एवं समाज के क्षेत्रों में तो यत्किंचित कार्य किया है परन्तु देश को द्रुत गति से समुन्नत बनाने तथा देशवासियों के समक्ष उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयों का संतोषपूर्ण समाधान निकालना उसके वश के बाहर है। इस कथन मे आंशिक सत्यता तो हो सकती है, किन्तु पूर्ण सत्यता नहीं। प्रथम तो आर्यसमाज का यह दृष्टिकोण रहा है कि भारत का प्रमुख हिन्दू-समाज यदि अपनी धार्मिक विकृतियों को छोड़कर धर्म के स्वस्थ और लोकोन्नति में सहायक रूप को समझ लेता है तथा तदनुकूल आचरण करने के लिए तत्पर हो जाता है तो उसकी लौकिक एवं आर्थिक उन्नति भी सुनिश्चित है। इसी प्रकार उसकी यह भी धारणा है कि सामाजिक दृष्टि से सुसंगठित हुए तथा सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन किए बिना समाज के आर्थिक विकास का आधार ही तैयार नहीं होता।

तथापि आर्यसमाज ने यह अनुभव किया कि देश को विविध कला-कौशल, उद्योग-धंधो तथा व्यापार-व्यवसाय की दृष्टि से भी समृद्ध बनाना आवश्यक है। स्वामी दयानन्द ने अपने जीवनकाल मे ही जर्मनी के प्रो० वाइज से पत्रव्यवहार कर उनसे प्रार्थना की थी कि वे इस देश के नवयुवकों को वहाँ रहकर कला-कौशल तथा नाना प्रकार के उद्योग-व्यवसायों मे प्रशिक्षित होने की सुविधा प्रदान करें। इसी प्रकार आर्यसमाज द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं में भी छात्रो को नाना प्रकार के कुटीर उद्योगों तथा लघु कुटीर उद्योगों की शिक्षा दी जाती रही। ये सब इस बात के प्रतीक हैं कि आर्यसमाज का मानवी समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक, रचनात्मक तथा समग्र रहा है। आर्यसमाज की अतीत काल में प्राप्त उपलब्धियों का एक महत्त्वपूर्ण कारण भी यही था कि उसने मानवी विकास के सभी पहलुओं को स्पर्श किया था।

भारतीय राष्ट्रवाद के विकास मे आर्यसमाज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक दयानन्द सरस्वती ने सर्वप्रथम स्वराज्य का नारा दिया तथा यह घोषित किया कि स्वदेशी राज्य सर्वोपरि उत्तम होता है, किन्तु विदेशियों का राज्य, चाहे माता-पिता के समान हितकारी ही क्यो न हो, हमारे लिए कभी काम्य नहीं हो सकता। आर्यसमाज ने राष्ट्रीयता का नारा उस समय बुलन्द किया जब कि राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का जातकर्म भी नहीं हुआ था। जिस समय कांग्रेस के अधिवेशनो मे महारानी विक्टोरिया की दीर्घायु-कामना के प्रस्ताव स्वीकृत होते थे और विदेशी शासन से भारतीयो को प्रशासन सेवाओं मे अधिक स्थान दिए जाने की प्रार्थनाएँ की जाती थी, उस समय आर्यसमाज के व्याख्यान-मचो से स्वराज्य, स्वाधीनता और स्वदेशी का गौरव-गान किया जाता था। स्वदेशी वस्तुओ के उपयोग के लिए स्वामी दयानन्द ने अपने सम्पर्क मे आने वाले भक्तों और शिष्यों को सदा प्रेरणा दी थी। लाहौर आर्यसमाज के प्रथम प्रधान लाला मूलराज तथा मत्री लाला सांईदास स्वदेशी वस्त्रो तथा स्वदेश मे बनी वस्तुओ के प्रयोग के कट्टर समर्थक थे।

स्वामी दयानन्द प्रतिपादित राष्ट्रवाद का ही यह परिणाम था कि कालान्तर मे मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने के लिए श्यामजी कृष्ण वर्मा ने लंदन मे इण्डिया हाउस की स्थापना की तथा विनायक दामोदर सावरकर, लाला हरदयाल, मदनलाल धीगड़ा जैसे क्रान्तिकारियों को स्वाधीनता-यज्ञ मे आत्माहुति देने की प्रेरणा मिली। जब यही क्रान्तिकारी विचारधारा भारत मे फैली तो सरदार भगतसिंह, रामप्रसाद बिस्मिल, सोहनलाल पाठक, गेंदालाल दीक्षित, ठाकुर रोशनसिंह आदि न जाने कितने आर्यसमाजियो ने उसमे दीक्षा ली और देश को स्वतन्त्र कराने के लिए आत्मबलिदान किया। स्वाधीनता के इस सग्राम मे आर्यसमाज का निर्णायक योगदान रहा है।

इसी प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय, भाई परमानन्द आदि देशभक्तो का प्रेरणा-स्रोत भी आर्यसमाज ही रहा है। महात्मा गाधी जिस समय दक्षिण अफ्रीका मे अपने सत्याग्रह सग्राम को सफलतापूर्वक चलाने के पश्चात् भारत आये तो यहाँ आर्यसमाजो मे व्याप्त राष्ट्रीय भावनाओ को देखकर उन्हे बड़ी प्रसन्नता हुई थी। १९२०, ३०, ३२ तथा ४२ के सभी आन्दोलनो मे आर्यसमाजियों ने सहस्रों की सख्या मे भाग लिया तथा असहयोग, सविनय अवज्ञा, नमक आन्दोलन तथा भारत छोडो आदि आन्दोलनो मे कारागार की यात्राएँ की। आर्यसमाज की राष्ट्रीय भावना के प्रति अग्रेजी सरकार सदा से शंकाशील रही। ब्रिटिश सरकार का गुप्तचर विभाग आर्यसमाज की कार्यपद्धति तथा उसकी प्रचार-प्रणाली को बहुत गहराई से देखता था। आगे चलकर पटियाला राज्य मे आर्यसमाजियो पर सरकार के खिलाफ षड्यन्त्र करने का आरोप लगाकर मुकद्दमा चलाया गया। महात्मा मुशीराम ने इस अभियोग मे आर्यसमाज का पक्ष लेकर यह सिद्ध किया कि स्वामी दयानन्द के मन्तव्यों मे राष्ट्र के प्रति त्याग एवं समर्पण का भाव तो सर्वत्र विद्यमान है, अतः आर्यसमाजियो का राष्ट्रधर्म मे दीक्षित होना न तो अपराध ही है और न पाप। आज इतिहास इस तथ्य को पूर्ण रूप से स्वीकार कर चुका है कि भारत के स्वतंत्रता-संग्राम मे आर्यसमाज का संस्थागत योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान रहा है।

स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने मे अपना उल्लेखनीय सहयोग दिया है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने अपनी सूक्ष्मदर्शिता से यह अनुभव कर लिया था कि जब तक भारतवासी हिन्दी को अपनी सामान्य सम्पर्क-भाषा स्वीकार नही कर लेगे और विचारो के आदान-प्रदान के लिए विदेशी भाषा पर ही निर्भर रहेगे तब तक उनमे सच्ची राष्ट्रीयता का विकास नही होगा। इसलिए स्वामी जी ने स्वयं तो अपने विचारों के आदान-प्रदान के लिए हिन्दी का प्रयोग किया ही, अपने अनुयायियों को भी आदेश दिया कि वे अपने पारस्परिक विचार-व्यवहार मे आर्यभाषा का प्रयोग करें। इसका परिणाम यह निकला कि आर्यसमाज के माध्यम से जो साहित्य प्रणीत हुआ उससे हिन्दी के ज्ञानमूलक तथा रसात्मक—दोनों प्रकार के वाङ्मय की अभूतपूर्व अभिवृद्धि हुई। हिन्दी पत्रकारिता को आर्यसमाज ने एक नवीन आयाम

दिया। हिन्दी प्रचार का यह कार्य इस देश की सीमाओं तक ही आबद्ध नहीं रहा। अफ्रीका, मारिशस, फीजी, गायना, सुरीनाम आदि विदेशी उपनिवेशों मे बसने वाले भारतवासियों मे हिन्दी का प्रचार करने का श्रेय भी आर्यसमाज को ही है। आर्यसमाज का हिन्दी से भी अधिक सम्बन्ध संस्कृत भाषा से है। स्वामी दयानन्द स्वयं संस्कृत के प्रौढ़ विद्वान थे। उपदेशक काल के प्रारम्भिक दिनो में वे संस्कृत को ही अपने विचार-विनिमय तथा शास्त्र-चर्चा का माध्यम बनाते रहे। उनकी अधिकांश ग्रन्थ-रचना भी संस्कृत मे हुई है। इस प्रकार संस्कृत के महत्त्व को पुनः प्रतिपादित कर आर्यसमाज ने यह सिद्ध कर दिया कि नवजागरण की प्रेरणा के लिए संस्कृत भाषा और साहित्य का पुनरुद्धार अत्यन्त आवश्यक है।

आर्यसमाज ने शिक्षा के क्षेत्र मे जो सफलता अर्जित की है वह तो भारतीय शिक्षा-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय ही बन चुका है। स्वामी दयानंद स्वयं एक सफल शिक्षाशास्त्री थे। शिक्षा-विषयक उन्होंने अपने सूत्रों को सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, व्यवहारभानु, संस्कृतवाक्यप्रबोध तथा वेदभाष्य मे यत्र-तत्र कही विस्तारपूर्वक, तो कही सक्षेप मे सकलित किया है। आगे चलकर आर्यसमाज ने डी० ए० बी० शिक्षा संस्थाओं तथा गुरुकुल पद्धति के द्वारा भारत मे राष्ट्रीय शिक्षा नीति का प्रवर्त्तन किया।

स्वामी दयानन्द अनुभव करते थे कि भारत की शिक्षा नीति में संस्कृत तथा हिन्दी जैसी भाषाओं को प्रमुख स्थान मिलना चाहिए। उन्होंने स्वय अपने जीवनकाल मे अनेक शिक्षण संस्थाये प्रारम्भ की परन्तु जब अनुभव किया कि इनसे यथेष्ठ लाभ नही हो रहा है तो उन्हे बंद करना ही उचित समझा। स्वामी दयानन्द प्रतिपादित शिक्षा-प्रणाली मे गुरु-शिष्य के निकट-सम्बन्धों पर सर्वाधिक बल दिया गया है। साथ ही शिक्षा का आदर्श चरित्रनिर्माण को माना गया है। उनकी धारणा थी कि विदेशी माध्यम से दी गई शिक्षा अधिक लाभकारी नही हो सकती। स्वामी दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट इसी सूत्र को लेकर गुरुकुल काँगड़ी मे स्नातक स्तर की विज्ञान की शिक्षा को मातृभाषा के माध्यम से देने की व्यवस्था तो आज से ६०-७० वर्ष पूर्व ही की जा चुकी थी। आर्यसमाज ने जिस शिक्षा-प्रणाली को प्रवर्तित किया उसमे धनी एव दरिद्र की सन्तान के साथ तुल्य व्यवहार करने तथा पठन-पाठन में उन्हें एक-सी सुविधायें देने की बात कही गई है। सर्वोपरि बात तो यह है कि इस शिक्षा-पद्धति में शिक्षित छात्र आगे चलकर राष्ट्र का एक प्रबुद्ध नागरिक तो बनता ही है उसमे राष्ट्रीय गौरव, स्वाभिमान तथा स्वदेश-भक्ति के भावो का भी समुचित विकास होता है। इधर कन्या-शिक्षा के क्षेत्र में नवीन क्रान्ति उपस्थित कर आर्यसमाज ने यह स्पष्ट घोषित कर दिया कि समाज के अर्द्धांग नारी को अपने सर्वांगीण विकास के सभी साधन प्राप्त करने के पूर्ण अधिकार है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि धर्म, समाज, सस्कृति, स्वदेश तथा स्वभाषा — इन सभी क्षेत्रों में नवमूल्यों की स्थापना कर आर्यसमाज न मुख्यतः भारतवर्ष और गौणतः विश्व के प्रबुद्ध मानव वर्ग मे एक नवीन वैचारिक क्रान्ति का आरम्भ किया और उसमे उसे पूर्ण सफलता भी मिली।

इस प्रकार आर्यसमाज की विगतकालीन उपलब्धियो का विवेचन करने के पश्चात् हमे यह देखना होगा कि आधी शताब्दी से भी अधिक समय तक पूर्ण सक्रिय रहने के पश्चात् आर्यसमाज के आन्दोलन में शैथिल्य, हताशा और दिग्मूढ़ता का समावेश क्यो और कैसे हुआ। सर्वप्रथम हम धार्मिक क्षेत्र को ही लें। स्वामी दयानन्द ने धर्म को बुद्धिवाद पर आश्रित रखने पर जोर दिया था। उनका आग्रह था कि धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य आदि का निर्धारण करते समय हमे अपनी बुद्धि को काम मे लेना चाहिए। कोई वस्तु इसलिए श्रेष्ठ नही हो जाती क्योंकि वह परम्परा से हमें प्राप्त है और न कोई अन्य वस्तु इसीलिए अग्राह्य होती है, क्योकि वह नवीन है। विचारपूर्वक निर्णय करने के पश्चात् ही हमे धर्माधर्म का निश्चय करना होगा। स्वामी दयानन्द के इस बुद्धिवाद को स्वीकार करने मे लोगों को कोई कठिनाई नही हुई। परन्तु आज हम देखते हैं कि धर्म के नाम पर पाखण्ड, अंधविश्वास, मूढ़ धारणाएँ तथा गुरुडम बढ़ रहा है। अब तक तो हम अपठित और अज्ञानी लोगों पर ही यह आक्षेप लगाते थे कि वे अंधविश्वासी होते हैं, किन्तु अब तो पठित एवं प्रबुद्ध लोग भी

अंधविश्वासों के शिकार हो रहे हैं। नये-नये बाबाओं, योगिराजों और भगवानों का प्रादुर्भाव यह सिद्ध कर रहा है कि आर्यसमाज का तर्काश्रित धर्म और बुद्धिवाद से प्रबोधित मतवाद लोगों को अस्वीकार्य है। यह सब देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यसमाज के प्रभाव में दिन-प्रतिदिन क्षीणता आ रही है अथवा इस आन्दोलन की सक्रियता, उग्रता तथा तेजस्विता में निश्चय ही न्यूनता आ गई है।

परन्तु हमें उन मनोवैज्ञानिक कारणों को भी ढूँढना होगा जो धर्म के क्षेत्र में आर्यसमाज की वर्तमान-कालीन असफलता के हेतु हो सकते हैं। प्रथम तो यह कहा जा सकता है कि आर्यसमाज ने धर्म के नाम पर चलने वाले पाखण्डों, आडम्बरों तथा रूढिवाद का खण्डन करने में तो अपनी प्रबल शक्ति लगा दी, परन्तु उसने यह चिन्ता नहीं की कि धर्म तथा उपासना के वास्तविक स्वरूप तथा उसको आचरण में लाने की विधि को भी जनता तक पहुँचाया जाये। आध्यात्मिक और पारलौकिक चिन्तन चाहे कितना ही महत्त्वपूर्ण और उपयोगी क्यों न हो, उसके साधनों में भी कुछ ऐसा आकर्षण होना चाहिए जिससे कि मनुष्य सहज भाव से उसकी ओर आकृष्ट हो सके। आर्यसमाज ने साकारोपासना, प्रतीक पूजा, पौत्तलिक उपासना आदि का खण्डन तो किया किन्तु भावप्रवण निराकारोपासना की किसी विधि को वह प्रचलित नहीं कर सका, जिसकी ओर आकृष्ट होकर उपासकों और साधकों का समूह दौड़ कर आये। आर्यसमाज की वैयक्तिक और सामूहिक उपासनाएँ शुष्क, नीरस तथा दिखाऊ रह गईं।

एक और कठिनाई भी थी। आर्यसमाजों के उपासना-स्थलों का रख-रखाव, उनकी साजसज्जा तथा व्यवस्था में ऐसा कोई आकर्षण नहीं था, जिसके कारण बहुसंख्यक लोग उसकी ओर आकृष्ट होते। संगीत के माध्यम से मनुष्य की मनोवृत्तियों का निग्रह और परिष्कार तो होता ही है वह उसकी एकतानता का भी कारण बनता है। यही कारण है कि प्रत्येक धार्मिक उपासना-प्रणाली में संगीत को समुचित स्थान दिया जाता है। पौराणिकों के भजन-गान और आरती-पाठ, ईसाइयों का भक्ति-संगीत, सूफी कव्वालों की वे कव्वालियाँ जो 'इश्क हकीकी' को भावप्रवण शैली से उजागर करती है तथा सिक्ख रागियों द्वारा गाई जाने वाली गुरुबानी—ये सभी धार्मिक संगीत के ही विभिन्न रूप हैं, जो भक्त समाज को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। आर्यसमाज में संगीत पर आधारित कोई ऐसी उपासना-प्रणाली विकसित नहीं हो सकी। आर्यसमाज के प्रारम्भिक दिनों में तो अमीचंद मेहता, वासुदेव, चन्द्र कवि तथा इसी कोटि के अन्य गायकों, कवियों तथा संगीतज्ञों ने अपनी रचनाओं के द्वारा आर्यसमाज में भक्ति-संगीत की सरिता को प्रवाहित किया था, किन्तु कालान्तर में वह कई कारणों से अवरुद्ध हो गई।

आजकल योग-साधना की ओर अधिकाधिक लोगों का आकर्षण बढ़ता जा रहा है। माँग के अनुसार ही पातञ्जल योग से भिन्न अनेक प्रकार के साम्प्रदायिक योग-प्रशिक्षण-केन्द्र भी खुलते जाते हैं। महेश योगी की अतीन्द्रिय ध्यानपद्धति, रजनीश का भोग-मिश्रित योग, ब्रह्माकुमारियों का त्राटक आधारित राजयोग और न जाने कौन-कौनसी नवीन योग-पद्धतियाँ प्रचलित हो चुकी हैं, जो विशाल मानव-समूह को निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट कर रही हैं। आर्यसमाज तो महर्षि पतञ्जलि द्वारा उपदिष्ट उस राजयोग का समर्थक है जिसे ईश्वर-प्रणिधान तथा अष्टांग-साधना के द्वारा सिद्ध किया जाता है। यों विगतकाल में स्वामी लक्ष्मणानन्द, महात्मा नारायण स्वामी, स्वामी ओमानन्दतीर्थ आदि अनेक योगियों ने स्वसाधना के द्वारा आर्यसमाज में रहते हुए योगमार्ग का अनुशासन और उपदेश किया था, किन्तु आज आवश्यकता इस बात की है कि योग के प्रति बढ़ते हुए आकर्षण को देखते हुए आर्यसमाज को योग-साधना के वास्तविक स्वरूप तथा क्रियापद्धति से लोगों को परिचित कराना चाहिए।

परन्तु धार्मिक विचारों का ठोस तथा प्रभावशाली प्रचार तो साहित्य के द्वारा होता है। स्वामी दयानन्द ने स्वयं साहित्य के माध्यम से धार्मिक जगत् में जो वैचारिक क्रान्ति की, उसका दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है। आर्यसमाज के प्रारम्भिक दिनों में भी अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना के द्वारा स्वामी दयानन्द

के धर्म-विषयक विचारों को प्रसारित किया गया। परन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् आर्यसमाज के साहित्य-प्रणयन के क्षेत्र में गतिरोध आ गया। साहित्य का लेखन और प्रकाशन भी पाठक-समुदाय की योग्यता, क्षमता एवं रुचि को देखकर किया जाना चाहिए। सामान्य जनों के लिए जो साहित्य लिखा जाता है वह प्रबुद्ध लोगों के लिए उपयोगी नहीं होता। इसी प्रकार बालकों, स्त्रियों, कृषकों, मजदूरों, श्रमजीवियों, छात्रों आदि विविध वर्गों के लिए विविध प्रकार का साहित्य लिखा जाना आवश्यक है।

हमें यह स्मरण रखना होगा कि आर्यसमाज का धर्मान्दोलन वेदों तथा तदनुवर्ती आर्ष शास्त्र-ग्रन्थों में निर्दिष्ट शिक्षाओं, उपदेशों तथा प्रतिपाद्य विषयों को आधार बना कर चला था। आज वैदिक वाङ्मय की विविध विधाओं तथा उसके आनुषंगिक अंगो एवं उपांगों का विशद वैज्ञानिक अध्ययन विभिन्न भारतीय तथा विदेशी विश्वविद्यालयों में हो रहा है। अतः आर्यसमाज का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपना एक स्वतंत्र शोध-संस्थान स्थापित करे तथा उसके माध्यम से स्वामी दयानन्द के दृष्टिकोण को प्रमुखता देते हुए वेद, वेदांग, दर्शन, प्राचीन इतिहास आदि विषयों के ग्रन्थों का लेखन एवं सम्पादन कराये। सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रश्नों एवं समस्याओं में अत्यधिक उलझ जाने के कारण आर्यसमाज के विद्वानो का वैदुष्य तथा उनके चिन्तन की प्रमुखता अभी तक विद्वत्समाज तक पहुँच नही पाई है। यही कारण है कि बौद्धिक समाज आर्यसमाज के प्रति प्रायः उदासीन-सा रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्यसमाज का धर्मान्दोलन आज अनेक प्रकार की युगीन चुनौतियों से जूझ रहा है। यदि समस्याओं का सम्यक् आकलन कर उनके निदान के लिए समयबद्ध कार्यक्रम अपनाये जायें तो कोई कारण नही कि आर्यसमाज पुनः वास्तविक धर्म का ध्वजवाहक नहीं बन सकता।

आर्यसमाज ने विराट हिन्दू समाज के समक्ष उपस्थित तथा उसके विशाल ढाँचे को जीर्ण-शीर्ण करने वाली विभिन्न सामाजिक कुप्रथाओं को दूर करने के लिए जो प्रयास किये उनका विहगावलोकन हम कर चुके हैं। यह सत्य है कि हमारा समाज आज उस मोड पर पहुँच चुका है जहाँ से वह उन्नति एवं प्रगति के मार्ग पर आगे तो बढ सकता है किन्तु पीछे हटकर १६वी शती के मध्यकाल मे पहुँच जाना अब उसके बस का नहीं है। आर्यसमाज ने समाज-सुधार के क्षेत्र में जो कार्य किये वे आज सर्वसम्मत हो चुके हैं। अब बालविवाह अतीत की वस्तु हो चुकी है, नारी शिक्षा विवाद का विषय नही रहा। पर्दा और अस्पृश्यता के विचार भी समाप्त हो गये। विधवाओं का उत्पीड़न तथा नारी का तिरस्कार एवं शोषण भी अतीत काल की वस्तु बन गये। तथापि अभी तक सामाजिक क्षेत्र में बहुत कुछ करणीय है।

सामाजिक कुप्रथाओं और वर्गगत संकीर्णताओं से चाहे हमे मुक्ति मिली हो, किन्तु समाज मे नित नये पाखण्ड, अनाचार, फैशन की अंधी अनुकरण-प्रवृत्ति, दहेज के नाम पर भीषण शोषण और अत्याचार आदि की दुष्प्रवृत्तियाँ बढ रही हैं। आज यही सब आर्यसमाज के समक्ष चुनौती के रूप मे आ रहे हैं। नवयुवक वर्ग में बढ़ने वाली स्वेच्छाचारिता, उद्दण्डता, अनुशासनहीनता तथा फैशनपरस्ती को कैसे रोका जाय, यह एक बड़ी समस्या है। आज का जनजीवन राजनीति से प्रभाव ग्रहण करता है, किन्तु आज राजनैतिक व्यक्ति जितना आचार-शून्य, कर्त्तव्य-विमुख तथा स्वार्थ-परायण है, उसे देखते हुए उससे अधिक आशा करना व्यर्थ होगा। अतः आर्यसमाज का दायित्व और भी बढ जाता है, क्योंकि सार्वजनिक जीवन का शुद्धिकरण आज की प्रमुख आवश्यकता है। जो बात सामाजिक जीवन मे आचारगत मूल्यों की पुनः-स्थापना को लेकर कही जा सकती है, वही राजनैतिक जीवन पर भी लागू होती है।

भारत को राष्ट्रीय जागृति में आर्यसमाज का जो शानदार योगदान रहा, उसकी एक झलक हम देख चुके हैं। परन्तु यह देखकर अत्यन्त खेद होता है कि आज इतिहास लेखन के जो प्रयत्न हो रहे हैं, उनमें जान-बूझकर आर्यसमाज के एतद्विषयक अवदान को घटा कर दिखाया जाता है। राजनैतिक जीवन में जो भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, कुनबापरस्ती, सिफारिश तथा रिश्वतखोरी का बोलबाला आज दिखाई दे रहा है, उसके

उन्मूलन में यदि आर्यसमाज किसी न किसी रूप मे कारगर हो सके तो यह उसकी एक बड़ी उपलब्धि होगी, किन्तु उसके लिए उसे नैतिक मूल्यों की पुनः स्थापना का एक जोरदार अभियान चलाना होगा। यह भी सत्य है कि हमारी आज की सभी राजनैतिक संस्थाएँ इतनी दूषित तथा भ्रष्ट हो चुकी हैं कि उनसे कोई आशा नहीं की जा सकती। आर्यसमाज ने अपने अतीत काल मे नैतिक उच्चता के जो मानदण्ड स्थापित किये थे उन्हीं को स्मरण कर हम यह आशा कर सकते हैं कि यदि आज के दूषित, विकृत तथा भ्रष्ट सार्वजनिक जीवन को पुनः स्वच्छ बनाने का संकल्प आर्यसमाज के नेता यथा अनुयायी कर लें, तो इसमे उन्हे निश्चय ही सफलता मिलेगी। आर्यसमाज की राष्ट्र के वर्तमान जीवन मे एक अन्य भूमिका यह भी हो सकती है कि साम्प्रदायिकता के विष ने जिस प्रकार हमारे प्रशासन-तंत्र को विषाक्त बनाया है, उसे दूर किया जाय। हम नाम तो लेते हैं धर्मनिरपेक्षता का, किन्तु धर्म के नाम पर नाना पाखण्डो, मिथ्या कर्मकाण्डों तथा विद्वेषमूलक धारणाओ का प्रचार करते हमें किंचित् मात्र भी लज्जा नही आती। आर्यसमाज की दृष्टि मे कोई भी राज्य सम्प्रदाय अथवा मत निरपेक्ष तो हो सकता है, किन्तु धर्म के शाश्वत मूल्यों की उपेक्षा करने से कोई लाभ नही होगा। आर्य-समाज इस सम्बन्ध में राजा और प्रजा का सही मार्गदर्शन कर सकता है।

राष्ट्रभाषा के प्रचार-प्रसार के लिए आर्यसमाज ने जो कार्य किया वह तो इतिहास का एक अमर पृष्ठ बन ही चुका है, किन्तु देश के स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् भी हिन्दी को जो उसका वास्तविक स्थान नही मिल पाया, यही हमारे लिए चिन्ता का विषय है। राजभाषा के सम्बन्ध मे जो आज सरकार की स्थिति तथा अन्यमनस्कता है, उसे देखते हुए तो यह आशा नही की जा सकती कि निकट भविष्य मे अखिल राष्ट्र की सम्पर्क-भाषा तथा सरकारी कामकाज की अधिकृत भाषा के रूप मे हिन्दी अपना स्थान ग्रहण कर लेगी। अतः आज राष्ट्रभाषा-आन्दोलन को पुनः प्राणवान् बना कर गति देनी होगी। हमे अब प्रान्तीय भाषाओ के सम्बन्ध मे भी अपना मत निश्चित करना होगा, क्योंकि हमारा विरोध विदेशी भाषा अंग्रेजी से तो है, किन्तु अपने ही देश की क्षेत्रीय भाषाओ से नही। यह एक सुनिश्चित बात है कि आज भारत के विभिन्न राज्यो का राजकाज तत्-तत् प्रान्तों की भाषाओ मे चलाए जाने के प्रयत्न हो रहे हैं। अतः समुचित यही होगा कि हम भी अपने साहित्य को प्रान्तीय भाषाओ के माध्यम से प्रकाशित करने के लिए सचेष्ट हो। सत्यार्थप्रकाश तथा ऋषि दयानन्द के अन्यान्य ग्रन्थो का अनुवाद यो तो अनेक स्वदेशी एवं विदेशी भाषाओं मे हो चुका है, किन्तु अब प्रचारात्मक साहित्य भी क्षेत्रीय भाषाओं मे लिखा जाना आवश्यक है। उधर सस्कृत के प्रचार-प्रसार मे आर्यसमाज को एक बार पुनः जुट जाना होगा, क्योकि इसी भाषा ने आर्य मनीषा को अभी तक जीवित रखा है और यही भाषा आर्यों के उत्कर्ष, गौरव तथा अस्मिता का प्रतीक रही है।

आर्यसमाज आन्दोलन की वर्तमान स्थिति तथा उसके मार्ग को अवरुद्ध करने वाली परिस्थितियो का सिंहावलोकन करने के पश्चात् हमे देखना होगा कि भविष्य के लिए हमारा दिशाबोध कैसा और किस प्रकार हो जिससे कि हम इस गौरवमय संस्था को सम्मान और आदर की उसी उच्च वेदी पर पुनः प्रतिष्ठित कर सकें जहाँ वह पहले थी। इस सम्बन्ध में हमारे कुछ रचनात्मक सुझाव हैं जिन्हे संक्षेप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

आर्यसमाज मूलतः एक धार्मिक संस्था है जो विश्व-मानव के समक्ष धर्म का वास्तविक स्वरूप तथा उस पर आचरण करने का संदेश देती है। वर्तमान परिस्थिति मे उचित होगा कि (१) वैदिक धर्म के मौलिक मन्तव्यों को सारगर्भित, सरल और बोधप्रद भाषा मे जनता के सामने प्रस्तुत किया जाये। (२) अन्याय मत-सम्प्रदायों की तिक्त एवं कटु शैली में आलोचना करने की अपेक्षा वैदिक धर्म के उदात्त स्वरूप को ही ओजस्विनी और गरिमा-मंडित शैली मे उपस्थित किया जाय। (३) प्रचलित अधविश्वासों और हानिकर रूढ़ियों के व्यष्टिगत एवं समष्टिगत दुष्परिणामों को उजागर अवश्य किया जाय तथा उनकी अवैज्ञानिकता एवं उनसे उत्पन्न हानियों से लोगों को परिचित कराया जाय।

जहाँ तक सामाजिक समस्याओं का प्रश्न है इस सम्बन्ध में आर्यसमाज निम्न कार्य कर सकता है :

(१) जन्माधारित जाति-प्रथा के दोषों को प्रकट करते हुए गुण, कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था के महत्त्व को प्रतिपादित किया जाना चाहिए। आर्य बिरादरी की चर्चा तो भूतकाल मे भी हुई थी, किन्तु वास्तविक 'आर्यसमाज' के निर्माण का कार्य नहीं हो सका। आज आर्यसमाज मन्दिर में तो हम आर्य हैं, किन्तु वहाँ से बाहर निकलते ही खत्री, कायस्थ, अग्रवाल, जाट और स्वर्णकार हो जाते हैं।

(२) अस्पृश्यता को समाप्त करने तथा दलित जातियों, बनवासी समाज तथा पिछड़े वर्ग के उत्थान का रचनात्मक कार्यक्रम बनाना आवश्यक है। आज इन वर्गों के लोगों को संसद तथा विधान सभाओं में आरक्षित स्थानों पर बिठाना तथा सरकारी सेवाओं मे आरक्षित स्थान दिलाना ही आवश्यक नही है, आवश्यकता इस बात की है कि इस वर्ग में प्रचलित बुराइयों का समूल उत्पादन किया जाय। नशाखोरी, जुवा, अस्वच्छता, मांसभक्षण आदि की बुराइयों से इन्हें पृथक् कर सभ्यसमाज का अग बनाने हेतु प्रयत्न किये जाने चाहिए।

(३) नारी समाज में सांस्कृतिक जागरण लाना आवश्यक है। यों तो भारतीय नारी शिक्षा, जीविकोपार्जन तथा अन्य क्षेत्रों में पुरुष वर्ग के समक्ष आ गई है, किन्तु इन्हीं कारणों से उनमे जो पश्चिम की अनुकरण-वृत्ति, फैशनपरस्ती तथा आधुनिका (Ultra Modern) बनने की प्रवृत्ति पनपने लगी है, उसे दूर कर भारतीय नारी की गरिमा प्रदान की जानी चाहिए। इसके लिए नारी के समक्ष भारतीय संस्कृति का गरिमापूर्ण चित्र उपस्थित किया जाना चाहिए।

(४) सामाजिक कुरीतियों के उच्छेदन के लिए अत्यन्त जागरूकता के साथ प्रयास किये जाने चाहिए। विवाह तथा अन्य समारोहों मे भारी अपव्यय, दहेज आदि का आग्रह, नवयुवा वर्ग मे मदिरा तथा अन्य मादक पदार्थों का सेवन, धूम्रपान की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के निवारण के लिए सशक्त अभियान चलाने आवश्यक हैं इन कार्यक्रमों मे युवा पीढ़ी का सहयोग लेना भी आवश्यक है।

(५) सर्वोपरि बात तो चरित्र निर्माण की है। हमें यह स्मरण रखना होगा कि आर्यसमाज के प्रारम्भिक युग के आर्यपुरुषों को जो सफलता मिली, उसका प्रमुख कारण उनका उदात्त एव आदर्श चरित्र ही था। एक आर्य की साक्षी से ही न्यायाधीश को अपना निर्णय देने में कोई कठिनाई नही होती थी। आज का नागरिक चरित्र-संकट से ग्रस्त है। इसे उबारना ही राष्ट्र की सबसे बड़ी सेवा है।

जहाँ तक राजनैतिक क्षेत्र में देश को मार्गदर्शन देने का प्रश्न है, आर्यसमाज को यह स्मरण रखना होगा कि भारत में प्रजातांत्रिक पद्धति की चर्चा का सूत्रपात सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द ने ही किया था। उन्होने आर्यसमाज के विधान को भी प्रजातन्त्र का आधार प्रदान किया तथा अपने राजनैतिक विचारो की मीमांसा करते समय यह स्पष्ट कर दिया कि एकतंत्री शासन की अपेक्षा जन-भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला उत्तरदायी शासन कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है। परन्तु आज की राजनीति में छल, कपट, धूर्तता तथा चरित्र-हनन आदि की जो बुराइयाँ आ गई हैं उनके निवारण के लिए जन-मत को जगाना आवश्यक है। प्रजातंत्र की प्रणाली चाहे कितनी ही अच्छी तथा श्रेयस्कर क्यों न हो, वह कदापि सफल नही हो सकती, यदि हम उसका दुरुपयोग करने पर उतारू हो जाये। आर्यसमाज स्वयं भी प्रजातन्त्र के दुरुपयोग के परिणाम भोग रहा है। आज हमारी सभाओं मे विद्वान, बुद्धिमान और विचारशील व्यक्ति की अपेक्षा उसी व्यक्ति का आदर होता है जो अपने पक्ष में अधिक से अधिक लोगों का समर्थन जुटा लेता है। यही कारण है कि आज आर्यसमाज मे त्यागी, तपस्वी, संन्यासियों की अपेक्षा गुटबंदी करने वाले नेताओं का ही प्राधान्य है।

दूसरी बात और भी महत्त्वपूर्ण है। हमे आर्यसमाज को शासक दल या अन्य किसी राजनैतिक दल का दुमछल्ला नही बनाना है। प्रायः देखा गया है कि हम अपने सम्मेलनो, उत्सवो तथा समारोहो में राजनीतिज्ञों, मंत्रियों तथा प्रशासकों की उपस्थिति से अधिक प्रसन्नता अनुभव करते हैं। मंत्रियो के स्वागत-सत्कार

में कभी-कभी तो इतने मग्न हो जाते हैं कि हमें अपने ही विद्वानों और संन्यासियों को यथोचित आदर देने का भी ध्यान नही रहता। हमें स्मरण रखना होगा कि आर्यसमाज ने सच्चे ब्राह्मण-समाज के मार्गदर्शन का कर्त्तव्यभार ग्रहण किया है। वह उन राजनीतिज्ञों और स्वार्थी पार्टीबाज व्यक्तियों का पिछलग्गू नहीं हो सकता, जिनके लिए येन-केन प्रकारेण सत्ता प्राप्त करना ही अन्तिम लक्ष्य होता है। इसलिए आर्यसमाज को चाहिए कि वह अपने आचरण एवं उपदेश के द्वारा राजनैतिक जीवन मे उच्चतर मूल्यो की स्थापना के लिए प्रयत्न करे। राजनैतिक भ्रष्टाचार, शोषण और अत्याचार को रोकने के लिए यदि उसे सत्याग्रह तथा बलिदान भी करने पड़ें, तो इसके लिए उसे तत्पर रहना चाहिए।

आज का युग अर्थप्रधान है। उन्नीसवी शताब्दी के महान् तत्त्वचिंतक तथा स्वामी दयानन्द के सम-कालीन कार्ल मार्क्स ने अर्थ को ही मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियो का मूल तथा उसकी गतिविधियो का केन्द्रबिंदु बताया था। प्राय: लोगों को आर्यसमाज से यह शिकायत रही है कि उसने अपनी आर्थिक नीतियो को कभी स्पष्ट रूप से लोगों के समक्ष नही रखा। आज के युग मे पूँजीपति तथा श्रमिक वर्ग का संघर्ष, आर्थिक दृष्टि से पीडित एवं शोषित वर्ग की हितरक्षा, वृहत्, उद्योगो का राष्ट्रीयकरण आदि ऐसी समस्याएँ हैं जिनके बारे में आर्यसमाज को अपना स्पष्ट मत बनाना चाहिए। नीतिज्ञ विदुर ने आर्थिक समस्याओ के समाधान मे एक सूत्र प्रस्तुत करते हुए कहा था कि जो व्यक्ति धनोपार्जन करके भी लोकहित मे व्यय नही करता वह समाज मे रहने का भी अधिकारी नही है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी दरिद्रता का तो ढोल पीटता है, किन्तु श्रमकणो से अपने शरीर को सिंचित नही करता, अर्थात् परिश्रम नही करता, वह भी समाज मे जीने का अधिकार नही रखता। इस प्रकार दान और परिश्रम के समन्वय से ही आर्थिक स्थितियो को अनुकूल बनाया जा सकता है।

आर्यसमाज को समयानुसार अपनी प्रचार-प्रणाली मे भी परिवर्तन करना चाहिए। जो प्रचारक ग्रामीण जनता के हित की बात कह सकता है वह नागर जनो के लिए भी उपयोगी हो, यह आवश्यक नही है। अतः प्रचार-प्रणाली में देश, काल, पात्र और परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तन करना ही होगा। नगरो मे जो व्याख्यान आयोजित किये जाये, उनमे वकील, डाक्टर, प्राध्यापक, छात्र, पत्रकार आदि विभिन्न व्यवसायो के प्रबुद्ध लोगो को आमंत्रित किया जाना चाहिए। व्याख्यानदाताओ को इस बात की हिदायत दी जानी चाहिए कि वे अपने विषय को पूर्ण तैयारी के साथ प्रस्तुत करे। व्याख्यानो मे मण्डनात्मक शैली को स्वीकार करते हुए भी अंधविश्वासो, पाखण्डो तथा मिथ्याचारो पर चोट करने मे सकोच नही करना चाहिए। वैदिक-राजनीति, वैदिक अर्थनीति और वैदिक समाजनीति की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत किये जाने वाले व्याख्यानो को वरीयता देनी चाहिए। प्रचार मे संगीत का महत्त्व निर्विवाद है। उच्च कोटि के शिक्षाप्रद भजनो को संगीत की विविध राग-रागिनियो के माध्यम से प्रस्तुत कर श्रोताओ को रससिक्त एव आनन्द-विभोर किया जा सकता है। गान और व्याख्यान को एक साथ प्रस्तुत करना अधिक लाभप्रद नही होता, इसका ध्यान रक्खा जाना आवश्यक है।

उपदेश-प्रणाली मे यथेच्छ सुधार एवं परिवर्तन तो तभी आ सकता है जब कि आर्यसमाज मे उपदेशको के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था हो। यह स्मरणीय है कि आर्यप्रतिनिधि सभा पजाब ने दयानन्द उपदेशक विद्यालय के द्वारा जिन उपदेशको को प्रशिक्षित किया, अथवा उससे भी पूर्व पं० भोजदत्त आर्य मुसाफिर ने आगरे में आर्य मुसाफिर विद्यालय के संचालन के द्वारा शास्त्रार्थ-विद्या-निष्णात, तार्किक, वाग्मी तथा विभिन्न मत-सम्प्रदायो के विशेषज्ञ उपदेशक तैयार किये, उसी प्रकार के उपदेशको का शिक्षण होना आवश्यक है। इसमे हमे ईसाई प्रचारको की कार्य पद्धति को भी देखना होगा।

आर्यसमाज ने अपने अतीत काल मे जो लोकप्रियता अर्जित की थी, उसका एक प्रमुख कारण था जन-सेवा। महामारी, भूकम्प, दुष्काल आदि आकस्मिक विपदाग्रस्त लोगो को उबारने के लिए आर्यसमाज के

दीवानों ने सेवाधर्म का जैसा प्रदर्शन किया, उसी के कारण जनता इसकी ओर आकृष्ट हुई थी। आज उसी सेवा-भावना को पुनः जागृत करना आवश्यक है। कतिपय अन्य सुझाव संकेत रूप में ही दिये जाते हैं :

१. हमें अपने साप्ताहिक और वार्षिक अधिवेशनों को अधिक रोचक, उपयोगी तथा लोकप्रिय बनाना होगा।

२. आर्यसमाज मंदिरों को स्वच्छ, सुन्दर, आकर्षक तथा रम्य बनाना चाहिए, ताकि वहाँ जाने मात्र से ही लोगों में धर्म एवं आध्यात्मिकता के उच्च भाव जागृत हो सकें।

३. आर्यसमाज के वाणप्रस्थ एवं संन्यासी वर्ग को संगठित कर सेवाकार्य में नियोजित किया जाय।

४. वैचारिक क्रान्ति के लिए स्तरीय साहित्य का प्रकाशन हो तथा शोध-संस्थानों के द्वारा दयानन्द के विचारों तथा उनके क्रान्तिकारी दर्शन पर अनुसंधान कार्य कराये जायें।

५. युवाशक्ति को आर्यसमाज की ओर आकृष्ट करने के लिए तदनुरूप कार्यक्रम आयोजित किये जायें। एतदर्थ आर्यकुमार सम्मेलन के आन्दोलन को पुनरुज्जीवित करना तथा उसी के माध्यम से धार्मिक परीक्षाओं का संचालन किया जाना चाहिए।

६. यज्ञों, संस्कारों और पर्वों को पूर्ण शालीनता तथा शास्त्रीय विधि के अनुसार सम्पन्न करना चाहिए, ताकि उसका प्रभाव दर्शक वर्ग पर भी पड़े।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने आर्यसमाज के अतीत और वर्तमान की ओर देखने का प्रयास तो किया ही है, साथ ही उसके भविष्य के लिए कुछ समयोचित सुझाव भी दिये हैं। इन्हें समुचित विचार के पश्चात् क्रियान्वित किया जाना चाहिए।

दयानन्द सरस्वती के सिद्धान्त—समय की कसौटी पर

किसी भी महापुरुष के विचारों का अध्ययन उसके जीवनयापन की प्रणाली, शिक्षा, संस्कार तथा उसके मानस पर पड़े प्रभावों की पृष्ठभूमि में किया जाना ही समीचीन होता है। इस दृष्टि से दयानन्द जैसे युगपुरुष एवं विश्वमानव की विचार-सम्पत्ति की विवेचना आरम्भ करने से पूर्व यह ध्यान रखना होगा कि उन्होंने अपने जीवन का बहुलांश एक संन्यासी के रूप में व्यतीत किया था। वे सांसारिक मोहजालों से सर्वथा मुक्त होकर निर्द्वन्द्व भाव से विचरने में ही अपने जीवन की सार्थकता नहीं समझ बैठे, किन्तु वह ऐसे व्यक्ति थे समष्टि हित तथा समस्त प्राणिवर्ग के मंगल-विधान के लिए ही पदे-पदे चिन्तित रहते थे, व्याकुलता प्रकट करते थे तथा अशेष जन-समाज की पीड़ा, दुःख एवं कष्टों के निवारण के लिए सतत प्रयत्नशील भी रहते थे।

दयानन्द सरस्वती का जन्म भारत के एक ऐसे ब्राह्मण परिवार में हुआ था जो अपनी धार्मिक आस्थाओं एवं सामाजिक विधि-विधानों की परम्परानुमोदित व्यवस्थाओं के कठोरतापूर्वक पालन में ही अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री समझता था। उनका शैशवकालीन पालन-पोषण तथा प्रारम्भिक शिक्षा भी परम्परागत ढंग से हुई, जिसमें साम्प्रदायिक विश्वासों को यथावत ग्रहण करने तथा पूजा-उपासना के रूढ़िबद्ध इतिकर्त्तव्यों के कड़ाई से पालन पर ही निरन्तर जोर दिया जाता था। तथापि इसे चमत्कार ही कहा जायेगा कि मध्यकालीन धर्म एवं आस्थाओं के जटिल, संकुल वातावरण में जन्म लेकर व पलकर भी दयानन्द सरस्वती इन्हीं क्षेत्रों में सर्वाधिक क्रान्तिकारी तथा प्रबुद्ध चिन्तन को उत्पन्न करने में सफल हो सके।

दयानन्द का जन्म उस युग में हुआ जबकि भारत का जन-मानस पश्चिम की विद्या, बुद्धि, विज्ञान एवं

तर्कयुक्त चिन्तन के सम्पर्क में आकर यह समझ पाने में असमर्थ हो रहा था, कि इस नव-चेतना को वह किस रूप में व किस प्रकार ग्रहण करे। क्या पश्चिमी जीवन-पद्धति को समग्रत. अंगीकार कर लेना उसकी निजी अस्मिता एवं पहचान की समाप्ति की घोषणा तो नही होगा? कुछ इसी प्रकार के सकल्प-विकल्प भारतीय मानस को झकझोर रहे थे, उद्वेलित कर रहे थे। भारतीय नव-जागरण का आरम्भ तो दयानन्द के जन्म की तिथि के आस-पास से ही माना जा सकता है, जबकि आधुनिक भारत के पितातुल्य राममोहन राय धर्म, समाज तथा देश के व्यापक मंदर्भों मे विभिन्न सुधारवादी चेष्टाओ मे सलग्न थे। इतिहासकारो ने दयानन्द के विचारों, कार्यों तथा उनकी उपलब्धियो को भी भारतीय नव-जागरण के इतिहास से जोड़ा है। आपाततः इसमे कोई आपत्ति जैसी बात नही है, किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि पुनरुत्थान के अन्य ज्योतिर्धरो एवं उन्नायकों ने जहाँ पश्चिमी शिक्षा, यूरोपीय चिन्तन तथा विचारधाराओ से प्रेरणा ग्रहण की, वहाँ दयानन्द को पश्चिम का, किसी भी प्रकार से संस्पर्श तक प्राप्त नही था। वे जिस पारिवारिक वातावरण मे पले, सामाजिक वातावरण मे बढ़े तथा परम्परागत संस्कृत शास्त्रों के अध्ययन करने का उन्हे जैसा अवसर मिला, उससे पश्चिमीकरण का लेशमात्र भी सम्पर्क नही था। अतः दयानन्द के उदाहरण से ही हमे पश्चिमी सस्कृति के रग मे रगे उन लोगो द्वारा प्रचारित इस मिथ को तोड देना होगा कि भारत के जन-जागरण का एकमात्र श्रेय, अंग्रेजी शिक्षा एवं पश्चिमी विचारधारा के प्रचलन को ही है। यह भी एक संयोग ही था कि दयानन्द को छोड़कर राममोहन राय से लेकर गाधी पर्यन्त नवोत्थान के नेता अंग्रेजी शिक्षा एव रीति-नीति से सुपरिचित थे। अकेले दयानन्द ही एक ऐसे अपवाद हैं, जो सर्वप्रकारेण पुरातन संस्कृत-शास्त्रो मे निष्णात होकर भी सर्वथा प्रगतिशील, सामयिक तथा समाज की उन्नति के मार्ग पर ले चलने मे समर्थ कार्यक्रम प्रस्तुत कर सके।

इसी सन्दर्भ मे दयानन्द के वेद-विषयक विचारों से परिचित होना सर्वथा उचित माना जायेगा। दयानन्द वेद को ज्ञान का पर्याय मानते हैं और उनकी दृढ़ धारणा है कि सृष्टि के प्रारम्भ काल मे ही मनुष्य को कोई ऐसा ज्ञान अवश्य प्राप्त हुआ था, जो देश, काल एव व्यक्ति-निरपेक्ष होने के कारण निखिल मनुष्य समाज के लिए उपयोगी, लाभप्रद तथा उन्नति का हेतु था। इसी मूल धारणा को लेकर वे भारत के बृहत्तर आर्यसमाज मे प्रचलित इस विचार की सोपपत्तिक मीमासा प्रस्तुत करते हैं कि मनुष्य मात्र के हित की दृष्टि से प्रदत्त ऐसा ज्ञान वस्तुतः ईश्वरीय ज्ञान ही हो सकता है, उसे किसी पुरुष-विशेष की कृति नही कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि सहस्राब्दियों प्राचीन इस ज्ञान की गरिमा को आज हम विस्मृत कर बैठे हो।

दयानन्द ने अपने वेद-विषयक विचारो को स्वकीय ग्रन्थो मे अनेक स्थानो पर न केवल सूत्रित ही किया है, किन्तु अनेकत्र उनकी विशद व्याख्या एव विवेचना भी की है। उन्होंने वेदो की नित्यता, अपौरुषेयता तथा उनके सर्वज्ञानमयत्व की स्थापना उसी प्रकार की है, जो भारतीय परम्पराओ मे सर्वथा अनुमोदित एवं स्वीकृत रही है। तथापि दयानन्द की वेद-विषयक व्याख्या एवं विवेचना को ही इस बात का श्रेय है कि वेदो पर किए जाने वाले आक्षेपों एवं आपत्तियों का सतर्क उत्तर भी इसी प्रकार की व्याख्या-प्रणाली से दिया जाना सम्भव है। यहाँ किंचित् विस्तार मे जाकर दयानन्द के वेद-विषयक विचारो की आलोचना करना अनुपयुक्त न होगा।

दयानन्द ने वेद के नित्यत्व, अपौरुषेयत्व अथवा ईश्वर-कर्तृत्व आदि से सम्बन्धित जो विचार प्रस्तुत किए, उनसे मोटे तौर पर भारतीय परम्परा के किसी भी वेदार्थ-चिन्तक अथवा वेदाभ्यासी विद्वान की असहमति नहीं है। तथापि प्रायः यह आक्षेप किया जाता रहा है कि दयानन्द की वेदार्थ-प्रणाली उन भाष्यकारो द्वारा मान्य पद्धति को स्वीकार कर नहीं चलती, जिसका अनुसरण करते हुए भाष्यकार सायण आदि ने वेदभाष्य लिखे हैं। परन्तु यहाँ भी दयानन्द के विचारो में किसी प्रकार का कोई दुराव, छिपाव या विप्रतिपत्ति नही है। वे यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि सायणादि के भाष्य तो उस युग मे लिखे गये थे जबकि वेदार्थ-चिन्तन की सर्वाधिक प्राचीन-प्रणाली, जो स्वयं वेद के रचनाकाल के अत्यन्त निकट की रही होगी, प्रायः नष्ट ही हो गई थी

तथा उस युग में भाष्यकार यह मानकर चलता था कि वेदमंत्रों की रचना किसी न किसी कर्म-विशेष की सिद्धि के लिए ही हुई है। यह भी कि कर्म-विशेष का संकेत देने तथा उनकी कार्यविधि को बतलाने के अतिरिक्त उस मंत्र का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है।

दयानन्द इस प्रकार के याज्ञिक अर्थों को पूरे तौर पर चुनौती भी नहीं देते। वेद मनुष्य के लिए हित-कारक कर्मकाण्ड के प्रयोजक हैं, मंत्रों का विनियोजन मानव-कल्याण के लिए किए जाने वाले क्रियाकाण्डों से होना चाहिए, इस धारणा से सिद्धान्ततः सहमत होते हुए भी वे यह स्वीकार नहीं करते कि मंत्रो की रचना या उनका दर्शन, मात्र कर्मकाण्ड की सिद्धि के लिए ही हुआ था। उनकी धारणा है कि यदि वस्तुतः वेदो को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में हम स्वीकार करते हैं तो उनमे प्रतिपादित विचार नितान्त उदार, व्यापक, प्राणिमात्र के लिए हितकारक तथा सन्मार्ग-प्रेरक होने चाहिए। इसी आधार पर वे वेदमंत्रों के मुख्यतः पारमार्थिक तथा व्यावहारिक, अन्य शब्दों में आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक और विभिन्न विद्या-तत्त्वो के प्रतिपादित अर्थों के पक्षपोषक हैं।

दयानन्द के वेदार्थ-चिन्तन मे अनेक युगान्तकारी विचार एवं धारणाएँ प्रतिफलित हुई हैं। उन्होने वेदवादियों मे प्रचलित इस धारणा का प्रबल खण्डन किया कि मंत्र-सहिताओ की ही भाँति ब्राह्मण-ग्रन्थो को को भी वेद सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। चाहे मध्यकाल के सूत्रकारों तथा वेदाभ्यासियो मे यह विचार बद्धमूल ही क्यो न रहा हो कि मंत्रों के ही तुल्य ब्राह्मण भाग का भी प्रामाण्य स्वीकार किया जाना चाहिए, किन्तु दयानन्द अपनी सुचिन्तित विचारसरणि के आधार पर यह स्पष्ट कर देते हैं कि मंत्र भाग और ब्राह्मण भाग को एक ही स्तर पर नही रखा जा सकता। निश्चय ही ब्राह्मण-ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान होने से वेदार्थ के मुख्य सहायक ग्रन्थों की कोटि में तो अग्रणी स्थान रखते हैं, किन्तु मनुष्य-बुद्धि-रचित होने से उनका महत्त्व वेदों मे न्यून ही होगा। इस प्रकार वेद संज्ञा का पुनर्निर्धारण कर दयानन्द ने वैदिक अध्ययन को एक नवीन दिशा प्रदान की।

जब हम यह मान लेते हैं कि वेदों का प्रणयन या वेद-ज्ञान का प्रकाश मानव जाति के व्यापक हित की दृष्टि से किसी अद्वितीय सत्ता ने किया है, तो इस ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकार भी मनुष्य मात्र को स्वत. ही मिल जाता है। यह एक विडम्बना ही थी कि जिस वेदज्ञान का दर्शन और प्रचार विभिन्न वर्गों, वर्णों, लिंगों तथा श्रेणियों के लोगों ने किया तथा मंत्रो में निहित शिक्षाओं को मनुष्य मात्र के लिए हितकारी माना, उसी वेद के अध्ययन, चिन्तन तथा मनन पर मध्यकाल की प्रतिगामी शक्तियों ने नाना प्रकार के प्रति-बन्ध लगा दिये। इतिहास इस बात का साक्षी है कि वेदाध्ययन पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध मध्यकाल के उसी तमसाच्छन्न युग मे लगाये गये थे, जबकि वेदों को वर्गविशेष की सम्पत्ति समझा गया तथा अन्य वर्ग या वर्ण के लोगों को उससे वंचित कर दिया गया। दयानन्द जैसे उदारभावापन्न एवं मनुष्य मात्र की एकता मे विश्वास रखने वाले महापुरुष के लिए तो यह स्वाभाविक ही था कि वे वेदाध्ययन पर लगे प्रतिबन्धों का डटकर विरोध करते तथा इस दैवप्रदत्त 'कल्याणी वाणी' के अवरुद्ध प्रवाह को लोकहित को दृष्टि से खोल देते।

दयानन्द से पूर्व का वैदिक चिन्तन कितना रूढ़िबद्ध, जड़ तथा विवेकबुद्धि-रहित हो गया था, इसके विषय में तो इतना लिख देना ही पर्याप्त होगा कि यों तो मध्यकालीन सभी दार्शनिकों, मीमांसकों तथा धर्मा-चार्यों ने वेद के नित्यत्व, ईश्वर-कर्तृत्व तथा उसके सर्वोपरि प्रामाण्य की स्थापना मे अपनी सूक्ष्मतम बौद्धिक शक्तियों को भी लगा दिया था, परन्तु जिन वेदों की प्रामाणिकता का वे इतनी दृढ़ता से समर्थन कर रहे हैं, स्वयं उन वेदों में क्या कुछ लिखा है, पाठक-समुदाय के लिए उसका क्या उपयोग है, इससे वे नितान्त अनभिज्ञ ही रहे। दयानन्द के वेद-विषयक मन्तव्यों की सर्वोपरि विशेषता यही है कि वे इन्हें न केवल सत्य विद्याओं का ग्रन्थ ही घोषित करते हैं, अपितु उनका अध्ययन, अध्यापन, पठन-पाठन एवं मनन-चिन्तन मानव जाति के लिए नितान्त उपयोगी तथा आवश्यक है यह भी घोषित करते हैं। दयानन्द के काल में ही पश्चिमी विद्वानों का ध्यान

भी वेदों की ओर आकृष्ट हो चुका था। अनेक यूरोपीय विद्वान् वेदो के अध्ययन, वेद-विषयक ग्रन्थों के लेखन, वेदों के पाठ-सम्पादन आदि कार्यों मे लगे हुए थे। यद्यपि दयानन्द किसी भी यूरोपीय भाषा की अभिज्ञता नही रखते थे, तथापि वे येन-केन प्रकारेण वेदाभ्यास की इस पाश्चात्य प्रणाली से अपने को परिचित रख रहे थे। तुलनात्मक भाषाविज्ञान, नृतत्त्वविज्ञान, समाजशास्त्र तथा देवगाथावाद के आधार पर पश्चिमी वेदज्ञों का वेदाध्ययन-विषयक यह प्रयास चाहे उनके विद्या-व्यासंग को कितना ही सूचित करे, यह भी स्पष्ट है कि इन नवीन प्रणालियों से वेद के हार्द को समझना उनके लिए सम्भव न था। दयानन्द ने पाश्चात्य विद्वानों के वेद-विषयक कार्यों का मूल्यांकन कर यह सुविचारित निर्णय दिया कि इन वेदज्ञों का वेदाध्ययन तो अभी प्रारम्भिक स्थिति में ही है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने अपने सहज ज्ञान तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा के बल पर वेदमहोदधि का मंथन कर जिन रत्नों को अनायास ही प्राप्त कर लिया था, उन्हे प्राप्त करने में तो इन्हें बहुत समय लगेगा।

यह तो सत्य है कि अनेक कारणों से दयानन्द द्वारा अन्वेषित वेदार्थ पद्धति को यथोचित मान्यता तथा आदर प्राप्त नही हुआ। इसमे जहाँ पश्चिमी वेद-विदों द्वारा आविष्कृत वेदार्थ की प्रणालियो का अंधानुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों का पूर्वाग्रह-युक्त दृष्टिकोण एक बडा कारण रहा है, वहाँ यह भी स्वीकार करना होगा कि भारत के वेदाभ्यासियों का दल भी परम्परागत याज्ञिक शैली की मूढ कारा से अपने को मुक्त नही करा सका है। फलत. दयानन्दकृत वेदार्थ को अपेक्षित प्रशस्ति प्राप्त नही हुई। तथापि यह निश्चित है कि वेदार्थ को स्पष्ट करने मे दयानन्द ने जिस दिशा का संकेत किया है, अन्ततः उस ओर आये बिना हम संसार के इस प्राचीनतम वाङ्मय के अभिप्राय को भलीभाँति हृदयंगम नही कर सकेंगे।

धार्मिक विषयों के ऊहापोह मे भारतीय परम्परा शास्त्रीय प्रामाण्य को सर्वाधिक महत्त्व देती है। इसका कारण प्राचीन ग्रन्थों मे मात्र विश्वास भाव ही नही है, किन्तु हमारी यह मान्यता है कि जिन परावरज्ञ ऋषियों ने इन ग्रन्थों का निर्माण किया था, वे महामेधासम्पन्न, विमल ज्ञान के भण्डार तथा लोकहित को दृष्टिपथ मे रखकर शास्त्र रचना करने वाले व्यक्ति थे। कालान्तर मे एक ऐसा युग भी आया, जबकि सामान्य बुद्धि के लोगों ने शास्त्रप्रणेता कहलाने की इच्छा से अनेक ग्रन्थो की रचना कर डाली। परवर्ती युग के इस ग्रन्थ-समुदाय मे कही भी वैचारिक निर्मलता, शैली की उदात्तता तथा दृष्टिकोण की विशदता के दर्शन नही होते। इसके विपरीत इन ग्रन्थो मे मनुष्य के चिन्तन की जड़ता, उसकी गतानुगतिक दृष्टि तथा प्रगतिशील शक्तियों को अवरुद्ध करने का मनोभाव ही प्रकट होता है। शताब्दियो के पश्चात् शास्त्र नाम से अभिहित किये जाने वाले ग्रन्थों की प्रामाणिकता तथा उनकी गुणवत्ता का निर्धारण करने का अवसर उस समय आया जबकि मथुरा की संस्कृत पाठशाला मे व्याकरण का शिक्षण करने वाले एक प्रज्ञाचक्षु सन्यासी दण्डी विरजानन्द ने यह स्पष्ट किया कि अब समय आ गया है जबकि हमें आर्ष एव अनार्ष शास्त्रो में भेद करना होगा और अनार्ष ग्रन्थजाल से मुक्ति पानी होगी। विरजानन्द ने आर्ष ग्रन्थो और अनार्ष ग्रन्थो मे विवेक करने के अनेक सूत्र प्रस्तुत किये थे, परन्तु उनकी एतद्विषयक सर्वोपरि स्थापना यही थी कि आर्ष ग्रन्थो मे जहाँ सार्वभौम भाव परिलक्षित होते हैं, वहाँ अनार्ष ग्रन्थ साम्प्रदायिक विद्वेष एवं मताग्रह की संकीर्णता से युक्त होते हैं।

स्वामी विरजानन्द के आर्ष-ग्रन्थ-प्रमाणवाद के इसी सूत्र को लेकर दयानन्द ने अपना स्पष्ट मत व्यक्त किया कि धर्म, अध्यात्म, दर्शन, कर्मकाण्ड– प्रत्येक क्षेत्र मे आर्ष ग्रन्थो को ही मान्यता देनी होगी, क्योकि यही वे ग्रन्थ हैं जो सब प्रकार के साम्प्रदायिक भावों से सर्वथा असंपृक्त, मानव के व्यापक हित की दृष्टि से युक्त तथा मनुष्य के विवेक तथा बुद्धिवाद को जागृत करने वाले हैं, जबकि अनार्ष ग्रन्थो की रचना तो मनुष्य की चिन्तन शक्ति को कुण्ठित करती है तथा उसे मानसिक जड़ता, प्रतिगामिता तथा रूढ़िवादिता का शिकार बनाती है। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के शब्दों मे, "विगत पाँच हजार वर्षों की अवधि में इस आर्य भूमि मे अनेक आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ परन्तु उनमे कोई भी ऋषि महर्षि-प्रवर्तित ज्ञान के पुनरुद्धार मे अपना योगदान नही कर सका। शंकर, रामानुज एवं मध्व आदि ने जितना परिश्रम अपने-अपने सम्प्रदायो के संगठन मे किया उतना

आर्ष ज्ञान के पुनरुद्धार मे नहीं।" यह श्रेय दयानन्द को ही जाता है कि संस्कृत भाषा में निबद्ध तथा शास्त्र नाम से प्रसिद्ध विशाल ग्रन्थ-समुदाय की सम्यक् परीक्षा के अनन्तर उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की—अब समय आ गया है जबकि 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' को छोड़कर हमे आर्ष एवं अनार्ष का विवेक करना होगा तथा यह देखना होगा कि वे ग्रन्थ कौन से हैं जो हमे उन्नतिगामी बनाते हैं, जो हमारी बुद्धि एवं विचारशक्ति का विकास करते हैं, हमारी मनोवृत्तियों को निर्मल एवं पवित्र बनाते हैं तथा हमे अभ्युदय एवं निःश्रेयस के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं। ऐसे ही ग्रन्थ हमारे लिए पठनीय एवं विचारणीय हैं। संस्कृत भाषा मे लिखे होने मात्र से ही कोई ग्रन्थ प्रामाण्य कोटि मे नही आ जाता।

वेद प्रामाण्य और आर्ष ग्रन्थों की वरीयता का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने के पश्चात् दयानन्द के लिए यह अत्यन्त सहज हो गया था कि धर्म के नाम पर प्रचलित उन सहस्रों मिथ्या रूढ़ियों, जटिल कर्मकाण्डों, अन्धविश्वासों तथा मूढ धारणाओं का वे प्रबल प्रतिवाद करते, जो वैदिक धर्म मे स्वीकृत उच्च आध्यात्मिक विश्वासों, उदात्त उपासना-पद्धतियो तथा प्राणिमात्र के हित के लिए प्रवर्तित क्रियाकाण्डो के स्थान पर प्रचलित हो गये थे।

दयानन्द के द्वारा किये गये धर्म के नाम पर प्रचलित मिथ्या विश्वासों के प्रबल खण्डन को लक्ष्य मे रखकर प्रायः लोग उन्हे संकुचित दृष्टि युक्त, अनुदार भावापन्न, अन्य सम्प्रदायो के प्रति द्वेषबुद्धि रखने जैसे लांछन भी लगा बैठते हैं। निश्चय ही दयानन्द ने जिसे असत्य समझा, जिसे अन्याययुक्त माना तथा जिसे अधर्म कहा, उसका तीव्र खण्डन करने मे उन्होंने कभी संकोच नही किया। परन्तु उनका यह खण्डन-कुठार उसी वस्तु या विचार पर गिरता था, जो मानव जाति के लिए हानिकारक, उसकी एकता का विनाशक तथा पतन की ओर ले जाने वाला होता था। (खेद है कि खण्डन-मण्डन में प्रयुक्त दयानन्द की तथ्यपूर्ण, तथा साथ ही बिना किसी लाग-लपेट वाली भाषा के अभिप्राय को न समझकर उन्हे कटुभाषी, खण्डन-पटु आदि न जाने क्या-क्या कह दिया जाता है) खण्डन-मण्डन की प्रयोजनीयता का उल्लेख करते हुए दयानन्द ने अपने विख्यात ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' की भूमिका तथा इसके उत्तरार्द्ध के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ मे लिखी गई अनुभूमिकाओ मे यह स्पष्ट कर दिया कि उनका मुख्य प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है। अर्थात् जो-जो सब मतो मे सत्य सत्य बातें हैं, वे-वे सब मे अविरुद्ध होने से, उनको स्वीकार करके जो-जो मत-मतान्तरो मे मिथ्या बातें हैं, उनका खण्डन किया है। वस्तुतः दयानन्द की दृष्टि मे धर्म तो एक ही है। ऐसा धर्म जो वस्तु का स्वभाव होने के कारण अखण्डनीय ही होता है। अतः धर्म का तो खण्डन हो ही नही सकता। दयानन्द ने तो विभिन्न सम्प्रदायों मे प्रचलित अंधविश्वासों, युक्ति, तर्क एवं विज्ञान के विरुद्ध उन मिथ्या धारणाओ का ही खण्डन किया है, जो मत-सम्प्रदायों के अनुयायियों मे पारस्परिक द्वेष एवं फूट का संचार करती हैं। अतः दयानन्द को अन्य मतों के प्रति असहिष्णु कहना अन्यायपूर्ण है। दयानन्द ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वे प्रथम दृष्टि मे ही किसी सम्प्रदाय-विशेष के ग्रन्थ को आलोचना की दृष्टि से नही देखते, अपितु उसके गुण-दोषों का सम्यक् विवेचन करने के पश्चात् ही उनके सम्बन्ध में अपनी धारणा बनाते हैं। सम्प्रदायों मे पाये जाने वाले दोषों को प्रकाशित करने का उनका लक्ष्य भी यही होता था कि लोग सत्य एव असत्य का निर्णय करें ताकि सच्चाई को ग्रहण करने तथा मिथ्या को त्यागने का वे सामर्थ्य प्राप्त कर सकें। इसी अभिप्राय को उन्होने अन्यत्र भी व्यक्त किया है।

दयानन्द द्वारा किए गए खण्डन-मण्डन के पीछे उनके दृष्टिकोण की विवेचना के प्रसग में डा० रघुवंश को पुनः उद्धृत करना अनुचित नही होगा। उनके शब्दों मे, "स्वामी दयानन्द ने सत्य धर्म एक ही माना है और उनकी दृष्टि में वह धर्म वही हो सकता है जो श्रेष्ठ मानव मूल्यों की रचनात्मक प्रक्रिया को गतिशील रखने में सक्षम हो सके। बाद के समन्वयवादियों और अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों ने दयानन्द को कट्टरपन्थी और खण्डन-मण्डन करने वाले सुधारक के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि उनके

जैसा उदार मानवतावादी नेता दूसरा नहीं रहा है।"

दयानन्द से एक शिकायत ईसाई तथा मुसलमान वर्ग के उन लोगों को भी रही, जो उनके खण्डन-मण्डन के पीछे निहित भाव को समझने में असमर्थ रहे थे। उन्होंने यह समझने का यत्न नहीं किया कि दयानन्द का सबसे अधिक विरोध तो धर्म के नाम पर व्यवसाय करने वाले पण्डे-पुजारियों, महन्तों और मठाधीशों से था। दयानन्द ने यदि इस्लाम और ईसाइयत की आलोचना की, तो इसलिए नहीं कि वे उन्हें भारत से इतर देशों में उत्पन्न सेमेटिक विचारधारा का वाहक समझते थे, अपितु उनकी आलोचना के लक्ष्य तो इन सम्प्रदायों में विद्यमान असत्य, अन्धविश्वास यथा मूढ़ धारणाएँ ही रहीं।

एक बात और भी थी। दयानन्द यह जानते थे कि इस्लाम और ईसाइयत के प्रचारकगण हिन्दू धर्म में प्रचलित रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, तथा अनेक मूर्खतापूर्ण विधि-विधानों की ओट में पिछड़े वर्ग के लोगों को मत-परिवर्तन की प्रेरणा देते रहते हैं। उनका कहना था कि जो स्वयं काँच के घरों में निवास करते हैं, उन्हें दूसरों पर पत्थर फेंकने का क्या अधिकार है? इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर उन्होंने ईसाई मत एवं इस्लाम की तथ्यपूर्ण आलोचना की, मानो उन्हें सचेत कर दिया कि उनकी स्थिति भी उन हिन्दू धर्म के अनुयायियों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है जो अपनी कमजोरियों के कारण पादरियों और मौलवियों की आलोचना का शिकार बनते हैं। उदारभावापन्न लोग, चाहे वे ईसाई थे या मुसलमान, स्वामी दयानन्द के दृष्टिकोण की वास्तविकता को समझकर सदा उनके प्रशंसक बने रहे। भारत में मुस्लिम नव-जागरण के अग्रदूत सैयद अहमद खां, अजमेर से प्रकाशित होने वाले राजपूताना गजट के सम्पादक मुंशी मुरादअली जैसे व्यापक दृष्टिकोण के मुसलमान तथा बरेली के पादरी डा० स्कॉट जैसे विचारशील ईसाई धर्मयाजक, दयानन्द के मित्र, प्रशंसक तथा भक्त कहलाने में गर्व का अनुभव करते थे। यह दूसरी बात है, कि कालान्तर में भारत में ही कुछ ऐसी राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं, जिनके कारण स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज ईसाई तथा मुसलमानों से बहुत अधिक मधुर सम्बन्ध नहीं रख सका, किन्तु उन पर यहाँ विचार करना अप्रासंगिक है।

दयानन्द के दार्शनिक विचार

दयानन्द को समाज संशोधक, धर्माचार्य तथा राष्ट्रनिर्माता युगपुरुष के रूप में तो प्रायः स्मरण किया जाता रहा है, किन्तु उनके दार्शनिक विचारों का बहुत कम ऊहापोह हुआ है। एतद्विषयक भ्रम यहाँ तक फैल गया कि अनेक अहम्मन्य प्रकृति के लोगों ने तो दयानन्द में दार्शनिकता का नितान्त अभाव ही घोषित कर दिया तथा उनके द्वारा प्रकट किये गये दार्शनिक विचारों को भी अतिसामान्य, छिछला तथा अनति गम्भीर कहने का प्रयास किया। तथ्य यह है कि दयानन्द के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व के पीछे एक अत्यन्त स्पष्ट, सुविचारित तथा सतर्क चिंताधारा कार्य कर रही थी। यदि दयानन्द दर्शन में वैसी यथार्थवादिता, गहराई तथा स्पष्टता न होती, तो इसमें संदेह ही है कि वे अपने विचारों को जनसामान्य तक पहुँचा पाते तथा बहुसंख्यक समाज उनका अनुयायी बन जाता।

दयानन्द ने विश्व-प्रपंच की व्याख्या यथार्थवादी दृष्टि से की है। उनका दर्शन जीवेश्वर के भेद तथा प्रकृति की अनादिता के सिद्धान्त पर आधारित है। इस दृष्टि से वे शांकर वेदान्त के प्रखर आलोचक भी हैं। उनकी दार्शनिक विचारधारा जहाँ वैदिक एवं औपनिषदिक दार्शनिक चिन्तन पर पूर्णतया आधारित है, वहाँ प्रबल युक्तियों एवं प्रमाणों से उसे परिपुष्ट भी किया गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे उपनिषदों के उन वाक्यों की अनदेखी कर जाते हैं, जो एकाधिक बार अद्वैतवाद का समर्थन करते हैं। वे ऐसे वाक्यों की संगति स्वतंत्र रूप से लगाते हैं और उनका कहना है कि यदि प्रसंगानुसार ऐसे अभेदपरक प्रतीत होने वाले उपनिषद् वचनों का सम्यक् विचार किया जाय, तो उनसे शांकर सिद्धान्त को पुष्ट करना असम्भव ही हो जायेगा।

दयानन्द का शंकर पर स्पष्ट आरोप है कि उन्होंने न केवल उपनिषदों की, अपितु वेदान्त सूत्रों की भी व्याख्या स्वाभिमत के अनुकूल ही की है, और ऐसा करते समय वे यह विस्मृत कर जाते हैं कि सूत्रकार ऋषि का आशय निश्चय ही वह नहीं है जो उनकी व्याख्या में लिखा जा रहा है। आचार्य शंकर पर वैयासिक सूत्रों के अर्थों में खीचतान का आरोप दयानन्द ने ही लगाया था, ऐसी बात नही है। पुनर्जागरण के ही एक *अन्य कर्णधार तथा अपने आपको* महान वेदान्ती कहने वाले स्वामी विवेकानन्द ने इस सम्बन्ध मे लिखा *था—"शकर अद्वैतवादी थे,* इसलिए उन्होंने सभी सूत्रों की केवल अद्वैत मत में व्याख्या करने की चेष्टा की *है।" उन्होने एक व्याख्यान मे यहाँ तक कह दिया था कि* "शंकराचार्य जैसे बड़े-बड़े भाष्यकारों ने अपने मत की पुष्टि के लिए जगह-जगह पर शास्त्रों का ऐसा अर्थ किया है जो मेरे विचार मे समीचीन नही है।" दया-*नन्द ने भी लगभग ऐसा ही कहा है।*

परन्तु बात केवल अद्वैतवाद के दार्शनिक पक्ष या सैद्धान्तिक पहलू की ही नही थी। दयानन्द तो व्यवहारवादी, यथार्थ-दृष्टि-सम्पन्न दार्शनिक थे। उन्होंने यह स्पष्ट अनुभव किया था कि शांकर अद्वैतवाद और मायावाद ने देशवासियों को कर्मशील जीवन से विरत कर उन्हे स्वप्नलोकवासी, परलोक-चिन्तन करने वाले, मात्र मोक्षकामी ही बना दिया है। समाज और राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों को सर्वथा विस्मृत कर 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि' के तथाकथित महावाक्यों की मीमांसा करने वालो ने दर्शन जगत् मे ख्याति के चाहे जैसे झण्डे गाड़ दिये हो, किन्तु उनसे देश तथा समाज का हित तो कदापि नही हुआ। जन-सेवा, लोक-हित के लिए स्वार्थ-त्याग, देश और जाति के व्यापक कल्याण की सिद्धि के लिए समर्पण-भाव आदि के उदात्त तत्त्व उन वेदान्तवादियो में यदा-कदा ही दिखाई पड़ते हैं। अतः यदि हमे अपने जीवन को जड, निष्क्रिय तथा पलायनोन्मुख नही बनाना है, तो वेदान्त की मोहमयी मदिरा का त्याग करना ही होगा, यह दयानन्द की पक्की धारणा थी।

इस प्रकार शांकर मत का सर्वभावेन निरसन करने के पश्चात् दयानन्द ने जीवेश्वर-भेदवाद के पोषक द्वैत सिद्धान्त (अथवा जीव, ईश्वर एवं प्रकृति की त्रिविध अनादि सत्ताओ को स्वीकार करने वाले त्रैतवाद) की स्थापना की। उन्होंने जीवेश्वर-सम्बन्धों की विवेचना करते हुए इनमे परस्पर उपास्य-उपासक, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, मित्र-मित्र तथा सेव्य-सेवक भावो को स्वीकार किया।

भारत के दार्शनिक चिन्तन को दयानन्द की एक अन्य महत्त्वपूर्ण देन, उनके आर्ष-ग्रन्थ-प्रामाण्य के सिद्धान्त से ही अनुस्यूत हुई है। वे यह मानते हैं कि न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा वेदान्त एवं मीमासा—छहों वैदिक दर्शन एक दूसरे के विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' के, तृतीय तथा अष्टम समुल्लास मे षड्दर्शन-समन्वय का उल्लेख किया है तथा एतद्विषयक चर्चा को सूत्र रूप मे उठाया है। यदि उन्हें समय मिलता तो सम्भवतः वे सभी दर्शनो की समन्वयात्मक दृष्टि से व्याख्या भी करते। दर्शन-सूत्रो में सामञ्जस्य स्थापित करने का यह श्लाघनीय प्रयास उनके इसी मन्तव्य पर आधारित था कि सांख्यादि दर्शनों के प्रणेता कपिल आदि— साक्षात्कृतधर्मा, जीवन एवं जगत् के रहस्यों को हस्तामलकवत् जानने वाले, परावरज्ञ कोटि के ऋषि थे। अतः ऋषियो के कथन मे कोई मौलिक मतभेद नही हो सकता, शैली-भेद भले ही हो।

दयानन्द का दर्शन जीव एवं ईश्वर के परस्पर भेद के विचार पर आधारित है। अतः मूलतः दयानन्द ने जीव के लिए संसार के स्रष्टा एवं विधाता परमात्मा की प्रणतिपुरस्सर उपासना करने का ही विधान किया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वैदिक साहित्य तथा विचारधारा में ज्ञान, कर्म एवं भक्ति (उपासना) की त्रिपुटी को परस्पर-विरोधी तत्त्वों के रूप मे प्रस्तुत न कर एक दूसरे के पूरक के रूप मे विवेचित किया गया है। यह एक विडम्बना ही थी कि कालान्तर मे शंकराचार्य जैसे ज्ञानमार्गी दार्शनिकों ने ज्ञान और कर्म में छत्तीस का सम्बन्ध ठहराया और इन्हें परस्पर-विरोधी घोषित किया। इसी की प्रतिक्रिया वैष्णव सम्प्रदाय के भक्त

आचार्यों में हुई, जिन्होंने ज्ञान एवं कर्म का आत्यन्तिक बहिष्कार कर मात्र भक्ति को ही कलिकाल में परमात्मा की प्राप्ति का एकमेव साधन बताया। यह मध्यकालीन भक्ति भी कैसी थी? जो सामाजिक दायित्वो तथा सामाजिक सदर्भों से व्यक्ति को सर्वथा विच्छिन्न कर एक ऐसी आवेशपूर्ण स्थिति मे ले आती थी, जिसके वशवर्ती होकर मनुष्य अपने सभी सासारिक इतिकर्त्तव्यो से मुँह मोड लेता था।

दयानन्द ने वैष्णवो की इस आवेशमयी भक्ति का डटकर विरोध किया जो केवल एक बार के नाम स्मरण मात्र से ही अथवा तुलसी दल समर्पित कर देने मात्र से ही जीव के लिए मोक्ष का द्वार खोल देने का दावा करती थी, चाहे भक्त का वैयक्तिक जीवन कैसा ही अपराधपूर्ण क्यों न हो तथा उसके कर्म कितने ही दोषों से भरे क्यों न हों? देवता की प्रतिमा के समक्ष एक पुष्प समर्पित कर देने, गंगादि तीर्थों मे एक बार गोता लगा लेने अथवा गलत-सही किसी भी तरीके से नारायण के नाम का एक बार उच्चारण कर लेने से ही मनुष्य भव-पाशों से मुक्त होकर परमात्मा के परमधाम का अधिकारी हो जाता है। ऐसे भावो एव आस्थाओ ने भारतवासियों की पुरुषार्थवृत्ति को कुण्ठित कर उन्हे दैववादी, प्रारब्धवादी, अकर्मण्य एवं पलायनवादी बना दिया है, यह दयानन्द का सुदृढ विश्वास था।

दयानन्द का भक्तिवाद

तथापि इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना अनुचित ही होगा कि दयानन्द एक शुष्क विचारक एव तार्किक तथा 'वेदाभ्यासजडमति मीमासक' का ही व्यक्तित्व लेकर देश के सार्वजनिक जीवन के मच पर अवतरित हुए थे। स्वय के अनुसार उन्होंने सार्वजनिक जीवन को सर्वतोमुखी उन्नत बनाने का जो महद् अनुष्ठान आरम्भ किया था, वह प्रबल ईश्वर विश्वास के बल पर ही किया गया था। दयानन्द परमात्मा के अनन्य उपासक हैं। वे समर्पणशील भावना लेकर जगन्नाटक सूत्रधार के सम्मुख आने वाले एक विनम्र सेवक है, जिन्होने अत्यन्त भावप्रवण होकर अपने आराध्यदेव से कहा, "आपका तो स्वभाव ही है कि अंगीकृत को कभी नही छोड़ते।" वेदो पर आधारित दयानन्द का यह भक्ति सिद्धान्त 'आर्याभिविनय' मे संगृहीत विभिन्न मन्त्रो की व्याख्याओ मे पदे-पदे प्रकट हो रहा है।

अपने ग्रन्थों मे यत्र-तत्र उपासना की चर्चा करते हुए दयानन्द ने योग-साधना पर अत्यधिक बल दिया है। चाहे हम 'सत्यार्थप्रकाश' वर्णित उपासना प्रकरण (सप्तम समुल्लास) को ले अथवा 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' मे विवेचित 'उपासना विषय' को देखे, हमे सर्वत्र योगागो का विवेचन ही मिलेगा। दयानन्द ने स्वयं पातञ्जल योग पद्धति का अनुकरण कर समाधि अवस्था का साक्षात्कार किया था। यम, नियमादि की व्यवस्थित साधना के अनन्तर वे योग के विभिन्न सोपानो पर चढते हुए निर्विकल्पक समाधि की स्थिति को प्राप्त कर पाये थे। परन्तु मध्य युग मे योग के नाम पर जैसी अटपटी एवं भ्रष्ट साधनायें चल पड़ी थी, दयानन्द का उनसे स्पष्ट वैमत्य था। वे न तो हठयोग की उन साधनाओ के पक्षपोषक थे, जो केवल शारीरिक क्रियाओ को ही महत्त्व देती हैं और न वे योग के नाम पर नाना गुह्य एव रहस्यपूर्ण बातो को ही प्रश्रय देना चाहते थे। उपासना, धर्म, अध्यात्म एव दर्शन के क्षेत्र मे दयानन्द की सर्वोपरि देन तो यही है कि वे पुरातन विश्वासो, धारणाओ तथा पद्धतियों से केवल इसलिए चिपटे रहने का उपदेश नही देते कि ये प्राचीन है, अत: हमारे लिए आचरणीय तथा मान्य हैं। वे मनुष्य के विवेक को जागृत करना चाहते हैं। जिन वेदो को सर्वोपरि प्रमाण मानने के लिए उन्हे प्राय: दोषी ठहराया जाता है, उन वेदो के प्रति भी वे मानव जाति का विश्वास इसलिए जगाना चाहते हैं, कि वे वेदो को पूर्णतया बुद्धिसंगत, तर्कयुक्त एव सृष्टि रचना के शाश्वत नियमो के सर्वथा अनुकूल मानते हैं। दयानन्द की मानव जाति को यदि कोई एकमात्र महत्त्वपूर्ण देन है, तो वह यही है कि वे मनुष्य को अपनी बुद्धि, विवेक शक्ति तथा चिन्तन-प्रणाली का प्रयोग करने के लिए कहते है, किसी बात को केवल इसलिए मान लेने के लिए नही कहते कि वह हमारे शास्त्रकारों का आदेश है, पूर्वजो की प्रणाली है, अथवा महाजनों से समर्थित आप्तवाक्य है।

दयानन्द का सामाजिक दर्शन

दयानन्द जितने बड़े धर्मसंशोधक, धर्म-व्याख्याता अथवा धर्माचार्य हैं, एक समाज-शास्त्री, समाज-संस्कारक तथा सामाजिक नेता के रूप में उनका व्यक्तित्व भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यों तो वे उन्नीसवी शती के उन समाज सुधारकों की ही परम्परा में आते हैं, जिन्होंने वृहत्तर हिन्दू समाज में व्याप्त नाना बुराइयों, मूर्खतापूर्ण रीति-रिवाजों तथा पुरातन सड़ी-गली प्रथाओं के विरोध में आवाज उठाई थी, किन्तु दयानन्द का यह सुधारक रूप भी एक उग्र क्रान्तिकारी, समाज को आमूल-चूल बदलने वाले युगप्रवर्तक तथा क्रान्तद्रष्टा की प्रभा से परिवेष्टित है। भारतीय समाज में व्याप्त नाना बुराइयों, विषमताओं, शोषण की प्रवृत्तियों तथा अत्याचारमूलक प्रथाओं को नष्ट करने के लिए दयानन्द के प्रयासों का सर्वत्र सब कालों में अभिनन्दन हुआ है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन को खोखला बनाने वाली भीषण प्रथाओं का उन्होंने जिस प्रकार डटकर विरोध किया था, यह सब आज इतिहासकार की विवेचना में आ चुका है। अतः बाल-विवाह के उन्मूलन, विधवाओं की स्थिति को सुधारने, नारी को समाज में उच्चतर स्थिति प्रदान कराने, दलित एवं अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों को उनका अधिकार दिलवाने, जन्मजात जाति प्रथा के दोषों की ओर जन-समाज का ध्यान आकृष्ट करने आदि से सम्बन्धित उनके कार्यों का पुन: विचार करना पिष्टपेषण ही होगा।

परन्तु हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि दयानन्द के तुरन्त पश्चात् ही हमारे देश मे एक ऐसा चिन्तक वर्ग उत्पन्न हो गया था, जो न केवल सुधारवाद का विरोधी था, अपितु जो प्रत्येक प्राचीन प्रथा के औचित्य को सिद्ध करने तथा सर्वथा जर्जर, मृतप्राय एवं हानिकर रूढ़ियों का शब्दाडम्बर युक्त एवं आलंकारिक व्याख्या प्रणाली का सहारा लेकर समर्थन भी करता था। इन लोगों ने सुधारक वर्ग के कार्यों का अवमूल्यन तो किया ही, उन पर अनेक प्रकार से छींटाकशी भी की। सम्भवत: वे सुधारकों द्वारा सामाजिक बुराइयों की कटु आलोचना से भी चिढ़ गये थे, परन्तु सुधारकों के इस प्रकार अग्निजिह्व हो जाने के कारणों की उन्होंने कभी मीमांसा नहीं की। यदि वे ऐसा करते तो निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते कि रूढ़ियों और बुराइयों की समालोचना बिना किसी लागलपेट के ही करनी होती है, तभी उसका अभीष्ट फल भी प्राप्त होता है। कोमल शब्दावली का प्रयोग कर हम शताब्दियों से किये जाने वाले उन निर्मम अत्याचारों को समाप्त नहीं करा सकते, जिनके कारण दीर्घ काल तक हमारी प्रगति अवरुद्ध होती रही है।

दयानन्द, गांधी और मार्क्स

डा० प्रभाकर माचवे
निदेशक, भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता

प्ररोचना

यह बहुत ही सुखद बात है कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी व्याख्यान-माला का समारम्भ कर रहा है। अपने गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती से आलोक पाकर देश और समाज को अज्ञान की कन्दराओ से निकालने के लिए स्वामी जी ने पाखण्ड-खण्डिनी पताका फहराई। सस्कृत के उद्‌भट विद्वान होते हुए भी हिन्दी को लेखन का आधार बनाकर वह सामान्य जन-जीवन के साथ जुड़े। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश से ससार मे अभूतपूर्व क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम मुद्रण १८७५ तथा द्वितीय संस्करण १८८४ मे हुआ। इस दूसरी आवृत्ति का महत्त्व इस बात से भी है कि इस संस्करण की भाषा अधिक प्रांजल और टकसाली है तथा आधुनिक हिन्दी लेखन का मार्ग इसने प्रशस्त किया है। पुरानी सधुक्कड़ी हिन्दी को नया वैचारिक क्षितिज देकर स्वामी जी ने यह सिद्ध कर दिया कि वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक *ज्ञान-विज्ञान की विविध वैचारिक सरणियो का उच्चतर अध्ययन-अध्यापन* और चिंतन-मनन हिन्दी मे हो सकता है। वह हिन्दी को आर्यभाषा कहते थे। मादाम ब्लावत्स्की को लिखे एक पत्र मे स्वामी जी ने स्पष्ट सकेत किया था कि वह जिस पत्र का उत्तर उनसे चाहे, उसको नागरी लिपि मे लिखवा कर उनके पास भेजा करें।

भारतीयता और राष्ट्रीयता का पाचजन्य उन्होने बजाया। वह भारतीय नवजागरण के अग्रदूत थे; तथा समाज सुधार, शिक्षा, औद्योगिक-वैज्ञानिक उन्नति तथा स्वतंत्रता की उन्होने सर्वप्रथम कल्पना की थी। यही कारण था कि उन्होने धर्म-व्यवस्था, आदर्श समाज-व्यवस्था, स्वतन्त्रता, समानता, समाज-व्यवस्था तथा सर्वांगीण शिक्षा व्यवस्था पर अपने मौलिक तथा उपादेय विचार व्यक्त किये। सत्यार्थ प्रकाश एक खण्डन-मण्डनात्मक ग्रन्थ ही नही है, उसमें मनु आदि धर्मशास्त्रकारों का युगानुरूप नवीन भाष्य प्रस्तुत किया गया है। वह आधुनिक मनु की ऐसी विधि तथा आचार-संहिता है जिसमे देश, काल, जाति, वर्ण तथा अलगाववाद से ऊपर उठे हुए मानव मात्र के लौकिक तथा पारलौकिक अभ्युदय और निःश्रेयस् प्राप्ति का विधान बताया गया है। आत्मिक तथा भौतिक उन्नति का ऐसा संतुलित उपाय इतने विशद वैचारिक और व्यावहारिक स्तर पर महर्षि से पूर्व किसी समाज सुधारक तथा युगद्रष्टा ने नहीं दिया था।

स्वामी जी का निर्वाण ३० अक्टूबर १८८३ को हुआ। उनके निर्वाण को सौ वर्ष हो गए। इस लम्बे अन्तराल मे देश मे कई उतार-चढ़ाव देखे और आज जिन विस्फोटक एव विषम परिस्थितियो मे देश खड़ा हुआ है, उनसे मानव धर्म, लोकतन्त्र, सामाजिक समानता, सामूहिक अभ्युदय और लोक जीवन के उत्कर्ष से सम्बन्धित मूल्यों को खतरा पैदा हो गया है। अतः इन जटिल समस्याओं के परिप्रेक्ष्य मे स्वामी जी के कार्य का पुनर्मूल्यांकन होना चाहिए। *आशा है, इस व्याख्यान-माला के प्रसंग से* देश के अनुभवी-विशेषज्ञ विद्वान, ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के अवदान का अनेक विचार-बिन्दुओं से अध्ययन-मनन करेंगे तथा

ऋषि के विचार सूत्रों के पल्लवन द्वारा वर्तमान समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करेंगे। मुझे विश्वास है कि इस भाषणमाला से ऋषि दयानन्द के बहुमुखी और विराट् व्यक्तित्व के विविध पहलू उजागर होंगे।

इस व्याख्यान-माला का शुभारम्भ ३०, ३१ अगस्त १९८४ को पंजाब विश्वविद्यालय दयानन्द चेम्बर के अध्यक्ष डा० भवानीलाल भारतीय ने 'आर्य समाज उपलब्धियाँ, सीमाएँ और अपेक्षाएँ' तथा 'दयानन्द सरस्वती के विचार—समाज की कसौटी पर' शीर्षक दो व्याख्यान देकर किया।

इस क्रम मे द्वितीय व्याख्यान बहुभाषाविद्, सुप्रसिद्ध विचारक तथा साहित्यकार डा० प्रभाकर माचवे का 'दयानन्द, गाधी और मार्क्स' विषय पर आयोजित किया जा रहा है। यह सर्वविदित है कि दयानन्द और कार्ल मार्क्स समकालीन थे। दयानन्द का प्रादुर्भाव १८२४ ई० तथा मार्क्स का जन्म १८१७ ई० मे हुआ था। दोनों का देहावसान १८८३ मे हुआ था। दोनों ने ही अपने समय में शोषित मानवता के उद्धार का प्रयत्न किया। दयानन्द की दयालु दृष्टि ह्रासोन्मुख सामन्ती समाज, पिछडी हुई तथाकथित जातियों तथा नारी परतन्त्रता की ओर गई। उन्होंने पानी, हवा, सूर्य के समान ही सबके लिए ज्ञान और शिक्षा की अनिवार्यता पर बल दिया। मानवमात्र वेद के ज्ञान से लाभ उठा सके, यह उनका विशेष प्रयत्न था। कर्म के आधार पर जाति की व्यवस्था देकर उन्होंने श्रम को प्रतिष्ठित किया। वर्णाश्रम मर्यादा और राज्य की उन्होंने जनोपयोगी व्याख्या की। मानववादी समाज-व्यवस्था का वैदिक आधार अत्यन्त प्रभावी और निर्दोष है। वैदिक व्यवस्था में सम्पत्ति के स्वैच्छिक विनिमय की सद्भावनाश्रित व्यवस्था है। जहाँ दुरुपयोग होने पर सम्पत्ति के छीन लिए जाने का भी विधान है। सम्पत्ति के स्वामित्व का आधार यहाँ सदुपयोग है तथा श्रमाधिकार की सुरक्षा के साथ-साथ राष्ट्र और समाज के सार्वजनिक हित की रक्षा उसका मूल उद्देश्य है। इस प्रतिबन्ध के कारण ही सम्पत्ति के निजत्व का अधिकार भी व्यक्तिगत और सामाजिक बुराइयों को जन्म नही दे सकता। मनुष्यों की योग्यता, रुचि और प्रवृत्ति को ध्यान मे रखकर जीवन-यापन की सुविधाओं को सबके लिए समान रूप से जुटाने की व्यवस्था यहाँ है और इसके लिए नैतिकता तथा आध्यात्मिकता का अकुश आवश्यक माना गया है। राष्ट्रहित में समर्पण और दान की वृत्ति वैदिक साम्यवाद का मूल आधार है। भारतीय समाज मे सभी वर्ग समान महत्त्व के हैं, यह ठीक है कि वर्ग-वैषम्य के कारण अभी वह स्थिति नही आ पाई जिसकी कल्पना दयानन्द ने की थी। दयानन्द के इस अध्यात्मप्रेरित साम्य सिद्धान्त को श्रद्धानन्द (१८५६-१९२६) तथा गाधी (१८६९-१९४८) ने आगे बढाया और कालान्तर मे उदारतावादी सुधारको को उनसे प्रेरणा मिली। सामाजिक-आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए मार्क्स के अनुयायियो को बहुत दूर तक सफलता मिली है पर विचार-स्वातन्त्र्य तथा व्यक्ति-स्वातंत्र्य की ज्योति वहाँ निष्प्रभ हुई है। भारत मे धार्मिक-सामाजिक सगठन के लिए विचार तो हुआ है पर व्यावहारिक स्तर पर अभी ऊँच-नीच तथा छुआछूत की भावना पर पूर्ण विजय नही प्राप्त की जा सकी। दयानन्द और गांधी की अध्यात्म-प्रेरित लोक-क्रांति अभी शेष है तथा बुद्धिजीवियों के लिए यह एक सामयिक चुनौती है।

डा० माचवे 'दयानन्द, गांधी और कार्ल मार्क्स' के गहरे अध्येता हैं। अपने भाषण में उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से तीनों विचारकों के सिद्धान्तों का अधिकारपूर्वक विवेचन-विश्लेषण किया है। आशा है, युग के इन तीन ऋषियो को अपनी भिन्नताओं और समस्याओं के गुण-दोषो के साथ सच्चाईपूर्वक समझने और सोचने का अवसर हमको मिलेगा। मैं डा० माचवे को इस विद्वत्तापूर्ण विवेचनात्मक व्याख्यान के लिए हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

बलभद्र कुमार हूजा
कुलपति

कुलपतिजी तथा आदरणीय मित्रो,

मैं सर्वप्रथम गुरुकुल (कांगडी) के कुलपति तथा प्राध्यापक डा० विष्णुदत्त 'राकेश' का बहुत आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे आपके सम्मुख उन्नीसवी और बीसवीं सदी के तीन श्रेष्ठ विचारकों का शुभ-स्मरण और तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए यहाँ बुलाया। महापुरुष जीवन-मार्ग के दिशा-दर्शक दीपस्तम्भ हैं। उनके जीवन चिंतन के आलोक मे ही हम आगे बढते हैं, आदर्शों के लिए संघर्ष की और कितनी भी गयी-गुजरी परिस्थिति में मानवता के लिए भावी आशा की प्रेरणा और प्रोत्साहन पाते हैं।

इन व्याख्यानों में मैं तीनों महान समाज-सुधारकों और नवीन वैचारिक आम्नाय और आयाम निर्माताओं के जीवन और विचारो का आलेख प्रस्तुत करूँगा। तत्पश्चात् कुछ तुलनात्मक प्रश्न उठाऊँगा, जिनका विश्लेषण आज के भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य मे आवश्यक और उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी मेरी मान्यता है। हर महान विचारक की एक ऐतिहासिक महत्ता होती है, और उसी के साथ-साथ दिक्काल की सीमा मे ही हर विचार का यथोचित मूल्यांकन होना चाहिए। प्रत्येक विचार के मूल मे युग होता है, परन्तु उसकी परिणति युग-युग के लिए प्रासंगिक और सार्थक होने में ही निहित है। इसी दृष्टि से, हम पहले तीनो नवीन मत-उन्नायको का अलग-अलग विचार करेंगे, और उनके सामाजिक-सास्कृतिक प्रभावों का समग्रता मे विचार करेंगे। आज के भारत को ध्यान मे रखकर शास्त्र और शास्त्र-विरोध, धर्म और धर्म निरपेक्षता, रूढि और पाखंड-खण्डन, मत-वाद और समाज-विकास आदि पर पुर्नविचार आवश्यक है। अन्यथा सही अर्थ मे न तो 'सत्य के अर्थ पर प्रकाश' पडेगा, न 'पूँजी' की गुलामी से मुक्ति मिलेगी, न 'हिन्द स्वराज्य' और 'नवजीवन' के लाभ 'हरिजन' को भी मिल सकेंगे। संक्षेप में इस चर्चा मे १८२४ से १९४८ यानी स्वामी दयानन्द सरस्वती के जन्म से महात्मा गांधी के महा-निर्वाण की शती की भारतीय चेतना की चर्चा होगी, और यूरोप मे और विश्व मे कार्लमार्क्स के वैचारिक प्रभाव की भी।

महर्षि दयानन्द सरस्वती

महात्मा गांधी ने लिखा—"महर्षि दयानन्द हिन्दुस्तान के आधुनिक ऋषियों मे, सुधारको मे और श्रेष्ठ पुरुषो मे एक थे। उनके जीवन का प्रभाव हिन्दुस्तान पर बहुत अधिक पडा है।" रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा —"मेरा सादर प्रणाम हो उस महान गुरु दयानन्द को, जिसकी दृष्टि ने भारत के आध्यात्मिक इतिहास मे सत्य और इतिहास को देखा और जिसके मन ने भारतीय जीवन के सब अंगो को प्रदीप्त कर दिया—जिसने देश की पतितावस्था मे सीधे व सच्चे मार्ग का दिग्दर्शन कराया।" योगी अरविंद ने कहा है—"उनके ध्यान से मेरे समक्ष आध्यात्मिक क्रियात्मकता की एक शक्ति सम्पन्न मूर्ति उपस्थित होती है।—वे स्वयं दृढ चट्टान थे। उनमें वह शक्ति थी जो चट्टान पर घन चलाकर पदार्थों को सुदृढ़ व सुडौल बना सके। प्राचीन सभ्यता मे विज्ञान के बहुत से गुप्त भेद विद्यमान हैं, जिनमें से कुछ को अर्वाचीन विद्याओ ने ढूँढ लिया है, उनका परिवर्तन किया है और उन्हें अधिक समृद्ध व स्पष्ट कर दिया है, किन्तु बहुत से दूसरे अभी तक निगूढ ही बने हुए हैं। इसलिए दयानन्द की इस धारणा में कोई अवास्तविकता नहीं है कि वेदो मे विज्ञान-सम्मत तथा धार्मिक सत्य निहित है।" नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने कहा—"मैं स्वामी दयानन्द को एक धार्मिक और सामाजिक सुधारक तथा कर्मयोगी मानता हूँ। संगठन कार्यों के सामर्थ्य और प्रसार की दृष्टि से आर्यसमाज अनुपम संस्था है—रामकृष्ण मिशन ने बंगाल में जो कुछ किया, उससे कहीं अधिक आर्यसमाज ने पंजाब और संयुक्त

प्रांत में किया।" पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय उन्हें अपना गुरु और धर्मपिता मानते थे। "मुझे इस बात का गर्व है कि मेरे गुरु ने मुझे स्वतंत्रतापूर्वक विचार करना, बोलना और कर्तव्य-पालन सिखाया। और मेरी माता आर्यसमाज ने मुझे एक संस्था में बद्ध होकर नियमानुवर्तित्त्व का पाठ दिया।"

भारत के राष्ट्र नेता ही नहीं अन्य धर्मीय और अन्य क्षेत्रों के महापुरुषों ने दयानन्द का महत्त्व इन शब्दों में वर्णित किया है :

(१) साधु टी० एन० वासवानी—"ऋषि के अप्रतिम ब्रह्मचर्य, सत्य संग्राम और घोर तपस्या के लिए अपने हृदय के पूज्य भावों से प्रेरित होकर मैं उनकी वंदना करता हूँ। मैं ऋषि को शक्ति-सुत अर्थात कर्म-वीर योद्धा समझकर आदर करता हूँ।"

(२) प्रिंसिपल एस० के० रुद्र ईसाई थे। पर उन्होंने लिखा—"इसका श्रेय स्वामी दयानन्द को ही है कि हिन्दू लोग आधी शताब्दी मे ही रूढ़िवाद और पौराणिक देवी-देवताओं की पूजा छोड़कर अत्यन्त शुद्ध ईश्वरवाद को मानने लगे।"

(३) जी० एस० आरुंडेल थियोसाफिकल सोसायटी के भारतीय प्रणेता थे। वे मानते थे कि "महर्षि दयानन्द भारतवर्ष के सर्वोत्तम महापुरुषों में से एक थे। उन्होंने भारत मे राष्ट्रीय शिक्षा का विचार पैदा किया।"

(४) श्री विजयराघवाचारियर ने कहा—"आपने न केवल उन लोगों को जिन्होने आपको विष दे दिया था क्षमा कर दिया। प्रत्युत, वह अपूर्व काम किया कि उन्हे मुकद्दमे और दंड के चंगुल से छुड़ाया।"

विदेश के कई महामनीषियों ने दयानन्द के प्रति बहुत महत्त्वपूर्ण उद्‌गार व्यक्त किये हैं।

(१) "यह पुरुष-सिंह उनमे से एक था जिन्हें यूरोप प्रायः उस समय भुला देता है जबकि वह भारत के सम्बन्ध में अपनी धारणा बनाता है, किन्तु एक दिन यूरोप को अपनी भूल मानकर उसे याद करने के लिए बाधित होना पड़ेगा, क्योंकि उनमें कर्मयोगी, विचारक और नेता की प्रतिभा का दुर्लभ सम्मिश्रण था।

"दयानन्द ने अस्पृश्यता वा अछूतपन के अन्याय को सहन नही किया और उससे अधिक उनके अपहृत अधिकारों का उत्साही समर्थक दूसरा कोई नही हुआ। भारत मे स्त्रियों की शोचनीय दशा को सुधारने में भी दयानन्द ने बड़ी उदारता व साहस से काम लिया। वास्तव में राष्ट्रीय भावना और जनजागृति के विचार को क्रियात्मक रूप देने में सबसे अधिक प्रबल शक्ति उसी की थी। वह पुनर्निर्माण और राष्ट्र संगठन के अत्यन्त उत्साही पैगम्बरों में से था।"

—फ्रांसिसी लेखक रोम्यां रोला

(२) हमें वेदों के अध्ययन को प्रोत्साहन देने और यह सिद्ध करने में कि मूर्तिपूजा वेद सम्मत नही है, स्वामी दयानन्द के महान् उपकार को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। आर्य समाज के प्रवर्तक वर्तमान जाति-भेद की मूर्खता और उसकी हानियों के विरुद्ध अपने अनुयायियों को तैयार करने के अतिरिक्त यदि और कुछ भी न करते तो भी वह वर्तमान भारत के बड़े नेता के रूप में अवश्य सम्मान पा जाते।

—जर्मन प्रोफेसर डा० विण्टरनीज

(३) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू धर्म के सुधार का बड़ा कार्य किया और जहाँ तक समाज सुधार का सम्बन्ध है, वह बड़े उदार हृदय थे। वे अपने विचारों को वेदों पर आधारित और उन्हें ऋषियों के ज्ञान पर अवलम्बित मानते थे। उन्होंने वेदों पर बड़े-बड़े भाष्य किये, जिससे मालूम होता है कि वे पूर्ण अधीत थे। उनका स्वाध्याय बड़ा व्यापक था।

—जर्मन विद्वान मैक्समूलर

(४) स्वामी दयानन्द के उच्च व्यक्तित्व और चरित्र के विषय मे निस्संदेह सर्वत्र प्रशंसा की जा

सकती है। वे सर्वथा पवित्र तथा अपने सिद्धांतों के अनुसार आचरण करने वाले महानुभाव थे। वह सत्य के अत्यधिक प्रेमी थे।

—रेवरेण्ड सी० एफ० एण्ड्रूज

अक्सर स्वामी दयानन्द को मुस्लिम-विरोधी कहा जाता है। पर चार बड़े मुस्लिम विचारक नेताओं की श्रद्धांजलि कुछ दूसरी ही कथा कहती है :

(१) मैं देखता हूँ कि कोई भी हिन्दू जब आर्यसमाज में आता है तो उसमें बहुत विशेषता आ जाती है। उसके अन्दर उत्साह, देशभक्ति, कर्मशीलता और एक तरह की अजीब स्प्रिट काम करने लगती है।

देश के कामों में ही लीजिए, जब तक और लोग स्वराज्य का स्वप्न देख रहे थे, स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज अपनी पुस्तकों द्वारा उसका प्रचार करने लगे थे।

मैं खुशी के साथ कहता हूँ कि असहयोग के जमाने से पहले करीब ३० फीसदी आर्यसमाजी स्वराज्य के कार्यों में हिस्सा लेने वाले और लीडर थे, जबकि और सुसाइटियों के मुश्किल से २-३ फीसदी आदमी ही स्वराज्य का काम करते थे।

—मौलाना हसरत मुहानी

(२) स्वामी दयानन्द महान संस्कृतज्ञ और वेदज्ञाता थे। वे विद्वान् ही नहीं किन्तु एक अत्यन्त श्रेष्ठ पुरुष भी थे। वे परम हंस के गुणों से विभूषित थे। उन्होने केवल एक ज्योतिर्मय निराकार परमेश्वर की आराधना करने की शिक्षा दी। हमारा स्वामी जी से घनिष्ठ सम्बन्ध था, और हम उनका आदर करते थे। वह ऐसे विद्वान और श्रेष्ठ पुरुष थे कि अन्य मतावलम्बी भी उनका मान करते थे।

—सर सैयद अहमद खां

(३) महर्षि दयानन्द भारत-माता के उन प्रसिद्ध और उच्च आत्माओं में से थे, जिनका नाम संसार के इतिहास मे सदा चमकते हुए सितारे की तरह प्रकाशित रहेगा। वह भारत माता के उन सपूतो मे से थे, जिनके व्यक्तित्व पर जितना भी अभिमान किया जाय थोड़ा है। नैपोलियन और सिकन्दर जैसे अनेक सम्राट एवं विजेता ससार में हो चुके है, परन्तु महर्षि उन सबसे बढ़ कर थे।

—खदीजा बेगम एम० ए०

(४) ईसाइयत और पश्चिमी सभ्यता के मुख्य हमले से भारतीयों को सावधान करने का सेहरा यदि किसी व्यक्ति के सिर बाँधने का सौभाग्य प्राप्त हो तो स्वामी दयानन्द जी की ओर इशारा किया जा सकता है। १९वीं सदी मे स्वामी दयानन्द जी ने भारत के लिए जो अमूल्य काम किया है, उससे हिन्दू जाति के साथ-साथ मुसलमानों तथा दूसरे धर्मावलम्बियों को भी बहुत लाभ पहुँचा है।

—पीर मुहम्मद यूनिस

वस्तुतः इन श्रद्धांजलियो के बाद इस गुरुकुल मे दयानन्द के जीवन और कार्य की विशेषताओं के बारे में और कुछ कहना मेरे लिए सूर्य को दीपक दिखाने और 'उल्टे बाँस बरेली जाये' वाली लोकोक्ति का पुनरुच्चार होगा। परन्तु चूँकि यह तुलनात्मक अध्ययन की पुस्तिका उन अनेक पाठको के पास भी जायेगी, जो आर्यसमाज के अनुयायी नही होंगे या जो महर्षि के जीवन के प्रमुख तथ्यों से अपरिचित होंगे, इसलिए मैं जल्दी से उनके जीवन की रूपरेखा और उनकी उपलब्धियों पर कुछ कहकर मुख्य विषय की ओर मुड़ूँगा।

गुजरात मे काठियावाड मे मोरवी मे एक शिवभक्त नैष्ठिक ब्राह्मण अम्बाशंकर की सन्तान मूलशंकर दयानन्द ने पाँच वर्ष मे विद्यारंभ करके, चौदहवें वर्ष में सारा यजुर्वेद कंठस्थ कर लिया। चौदहवें वर्ष मे शिवरात्रि के जागरण मे शिव मंदिर में एक चुहिया को शिव-मूर्ति पर चढ़कर नैवेद्य खाते देखकर दयानन्द के मन मे शंका जागी कि जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ शिव है क्या वह एक चुहिया को भी नही हटा सकता? मूर्ति-पूजा से उनका विश्वास उठ गया। १८४१ में उनकी बहन की हैजे से मृत्यु ने उनके मन में वैराग्य

उत्पन्न कर दिया। पिता ने अंतर्मुखी पुत्र के विवाह की ठानी। पर वे घर छोड़कर भाग गये। समर्थ रामदास स्वामी भी विवाह-मंडप से भाग गये थे। उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया। अब वे १४ वर्षों तक हिमालय में घूमते रहे। १८६० में जब वे मथुरा में पहुँचे तो उन्हें प्रज्ञाचक्षु विरजानंद गुरु के रूप मे मिले। उनके साथ ढाई वर्षों तक वे वेदाध्ययन करते रहे। नैष्ठिक संन्यासी बनकर उन्होंने हरद्वार के कुम्भ मेले में पाखण्ड खडिनी पताका फहराई और मूर्तिपूजा विरोध का प्रचार आरम्भ किया। १८६६ में काशी मे गये और पंडितों के साथ संस्कृत में शास्त्रार्थ किया। यहीं पर केशवचन्द्र सेन नामक ब्राह्म समाज के नेता ने कहा कि संस्कृत में शास्त्रार्थ न करके हिन्दी मे कीजिये। गुरु विरजानन्द ने १८६३ मे उन्हे जो सदेश दिया था कि "प्राचीन वैदिक धर्म का ज्ञान मातृभूमि मे फैलाओ!" उसी को उन्होंने अपना जीवन-मंत्र बना लिया।

१८७२ में स्वामी दयानन्द कलकत्ता पहुँचे। ब्राह्मसमाजियों को लगा कि दयानन्द उनके अनुयायी बन जायेंगे। पर ब्राह्मसमाजी न आत्मा के पुनर्जन्म को, न वेद की अन्तिम और प्रमाणातीत सत्ता को मानते थे। सो उन्होंने अपना धर्म चलाने का निश्चय किया। १८७४ मे पहला आर्यसमाज स्थापित हुआ। १८७७ में वे पंजाब गये। दो महीनों के भीतर लाहौर मे उन्होंने आर्यसमाज का मुख्यालय बनाया। उनके उपदेश उन तरुणों के मन में बहुत अच्छा प्रभाव कर गये जो पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित थे, और हिन्दू रूढिवादिता और अंधविश्वासों को छोड़ना चाहते थे; और साथ ही ईसाई नही बनना चाहते थे। १८७८ मे दयानन्द मैडेम ब्लैवत्स्की और कर्नल आलकाट नामक थियोसोफिकल सोसायटी के नेताओ के संपर्क मे आये। पहले वे चाहते थे कि दयानन्द थियोसोफिस्टों के साथ मिलकर उनके कार्यक्रम का प्रचार करें, परन्तु वह नही हो सका।

दयानन्द अपना प्रचार कार्य ज्यों-ज्यों बढ़ाते गए, उनका विरोध भी बढ़ता गया। उन्हे नदियों मे डुबाकर मारने का प्रयत्न किया गया। काशी, लाहौर, पूना में उन पर पत्थर फेंके गए। बाजारो मे उन्हे अपमानित किया गया। पर उन्होंने किसी की परवाह नहीं की। उनका प्रभाव बढ़ता गया। वे अपने अमर ग्रन्थों का, सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि, ऋग्वेद भाष्य-भूमिका और सातवें मण्डल तक ऋग्वेद का भाष्य और बाद में यजुर्वेद भाष्य आदि अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थों का प्रणयन करते गए। स्कूल, कालेज, गुरुकुल, संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना की। उन्होंने विधवाश्रम भी स्थापित किये। १८८३ मे उन्हे जोधपुर के महाराज ने बुलाया, जहाँ वे बीमार पड़ गए। एक मुस्लिम नर्तकी, जो राजा की रखैल थी उसने अपने को अपमानित अनुभव कर एक रसोइये के हाथों कांच पीसकर भोजनार्थ देकर दयानन्द पर विषप्रयोग किया। महर्षि अक्टूबर १८८३ में दिवंगत हो गये।

उनके द्वारा प्रचारित दर्शन और समाज सुधार की निम्न दस विशेषताओं का लोहा जो आर्यसमाजी नही भी हैं, वे भी मानते हैं।

(१) वेद ईश्वर प्रणीत हैं। उनके ज्ञान का सृष्टि प्रक्रिया से पूर्ण मेल है। वे स्वतः प्रमाण हैं। दूसरे किसी भी ग्रंथ के ज्ञान का सृष्टि की बातों से इतना मेल नहीं। वेद ही मानव समाज के वैज्ञानिक और पारमार्थिक विचारों के उद्‌गम हैं। वेदान्त ही श्रेष्ठतम दर्शन है।

(२) मूर्ति पूजा व्यर्थ है। पौरोहित अनुष्ठान झूठे हैं। अवतारवाद और तीर्थाटन की बातें केवल पौराणिक कपोल-कल्पना पर आधारित हैं। अट्ठारह पुराण मूल्यवान नही।

(३) जातिभेद एकदम गलत है। गुण कर्म विभाग ही जातियाँ हैं, जन्मना नही। अतः मनुष्य मनुष्य में ऊँच-नीच का भेद करना यह अत्यन्त अवैदिक धारणा है।

(४) अन्य धर्मों का अवलम्बन करने वाले वैदिक धर्म को अपना सकते हैं। जो हिन्दू धर्म-परिवर्तन से मुस्लिम, ईसाई या अन्य धर्मीय हुए हैं, वे पुनः हिंदू हो सकते हैं।

(५) स्त्रियों की जागृति के पक्ष में, दयानन्द द्वारा माता को प्रथम स्थान दिया गया (पिता को द्वितीय, आचार्य को तृतीय)। उन्होंने बाल-विवाह विरोध; प्रीति विवाह प्रोत्साहन; विधवा-पुनर्विवाह का समर्थन;

कुछ विशेष परिस्थितियों में नियोग को भी मान्यता दी। शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री और पुरुष में वे भेद नहीं करते थे।

(६) दयानन्द ने परदेश-पर्यटन को निषिद्ध नहीं माना। पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन और परीक्षित करके वहाँ की अच्छी बातों को अपनाने पर बल दिया।

(७) ब्रह्म यज्ञ—संध्या, नियमित वेद पठन

देव यज्ञ—अग्नि की उपासना

पितृ यज्ञ—बड़ों की सेवा

अतिथि यज्ञ—विद्वान, अतिथि, संन्यासी को भोजन देना

बलि यज्ञ—अंध, पंगु, अनाथ, पशु-पक्षी को अन्न दान

(८) शाकाहार और गो-रक्षा का महत्त्व। 'गो करुणानिधि' ग्रंथ मे इस पर विशेष आग्रह किया गया।

(९) योग के चमत्कार निरे तमाशे हैं। दयानन्द की ऐसे झूठे प्रचारक योगियों से अनास्था थी। 'पायोनियर' के सम्पादक मि० सिनेट को उन्होने लिखा।

(१०) छुआछूत न मानी जाये। अस्पृश्यता वेद सम्मत नही है।

महर्षि के विचार-रत्नो मे से यहाँ नौ वाक्य उन्ही के शब्दो मे उद्धृत किए जा रहे हैं, जिनसे उनके सिद्धान्तों की सर्व व्यापकता मे संदेह नहीं होगा।

(१) ईश्वर विश्वास—मैंने इस धर्म-कार्य का सर्व शक्तिमान सत्य ग्राहक और न्याय सम्बन्धी परमात्मा के चरण में शीश धर उसी के सहाय के अवलम्ब से आरम्भ किया है। (भ्रांति निवारण भूमिका)

(२) जीवनोद्देश्य—सुनने और प्रश्नोत्तर होने के पश्चात सज्जनो को यही योग्य है कि सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करके स्वयं सदा आनन्दित होकर सबको आनन्दित किया करें। (ज्येष्ठ बदी १२ सं० १९४०, २ जून सन् १८८३ का विज्ञापन)

(३) अन्यायाचरण के साथ असहयोग—चाहे कोई हो, जब तक मैं न्यायाचरण देखता हूँ, मेल करता हूँ, और जब अन्यायाचरण प्रकट होता है, फिर उससे मेल नही करता, इसमे कोई हरिश्चन्द्र हो व अन्य कोई हो। (१९ मार्च १८७७ के कर्नल आल्काट के नाम लिखे पत्र से)

(४) आर्यावर्त देश की स्वाभाविक सनातन विद्या संस्कृत ही है—उसी से देश का कल्याण होगा। अन्य भाषा से नही। (सत्यार्थ प्रकाश प्रथम संस्करण की लिखित प्रति मे चौदहवें समुल्लास का लेख)

(५) स्वामी-सेवक का पारस्परिक वर्ताव—स्वामी सेवक के साथ ऐसा बरतें जैसा अपने हस्तपादादि अंगों की रक्षा के लिए बर्तते हैं। सेवक स्वामियो के लिए ऐसे बरते कि जैसे अन्न, जल, वस्त्र और घर आदि शरीर की रक्षा के लिए होते हैं। (व्यवहार भानु)

(६) सार्वदेशिक भावना—यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मतमतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूँ वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालों के साथ भी वर्तता हूँ। जैसा स्वदेश वालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय मे वर्तता हूँ वैसा विदेशियों के साथ भी, तथा सब सज्जनों को भी वर्तना योग्य है। (सत्यार्थप्रकाश भूमिका)

(७) मनुष्य—जो बलवान होकर निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहलाता है, और जो स्वार्थ-वश होकर परहानि मात्र करता रहता है, वह मानो पशुओं का भी बड़ा भाई है।

(८) राज्य—इस परम्परा की सृष्टि मे अभिमानी, अत्याचारी, अविद्वान लोगों का राज्य बहुत दिन नही चलता। (सत्यार्थ प्रकाश ११)

(९) दुख सागर—विद्वानो के विरोध से अविद्वानो मे विरोध बढ़कर अनेकविध दुख की वृद्धि और

सुख की हानि होती है। इस हानि ने, जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःख सागर में डुबा दिया है।

दयानन्द के विचारों से जो सहमत नही थे, उन्होंने उनके विरोध में बहुत-सी बातें बिना तथ्य या तर्क के आधार पर लिखी हैं। दयानन्द हर भारतवासी को शुद्ध और निर्मल चरित्र का संकल्पवान व्यक्ति बनाना चाहते थे। वे उसमे आत्मशक्ति का विस्तार करना चाहते थे। अतः उन्होंने ईसाई मत का खण्डन किया। ईसाई मत आत्मा के पुनर्जन्म मे विश्वास नही करता। यदि पुनर्जन्म मे विश्वास नही करेंगे तो मनुष्य मनुष्य मे जो जन्मतः विषमता पाई जाती है, जो दुख मनुष्य को अकारण भोगने पड़ते हैं उनका अर्थ कैसे समझाया जाय? यदि पुनर्जन्म न हो तो ईश्वर को अन्यायी मानना होगा, जो मनुष्यों मे विभेद पैदा करता है। यदि ईसाई मानते हैं; वैसे पाप को क्षमा कर देने वाला परमात्मा हो, तो वह दण्ड कभी देगा ही नही। मनुष्य बुरे कर्म करता है तो उसकी सजा उसे मिलनी ही चाहिए। अकेला क्राइस्ट मानव मात्र के पापो का भार अपने ऊपर कैसे ले सकेगा? ईसा का अपौरुषेय जन्म, ईसा का पानी पर चलना, पाँच रोटियों से पाँच हजार लोगो को खिलाना ऐसे चमत्कारों का भी महर्षि ने विरोध किया। वे मूर्तिपूजा मात्र के विरोधी थे। ईसा की प्रतिमा या सलीब या क्रास की पूजा को भी वे अंधश्रद्धा मानते थे। इस प्रकार से बुद्धिनिष्ठ, वैज्ञानिक दृष्टि अपनाकर दयानन्द ने अन्य धर्मों की कट्टरता का विरोध किया।

इस्लाम पर दयानन्द का आक्षेप यह था कि अल्लाह यदि सर्व-दयालु और प्राणी मात्र के प्रति कृपावंत है, तो फिर वह कुछ व्यक्ति विशेष या मिल्लत के बन्दों पर ही खास तौर से मिहरबान क्यो है? क्या ईश्वरीय करुणा या अल्लाह की रहम के यों हिस्से हो सकते हैं? यदि अल्लाह प्राणी मात्र के लिए दया रखता है, तो पशु बलि का विधान क्यों धर्मसम्मत है? काफिरों के प्रति जिहाद कैसे समर्थनीय है? चूंकि कुरआन मे ऐसा पक्षपात है, तो वह ईश्वरीय वाणी कैसे हो सकती है, यह दयानन्द का प्रश्न है। बाइबल या कुरान को वे साक्षात्कार वाले ग्रन्थ नहीं मानते। दोनों ग्रन्थों मे चमत्कारो का वे खण्डन करते हैं।

बौद्ध, जैन और चार्वाक आदि नास्तिक मतों की भी दयानन्द ने आलोचना की है। निरीश्वरवाद का वे विरोध करते हैं। चार्वाक मत के बाद तो उसके जो उपपन्थ हुए वे दयानन्द को मान्य नही है। धर्म मे ऐसे केवल प्रत्यक्ष प्रामाण्य, केवल इस शरीर या संसार तक भौतिकवादी दृष्टि को सीमित रखना दयानन्द को स्वीकार नहीं। बौद्धों का 'सब्बा संखारा अनिच्चा' (सब संस्कार अनित्य हैं) यह जितना एकांगी और त्रुटिपूर्ण दयानन्द को लगा, वैसे ही चार्वाकवादियो का केवल इन्द्रिय-सुख का समर्थन भी एकांगी है। वस्तुतः सुख-दुख एक सापेक्ष और व्यामिश्र अनुभूति है।

उन्होंने वेद के सही अर्थ न जानने से हिन्दुओं में भी कितने पंथ-उपपंथ होते गये और हिन्दुओं की एकता कैसे निर्बल होती गयी, इसे भी अपनी स्पष्टोक्ति से अधोरेखित किया है। दयानन्द सब प्रकार के मन्त्र गढनेवाले, माला पूजने और तरह-तरह के वेष धारण करने वाले साधुओं की साधुता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। हिन्दू धर्म की अवनति का मुख्य कारण उसके ये स्वार्थी, अंधश्रद्धा फैलाने वाले ढोंगी तथाकथित धर्म प्रचारक हैं। हिन्दू धर्म मे जो सुधारक पंथ हुए जैसे ब्राह्म समाज या प्रार्थना समाज उनके विदेश के विचारों से आतंकित होने की आलोचना दयानन्द ने की है। दयानन्द के अनुसार ये लोग प्रच्छन्न ईसाई हैं और उनमें देशभक्ति की कमी है। वे खान-पान, विवाह आदि में कोई नियम नही मानते, अतः उनकी नैतिकता सुविधा-भोगी है, ऐसा दयानन्द का मत था।

महाभारत पूर्व वैदिक आर्य भारत को दयानन्द आदर्श समाज-व्यवस्था मानते थे। तब आर्य शांति, समृद्धि और आस्था से भरे हुए थे। महाभारत के बाद बहुत-सी बुराइयां हिन्दू समाज मे आ गईं। दयानन्द चार आश्रमों पर आधारित समाज व्यवस्था को आदर्श मानते थे। वे चार पुरुषार्थों मे संयम और संतुलन पर बल देते थे। जाति प्रथा के आरम्भ मे वर्ण आदि का महत्त्व रहा हो, अब यह कहना कि 'ब्राह्मण मुख से पैदा

हुआ और शूद्र पैर से' अर्थशून्य है। मनुष्य का वर्ण आयु के २५ या २६ वे वर्ष मे निश्चित करना चाहिए, गुण कर्म के अनुसार। मनुष्यों मे कुछ भेद तो ईश्वर निर्मित हैं, कुछ मनुष्य-निर्मित। मनुष्य-निर्मित भेद एकदम बेमानी हैं।

दयानन्द के स्पष्ट विचार थे कि किसी भी समाज मे आवश्यकता से अधिक धन जमा हो जाना सब तरह की ईर्ष्या, द्वेष, लोभ-मोह और घृणा भेद का मूल है। पूँजी ही विलासिता की जननी है। अतः उसका समाज के सत्कार्य के लिए विनियोग आवश्यक है। दयानन्द विदेशी भाषा और विदेशी सत्ता के प्रखर विरोधी थे। वे चाहते थे कि वेदकालीन भारत का पुनराविर्भाव कार्य हो तो सब समस्याओ का निदान पाया जाए।

दयानन्द के निर्वाण के बाद एक शताब्दी बीत गई। १८९३ मे ही अँग्लो-वैदिक कालेज, लाहौर के दो दलों मे मतभेद आरम्भ हो गए। दयानन्द वैदिक शिक्षा और अनिवार्य संस्कृत के पक्ष मे थे। १९०२ मे हरिद्वार मे गुरुकुल स्थापित हुआ। बाद मे अंग्रेजी भी शिक्षा का विषय बन गयी। कई आर्यसमाजी कालेज अन्य कालेजो की तरह उपाधि वितरण के केन्द्र मात्र बन गये। १८७७ मे फिरोजपुर मे पहला अनाथालय खोला गया। अकाल के समय उसमे कई असहाय बालको को सुरक्षा मिली। १९०५ मे कॉगड़ा पार्वत्य क्षेत्र मे भूचाल आया। आर्यसमाज ने बड़ा सेवा कार्य किया। आर्यसमाज ने राष्ट्रीय आन्दोलन मे सक्रिय भाग लिया। ब्रिटिश शासन के दमन का उसे शिकार होना पड़ा। आर्यसमाज प्राचीन परम्परा को रखकर उसके साथ-साथ भविष्य की ओर भी देखता था। अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय करना चाहता था, जो बात पचास वर्ष बाद विनोबा भावे ने फिर से दुहराई। आर्यसमाज ने देश मे कर्मण्यता की चेतना फैलाई। आत्मावलम्बन पर आग्रह रखा। अध्यवसाय, मितव्यय, दूरदर्शिता, निर्व्यसनशीलता का जीवन मे मूल्यो की तरह प्रचार-प्रसार किया। हिन्दू समाज के एक बड़े हिस्से को उत्तर भारत मे आर्यसमाज ने अनुशासनबद्ध किया। यह सारा श्रेय दयानन्द के विलक्षण व्यक्तित्व और नेतृत्व को जाता है।

लाला लाजपतराय की 'आर्यसमाज के इतिहास' नामक पुस्तक की १९१५ मे सिडने वेब ने भूमिका लिखी। उसमे दयानन्द को मार्टिन लूथर जैसा सुधारक और योरपीय रिफार्मेशन के नेता की तरह इतिहास का शलाका-पुरुष माना गया है। पाडेय की पुस्तक 'दी आर्यसमाज एण्ड इण्डियन नैशनैलिज्म' मे दयानन्द की तुलना 'भारतीय एलिजाह या जौन दि बैप्टिस्ट' से की है, जो भारत को पुनः अपने प्राचीन गौरवशाली सुवर्ण-युग मे ले जाना चाहते हैं। वे वर्तमान को अतीत से अनुप्रेरित करना चाहते थे। दयानन्द की प्रेरणा से आर्य-समाज ने अनेक श्रेष्ठ लेखक, इतिहासकार, देशभक्त, विद्वान शिक्षाशास्त्री और सामाजिक कार्यकर्त्ता देश को दिए।

महात्मा गांधी

महर्षि दयानन्द के बाद हम महात्मा गांधी की विचारधारा पर आते हैं। गांधी जी के जीवन और कार्य से हम सब इतने सुपरिचित हैं कि मैं उसके बारे मे और कुछ नही कहूँगा। सीधे उनके विचार-दर्शन की विशिष्टताओ पर आना चाहता हूँ। कहा जाता है कि मोहनदास गांधी जब अफ्रीका से भारत आए तो एक आर्यसमाज की सभा में उन्हे 'महात्मा' उपाधि दी गई। गुजरात में सौराष्ट्र के पोरबन्दर के एक वैश्य परिवार में उनका जन्म हुआ था। जब वे हाई स्कूल मे थे तब उनका एक तगडा और बहिर्मुखी मुस्लिम छात्र-बन्धु शेख महताब पहला मित्र बना। पिता की मृत्यु १८८७ मे हुई तब उनका विवाह उनकी

उम्र से थोडी बड़ी कस्तूरबा से हो चुका था। एक राजचन्द्र कवि नामक जैन आशु कवि का गांधी के मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा, जिनकी सन् १९३० में अकाल मृत्यु हो गई। गांधी जी के बचपन में और कोई बड़े मित्र या ऐसी पुस्तकें जिनका उनके मन पर प्रभाव पड़ा हो, उल्लेख नही मिलता। हाँ, 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक उन्होंने जरूर लिखा। उनकी माँ और उनकी पत्नी कस्तूरबा यही दो बड़े प्रभाव इंगलैण्ड जाने से पहले के मिलते हैं।

१८८८ में गांधी साउदंपटन, इंगलैंड वकील बनने के लिए, पानी के जहाज से गये। अंग्रेजी भाषा उन्हें बहुत कठिन जान पडती थी। घरवाले भी 'विलायत मे जाकर छोरा बिगड़ जायेगा' इसी मत के थे। इंगलैं ड में उनका तीन वर्ष का निवास कई दृष्टियों से बहुत अर्थपूर्ण था। यही उन्होने बाइबिल पढ़ी। गीता का एडविन आरनाल्ड का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ा। उनकी आत्मकथा में वर्णन है कि उस समय के अंग्रेज-परस्त भारतीय छात्रों की तरह उन्होंने अपनी जीवन-पद्धति को ढालने की किननी कोशिश की—विलायती नाच सीखा, फ्रेंच सीखने की कोशिश की। पर सबसे विरक्ति होती गई। शाकाहारी सभा के मेम्बर बने, सबसे अधिक प्रभाव रस्किन की 'अंटू दि लास्ट' का पड़ा। भारतीय नेताओं के इंगलैंड निवास और उस कार्य-काल मे अंग्रेजी सभ्यता के स्पर्श में आने पर होने वाला मन का द्वन्द्व और अधिकांश विरति के अनेक उदाहरण हैं। दयानन्द को छोडकर प्राय: सभी भारतीय नेताओं ने, उन्नीसवीं बीसवीं सदी के नवजागरण काल मे विलायत की यात्रा की। तिलक, गोखले, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अरविंद, राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, विवेकानन्द, सावरकर, एम० एन० राय, राधाकृष्णन, कृष्णमूर्ति, इकबाल, कुमारस्वामी, नेहरू किसी का भी नाम लें—उन पर विलायत का, या पश्चिम का अनुकूल, प्रतिकूल और अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। यदि गांधी इंगलैंड न जाते और मैक्समूलर की पुस्तक 'हिन्दू धर्म से हमें क्या सीखना है?' न पढ़ते तो 'हिन्द स्वराज्य' कैसे लिखते? रस्किन की पुस्तक का अनुवाद 'सर्वोदय' कैसे करते। टालस्टाय से पत्र-व्यवहार और थोरो की 'पैसिव रेज़िस्टेंस' से प्रभावित नया सत्याग्रह का मार्ग कैसे खोज निकालते?

गाधी जी के बारे में और एक महत्वपूर्ण बात हमें भूलनी नही चाहिए। वे बचपन से मुस्लिम सस्कृति के सम्पर्क में आए। अप्रैल १८९३ में वे दक्षिण अफ्रीका में डरबन मे एक मुस्लिम व्यापारी फर्म के वकील बनकर गए। वहाँ १९१४ की जुलाई तक वे रहे। सेठ अब्दुल्ला के विरोधियों से गांधीजी ने समझौते से झगड़े निपटाने का मार्ग सुझाया। दक्षिण अफ्रीका मे काले-गोरे का 'जातीय' (एथ्निक) विरोध—अहिनकुलवत् विरोध—वे प्रत्यक्षदर्शी बनकर देख सके। तमिल बँधुआ मजदूरों की हालत उन्होंने देखी और शारीरिक दमन के वे शिकार बने। एक ओर जैन और ईसाई संस्कारों वाली अहिंसा, दूसरी ओर ईसाइयत और सभ्यता का नाम लेने वाली गोरी सरकार के साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी शोषण के पंजे। मुँह में राम नाम बगल में छुरी। कई आतंकवादी तो पश्चिम मे जाकर और अधिक विप्लवी हो गए। गांधी जी ने दूसरा और अधिक कठिन मार्ग अपनाया। अफ्रीका में काले लोग रेल मे, घोड़ागाडी मे गोरों के साथ बैठ नहीं सकते थे। गांधी ने सोचा, भारत में हम अछूतों और दलितों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं? क्या वह मानवीय है? जोहानसबर्ग जाते समय 'स्टेज कोच' में और ट्रेन में उन्हें अपमानित होना पड़ा। गाधी को गोखले और दादा भाई नौरोजी का आशीर्वाद मिला। आरम्भ से ही गांधी अनेक भाषा-भाषियो, अनेक प्रदेशों, अनेक धर्म-पंथों के लोगों के सम्पर्क में आए। काश ऐसा संयोग और नेताओं के जीवन मे आता!

गांधी साप्ताहिक 'इण्डियन ओपीनियन' पत्र निकालने लगे। पादरी हेनरी पोलक ने उन्हे रस्किन का 'अंटू दि लास्ट' पढने को दिया। बोअर युद्ध में १८९९ से १९०२ तक गांधी ने धर्मयुद्ध के अनुसार अपना दक्षिण अफ्रीका सत्याग्रह स्थगित किया। उन्होने एम्बुलेन्स कोर में सहायता दी। जुलू विद्रोह (१९०६-७) मे वालंटियर बने। गांधी के जीवन मे चार बार ऐसा आंशिक हिंसा का समर्थन मिलता है, जबकि वे कट्टर अहिंसा के पुजारी थे। अहिंसा को ही ईश्वर मानते थे। एक तो बोअर युद्ध के समय, दूसरी बार उन्होंने सेना

का समर्थन कश्मीर पर हमलावरों के आक्रमण के समय किया। उससे पहले बछड़े को साबरमती आश्रम मे गोली मार कर 'मर्सी किलिंग' का उन्होंने समर्थन किया और एपेंडिसाइटिस के आपरेशन में शरीर पर शल्य-क्रिया उन्होंने होने दी, यद्यपि वे चेचक का टीका लेने के विरुद्ध थे।

१६१५ में गांधी भारत लौटे। शांतिनिकेतन मे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के वे और सी० एफ० एण्ड्रयूज अतिथि बने। बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी मे उन्होने महाराजाओ के गहनों-कपडो का मजाक उड़ाते हुए एक तीव्र भाषण दिया। राजकुमार शुक्ल नामक किसान ने गांधी से चम्पारण के निलहे मजदूरों की दुर्दशा देखने के लिए आग्रह किया। यही से 'सत्याग्रह' की शुरुआत भारत मे हुई। पहले सत्याग्रह आन्दोलन की विशेषताएँ थीं—पहले किसी भी अन्याय की पूरी जांच करना, किसानो के बच्चों के लिए स्कूल खोलना, जो अन्याय कर रहे थे उन लोगों को कानून से सजा दिलवाना, यानी दण्ड देने का अधिकार अपने हाथ मे न लेना। १६१८ में गांधी ने अहमदाबाद के तन्तु मिल-मजदूरों के मामले मे मालिक और श्रमिको मे पच फैसले वाली बात, समझौते से सुलह कराने की बात शुरू की। एरिक एरिकसन गांधी जी के पिता की मृत्यु का प्रसग और अहमदाबाद की हड़ताल को अपने 'गांधीज ट्रूथ' मे बडा मनोवैज्ञानिक महत्त्व देते हैं। १६१६ से गाधी राजनैतिक प्रश्नों से पूरी तरह जुड गये। परन्तु रचनात्मक कार्यक्रम भी साथ-साथ चलता रहा।

'आमार जीवन आमार बानी' गाधी रवीन्द्र की इस उक्ति को अपने आटोग्राफ की तरह देते थे। उनका जीवन एक खुली पुस्तक थी। साबरमती और सेवाग्राम के आश्रमों मे गाधी जी ने ग्यारह व्रतो को अपने जीवन मे अपनाया और अपने अनुयायियों को भी उन्हे अपनाने को कहा—

> अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह,
> शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन,
> सर्वधर्मी समानत्व, स्वदेशी, स्पर्श-भावना,
> ही एकादश सेवावी नम्रत्वे दृढनिश्चये॥

विनोबा भावे ने दो अनुष्टुपों मे ये ग्यारह व्रत गूँथे हैं। ये अनुष्टुप आश्रम की सवेरे शाम की प्रार्थना के अग थे। गांधी अपने विचारों को बराबर विकासमान रखते गये। अपने आपको बदलते-सुधारते गये। जैसे उनका वेश। इगलैंड मे थ्री पीस सूट पहनते थे; बोअर युद्ध के समय सैनिक पोशाक स्वयंसेवक के नाते, फिर दक्षिण अफ्रीका मे कोट और पतलून, फिर भारत मे कठियावाडी पगड़ी-अंगरखा-धोती, टोपी-कुर्त्ता, अन्त में धोती और एक उत्तरीय (जाड़े में शाल)। एक-एक करके वे अपनी आवश्यकताएँ कम करते गए। अन्त में नमक सत्याग्रह के समय नमक छोड़ दिया सो छोड ही दिया। बंगाल मे फूका पद्धति देखकर गाय का दूध छोड़ दिया, तो बाद मे बकरी का दूध ही लेने लगे। गांधी का भोजन मे भी हाथ-कुटे चावल, हाथ-पिसे आटे का प्रयोग चलता रहा। मसाले उन्होंने छोड़ दिए। आजीवन उन्होंने कोई मिठाई नही खाई, चाय, कॉफी नही पी। और व्यसन तो दूर की बात है। एक सादा झोपड़ी में अपने हाथो से अपने वस्त्रों के लिए सूत कातते। और इतना बड़ा कार्य किया। उन्होंने भारतीय किसानो के साथ अपने को एकाकार कर लिया।

१६३१ में जब रोम्याँ रोलाँ गांधी से मिले तो उन्होने अपने एक मित्र को लिखा—"उनका मन निरन्तर प्रयोग करता जाता है। उनकी कर्मण्यता में एक सीधी रेखा नहीं होती। दस साल पहले उन्होंने क्या कहा, उससे आज उन्हें जाँचना ठीक नही होगा।" वे जब कहते थे कि "स्वराज्य की लड़ाई और पाखाना सफाई में सम्बन्ध है", तो वे सिर्फ चौंकाने वाले शब्द मात्र नही थे। वे जीवन को एक समग्र इकाई की तरह मानकर चलते थे। उनके लिए शरीर, मन और आत्मा 'दस्त, दिल और दिमाग' (हेड, हार्ट एण्ड हैंड) तीन अलग-अलग चीजें नही थीं। ज्ञान-भक्ति-कर्मयोग का समन्वय ही उनका सच्चा जीवनयोग था।

गांधी मे पूर्व और पश्चिम की विचारधारों का विलक्षण मिश्रण मिलता है। दयानन्द पश्चिम-

विरोधी थे, धार्मिक दृष्टि से। वैदिक धर्म उनकी दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ था। इस्लाम और ईसाई धर्म का इसी कारण से खण्डन करते हैं। पर गांधी सर्व-धर्म-समभाव लेकर चलते हैं। गांधी की दृष्टि में मानव अपूर्ण है, उसके बनाये सब धर्म अपूर्ण हैं। यह 'हर्फे आखिर' मानने वाले कट्टरपंथी धर्मों के 'फण्डामेटालिज्म' का सीधा जवाब था। इस तरह का 'एकमात्र सत्य मेरे पास है' और सब विश्वास असत्य हैं, मानना अय्यातोल्ला खोमेनी या हिटलर या तत्सम अविवेक पर आश्रित अनुदार विचारों को जन्म देता है।

यहाँ गांधी जी के राजनैतिक दर्शन के कुछ सिद्धान्तों को जानना जरूरी है। पॉल पावर ने गांधी की 'राष्ट्र' सम्बन्धी विचारधारा का विश्लेषण इन शब्दों में किया : "कर्म या श्रम, पृथ्वी और जीवन का नारी-पक्ष गांधी जी के समाज-दर्शन के तीन प्रधान प्रतीक हैं, (एस० एस० नेहरू के जर्मन लेख : डाई सोजियालिही इन स्टाटे गांधीज) यहाँ नारी तत्त्व से तात्पर्य है करुणा या समन्वय से। कभी-कभी गांधी 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग समाज-व्यवस्था के अर्थ में करते थे। वे कभी-कभी एक समान इतिहास और नियति वाली जनता की इकाई को राष्ट्र कहते थे। विन्स्टन चर्चिल जैसे ब्रिटिश भारत में अनेक भाषाओं, धर्मों, पंथों के कारण कई राष्ट्र देखते थे, पर गांधी सब भारतीयों को एक ही राष्ट्र का अंग मानते थे। उनके निकट राष्ट्रीयता केवल राजनैतिक विचारधारा नहीं, बल्कि भौगोलिक-सांस्कृतिक अभिव्यंजना थी।"

एक ओर उदारमतवादी यूरोपीय राजनीतिज्ञ हैं जो फ्रेंच राज्य-क्रांति के बाद जन-जन के 'स्वतन्त्रता, समता, बंधुता' के नारे को प्रधान मानते थे। दूसरी ओर इटली के ग्युसेपे मैजिनी का अन्तर्राष्ट्रीयता पर आधारित उत्तरदायित्व का सिद्धान्त था। आयरलैंड के डी वेलेरा के या जापानी राज-भक्तिपूर्ण राष्ट्र-प्रेम से गांधी का सिद्धांत भिन्न था। एक ही देश मे अनेक सांस्कृतिक इकाइयाँ होने पर भी उनका एक राष्ट्र बन सकता है, यह बीसवी सदी की राष्ट्रीयता की कल्पना गांधी जी को पसन्द थी। 'माडर्न रिव्यू' के अक्टूबर १६५३ के अंक में एण्टनी एलेनजिट्म ने 'ग्युसेपे मैजिनी और महात्मा गांधी' के बीच में तुलना और समानता की चर्चा की है। गांधी ने 'इण्डियन ओपीनियन' के जून २७, १६०८ के अंक में अमेरिका का उदाहरण देकर लिखा था कि वहाँ भी तो कई तरह के लोग, कई धर्म, वर्ण, भाषाएँ, बोलने वाले हैं, जो संयुक्त राष्ट्र बन गए हैं। भारत के लिए यह क्यो सम्भव नही ? जब लार्ड बर्कनहेड ने कहा कि भारत राष्ट्र नही है, तब 'यंग इण्डिया' मे जुलाई २३, १६२५ के अंक मे गांधी जी ने साग्रह लिखा— "हमारी दृढ़ धारणा है कि सारे व्यावहारिक मामलो मे भारत एक राष्ट्र है।"

सच्ची बात यह थी कि गाधी जी कभी भी केवल भौतिक जगत् और उसके सैन्य, शस्त्र, सत्ता पर आधारित शक्तिशाली राष्ट्र-तन्त्र मे विश्वास नही करते थे। उनके विचार से ऐसे राष्ट्र का कोई अर्थ नही था, जिसका आधार आध्यात्मिक न हो, जिसके पीछे परमात्मा का अधिष्ठान न हो। अतः उनके विचार से आदर्श राज्य रामराज्य ही हो सकता था। वे विकेन्द्रीकरण वाले ग्राम-राज्य मे विश्वास करते थे। वे पूर्णतः अराजकतावाद मे विश्वास नही करते थे। टालस्टाय की तरह वे राष्ट्रहीन अवस्था दुनिया मे हो जाएगी, ऐसा नहीं मानते थे। कम्युनिस्टों की तरह जन-जातियो पर आधारित छोटे-छोटे राष्ट्रों की आत्म-स्वतन्त्रता वाली बात भी सही नहीं मानते थे। पी० सी० जोशी से उनका इस सम्बन्ध मे विचार-विनिमय प्यारे लाल की 'महात्मा गांधी : पूर्णाहुति' ग्रन्थ में विस्तार से दिया गया है। वे प्राचीन धर्म-राज्य के बदले प्रजाराज्य चाहते थे। वे राजा जैसे किसी एक व्यक्ति-संस्था मे विश्वास नही करते थे। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में १६१६ मे उनका राजाओं की वेश-भूषा पर कडा भाषण इसका प्रमाण है कि वे उस तरह के ऐश्वर्य-प्रदर्शन और सामन्ती वैभव-विलास को गलत मानते थे।

गांधी धर्म-संस्था और राष्ट्र-संस्था के एकीकरण के विरोधी थे। पोप हो या दलाई लामा, गांधी यह मानने से इन्कार करते थे कि राष्ट्र का सूत्र किसी धर्म-प्रचारक के हाथों मे हो। यों गांधी महाभारत के इस वचन में विश्वास करते थे—"असाधुश्चैव पुरुषो लभते शीलम् एकदा।" (१२-२५६-११) हर पापी के

भविष्य मे सन्त बनने की आशा है। इस कारण से वे ईसाइयो के इस मत के बहुत निकट थे कि "पाप से घृणा करो, न कि पापी से।" उनके लेखे राष्ट्र जैसी संस्था में अपने आप कोई सद्गुण या दुर्गुण नही छिपे हैं। परन्तु उसके उपयोग पर यह निर्भर करता है कि क्या परिणाम निकलता है। यों राष्ट्र भी एक उपकरण मात्र है। मैक्स वेबर के कथन के बहुत करीब गांधी जी का यह मत-विश्वास था कि "राष्ट्र एक तात्रिक साधन-मात्र है, वह अपने-आप में कोई मूल्य या साध्य नहीं।"

टी० एच० ग्रीन आदि पाश्चात्य नीतिशास्त्रज्ञ राष्ट्र की नैतिक जिम्मेदारी की बात करते हैं। पर गांधी जी राष्ट्र संस्था को ऐसी कोई इयत्ता या महत्ता नहीं देते। गांधी जी जन-साधारण मे विश्वास करते हैं। और इस कारण से प्रत्येक व्यक्ति के अच्छे होने पर जोर देते हैं। वे नही मानते कि राष्ट्र जैसी कोई सत्ता दण्ड के सहारे मनुष्य मात्र को सुधार सकती है। वे इसी कारण से ग्राम-पचायत से शुरू करना चाहते है। छोटी-छोटी इकाइयों से वे अपना आदर्श राज्य बनाते हैं। उनके लेखे सत्य और अहिंसा व्यक्तिमात्र का कर्त्तव्य और धर्म है। उसी मे से आगे चलकर राष्ट्र बनते है, जो अच्छे और बुरे मार्गों का और नीतियो का अनुसरण करते है। इसलिए राष्ट्र सुधर सकते हैं, अच्छे या बुरे हो सकते हैं। और यह सब व्यक्ति के सुधार पर निर्भर करता है।

गांधी जी का साम्यवाद के सम्बन्ध मे क्या रुख था और साम्यवादी उन्हे क्या-क्या समझते रहे, यह दर्शनीय है। गाधी जी ने गत महायुद्ध के समय जेल-यात्रा मे कार्ल मार्क्स के 'डास कैपीटल' और एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन आदि की कुछ किताबे पढी। परन्तु मार्क्सवादी पार्टियो के भारत मे और भारत के बाहर के कारनामो से वे बिल्कुल अनभिज्ञ रहे हो, ऐसा नही माना जा सकता। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी भी कभी उन्हें ग्रामीण प्रतिक्रियावादी, कभी पूंजीवादियों का एजेण्ट और बाद मे महान राष्ट्रीय नेता कहती रही।

गांधी जी १९१७ वाली रूस की अक्टूबर क्रांति के बाद कम्युनिस्ट विचारधारा के प्रति दो-तीन तरह के रुख रखते रहे : एक तो उस साम्यवाद से भारत को कोई खतरा नही है। दूसरे सोवियत कम्युनिज्म के बारे में हम बहुत कम जानते हैं, तीसरे, कम्युनिज्म मे निहित हिंसा, नास्तिकता और वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त का विरोध। १९१४ मे गाधी जी को सोवियत रूस से निमन्त्रण मिला था, वे यहां के स्वतंत्रता आन्दोलन की सहायता करना चाहते थे। परन्तु गांधी जी ने उसे अस्वीकार कर दिया। 'यग इण्डिया' मे उन्होने लिखा, "*मुझे किसी भी प्रकार के हिंसक उद्देश्य के लिए उपयोग में लाना असफल होगा।*" १९२८ मे गाधी जी ने कहा, "मैं स्वीकार करता हूं कि मुझे बोल्शेविज्म का पूरा अर्थ समझ मे नही आया है। मुझे बताया गया है कि यह वाद वैयक्तिक संपत्ति का नाश चाहता है। अपरिग्रह के नैतिक आदर्श का अर्थनीति के क्षेत्र मे प्रयोग ही शायद यह विचारधारा थी। यदि यही काम शान्तिपूर्ण तरीको से किया जाए तो यह आदर्श बात होगी, परन्तु जहाँ तक मैं जानता हूँ बोल्शेविक विचारधारा हिंसा-शक्ति से परहेज नही करती। उलटे वैयक्तिक-सम्पत्ति के विनाश की पूरी अनुमति देती है। यदि यह सच है तो ऐसा बोल्शेविक राज अधिक समय तक नहीं चल सकेगा। मेरा दृढ विश्वास है कि हिंसा पर आधारित कोई भी चीज चिरस्थायी नही हो सकती। परन्तु इस विचारधारा के पीछे लेनिन जैसी महान् आत्माओं और अनेक नर-नारियो का त्याग और बलिदान है और वह व्यर्थ नही जाता।"

एक वर्ष बाद गांधी पर यह आरोप लगाया गया कि वे उस साम्राज्यवाद-विरोधी संघ के सदस्य हैं, जिसका कम्युनिस्टों ने नेतृत्व किया था। रोम्यां रोलाँ, जार्ज लैन्सबेरी, अलबर्ट आइन्स्टाइन, मादाम सुन्यातसेन आदि इस संघ के विरोधी थे और उन्होंने गांधी जी पर यह आरोप लगाया। गांधी जी नही जानते थे कि इस संघ का मूल संचालन मास्को से होता है। नेहरू भी इस संघ के सदस्य थे, १९३० तक। बाद मे उन्हें इस 'लीग एगेन्स्ट इम्पीरियलिज्म' ने अपनी सदस्यता से वंचित कर दिया (नेहरू जी की 'बंच आफ ओल्ड लेटर्स' पृ० ११४ तथा ब्रेचेर की जीवनी के पृष्ठ ११३-११५)। १९३० के बाद तक गांधी जी साम्यवाद की ओर एक

अद्भुत-रम्य दृष्टि से देखते थे। अपने आपको वे अहिंसक साम्यवादी मानते थे।

दूसरे महायुद्ध के आरम्भ में गांधी जी कम्युनिस्ट कूटनीतिज्ञता से आगाह हुए। १९३८ में हिटलर और पश्चिम के जनतन्त्रों के बीच म्युनिख समझौते पर लिखते हुए गांधी ने सोवियत रूस के बारे में लिखा कि "वहाँ का तानाशाह रक्त के समुद्र में चलकर शांति का सपना देखता है।" युद्ध शुरू होने पर एक वर्ष बाद अगस्त २३, १९३९ की जर्मन-सोवियत सन्धि को और पोलैंड या दोनों राष्ट्रों के आक्रमणों को उन्होंने 'दुखद' बतलाया। फिर भी उन्हें कुछ आशा थी। जून १९४१ के बाद सोवियत-जर्मन सन्धि टूटने पर गांधी को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद उतना ही आक्षेपाहं लगा जितना नाजीवाद। १९४४ मे गांधी जी ने भारतीय साम्यवादी दल के मंत्री के साथ हुई चर्चा में रूस के अवसरवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोध-विस्मरण प्रश्न पर गांधी जी को लम्बी ठेस उन्होंने व्यक्त की है। 'भारत जब गुलाम है तब गुलाम जनता का कैसा युद्ध?" गांधी ने पूछा। गांधी जी भारतीय साम्यवादी दल से, इस प्रकार से दूर हटते गये। और अपने जीवन के अन्त तक वे उसे क्षमा न कर सके। १९४६ मे उन्होने यहाँ तक लिखा कि भारतीय साम्यवादी "अच्छे-बुरे, सत्य-असत्य के बीच में कोई भेद-भाव नहीं करते।" फिर भी व्यक्तिगत रूप से उन्होंने साम्यवादियो के हृदय-परिवर्तन में विश्वास नहीं छोड़ा। गांधी जी ने इटली के फासिस्टवाद और जर्मनी के नाजीवाद की जिन कारणों से बुराई की, ठीक वही दोष उन्हें साम्यवाद मे भी दिखाई दिये।

पंचगणी में जुलाई, १९४६ के अन्तिम सप्ताह मे लुई फ़िशर की गांधी जी से जो बातचीत हुई, जिसका ब्यौरा प्यारेलाल जी ने ४-८-१९४६ के 'हरिजन' में दिया था, उससे यह पता चलता है:

गांधी जी ने कहा—"हमारे समाजवादी भाइयों की त्याग और सेवा की भावना के लिए मेरे मन मे बहुत प्रशंसा-भावना है, फिर भी मैंने उनके और मेरे तरीकों में जो तीखा अन्तर है उसे कभी नही छिपाया है। वे तो स्पष्टतः खुलेआम हिंसा में विश्वास करते हैं और उसके साथ जो कुछ भी उसमे छिपा है उसमे भी। मैं अहिंसा में पूरी तरह विश्वास करता हूँ।"

इससे चर्चा समाजवाद की ओर मुड़ी। फ़िशर ने बीच में बात काटते हुए कहा, "तो वे भी समाजवादी हैं और आप भी हैं।"

गांधी जी ने उत्तर दिया, "मैं हूँ, वे नही हैं। उनमें से बहुत-से नही जनमे थे तब का मैं समाजवादी हूँ। जोहान्सबर्ग में एक कट्टर समाजवादी की नजर मे भी समाजवादी था। पर वह बात तो अब न यहाँ की है न वहाँ की। मेरी बात तो तब भी रहेगी जब समाजवाद भी नहीं रहेगा।"

"आपके समाजवाद का क्या मतलब है?"

"मेरे समाजवाद का अर्थ है 'अन्तिम व्यक्ति तक भी' या सर्वोदय। मैं अन्धों, बहरों और गूँगों की राख पर नहीं खड़ा होना चाहता। उनके समाजवाद में, शायद इन लोगों के लिए कोई स्थान नही है। उनका एकमात्र उद्देश्य है भौतिक प्रगति। उदाहरणार्थ अमेरिका चाहता है कि हर नागरिक के पास एक कार हो जाये। मैं नहीं चाहता। मैं तो अपने व्यक्तित्व के पूरे साधन चाहता हूँ। यदि मैं चाँद तक सीढ़ियाँ बनाना चाहूँ तो उसकी मुझे स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि मैं ऐसा कुछ करना चाहता हूँ। उस तरह के समाजवाद में कोई व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नही है। वहाँ तो तुम्हारे पास किसी चीज पर अधिकार नहीं। अपने शरीर पर भी नहीं।"

"मेरे और उनके समाजवाद मे यह फर्क है। मेरे समाजवाद में यह होगा कि सरकार किसी चीज पर कोई अधिकार या सत्ता नहीं रखेगी। रूस में तो राज्य ही सर्वसत्ताधारी है। वहाँ तो आप कोई गुनाह न करें तो भी सुनता हूँ, किसी भी समय आप गिरफ्तार हो जा सकते हो। वहाँ आपको चाहे जहाँ भेज सकते हैं।"

"क्या आपके आदर्श समाजवाद में, राज्य बच्चों को शिक्षित करने का यत्न नहीं करेगा?"

"सभी राज्य करते हैं। अमेरिका भी।"

"तो अमेरिका रूस से बहुत भिन्न नहीं है।"

"असल में आप तानाशाही के विरुद्ध हैं।"

"समाजवाद तो तानाशाही है या फिर आरामकुर्सी का दर्शनमात्र है।"

ऐसी यह बातचीत चलती रही जिसमे गांधी जी ने समाजवाद और साम्यवाद के मिश्रण की भी बात की। लुई फ़िशर ने स्वीकार किया कि मार्क्स के मूल सिद्धान्तो को पहले लेनिन ने क्रांति द्वारा जमीन पर उतारा, और बाद में स्तालिन ने और भी उन्हे विकृत कर दिया। और इस प्रक्रिया में मूल उद्देश्य से समाजवाद दूर-दूर होता चला गया—ठीक जैसे धर्म अपने मूल स्थान से बदलकर रूढ़ियों से जकड़ जाता है।

मानव समता की बात सभी करते हैं। पर क्या वह संभव है ? और संभव भी हो तो कहाँ तक ?

गांधी जी यन्त्रों के विरुद्ध थे, ऐसा भी एक प्रवाद फैलाया गया है, पर वे मोटर, रेल, घड़ी, टेलीफोन, माइक्रोफोन, सीने की मशीन आदि का उपयोग करते थे। बाइसिकल के भी वे विरुद्ध नहीं थे। वस्तुतः वे मशीन के गलत उपयोग के विरुद्ध थे। वे यांत्रिकता के विरुद्ध थे। मैक्स वेबर ने अपने समाजशास्त्र के ग्रन्थों मे लिखा है कि कार्ल मार्क्स अपने वर्ग-विग्रह मिटाने के लिए व्यापक औद्योगीकरण के सिद्धान्त के प्रचार के जोश मे भूल गया कि यंत्रो के साथ जो फ़ुरसत आयेगी, जो इफरात से उत्पादन होगा उसमे मनुष्य कैसे अकेला पडता चला जायेगा ? यह आत्म-निर्वासन उसके लिए शाप की तरह सिद्ध होगा। और इसीलिए उन्होने 'मनुष्य और मशीन' के सिलसिले मे कहा था :

मैं तो बिना किसी हिचकिचाहट से दृढ़तापूर्वक कहूँगा कि दुनिया मे मास प्रोडक्सन (विशाल परिमाण पर उत्पादन) का पागलपन ही आज की दुनिया के सारे संकटो का मूल है। यह भी मैं क्षण-भर को मान लूँ कि मशीन से सारी मानव-जाति की सब जरूरतें पूरी की जा सकेगी, फिर भी उससे उत्पादन कुछ ही क्षेत्रो मे केन्द्रित हो जायगा। और फिर वितरण को नियन्त्रित करने के लिए उलटे और व्यवस्था करनी पड़ेगी। यदि उत्पादन और वितरण, अपने-अपने क्षेत्रों मे आवश्यकतानुसार स्वयं नियंत्रित होते चले तो फिर अप्रामाणिकता को और सट्टेबाजी को प्रश्रय नही मिल सकेगा।

वस्तुतः मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण न हो, यह सिद्धान्त अस्तेय व्रत पर निर्भर है। वेदो मे कहा गया है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
न अर्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी॥

(अर्थ—संकुचित दृष्टि वाले मनुष्य को मिली हुई धनराशि व्यर्थ है। उसके घर में यह राशि नही संचित है, बल्कि उसका मरण संचित है। जो भाई-बहन को नही देता, सुपात्र को नही देता और केवल अपने तक ही देख पाता है, ऐसा आदमी पाप रूप है।)

अर्थोत्पादन की प्रत्येक सीढ़ी के बारे मे गांधी जी के विचार उपयोगी हो सकते हैं। उत्पादन, वितरण, विनिमय, उपभोग—सभी क्षेत्रों में। खेतों में उपज की ही बात ले तो गांधी जी जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं की कृषि के पक्ष में थे, केवल नगद मुनाफा दिलाने वाली पैदाइश या 'कैश क्रॉप' के पक्ष में नहीं थे। तमाखू या अफीम की खेती से ज्यादा मुनाफा होता है तो उसी को बो रहे हैं, चावल या गेहूँ के लिए विदेशों के आगे हाथ पसार रहे हैं, यह बात गांधी जी पसन्द नही करते थे। गन्ने या कपास की उपज में भी ध्यान विदेशी मुद्रार्जन पर रखने की बात उनकी समझ में नही आती थी। कृषि मे वे आत्म-निर्भरता को प्राथमिकता देना चाहते थे।

अन्न और वस्त्र में स्वावलम्बन पर जोर देने से गांधी जी दस्तकारी या हस्तोद्योग को महत्त्व देते थे। वे तन्तु-मिल व्यवसाय में भी मालिक और मजदूर दोनों पक्षों में परस्पर-सहयोग और परस्पर-चर्चा से लाभ का वितरण चाहते थे। अहमदाबाद में किए हुए ऐतिहासिक उपवास में से विश्वस्त का सिद्धांत उन्हें सूझा। वे बनिया जाति के थे इसलिए नहीं, पर सचमुच उनका विश्वास था कि जैसे कोई कारीगर एक विशेष गुण या कला में निष्णात होता है, वैसे ही व्यापारी व्यवसाय कला में माहिर हो सकता है। और उसके लिए उसे भी कामगर को जैसे पारिश्रमिक मिलता है, वैसा पारिश्रमिक दिया जाना चाहिए।

'गांधी और मार्क्स' नामक पुस्तिका (लेखक : किशोरीलाल घ० मश्रूवाला) की भूमिका में विनोबा भावे ने इस 'ट्रस्टी' या विश्वस्त वृत्ति की उत्पत्ति का मूल स्रोत गीता को माना है। गीता में बार-बार मनुष्य को ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने की प्रेरणा है। ऐसा कुशल कर्मयोग बन जाता है। इसी कर्म में फलाकांक्षा छोड़ने की बात है। और मनुष्य वहाँ अन्ततः ईश्वर के हाथों का एक उपकरण, एक 'निमित्तिमात्रं भव सव्यसाचिन्' हो जाता है। प्रश्न इतना ही है कि अध्यात्म के क्षेत्र मे जैसी 'कृष्णार्पणमस्तु' बुद्धि होती है, क्या व्यवसाय के क्षेत्र में भी वैसा कुछ सम्भव है?

ऐसे अनेक उदाहरण द्रव्य के अर्जन करने वालों को मिलते हैं, जहाँ अर्जक को अर्जन के मार्ग, या अर्जन की प्रक्रिया छूती नहीं। ऐसे भी उदाहरण हैं कि विलास की वस्तुओं के उत्पादक एकदम अविलासी है, या व्यसन की वस्तुओं के उत्पादक स्वयं निर्व्यसनी हैं। अतः यह आवश्यक नही कि वस्तु की वस्तुमत्ता उसे बनाने वाले या उसे बेचने वाले के साथ चिपटकर ही चले।

भारत के धनिक वर्ग ने भी गांधी को समर्थन दिया, जैसे दरिद्रनारायण ने। गांधी जी के अनुयायी कई परस्पर-विरोधी विचारधाराओं वाले थे : क्रान्तिकारी, आतंकवादी भी थे, और लिबरल-नरमदल वाले भी। अर्थ-व्यवसाय और साम्यवाद-समाजवाद के मामले मे भी उनके शिष्य एकमत नही रखते थे। मैं जब सन् ४० में सेवाग्राम में था तब आचार्य नरेन्द्रदेव भी वहाँ स्वास्थ्य-लाभ करने आये थे, सरदार पृथ्वीसिंह जैसे क्रान्तिकारी भी वहाँ थे। और सनातनी और आर्यसमाजी, शिया और सुन्नी, दिगम्बर और श्वेताम्बर, शैन बौद्ध और जैन बौद्ध, महायानी और हीनयानी, कैथोलिक और प्रोटस्टेण्ट, रूढ़िवादी और आधुनिकतावादी— सब तरह के शिष्य गांधीजी के आसपास आन जुटे थे।

गाधी ने अपने मन को मुक्त रखा था। चाहे अर्थशास्त्र हो या राजनीति, धर्म-अध्यात्म हो या नास्तिकता-धर्म-विरोध, गांधीजी ने इन सब प्रश्नों पर बहुत गहराई से विचार और मनन किया था, एक निपुण भारतीय किसान या मजदूर की दृष्टि को अपना कर। कितना कुछ विदेशी विचारधाराओ मे हमे ग्राह्य है, कितना हमारे अनुकूल है, इन सब बातों पर उन्होंने काफी ध्यान दिया था, ऐसा लगता है। इसलिए उनकी बाते न केवल भारत मे कई वर्षों तक सही रहेंगी, पर दुनिया के अन्य देशों को भी उनसे बहुत कुछ सीखने और ग्रहण करने योग्य मिलेगा, ऐसा भी कहा जा सकता है—अर्थात् उतनी ही मात्रा मे जितना भारत के और अन्य देशों के बीच मानवी परम्परा और प्रगति के बीच समानताएँ हैं।

साम्य या समता शब्द को एकरूपता का पर्यायवाची नही मान लेना चाहिए। जो बात अमेरिका के लिए उचित होगी, वह ज्यों-की-त्यों हर भारतीय के लिए भी होगी, यह मानना उतना ही भ्रमपूर्ण है जितना कि जो बात हर रूसी के लिए उचित होगी, वह ज्यों-की-त्यों हर भारतीय के लिए भी उचित होगी, यह मानना। यह दोनो मान्यताएँ मनुष्य-स्वभाव के यांत्रिक और जड मनोविज्ञान पर आधारित हैं। मनुष्य अपने स्थान-काल परिवेश की भौतिक उपज होता है उतना ही उसका चिन्तन-भावना संस्कारों की उपज के साथ-साथ, उसके अपने परिवेश से जुड़े सम्बन्धो और उसे बदल सकने की क्षमताओं पर निर्भर रहता है। एक आदिवासी या दुनिया की वैज्ञानिक प्रगति से कटा हुआ एक तिब्बती या अफ्रीकी कहीं अधिक भलामानुस या सत्प्रवृत्त इन्सान हो सकता है, और एक सारी सुख-सुविधाओ मे पलने वाला आधुनिकतम व्यक्ति भी अत्यन्त स्वार्थी और असत्

प्रयोजनों से कर्म करने वाला हो सकता है। मनुष्य की अच्छाई-बुराई या मानदण्ड केवल उसके आस-पास के भौतिक साधनों की संख्या या गुण मान लेना, मनुष्य के साथ अन्याय करना है। गाधी जी ने इस बात को अपने जीवन में घटित किया और प्रत्येक कर्म और वचन में उसे सिद्ध किया।

मनीषी मार्क्स

कार्ल मार्क्स का जन्म मई, ५, १८१८ को प्रशिया मे राइन प्रदेश के त्रियेर नगर मे हुआ। अब यह पश्चिम जर्मनी मे है। उसके पिता हाइनरिश वकील थे, कांट और वाल्तेयर की पुस्तको के प्रेमी। प्रशिया मे सविधान बनाने के आंदोलन मे उन्होंने भाग लिया। उसकी माँ हेनरिट्टा प्रेसबर्ग हालैंड से थी, और आजीवन एक अक्षर जर्मन का ठीक से बोल न सकी। कार्ल छह बरस का था तब उसका बाप्तिस्मा हुआ। वे यहूदी थे। त्रियेर के हाईस्कूल में कार्ल १८३० से ३५ तक पढे। ग्रीक भाषा, रोमन पुराण, कलाओ का इतिहास उनके विषय थे। जब वे बौन युनिवर्सिटी मे पढने गये, अन्य छात्रो की तरह वे ऊधमी थे, उन्होंने एक द्वन्द्वयुद्ध लड़ा, एक दिन की जेल भी उन्हे काटनी पड़ी, अधिक शराब पीकर अनुशासनहीनता के लिए। आजीवन उन्होंने केवल एक दिन जेल में काटा।

अक्टूबर १८३६ मे मार्क्स बर्लिन चले गये, कानून और दर्शन के विद्यार्थी बने। यहाँ वे हेगेल के दर्शन के सम्पर्क मे आये। 'यंग हेगेलियन्स' के सदस्य बने। ब्रूनो बाउएर के व्याख्यानो के वे मुरीद बने, जिसमे यह सिद्ध किया जाता था कि जीसस क्राइस्ट कोई सचमुच का ऐतिहासिक व्यक्ति नही था, केवल एक काल्पनिक पुरुष था। ब्रूनो को नास्तिकता का प्रचार करने के कारण नौकरी से हाथ धोना पडा। एडाल्फ रूटेनबेर्ग नामक एक पत्रकार मार्क्स का मित्र बना। वह समाजवादी विचारो के कारण जेल भुगत चुका था। अप्रैल १८४१ मे मार्क्स ने जेना विश्वविद्यालय मे 'दिमाक्रतस और एपीकूरस के दर्शनो मे अन्तर' विषय पर 'डाक्टरल डेसरटेशन' लिखा। उपाधि प्राप्त की। इसी समय लुडविग फ्वारबाख के पुस्तक 'डास वेस्सेन डेस क्रिस्टेनडुम' (१८४१, 'ईसाइयत का सार') से वह बहुत प्रभावित हुआ। कोलोन से निकलनेवाले 'राईनीशे त्साइटुग' पत्रिका मे मार्क्स लेख लिखने लगे। फ्वारबाख के भौतिकवाद का हेगेल के द्वन्द्ववादी तर्क से मार्क्स समर्थन करने लगे। इसी समय मार्क्स ने प्रेस की स्वतन्त्रता पर एक लेख लिखा। मार्क्स १८४२ मे इस पत्रिका के सम्पादक बने। कई विषयो पर उन्होंने सम्पादकीय लिखे, प्रशिया की सरकार ने पत्रिका बन्द करवा दी, रूसी सरकार के दबाव मे। मार्क्स पैरिस चले गये फ्रेंच कम्युनिज्म का अध्ययन करने।

पच्चीस वर्ष की आयु मे मार्क्स का विवाह जेनी फॉ वेस्टफालेन के साथ हुआ, वह उनसे चार बरस बड़ी थी। वह फौजी और प्रशासनिक कुल से आती थी। जेनी के पिता फ्रेंच समाजवादी सत सिमाँ के अनुयायी थे और कार्ल को चाहते थे। १८४४ मे उसने अपनी पहली पुस्तक 'ओकोनोमीश फिलासाफिशे मानुस्क्रिप्टे हाउस डेम जाहरे' लिखी, हेगेलवादी अर्नाल्डि रूज के साथ वह प्रतिवर्ष साम्यवादी चिंतन प्रकाशित करने जा रहा था। इन लेखों में उसने अपना प्रसिद्ध वाक्य लिखा—'धर्म जनता की अफीम है'। फ्रांस से निर्वासित होकर मार्क्स ब्रुसेल्स गया। बेल्जियम मे उसने अपनी प्रशिया की नागरिकता छोड दी। यहाँ साम्यवादी यहूदी धर्मप्रचारक (रबाई) मोजेस हेस्स के प्रभाव मे आया। और हेगेल के विरोध मे पुस्तक लिखी 'डी हाईलिगे फ़ामिली' (पवित्र परिवार)। इसके बाद १८४५-४६ मे लिखी 'डी डॉइश्शईडियोलोजी' मे अपने भौतिकवादी विचारों की, इतिहास की आर्थिक सम्बन्धों से व्याख्या की नींव रखी। फरांसीसी समाजवादी प्रूधो ने 'दरिद्रता

का दर्शन' (मिजेरदला फिलासोफी) १८४६ में लिखी; उसका जवाब अगले साल मार्क्स ने 'दर्शन की दरिद्रता' (फिलोसोफी दला मिजेर) लिख डाला। इसके बाद आया वह प्रसिद्ध ग्रंथ जिसने विश्व के इतिहास में बहुत बड़ी क्रांति निर्मित की—'दि कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' १८४७ में एंगेल्स के साथ लिखा। मार्क्स अब लंदन पहुँच गये। और वहीं बड़े कष्ट का जीवन बिताया। मार्क्स पुनः पैरिस और राइनलैंड बुलाये गये। पर वहाँ जर्मन शरणार्थियों के बीच वे बहुत अलोकप्रिय हुए, चूँकि उन्होंने श्रमिकों को जनतांत्रिक बूर्जुवाजी के साथ मिलकर राजनैतिक कार्यक्रम बनाने का निर्देश दिया। जून १८४६ में वे संसदीय जनतन्त्र के पक्ष मे और रूस पर आक्रमण करने के लिए लेख लिखते रहे। मजदूर यूनियन के क्रान्तिकारी नेता आंद्रेस गौटचाक जब पकड़े गये, तो उनके स्थान पर मार्क्स ने पहली राइनलैंड डेमोक्रेटिक कांग्रेस १८४८ में बुलाई। जीवन-भर मार्क्स केवल लेख और पुस्तकें लिखते रहे। सार्वजनिक सभा में या भीड़ मे व्याख्यान उन्होंने केवल एक बार दिया, मजदूरों के सामने, कोलोन की सड़कों पर। उन पर मुकद्दमा चला और उन्होंने आत्मसमर्थन किया। छोड़ दिए गये, धन्यवाद सहित।

अगस्त १८४६ के बाद मार्क्स बड़े दैन्य मे लंदन मे सोहो स्क्वेअर मे दो कमरों के मकान मे रहने लगे। चार बच्चे हो गये थे। सदा कर्ज में रहता। एक बेटा गिउडो बिना दवादारू के मर गया। बेटी फ्राजिस्का की मौत पर उसके कफन के लिए माँ दर-दर भीख माँगती रही। कर्जदार आते तो बेटियों को झूठ बोलकर बताने के लिए कहा जाता —"मार्क्स घर में नही है।" मार्क्स की पत्नी बीच-बीच मे बेहोश हो जाने लगी। इस समय मार्क्स को आर्थिक आधार मिला 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' नामक अमरीका की पत्रिका के सम्पादक होरेस ग्रीले और चार्ल्स दाना से। १८५१ से १८६२ तक पाँच सौ लेख और सम्पादकीय मार्क्स ने इस पत्रिका में लिखे—दुनिया-भर के विषयों पर, भारत, चीन, ब्रिटेन, स्पेन सब पर। १८५६ मे मार्क्स ने अर्थशास्त्र पर अपनी पहली पुस्तक लिखी।

ब्रिटिश म्यूजीयम मे बैठकर बराबर सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक प्रश्नों पर मार्क्स शोध करते रहते। १८६४ में लंदन में अंग्रेजी ट्रेड यूनियन नेताओं ने एक सभा बुलाई। मार्क्स मंच पर चुपचाप बैठे रहे। पर उन्होंने फर्स्ट इण्टरनेशनल की इस आधार-सभा के बाद संविधान और नियमावलि बनाई। १८६६ तक इसके आठ लाख सदस्य बन गये। १८७० तक मार्क्स को यूरोप में कोई नही जानता था। पैरिस कम्यून के बाद वे एकदम 'लंदन के सबसे निंदित और आतंक-प्रचारक व्यक्ति' बन गये। पैरिस कम्यून को मई ३०, १८७१ मे दमन का शिकार होना पड़ा। मार्क्स ने लिखा कि यह 'विश्व की पहली मजदूरों की तानाशाही' (डिक्टेटरशिप आफ दि प्रालितारियेत) है। १८६७ में लंदन मे मजदूरों को मताधिकार मिला। मिखाइल अलैक्सैंद्रोविच बाकुनिन को १८४८ मे मार्क्स ने 'रूसी एजेंट' कहा था। इस कारण से क्रान्तिकारी बाकुनिन मार्क्स को 'जर्मन तानाशाही वृत्ति का यहूदी' मानता था। बाकुनिन ने इटली, स्विटजरलैंड, फ्रांस मे युवकों का एक गुप्त दल संगठित किया—इंटरनेशनल अलायंस आफ सोशल डेमोक्रेसी। मार्क्स ने उसे अपने इंटरनेशनल में प्रवेश नही दिया। बाकुनिन मार्क्स की डिक्टेटरी नीति के विरोध मे दल जमा करने लगा। मार्क्स ने बाकुनिन का चरित्रहनन किया कि नेचायेक नामक विद्यार्थी नेता जो हत्यारा और ब्लैकमेलर था उसके साथ बाकुनिन की साठ-गाँठ है। १८७२ की हेग की इटरनेशनल कांग्रेस मे मार्क्स ने बाकुनिन को हराया। यही एकमात्र इंटरनेशनल थी जिसमे मार्क्स उपस्थित थे।

अगले दशक में मार्क्स 'डास कापिटाल' (पूँजी) ग्रंथ लिखने में डूब गये। इस बीच वे रूसी भाषा भी सीखे। पर मन कहीं जम नही रहा था। एक भी काम पूरा नही कर पाते थे। वे रूसी जारशाही का तख्ता पलटने के लिए यूरोप में युद्ध की प्रतीक्षा करने लगे। ज़ार अलेक्जांद्र द्वितीय की १८८१ में रूस में हत्या मार्क्स के अनुसार 'एक ऐतिहासिक अनिवार्य घटना' थी। १८७५ मे गोथा प्रोग्राम की मार्क्स ने कटु आलोचना की। जर्मन डेमोक्रेटिक सोशलिस्ट बच्चों को बंधुआ मजदूर बनाने के विरोध में थे। मार्क्स ने उसका भी विरोध

किया। १८७९ में जब फ्रांस में सोशलिस्ट वर्कर्स फेडरेशन बनी तो उसके नेता जूल ग्विस्दे मार्क्स की सलाह लेने लंदन गये। अन्तिम दिनों में मार्क्स कई स्वास्थ्य केन्द्रों मे घूमते रहे। एलजीयर्स पहुंचे। पत्नी की मृत्यु दिसम्बर २, १८८१ को हुई, बड़ी बेटी जेनी लांगुएत की जनवरी ११, १८८३ को। फेफड़े के फोड़े से मार्क्स की मृत्यु लंदन में मार्च १४, १८८३ को हुई।

मार्क्स का चरित्र विचित्र विरोधाभासों से भरा था। लगते थे वे बड़े उग्र सर्वनिषेधक विद्रोही, पर भीतर से थे वे एक विवश बौद्धिक। पावेल पन्नेनकोव नामक एक रूसी लेखक ने १८४६ में मार्क्स को वाद-विवाद करते हुए देखा था। उसने लिखा है कि "मार्क्स तानाशाही ढंग से बोलता था, विरोध उसे बिल्कुल पसंद नहीं था।" भीड के सामने मार्क्स बहुत घबड़ा जाता था, झगड़े-टटे से दूर रहता था। कभी किसी जुलूस में वह नही गया। उसकी पत्नी ने लिखा है कि वह सभाओ को भी टालता था। वह साथियो के छोटे-छोटे संगठनों मे बहुत मुखर और यशस्वी रहता था। पिता के नाते वह वत्सल था, जीसस क्राइस्ट का 'बच्चो से प्रेम' उसे पसंद था। हर चीज मे वह 'संघर्ष' देखता था। एक और भाषा सीखना एक और हथियार पाने के बराबर मानता था। उपन्यास बहुत पढता था, विशेषतः वाल्टर स्काट और बाल्जाक के। शेक्सपीयर तो पूरे मार्क्स-परिवार के देवता थे। मार्क्स की नौकरानी हेलेन डेमुथ को एक अवैध बेटा हुआ फ्रेडरिख। एगेल्स जब मर रहा था तो उसने यह रहस्य बताया कि यह पुत्र मार्क्स से ही था।

मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की वर्ग-संघर्षवाली आर्थिक व्याख्या पूंजीवाद मे मनुष्य का अलगाव (एलियेनेशन), पूँजीवाद मे निहित उसके नाश के बीज, क्रांति की दो व्याख्याएँ एक सामयिक, और दूसरी चिरन्तन आदि सब सुपरिचित हैं। परन्तु मार्क्सवाद की यूरोप और भारत मे कैसी परिणति हुई, यह दर्शनीय है।

जर्मनी में एंगेल्स के बाद कार्ल काउट्स्की (१८५४-३८)-'डी न्यूई जाईट' के सम्पादक ने मार्क्स को आर्थिक चिंतक के नाते प्रस्तुत किया है। काउट्स्की किसान और मजदूरो की एकता का समर्थन नही करता। मजदूर ही अन्यायी राज्य को उलटने में सक्षम होगे, ऐसा उसका मानना है। वह शांति के मार्ग से सत्ता-परिवर्तन सम्भव मानता है। जर्मनी मे ही बेर्नस्टाइन (१८५०-१९३२) ने १८९६ में लिखना आरम्भ किया कि मार्क्सवाद का 'संशोधन' आवश्यक है। पोलैंड के रोजा लक्सेमबुर्ग ने भी काउट्स्की के साथ-साथ बेर्नस्टाइन का विरोध किया। मजदूरों के मूल्य—सिद्धांत को लेकर यह विरोध बढा। बेर्नस्टाइन ने जर्मन, डच, अंग्रेजी सांख्यिकों के आधार पर मार्क्स के 'पूंजी' सिद्धांत को झुठलाने का यत्न किया। उसके अनुसार मार्क्स का विश्लेषण वैज्ञानिक नहीं था, चूंकि वह हेगेल और रिकार्डो के सिद्धांतों पर आधारित था। आर्थिक स्थिति निरतर परिवर्तनशील थी। काउट्स्की का तर्क यह था कि ज्यों-ज्यो उद्योग बढते जाते हैं, कृषि भी उन पर निर्भर होती जाती है। कृषि भी यांत्रिक और उद्योग-प्रधान होती जाती है। रोज़ा लक्सेमबुर्ग का कहना था कि पूंजीवाद के अन्तर्विरोध वित्त के अंतर्राष्ट्रीय विनियोग और उपनिवेशवाद से बढ़ते जाते हैं, जिनसे युद्ध की अनिवार्यता बढ़ती है, और ऐसे समय जनशक्ति सत्ता हथिया सकती है, क्रांतिकारी ढंग से।

युद्ध और शांति के प्रश्न पर मतभेद बढ़ते गये। जर्मन राइशटाग के सोशल डैमाक्रेटो ने प्रथम विश्व-युद्ध के पहले, युद्ध को वित्तीय सहायता देने का समर्थन किया। युद्ध-विरोधी जर्मन मार्क्सवादी थे लीब्क-नेख्ट और लुक्सेमबुर्ग। लुक्सेमबुर्ग ने १९१३ मे 'डी आकुमुलेशन डेस कापिताल्स' मे तर्क दिया कि मार्क्स ने पूंजी खण्ड-२ में जो बात कही है उसमें परस्पर विरोध हैं। इस विदुषी के अनुसार पूंजी का संग्रहण अनिश्चित और अनन्तकाल तक चलेगा यह भी मार्क्स का मत है; और मार्क्स यह भी कहता है कि पूंजी के भीतर अन्तर्विरोध होकर मजदूर वर्ग द्वारा उस पर अधिकार प्राप्त होता जायेगा। लुक्सेमबुर्ग का कहना है कि मार्क्स अतिसरलीकरण कर रहे हैं, और मानकर चलते हैं कि दुनिया मे पूंजीपति और श्रमिक ये दो वर्ग सदा ही रहेंगे। पूंजी अपने देश में से उठकर अन्य देशों में उपनिवेश बनायेगी। उसका अन्त तो उसी दिन होगा कि

जब पूँजीवादी देशों के बाहर भी उसका प्रभुत्व समाप्त हो जायेगा यानी वह एक अन्तिम सीमा तक पहुँच जायेगा। इस पर बहुत बहस होती रही है।

आस्ट्रिया के समाजवादियों मे ओटो बाउएर (१८८१-१९३८) ने अपने 'डी नात्सनालिटाहेनफ्रागे उण्ड डी सोज़ियाल डीमोक्राटी' (१९०६ 'राष्ट्रीयताओं का प्रश्न और सामाजिक जनतन्त्र') में जो आत्मनिर्णय के प्रश्न उठाये उनका विचार लेनिन ने भी किया है। हिल्फ़ेरडिंग ने लिखा कि बैंकों तथा औद्योगिक मोनोपोलियों (एकाधिकारों) के प्रभाव और अधिकार में पूँजी कैसे आती जाती है इससे लेनिन भी प्रभावित हुआ और १९१६ मे लेनिन ने लेख लिखा 'साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की सर्वोच्च स्थिति'।

सोवियत रूस मे मार्क्स के विचारों की परिणति का अध्ययन महत्त्वपूर्ण विषय है। 'डास कापिटाल' १८७२ में रूसी में अनुवादित हुआ। गिओर्गी प्लेखोनोव (१८५६-१९१८) ने मार्क्सवाद को रूसियों से परिचित कराया। पर लेनिन उसे व्यवहार मे लाया। १८९४ मे लेनिन ने अपने 'जनता के मित्र' लेख में मार्क्स के 'भौतिकवादी सामाजिक सम्बन्ध' और 'आदर्शवादी सामाजिक सम्बन्धों' के बीच अन्तर पर बल दिया। रूसी पूँजीवाद पर मार्क्स के विचारों को १८९७-९९ में घटित करते हुए किसानों की भूमिका पर लिखते हुए 'दि डेवेलपमेंट आफ एशियन कम्युनिज्म' में लेनिन लिखते हैं—

"हम मार्क्स के विचारों को सम्पूर्ण और अपरिवर्तनीय या अखण्डनीय नहीं मानते। हम इससे उलटे इतना ही मानते हैं कि विज्ञान की एक कोनशिला मार्क्स के सिद्धांतों ने स्थापित की। समाजवादियों को इस विज्ञान को आगे बढाना चाहिए। रूसी समाजवादियों को तो इस सिद्धांत का एक स्वतंत्र स्पष्टीकरण आवश्यक है।"

लेनिन ने 'व्यावसायिक क्रांतिकारियो' के प्रशिक्षण पर अपनी दृष्टि जमाई। १९२१ के वसन्त में पार्टी की दसवीं कांग्रेस मे क्रांसटाड में नाविक विद्रोह हुआ और देहातों में किसान असन्तुष्ट हो रहे थे, तब लेनिन ने सब तरह के विरोध को निर्मम भाव से दबाने और उस पर रोक लगाने का आग्रह किया। इसी मे से स्तालिनवाद का आगे उदय हुआ जिसने अपने विरोधियों के सम्पूर्ण विनाश का कदम उठाया।

स्तालिन ने 'मार्क्सवाद-लेनिनवाद' शब्द दिया। लेनिन की १९२४ मे मृत्यु के बाद सोवियत संघ के विकास कार्य को उसने बडे उत्साह से उठाया। मार्क्सवाद का मूल द्वंद्ववाद की मान्यता थी कि वाद का प्रतिवाद होता है, परन्तु बाद मे से ही प्रतिवाद जन्म लेता है। अतः वाद पूर्णतः नष्ट नहीं होता। उसमें कुछ रह जाता है जो प्रतिवाद मे परिणत हो जाता है। दोनों अंततः सम्वाद की स्थिति मे पहुँचते हैं। मार्क्सवाद की यह भी मान्यता थी कि विकास धीमे-धीमे न होकर, छलाँग से, सहसा एकदम होता है। इसके लिए भीतर के अन्त-विरोधों को प्रकट होना चाहिए। स्तालिन के शब्दों मे "प्रत्येक वस्तु और प्राकृतिक घटना के भीतर सकारात्मक और नकारात्मक दो तत्त्व होते हैं, इसलिए उसमें अंतर्निहित परस्पर विरोध होता है। यह अन्तस्संघर्ष ही विकास की प्रक्रिया है।"

स्तालिन और कार्ल मार्क्स में बहुत अन्तर आ गया। कार्ल मार्क्स ने शोषित जनता की बढ़ती हुई क्रांति-चेतना, बौद्धिकता और वर्ग-हित के ज्ञान पर जोर दिया। स्तालिन अधिक अधीर थे; उन्होंने 'प्रालितारियेत' (जनता) के बदले 'डिक्टेटरशिप' (तानाशाही) पर ज़ोर दिया। वह आत्मनिष्ठता के बदले वस्तुनिष्ठ अधिक थे। इसलिए वह प्रसिद्ध कथा स्तालिन के बारे में हैं कि एक बार पुश्किन की प्रतिमा बनाने के लिए शिल्पीजनों से कहा गया। कई माडल आये। जो पसन्द किया गया उसमें स्तालिन की प्रतिमा बनी थी, और उसके हाथ में एक ग्रंथ दिखाया गया था जिस पर 'पुश्किन-ग्रंथावली' लिखा था। और एक कहानी है, स्तालिन के पास दो कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख अधिकारी पहुँचे। एक स्थानीय था, जो स्तालिन से एकनिष्ठ था। दूसरा दूसरे देश का था और विरोधी था। स्तालिन ने कहा—"दूसरे को पहले भेजो"। इसी का परिणाम यह हुआ कि त्रात्स्की से स्तालिन की नहीं बनी। स्तालिन के ही शिष्य ख्रुश्चोव बाद मे उनके विरोधी हो गये।

स्तालिन के ताबूत मे से उनका मृत शरीर निकालकर अन्यत्र दफनाया गया। एक दशक तक स्तालिन का नाम वहाँ नहीं लिया जाता था। अब क्रेमलिन के पास की दीवार पर मार्शल झुकोव आदि के साथ स्तालिन की भी अर्द्धप्रतिमा है।

भाषा और आत्म-निर्णय के अधिकार के बारे मे स्तालिन के वक्तव्य इस बात के साक्षी हैं कि वह मार्क्सवाद को आगे बढ़ाता रहा, या आज जो रूस और चीन मे मतभेद उभरे उनके बीज उसी काल में बो दिये गये। स्तालिन दूर-द्रष्टा नहीं था। उसकी द्रुत-गामी और निकट की सफलताओं मे दिलचस्पी थी। परिणाम यह हुआ कि उसकी पुत्री ही उसकी सबसे बडी आलोचक हो गई, देश से बाहर निकल गई।

लिओं त्रात्स्की (१८७९-१९४०) की मृत्यु पर मैंने, पटना से प्रफुलचंद्र ओझा 'मुक्त' 'आरती' पत्रिका निकालते थे, उसमें 'इस्क्रा' नामक एक लेख छद्मनाम से लिखा था। रूसी क्रांति के १९०५ और १९१७ के दोनों बडे पर्वों में त्रात्स्की की बड़ी भूमिका थी। लेनिन की मृत्यु के बाद त्रात्स्की और स्तालिन मे शत्रुता बढ़ गई। त्रात्स्की की मान्यता थी कि पिछड़े हुए कृषि-प्रधान देशों मे क्रांति किसानों को लेकर चलेगी। वहाँ खेती में सुधार और समाजवादी विकास की गति भिन्न होगी। औद्योगिक, पूँजीवादी देशों मे मजदूर क्रांति लायेंगे। इस तरह से 'क्रांति एक चिरंतन प्रक्रिया है' यह त्रात्स्की का विश्वास था। स्तालिन मानता था कि क्रांति एक ही वर्ग से, किसान या मजदूर या बौद्धिक कार्यकर्त्ता के सहारे अलग-अलग घटित हो सकती है। त्रात्स्की चाहता था कि क्रांति का शिक्षण विभिन्न स्तरों मे विभिन्न प्रकार से देना चाहिए। क्रांति का 'निर्यात' हो सकता है। वह कम्युनिस्ट पार्टी में नौकरशाही ढंग की संरचना के विरुद्ध था। वह अन्तिम क्रांतिकारी विद्रोह को भी, वैज्ञानिक प्रयोग के ढंग पर हर ब्योरे और विवरण को ध्यान मे रखकर, सफल बनाना चाहता था। स्तालिन में अधिनायकवाद, विभूति-तत्त्व और प्रधान नेता के व्यक्तित्व के जादू पर अधिक आस्था थी। परिणाम स्पष्ट है —अमेरिका में एक हथौड़े से स्तालिन के पुराने शत्रु त्रात्स्की की हत्या कर दी गई। किसने की यह पता नहीं चला।

चीन में मार्क्सवाद को माओ-त्से-तुंग लाये। १९३० के बाद वे मार्क्सवाद में चीनी परम्परित विचारों और संस्कृति का मिश्रण करते रहे। समाजवादी समाज के अन्तर्विरोध के बारे में माओ का विचार यह है कि वह दो प्रकार का है—एक तो 'हम और हमारे शत्रु'—इसका इलाज क्रांति ही है। दूसरा विरोध ऐसे परस्पर-विच्छेदक ढंग का नहीं है, जैसे समाजवादी राज्य में शासन और शासित के बीच विरोध, या दो प्रकार की कम्युनिस्ट पार्टियों का आपसी विरोध, या एक ही कम्युनिस्ट राज्य में एक प्रदेश और दूसरे प्रदेश मे विरोध—इनका इलाज बन्धुत्वपूर्ण आलोचना और आत्म-विश्लेषण है। माओ के अनुसार यह विरोध सामान्य और विशिष्ट दोनों हो सकते हैं। एक ही समय में दोनों का सह-अस्तित्व सम्भव है, क्षम्य है। ये विरोध कभी बहुत स्पष्ट और कभी बहुत अस्पष्ट हो सकते हैं। कुछ प्राथमिक, कुछ द्वैतीयिक प्रकार के हो सकते हैं। यह स्तालिनवादी अनमनीय सिद्धांतनिष्ठ मार्क्सवाद-लेनिनवाद से बहुत भिन्न है।

चीनी साम्यवाद ने कन्फ्यूशियस (कांग-फू) के दर्शन के प्रति जैसा रुख अपनाया, और जैसे वह बदलता गया, उससे मार्क्स की इतिहास विश्लेषण की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी और आर्थिक उत्पादन-सम्बन्धों पर आधारित दृष्टि से वह बहुत दूर की चीज है। चीन की विशाल लोक संख्या और प्राचीन सभ्यता का भी इस प्रकार के परिवर्तनवादी विचारों में हाथ था। १९५८ में 'बड़ी लम्बी छलाँग' और १९६६ में 'सांस्कृतिक क्रांति' के अध्ययन से यह पता चलता है कि शायद माओ अन्तिम दिनों में अधिनायकवादी होते जा रहे थे। और अपनी पत्नी और 'चांडाल चौकड़ी' (गैंग आफ फोर) की गिरफ्त में अधिक थे। चीन के कम्युनिस्ट मानते हैं कि सोवियत रूस की तरह उनके नेता या शासक बूर्ज्वा या 'मैनेजरीयल' नहीं हो गये हैं। माओ किसान नेता और येनान की लाल मुक्तिवाहिनी का नेता था अत: वह सारी प्रजा को साथ ले चलने मे विश्वास करता था। चीनी ताओवाद का प्रभाव माओ के चिंतन पर है, विशेषत: मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्धों के मामले में

वह मार्क्स-ऐंगैल्स की स्थापनाओं का अन्ध अनुयायी नहीं। संक्षेप में चीनी साम्यवाद कम कट्टर है, अधिक उदारवादी है।

युगोस्लाविया में जोसिप ब्राज टीटो के सोवियत रूस और स्तालिन से १९४८ में अलग होने पर एक अलग तरह का साम्यवाद पनपा। वह नौकरशाही और राष्ट्रीयता के अन्ध आग्रह का विरोधी है। टीटो मानता था कि कारखानों पर श्रमिकों का पूर्ण हक हो। अन्य बातों में वह वैसा ही पूँजीवाद-विरोधी है, जैसे स्तालिनवादी हैं।

क्यूबा में फिदेल कास्त्रो का मार्क्सवाद सब प्रकार के अन्यायों के विरोध में तीसरी दुनिया का प्रतिनिधि है। वह फ्रांसीसी क्रान्ति से अधिक प्रेरणा लेता है। मार्क्सवाद के कट्टरपन, नौकरशाही, पंथ बनाने के पक्ष के विरोध में कास्त्रो अपनी आवाज बार-बार उठाते हैं। एक तरह से कास्त्रो मार्क्सवाद का 'विद्रोही' रूप है, जैसे वैदिक धर्म का बुद्ध या अन्य नास्तिक धर्म विकल्प चाहते थे। कास्त्रो का कहना है कि वही शुद्ध मार्क्सवादी है। कास्त्रो पहले राष्ट्रवादी है, मार्क्सवादी बाद में।

युरोकम्यूनिज्म में अस्तित्ववाद (नीत्शे, कीर्केगार्द, फ्रायड) को मिलाकर चलने वाले कई चिंतक हैं। अब मार्क्सवादी मक्का एक ही किताब, एक ही हर्फे आखिर, एक ही मुल्ला और एक ही मिल्लत की तरह 'फण्डामेंटलिस्ट' नहीं रहा। वहाँ भी कई पंथ-उपपंथ, शाखा-प्रशाखाएँ हो गई हैं। यह डेढ़ सौ वर्षों की विश्व में मार्क्सवाद की विचार-यात्रा है।

अब हम भारत की ओर मुड़े और विशेषतः हिन्दी प्रदेशों की ओर जहाँ मार्क्सवाद का प्रभाव बहुत देर से आया। बंगाल और महाराष्ट्र में यह प्रभाव अधिक जोरों से फैला — १९२७ मे कम्युनिस्ट पार्टी की भारत में स्थापना के बाद। कई कांग्रेस समाजवादी बाद में कम्युनिस्ट पार्टी में गये। बाद मे कई कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सिस्ट) में गये। इस सारी आतंकवादी, क्रांतिवादी, विप्लवी आंदोलन की मार्क्सवाद को अपनाने की प्रक्रिया में, और उससे बाद मे 'स्वप्नभंग' की स्थिति में आने मे राहुल साकृत्यायन के 'नये भारत के नये नेता' पुस्तक में कई उत्तम उदाहरण हैं। लेखक राहुलजी स्वयं बाद मे कम्युनिस्ट पार्टी से १९४८ से १९५७ तक बाहर रहे। आत्मनिर्वासित या निष्कासित, जो भी कह ले।

इस सिलसिले मे एक महत्वपूर्ण मत मानवेन्द्रनाथ राय का है (मूल नाम नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य जन्म: फरवरी २२, १८८७ कलकत्ता के पास एक गाँव, मृत्यु जनवरी १९५४, देहरादून)। वे लेनिन के अत्यन्त निकट पहुँचे। कई नाम बदलकर बटाविया मे जापान, चीन होते हुए १९१६ मे सान फ्रांसिस्को पहुँचे। न्यूयार्क मे पकड़े गये। मेक्सिको में १९१७ में पहुँचे, १९१९ मे पहली कम्युनिस्ट पार्टी मेक्सिको मे स्थापित की। बोरोदिन के निमंत्रण पर १९२० में दूसरी विश्व कामिंटार्न कांग्रेस मे पहुँचे। लेनिन के प्रस्ताव का उन्होंने विरोध किया, और राय के संशोधन को लेनिन ने माना। किसी स्कूल कालेज की शिक्षा न पाये हुए राय सात भाषाओं के पण्डित थे, संस्कृत, बांग्ला, अंग्रेजी, जर्मन, रूसी, इस्पाहानी, फ्रेंच। राय कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के प्रेसिडियम के सदस्य बने। और एशिया मे साम्यवादी आन्दोलनों के संगठन का कार्य उन्हे सौंपा गया।

१९२७ में बोरोदिन के साथ काम करने राय को भेजा गया, स्तालिन से उनके मतभेद हुए। राय को १९२९ में कॉमिंटार्न से निष्कासित किया गया। वह डा० महमूद के नाम से दिसम्बर ३० को भारत लौटे और जुलाई २१, १९३१ को वे पकड़े गये। जेल से छूटने पर वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सदस्य बने। मौलाना आजाद के मुकाबले में रामगढ़ कांग्रेस के अध्यक्षपद के लिए खड़े हुए, हार गये। राय ने अपनी रैडिकल डैमोक्रेटिक पार्टी बनाई। ऐलेन गाँट्सचॉक से १९३७ में विवाह किया। गत महायुद्ध में वे फासिस्ट विरोधी मित्र राष्ट्रों के पक्ष में युद्ध प्रचारक बन गये। अपनी पार्टी भंग की। रैडिकल ह्यूमैनिस्ट दल देहरादून में स्थापित किया। यहाँ मार्क्स की राय द्वारा आलोचना हमारे लिए अर्थपूर्ण है। एम० एन० राय की मरणोपरांत प्रकाशित 'रीज़न, रोमैंटिसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन' (दो खण्ड) पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमें

मार्क्सवाद पर राय के निम्न मौलिक आक्षेप हैं :

(१) मार्क्सवाद कोई मौलिक दर्शन नहीं। फ्रांसीसी क्रान्ति से मार्क्स ने बहुत कुछ लिया, जो कि 'बूर्ज्वा' क्रान्ति थी। जैसे प्लेखेनोव ने 'भौतिकवाद के इतिहास' में कहा है, "मार्क्सवाद का इतिहास-विश्लेषण पुरानी ऐतिहासिक कल्पनाओं का ही एक न्यायसंगत परिपाक है।" इतिहास की आर्थिक व्याख्या के बीज मार्क्स के पहले अनेक विचारकों में थे।

(२) मार्क्स अपने पूर्ववर्तियों को 'युटोपीयन रोमांटिक' कहता है, जबकि मार्क्स स्वयं एक बहुत बड़ा रोमैंटिक है। उसी के कारण क्रान्ति की कल्पना परस्पर-विरोधों की शिकार हो गई। द्वंद्ववाद तर्क पर आधारित वैज्ञानिक प्रक्रिया है, मानव की बुद्धि और प्रज्ञा का उसे आधार है। मार्क्स क्रोध और हिंसा को क्रान्ति में प्रधानता देता है, जो कि निरी अ-बुद्धिवादी प्रक्रियाएँ हैं। मार्क्स कहता है—"दुनिया को बदलने से आदमी अपने आपको बदलता है।" दुनिया आदमी से बड़ी है, सबसे बड़े आदमी से भी बड़ी और हमेशा रहेगी। अंश से अंशी, खण्ड से पूर्ण बड़ा होने से यह 'बदलना' सदा सीमित रहेगा।

(३) क्रान्तिकारी चमत्कारी पुरुष नहीं होता। मार्क्स मानकर चलता है कि मनुष्य इतिहास के हाथ की कठपुतली है। उसमें कोई नैतिक संकल्प जैसी चीज है ही नहीं। मार्क्स मानकर चलता है कि इतिहास में परिवर्तन कुछ संगठित अल्पसंख्यक दल ही घटित करेंगे। व्यक्ति की अपार सम्भावनाओं के प्रति मार्क्स सशंक है।

(४) इस प्रकार मार्क्स का इतिहास-दर्शन और क्रान्ति सिद्धान्त पार्टी द्वारा 'प्रालितारियत' का क्रान्तिकारी हरावल पैदा करने में एक प्रकार का 'सुपरमैन' (वैश्वानर) निर्मित करने के पथ का समर्थन करता है। इसी में से तानाशाही और तानाशाह पैदा होते हैं, जो लोकतंत्र का विकल्प नहीं हो सकता।

(५) साम्यवाद किसी 'क्वारंटाइन' जैसी स्थिति में सदा नहीं रह सकता। रूसी साम्यवाद ने यूरोप में फैलते हुए उदारमतवाद को पूँजीवादी अतः शत्रुवत् और अछूत मानकर एक ऐसी मानसिकता पैदा की कि एक ओर पूँजीवादी समाज के विज्ञान और तंत्रज्ञान से उत्पन्न मनुष्य के सामूहिक उत्पादन का तो रूसी लाभ ले, पर उसके द्वारा मानव को मिलनेवाले अवकाश और दासता से मुक्ति को साहित्य-संगीत-कला में 'ह्रासोन्मुख पूँजीवादी अप-संस्कृति' माने, यह परस्पर-विरोधी बातें हैं।

(६) इसी कारण से रूसी साम्यवाद बार-बार साहित्य, कला, नाटक आदि में सब प्रकार की अमूर्तता, व्यक्तिगत भावनाशीलता का विरोध करके 'समाजवादी यथार्थवाद' और सोवियत श्रमिक को ही नया नायक मानकर उसका गौरव गुणगान करने में व्यस्त हो गया। रूसी साम्यवादी साहित्य-समीक्षा अत्यन्त सीमित बन गई।

(७) भारत में पूँजीवादी और उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी दोनों मिलकर राष्ट्रवाद को बढ़ावा दे रहे थे। मुस्लिम राष्ट्रों में सामतवादी-ज़मीदार तंत्र के मुल्ला-मौलवी तो और भी प्रतिक्रान्तिवादी थे। अतः राजनीति में रहस्यवाद का प्रचार करने वाले गांधीभक्त कांग्रेसी या हिन्दुत्वनिष्ठ या मुस्लिमलीगी सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे थे। वे सब अ-बुद्धिवादी थे।

(८) महात्मा गांधी का दर्शन नया नहीं था। रूसी-स्विस दार्शनिक डेविड कोइगन ने 'मैन आफ़ रिनेसाँ' को 'मैन आफ रिवोल्यूशन' के विरोध में उपस्थित करके विधायक या रचनात्मक तत्त्व नकारात्मक तत्त्वों से किस प्रकार से अधिक महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान हैं, और व्यक्ति की नैतिकता बढ़ाने में सहायक है यह फ्रांज़ मेहरिंग ने 'हिस्ट्री आफ फ़िलासाफ़ी' में स्पष्ट किया है। अंततः फासिज्म इसीलिए धर्म और रहस्यवाद का सहारा लेता है। हिटलर का 'स्वस्तिक' और 'आर्य' श्रेष्ठता का सिद्धांत कैसे निकला? राय ने भविष्यवाणी की १९५२ में कि जैसे १९३१ में नेहरू ने राष्ट्रीयता और समाजवाद को मिलाकर अततः गांधीवाद की शरण ली, वैसे चीन में भी राष्ट्रवाद के सब पहलू उभरेंगे और समाजवाद के बदले तानाशाही वहाँ

क्रान्तिकारी साम्यवाद को खा जायेगी। 'वैज्ञानिक राजनीति' के स्थान पर रोमैंटिक या अबुद्धिवादी राजनीति अपने रंग में बार-बार एशिया में उभरती जाती है।

राय ने कहा था कि राजनीति सत्ता के लिए छीन-झपट और अर्थशास्त्र केवल स्वार्थ और कपट बन जाता है। अतः नैतिकता को महत्त्व देना चाहिए समाज को मनुष्य ने बनाया, मनुष्य को समाज ने नहीं। राष्ट्र समाज का पर्यायवाची नहीं। जनतंत्र का उसके मूल व्यक्ति नागरिक से आरम्भ करना होगा। मार्क्स ने पूंजीवादी समाज के बारे में जो कुछ भविष्यवाणी की थी वह सच नहीं निकली। क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति के परस्पर संघात से, विश्व युद्धों में साम्यवाद की प्रथम बलि हुई। राय अन्तिम दिनों में वेदांत के बहुत निकट पहुँचे थे और २५ जनवरी १९५४ के 'रैडिकल ह्यूमैनिस्ट' में लिखते हैं कि "मैं एक धार्मिक, दयालु, नैतिक, सभ्य मनुष्य को कहीं अधिक पसन्द करूँगा, बनिस्पत बीसवीं सदी के इन बर्बर 'नियांडरथेलर' से। यदि धर्म के सहारे जनजीवन में कुछ नैतिक भावना जागृत की जा सके तो उसमें क्या आपत्ति हो सकती है।"

एम० एन० राय पर इतने विस्तार से लिखने का अर्थ अन्य साम्यवादी विचारको डांगे और डी० डी० कोसंबी, नंबूदरीपाद और देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, स्वामी सहजानन्द और राहुल सांकृत्यायन के महत्त्व को कम करना नहीं है। आज मार्क्सवाद पर प्रायः जो कुछ इन नेताओं और लेखकों ने लिखा है वह चर्वित-चर्वण मात्र है। बहुत कम उसमें विचारों को नई दिशा देनेवाला है। बानी देशपांडे के वेदांत और मार्क्सवाद में कल्पना अधिक है।

महर्षि दयानन्द और भारतेन्दु

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी तथा भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

भारतवर्ष के इतिहास मे ईसा की उन्नीसवी शताब्दी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शताब्दी है। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टियो से इस शताब्दी मे ऐसे अनेक परिवर्तन हुए जो उसे पिछली शताब्दियो से अलग करते हैं। राजनीतिक दृष्टि से भारत का शासन-सूत्र ईस्ट इडिया कम्पनी के हाथ से निकलकर ब्रिटेन के मंत्रि-मंडल के हाथ चला गया। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप देश मे नवीन आधुनिक शिक्षा का प्रचार हुआ और वैज्ञानिक आविष्कार प्रचलित हुए। रेल, तार, डाक-व्यवस्था, प्रेस आदि ने उन्नीसवी शताब्दी के जीवन-क्रम, विचार-पद्धति और सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण मे अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित कर वैज्ञानिकता को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप मध्ययुगीन पौराणिकता, अन्धविश्वासों और अन्धपरपराओं को जबरदस्त आघात पहुँचा। उन्नीसवी शताब्दी की सबसे बड़ी देन पंडों-पुरोहितों के एकाधिपत्य का समाप्त हो जाना है। नवीन शिक्षा के फलस्वरूप जिस अंग्रेजी शिक्षित मध्य वर्ग का जन्म हुआ वह पुरातनत्व का बन्धन काटकर आगे बढ़ा और अपनी चेतना द्वारा नवोत्थान या नवजागरण की भावना को जन्म दिया। प्रेस के प्रचलित हो जाने से प्राचीन साहित्य प्रकाश मे आया और देश मे आत्म-गरिमा की वृद्धि हुई। साथ ही पाश्चात्य विचारो ने मध्य वर्ग के मन और मस्तिष्क का मन्थन करना प्रारम्भ कर दिया। पश्चिम की एक जीवित जाति के सम्पर्क मे आकर जीवन में नवस्फूर्ति और चेतना का सचार हुआ और फलत: देश मे नवोदित आन्दोलनों का जन्म हुआ। इन आन्दोलनों के कर्णधारो मे महर्षि दयानन्द और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम अत्यन्त आदर और श्रद्धा के साथ लिए जाते हैं। दोनों ही आधुनिक भारत के निर्माता थे। दोनों ही भारतीय नवोत्थान के जाज्वल्यमान प्रतीक थे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्म सन् १८२४ (सं० १८८१ वि०, टंकारा, गुजरात) और देहावसान सन् १८८३ (सं० १९४० वि०, कार्तिक अमावस्या, अजमेर, राजस्थान) मे हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म ९ दिसम्बर सन् १८५० (भाद्रपद शुक्ल ७ ऋषि सप्तमी, सं० १९०७ वि०) में और निधन ६ जनवरी सन् १८८५ में हुआ। सन् १८५७ मे सिपाही विद्रोह हुआ और सन् १८८५ में इडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय महर्षि दयानन्द और भारतेन्दु का आविर्भाव हुआ वह राष्ट्रीय भावना के जाग्रत होने का समय था। इसके अतिरिक्त सन् १८२८ में बंगाल मे ब्रह्मसमाज की स्थापना से देश में धार्मिक एवं सामाजिक सुधारवादी आन्दोलनों की परम्परा ने भी राष्ट्रीयता का पोषण किया। भारत के नवनिर्माण के क्षेत्र मे जो स्थान महर्षि दयानन्द का था, वही स्थान समाज तथा साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु का था। भारतीय जागृति में दोनों का योगदान था। दोनों के विशाल व्यक्तित्वो ने जो चेतना उत्पन्न की, उससे जन-जीवन का परिष्कार हुआ। महर्षि दयानन्द ने गुरु विरजानन्द के आदेश पर आर्यसमाज की स्थापना १० अप्रैल, १८७५ ई० (चैत्र शुक्ल ५, सं० १९३२ वि०) को बम्बई में की। क्योंकि भारतेन्दु वैष्णव भक्त

थे, इसलिए उन्होंने तदीय समाज की स्थापना की जिसके फलस्वरूप कृष्ण-भक्ति का प्रचार हुआ। दोनों महा-पुरुष लेखक थे। महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' (स० १६३६ वि०) 'संस्कार विधि,' 'ऋग्वेदभाष्य भूमिका,' 'ऋग्वेद भाष्य' (७वें मंडल तक), 'यजुर्वेद भाष्य' तथा अन्य कतिपय छोटे-बड़े ग्रंथों की रचना की। भारतेन्दु ने अपनी अल्पायु में लगभग १३८ ग्रंथों की रचना की। वे कवि, नाटककार, उपन्यासकार आदि के रूप में प्रसिद्ध हैं।

महर्षि दयानन्द की यह मान्यता थी कि वेदों का मंत्र भाग ईश्वरकृत और स्वत:प्रमाण है तथा ब्राह्मण, उपनिषद आदि मनुष्यकृत और परत: प्रमाण हैं, राम-कृष्ण अवतारी पुरुष नहीं महापुरुष हैं, मूर्ति-पूजा अवैदिक है, जातिभेद जन्म से नहीं गुणकर्मानुसार और परिवर्तनशील है, विवाह आदि सामाजिक विषयों में स्त्रियों और पुरुषों के समानाधिकार हैं। दार्शनिक दृष्टि से उनका मत था कि सब पदार्थों का आदि मूल परमेश्वर है जो सच्चिदानंद स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, अजन्मा, दयालु, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी आदि है और उसी की उपासना करनी चाहिए। सभी सत्यविद्याओं का मूल वेदों में है। जीवन का उद्देश्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना है। संसार का उपकार करना हमारा मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। हमें अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहकर सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए। भारतवर्ष तथा अन्य देशों में स्थापित आर्यसमाज की शाखाएँ महर्षि दयानन्द के इन उद्देश्यों की पूर्ति में रत हैं। समाज में प्रचलित ऊँच-नीच की भावना, अन्धविश्वासों, अन्धपरम्पराओं, कुरीतियों, कुप्रथाओं, के वे घोर विरोधी थे। भारतेन्दु भी वैदिक धर्मानुयायी थे। वे वेदों को अपौरुषेय मानते थे। वेद-निंदकों की उन्होंने भर्त्सना की है। उनकी काव्य-रचनाएँ तथा नाटक और भाषण इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। किन्तु महर्षि दयानन्द और भारतेन्दु में थोड़ा मत-वैभिन्न्य है यहाँ। भारतेन्दु श्री कृष्णचन्द्र को साक्षात् भगवान मानते थे। उन्हें लीलावतारी मानते थे। वे कृष्ण के परम भक्त थे, जिसका प्रमाण उनकी 'श्री चंद्रावली नाटिका' में उपलब्ध है। इस थोड़े से मत-भेद के अतिरिक्त दोनों में मत-साम्य ही अधिक है। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन आदि नव-जागृति के सन्देशवाहकों के साथ-साथ महर्षि दयानन्द और भारतेन्दु ने जीवन में लगा घुन दूर करने के लिए देश को प्रेरणा प्रदान की। दोनों ने देश के विभिन्न भागों की यात्रा कर साहित्य और समाज की सेवा की। दोनों ही पश्चिम के अन्धानुकरण के विरोधी थे। सन् १८६७ में भारतेन्दु ने चौखंभा स्कूल की स्थापना की जिससे आधुनिक शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में काफी सहायता मिली। वे स्त्रियों को निर्भीक और स्वतंत्र होते देखना चाहते थे। 'नीलदेवी' गीति-रूपक में उनका यही दृष्टिकोण है। आर्यसमाज की भाँति ही उन्होंने गो-रक्षा-प्रचार और मदिरा-मांस-सेवन रोकने का पुनीत प्रयास किया। तात्पर्य यह है कि दोनों महापुरुष जीर्णशीर्ण भारतीय जीवन में नया प्रकाश भर देना चाहते थे।

दोनों ही परम देशभक्त थे। वे अपनी मातृभूमि के लिए अनेक सुनहरे सपने देखा करते थे। अंग्रेजों की नीति से वे क्षुब्ध रहते थे। उनके मन में एक ऐसे भारत की कल्पना थी जो किसी समय जगदगुरु था, जो वैभवपूर्ण था। उनका ध्यान प्रचीन आर्य गौरव की ओर आकृष्ट हो जाता था। वे फिर से भारत को सभ्यता और संस्कृति के सर्वोच्च शिखर पर आसीन, ज्ञान-गरिमा से मंडित, सर्वपूज्य और जगत्वंद्य देश के रूप में देखना चाहते थे। भारत की तत्कालीन दुर्दशा देखकर दोनों को मर्मांतक पीड़ा होती थी। रोग, महर्घ, कर, आलस्य, धनहीनता, बलहीनता, अविद्या, पारस्परिक फूट और कलह, पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण, अन्धविश्वास, छुआछूत, भूत-प्रेत और अप-देवताओं में विश्वास आदि को दूर कर वे दोनों चारों ओर छाए हुए अन्धकार को दूर करना चाहते थे। पाखण्ड और दंभ को दूर कर उनका लक्ष्य भारतीय समाज की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना था, अविद्या (व्यापक अर्थ में) दूर करना था। वे स्वाधीनता का सूर्योदय होते देखना चाहते थे। राष्ट्रीय हित का ध्यान उनके लिए सर्वोपरि था।

महर्षि दयानन्द और भारतेन्दु की राष्ट्रीयता का मूलमंत्र 'निज भाषा उन्नति' था। इसके बिना न

ज्ञान-वृद्धि हो सकती है और न आत्म-गौरव और गरिमा प्राप्त हो सकती है। महर्षि दयानन्द ने जिस जोर से हिन्दी का पक्ष-समर्थन किया, उसके कारण न केवल गुजरात, वरन् सारा देश राष्ट्रीयता के क्षेत्र में आगे बढ़ा। वे स्वयं हिन्दी के बड़े अच्छे ज्ञाता थे। भारतीय राष्ट्रीयता के आराधक होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक था। हिन्दी की उन्नति करना उनके लिए सांस्कृतिक जागरण का चिह्न था। स्वर्गीय रामधारी सिंह 'दिनकर' के कथनानुसार जब महर्षि दयानन्द कलकत्ता गए थे, तब वे केशवचंद्र सेन के साथ ही ठहरे थे। उन दिनों स्वामी जी 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना संस्कृत में कर रहे थे। केशवचंद्र सेन के कहने पर ही उन्हें इस बात का ध्यान हुआ कि जनता के दिल और दिमाग में हलचल मचाने का काम संस्कृत नहीं कर सकती। यह काम केवल हिन्दी के द्वारा किया जा सकता है। परिणामतः स्वामीजी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना हिंदी में की, हिंदी गद्य को एक नई शैली प्रदान की और जनता के बीच वे हिन्दी में ही व्याख्यान देने लगे। वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे कि हिन्दी को अपनाये बिना भारत को अपनी राष्ट्रभाषा नहीं मिलेगी। हिन्दी को अपनाकर वे देश का भाषा-भेद मिटा देना चाहते थे। वे हिन्दी को आर्य भाषा कहते थे और अपने अनुयायियों के लिए आर्य भाषा का ज्ञान अनिवार्य समझते थे। उनके प्रयत्न से पंजाब और युक्त प्रान्त में हिन्दी का प्रचार बड़ी तेज़ी से हुआ। आगे चलकर हिन्दी के लिए जो आग्रह गांधी जी करने वाले थे, उसका पूरा पूर्वाभास हमें स्वामी दयानन्द में दिखाई देता है।

और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी-प्रेम की साक्षात् मूर्ति थे, यह कहने की आवश्यकता नहीं। उनका सारा व्यक्तित्व और कृतित्व हिन्दीमय था। हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में वे आधुनिकता और प्रगतिशीलता के जनक माने जाते हैं। उन्होंने हिन्दी को राधा-कृष्ण के केलि-कुंजों से निकालकर आधुनिक भावों और विचारों से पुष्ट किया। वे हिन्दी के द्वारा देशी जीवन की अवरुद्ध गति को गतिमान बनाने की उत्कट अभिलाषा रखते थे। निज-भाषा-ज्ञान-विहीन व्यक्ति न घर का, न घाट का। पतिदेव जब 'देहरा' पूजते तो स्त्री 'मृत' पूजती थी। इसी से जब तक घर-घर में स्त्री और पुरुष विद्या-बुद्धि-निधान न बन जाते तब तक उन्नति की कोई आशा नहीं थी। यह कार्य निज भाषा की उन्नति के बिना पूर्ण नहीं हो सकता था। अंग्रेज लोग अंग्रेजी में अनेक त्रुटियाँ होते हुए भी अपनी भाषा पर गर्व करते थे। उसी प्रकार भारतवासियों को भी अपनी भाषा की, अनुवादों और मौलिक रचनाओं द्वारा 'विद्या के भौन' बनना चाहिए। 'हिंदी की उन्नति पर व्याख्यान' (१८७७) में धर्म, युद्ध, विद्या, कला, विज्ञान, काव्य आदि के समझने के लिए वे निज भाषा की महत्ता बताते हुए कहते हैं—

> सौंप्यौ ब्राह्मन को धरम तेई जानत वेद।
> तासों निज मत को लह्यो कोऊ कबहुँ न भेद॥
> तिन जो भाष्यो सोइ कियो अनुचित जदपि लखात।
> सपनहुँ नहिं जानी कछू अपने मन की बात॥
> पढ़े संस्कृत बहुत बिध अंग्रेजी हू आप।
> भाषा चतुर नहीं भये हिय को मिट्यो न ताप॥

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु निज भाषा-ज्ञान द्वारा समाज से मूढ़ता और कूपमण्डूकता का ही निवारण करना नहीं चाहते थे, वरन् पंडों-पुजारियों का एकाधिपत्य भी समाप्त कर देना चाहते थे। हिन्दी के प्रति अवहेलना और उसका अपमान उन्हें कदापि सहन नहीं था। हिन्दी उनकी राष्ट्रीयता का प्रतीक थी। हिन्दी की उन्नति और उसके ज्ञान द्वारा वे समाज-धर्म का सुधार करना और राष्ट्रीय एकता और अखंडता को पुष्ट करना चाहते थे।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द और भारतेन्दु दोनों के लिए देशोन्नति हिन्दी के बिना संभव नहीं थी।

दोनों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उस समय 'स्वराज्य' का मंत्र दिया जब १८५७ के बाद सारा भारत आतंकित था और स्वतंत्रता की बात करना मौत को निमंत्रण देने के समान समझा जाता था।

भारतीय नवोत्थान की एक विशेषता थी नारी का उत्कर्ष। हमारे देश में सैद्धान्तिक रूप मे नारी गृह-लक्ष्मी समझी जाती है और यह कहा गया है कि जहाँ नारी का आदर होता है वहाँ देवता रमण करते हैं। गार्गी, मैत्रेयी आदि के उदाहरणों द्वारा यह भी बताया गया है कि वैदिक काल से लेकर मुसलमानी शासन काल के प्रारम्भ होने तक भारतीय नारी उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी, धार्मिक कृत्यों में पुरुष का साथ देती थी, राजनीति मे भाग लेती थी, पर्दा नहीं करती थी, अर्थात् वह सच्चे अर्थों मे पुरुष की सहधर्मिणी थी। किन्तु भारतीय इतिहास के मध्य युग में उसकी स्थिति शोचनीय हो गई। वह घर की चहारदीवारी में बन्द हो गई। महर्षि दयानन्द ने फिर से उसे उसका उचित स्थान दिलाने की चेष्टा की। उन्होने बाल-विवाह वृद्ध-विवाह और बहुविवाह का खण्डन किया और नारी के प्रति क्रूरता का विरोध किया। उन्होंने नारी को उच्च-से-उच्च शिक्षा प्रदान करने, उसे समानाधिकार देने की घोषणा की। इसी प्रकार नवोत्थान-काल मे भारतेन्दु ने भी स्त्रियों की उन्नति के लिए आन्दोलन किया। भारतीय नारी की हीन दशा देखकर उन्हें अत्यन्त दु:ख होता था। 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' उपन्यास मे उन्होंने वृद्ध-विवाह का विरोध किया है। वे चाहते थे कि भारतीय नारी अपना स्वत्व पहचाने और देश की सम्पत्ति-विपत्ति समझे। महर्षि दयानन्द की भाँति उन्हें भी विश्वास था कि भारतीय नारी सर्वदा हीनावस्था में नहीं थी। वे उन्हें आधुनिक शिक्षा-नीर-क्षीर-विवेक के साथ—देने के पक्षपाती थे। उनके पिता ने तो अपने घर की लडकियो को एक मिशनरी स्कूल में पढ़ने भेजा ही था, किन्तु भारतेन्दु ने नारी-शिक्षा के लिए आधुनिक शिक्षण-संस्था भी स्थापित की, इस दृष्टि से वे महर्षि दयानन्द के अत्यन्त निकट थे। उनकी 'नील देवी' नामक नाट्य-कृति उनके नारी-संबंधी दृष्टिकोण पर अच्छा प्रकाश डालती है।

जहाँ तक शिक्षा का संबंध है महर्षि दयानन्द और भारतेन्दु के समय तक भारत की प्राचीन शिक्षण-प्रणाली का ह्रास हो चुका था और नवीन यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान और साहित्य की शिक्षा प्रारम्भ हो गई थी। महर्षि ने प्राचीन संस्कृत-शिक्षा पर तो बल दिया ही, साथ ही नवीन यूरोपीय शिक्षा का भी समर्थन किया और इस प्रकार वे प्राचीन और नवीन का समन्वय उपस्थित करना चाहते थे ताकि भारतवासी अपनी सांस्कृतिक पीठिका के साथ आधुनिक वैज्ञानिक युग में पदार्पण कर सकें। उनके आदर्श का अनुसरण करने की दृष्टि से आज देश में अनेक शिक्षण संस्थाएँ कार्यरत हैं। गुरुकुलों मे भी उनके आदर्शों का पालन किया जाता है। अनेक कन्या महाविद्यालय भी देश मे हैं। भारतेन्दु ने अपनी 'भारत भिक्षा' 'भारतवीरत्व', 'मान-सोपायन', 'मनोमुकुलमाला' आदि रचनाओं में ब्रिटिश सुशासित भूमि के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करते हुए और उसके गुण-दोषों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए, यूरोपीय शिक्षा द्वारा देशवासियो को उन्नति पथगामी होते देखना चाहा है और निज भाषा में किए गए अनुवादों द्वारा ज्ञान-संवर्द्धन का आह्वान कर अन्ध-कार को प्रकाश में बदल देना चाहा है। उन्हें पश्चिम का अन्धानुकरण पसन्द नहीं था। किन्तु वे कहते थे कि 'अंगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़'। कालगति के अनुसार देशवासियों को उन्नति की ओर अग्रसर करने की उनकी उत्कट इच्छा थी।

वास्तव मे भारतीय नवोत्थान ने जिन दो महापुरुषों को जन्म दिया उनमें हिन्दी की दृष्टि से महर्षि दयानन्द और भारतेन्दु का शीर्ष स्थान है। इसीलिए दोनों के राजनीतिक विचारो में साम्य था। आधुनिक अर्थ में स्वराज्य की माँग तो दोनों मे से किसी ने नहीं की। किन्तु उन्होंने स्वराज्य की भावना का मंत्र फूंका। विदेशी शासन उन्हें फूटी आँखों भी नहीं भाता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'भारत-दुर्दशा' नामक नाट्य-कृति और अनेक काव्य-कृतियों मे उनका यह दृष्टिकोण देखने को मिलता है। महर्षि का वेद-प्रचार राष्ट्रीय भावना पुष्ट करने का एक साधन था। एक अंग्रेज लेखक के अनुसार वे छद्मवेष मे क्रान्तिकारी थे। यही कारण

था जिससे बीसवी शताब्दी में स्वाधीनता-संग्राम के समय आर्यसमाजी राष्ट्रीय आन्दोलन मे घुल-मिल गए। दोनों में मानवता और विश्व-बन्धुत्व की भावना थी। दोनो ने आदर्श भारत की कल्पना की। उनमे से किसी ने कोई राजनीतिक संगठन स्थापित नही किया था, किन्तु उनमें आत्मनिर्भरता और स्वतत्रता की भावना थी। इसीलिए दोनो अंग्रेज सरकार की आँखो मे खटकते थे। जन-मानस मे स्वाभिमान जाग्रत कर वे चाहते थे कि भारतवासी सिंह के समान गर्जन करें। स्वराज्य और स्वदेशी की तरफ वे जनता को ले जाना चाहते थे। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' मे महर्षि ने राज्य के स्वरूप, राजा तथा जनता के अधिकार, दण्ड-व्यवस्था, कानून आदि के सम्बन्ध मे अपने विशद एवं व्यापक विचार प्रकट किए हैं।

अभी तक मैंने दोनों महापुरुषो के विचार-साम्य के संबंध मे अपना मत व्यक्त किया। किन्तु एक बात में दोनों मे मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है।यह तो निश्चित है कि दोनों महापुरुषो मे हिन्दुत्व (भारतीयता) की भावना प्रबल थी। वे हिन्दुओं को भारत की रीढ समझते थे। इसलिए हिन्दुत्व पर ध्यान केन्द्रित करना स्वाभाविक था—वैसे वे संकीर्ण साम्प्रदायिकता के विरुद्ध और विश्व-बन्धुत्व के समर्थक थे। सुधारवादी दोनों थे। महर्षि दयानन्द आर्यसमाज की स्थापना द्वारा जो कार्य सम्पन्न करना चाहते थे वही कार्य भारतेन्दु कोई सम्प्रदाय या समाज स्थापित करने के बजाय परम्परा से चले आ रहे स्वयं हिन्दू धर्म या सनातन धर्म मे ही देश, काल, परिस्थिति के अनुरूप सुधार उपस्थित करना चाहते थे। सनातन धर्म के सुधार के अन्तर्गत उनके सभी सामाजिक, धार्मिक सुधार, अछूतोद्धार, नारी का उत्थान, भाषोद्धार, स्वराज्य की भावना, मांस-मद्य-निषेध, बलि प्रथा का विरोध आदि सभी कुछ समाहित था। इसलिए उन्हें एक अलग 'दयानन्दी' विचारधारा अच्छी न लगती थी। वे सामाजिक और धार्मिक सुधार उसी प्रकार चाहते थे जिस प्रकार महर्षि दयानन्द चाहते थे। किन्तु श्रुति का अतिक्रमण करते हुए और पश्चिम के चकाचौंध से बचकर (ब्रह्म समाज)। उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक सुधारवादी संस्थाएँ उत्पन्न हो गई थीं, यह उन्हें पसन्द न था। मतमतान्तर उन्हें अच्छे नही लगते थे। इसीलिए प्राचीन सनातन धर्म के प्रति आर्यसमाज की भावना का वे अपने ढंग से खण्डन करते थे। इस दृष्टि से 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (खण्ड ६, संख्या १२-१३, जून-जुलाई, १८७६) में उनका 'दयानन्द सरस्वती' शीर्षक लेख देखने योग्य है। साथ ही उनके ये शब्द भी देखिये—

> भारत में एहि समय भई है एब कुछ बिनहिं प्रमान हो दुइ-रंगी।
> आधे पुराने पुरानहिं मानें आधे भए किरिस्तान हो दुइ-रंगी॥
> क्या तो गदहा को चना चढावें कि होइ दयानन्द जायँ हो दुइ-रंगी।
> क्या तो पढ़ैं कैथी कोठिवलिये कि होइ बरिस्टर धाय हो दुइ-रंगी॥
> एही से भारत नास भया सब जहाँ तहाँ यही हाल हो दुइ-रंगी।
> होउ एकमत भाई सबै अब छोड़हु चाल-कुचाल हो दुइ-रंगी॥

वास्तव में भारतेन्दु प्राचीन सनातन धर्म को नवीन रूप प्रदान करना चाहते थे। सबको तीन-तेरह होते देखना उन्हें पसन्द न था। वे अतिवादियों से सहमत न हो पाते थे, फिर वे चाहे प्राचीन धर्म का ढोंग भरने वाले कूपमण्डूक ब्राह्मण हों या आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी हों या ईसाइयत का दम भरने वाले नवशिक्षित भारतीय।

भारतेन्दु का केवल इस मामले मे महर्षि दयानन्द से असहमत होना आश्चर्य की बात नही होनी चाहिए। दो महापुरुषो में पूर्ण मतैक्य हो, यह न तो संभव है और न स्वाभाविक।

अन्यथा, दोनों राष्ट्रीय नवजागरण के अग्रदूत थे। वे भारतीय जीवन का फिर से संस्कार करना चाहते थे। पूर्व और पश्चिम का समन्वय उपस्थित कर दूषित परम्पराओं, अन्धविश्वासों, अंधपरम्पराओं आदि का निवारण करना उनका लक्ष्य था। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की सर्वप्रधानता मे विश्वास

कर उन्होंने सामाजिक एवं धार्मिक प्रगतिशीलता और राष्ट्रीय चेतना की जागृति में जो अपूर्व योग प्रदान किया, वह भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। दोनों आधुनिक भारत के निर्माता थे। महर्षि दयानन्द यदि तपोमूर्ति थे, तो भारतेन्दु रसमूर्ति थे और वे हिन्दू समाज को पुनर्जन्म देने के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। वे मनुष्य और मानवता के शिल्पी थे। दोनों कर्मवीर और चिन्तक थे। वर्तमान हिन्दू विचार-धारा में उन्होंने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़े। दोनों का उद्देश्य भारतवर्ष को अविद्या, आलस्य और प्राचीन ऐतिहासिक सत्य के अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता की जागृति में लाना था। आधुनिक भारत के मार्ग-दर्शक महर्षि दयानन्द और भारतेन्दु को मैं सादर श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

दयानन्द और प्रेमचन्द

श्री मदनगोपाल

प्रसिद्ध पत्रकार एवं सुप्रतिष्ठित लेखक

प्ररोचना

महर्षि दयानन्द का निर्वाण ३० अक्टूबर १८८३ ई० को हुआ। उनके निर्वाण को सौ वर्ष हो गए। वह एक *सार्वभौम व्यक्ति थे। नवजागरण के युग में उन्होंने समाज सुधार, शिक्षा, औद्योगिक तथा वैज्ञानिक* उन्नति, समानता और सामाजिक न्याय, स्वतन्त्रता, स्वदेशी तथा स्वभाषा का उद्घोष करते हुए स्वतन्त्र, समृद्ध तथा रूढ़िमुक्त राष्ट्र की संकल्पना की थी। 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने मनु आदि धर्मशास्त्रकारों का युगानुरूप नवीन भाष्य प्रस्तुत किया। आत्मिक तथा भौतिक उन्नति का ऐसा संतुलित उपाय इतने विशद वैचारिक और व्यावहारिक स्तर पर महर्षि से पूर्व किसी समाज-सुधारक तथा युगद्रष्टा ने नहीं सुझाया था। श्री विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा श्री अरविन्द जैसे युगप्रवर्तक विचारक भी स्वामी जी से प्रभावित थे। स्वामी जी के कार्य का बहुआयामी अध्ययन अभी आर्यसमाज से बाहर विद्वानों द्वारा वैसा नहीं हुआ जैसा होना चाहिए था। मेरा विश्वास है कि आधुनिक परिप्रेक्ष्य में स्वामी जी के कार्य का पुनर्मूल्यांकन होना चाहिए, यह मूल्यांकन इसलिए भी आवश्यक है कि आज मानव धर्म, लोकतन्त्र, सामाजिक समानता, सामूहिक अभ्युदय, नैतिकता तथा लोक जीवन के उत्कर्ष से सम्बन्धित मूल्यों को खतरा पैदा हो गया है। पुनर्मूल्यांकन की दिशा में पहल करने के लिए हमने निर्वाण शताब्दी पर प्रसार-व्याख्यान माला का शुभारंभ किया है। इसके अन्तर्गत डा० भवानी लाल भारतीय, आचार्य एवं अध्यक्ष, दयानन्द पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय तथा डा० प्रभाकर माचवे, निदेशक, भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता के 'दयानन्द के विचार, समय की कसौटी पर' तथा 'दयानन्द, गांधी और मार्क्स' विषय पर व्याख्यान सम्पन्न हो चुके हैं और अब इस क्रम में दैनिक ट्रिब्यून के पूर्व सम्पादक तथा अंग्रेजी और हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक श्री मदनगोपाल का तृतीय व्याख्यान 'दयानन्द और प्रेमचन्द' विषय पर आयोजित किया जा रहा है। आशा है, दोनों कालजयी विचारकों का यह तुलनात्मक अध्ययन विचार के लिए नई दिशाओं का उद्घाटन करेगा।

महर्षि दयानन्द ने धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में नवीन संभावनाएँ व्यक्त की। स्वदेशाभिमान, स्वात्मबोध तथा राष्ट्रीय गौरव को जाग्रत कर स्वाधीनता संग्राम का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने हताश पराधीन युवकों के भीतर सुषुप्त अहं को जगाया जिनके कानों में निरन्तर यह शोक-पूर्ण मंत्र फूंका गया था कि भारत का इतिहास सतत अपमान, अधःपतन, विदेशियों की पराधीनता तथा बाह्य शोषण की शोचनीय गाथा है। प्रेमचंद का साहित्य भी साम्राज्यवादियों के फैलाये हुए इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी भ्रमों और धारणाओं को छिन्न-भिन्न करने वाला है। उन्होंने सम्पूर्ण भारत तथा उसके स्वाधीनता-आन्दोलन को प्रतिबिम्बित किया। शासकीय आतंक के विरुद्ध त्याग और बलिदान का अमोघ व्रत लेकर चलने वाली जनसाधारण की सेना उन्होंने जन संस्कृति के रक्षार्थ खड़ी की। सांस्कृतिक

और राजनीतिक जागरण के युग मे जनवादी साहित्यिक आन्दोलन के वह पहरेदार थे। अब तक प्रायः प्रेमचंद, गांधी और तालस्ताय के तुलनात्मक अध्ययन की बात की जाती रही है पर दयानन्द के साथ उनका संबन्ध जोड़कर नही देखा गया। गवर्नमेंट सेन्ट्रल ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद में पढ़ते हुए वह प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान पण्डित गंगा प्रसाद उपाध्याय के सम्पर्क में रहे थे। बरेली के आर्यसमाजी शंकरलाल श्रोत्रिय के विज्ञापन को पढ़कर उन्होंने मुंशी देवीप्रसाद की बाल विधवा कन्या से पुनर्विवाह किया। अमृतराय ने तो लिखा ही है कि प्रेमचंद जी जलसो में तो जाते ही थे, आर्यसमाज के बाजाब्ता सदस्य भी थे। उन्होने अपनी पुत्री कमला की प्रारंभिक शिक्षा का प्रबन्ध भी आर्य महिला विद्यालय, लखनऊ में किया था। 'माधुरी' का सम्पादन करते हुए सत्यदेव विद्यालंकार प्रणीत पुस्तक 'दयानन्द दर्शन,' चमूपति जी कृत 'ग्लेम्पसेज आफ दयानन्द' तथा घासीराम कृत 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' के अंग्रेजी अनुवाद 'इन्ट्रोडक्शन टू द कमेन्ट्री आन द वेदाज' की उन्होने साहित्यिक समीक्षा की थी। यही नही, प्रेमचद के कहानी संग्रह 'सोजेवतन' की समीक्षा लाहौर से प्रकाशित 'आर्य गजट' में छपी थी। १९२६ में कांगड़ी से प्रकाशित 'अलंकार' तथा 'गुरुकुल समाचार' में 'कायाकल्प,' 'प्रेम प्रतिमा' तथा 'प्रेम द्वादशी' की समीक्षाएँ प्रकाशित हुई थी। 'अलकार' के गुरुकुल जयन्ती विशेषाक में प्रेमचंद जी का 'ऋषि के जीवन का एक पृष्ठ' शीर्षक लेख भी प्रकाशित हुआ था। १९३५ मे प्रकाशित 'हस' मे 'अलकार' के श्रद्धानन्द विशेषांक की समीक्षा छपी है। कन्या गुरुकुल, देहरादून से प्रकाशित तथा विद्यावतीसे ठ द्वारा सम्पादित 'ज्योति' पत्रिका मे 'वरदान' तथा 'रगभूमि' की समीक्षाएँ प्रकाशित हुई। 'ज्योति' के एक अंक मे प्रेमचंद जी की पत्नी शिवरानी का 'भारतीय महिलाओ का अपनी बहनो के प्रति कर्त्तव्य' लेख छपा था। बात जुलाई सन् १९२४ की है। प्रेमचंद जी ने अपने दोनों पत्रो—'जागरण' और 'हंस'—मे स्वामी दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द के चित्र छापकर अपने आर्यसमाज विषयक भावों को स्पष्ट किया था।

१९२६ के वार्षिकोत्सव पर प्रेमचंद जी गुरुकुल काँगड़ी पधारे थे। अपने गुरुकुलीय सस्मरणो को उन्होंने 'माधुरी' मे प्रकाशित कराया था। गुरुकुल में आने से पूर्व वह गुरुकुल को साम्प्रदायिकता का केन्द्र मानते थे और जो भाषण वह लिखकर लाए थे, उसमे उनका पूर्वाग्रह लक्षित होता था पर यहाँ आकर उनकी धारणा बदल गई और उन्होने वह लिखित भाषण न पढ़कर स्वतंत्र मौखिक विचार व्यक्त किए तथा स्वीकार किया कि गुरुकुल मे वह गुरु बनकर आये थे परन्तु शिष्य बनकर जा रहे है। अगस्त १९२७ की 'ज्योति' मे 'गुरुकुल मे प्रेमचंद' शीर्षक के अन्तर्गत यह विवरण प्रकाशित हुआ। तत्कालीन आचार्य रामदेव ने उनका स्वागत करते हुए उनकी तुलना अग्रेजी के साहित्यकार थैकरे से की थी। १९३६ में आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के वार्षिकोत्सव पर लाहौर मे उन्होने सभापति पद से जो व्याख्यान दिया था उसमें गुरुकुल शिक्षा पद्धति, नारी शिक्षा, वेद प्रचार, अछूतोद्धार, कर्मणा वर्ण व्यवस्था, जात-पात का निषेध, स्वदेश प्रेम, चरित्र निर्माण आदि विषयो पर आर्य समाज के दृष्टिकोण की सराहना की थी। कहने का आशय यह कि प्रेमचद जी पर दयानन्द का गहरा प्रभाव था और आर्य समाज की संस्थाओं ने उनसे अपना घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़कर इस महान उद्देश्य को प्रचारित कराने मे प्रेमचंद जी का लाभ उठाया था। गुरुकुल का उनसे गहरा रिश्ता है, अतः आज परिसर में दोनो महापुरुषो को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए परम संतोष का अनुभव हो रहा है हमे।

दयानन्द और प्रेमचंद जीवन सग्राम मे तटस्थ रहने वाले चिन्तक नहीं थे। दोनों ने साम्राज्यवादियों, पोंगे पोपो और धर्माचार्यों तथा संस्कृति-विरोधियो के खिलाफ कलम का अचूक अस्त्र प्रयुक्त किया। दोनों महान् भारत के भविष्य द्रष्टा थे। दोनों शोषण और सामाजिक अत्याचार का विरोध जीवन-भर कमर कस कर करते रहे।

प्रसन्नता का विषय है कि प्रेमचंद के विशेषज्ञ विद्वान श्री मदनगोपाल आज दयानन्द और प्रेमचंद पर व्याख्यान देने के लिए हमारे मध्य हैं। उन्होने प्रेमचंद पर हिन्दी तथा अंग्रेजी में अधिकारपूर्वक लिखा है।

हिन्दी में 'कलम का मजदूर: प्रेमचंद' तथा अंग्रेजी में 'मुंशी प्रेमचंद' उनकी बहुचर्चित कृतियाँ हैं। अमृतराय की पुस्तक 'कलम का सिपाही' से अधिक परिश्रम मदनगोपाल जी की पुस्तक मे परिलक्षित होता है। आशा है, मदनगोपाल जी का यह व्याख्यान दयानन्द और प्रेमचंद को समझने मे अधिक सहायक होगा। मैं श्री मदनगोपाल जी को हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

श्रद्धानन्द बलिदान-दिवस
२३ दिसम्बर १९८४

बलभद्र कुमार हूजा
कुलपति

[१]

महर्षि दयानन्द के निधन के समय प्रेमचंद की आयु तीन वर्ष की थी। उनका असली नाम धनपतराय था। उनकी शिक्षा काशी मे हुई, वही काशी जहाँ स्वामी दयानन्द का कडा विरोध हुआ था।

जब धनपतराय स्कूल मे पढ रहे थे तब आर्यसमाज ने उत्तर भारत के जनजीवन मे एक नयी चेतना का संचार किया। महर्षि के समय हुए वाद-विवादो की गूँज अभी भी सुनाई दे रही थी। महर्षि के अकाट्य तर्कों ने धार्मिक अन्धविश्वासो और रूढ़िवादी सकीर्णताओ की बुनियादें हिला दी थी। उस युग के एक महान सुधारवादी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी पत्रिका 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के सहायक सम्पादको की सूची में महर्षि जी का नाम भी सम्मिलित किया था, क्योंकि महर्षि जी की कुछ कृतियाँ उस पत्रिका मे छपी थी। जनता द्वारा नयी विचारधारा का स्वागत पुरातनपंथी संकीर्णताओ के मुंह पर कडा तमाचा था। प्रेमचद ही शायद ऐसे प्रथम साहित्यकार थे जिन्होने अपने उपन्यासो और कहानियो के माध्यम से महर्षि का सदेश घर-घर पहुँचाया। अपने सुधारवादी दृष्टिकोण के कारण वह जल्द ही जन-जन मे लोकप्रिय हो गए और प्रमुख आर्यसमाजी साहित्यकार के रूप मे साहित्य गगन पर छा गए। उनकी कृतियो मे प्रचारक की ध्वनि नहीं है, और न ही नारेबाजी है। इनके स्थान पर हमे सुधारवादी और शिक्षात्मक स्वर सुनाई देता है। उनके आर्यसमाजी विचार थोथे नहीं लगते।

प्रेमचद की सर्वप्रथम नौकरी अट्ठारह रुपये महीने पर चुनार के मिशनरी स्कूल मे लगी थी। एक मैट्रिक पास को उन दिनो अट्ठारह रुपये वेतन मिलना बड़ी बात थी। प्रेमचद ने स्वय लिखा है कि नौकरी मिलते ही जब वह घर की ओर चले तो उनके पाँव जमीन पर न पड़ते थे। परन्तु ईसाई मिशनरी स्कूल मे उनका टिकना आसान नहीं था। वह कुछ ही महीने वहाँ काम कर पाये। चुनार मे गोरे लोगो की पलटन तैनात थी। प्रेमचंद स्वतंत्र विचारों के व्यक्ति थे, बड़े स्वाभिमानी। गोरे सिपाहियों और स्थानीय युवको के खेल मे झड़प के सिलसिले मे बात आगे बढ़ी और धनपतराय को स्कूल से निकाल दिया गया। जितने दिन रहे परिस्थिति अनुकूल नहीं थी। स्कूल तो मिशनरियो का था ही। यहाँ उन पादरियो का भी अड्डा था जो ईसाई मत का प्रचार करते थे और गरीब किसानो तथा अछूतो को प्रलोभन देकर ईसाई धर्म की लपेट मे ले रहे थे। यही कारण था कि इस छोटे से नगर मे दो गिरजाघर थे। आगे चलकर प्रेमचंद ने अकाल और विपदाग्रस्त लोगों के धर्म परिवर्तन के बारे में कहानियाँ भी लिखी।

कहानियों से पहले मैं उनके उपन्यासों को लेता हूँ। प्रारंभिक तीन उर्दू कृतियाँ हैं 'असरारे माबिद,' 'हमखुर्मा व हमसवाब' और 'किशना'। 'असरारे माबिद' अधूरा रहा। इसका हिन्दी मे अनुवाद नहीं हुआ। 'किशना' का भी नहीं हुआ (इस उपन्यास की तो अभी तक एक भी प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी है।)

'हमखुर्मा व हमसवाब' की कुछ प्रतियाँ उपलब्ध हैं । इन तीनों में से कौनसी पुस्तक कब लिखी गई और कब प्रकाशित हुई इसके बारे में मतभेद हैं । 'असरारे माबिद' बनारस की पाक्षिक उर्दू पत्रिका 'आवाजे खल्क' में छपा। पहली किस्त ६ अक्तूबर, १९०३ को, और आखिरी किस्त फरवरी १९०५ को, लेखक का नाम था 'नवाब राय इलाहाबादी'। प्रेमचंद इसे पूरा नहीं कर सके। आगे चलकर 'किशना' के आधार पर 'गबन' लिखा। 'हमखुर्मा व हमसवाब' का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ, यह था 'प्रेमा'। 'असरारे माबिद' का उन्होंने कहीं जिक्र नहीं किया। शायद इसलिए कि इस उपन्यास में विशेष फक्कड़पन तो है ही थोड़ी अश्लीलता भी है। इसकी पात्र रामकली एक महन्त के प्रेमपाश में फँसी है। बाजारू प्रवृत्ति की औरत है। महन्त से इतनी घनिष्ठता है कि घर के जेवर चुराकर उसे दे देती है। 'हमखुर्मा व हमसवाब' में भी हमें रामकली का किरदार मिलता है। वहाँ वह विधवा है। महन्त जी वहाँ भी हैं। दोनों उपन्यासों में महन्त या पुजारियों की खिल्ली उडाई गयी है। ऐसे ही जैसे आर्यसमाजी प्रचारक उनकी कुरीतियों का भंडा फोड़ कर दिखलाते थे। 'हमखुर्मा व हमसवाब' आर्यसमाजी रंग में रँगा है। तब प्रेमचंद की आर्यसमाज में पूरी आस्था थी। वह समाज सुधार के इच्छुक थे। यह पुस्तक प्रेमचंद को प्रिय भी थी। उर्दू में इसके शायद तीन संस्करण निकले। हिन्दी में इसका उल्था कर 'प्रेमा' शीर्षक से प्रकाशित करवाया। फिर बीस वर्ष बाद इसके 'प्लाट' में थोड़ा परिवर्तन कर इसे 'प्रतिज्ञा' के नाम से छपवाया।

उपन्यास का नायक अमृतराय स्वयं प्रेमचद का मुखपात्र है। आरंभ में प्रेमचंद की आकांक्षा थी वकील बनने की। स्वयं वकील नहीं बने, परन्तु अमृतराय को वकील का जामा पहनाया। यही नहीं अमृत-राय का एक विधवा से विवाह भी करवाया। हिन्दी उपन्यास में यह नयी बात थी। स्वयं प्रेमचद ने भी एक बाल विधवा से विवाह किये। महर्षि ने विधवाओं के लिए नियोग की प्रथा को पुनर्जीवित करने का प्रचार किया था। परन्तु कितने ही आर्यसमाजियों ने विधवा विवाह का प्रचार किया। महर्षि जी ने इसका विरोध नहीं किया। यही नहीं आर्य मेसेंजर में विधवाओं के विवाह संबंधी विज्ञापन भी छपते थे। महर्षि जी ने उन्हे देखा था।

'हमखुर्मा व हमसवाब' उपन्यास के नायक अमृतराय ने प्रचारक धनुषधारी का व्याख्यान सुना। इतने प्रभावित हुए कि कुछ अंश भी नोट कर लिए। जब अमृतराय ने अपने मित्र दाननाथ को बतलाया कि उसने धनुषधारी का व्याख्यान सुना था तो दाननाथ ने व्याख्यान का विषय पूछा। अमृतराय ने कहा—"जाति की उन्नति के सिवा दूसरी कौनसी बात हो सकती थी? लाला साहब ने अपना जीवन इसी काम के हेतु अर्पण कर दिया है। आज ऐसा सच्चा देशभक्त और निष्काम जाति सेवक इस देश में नहीं है। यह दूसरी बात है कि कोई उनके सिद्धांतों को माने या न माने। मगर उनके व्याख्यानों में ऐसा जादू होता है कि लोग आप ही आप खिंचे चले आते हैं। मैंने लाला साहब के व्याख्यानों के सुनने का आनन्द कई बार प्राप्त किया है। मगर आज की स्पीच में तो बात ही और थी। ऐसा जान पड़ता है कि उनकी जबान में जादू भरा है। शब्द वही होते हैं जो हम रोजमर्रा काम में लाया करते हैं। विचार भी वही होते हैं जिनकी हमारे यहाँ प्रतिदिन चर्चा रहती है। मगर उनके बोलने का ढंग कुछ ऐसा अपूर्व है कि दिल को लुभा लेता है।"

अमृतराय बह गये। आदर्श के नाम पर किसी भी विधवा से विवाह का संकल्प किया।

जब इस तरह का संदेश उनकी मंगेतर प्रेमा के पिता बदरी प्रसाद के पास पहुँचा तो उन्होंने अमृत-राय को लिखा—"हमने सुना है कि अब आप सनातन धर्म को त्याग करके ईसाइयों की उस मंडली में जा मिले हैं जिसको लोग मूल से सामाजिक सुधार सभा कहते हैं। इसलिए अब हम अति शोक के साथ कहते हैं कि हम आपसे कोई बात नहीं कर सकते।" अमृतराय को धक्का लगता है। संघर्ष था देशभक्ति और आत्म-स्वार्थ के बीच। लेखक के अनुसार देशभक्ति ने आत्मस्वार्थ को परास्त कर दिया। अमृतराय ने बदरी प्रसाद को लिखा—"कृपा पत्र आया। पढ़कर बहुत दुख हुआ। आपने मेरी बहुत दिनों की बंधी हुई आशा तोड़ दी।

खैर, जैसा आप उचित समझें वैसा करे। मैंने जब से होश सँभाला है तब से मैं बराबर सामाजिक सुधार का पक्ष करता हूँ। मुझे विश्वास है कि हमारे देश की उन्नति का इसके सिवाय और कोई उपाय नही है। आप देश जिसको सनातन धर्म समझ बैठे हैं वह अविद्या और असभ्यता का प्रत्यक्ष स्वरूप है।आपका कृपाकांक्षी— अमृतराय।"

प्रेमा का विवाह अमृतराय के परममित्र दाननाथ से हो जाता है।

अमृतराय पूर्णा के पति के गंगा में डूब जाने पर उसे सहानुभूति दिखलाते हैं। दिल में बैठा सुधारक कहता है। पूर्णा का दूसरा विवाह होना चाहिए। पूर्णा को मनाया जाता है। जब विधवा विवाह का समाचार शहर में फैलता है तो बदरी प्रसाद के घर पर इसकी चर्चा होती है। विद्वान और धनाढ्य लोग इकट्ठे होते हैं, शादी को रोकने के तरीकों पर बहस होती है।

पंडित भृगुदत्त : विधवा विवाह वर्जित है। कोई हमसे शास्त्रार्थ कर ले। वेद-पुराण मे कही ऐसा अधिकार कोई दिखा दे तो हम आज से पंडिताई करना छोड़ दें।

बहुत से लोग चिल्लाए : हाँ हाँ जरूर शास्त्रार्थ हो।

लोगों को शास्त्रार्थ पर उतारू देखकर बदरी प्रसाद बोले : किससे करोगे शास्त्रार्थ ? मान लो वह शास्त्रार्थ न करे। तब ?

सेठ धूनीमल : बिना शास्त्रार्थ किए विवाह कर लेंगे ? थाने मे रपट करा दूंगा।

ठाकुर जोरावर सिंह : कोई ठट्ठा है ब्याह करना। सिर काट लूंगा। लहू की नदी बह जाएगी।

राव साहब : बारात की बारात काट डाली जाएगी।

सैंकड़ों आदमी आकर डंट गये और आग मे ईंधन लगाने लगे।

एक : जरूर से जरूर सिर गंजा कर दिया जाये।

दूसरा : घर में आग लगा देंगे। सब बारात जल-भुन जायेगी।

तीसरा : पहले उस स्त्री का गला घोंट देंगे।

एक ओर विवाह की तैयारियाँ हो रही हैं। दूसरी ओर लठैतों के सरदार ठाकुर जोरावर सिंह अमृतराय को खत भेजते हैं। लिखा था : हमने सुना है कि आप विधवा ब्राह्मणी से विवाह करने वाले हैं। हम आपसे कहे देते हैं कि भूल कर भी ऐसा न कीजिएगा। नही तो आप जानें और आपका काम।

अमृतराय प्रतिष्ठित व्यक्ति है। रसूख वाले हैं। विवाह सम्पन्न हो जाता है। विरोधी दल दांत पीसता रह जाता है।

सेठधूनीमल पंडित भृगुदत्त से कहते हैं : महाराज, कुछ ऐसा यत्न कीजिए कि इस दुष्ट का सत्यानाश हो जाए। कोई नामलेवा न बचे।

भृगुदत्त : सर्वथा नाश न कर दूं तो ब्राह्मण नही। आज के सातवें दिन उनका नाश हो जाएगा।

सेठ जी : द्रव्य जो लगे बेखटक कोठी से मँगा लेना।

भृगुदत्त : इसके कहने की कोई आवश्यकता नही। केवल पाँच सौ ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराना होगा।

एक ओर अंधविश्वास और अविद्या का वातावरण है दूसरी ओर एक ब्राह्मणी विधवा का एक क्षत्रीय अविवाहित पुरुष से विवाह, जातीय सीमाओं को लाँघ कर प्रेमचन्द ने अन्तर्जातीय विवाह का प्रचार किया।

अमृतराय और पूर्णा के विवाह के बाद भी प्रेमा के हृदय में अमृतराय की मूर्ति ज्यों की त्यों रही। यह बात दाननाथ को खटकी। दाननाथ को अमृतराय से इतनी ईर्ष्या थी कि वह अमृतराय को मारने चला। प्रेमा ने पूर्णा को सावधान किया। परिणाम यह हुआ कि दाननाथ और पूर्णा एक दूसरे को गोली का

निशाना बना देते हैं। प्रेमा विधवा हो जाती है। तब प्रेमचन्द अमृतराय का विवाह विधवा प्रेमा से करवा देते हैं। यह समाज सुधार और देशोद्धार के हित में है। देशोद्धार की भावना अगले उपन्यास 'जलवाए ईसार,' हिन्दी में 'वरदान,' में भी है। इस उपन्यास के नायक की माँ सुवामा अष्टभुजी देवी से वरदान माँगती है। देवी की उसके कान में आवाज आती है—सुवामा, मैं तुम से बहुत खुश हूँ। माँग क्या माँगती है।

मैं जो कुछ माँगूँगी, क्या देवी जी देंगी ?
हाँ, मिलेगा।
मैंने बड़ी तपस्या की है। इसके लिए भारी वरदान माँगूँगी।
क्या लेगी ? कुबेर का धन ?
नहीं।
इन्द्र का बल ?
नही।
सरस्वती की विद्या ?
नहीं।
संसार का सबसे उत्तम पदार्थ माँगती है।
वह क्या है ?
सपूत बेटा जो कुल का नाम रोशन करे ?
नही।
जो माँ-बाप की सेवा करे ?
नही।
जो विद्वान और बलवान हो ?
नहीं।
फिर सपूत बेटा किसे कहती है ?
जो अपने देश का उपकार करे।

इस उपन्यास का नायक सुवामा का बेटा प्रतापचन्द है जो संन्यास लेकर बालाजी का नाम ग्रहण करता है।

कुछ समालोचकों ने बालाजी का आधार स्वामी विवेकानन्द बतलाया है। इस धारणा का मुख्य कारण यह है कि जिस समय वरदान लिखा जा रहा था उन्ही दिनों प्रेमचन्द ने विवेकानन्द पर एक लेख 'जमाना' में छपवाया था। स्वामी विवेकानन्द द्वारा लिखी गयी किसी पुस्तक का उर्दू अनुवाद भी 'अदीब' मे छपवाया था।

परन्तु बालाजी का चरित्र विवेकानन्द पर नहीं स्वामी दयानन्द पर ढाला गया है—'अभी बहुत दिन नही गुजरे कि प्रतापचन्द एक गुमनाम आदमी था। आज उसका नाम बच्चे-बच्चे की जबान पर है। क्या उसके पास कारूँ का खजाना था ? पनघट पर जब औरतें कूल्हों पर घड़े रक्खे पानी के लिए आती हैं तब बालाजी ही के चर्चे होते हैं और उन्हीं के जस गाये जाते हैं। अनाज के खेतों मे उन्हीं की बड़ाई होती है। यही कौमी खिदमतगार का इनाम है। कलकत्ता में जब वह गये फूलों की बरसा हुई। हजारों मन फूल पैरों तले रौंद डाले गये। उस दिन मंदिर में देवताओं को फूलों की बास न मिली। रंगीन मिजाजों के गले में फूलों के गजरे न दिखाई दिये···। जब वह भागीरथी के किनारे पानी में सूर्यास्त की बहार देख रहे थे तो कई औरतें पानी भरने आयी और घड़ो को पानी में घुमा-घुमाकर बातें करने लगी।

एक ने कहा : बहन, तूने सुना नहीं बालाजी आये हैं।

दूसरी बोली : हमारे ऐसे भाग कहाँ जो उनके दर्शन मिलें।

तीसरी बोली : तू चलने पर राजी हो तो मैं तेरे साथ चलूँ। वह आज अपनी गौशाला देखने आयेंगे। कौन दूर है। गऊओं के लिए खली और दाना भी ले जाना। एक पंथ दो काज हो जाएँगे।

चौथी बोली : ऐसा न करेंगी तो बड़ा पाप होगा। देख जब से इनका गौशाला खुला है लड़कों को दोनों वक्त दूध पीने को मिल जाता है नहीं तो रूखी रोटियों को तरसते थे।

आगे लिखा है : "बालाजी ने गाँव-गाँव में गौशाले खुलवा दिये। उनका सिद्धान्त था कि हमारी कौमी तबाही और जवाल का असली सबब हमारा जिस्मानी जौफ और जातों की बेजा 'तफरीक' है। हमारे बच्चे रूखी रोटियों को तरसते हैं और दूध-घी की खुशबू भी उनके नाक तक नहीं पहुँचने पाती'''आज तक जितने ऋषि और महात्मा हो गुजरे हैं उन सबने उस तफरीक के मिटाने की कोशिशें की हैं। महात्मा बुद्ध पहले बुजुर्ग थे जिन्होंने हिन्दुओं की पेशानी पर से इस बे-इंसाफी और जुल्म का दाग मिटाना चाहा और उन्हें बहुत कुछ कामयाबी भी हुई। उनके बाद श्री शंकराचार्य, श्री रामानुज, श्री चैतन्य, श्री रामकृष्ण, श्री स्वामी दयानन्द और स्वामी रामतीर्थ। सभी महात्माओं ने यही तालीम दी कि अपने भाइयों को अपना भाई समझो। नादान भाई भी तुम्हारा भाई है। उसे नीचा मत समझो। तुम्हारी मुक्ति एकता से होगी तफरीक से नहीं'' ।" यही था आर्यसमाज का संदेश। यही था महर्षि दयानन्द का संदेश। इन दिनों प्रेमचन्द विधिवत आर्यसमाज के सदस्य थे। फरवरी, १९१३ में मझगाँव से निगम को लिखा : "मेरे जिम्मे हमीरपुर आर्यसमाज के दस रुपये बाकी हैं। बार-बार तकाजा हुआ है, मगर तंगदस्ती ने इजाजत न दी कि अदा कर दूँ। आप अगर एफोर्ड कर सकें तो बरारास्त मेरे नाम से हमीरपुर आर्यसमाज के सेक्रेटरी के नाम दस रुपये का मनीआर्डर कर दें। ममनून हूँगा। तकलीफ तो होगी मगर मेरी खातिर इतना सहना पड़ेगा क्योंकि यहाँ अब जलसा भी अनकरीब होने वाला है। मुकर्रर अर्ज यह है कि यह दस रुपये जरूर भेज देवें। मैंने जनवरी में अदा करने का इतमी वायदा किया है।"

एक महीने बाद फिर याद कराया : "अगर आपने हमीरपुर समाज के नाम दस रुपये न रवाना किये हों तो बराहे करम अब कर दीजिए, क्योंकि मैं १४ मार्च को वहाँ जाऊँगा और तकाजा नहीं सहना चाहता।"

शायद यही जलसा था जिसके बारे में आर्यसमाज प्रचारक मौलवी आलिम फाजिल श्री महेश प्रसाद ने लिखा है कि गर्मियों में दो सहयोगियों सहित वह महोबा गये। प्रेमचन्द वहाँ सब-डिप्टी इंसपेक्टर तैनात थे। तीनों प्रेमचन्द के घर पर ठहरे। उनके अपने शब्दों में : हम तीनों का सत्कार उन्होंने निरन्तर सात-आठ रोज तक जिस प्रेम और नम्रता के साथ किया था उसको हम कभी नहीं भूल सकते। जिन विषयों पर चर्चा हुई उनमें से दो इस प्रकार थे :

(१) आर्यसमाज और उसके कार्य संबंधी बातें और'''

(२) ईसाइयों के उस कार्य के बारे में जो उस समय केवल महोबा में ही नहीं बल्कि हमीरपुर जिले में भी हो रहा था। प्रेमचन्द ने बतलाया कि हमारी सामाजिक बुराइयों का ही फल है कि महोबा अथवा बुंदेलखंड के स्थानों में हिन्दुओं के अनेक लड़की-लड़के ईसाइयों के घेरे में पहुँच गये।

इन्हीं दिनों प्रेमचन्द ने इसी विषय पर एक कहानी लिखी। शीर्षक था, 'खूने सफेद'। अकाल ग्रस्त लोग अपने घर-बार छोड़कर रोजी के लिए मीलों दूर जाते हैं। एक परिवार था जादोराम और देवकी का। उनका बच्चा साधोराम बुखार में पड़ा था। माँ-बाप काम में लगे हैं। बच्चा पादरी मोहनदास के खेमे की ओर आकर्षित होता है। पादरी उसे प्यार करता है, खाने को बिस्कुट और केले देता है। साधो बहुत प्रसन्न है। अगले दिन भी वहीं जाता है। माँ-बाप उसे तलाश करते हैं, परन्तु निष्फल। वे निराश हो जाते हैं। उधर

साधो को क्रिस्तान बनाकर पुणे भेज दिया जाता है।

अकाल के बाद इस क्षेत्र में खुशहाली आती है। जादोराम का परिवार सम्पन्न हो जाता है। उसका छोटा बेटा माधो और लड़की गिरि भी उसके काम में हाथ बँटाते हैं। एक दिन साधो साइकिल पर चढ़कर आ धमकता है। माँ-बाप की बाछें खिल जाती हैं। परन्तु ग्रामीण समाज ईसाई बेटे को नहीं स्वीकारता। साधो प्रायश्चित करने को तैयार है। नादानी से हुए कार्य के लिए दण्ड भोगने को भी तैयार है परंतु गाँव के ठाकुर लोग लाल आँखें निकाल कर कहते हैं—"ठकुराइन! बिरादरी की तो तुम खुद मर्यादा करती हो। लड़का चाहे किसी रास्ते पर जाए, लेकिन बिरादरी चूँ तक न करे। ऐसी बिरादरी कहीं और होगी। हम साफ-साफ कहे देते हैं कि अगर यह लड़का तुम्हारे घर में रहा तो बिरादरी भी बता देगी कि वह क्या कर सकती है।"

साधो को छुआछूत और खाने-पीने के बारे मे सलाह दी जाती है। माँ-बाप निस्सहाय हैं। साधो तीक्ष्ण शब्दों में कहता है, "क्या मान लूँ ? यही कि अपनों में गैर बनकर रहूँ, अपमान सहूँ। मिट्टी का घड़ा भी मेरे छूने से अशुद्ध हो जाए। न, यह मेरे किये न होगा। मैं इतना निर्लज्ज नहीं हूँ।"

आगे चलकर वह कहता है—"मैं अपने घर में रहने आया हूँ। अगर यह नहीं है तो मेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि जितनी जल्दी हो सके यहाँ से भाग जाऊँ। जिनका खून सफेद है उनके बीच में रहना व्यर्थ है। और साधो बाईसिकिल पर चढ़कर वहीं जाता है जहाँ से तंग होकर वह आया था। उसी क्षेत्र में जहाँ कोई अपना न था।"

प्रेमचन्द ईसाइयों द्वारा प्रचार का विरोध करते थे। उनका दृष्टिकोण वही था जो आर्य समाज का। दयानारायण निगम एक उर्दू साप्ताहिक निकालना चाहते थे। प्रेमचन्द ने महोबा से लिखा : "हफ्तेवार का नोटिस आपने निकाल ही दिया। जरा तबियत तो अच्छी होने देते। देखिये क्या कामयाबी होती है। आपका हफ्तेवार कामरेड के नमूने का होना चाहिए'''नाम हिंदू मौजू था। शायद इस नाम का कोई परचा पंजाब से निकलने लगा है।'''मगर (आपके) अखबार का नमूना कामरेड ही हो, पालिमी हिंदू। अब मेरा हिंदुस्तानी कौम पर ऐतबार नहीं रहा और उसकी कोशिश फजूल है।"

[२]

महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व वेदमत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था। वेदों से विमुख होने के कारण ही महाभारत का युद्ध हुआ। अज्ञान और अंधकार के बढ़ने से लोग भ्रमयुक्त होकर मनमानी करने लगे। ईसाई प्रचारक भारत के लोगों को धड़ाधड़ ईसाई बना रहे थे। स्वामी दयानन्द ने उन्हें ललकारा। शास्त्रार्थ हुए। शास्त्रार्थ तो कट्टरपंथी मूर्तिपूजा के समर्थकों, ईसाइयों और मुस्लिम विद्वानों से भी हुए। महर्षि का एक लक्ष्य था ईसाई मत का विरोध। ईसाई मत विदेशी सत्ता का भी प्रतीक था।

कुरान का कोई हिन्दी संस्करण नहीं था। इसलिए महर्षिजी ने विशेष प्रयत्न करके इसका अनुवाद करवाया। 'सत्यार्थ प्रकाश' के पहले संस्करण मे इस्लाम के बारे में समुल्लास नहीं था। यह दूसरे संस्करण में दिया गया। मुसलमानों द्वारा स्वामीजी का विशेष विरोध नहीं हुआ। जब लाहौर में ब्रह्म समाज के अनुयाइयों ने उन्हें समर्थन देने से इन्कार कर दिया तो मुस्लिम डाक्टर खान बहादुर रहीम खान ने उनके ठहरने का प्रबंध किया। अमृतसर में जिस मकान में आर्य समाज की नींव रखी गयी वह मियां जानमुहम्मद का था। सर सैयद अहमद के घर पर स्वामीजी ने शास्त्रार्थ किया। सर सैयद ने अपने घर पर भोज के लिए निमंत्रण

भी दिया। यह स्वीकारा नहीं गया। इसके कारणों की बात आगे होगी। निधन के समय भी उनका उपचार एक मुस्लिम डाक्टर अलीमर्दन खान कर रहे थे।

यह कहना अनुचित न होगा कि उन दिनों हिन्दू और मुसलमानों के बीच सौहार्द था। दयानन्द का विशेष प्रहार ईसाई मत पर था। समाज सुधार आर्य धर्म के प्रचार का मुख्य अंग था और समाज सुधार अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्र को विदेशी सत्ता के विरुद्ध तैयार करना था। आगे चलकर आर्यसमाज के समर्थकों की राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम मे बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। अपनी पुस्तक 'दि सन आफ इंडिया' में ए० डी० रेनकर्ट ने लिखा है कि बंगाल की १६०५ की क्रान्ति महर्षि दयानन्द की आर्यसमाज की धार्मिकता, राष्ट्रीयता का परिणाम था। संयुक्त प्रान्त (आज का उत्तर प्रदेश) और मध्य प्रदेश जैसे प्रान्तों में आर्यसमाज ही राजनीतिक राष्ट्रीयता का केन्द्र बनी। सच तो यह है कि बीसवी शताब्दी के आरम्भ में आर्यसमाजी भारी संख्या में राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े। पंजाब गवर्नर डेंजिल इबटसन ने लिखा है कि प्रांत के प्रत्येक जिले के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेटों ने उन्हें बतलाया था कि वहाँ की आर्यसमाजें ही विद्रोह का गढ़ बनी थी। इबटसन के उत्तराधिकारी माइकल ओडवायर ने भी कहा था "हालांकि हिंदू जनसख्या का पाँच प्रतिशत से अधिक भाग आर्यसमाज मे नही है फिर भी (१६०७ से १६१८ तक) राजद्रोह से संबंधित लोगों में से अधिकांश आर्यसमाजी ही थे।" लाला लाजपतराय, अजीतसिंह, भाई परमानंद, श्रद्धानंद, राजा महेन्द्र प्रताप, इन्द्र विद्यावाचस्पति, एम० जी० रानाडे, सत्यानंद ढींगड़ा इत्यादि कितने ही राष्ट्रवादी आर्यसमाज के अनुयायी थे।

इनमे से कितने ही लेखक थे परन्तु साहित्यकार केवल प्रेमचन्द थे। सरकारी नौकर होते हुए भी वह राष्ट्रवादी थे। उन्होंने 'सोजे वतन' की भूमिका मे लिखा: "हर एक कौम का इल्मी अदब अपने जमाने की सच्ची तस्वीर होता है। जो खयालात कौम के दिमागो को मुतहर्रिक करते हैं और जो जज़बात कौम के दिलो मे गूँजते रहे वह नज्म व नसर के सफहों मे ऐसी सफाई से नजर आते हैं जैसे आइने मे सूरत। हमारे लिटरेचर का इबतिदाई दौर वह था कि लोग गफलत के नशे में मतवाले हो रहे थे। इस जमाने की अदबी यादगार वजुज आशिकाना गजलों और चन्द किस्सो के और कुछ नही। दूसरा दौर उसे समझना चाहिए जब कौम के नये और पुराने खयालात मे जिन्दगी और मौत की लड़ाई शुरू हुई और तमद्दुन की तजवीज सोची जाने लगी। इस जमाने के किस्से व हिकायात ज्यादातर इस्लाह और तजदीद ही का पहलू लिए हुए हैं। अब हिंदुस्तान के कौमी खयालात ने बलोगियत के जीने पर एक कदम और बढ़ाया है और हुब्बे वतन के जजबात लोगों के दिलों में सर उभारने लगे हैं। क्योंकर मुमकिन था कि इसका असर अदब पर न पड़ता। ये चन्द कहानियाँ इस असर का आगाज हैं और यकीन है ज्यों-ज्यों हमारे ख्याल रकीह होते जाएँगे, इस रंग के लिटरेचर को रोज अफ्जूँ फरोग होता जाएगा। हमारे मुल्क को ऐसी किताबो की अशद जरूरत है जो नई नसल के जिगर पर हुब्बे वतन की अजमत का नक्शा जमाये (नवाबराय)।"

देश प्रेम की इन पाँच कहानियों को विद्रोहात्मक माना गया। पुस्तक पर प्रेस का नाम नही छपा था। इसलिए सरकार की सी० आई० डी० ने पूछताछ की। पता चला कि 'नवाब राय' तो धनपत राय का कल्मी नाम है और धनपतराय महोबा मे डिप्टी इंस्पेक्टर आफ स्कूल्स तैनात है। धनपतराय की तलब हुई। रातों-रात सफर कर कलक्टर के यहाँ पेशी हुई। उसकी मेज पर 'सोजे वतन' की एक प्रति पड़ी थी। कलक्टर ने कहा, इन कहानियों में राजद्रोह भरा पड़ा है। मुगल राज होता तो तुम्हारे हाथ काट दिये जाते। अंग्रेजी राज की बरकत है कि तुम्हें छोड़ दिया जाता है। स्टाक मे सारी पुस्तकें सरकार के हवाले कर दी गयी। इन्हें नष्ट कर दिया गया।

हुक्म हुआ आगे से लिखना बन्द और किसी लेख के प्रकाशन से पहले सरकारी अनुमति आवश्यक है। धनपतराय ने अपने मित्रों को बतलाया कि बच गये वरना मांडले की हवा खानी पड़ती। उन्होंने निगम को

लिखा कि भविष्य में सरकारी अनुमति लेनी होगी, विषय कुछ भी हो। चाहे लेख हाथी दाँत पर ही क्यों न लिखा हो। इस पर निगम ने प्रेमचन्द के कल्मी नाम का सुझाव दिया।

'जलवाए ईसार' (वरदान) इन्हीं दिनों लिखा जा रहा था। इस पर नाम नवाब राय ही दिया गया। हम देख चुके हैं कि सुवामा की इच्छा है कि उसका पुत्र प्रतापचन्द्र देशोद्धार करे और यह कि नायक का चरित्र दयानन्द पर ढाला गया है। आगे चलकर प्रेमचन्द ने इस तरह की कहानियाँ भी लिखीं जिनसे स्वाभिमान और राष्ट्रीयता की भावना उजागर हो। जलियाँवाला हत्याकांड के बाद प्रेमचन्द के दिल पर एक भारी बोझ था। गोरखपुर में गांधी जी का भाषण सुना और अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। बाद में लेखन के माध्यम से राष्ट्रीय संग्राम में अपना योगदान दिया। उन्हें गांधी युग का प्रमुख साहित्यकार माना जाता है। उनमें राष्ट्रीयता की भावना प्रबल थी, इतनी प्रबल कि उनकी विचारधारा भी बदली। महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने खिलाफत आंदोलन को अपना समर्थन दिया। प्रेमचन्द ने भी इसी नीति का समर्थन किया। मौलाना मुहम्मद अली और शौकतअली की प्रशंसा की और उनकी तुलना राम-लखन की जोड़ी से की। दस वर्ष पूर्व हिन्दुस्तानी कौम में आस्था न रखने वाले प्रेमचन्द अब राष्ट्रीय विचारधारा का अनुसरण कर रहे थे। इस विचारधारा का आधार था हिन्दू-मुस्लिम मतभेदों को दूर करना।

महर्षि दयानन्द के जीवन-काल मे हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच विशेष मतभेद नहीं थे। जब महर्षिजी से पूछा गया कि क्या एक मुसलमान आर्य हो सकता है तो उन्होंने कहा, हाँ। परन्तु जब झेलम आर्य समाज एक मुस्लिम का शुद्धीकरण करने जा रही थी तो महर्षिजी ने उन्हें कहा, अभी अवसर नहीं आया है।

१८७७ में, जब महर्षिजी आगरा में थे तब मिर्जापुर के एक मुसलमान ने गाय की कुर्बानी की घोषणा की। वहाँ के हिन्दुओं ने कुर्बानी को रोकने का प्रयत्न किया। इसी मंशा का मजिस्ट्रेट से हुक्म दिलवाया। वाद-विवाद चला। इस बीच एक दूसरा मजिस्ट्रेट आ गया। उसने आदेश दिया कि गाय उस मुसलमान की निजी सम्पत्ति है। वह जैसा चाहे कर सकता है। यदि किसी को आपत्ति है तो ५ सप्ताह के भीतर अदालत जा सकता है।

वाद-विवाद ने जोर पकड़ा। भारतेन्दु ने अपनी पत्रिका में भर्त्सना की और कहा कि बहुसंख्यक जाति की उपेक्षा कर अल्पसंख्यक जाति को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। तभी महर्षिजी ने गोवध के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। इन्हीं दिनों अंग्रेजों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच फूट की योजना बनायी। १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम के तुरन्त बाद अंग्रेज शासक मुसलमानों का दमन कर रहे थे। परन्तु बीस वर्षों बाद उन्होंने देखा कि हिन्दुओं में जनचेतना आ रही है। और इस पर अंकुश लगाने का एक ही मात्र तरीका था जनता में फूट डालना, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच टकराव की स्थिति पैदा करना। 'एक्सपेंशन आफ ब्रिटिश इम्पायर' मे सैंसीले ने इस सिद्धांत का विश्लेषण किया। एक अंग्रेज गवर्नर ने तो यहाँ तक कहा कि यदि उसकी दो बीवियाँ हों, एक हिन्दू और दूसरी मुस्लिम, तो वह मुस्लिम बीवी को अधिक प्यार करेगा। इसी नीति के अन्तर्गत अलीगढ़ मुस्लिम कालेज और बाद में विश्वविद्यालय की नींव पड़ी। यहाँ के प्रिंसिपल और अन्य नेताओं ने मुसलमानों को अलग कौम की परिभाषा दी।

एक समय सर सैयद अहमद खान ने कहा था, भारतीय कौम से मेरा मतलब है दोनों हिन्दू और मुसलमानों से। मेरे लिए इस बात का बिल्कुल महत्त्व नहीं है कि किसी व्यक्ति का क्या धर्म है। क्योंकि धर्म हमें दिखलाई नहीं देता। जो दिखलाई देता है वह यह है कि हिन्दू हो या मुसलमान, सब एक ही देश में रहते हैं और एक ही राजा की प्रजा हैं। हमारे जीवनस्रोत एक ही हैं और जब अकाल पड़ता है तो सब लोग साथ ही भुगतते हैं। यही कारण है कि मैं हिन्दुस्तान में रहने वाले दोनों हिन्दुओं और मुसलमानों को हिन्दू कहता हूँ।

उन्होंने यह भी कहा था कि काश ! मेरी एक ही आँख होती ताकि मैं हिन्दुओं और मुसलमानों को एक ही आँख से देख पाता। अंग्रेजों ने मुसलमानों को प्रोत्साहन देकर उन्हें उकसाया कि काउंसिल में उन्हें अलग से प्रतिनिधित्व मिले। सर आगा खान के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मंडल वायसराय से मिला। मुस्लिम लीग का गठन हुआ। हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात करते-करते दोनों के बीच भेद-भाव बढ़ता गया और इसी के परिणामस्वरूप आगे चलकर देश का बँटवारा हुआ। इस बँटवारे की नींव महर्षि जी के जीवन-काल में पड़ी थी। फिर भी समय-समय पर एकता के प्रयत्न होते रहे। पहले विश्वयुद्ध के दौरान हिन्दू और मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर खड़े थे। जलियाँवाला हत्याकाण्ड के बाद काग्रेस ने असहयोग आन्दोलन चलाया। तब प्रेमचन्द ने मुहम्मद अली और शौकत अली भाइयों को रामलखन की जोड़ी कहा। जो बातें हिन्दू-मुस्लिम एकता के रास्ते में अड़चन बनती, उनका विरोध करना आवश्यक था। जब राजस्थान में मलकाना राजपूतों की शुद्धि का आन्दोलन चला और मुसलमानों ने बवेला मचाया तो प्रेमचन्द ने शुद्धि आन्दोलन के विरुद्ध एक कड़ा लेख लिखा। "इधर मैंने उर्दू लिखना बन्द कर रखा है। फुर्सत ही नहीं मिलती। लेकिन मलकाना शुद्धि पर एक मुख्तसर-सा मजमून लिख रहा हूँ। मुझे इस तहरीक से सख्त इख्तिलाफ है। तीन-चार दिन में भेजूँगा। आर्यसमाज वाले भिन्नाएँगे, लेकिन मुझे उम्मीद है कि आप मजमून को जमाना में जगह देंगे।"

"आर्यसमाज वाले भिन्नाएँगे।" ये शब्द उसी व्यक्ति के है जो दस वर्ष पूर्व आर्यसमाज का विधिवत सदस्य था और जो हिन्दुस्तानी कौम नहीं, हिन्दू धर्म का समर्थक था। यह परिवर्तन समय के साथ आया था। प्रेमचन्द का अब प्रयत्न था कि हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के निकट आये। उर्दू रिसालों में हिन्दी लेखकों के बारे में लिखा तो हिन्दी पत्रिकाओं में इस्लाम के महापुरुषों के बारे में। 'नबी का नीति निर्वाह' 'फातिहा'। माधुरी में 'मंदिर और मस्जिद' कहानी लिखी। १६२४ में 'कर्बला' नाटक प्रकाशित किया। मुसलमानों ने आपत्ति की तो लिखा कि ख्वाजा हसन नजामी ने भगवान कृष्ण की जीवनी छापी। मैं इस्लाम के महापुरुषों के बारे में वैसा ही कुछ कर रहा हूँ। प्रेमचन्द जानते थे कि हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के पीछे अंग्रेजों का हाथ है।

'कायाकल्प' में इस विषय पर विस्तार से लिखा। "आगरा के हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच आये दिन झगड़े होते रहते हैं। छोटी-छोटी बातों पर दगे-फिसाद हो जाते हैं। बस एक बहाना चाहिए। बनिये ने डंडी मार दी तो मुसलमान दुकान पर धावा बोल देते है। किसी जुलाहे ने हिन्दू के पानी के घड़े को छू दिया तो मुहल्ले में फौजदारी हो गई। सोहन सईद के कुत्ते में लड़ाई हो गई तो हिन्दू-मुस्लिम फिसाद। सैंकड़ों आदमी घायल हो गये। दोनों ही जातियों के सिरफिरे मजहब के नाम पर दगे के लिए तैयार है। सवेरे ख्वाजा साहिब जिलाधीश को सलाम करने जाते हैं और शाम को बाबू यशोदानन्द। दोनों ही अपनी-अपनी राजनीतिक भक्ति का राग अलापते हैं। ठाकुर द्वारे में ईश्वर कीर्तन की जगह मुस्लिम नबियों की निन्दा होती है मस्जिदों में नमाज की जगह हिन्दू देवताओं की दुर्गति। हिन्दुओं ने महावीर दल बनाया। मुसलमानों ने अलीगोल सजाया।"

जब पंजाब से आगरा आये एक मौलवी साहिब ने गाय की कुर्बानी देने की सलाह दी तो हिन्दुओं में खलबली-सी मच गयी। यशोदानन्द मुसलमानों के नेता ख्वाजा साहब के पास गये और पूछा कि क्यों वहाँ गाय की कुर्बानी की जा रही है जहाँ आज तक कभी नहीं हुई। क्यों नयी रस्म निकाली जा रही है। ख्वाजा साहब उत्तर देते हैं कि "कुर्बानी (करना) हमारा हक है। अभी तक हम आपके जज़बात का लिहाज करते थे। हम अपने हकों को भूल गये थे। जब आप लोग अपने हकों के सामने हमारे जज़बात की परवाह नहीं करते तो हम क्यों आपके जज़बात की परवाह करें। मुसलमानों की शुद्धि करने का आपको हक हासिल है लेकिन ५०० वर्षों में आपके यहाँ शुद्धि की कोई मिसाल नहीं मिलती।"

प्रेमचन्द का मुखपात्र चक्रधर कहता है, "अहिंसा का सिद्धांत गऊओं के लिए नहीं मनुष्यों के लिए भी

तो है। एक गाय की क़ुर्बानी बचाने के लिए सैकड़ों पुरुषों की क़ुर्बानी क्यों दी जाए ?" चक्रधर की सूझबूझ के परिणामस्वरूप गाय को छोड़ दिया जाता है। ख्वाजा महमूद कहते हैं, "काश तुम जैसे समझदार तुम्हारे और भाई होते, मगर यहाँ तो लोग हमें मलेच्छ कहते हैं। यहाँ तक कि हमें कुत्तों से भी नाकिस समझते हैं। उनकी थालियों में कुत्ते खाते हैं, पर मुसलमान उनके गिलास में पानी नहीं पी सकता। अब कुछ-कुछ उम्मीद हो रही है कि शायद दोनों क़ौमों में इत्तफ़ाक हो जाये।"

चक्रधर का मत है : "मैं तो नीति ही को धर्म समझता हूँ और सभी सम्प्रदायों की नीति एक सी है। अगर अन्तर है तो बहुत थोड़ा। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध सभी सत्कर्म और सद्‌विचार की शिक्षा देते हैं। हमें कृष्ण, राम, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध सभी महात्माओं का समान आदर करना चाहिए। बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू ···संसार का भावी धर्म, सत्य, न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा।"

महर्षिजी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' की भूमिका में लिखा था : "इस ग्रंथ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है। अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाये किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। इसलिए वह सत्य को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए विद्वान का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दे। पश्चात वे स्वयं अपना हिताहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें। मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है। तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़कर असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रंथ में ऐसी बात नहीं रखी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है किन्तु जिस मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।" कलकत्ता प्रवास के दिनों में केशवचन्द्र सेन ने महर्षि-जी को परामर्श दिया था कि जनता तक पहुँचने के लिए उन्हें हिन्दी को अपनाना चाहिए। महर्षिजी ने उस परामर्श को ग्रहण किया। 'सत्यार्थ प्रकाश' के दूसरे संस्करण की भूमिका में उन्होंने लिखा : "जिस समय मैंने यह ग्रंथ बनाया था उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था। इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिए इस ग्रंथ को भाषा व्याकरण अनुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।"

महर्षिजी के निधन के बाद तत्कालीन संयुक्त प्रांत में हिन्दी का खूब प्रचार हुआ। देवनागरी लिपि के प्रयोग के लिए एक विज्ञापन सरकार को दिया गया।

धनपतराय का जन्म कायस्थ परिवार में हुआ था। और कायस्थ लोगों पर फ़ारसी और उर्दू का अच्छा चयन था। राजभाषा उर्दू जीविका का साधन भी थी। यह स्वाभाविक था कि वे उर्दू-फ़ारसी पढ़ते। परन्तु उन्हें हिन्दी से भी प्यार होगा, क्योंकि मैट्रिक की तैयारी से पूर्व उनके अपने अनुसार एक बेलदार उनसे हिन्दी पढ़ने आया करता था। हिन्दी का ज्ञान होगा तभी तो उसे पढ़ा सकते। १६०४ में उन्होंने हिन्दी की एक विशेष परीक्षा पास की। हम 'खुर्मा व हमसवाब' के प्रकाशन के तुरन्त बाद इसका हिन्दी रूपान्तर 'प्रेमा' के नाम से प्रकाशित करवाया। जिन दिनों प्रेमचन्द कानपुर में स्कूल मास्टर थे, नियम के साथ वह बालमुकुन्द गुप्त को मिलने रेलवे स्टेशन पर गये। गुप्तजी उन दिनों 'भारत मित्र' का सम्पादन कर रहे थे। वह उर्दू के

जाने-माने लेखक और सम्पादक रह चुके थे और लाहौर का 'कोहिनूर' छोड़कर हिन्दी में आये थे। वह 'जमाना' में भी लिखते थे। प्रेमचन्द उनके व्यक्तित्व से प्रभावित थे। फिर आर्यसमाज जोर पकड रहा था। 'वरदान' में मुंशी संजीवन लाल अपनी पुत्री बिरजन से कहते हैं कि 'बेटी तुम तो सस्कृत पढती हो। जिस पुस्तक की तुम बात करती हो वह तो भाषा मे है।'

बिरजन उत्तर देती है, 'तो मैं भी भाषा ही पढ़ूंगी। इसमें कैसी अच्छी-अच्छी कहानियाँ हैं। मेरी किताब में तो एक कहानी भी नहीं है।'

तब तक हिन्दी जीविका का साधन नही बन पाई थी। फिर भी प्रेमचन्द की इस भाषा मे रुचि थी। मई, १६१० में निगम से पूछते हैं : 'हिन्दी पर्चे का क्या हश्र हुआ? यानी उसकी तजवीज खटाई मे पड गयी या बाकी है। निकलने वाला हो तो हिन्दी में लिखने की आदत डालूँ।' आदत डालने से स्पष्ट है कि वह हिन्दी लिखते थे। बस आदत नही थी। चार वर्ष बाद 'प्रताप' के असरार से मजबूर होकर एक मुखतसर-सा किस्सा हिन्दी में उसके विजयादशमी नवम्बर के लिए लिखा है। हिन्दी लिखनी तो आती नही मगर कुछ कलम तोड़-मोड़ दिया है।

शीघ्र ही हिन्दी मे उन्हें मान्यता मिली। प्रेमचन्द ने निगम को लिखा : 'उर्दू मे अब गुजर नही है। यह मालूम होता है कि बालमुकुन्द गुप्त मरहूम की तरह मैं भी हिन्दी मे जिन्दगी सर्फ कर दूँगा। उर्दू नवीसी मे किस हिन्दू को फैज हुआ जो मुझे हो जायेगा।' जो मान्यता 'सप्त सरोज' और 'नवनिधि' को मिली वह उर्दू मे 'प्रेम पचीसी' को नही मिल पाई। फिर भी प्रेमचन्द ने उर्दू में 'बाजारे हुस्न' लिखा। 'गोशा-ए-आफियत' और 'चौगाने हस्ती' परन्तु 'बाजारे हुस्न' बाद मे छपा। इसका हिन्दी रूपान्तर 'सेवासदन' पहले छपा। ऐसे ही 'गोशा-ए-आफियत' बाद मे छपा। इसका हिन्दी रूपान्तर पहले। 'रंगभूमि' भी पहले हिन्दी ही मे छपी, हालाँकि यह भी पहले उर्दू में लिखी गयी थी। क्योंकि कथानक मे भारी परिवर्तन कर दिया था, इसलिए 'चौगाने हस्ती' का उर्दू रूपान्तर इकबाल सहर हितगामी से मुआवजा देकर करवाया। उर्दू में लिखा हुआ यह प्रेमचन्द का आखिरी उपन्यास था। 'कायाकल्प,' 'गबन,' 'निर्मला,' 'कर्मभूमि,' 'गोदान,' 'मंगल सूत्र,' पहले हिन्दी मे लिखे गये। प्रेमचन्द की बड़ी ख्याति हुई, धूम मच गई। उन्हें उपन्यास सम्राट की संज्ञा दी गयी।

[३]

उन्नीसवी शताब्दी में गुजरात, काठियावाड़ में दो महापुरुषों ने जन्म लिया। एक ने मौरवी के निकट, दूसरे ने पोरबन्दर मे। दोनों स्थान एक दूसरे से बहुत दूर नही हैं। ये दो महापुरुष थे महर्षि दयानन्द और महात्मा मोहनदास कर्मचंद गांधी। दोनों में बडी समानता है। एक ने जिस कार्य को जहाँ छोड़ा दूसरे ने उसे आगे चलाया। स्वदेशी का प्रचार स्वामी दयानन्द ने भी किया था। गांधी जी ने इसे जन आन्दोलन का रूप दिया। महर्षिजी ने केशवचंद्र सेन की सलाह पर संस्कृत को त्याग हिन्दी को अपनाया, गांधी जी ने हिन्दी का राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचार किया। स्वामी दयानन्द ने अंग्रेजी सरकार द्वारा नमक और चीनी पर टैक्स की कड़ी आलोचना की। गांधी जी ने नमक सत्याग्रह आन्दोलन चलाकर ब्रिटिश सरकार की जड़ें हिला दी। महर्षिजी ने स्त्रियों में पर्दे की प्रथा, उनमें अज्ञान तथा अविद्या और विभिन्न प्रकार की कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई। गांधी जी ने महिलाओं को राष्ट्रीय संग्राम मे पुरुषों का साझेदार बनाया। महर्षि ने छुआछूत के और अन्धविश्वास के विरुद्ध लोगों को प्रेरित किया। गांधी जी ने अस्पृश्यता के विरुद्ध बडा भारी आन्दोलन चलाया। आज छुआछूत के विरुद्ध आन्दोलन के संदर्भ में हम प्रेमचन्द की भूमिका की चर्चा करेंगे।

महर्षि दयानन्द ने वर्णव्यवस्था का आधार, जन्म नहीं, कर्म बतलाया था और मानव जाति के हर व्यक्ति के समान अधिकारों पर बल दिया था। 'सत्यार्थ प्रकाश' के प्रथम संस्करण के समय उन्होंने तीन उच्च वर्णों और चौथे वर्ण के बीच इतना भेदभाव किया था कि शूद्रों को वेद पढ़ने की अनुमति नहीं थी। जब दूसरा संस्करण निकला तो इस भेदभाव को दूर कर चौथे वर्ण को भी समान अधिकार दिये।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों और कहानियों में जन्म आधारित वर्णव्यवस्था की कड़ी आलोचना की। चमार, भंगी, कुंजड़े, धोबी इत्यादि जातियों पर हो रहे अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई। चाहे वह अन्याय धर्म के ठेकेदारों द्वारा हो या जमींदारों या अफसर शाही द्वारा। वे अछूतों के लिए न्याय के पक्ष में और उनके आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए लड़ते रहे। उनकी अपनी पत्रिका थी 'हंस'। अगस्त, १६३३ के अंक के कवर पर उन्होंने डा० भीमराव अम्बेडकर की तस्वीर छापी और लिखा : 'आपने सतत उद्योग से अनेक परीक्षाएँ पास करके विद्वत्ता प्राप्त की है और यह प्रमाणित कर दिया है कि अछूत कहलाने वाली जातियों को किन्ही असाधारण उपकरणों से ईश्वर ने नही बनाया। इस समय आप विश्वविख्यात व्यक्तियो में हैं।' अछूतों पर समाज द्वारा अन्याय का आधार था धर्म के नाम पर मठाधीशों, महन्तों और पुजारियों की अनुमति। प्रेमचन्द ने अपनी आरम्भिक कृतियों से लेकर अन्त तक ऐसे ब्राह्मणों का मजाक उड़ाया। तेरह वर्ष की आयु में लिखी गई 'मेरी पहली रचना' मे प्रेमचन्द ने दूर के रिश्ते में मामूं के रोमांस का जिक्र किया है। अधेड़ उम्र तक अविवाहित, ये मामूं एक चमारिन पर लट्टू हो गये थे। नीच जात वालो ने मामूं की वह पिटाई की कि वे भाग गये। यह व्यंग्य प्रेमचंद के छुआछूत का ही एक अंग था। अपने उपन्यास 'कर्मभूमि' मे तो छुआछूत का विरोध एक जन आन्दोलन का रूप धारण कर लेता है। उपन्यास का नायक, एक ऊँचे परिवार का युवक, अमरकांत अपने पिता को छोड़कर बीस-पच्चीस चमारों की बस्ती में जाकर रहने लगता है। गन्दे घरो मे वह स्वय झाड़ू लगाता है। गाँव के चमारों को स्वच्छ जीवन की शिक्षा देता है। एक पाठशाला खोलकर वह बच्चों को पढाता भी है। अमरकांत के अनुसार शराब और मुर्दा गाय के मांस के सेवन के अतिरिक्त चमारो मे ऐसी कोई बुराई नही है जिसके आधार पर उन्हें सवर्ण हिन्दू पतित कह सकें। गूदड़ चौधरी को छोड़ थोड़े ही ऐसे चमार थे जिनमें शराब पीने की क्षमता हो। हाँ मुर्दा गाय का मास सब खाते थे। एक गाय की लाश को देखकर बच्चे खुशी से उछलने-कूदने लगते हैं। अमरकांत के दिल मे उनके प्रति घृणा हो जाती है। सुधारवाद लुप्त-सा हो जाता है और वह गाँव से भाग खड़ा होना चाहता है। परन्तु अमरकांत को देखकर कुछ लोग गाय के मांस खाने का विरोध करते हैं। मुन्नी भी सत्याग्रह करती है। अन्त में मांस खाने के विरोधियो की विजय होती है और मांस नही खाया जाता।

उधर नगर में भी मंदिर प्रवेश आंदोलन चल रहा है। ठाकुर द्वारे में कथा हो रही है। ब्रह्मचारी ने देखा, दरी से थोड़ी दूर जूतों के पास अछूत बैठे हैं। सवर्ण वाले कहते हैं कि अनर्थ हो गया। चमारों ने ठाकुर द्वारे में प्रवेश कर इसे भ्रष्ट कर दिया है। ब्रह्मचारी जी सहमत हैं। उन्हें अमरकांत के पिता समरकांत का भी पूरा समर्थन प्राप्त है। समरकांत ने चमारों को मार भगाने के आदेश दिए। ब्रह्मचारी और सवर्णों के लिए जूते बनाने वाले चमार अपवित्र थे परन्तु उनके द्वारा बनाये गये जूते पवित्र चीज थे। ब्रह्मचारी के हुक्म से लोगों ने पवित्र जूतों से अपवित्र चमारों की मरम्मत शुरू की। उधर अछूतों के समर्थक डडों से जवाब देने वाले थे कि शांति कुमार ने स्थिति सम्भाल ली। वह ब्रह्मचारी को ललकार कर कहते हैं : 'अंधभक्तों की आँख मे धूल झोंककर यह हलवे बहुत दिन खाने को नही मिलेंगे, महाराज ! अब वह समय आ रहा है जब भगवान भी पानी से स्नान करेंगे, दूध से नही।'

शांति कुमार ने अछूतों को ठाकुर जी के दर्शन के लिए उत्तेजित किया। मंदिर प्रवेश का प्रश्न अछूतों के लिए शायद इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना उच्चवर्ण वालों के लिए। कुछ ने तो यहाँ तक कहा : 'अपना मंदिर लिये रहें। हमें क्या करना है।' परन्तु शांति कुमार के लिए मंदिर प्रवेश प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया

है। वह अछूतों को उकसाते हैं। अछूत आगे बढ़ते हैं। ज्यों-ज्यों अछूत मंदिर के समीप आते-जाते है उनकी हिम्मत टूटती जाती है। जिस अधिकार से वे वंचित रहे, उसके लिए उनके मन में कोई तीव्र इच्छा नहीं। वह विश्वास जो न्याय व ज्ञान से पैदा होता है वहां है। समूह की धौंस जमाकर विजय पाने की आशा ही उन्हें आगे बढ़ा रही है। वे ठाकुरद्वारे तक पहुँच जाते हैं। मौखिक युद्ध होता है। फिर डंडों द्वारा प्रहार। भगदड़ मच जाती है। शांति कुमार डंडा खाकर गिर पड़ते हैं। अब आन का प्रश्न बन जाता है। अछूत मंदिर के बाहर धरना देते हैं और मंदिर में दर्शनों के लिए जाने वालो का रास्ता बन्द कर देते हैं। पुलिस बुलाई जाती है। गोली चलती है। चमार डटे रहते हैं, हालांकि उनका नेतृत्व करने वाले भाग खड़े होते हैं। नैना एक ऐसे नेता स्वामी आत्मानन्द के बारे में कहती है 'यह महाशय सन्यासी बनते हैं: फिर भी इतने डरपोक। पहले तो गरीबों को भड़काया और जब मार पड़ी तो सबसे आगे भाग खड़े हुए।'

अन्त में अमरकांत की बहन ने अछूतों का नेतृत्व सँभाला। अब तो अमरकांत भी गोली नही चलवा सकते थे। अछूतों की विजय होती है। लाशें गंगा के किनारे जला दी जाती हैं और अगले दिन मंदिर प्रवेश होता है। एक बडा भारी समारोह होता है।

प्रेमचन्द ने अछूतों के प्रश्न को नैतिक, आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं के प्रकाश में देखने का प्रयत्न किया है। यदि अछूत मंदिर मे प्रवेश करते हैं तो वास्तविक लाभ, अधिक आमदनी तो मठाधीशों की होती है। उन्ही मठाधीशो का जिनके बारे मे नैना कहती है: 'आधी रात तक इसी मदिर मे जुआ खेलते हो, पैसे-पैसे पर ईमान बेचते हो, झूठी गवाहियाँ देते हो, द्वार-द्वार भीख माँगते हो। फिर भी तुम धर्म के ठेकेदार हो। तुम्हारे तो स्पर्श से ही देवताओं को कलक लगता है।'

गूदड़ चौधरी को पूर्व जन्म के संस्कारों में बिल्कुल विश्वास नहीं है। वह बेटे से कहता है: 'यह सब मन को समझाने की बात है बेटा। जिसमें गरीबों को अपनी दशा पर सन्तोष रहे और अमीरो के राग रंग में किसी तरह की बाधा न पडे। लोग समझते रहें कि भगवान ने हमको गरीब बना दिया, आदमी का क्या दोष। पर यह कोई न्याय नहीं है कि हमारे बाल-बच्चे तक काम मे लगे रहे और पेट-पर भोजन न मिले और एक-एक अफसर को दस-दस हजार की तलब मिले। दस तोड़े रुपये गधे से भी न उठें।'

प्रेमचन्द अछूतों के लिए मंदिरों के दरवाजे खुलवा देते हैं परन्तु वह मानते हैं कि अछूतो के साथ खान-पान और ब्याह-शादी के रास्ते में कठिनाइयाँ हैं। जब हिन्दुओ मे एक साथ बैठकर खाने-पीने की प्रथा नही है तो अछूतों के साथ कैसे हो सकती है। अमरकांत को खान-पान में केवल एक परम्परागत प्रथा की झलक मिलती है। वह गूदड चौधरी से कहता है: 'यह तो अपनी-अपनी प्रथा है। चीन एक बहुत बड़ा देश है। वहाँ बहुत से आदमी बुद्ध भगवान को मानते हैं। उनके धर्म में किसी जानवर को मारना पाप है। इसलिए वे लोग मरे हुए जानवर ही खाते हैं। कुत्ते, बिल्ली, गीदड़, किसी को भी नही छोड़ते। तो क्या वह हम से नीच हैं?' स्वयं उत्तर देता है: 'कभी नहीं।'

स्वयं महर्षि दयानन्द ने सर सैयद अहमद खान के यहाँ से भोज का निमंत्रण स्वीकार नहीं किया था। एक मौलवी साहब के प्रश्न के उत्तर में कहा कि खाने-पीने और विवाह के रीति-रिवाज या प्रतिबंधों का सम्बन्ध धर्म या अधर्म से नहीं है। इनका आधार है स्थानीय अनुयाइयों के साथ व्यवहार मे। इनकी अवहेलना करना हानिकारक हो सकता है क्योंकि उसके सहधर्मी उसका बहिष्कार कर देंगे और उनको उस सज्जन की बुद्धिमत्ता के लाभों से वंचित रहना होगा।

ब्राह्मणों और पुजारियों के खाने-पीने और रूढ़िवादी तरीकों का प्रेमचन्द ने अपनी कृतियों में मजाक उड़ाया है। एक पात्र पं० मोटेराम हैं। इसका परिचय हमें पहली बार 'जलवा-ए-इसार' (वरदान) में मिलता है। इसने प्रेमचन्द का जीवन-भर साथ दिया। प्रेमचन्द ने इसका विभिन्न परिस्थितियों में व्यंगात्मक ढंग से चित्रण किया है। सत्याग्रह आन्दोलन में उसकी क्या भूमिका रही होगी, वह उसी शीर्षक की कहानी से विदित

है। पंडित जी भूख हड़ताल करते हैं। पेट में चूहे दौड़ रहे हैं। आधी रात को अवसर मिलते ही वह मिठाई की थाली को साफ कर देते हैं।' 'सम्पादक मोटेराम शास्त्री' से वे अपनी पत्रिका की प्रसार संख्या बढ़ा-चढ़ा कर बतलाते हैं परन्तु उन्हीं का मित्र कलई खोल देता है। एक बार तो इसी क्रम की एक कहानी के सम्बन्ध में लखनऊ के शालिग राम शास्त्री ने उन पर तथा माधुरी पर मान-हानि का दावा भी किया। माधुरी के संपादक—प्रेमचन्द जी सह सम्पादक थे—ने बड़े जोश से मुकदमा लड़ा। हिन्दी पत्रकारिता जगत में यह अपनी तरह का पहला मुकदमा था। जब प्रेमचन्द फिल्मों के काम करने बम्बई गये तो मोटे राम को अपने साथ ले जाकर मोटेराम की डायरी लिखवाई। 'मोटर की छीटें' कहानी मे भी पंडितजी का मजाक उड़ाया गया। 'मंत्र' कहानी में वह जिन लोगों से घृणा करते हैं वे ही उनकी तीमारदारी करते हैं। पंडितजी का हृदय परिवर्तन होता है। इसी नाम की एक अन्य कहानी में एक चित्र है डॉ० चड्ढा का और दूसरा है अछूत बूढ़े वाले भक्त का। भक्त भी गरीब है। सन की रस्सी बनाकर गुजर करता है। पत्नी लकड़ी चुनती है। दिन को कमाया रात को खाया। अगले दिन महाजन से उधार पर सन मिलने की आशंका रहती है। गरीब होते हुए भी भक्त महान व्यक्ति है। किसी को साँप डस ले एकदम निःशुल्क मंत्र पढ़कर उपचार करता है। जब इसके इकलौते बेटे की हालत खराब होती है तो यह उसे डाक्टर चड्ढा के पास ले जाता है। डॉ० साहिब का गोल्फ खेलने का समय हो रहा है। भक्त गिड़गिड़ाता है परन्तु डॉ० चड्ढा गोल्फ खेलने चले जाते हैं और भक्त का लड़का मर जाता है। बूढ़ा और बुढ़िया दुखी हैं। दोनों अपना जीवन व्यतीत करते हैं। एक दिन चड्ढा के लड़के को साँप डस लेता है। खबर बूढ़े तक पहुँचती है। अभी तक साँप डसने की खबर पाकर भक्त जी भागे जाते थे। आज डॉ० चड्ढा के लड़के को साँप द्वारा डसने की खबर पर उन्हें सन्तोष-सा होता है। बदले की भावना जागृत होती है। वह नहीं जाता। परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है उसका मनोबल उसे पुकारता है। वह चुपके से उठकर डॉ० चड्ढा के घर पहुँचता है और लड़के पर झाड़ा कर उसे जिन्दा कर देता है। डॉ० चड्ढा विस्मित खड़े देख रहे हैं। वह उसे इनाम देना चाहते हैं परन्तु भक्त डा० चड्ढा को घृणा की दृष्टि से देखता हुआ बाहर चला जाता है। तब चड्ढा को याद आती है कि यह भक्त जी वही व्यक्ति है जिसके बीमार लड़के को उसने देखने से इन्कार किया था। निम्न जाति के लोग महान हैं।

'मंदिर' नाम की कहानी में एक चमारिन विधवा का एकमात्र पुत्र बीमार है। स्वप्न में उसका पति कहता है कि मंदिर में जाकर ठाकुर जी की मूर्ति के पाँव पड़ो, लड़का ठीक हो जाएगा। पुत्र की हालत कुछ सुधरती है। माँ बहुत कृतज्ञ है। फिर जब लड़के की हालत गम्भीर हो जाती है तो उसे याद आती है कि वह भगवान के चरणों में उपासना करने नहीं गयी। यह इसी का परिणाम है। वह अपने गहने गिरवी रखकर दो रुपये उगाहती है। फूल, धूप और बताशे लेकर मंदिर जाती है। पुजारी फूल तो ले लेता है, परन्तु उसे ठाकुर जी की मूर्ति तक नहीं जाने देता। एक रुपया लेकर वह ताबीज देता है और कहता है इसे बाँध दें उपचार हो जायेगा। चमारिन विधवा घर लौटती है। बच्चे की हालत खराब हो जाती है। आधी रात को बच्चे की देह ठंडी पड़ रही है। तीन बजे वह उसे मंदिर ले जाती है और ठाकुर जी के चरणों तक पहुँचने का प्रयत्न करती है। ठाकुर द्वारे का दरवाजा भी खोल लेती है। तब पंडे जग जाते हैं और विधवा की पिटाई करते हैं। धक्के में बच्चा गिर पड़ता है और मर जाता है। उसे मरा देखकर घायल माँ भी मर जाती है। दोनों लाशें भगवान के घर में पड़ी हैं और चारों ओर खड़े हैं निर्दयी धर्म के ठेकेदार।

'ठाकुर का कुआँ' भी एक चमारिन की कहानी है। हरिजन बस्ती के कुएँ में एक जानवर की लाश पड़ी है। बदबू आ रही है। जोखू बीमार है। उसे पानी की प्यास लगी है। उस कुएँ का पानी पिया नहीं जा सकता और ठाकुरों के कुएँ से पानी लेने पर प्रतिबन्ध है, फिर भी आधी रात जोखू की पत्नी वहाँ पानी भरने जाती है। घड़ा जगत तक पहुँचा कि ठाकुर ने घर का दरवाजा खोला। डर के मारे घड़ा धड़ाम से कुएँ में गिरा। जोखू की पत्नी घर की ओर भागी। यह कहानी पीढ़ियों से चले आ रहे अत्याचारों की ओर संकेत है।

'दूध का दाम' कहानी में मूँगी मेहतरानी बाबू महेश नाथ के तीन लड़कियों के बाद हुए एकमात्र लड़के सुरेश को अपना दूध पिलाती है, हालाँकि उसका अपना लड़का मंगल दुबला होता चला जाता है। आगे चलकर मंगल अनाथ हो जाता है। सुरेश इस बच्चे पर रौब जमाता है। जब मंगल रौब नही मानता तो उसे घर से बाहर निकाल दिया जाता है। वह घर के दरवाजे के बाहर नीम के पेड़ के तले पड़ा रहता है। उसका साथी एक कुत्ता टामी है। भूख ने मंगल को परेशान कर रखा है, टामी को भी। मगल देखता है सुरेश का नौकर झूठी पत्तलें फेंक रहा है। मंगल उसे उठा लेता है और टामी के साथ खाता है। उसे याद आता है कि सुरेश ने उसकी अपनी माँ का दूध पिया था। आज उसे इसका दाम मिल रहा है।

'सद्गति' भी अछूतों पर अत्याचार की कहानी है। एक चमार अपनी लड़की के विवाह के मुहूर्त के के लिए पंडित जी के पास जाता है। वह भूखा है। बीमार भी है, परन्तु पडित जी उसे काम पर लगा देते हैं। काम बेगार का है, परन्तु वह कहता है, 'पंडित तो पंडित है। कहीं साइत ठीक न विचारे तो फिर सत्यानाश ही हो जाए। जभी तो संसार में (इनका) इतना मान है। साइत का तो सब खेल है। जिसे चाहे बना दे, जिसे चाहे बिगाड दे।' पंडित जी के प्रति यही श्रद्धा प्राणलेवा बनती है। चमार हुक्म बजा लाता है। वह बाहर झाड़ू लगाता है, गोबर से लीपता है। खलिहान से भूसा उठाता है, लकड़ी चीरता है। बेचारा खाली पेट है। पंडित जी पकवान उड़ाते हैं। उसे पूछते भी नही। नीच जाति का जो है, उसे लकडी काटने पर लगा देते है। गाँठ नही फटती, उस चमार का पेट पीठ मे घुसा जाता है। कुल्हाडी उठाना भी पहाड़ मालूम होता है। तब पंडित ललकारते हैं। चमार कुल्हाड़ी चलाते-चलाते मर जाता है। अब समस्या है उसकी लाश उठाने की। एक गोंड चमारों के मुहल्ले मे जाकर खबर करता है और कह देता है कि लाश उठाओगे तो पुलिस पकड़ लेगी। चमार लोग लाश उठाने नही जाते। यदि पंडित जी फँसते है तो फँसने दो। उसकी चमारिन आकर रोने-चिल्लाने लगती है। लाश कुएँ के रास्ते मे पड़ी है। लोग पानी लेने भी नही जा सकते। लाश से दुर्गन्ध आने लगती है। आधी रात पंडित जी रस्सी का फंदा कसकर लाश को घसीटते हैं और गाँव के बाहर ले जाते हैं। लौटकर स्नान करते हैं, गंगाजल छिड़कते हैं और दुर्गा पाठ करते हैं। उधर चमार की लाश को खेत में गीदड़, गिद्ध और कौए नोच रहे हैं। प्रेमचन्द कहते हैं—'यही जीवन पर्यन्त की भक्ति और निष्ठा का पुरस्कार था।' सद्गति में ब्राह्मण के भयानक चित्रण की बड़ी प्रतिक्रिया हुई। प्रेमचन्द को 'घृणा का प्रचारक' उपाधि दी गई। उनकी कृतियों की तुलना किपलिंग की कृतियो से की गयी। 'यदि प्रेमचन्द इस युग के प्रतिनिधि मान लिए जाएँ तो अब से पचास वर्ष बाद पढ़ने वाले कहेंगे कि उस समय हिन्दुओ या खासकर ब्राह्मण का जीवन घृणा का जीवन था और ब्राह्मणों की जाति बड़ी ही जालिम, स्वार्थी, पाखंडी और घृणा के योग्य थी (पचास वर्ष हो गये)।

दिसम्बर, १९३३ के हंस में प्रेमचन्द ने इस लेख पर टिप्पणी की। शीर्षक था 'जीवन मे घृणा का स्थान: साहित्य में घृणा की उपयोगिता।' प्रेमचन्द ने लिखा—'निन्दा, क्रोध और घृणा सभी दुर्गुण हैं। लेकिन मानव जीवन मे से अगर इन दुर्गुणों को निकाल दिया जाये तो संसार नरक हो जायेगा।' उनका मत था 'बुराइयों से छुटकारा पाने मे घृणा भी उपयोगी हो सकती है। पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचण्ड घृणा हो सकती है उतनी ही कल्याणकारी होगी।'

'हर एक कट्टरपंथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नही कर सकता। इस विकृत धर्मोपजीवी आचरण के हाथों हमारा सामाजिक अहित ही नही कितना राष्ट्रीय अहित हो रहा है, यह वर्णाश्रम स्वराज्य संघ के हथकंडों से जाहिर है। ऐसी असामाजिक, अराष्ट्रीय, अमानुषिक भावनाओं के प्रति जितनी भी घृणा फैलाई जाए वह थोड़ी है। केवल भावनाओं के प्रति, व्यक्ति के प्रति नहीं, क्योंकि वर्णाश्रम के संचालक हमारे जैसे ही आई हैं जैसे आलोचक महोदय के।' इन्ही दिनों प्रेमचन्द ने बनारसी दास चतुर्वेदी को एक पत्र

में लिखा : 'मेरी कल्पना का ब्राह्मण त्याग और सेवा की मूर्ति होता है। (यदि किसी व्यक्ति में ये दोनों बातें हैं तो वह ब्राह्मण है)। मेरे विचार में पुजारी और पण्डे भोले-भाले लोगों के अन्धविश्वास का फायदा उठाकर उन्हें लूटते हैं जो बगुले भगत हैं और जिनका दृष्टिकोण संकुचित है। मैं उन्हें हिन्दू समाज का शाप मानता हूँ। इन्हीं लोगों ने हमारे समाज का बेड़ा गर्क किया है। इन लोगों का व्यंगात्मक मजाक ही उचित है। और मैंने यही कुछ किया है। यह निर्मल और इनके भाईबन्द राष्ट्रवादियों का चोला पहन लेते हैं परन्तु इनमें पंडे जाति की सारी कमजोरियाँ हैं और ये लोग आक्षेप करते हैं हमारे जैसे लोगों पर, जो समाज के स्तर को ऊँचा उठाना चाहते हैं।'

'कफन' में प्रसव वेदना से कराह रही बुधिया का पति माधव कहता है कि तड़पने से तो मर जाना ही अच्छा है। फिर मरना ही है तो जल्दी से क्यों नहीं मर जाती। माधव और उसका पिता घीसू दोनों आलसी हैं। मजूरी ढूंढते, यदि मिलती तो करते भी परन्तु टालमटोल कर। अवसर मिलते ही खेतों से आलू-मटर चुरा लेते। एक दूसरे पर विश्वास नहीं। माधव बुधिया की सुध लेने भीतर इसलिए नहीं जाता कि कहीं उसका बाप अलाव से निकालकर आलू सफाचट न कर दे। दोनों ही कमजोर हैं। उनका जीवन दर्शन कहता है कि जहाँ मजदूरी करने वाले और मेहनत करने वाले किसान भूखे मरते हैं, वहाँ उनकी मेहनत से लाभ उठाने वाले मौज करते हैं। यदि भूखा ही मरना है तो काम करके भूखे क्यों मरें। यदि झूठ बोल कर पैसा इकट्ठा किया जा सके तो क्यों न झूठ बोला जाये। बाप और बेटा जाकर बुधिया के कफन के लिए पैसा इकट्ठा करते हैं और जब कुछ धन मिल जाता है तो शराब की दुकान पर पकवान खाते हैं और शराब से धुत हो जाते हैं। बुधिया उन्हें जीवन में तो पकवान नहीं खिला सकी परन्तु प्राण देकर आज माधव और घीसू के आनन्द का कारण बनी। इस तरह कफन के लिए इकट्ठे किये पैसे उड़ा दिये जाते हैं। यह समाज व्यवस्था पर कड़ा प्रहार है। जिसका कड़ा विरोध महर्षि जी ने किया था। अन्त में मैं कहना चाहूँगा कि प्रेमचन्द समय के साथ चलते थे। मई १९२३ में 'मलकाना राजपूतों की शुद्धि' के विरुद्ध लिखा था कि आर्यसमाज वाले भिन्नाएँगे। तब उनका मत था कि आर्यसमाज वाले साम्प्रदायिक रंग में डूबे हैं। चार वर्ष बाद यहाँ गुरुकुल कांगड़ी में तीन दिन ठहरने पर उनका दृष्टिकोण बदला और अगले आठ वर्षों बाद—निधन के कुछ ही महीने पूर्व लाहौर आर्यसमाज के अन्तर्गत आर्यभाषा सम्मेलन के अवसर पर दिये गये भाषण में कहा—

"आर्यसमाज ने इस सम्मेलन का नाम आर्यभाषा सम्मेलन शायद इसलिए रखा है कि यह समाज के अन्तर्गत उन भाषाओं का सम्मेलन है जिनमें आर्यसमाज ने धर्म का प्रचार किया है और उनमें उर्दू और हिन्दी दोनों का दर्जा बराबर है। मैं तो आर्यसमाज को जितनी धार्मिक संस्था समझता हूँ उतना ही तहज़ीबी (सांस्कृतिक) संस्था भी समझता हूँ। बल्कि आप क्षमा करें तो मैं कहूँगा कि उसके तहज़ीबी कारनामे उसके धार्मिक कारनामों से ज्यादा प्रसिद्ध और रौशन हैं। आर्यसमाज ने साबित कर दिया है कि समाज की सेवा ही किसी धर्म के सजीव होने का लक्षण है। सेवा का ऐसा कौन-सा क्षेत्र है जिसमें उसकी कीर्ति की ध्वजा न उड़ रही हो। कौमी जिन्दगी की समस्याओं को हल करने में उसने जिस दूरंदेशी का सबूत दिया है उस पर हम गर्व कर सकते हैं। हरिजनों के उद्धार में सबसे पहले आर्यसमाज ने कदम उठाया, लड़कियों की शिक्षा की जरूरत को सबसे पहले उसने समझा। वर्ण-व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत सिद्ध करने का सेहरा उसके सिर है। जाति-भेद-भाव और खान-पान के छूत-छात और चौके-चूल्हे की बाधाओं को मिटाने का गौरव उसी को प्राप्त है। यह ठीक है कि ब्रह्मसमाज ने इस दिशा में पहले कदम रखा पर वह थोड़े से अंग्रेजी पढ़े-लिखों तक ही रह गया। इन विचारों को जनता तक पहुँचाने का बीड़ा आर्यसमाज ने ही उठाया। अन्धविश्वास और धर्म के नाम पर किये जाने वाले हजारों अनाचारों की कब्र उसने खोदी, हालांकि मुर्दे को उसमें दफन न कर सका और अभी तक उसका जहरीला दुर्गन्ध उड़कर-उड़कर समाज को दूषित कर रहा है। समाज के मानसिक और बौद्धिक धरातल (सतह) को आर्यसमाज ने जितना उठाया है, शायद ही भारत की किसी संस्था ने

उठाया हो। उसके उपदेशकों ने वेदों और वेदांगों के गहन विषयों को जन-साधारण की सम्पत्ति बना दिया जिन पर विद्वानों और आचार्यों के कई-कई लीवर वाले ताले लगे हुए थे। आज आर्यसमाज के उत्सवों और गुरुकुलों के जलसों से हजारों मामूली लियाकत के स्त्री-पुरुष सिर्फ विद्वानों के भाषण सुनने का आनन्द उठाने के लिए खिंचे चले जाते हैं। गुरुकुलाश्रम को नया जन्म देकर आर्यसमाज ने शिक्षा को सम्पूर्ण बनाने का महान उद्योग किया है। सम्पूर्ण से मेरा आशय उस शिक्षा का जो सर्वाङ्गपूर्ण हो, जिसमें मन, बुद्धि, चरित्र और देह, सभी के विकास का अवसर मिले। शिक्षा का वर्तमान आदर्श यही है। मेरे ख्याल में वह चिरसत्य है। वह शिक्षा जो सिर्फ अक्ल तक ही रह जाय अधूरी है। जिन संस्थाओं में युवकों में समाज से पृथक् रहने वाली मनोवृत्ति पैदा हो, जो अमीर और गरीब के भेद को न सिर्फ कायम रखें बल्कि और मजबूत करे, जहाँ पुरुषार्थ इतना कोमल बना दिया जाय कि उसमें मुश्किलों का सामना करने की शक्ति न रह जाय, जहाँ कला और संयम में कोई मेल न हो, जहाँ की कला केवल नाचने-गाने और नकल करने में ही जाहिर हो, उस शिक्षा का मैं कायल नहीं हूँ। शायद ही मुल्क में कोई ऐसी शिक्षा-संस्था हो जिसने कौम की पुकार का इतनी जवांमर्दी से स्वागत किया हो। अगर विद्या हममें सेवा और त्याग का भाव न लाये, अगर विद्या हमें आदर्श के लिए सीना खोलकर खड़ा होना न सिखाये, अगर विद्या हममें स्वाभिमान न पैदा करे, और हमें समाज के जीवन-प्रवाह से अलग रखे तो उस विद्या से हमारी अविद्या अच्छी। और आर्यसमाज ने हमारी भाषा के साथ जो उपकार किया है उसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण यह है कि स्वामी दयानन्द ने इसी भाषा में 'सत्यार्थ-प्रकाश' लिखा और उस वक्त लिखा जब उसकी इतनी चर्चा न थी। उनकी बारीक नजर ने देख लिया कि अगर जनता में प्रकाश ले जाना है तो उसके लिए हिन्दी भाषा ही अकेला साधन है, और गुरुकुलों ने हिन्दी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर अपने भाषा-प्रेम को और भी सिद्ध कर दिया है।"

दयानन्द और हिन्दी-पत्रकारिता

पद्मश्री आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन'
पत्रकार शिरोमणि एवं प्रख्यात लेखक

प्ररोचना

महर्षि दयानन्द भारतीय नवोदय के अग्रदूत थे। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी हिन्दी को लेखन का आधार बनाकर वह सामान्य जन-जीवन के साथ जुड़े। उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' से संसार मे अभूत-पूर्व क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। 'सत्यार्थ प्रकाश' का प्रथम मुद्रण १८७५ तथा द्वितीय संस्करण १८८४ मे हुआ। इस दूसरे संशोधित परिवर्द्धित संस्करण का महत्त्व इस बात से भी है कि इसमें उनकी भाषा पहले की अपेक्षा अधिक प्रांजल और टकसाली बन गई है तथा आधुनिक हिन्दी-लेखन का मार्ग इसने प्रशस्त किया है। पुरानी सधुक्कड़ी हिन्दी को ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति का सशक्त और समर्थ माध्यम बनाने का उपक्रम स्वामी जी ने ही किया। उन्होंने वैदिक, दार्शनिक तथा सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर अच्छी हिन्दी मे लिखकर यह सिद्ध कर दिया कि उच्चतम अध्ययन-अध्यापन और चिन्तन-मनन के लिए हिन्दी उपयुक्त माध्यम है, समूचे समाज के परस्पर सामूहिक व्यवहार में उसका उपयोग किया जा सकता है तथा समूचे देश को भाषाओं के वैविध्य के रहते हुए भी, समेकित किया जा सकता है।

मिस्टर ग्रिफ़िथ तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की तरह महर्षि दयानन्द भारतेन्दु की पत्रिका 'कवि वचन सुधा' मे लिखा करते थे। इस पत्र के लेखकों ने हिन्दी को नवीन शैली तथा नई चाल दी। मेरठ से स्वामी जी के समय में 'आर्य-समाचार' नामक पत्र का प्रकाशन हुआ। स्वामी जी ने ही फर्रुखाबाद से प्रकाशित होने वाले 'भारत कुदशा प्रवर्दक' पत्र का नाम बदलकर 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' को निकालने की प्रेरणा दी। स्वामी जी नकारात्मक दृष्टिकोण के विरोधी थे। नामकरण के मूल में उनके सकारात्मक रवैये को स्पष्ट देखा जा सकता है। शाहजहाँपुर से निकलने वाला 'आर्य दर्पण' भी उनकी प्रेरणा का ही फल था। 'आर्य दर्पण' के संचालक मुंशी बख्तावरसिंह स्वामी जी के शिष्य थे। 'आर्य-विनय' के सम्पादक बदरीदत्त जोशी दयानन्द के प्रति अत्यन्त आस्थावान थे। मुंशी नारायणप्रसाद जी के हृदय में आर्य-संस्कारों के दृढ़ीभूत करने का कार्य जोशी जी ने किया और बाद को मुंशी जी महात्मा नारायण स्वामी के नाम से विख्यात हुए। प्रारम्भ में आर्यसमाजी पत्र उर्दू में निकलते रहे, किन्तु बाद में वह हिन्दी में निकलने शुरू हुए। परोक्ष रूप से उर्दू के द्वारा खड़ी बोली हिन्दी का प्रचार करने में इन पत्रों का योगदान भुलाया नहीं जा सकता। १८९८ में मुरादाबाद से 'मुहरिक' नाम से उर्दू में निकलने वाला पत्र बाद में हिन्दी में 'आर्य-मित्र' नाम से निकलने लगा। पण्डित पूरणमल के सम्पादन में १८९५ में बरेली से 'आर्य पत्र' निकला; जो बाद में उर्दू से हिन्दी में परिवर्तित हो गया। मुंशीराम जी का 'सद्धर्म प्रचारक' भी उर्दू से बाद में हिन्दी में निकलना शुरू हुआ। लाहौर का 'आर्य गजट', 'हिन्दुस्तान', दिल्ली का 'अर्जुन', लाहौर का ही 'युगांतर', गुरुकुल का 'वैदिक मैगजीन', 'अलंकार', 'गुरुकुल समाचार', महाराष्ट्र से 'वैदिक धर्म' और फिर 'प्रताप', 'मिलाप' 'सत्यवादी', 'भारतोदय',

'राजस्थान', 'आर्य मार्तण्ड', 'सार्वदेशिक', 'आर्य संदेश', 'आर्य मर्यादा' तथा 'द आर्य मैसेंजर' जैसे पत्र हिन्दी-अंग्रेजी में निकलने शुरू हुए। इन पत्रों ने वैदिक धर्म के प्रचार के साथ-साथ समाज-सुधार पर भी बल दिया था।

स्वामी जी की मृत्यु से १० वर्ष पूर्व भारतेन्दु की स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी पत्रिका 'बाला बोधिनी' निकली। इस पर दयानन्द जी की मान्यताओं का गहरा प्रभाव था। फिर पंजाब से हेमन्तकुमारी चौधुरानी ने 'सुगृहिणी' नाम की पत्रिका निकाली, जो हिन्दी में महिलाओं की पहली पत्रिका कही जा सकती है। खड़ी बोली हिन्दी गद्य और तत्सम शब्दों का प्रयोग इनकी मुख्य प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। आर्यसमाज ने अपने पक्ष और विपक्ष में जो लेखकीय जागरण पैदा किया, उसने खड़ी बोली गद्य को प्रचारित करने मे अभूतपूर्व योगदान किया। पुनर्जागरण से आर्यसमाज के विद्यालयो मे हिन्दी चलने लगी और डी० ए० वी० कालेजों तथा गुरुकुलों में हिन्दी माध्यम से ज्ञान-विज्ञान के उच्च विषयों का अध्यापन होने लगा। १८७० के बाद के दशक में तो धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनो के कारण खड़ी बोली गद्य मे पुस्तको, पुस्तिकाओं, पैम्फलेटों, पत्रिकाओं की भरमार हो गई। स्वामी जी की मृत्यु से ७ वर्ष पूर्व बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी प्रदीप' पत्र निकला। १८८८ मे अम्बिकादत्त व्यास की 'वैष्णव पत्रिका' तथा स्वामी जी के निधन के वर्ष पण्डित प्रताप नारायण मिश्र का 'ब्राह्मण' पत्र निकलने प्रारम्भ हुए। इन पत्रो मे राजनीति, साहित्य और सामाजिक विषयो पर लेख छपते थे। खड़ी बोली हिन्दी गद्य, हास्य-व्यंग्य, खडन-मंडन तथा प्राजल हिन्दी का प्रयोग दयानन्द की शैली का था। अतः हिन्दी-लेखन का वह युग भाषागत प्रतिमान की दृष्टि से 'दयानन्द युग' कहा जाना चाहिए। एक बात और; १८८० मे प्रकाशित 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' तथा १८७० में प्रकाशित 'आर्य दर्पण' हिन्दी के परिनिष्ठित प्रयोग की दृष्टि से तत्कालीन पत्रिकाओं मे सबसे आगे कहे जा सकते हैं। १९०० में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पादन मे निकलने वाली 'सरस्वती' इस धारा की प्रौढतम उपलब्धि है, जिसमे व्याकरणनिष्ठ खड़ी बोली हिन्दी गद्य की प्रतिष्ठा की। फिर तो साहित्यिक और राजनीतिक पत्र-पत्रिकाओं की धूम ही मच गई।

इस प्रकार देश-व्यापी जन-जागरण की चेतना का केन्द्र स्थापित करने मे महर्षि दयानन्द और आर्य-समाज द्वारा प्रकाशित-प्रोत्साहित हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का उल्लेखनीय योगदान रहा है। खेद है कि हिन्दी तथा हिन्दीतर क्षेत्रों मे आर्यसमाज द्वारा उत्पन्न की गई आधुनिक जीवन-चेतना तथा साहित्यिक परिवेश का समुचित मूल्याकन नही हुआ। महर्षि दयानन्द १९वी शती के प्रारम्भ मे जिस सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक, साहित्यिक तथा राष्ट्रीय जागरण का संदेश लेकर आए थे उसको हिन्दी के साथ जोड़कर उनकी युगान्तरकारी दृष्टि का अध्ययन तो और भी नही हुआ। हमारे लिए यह गौरव की बात है कि हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार तथा पत्रकारिता के मर्मज्ञ विद्वान् पद्मश्री आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन' इस दिशा मे विशेष रूप से सक्रिय हैं। 'दिवंगत हिन्दी-सेवी' जैसे सन्दर्भ-ग्रथ की रचना के द्वारा उन्होंने हिन्दी साहित्य के विकास की ऐसी अलभ्य अनुसन्धानपूर्ण नवीन सामग्री प्रस्तुत करने की पहल की है कि जिससे हिन्दी साहित्य के अब तक प्रकाशित सभी इतिहास धूमिल हो गए हैं। इस महत्त्वपूर्ण ग्रथ को १० खण्डों में प्रकाशित करने की योजना है। इसके २ खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। इन दो खण्डों में समाविष्ट अब तक के लगभग दो हजार जाने-अनजाने दिवंगत हिन्दी-सेवियों का जीवन-वृत्त, साहित्य-साधना और संस्मरणात्मक टिप्पणी-लेखन इस सन्दर्भ ग्रंथ की निजी विशेषता है। 'दयानन्द और हिन्दी पत्रकारिता' विषय पर हमने उन्हें व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया है। 'सुमन' जी ने हमारा अनुरोध स्वीकार किया, इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

'महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी' पर विश्वविद्यालय मे आयोजित 'प्रसार-व्याख्यानमाला' का यह चतुर्थ व्याख्यान है। इससे पूर्व पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द पीठ के अध्यक्ष डॉ० भवानीलाल भारतीय, भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता के निदेशक डॉ० प्रभाकर माचवे तथा 'ट्रिब्यून' के सम्पादक श्री मदनगोपाल

के क्रमश: 'दयानन्द—समय की कसौटी पर', 'दयानन्द, गांधी और मार्क्स' तथा 'दयानन्द और प्रेमचंद' विषयों पर व्याख्यान हो चुके हैं। श्री 'सुमन' का यह व्याख्यान भी पूर्व व्याख्यानों की तरह उपयोगी जानकारी से भरपूर होने के साथ-साथ दयानन्द की हिन्दी-चेतना का प्रामाणिक आकलन प्रस्तुत करता है।

श्रद्धानन्द बलिदान दिवस
११-१२-८४

बलभद्रकुमार हूजा
कुलपति

सम्मान्य कुलपति जी, आध्यापकवृन्द तथा अन्य साहित्य-प्रेमी मित्रो,

सर्व प्रथम मैं 'महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी व्याख्यानमाला' के संयोजक डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश' का हार्दिक आभारी हूँ जिन्होंने मुझे ऐसे शिक्षण-संस्थान में 'दयानन्द और हिन्दी-पत्रकारिता' विषय पर भाषण देने के लिए आमंत्रित किया है, जिसके संस्थापक अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुंशीराम) महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनन्य अनुयायी होने के साथ-साथ उच्चकोटि के पत्रकार भी थे। उन्होंने स्वामी दयानंद द्वारा संस्थापित आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए जहाँ एक कुशल एवं प्रखर पत्रकार के रूप में देश का उचित दिशा-निर्देश किया था वहाँ सन् १९०२ में शिवालिक पर्वत की पावन उपत्यका में पतित पावनी भागीरथी के पुनीत तट पर अवस्थित ऐसे तपोवन में इस संस्था की स्थापना की थी जिसके सम्बन्ध में 'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्' की वैदिक सूक्ति नितान्त उपयुक्त सिद्ध होती है।

उन दिनों अपनी पुरानी भूमि में इस महान् विद्या-मन्दिर का परिसर इतना नयनाभिराम तथा आकर्षक प्रतीत होता था कि उसकी मनोरमता और भव्यता से अभिभूत होकर यहाँ की विशिष्टता तथा संस्था के प्राण मुंशीराम जी की प्रशंसा भारत-भक्त श्री सी० एफ० एण्ड्रूज ने दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह-संग्राम में लिप्त गांधी जी को लिखे अपने एक पत्र में इस प्रकार की थी—"जिस भारत को मैं जानता था, जिस भारत से मैं प्रेम करता था, जो भारत मेरे सपनों में था, वह मुझे यहाँ देखने को मिला। मैंने अपने सम्मुख उस मातृभूमि को देखा जो न शोकातुर थी, और न श्रान्त-क्लान्त; जिसमें अनन्य अनश्वर वन था, जो वसन्त के *समान ताजा व नवयौवन से परिपूर्ण था। यहाँ गुरुकुल में यह नव भारत विद्यमान है।"* तब स्वामी जी केवल *'मुंशीराम' के नाम से जाने जाते थे और गांधी जी भी 'महात्मा' के विशेषण से विभूषित नहीं हुए थे।* बाद में *दोनों का पुण्यस्मरण 'महात्मा' नाम से होने लगा।* यह नामकरण भी दोनों ने परस्पर ही किया था। गांधी जी ने मुंशीराम जी को 'महात्मा' नाम से सम्बोधित करते हुए २१ अक्तूबर सन् १९१४ को जो पत्र लिखा था, उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"प्रिय महात्मा जी,

मि० एण्ड्रूज ने आपके नाम और काम का इतना परिचय दिया है कि मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मैं किसी अजनबी को पत्र नहीं लिख रहा। इसलिए आशा है कि आप मुझे आपको 'महात्मा जी' लिखने के लिए क्षमा करेंगे। मैं और एण्ड्रूज साहब आपकी चर्चा करते हुए आपके लिए इसी शब्द का प्रयोग करते हैं।··· उन्होंने मुझे आपकी संस्था गुरुकुल को देखने के लिए अधीर बना दिया है।

आपका—मोहनदास गांधी"

इस पत्र के ६ महीने बाद गांधी जी जब भारत आए तब वे गुरुकुल में पधारे। गुरुकुल की ओर से उन्हें जो मानपत्र ८ अप्रैल, सन् १९१५ को दिया गया था उसमें गांधी जी को भी 'महात्मा' नाम से सम्बोधित किया गया था। इस प्रकार दोनों महात्माओं के सम्मिलन से इस संस्था का जो गौरव बढ़ा, वह अब इतिहास

का विषय हो गया है। ऐसी राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था में 'दयानन्द और हिन्दी-पत्रकारिता' विषय पर अपने विचार प्रकट करने में मैं अपना अहोभाग्य मानता हूँ।

आर्यसमाज हमारे देश की उन क्रान्तिकारी संस्थाओं में है, जिसने पराधीनता के दिनों में यहाँ की जनता को सांस्कृतिक और धार्मिक जागृति का पावन सन्देश देने के साथ-साथ उसे साहित्यिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़ाने के लिए ऐसे अनेक कार्यकर्त्ता प्रदान किये, जिन्होंने अपने उज्ज्वल अतीत के स्वर्णिम सपनों को सँजोकर हमारे वर्तमान को सँभाला और इस देश को सुखद भविष्य के आलोकमय पथ पर अग्रसर किया। हमें यह लिखने में तनिक भी संकोच नहीं है कि भारतीय स्वतंत्रता के जनक राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने हमारे देश को पराधीनता के पाशविक पाश से मुक्ति दिलाने के लिए जो-जो कार्यक्रम निर्धारित किये और जो साधन उन्होंने इसकी सम्पूर्ति के लिए अपनाये वे सब महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रणीत 'सत्यार्थ प्रकाश' और उनके द्वारा संस्थापित 'आर्य समाज' के युगान्तरकारी आन्दोलन के ही मूल प्रेरणा-बिन्दु थे। महर्षि दयानन्द ने अपनी घनघोर तपस्या तथा अनन्य कर्तव्य-निष्ठा से जहाँ देश को सांस्कृतिक दृष्टि से सुपुष्ट और समृद्ध किया वहाँ महात्मा गांधी ने राजनीतिक दृष्टि से उसे आगे बढ़ाया। हमारी तो ऐसी भी मान्यता है कि यदि इस पुण्यभूमि पर महर्षि दयानन्द-जैसा दूरदर्शी युग-पुरुष अवतरित न हुआ होता और उसके द्वारा संस्थापित 'आर्य समाज' ने विभिन्न क्षेत्रों में अपने कर्मठ कार्यकर्त्ता न झोंके होते तो कदाचित् आज भारत की स्थिति कुछ और ही होती। इसका ज्वलन्त प्रमाण उनके अमर ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखे गए ये विचार हैं—"कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है।" स्वामी जी के इन शब्दों में सर्वप्रथम 'स्वराज्य' की भावना प्रकट हुई थी।

देश और समाज में प्रचलित अनेक रूढ़ियों और कुरीतियों को देखकर महर्षि दयानन्द ने अपने क्रान्तिकारी विचारों के द्वारा जो प्रबल एवं अभूतपूर्व नवजागरण किया उसी का मूल रूप 'आर्यसमाज' है। आर्य समाज ने न केवल धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में अनेक कार्यकर्त्ता उत्पन्न किये, प्रत्युत साहित्यिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों में भी उसने बढ़-चढ़कर भाग लिया। अतीत काल के भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनों के इतिहास पर यदि हम दृष्टि डालें तो ऐसी अनेक विभूतियों के नाम हमारे समक्ष उभरकर आयेंगे जिन्होंने न केवल इस देश के सांस्कृतिक उन्नयन में उल्लेखनीय योगदान दिया अपितु राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में भी उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। ऐसे महापुरुषों में स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपतराय आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐसे भी अनेक क्रान्तिकारी विचारक और कार्यकर्त्ता आर्यसमाज ने देश को दिये जिन्होंने भारतीय स्वतंत्रता के लिए विदेशों में जाकर उल्लेखनीय कार्य किया। ऐसे महानुभावों में सर्वश्री भाई परमानन्द, लाला हरदयाल, श्यामजी कृष्ण वर्मा, राजा महेन्द्रप्रताप, भवानीदयाल संन्यासी और तोताराम सनाढ्य आदि के नाम हमारे सामने एक उदात्त आदर्श प्रस्तुत करते हैं। सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा जिन आर्य तरुणों ने स्वाधीनता के पावन यज्ञ में अपने प्राणों की अमर आहुति दी उनमें भी अधिकांशतः आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन से ही प्रेरित थे। ऐसे बलि-पंथियों में अमर शहीद सरदार भगतसिंह के अतिरिक्त रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आज़ाद और रोशनलाल जैसे क्रान्तिकारियों के नाम वरेण्य हैं।

आर्यसमाज एक ऐसी सर्वतोमुखी विकासशील संस्था है जिसके द्वारा राष्ट्र में न केवल धार्मिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में अभूतपूर्व जागरण हुआ, प्रत्युत शिक्षा तथा समाज-सुधार के क्षेत्र में भी इसकी देन अनन्य है। इसके द्वारा जहाँ विधवा-विवाह, बाल-विवाह-निषेध, हरिजनोद्धार तथा स्वदेशी-प्रचार के अनेक क्रान्तिकारी कार्यक्रम संचालित हुए वहाँ इसके गुरुकुलों और डी० ए० वी० कालिजों ने भी शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। यहाँ तक कि इन शिक्षा-संस्थाओं में प्रशिक्षित और दीक्षित स्नातकों ने न केवल भारत के विभिन्न प्रदेशों में जाकर सांस्कृतिक क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य किया, प्रत्युत विदेशों में भी भारत और

भारतीयता के गौरव की अभिवृद्धि की। राष्ट्रभाषा हिन्दी के सर्वांगीण विकास में योगदान देने के साथ-साथ उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में भी अपनी ज्वलन्त प्रतिभा का परिचय दिया। यह निर्विवाद सत्य है कि यदि आर्य समाज के द्वारा वैचारिक क्षेत्र में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन न हुए होते तो हिन्दी साहित्य को सर्वश्री प्रेमचन्द, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, यशपाल और राहुल सांकृत्यायन-जैसे प्रखर और मेधावी कथाकार कैसे उपलब्ध होते ! पत्रकारिता के क्षेत्र में अतीत काल में जिन्होंने राष्ट्र का सही मार्ग-प्रदर्शन किया उनमें भी ऐसे ही महानुभाव अग्रगण्य रहे जो आर्यसमाज तथा महर्षि स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के कट्टर अनुयायी थे। ऐसे पत्रकारों में स्वामी श्रद्धानन्द के अतिरिक्त सर्वश्री रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य, पद्मसिंह शर्मा, राधामोहन गोकुलजी, गणेशशंकर विद्यार्थी, विजयसिंह पथिक, इन्द्र विद्यावाचस्पति, सत्यदेव विद्यालंकार, सत्यकाम विद्यालंकार और हरिशंकर शर्मा आदि के नाम विशेष परिगणनीय हैं।

जिन दिनों हमारे देश में आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती का अवतरण हुआ था उन दिनों यहाँ सन् १८५७ की अमर क्रान्ति के उपरान्त मुगल साम्राज्य पर्यथा ध्वस्त हो चुका था और अंग्रेजी शासन की जड़ें मजबूती से जमने के साथ महारानी विक्टोरिया की घोषणा से देश में विचार-स्वातन्त्र्य की भावना उद्भूत हो गई थी। देश के कोने-कोने में ईसाइयों ने जहाँ अपने धर्म के प्रचार के लिए अनेक केन्द्र स्थापित कर लिए थे वहाँ बंगाल में राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन निरन्तर 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्थान' की आवाज ऊँची कर रहे थे। दुर्भाग्यवश ये दोनों महानुभाव क्योंकि संस्कृत के पण्डित न थे, अत. इन्होंने अपने-अपने धार्मिक आन्दोलनों की नींव पाश्चात्य जीवन-प्रणाली के आधार पर डाली थी। इसके विपरीत महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के द्वारा आर्यभावना-मूलक संस्कृति का प्रचार करने की दिशा में देश का उल्लेखनीय नेतृत्व किया था। उक्त दोनों महानुभावों का झुकाव जहाँ ईसाइयत और पाश्चात्य जीवन-पद्धति की ओर था वहाँ महर्षि दयानन्द भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठापना की ओर अग्रसर थे। यदि हम यह कहें तो कदाचित् अप्रासंगिक न होगा कि केशवचन्द्र सेन की पश्चिमोन्मुखी विचारधारा को पूर्वाभिमुख करने का श्रेय भी महर्षि दयानन्द को ही है। इसी प्रकार हमें यह मानने में भी कोई संकोच नहीं है कि केशवचन्द्र सेन से हुए सम्पर्क के कारण ही महर्षि दयानन्द ने जहाँ हिन्दी में व्याख्यान देना शुरू किया वहाँ उनके आग्रह पर ही उन्होंने वस्त्र धारण करना प्रारम्भ किया था। महर्षि से केशवचन्द्र सेन की भेंट सन् १८७२ में जब कलकत्ता में हुई थी तब स्वामीजी संस्कृत में ही भाषण दिया करते थे और शरीर पर कोई वस्त्र धारण न करके 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' के अनुसार केवल कौपीन ही पहनते थे। श्री सेन प्रायः अपने विचार अंग्रेजी के द्वारा ही प्रकट किया करते थे वे स्वामीजी की विचार-धारा को जानना-समझना चाहते थे, किन्तु संस्कृत भाषा से सर्वथा अपरिचित होने के कारण वे उससे वंचित थे। स्वामीजी के अंग्रेजी-ज्ञान से विहीन होने के प्रति उन्होंने जो भाव प्रकट किये थे वे इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उन्होंने कहा था— "शोक है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानता, अन्यथा इंगलैण्ड जाते समय वह मेरा इच्छानुकूल साथी होता। इस पर स्वामीजी ने जो भाव प्रकट किये थे उन्होंने भी श्री सेन को हतप्रभ कर दिया था। स्वामीजी ने कहा था—"शोक है कि ब्रह्मसमाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है जिसे वे नहीं समझते।" इन दोनों महानुभावों का यह स्नेह-सम्पर्क देश के लिए यहाँ तक लाभकारी सिद्ध हुआ कि उसके कारण स्वामीजी ने पूर्णतः हिन्दी को अपना लिया और अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना संस्कृत में न करके हिन्दी में की। इस प्रकार हम यह नि.संकोच कह सकते हैं कि केशवचन्द्र सेन देश के ऐसे पहले राष्ट्रीय नेता थे जिन्होंने 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' के महत्त्व को समझकर स्वामीजी को हिन्दी-लेखन और भाषण के प्रति उन्मुख किया था। श्री सेन की राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति कितनी निष्ठा थी, उसका परिचय आप उनके 'सुलभ समाचार' नामक बंगला पत्र में प्रकाशित इन शब्दों से भली-भाँति प्राप्त कर सकते हैं—"बिना एकता के भारतवर्ष का उद्धार नहीं हो सकता। भारतवर्ष की उस एकता

का उपाय क्या है। इस समय भारतवर्ष में जितनी भाषाएँ प्रचलित हैं, उनमें हिन्दी ही ऐसी भाषा है जो सर्वत्र प्रचलित है—सबसे अधिक बोली और समझी जाती है। इसलिए यदि हिन्दी को सारे भारत की एकमात्र भाषा बना दिया जाय तो सारे देश की एकता सम्पन्न हो सकती है। एक भाषा के बिना एकता नहीं हो सकती।"

श्री केशवचन्द्र सेन तथा राममोहन राय से हुई भेंट के उपरान्त स्वामीजी ने जब ७ अप्रैल, सन् १८७५ को बम्बई में 'आर्यसमाज' की स्थापना की थी उस समय भी उन्होंने हिन्दी को 'आर्य भाषा' का पावन अभिधान देकर आर्यसमाज के ३५वें उपनियम में अपनी हिन्दी-निष्ठा इस प्रकार अभिव्यक्त की थी—"सब आर्यों और आर्यसमाजियों को संस्कृत व आर्य भाषा (हिन्दी) जाननी चाहिए।" स्वामीजी द्वारा संस्थापित आर्यसमाज ने जहाँ समस्त देश मे भारतीयता तथा राष्ट्रीयता का प्रबल प्रचार किया वहाँ हिन्दी-प्रचार के क्षेत्र मे उनकी देन स्वर्णाक्षरो मे उल्लेखनीय है। हिन्दी साहित्य के विगत इतिहास पर यदि हम दृष्टि-निक्षेप करे तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि हिन्दी की वर्तमान प्रगति मे स्वामीजी तथा उनके द्वारा संस्थापित आर्यसमाज का बहुत बडा योगदान है। क्योकि उन्होने यह अनुभव किया था कि हिन्दी ही सारे देश मे समान रूप से बोली और समझी जाती है, इसलिए उन्होने हिन्दी को ही सर्वथा अपनाकर अपने ग्रन्थ भी इसी भाषा में लिखने प्रारम्भ कर दिए थे। आपने पुरानी सधुक्कड़ी हिन्दी को अपनाकर उसे सर्वथा नई विचार-भूमि प्रदान की थी। वे भाषा को साहित्यिक दृष्टि से अलकृत नही करते थे, बल्कि एक समाज-सुधारक का दृष्टिकोण ही उनकी भाषा मे परिलक्षित होता है। उनके 'सत्यार्थ प्रकाश' के द्वितीय संस्करण की भूमिका के इन शब्दों से उनकी इस मान्यता पर और भी व्यापक प्रकाश पड़ता है—"जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' बनाया था उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान नही था, इससे भाषा अशुद्ध बन गयी थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिए इस ग्रन्थ को भाषा-व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।" स्वामीजी के हिन्दी-प्रेम का परिचय हमे उस पत्र से भी मिल जाता है जो उन्होने प्रख्यात थियोसोफिस्ट मैडम ब्लेवेट्स्की को लिखा था। उस पत्र मे स्वामी जी ने स्पष्ट रूप से यह संकेत किया था कि—"जिस पत्र का हमसे उत्तर चाहें, उसकी नागरी कराकर हमारे पास भेजा करें।" इसी प्रकार एक बार १३ जुलाई सन् १८७९ को आपने अपने एक विदेशी मित्र कर्नल अल्काट को अपनी भावनाएँ इस प्रकार लिखी थी—"मुझे सुनकर खुशी हुई कि आपने नागरी पढ़ना आरम्भ कर दिया है।" यहाँ यह स्मरणीय है कि स्वामीजी अपने सम्पर्क मे आने वाले प्राय: सभी व्यक्तियों को हिन्दी पढ़ने की प्रेरणा देते रहते थे। यह स्वामीजी द्वारा संस्थापित आर्यसमाज के अनेक कर्मठ कार्यकर्ताओ का ही प्रताप था कि सारे देश में हिन्दी का प्रचार तथा प्रसार तेजी से हो गया। स्वामीजी के समकालीन प्राय: सभी नेताओ, सुधारकों और साहित्यकारों ने उनकी विचारधारा से प्रभावित होकर हिन्दी-प्रसार को अपने जीवन का प्रमुख ध्येय बनाया। स्वामीजी की विचारधारा से जहाँ महात्मा गाधी ने प्रबल प्रेरणा ग्रहण की थी वहाँ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भी उनके सुधारवादी आन्दोलन मे खुलकर साथ दिया था। भारतेन्दु जी तो स्वामीजी से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने उनका नाम अपनी 'कवि बचन सुधा' नामक पत्रिका के सम्पादक-मण्डल में भी समाविष्ट कर लिया था। इस पत्र मे स्वामीजी के कार्यों का विवरण भी यदा-कदा प्रकाशित होता रहता था।

महर्षि दयानन्द ने जिन दिनों आर्यसमाज की स्थापना की थी, तब देश में उर्दू का बोलबाला था और पत्र-पत्रिकाएँ भी प्राय: उर्दू में ही प्रकाशित होती थीं। सर्वप्रथम आर्यसमाज की पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही देश में हिन्दी के प्रचार और प्रसार को विशेष सहयोग मिला था। इसका सुपुष्ट प्रमाण डॉ० रामरतन भटनागर के शोध प्रबन्ध के इस उद्धरण से मिलता है—"उर्दू के मध्य में हिन्दी की नीव दृढ़ करने

वाली संस्था थी आर्यसमाज। अपने मासिक पत्रों तथा समाचार-पत्रों के प्रकाशन के द्वारा उसने हिन्दी के प्रभावशाली पृष्ठपोषण का कार्य किया। सर्वप्रथम सन् १८७० में शाहजहाँपुर (उत्तर प्रदेश) से मुंशी बख्तावर सिंह ने 'आर्य दर्पण' नामक साप्ताहिक पत्र प्रारम्भ किया और उसके बाद से अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आर्यसमाज की ओर से होता चला आ रहा है।" इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि आर्य समाज की संस्थापना से लगभग ५ वर्ष पूर्व ही महर्षि दयानन्द के विचारों से प्रेरित होकर मुंशी बख्तावर सिंह ने इस साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। इन्हीं बख्तावर सिंह ने सन् १८७५ में 'आर्यभूषण' नामक मासिक भी निकाला था। 'वैदिक यन्त्रालय' अजमेर के व्यवस्थापक और महर्षि दयानन्द के अनन्य शिष्य श्री मनीषी समर्थदान ने अजमेर से सन् १८८६ में 'राजस्थान समाचार' नामक पत्र का सम्पादन और प्रकाशन भी किया था। महर्षि दयानन्द ने हिन्दी को 'आर्यभाषा' के गौरवपूर्ण अभिधान से अभिषिक्त करके उसे सर्वथा नई विचार-भूमि प्रदान की थी। वे अपनी भाषा को साहित्यिक दृष्टि से अलंकृत नहीं करते थे, प्रत्युत एक समाज-सुधारक का दृष्टिकोण ही उनकी समस्त कृतियों में परिलक्षित होता है। एक बार जब पंजाब के किसी सज्जन ने उनके समस्त ग्रंथों का उर्दू में अनुवाद करने की उनसे अनुज्ञा माँगी तो उन्होंने बड़े प्रेम से जो उत्तर उसे दिया था, वह आज भी हिन्दी की स्थिति को अत्यन्त दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत करता है। उन्होंने लिखा था—"भाई, मेरी आँखें तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लगेंगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस आर्य भाषा का सीखना अपना कर्त्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करते हैं।"

वास्तव में महर्षि दयानन्द की यह भावना अक्षरशः चरितार्थ हुई और देश के कोने-कोने में उनके क्रांतिकारी विचारों को जानने और समझने के लिए ही उनके अनेक भक्तों ने आर्यभाषा पढ़ी थी। हिन्दी के व्यवहार, प्रचार तथा प्रसार के प्रति वे कितने जागरूक रहते थे, इसका ज्वलन्त प्रमाण उनका वह पत्र है जो उन्होंने ७ अक्तूबर, १८७८ को दिल्ली से श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा को लिखा था—"अब की बार भी वेद-भाष्य के लिफाफे पर देवनागरी नहीं लिखी गयी, इसीलिए तुम बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि से कहो कि अभी इस पत्र के देखते ही देवनागरी जानने वाला एक मुंशी रख लें, जिससे कि काम ठीक-ठीक से हो, नहीं तो वेदभाष्य के लिफाफों पर रजिस्टर के अनुसार ग्राहकों का पता किसी देवनागरी जानने वाले से लिखवा लिया करें।"

महर्षि के उक्त शब्द लगभग एक शती पूर्व के हैं। यह सही है कि देश की जनता ने महर्षि दयानन्द की इस भावना का सच्चे हृदय से आदर किया, किन्तु राजनीति से आक्रान्त वातावरण में आज भी जहाँ-तहाँ हिन्दी-विरोध का स्वर उभरता रहता है। जो लोग अहिन्दी-भाषियों की असुविधा की दुहाई देकर हिन्दी के विकास का मार्ग अवरुद्ध करते रहते हैं वे यह कैसे भूल जाते हैं कि १८६९ के काशी-शास्त्रार्थ के अनन्तर आर्यसमाज की स्थापना से तीन वर्ष पूर्व सन् १८७२ मे महर्षि दयानन्द जब कलकत्ता गये थे तब राजा राम-मोहन राय, केशवचन्द्र सेन, जस्टिस शारदाचरण मित्र और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर प्रभृति सज्जनों ने उनसे संस्कृत में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के बजाय हिन्दी को अपने प्रचार का माध्यम बनाने का अनुरोध किया था। महर्षि दयानन्द उस समय विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के विशेष अनुरोध पर कलकत्ता गये थे। ५ फरवरी, सन् १८७० को प्रयाग के कुम्भ मेले में उनसे महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर की भेंट हुई थी। अपने कलकत्ता-प्रवास मे महर्षि दयानन्द ने अन्य सभी सज्जनों के समक्ष वहाँ पर एक 'वेद विद्यालय' की संस्थापना का प्रस्ताव भी रखा था, जो सन् १८८३ में स्थापित हो सका था। किन्तु कुछ दिन बाद ही वह बन्द हो गया। यह भी एक विचित्र संयोग की बात है कि महर्षि दयानन्द ने इन सज्जनों के अनुरोध पर अपनी योग-साधना का जो विशद वर्णन प्रस्तुत किया था, उसे हम उनकी प्रथम जीवनी कह

सकते हैं। यह कहानी महर्षि ने उस समय कलकत्ता मे सुनाई थी जब वे सन् १८७२ में कलकत्ता गये थे। उस समय तक आर्यसमाज की स्थापना भी नहीं हुई थी। आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात् सन् १८७५ मे पूना के कुछ सज्जनों के आग्रह पर भी स्वामी जी ने अपना परिचय संक्षेप में प्रस्तुत किया था। इसे हम स्वामी जी की द्वितीय जीवनी कह सकते हैं। महर्षि की तृतीय जीवनी बंकिमचन्द्र चटर्जी के 'बंग दर्शन' नामक पत्र में सन् १८७८ में प्रकाशित हुई थी। इसके अनन्तर हिन्दी भाषा में लिखित स्वामी जी की 'आत्म-कथा' अंग्रेजी में अनूदित होकर १८७९-८० मे 'थियोसोफ़िस्ट' नामक पत्र में प्रकाशित हुई थी। स्वामीजी के निधन के उपरान्त सन् १८८४ में प्रोफ़ेसर मैक्समूलर के 'बायग्राफ़िकल एस्सेज' नामक निबन्ध-संग्रह मे भी उनकी यह जीवनी समाविष्ट की गई थी। उसी वर्ष इंगलैण्ड के 'पाल माल गजट' में भी उनकी एक जीवनी छपी थी। यह सब स्वामीजी के विचारों से अवगत होने के लिए उन महानुभावों के प्रयत्नों से ही सम्भव हो सका था, जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी।

महर्षि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट विचारों को साकार रूप देने के लिए जहाँ अनेक डी० ए० वी० कालिजो और गुरुकुलों की संस्थापना हुई वहाँ सैद्धान्तिक भावनाओं के प्रचार के लिए अनेक ऐसे विद्यालयो की स्थापना भी हुई, जहाँ प्रखर तार्किक वक्ता तैयार किये जा सके। ऐसे विद्यालयो मे गुरुकुल काँगडी और डी० ए० वी० कालिज लाहौर के अतिरिक्त 'आर्य मुसाफिर विद्यालय' आगरा, 'दयानन्द उपदेशक विद्यालय' तथा 'दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय', लाहौर के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके बाद तो देश मे गुरुकुलो का जाल ही फैल गया और कई स्थानों पर ऐसी संस्थाओं का सूत्रपात हुआ। इन संस्थाओ में स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती द्वारा संस्थापित गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर और गुरुकुल, वृन्दावन के नाम विशेष महत्त्व रखते हैं। इन सभी संस्थाओं ने जहाँ आर्यसमाज को अनेक उच्चकोटि के विद्वान्, वक्ता, प्रचारक और उपदेशक प्रदान किये वहाँ भारत तथा विदेशो मे प्रचलित विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायो और मतों के सिद्धान्तो की जानकारी रखने वाले अनेक शास्त्रार्थ महारथी भी तैयार किये। शिक्षा के क्षेत्र मे यह नया प्रयोग करने के साथ-साथ अपने सिद्धान्तो का प्रचार करने के लिए आर्यसमाज के माध्यम से पत्रो के प्रकाशन की दिशा मे जो क्रान्तिकारी कार्य हुआ, उससे जहाँ हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रचलन का कार्य देश मे प्रचुरता से आगे बढा वहाँ उससे अनेक सुलेखक और पत्रकार भी उत्पन्न हुए। पहले तो आर्य पत्र-पत्रिकाएँ उर्दू मे ही प्रकाशित होती थी, परन्तु धीरे-धीरे ज्यो-ज्यों उक्त संस्थाओं और क्रियात्मक व्यवहार के कारण हिन्दी का प्रचलन हुआ त्यो-त्यो इस दिशा मे भी प्रगति होती गई। स्वामी दयानन्द जी की प्रेरणा एव प्रोत्साहन से सन् १८७९ मे उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह ने भी 'सज्जन कीर्ति सुधाकर' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया था। इस पत्र पर मेवाड़ का 'राज्य-चिह्न' प्रकाशित हुआ करता था और यह पत्र अनेक वर्ष तक अत्यन्त सफलतापूर्वक प्रकाशित होता रहा था। लगभग ५० वर्ष तक चलने के उपरान्त यह केवल सरकारी गजट हो गया था और इसमे अंग्रेजी तथा हिन्दी में शासकीय विज्ञप्तियो की ही भरमार रहने लगी थी। जब स्वामी जी अजमेर मे 'परोपकारिणी सभा' को ले गए थे तब उनकी प्रेरणा पर आर्यसमाज, अजमेर के प्रथम प्रधान मंत्री श्री मुन्नालाल शर्मा के सम्पादन में वहाँ से सन् १८८१ में 'देश हितैषी' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन भी हुआ था। इस पत्र के प्रत्येक अंक में आर्य विचारधारा को अपनाने की प्रेरणा जिस कविता द्वारा दी जाती थी वह इस प्रकार है :

> "अप्रीति रीति कुरीति छोड़ो, आर्य्यपन में चित धरो।
> बहुदिवस सोये मत्त हो, अब सभ्यता में रुचि करो।।
> यह देश हितैषी है चली, तुम देश-हितैषी जन रहो।
> रप-प्रीति-उन्नति देश चाहो, देश-हितैषी कर गहो।।"

आर्यसमाज के आन्दोलन के प्रारम्भिक वर्षों में मेरठ का वही महत्त्व था, जो किसी समय पंजाब में

लाहौर का था। फलतः सबसे पहले यहाँ सन् १८७८ में (आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात्) 'आर्यसमाचार' नामक साप्ताहिक पत्र श्री कल्याणराय के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ। स्वामीजी ने मेरठ में ही १६ अगस्त, सन् १८८० को 'परोपकारिणी सभा' की स्थापना की थी और उसकी रजिस्ट्री विधिवत् १६ अगस्त को हुई थी। मेरठ को इस बात का सौभाग्य प्राप्त है कि स्वामीजी सर्वप्रथम मार्च सन् १८६६ में उस समय यहाँ पधारे थे जबकि वे हरिद्वार के कुम्भ के मेले में सम्मिलित होने के लिए जा रहे थे। दूसरी बार वे जनवरी, १८७७ में और तीसरी बार २६ अगस्त १८७८ को पधारे थे। उन दिनों एक मास से अधिक अवधि तक उन्होंने यहाँ निवास किया था। अपने इसी निवास-काल में उन्होंने यहाँ १६ सितम्बर, १८७८ को आर्यसमाज की स्थापना की थी। चौथी बार १५ जनवरी, १८७६ को वे दिल्ली से मेरठ पधारे और १८ दिन तक यहाँ निवास किया। यहाँ पर ही उन्होंने कुम्भ मेले में वितरित करने के लिए विज्ञापन आदि छपवाए थे। पाँचवीं बार ३ मई, १८७६ को वे हरिद्वार-कुम्भ से लौटते हुए कर्नल अल्काट और मैडम ब्लेवेट्स्की को सहारनपुर से अपने साथ लेकर मेरठ पधारे थे। यहाँ सार्वजनिक सभा में इन दोनों ने ईसाई धर्म के महत्त्व पर अपने विचार प्रकट किये थे और स्वामीजी ने वैदिक धर्म की महत्ता प्रतिष्ठापित की थी। छठी बार स्वामीजी ४ जुलाई, १८८७ को पधारे थे और १५ सितम्बर तक ठहरे थे। इसी समय स्वामीजी ने पंडिता रमाबाई को (जो उनसे वैशेषिक दर्शन पढ़ना चाहती थी) कलकत्ता से यहाँ बुलाया था। स्वामीजी चाहते थे कि रमाबाई आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर स्त्री जाति में शिक्षा और वैदिक धर्म का प्रचार करें। परन्तु स्वामी जी की यह इच्छा पूर्ण न हो सकी और कलकत्ता वापिस लौटने के कुछ दिन बाद ही वे ईसाई धर्म में दीक्षित हो गईं। मेरठ से विदाई के समय रमाबाई को १२५ रुपये और कपड़े का एक थान आर्यसमाज की ओर से भेंट किया गया था।

स्वामी जी के मेरठ में निरन्तर पधारने के कारण वहाँ की जनता में आर्यसमाज और उसके सिद्धान्तों के प्रति जो अनन्य अनुराग जगा था उसी का सुपरिणाम यह हुआ कि सन् १८७८ में यहाँ से 'आर्य समाचार' साप्ताहिक निकला था। सन् १८६७ में श्री तुलसीराम स्वामी ने 'वेद प्रकाश' नामक मासिक पत्र यहाँ से प्रारम्भ किया और इसमें धारावाहिक रूप से उन्होंने 'सामवेद' का भाष्य प्रकाशित किया। बाद में उन्होंने सन् १६०७ में 'दयानन्द पत्रिका' नामक एक और मासिक पत्रिका भी निकाली। श्री रघुवीरशरण दुबलिश के भास्कर प्रेस से सन् १६१२ में 'भास्कर' तथा १६१३ में 'भारत महिला' नामक मासिक पत्र प्रकाशित हुए। बाबू घासीराम एम० ए० ने सन् १६१७ में 'आर्य समाचार' को फिर से मासिक रूप में निकाला। इसके प्रत्येक अंक के प्रथम पृष्ठ पर वेद-मन्त्रों की व्याख्या दी जाती थी। इन पत्रों के अतिरिक्त श्री विश्वम्भरसहाय 'प्रेमी' द्वारा सम्पादित मासिक 'तपोभूमि' और 'मातृभूमि' (साप्ताहिक) तथा श्रीमती उर्मिला शास्त्री द्वारा संपादित 'जन्म-भूमि,' (साप्ताहिक) और सत्यवती स्नातिका का 'किसान सेवक' (साप्ताहिक) भी अपनी उल्लेखनीय विशेषता रखते थे। 'तपोभूमि' का 'भारतीय सभ्यता अंक' उल्लेखनीय सामग्री से परिपूर्ण था। आजकल श्री विश्वम्भरसहाय 'विनोद' भी अपने दैनिक 'प्रभात' के माध्यम से आर्य-समाज के सिद्धान्तों के प्रचार में अग्रणी कार्य कर रहे हैं। इस प्रसंग में यह तथ्य भी विशेष रूप से उल्लेख्य है कि हिन्दी के ख्याति-लब्ध साहित्यकार महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का पहला हिन्दी-लेख सन् १६१६ में मेरठ से श्री रघुवीरशरण दुबलिश के सम्पादन में प्रकाशित होने वाले 'भास्कर' नामक पत्र में छपा था। उन दिनों राहुल जी आगरा के 'आर्य मुसाफिर विद्यालय' में पढ़ा करते थे और 'केदारनाथ विद्यार्थी' के नाम से जाने जाते थे। प्रख्यात आर्य विद्वान् पण्डित गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र' के सम्पादन में प्रकाशित 'बाल मनो-रंजन' (१६१४), 'हिन्दी सर्वस्व' (१६१५) तथा 'चन्द्र प्रभा' (१६१७) भी अपने समय के अच्छे पत्र थे।

आर्यसमाज की स्थापना के बाद सन् १८७६ में स्वामी दयानन्द जी की प्रेरणा पर फर्रुखाबाद (उत्तर प्रदेश) से 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसका नाम पहले 'भारत कुदशा

प्रमर्दक' था, बाद में स्वामीजी ने नाम बदल दिया था। इस पत्र का सम्पादन कुछ समय तक पण्डित गणेश-प्रसाद शर्मा ने भी किया था। इन्हीं दिनों स्वामी श्रद्धानन्द जी ने (जब वे महात्मा मुंशीराम थे) कन्या महाविद्यालय जालन्धर के संस्थापक लाला देवराज के सहयोग से 'सद्धर्म प्रचारक' (साप्ताहिक) सबसे पहले उर्दू में निकाला। इसका पहला अंक १९ फरवरी, १८८९ को प्रकाशित हुआ था। एक दिन एक व्यक्ति ने महात्मा मुंशीराम से ताना कसते हुए कहा—"दयानन्द के इतने कट्टर शिष्य बनते हो पर महर्षि ने तो सारा साहित्य हिन्दी में लिखा है। आपका 'सद्धर्म प्रचारक' उर्दू मे क्यों निकलता है ?" महात्मा मुंशीराम के पास इसका कोई उत्तर नही था। पर 'कार्यं वा साधयेयम् शरीरं वा पातयेयम्' के दृढ़ विश्वासी मुंशीराम जी ने अगले ही दिन पत्र में यह घोषणा कर दी —" 'सद्धर्म प्रचारक' अब हिन्दी में ही प्रकाशित होगा।" मित्रों, हितैषियों तथा आत्मीयों सभी ने समझाया कि "हिन्दी मे कौन पढ़ेगा ? पंजाब में तो हिन्दी केवल स्त्रियाँ ही पढ़ती हैं। पत्र घाटे मे पहले ही चल रहा है। अब यह और घाटा कैसे पूरा करोगे ?" मुंशीराम जी का उन सबको एक ही उत्तर था—"देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। आर्यसमाज के प्रत्येक सदस्य के लिए हिन्दी का ज्ञान और व्यवहार अनिवार्य बताया गया है। अगर गुजराती होते हुए महर्षि दयानन्द हिन्दी मे ग्रन्थ लिख सकते हैं और भाषण दे सकते हैं तो हम उनके अनुयायी क्या तनिक भी त्याग नही कर सकते ?" फलत: 'सद्धर्म-प्रचारक' की सामग्री रातो-रात उर्दू से हिन्दी में कर दी गई। अब 'प्रचारक' नियमित रूप से हिन्दी मे निकलने लगा। वस्तुत: पजाब मे उस समय हिन्दी का यह सबसे पहला और एकमात्र हिन्दी साप्ताहिक पत्र था।

इसके बाद तो महात्मा मुंशीराम में हिन्दी के प्रति इतनी अनन्य निष्ठा जगी कि उन्होने 'गुरुकुल कांगड़ी' की स्थापना करके उसके माध्यम से राष्ट्रीयता, राष्ट्र भाषा और वैदिक साहित्य के उन्नयन में उल्लेख-नीय कार्य किया; और एक दिन वह भी आया जब वे अपनी इस हिन्दी-सेवा के कारण 'अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' के भागलपुर-अधिवेशन के अध्यक्ष मनोनीत हुए। उन्होने गुरुकुल कांगडी के द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से उच्च-से-उच्च वैज्ञानिक शिक्षा देने का संकल्प भी पूर्ण किया। मेरी तो ऐसी मान्यता है कि यदि महात्मा मुंशीराम गुरुकुल कांगडी की स्थापना न करते तो 'हिन्दी पत्रकारिता' का जो रूप हम आज देख रहे हैं, वैसा कदापि न होता। गुरुकुल कांगड़ी से शिक्षा ग्रहण करके निकले हुए अनेक स्नातकों ने हिन्दी-पत्रकारिता को विकसित करके उसका पथ प्रशस्त करने मे प्रशंसनीय एवं अभिनन्दनीय योगदान दिया है। महात्मा मुंशीराम जी ने न केवल स्वयं 'आदर्श पत्रकार' के रूप मे अपने गौरव को प्रति-ष्ठित किया, प्रत्युत अपने दोनों पुत्रों (हरिश्चन्द्र वेदालंकार और इन्द्र विद्यावाचस्पति) को भी इस कंटका-कीर्ण पथ का पथिक बनने की प्रेरणा दी और जब वे 'महात्मा मुंशीराम' से 'स्वामी श्रद्धानन्द' बन गए और पूर्णत: गुरुकुल के कार्यों में ही व्यस्त हो गए तो 'सद्धर्म-प्रचारक' का सम्पादन अनेक वर्षों तक इन्द्र जी ने ही किया था। 'सद्धर्म-प्रचारक' के सम्पादन का भार अपने पुत्र को सौंपकर उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी से 'श्रद्धा' नाम से एक साप्ताहिक भी प्रकाशित करना प्रारम्भ किया था। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित देखने की भावना उनमें इतनी प्रबल हो गई थी कि उन्होंने अपनी आत्म-कथा भी 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से हिन्दी में ही लिखी। सन् १९११ के दिल्ली-दरबार के समय स्वामी श्रद्धानन्द ने 'सद्धर्म-प्रचारक' को लगभग एक मास तक 'गुरुकुल कांगड़ी' से ही दैनिक रूप में निकाला था। साप्ताहिक की पत्रकारिता से दैनिक की पत्रकारिता की उन्होंने अपने पुत्र प्रो० इन्द्र को जो दीक्षा दी थी, वह इस प्रकार फलवती हुई कि उनकी प्रेरणा पर न केवल उन्होंने दिल्ली से दैनिक 'विजय' प्रकाशित किया, बल्कि कालान्तर में 'अर्जुन', 'वीर अर्जुन,' 'नवराष्ट्र' और 'जनसत्ता' दैनिक के सम्पादक के रूप में 'हिन्दी पत्रकारिता' की जो नींव डाली उसी पर आज उसका यह भव्य भवन खड़ा है।

स्वामी जी के द्वारा संस्थापित 'गुरुकुल कांगड़ी' के स्नातकों ने इन पत्रों में पत्रकारिता की विधिवत्

दीक्षा लेकर देश के विभिन्न क्षेत्रों में फैलकर जो हिन्दी पत्र निकाले बाद में वही राष्ट्रभाषा के प्रचार और प्रसार का सशक्त माध्यम बने। यहाँ तक कि सन् १९१९ में अमृतसर में हुए कांग्रेस के अधिवेशन का जब स्वामीजी को स्वागताध्यक्ष बनाया गया तब कांग्रेस के मंच से कदाचित् सबसे पहले हिन्दी में भाषण देने वाले वे ही अकेले व्यक्ति थे। उससे पूर्व कांग्रेस की सारी कार्यवाही अंग्रेजी में ही हुआ करती थी। उनका स्वागत-भाषण भी बिलकुल निराला था। उसमें उन्होंने देश के भविष्य की कल्पना इस प्रकार की थी—"यदि जाति को स्वतंत्र देखना चाहते हो तो स्वयं सदाचार की मूर्ति बनकर अपनी सन्तान के सदाचार की बुनियाद रख दो। जब सदाचारी ब्रह्मचारी शिक्षक हों और शिक्षा-पद्धति राष्ट्रीय हो तभी जाति की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले नौजवान मिलेंगे। नहीं तो इसी तरह आपकी सन्तान विदेशी विचारों और विदेशी सभ्यता की गुलाम बनी रहेगी।···मैं अपने सब भाई-बहनों से एक याचना करूँगा। इस पवित्र जातीय मन्दिर में बैठे हुए अपने हृदयों को मातृभूमि के प्रेम-जल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो और मुझे आशीर्वाद दो कि परमेश्वर की कृपा से मेरा यह स्वप्न पूरा हो।"

बम्बई में सन् १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना के बाद वहाँ की प्रतिनिधि सभा की ओर से 'आर्य प्रकाश' नाम से एक मासिक का प्रकाशन सन् १८८६ में प्रारम्भ हुआ था। उन्हीं दिनों लाहौर से गुरुदत्त विद्यार्थी और आर्य पथिक लेखराम के सम्पादन में 'वैदिक मैगजीन' (१८८१) और 'धर्मोपदेश' (१८८२) नामक मासिक प्रकाशित हुए थे। इनमें से पहला पत्र अंग्रेजी में निकलता था। यह समय ऐसा था जब सब ओर से हिन्दी पत्रों के प्रकाशन में प्रगति होने लगी थी। प्रख्यात तार्किक विद्वान् पंडित कृपाराम शर्मा (बाद मे स्वामी दर्शनानन्द) ने काशी में सन् १८८२ में 'तिमिर नाशक प्रेस' की स्थापना करके उसकी ओर से 'तिमिर नाशक' पत्र का सम्पादन-प्रकाशन किया था। यह पत्र अन्य मतावलम्बियों के लिए बम का गोला था। सन् १८८० में जहाँ अजमेर से 'परोपकारिणी सभा' ने 'परोपकारी' (१९०१) तथा 'अनाथ रक्षक' (१९०२) का प्रकाशन प्रारम्भ किया वहाँ राजस्थान और मालवा की 'आर्य प्रतिनिधि सभा' की ओर से 'आर्य मार्तण्ड' नामक मासिक १८९५ मे अजमेर से प्रकाशित हुआ। इनमें से पहले दोनों पत्रों के सम्पादक पण्डित पद्मसिंह शर्मा थे और दूसरा श्री रामसहाय आर्योपदेशक (बाद मे ओमभक्त वानप्रस्थ) के सम्पादकत्व मे निकला था। आजकल 'आर्य मार्तण्ड' का प्रकाशन बन्द है और 'परोपकारी' का सम्पादन डॉ० धर्मवीर बड़ी ही दक्षता से कर रहे हैं। पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ की 'दयानन्द पीठ' का अध्यक्ष होने से पूर्व इसका सम्पादन डॉ० भवानीलाल भारतीय किया करते थे। १८९० में इटावा से महर्षि दयानन्द के अनन्य अनुयायी पं० भीमसेन शर्मा के सम्पादकत्व मे 'आर्य सिद्धान्त' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। यही भीमसेन शर्मा बाद में सनातनधर्मी हो गए और 'ब्राह्मण सर्वस्व' नामक मासिक निकालने लगे थे। सन् १८८७ में कलकत्ता से 'आर्यावर्त' नामक जो साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हुआ था वह १८९७ में राँची चला गया था और बाद में १८९८ मे वह दानापुर (पटना) से प्रकाशित होने लगा था। उन दिनों इसके सम्पादक रुद्रदत्त सम्पादकाचार्य थे। कुछ दिनों तक यह पत्र भागलपुर से भी निकला था। सन् १८९१ में इसके सम्पादक श्री क्षेत्रपाल शर्मा थे, जो बाद में 'सुख संचारक कम्पनी मथुरा' के अधिपति बने थे।

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का साप्ताहिक पत्र 'आर्यमित्र' सन् १८८८ में सबसे पहले मुरादाबाद से निकला था। बाद में अनेक वर्षों तक यह आगरा से प्रकाशित होता रहा और आजकल लखनऊ से निकल रहा है। इसके आदिसम्पादक सम्पादकाचार्य पंडित रुद्रदत्त शर्मा थे। 'आर्यमित्र' में आने से पूर्व उन्होंने 'आर्य विनय' (१८८४) नामक पाक्षिक पत्र का सम्पादन भी किया था। इस पत्र का सम्पादन कुछ समय तक पंडित बदरीदत्त जोशी ने भी किया था। यह पत्र पहले आर्यसमाज मुरादाबाद की ओर से प्रकाशित होता था और बाद में वह 'आर्यमित्र' के रूप में बदलकर आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का साप्ताहिक मुखपत्र हो गया। इसका नामकरण पंडित बदरीदत्त जोशी ने किया था। यह सौभाग्य की बात है कि

'आर्यमित्र' को ऐसे कितने ही कुशल सम्पादक मिले जिनकी सम्पादन-पटुता और लेखन-शैली आज भी हिन्दी-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। प्रख्यात वैदिक विद्वान् श्री रामदत्त शुक्ल के पिता श्री नन्दकुमार देव शर्मा सन् १९०८ में इसके सम्पादक थे। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि जिन दिनों पंडित हरिशंकर शर्मा इसका सम्पादन करते थे उन दिनों 'आर्यमित्र' की गणना उच्चकोटि के साप्ताहिक पत्रों में की जाती थी। 'आर्यमित्र' ही आर्य जगत् का ऐसा अकेला पत्र है जिसके सम्पादन में अनेक ऐसे सज्जनों ने सहयोग दिया है जो हिन्दी-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। प्रख्यात लेखक श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी ने कई वर्ष तक 'सर्वानन्द' नाम से इसका सम्पादन किया था। 'विशाल भारत' और 'मधुकर' के भूतपूर्व ख्याति-प्राप्त सम्पादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी कलकत्ता जाने से पूर्व उसे कृतार्थ किया था। सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० सत्येन्द्र और कहानीकार श्री रामचन्द्र श्रीवास्तव 'चन्द्र' ने जहाँ इसके सम्पादन में सहयोग दिया था वहाँ इन पंक्तियों का लेखक भी १९३९ में इसका सहकारी सम्पादक रहा था। उन दिनों श्री बाबूराम एम० ए० इसके सम्पादक थे और हैदराबाद में छिड़े 'आर्य सत्याग्रह' के कारण यह अर्धसाप्ताहिक हो गया था। 'कल्पना' हैदराबाद के सम्पादक-मण्डल के एक सदस्य और हैदराबाद से प्रकाशित होने वाले 'संकल्प' नामक मासिक पत्र के आदिसम्पादक मधुसूदन चतुर्वेदी ने भी काफी समय तक इसका सम्पादन किया था। सस्कृत के विद्वान् डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री तर्कशिरोमणि भी अपने जीवन के किशोर-काल में कुछ दिन तक इसके सम्पादक रहे थे। चतुर्वेदभाष्यकार श्री जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने 'आर्यमित्र' का सम्पादन उन दिनो किया था, जब इसका प्रकाशन आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड, अजमेर के श्री मथुराप्रसाद शिवहरे के निर्देशन मे आगरा से होता था।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा पुरस्कृत श्री ऋषिदेव विद्यालंकार उन दिनो इसके सम्पादक थे, जब आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का मुख्य कार्यालय लखनऊ में बन जाने के कारण वह आगरा की बजाय वहाँ से प्रकाशित होने लगा था। गुरुकुल काँगड़ी के प्राचीन स्नातक श्री धर्मपाल विद्यालंकार भी कुछ दिनों तक इसके सम्पादक रहे थे। महाविद्यालय, ज्वालापुर के स्नातक श्री गोपालदत्त जोशी ने भी उन दिनों लगभग पाँच वर्ष तक इसका सम्पादन किया था, जब वे लखनऊ में रहते थे। गुरुकुल, ज्वालापुर के दूसरे स्नातक श्री सच्चिदानन्द शास्त्री ने भी थोड़े दिन इसके सम्पादन में सहयोग दिया था। समय-समय पर कई बार गुरुकुल, वृन्दावन के स्नातक श्री उमेशचन्द्र आयुर्वेदशिरोमणि ने भी इसका सम्पादन किया था और आजकल आचार्य रमेशचन्द्र एम० ए० इसके सम्पादक हैं। श्री हरिशंकर शर्मा के सम्पादन के दिनों में इसकी साज-सज्जा तथा सामग्री की प्रशंसा उपन्यास-सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द ने भी की थी। 'आर्यमित्र' ही हिन्दी मे अकेला ऐसा पत्र है जो अपने जीवन के प्रारम्भ से आज तक अत्यन्त सफलतापूर्वक प्रकाशित हो रहा है। दो बार यह बीच में दैनिक रूप मे भी प्रकाशित हुआ था। एक बार श्री हरिशंकर शर्मा सम्पादन करते थे और दूसरी बार लगभग आठ मास तक श्री भारतेन्द्रनाथ साहित्यालंकार ने भी इसके सम्पादन में अपना सहयोग दिया था। 'आर्य-मित्र' ने अपनी शक्ति, सामर्थ्य और सीमाओं के अनुरूप आर्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं प्रचार करने के अतिरिक्त आर्य जगत् में साहित्यिक जागरण लाने की दिशा में भी पर्याप्त सहयोग दिया था। हिन्दी के लेखकों में बहुत-से ऐसे हैं जो अपने साहित्यिक विकास के प्रारम्भिक काल में 'आर्यमित्र' मे ही लिखा करते थे। हिन्दी की सुप्रसिद्ध कहानी-लेखिका श्रीमती चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की पहली कहानी भी उस समय 'आर्यमित्र' में प्रकाशित हुई थी जब कि मैं सन् १९३९ में उसमें कार्य करता था। श्रीमती सौनरेक्सा को उनकी 'आदमखोर' नामक कृति पर अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 'सेकसरिया पुरस्कार' प्राप्त हो चुका है। इसके अतिरिक्त गुरुकुल काँगड़ी, महाविद्यालय, ज्वालापुर और गुरुकुल, वृन्दावन के अनेक स्नातक भी 'आर्यमित्र' के माध्यम से ही आगे बढ़े थे। डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' और डॉ० सूर्यदेव शर्मा किसी समय 'आर्यमित्र' के विशिष्ट कवियों में थे।

'आर्यमित्र ' के आदिसम्पादक पंडित रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य हिन्दी के उन स्वनामधन्य पत्रकारों में थे कि हिन्दी का कोई ऐसा नामी पत्र नहीं, जिसका सम्पादन उन्होंने न किया हो। 'आर्यमित्र' के अतिरिक्त उन्होंने 'आर्यावर्त' और 'भारत मित्र' का भी सम्पादन किया था। अपने पत्रकार-जीवन का प्रारम्भ उन्होंने आगरा के 'प्रेमपत्र' नामक पाक्षिक के सम्पादन से किया था और जिन दिनों वे 'भारत मित्र' (कलकत्ता) में थे उन दिनों उसके २२ जून, १८७९ के अंक में एक चिट्ठी इस आशय की भी छपी थी कि स्वामी दयानन्द से वेद पढ़ने के लिए कई एक अमरीकन पादरी बम्बई आये हुए हैं। स्वामी जी के लेख भी उन दिनो यदा-कदा 'भारत मित्र' में प्रकाशित हुआ करते थे और ३० अक्तूबर, सन् १८८३ को जब स्वामी जी का देहावसान हुआ था तब उसके २ नवम्बर के अंक में यह समाचार भी प्रकाशित हुआ था। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के देहावसान के उपरान्त सन् १८९५ में बरेली से 'आर्य पत्र' (मासिक) और सन् १८९६ में खीरी (उत्तर प्रदेश) से 'आर्य भास्कर' नामक पत्र भी प्रकाशित हुए थे। इनमें से पहले पत्र के सम्पादक श्री पूरणमल थे।

जिन दिनों महर्षि स्वामी दयानन्द देश में सामाजिक जागरण का अपना अभूतपूर्व अभियान चला रहे थे उन दिनों जिन अनेक राज-परिवारों में उनके क्रान्तिकारी विचारों का अमर आलोक पहुँचा था उनमें कालाकाँकर (उत्तर प्रदेश) का परिवार अन्यतम था। वहाँ के राजा रामपालसिंह ने लन्दन से सन् १८८३ में जो हिन्दी पत्र 'हिन्दोस्थान' नाम से निकाला था, उसे उन्होंने भारत मे आकर सन् १८८५ मे दैनिक रूप दे दिया और उसके प्रथम सम्पादक का दायित्व महामना मदनमोहन मालवीय को सौंपा। जब उन्होंने कलकत्ता कांग्रेस में मालवीय जी का धारावाहिक भाषण सुना तो वे उन पर मुग्ध हो गए और उन्होंने मालवीय जी को वहाँ पर ही 'हिन्दोस्थान' का सम्पादन-भार सँभालने को सहमत कर लिया था। बाद मे 'हिन्दोस्थान' के सम्पादन में श्री बालमुकुन्द गुप्त और पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भी सहयोग दिया था। राजा रामपालसिंह के पौत्र कुँवर सुरेशसिंह ने भी १९३८-३९ में कालाकाँकर से 'कुमार' नामक युवकोपयोगी मासिक पत्र प्रकाशित किया था। उनकी प्रेरणा से ही उन्हीं दिनों श्री सुमित्रानन्दन पन्त के सम्पादन मे 'रूपाभ' नामक एक साहित्यिक मासिक पत्र भी प्रकाशित हुआ था। अमेठी राज्य (उत्तर प्रदेश) में भी आर्यसमाज का काफी प्रचार था। वहाँ के राजकुमार रणंजयसिंह द्वारा संचालित 'मनस्वी' नामक मासिक पत्र का मैंने सन् १९३९-४० में आठ मास तक सम्पादन किया था। काशी के दैनिक 'आज' और 'ज्ञानमंडल लिमिटेड' के संचालक श्री शिवप्रसाद गुप्त भी आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन से पर्याप्त प्रभावित थे और कदाचित् उससे प्रेरित होकर ही उन्होंने बाद मे 'आज' दैनिक का प्रकाशन किया था। इसका ज्वलन्त प्रमाण हमें इस बात से मिलता है कि जब वे विदेश यात्रा पर जा रहे थे तब अपने निजी सचिव के रूप में वे श्री हरिशंकर शर्मा (सुपुत्र कविवर नाथूराम शंकर शर्मा) को अपने साथ ले जाना चाहते थे।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में एक ओर जहाँ सन् १९०० में आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्य प्रदेश की ओर से 'आर्य सेवक' नामक पाक्षिक श्री गणेशप्रसाद शर्मा के सम्पादन में प्रकाशित हुआ था, वहाँ आर्यसमाज कलकत्ता की ओर से 'आर्यावर्त' (१९२२) का प्रकाशन हुआ था। इस शती के तीसरे दशक मे जहाँ बंगाल-बिहार की आर्य प्रतिनिधि सभा में सन् १९२४ में श्री जयदेव शर्मा के सम्पादकत्व में 'आर्य जीवन' नामक पत्र का प्रकाशन किया था वहीं आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से भी सन् १९१४ मे 'आर्य' नामक मासिक पत्र प्रकाशित हुआ था। इस पत्र के आदिसम्पादक श्री चमूपति एम० ए० थे। बाद में लगभग ६ वर्ष तक श्रीअवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार ने इसका सम्पादन किया और फिर श्रीप्रियव्रत वेदवाचस्पति भी इसके सम्पादक रहे थे। बहुत दिन बाद न जाने किस कारण से प्रतिनिधि सभा की ओर से 'आर्य' की बजाय 'आर्योदय' प्रकाशित होने लगा और इसके सम्पादक कई वर्ष तक श्री भारतेन्द्रनाथ साहित्यालंकार रहे थे। जब प्रतिनिधि सभा का विभाजन हरियाणा और पंजाब के रूप मे अलग-अलग हो गया तब एक की ओर से 'आर्य मर्यादा'

प्रकाशित होने लगा और दूसरी ने 'आर्य ज्योति' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 'आर्य मर्यादा' का सम्पादन श्री जगदेवसिंह 'सिद्धान्ती' किया करते थे और 'आर्य ज्योति' के सम्पादक श्री हरिप्रकाश आयुर्वेदालंकार रहे थे। श्री सिद्धान्ती जी के सम्पादन-काल मे 'आर्य मर्यादा' में पर्याप्त सुपुष्ट सामग्री समाविष्ट रहती थी। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि श्री सिद्धान्ती जी ने श्री रघुवीरसिंह शास्त्री के सहयोग से 'सम्राट्' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी स्वतन्त्र रूप से दिल्ली से प्रकाशित किया था, जो कई वर्ष तक आर्य जगत् की प्रशंसनीय सेवा करता रहा। आजकल यह पत्र मासिक रूप में श्री चन्द्रमोहन शास्त्री के सम्पादन में अच्छी साज-सज्जा मे प्रकाशित हो रहा है। श्री भारतेन्द्रनाथ ने 'आर्योदय' से पृथक् होकर स्वतन्त्र रूप से 'दयानन्द संस्थान' नामक संस्था की स्थापना करके उसकी ओर से 'जनज्ञान' नामक जो मासिक प्रारम्भ किया था उसका सम्पादन श्री भारतेन्द्रनाथ जी की जीवन-संगिनी श्रीमती राकेश रानी कर रही हैं। यदि यहाँ पर 'आर्य सभा' के साप्ताहिक पत्र 'राजधर्म' का उल्लेख न किया गया तो यह विवरण अधूरा ही रह जायगा। श्री अग्निवेश द्वारा सम्पादित इस पत्र में जहाँ सांस्कृतिक सामग्री प्रचुर परिमाण में रहती थी वहाँ राजनीतिक चेतना जाग्रत करने की दिशा मे भी इस पत्र ने प्रशसनीय भूमिका निबाही थी। इस सन्दर्भ मे बिहार प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के पत्र 'आर्य सकल्प' तथा मध्य दक्षिण आर्य प्रतिनिधि सभा के 'आर्य जीवन' के नाम स्मरणीय हैं। आर्यसमाज फोर्ट बम्बई की ओर से प्रकाशित 'आर्य विजय' (मासिक) भी पिछले २० वर्ष से नियमित रूप से निकल रहा है। गुरुकुल काँगडी के प्राचीन स्नातक श्री विनायकराव विद्यालकार ने १६४६ मे हैदराबाद (दक्षिण) से 'आर्य-भानु' नामक जो पत्र प्रकाशित किया था वह उस राज्य का पहला हिन्दी पत्र था। इस पत्र के सहायक सम्पादक श्री कृष्णदत्त थे। इस सन्दर्भ में सन् १६३८-३६ के आर्य सत्याग्रह के अवसर पर श्री हरिश्चन्द्र विद्यार्थी के सम्पादन में शोलापुर से प्रकाशित 'दिग्विजय' का नाम भी उल्लेख्य है।

गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के पत्र 'भारतोदय' (१६०६) का नाम हिन्दी की साहित्यिक पत्र-कारिता के इतिहास मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसके सम्पादन के दिनो में समालोचक-मूर्धन्य पंडित पद्मसिंह शर्मा ने अनेक साहित्यिक समस्याओ और आन्दोलनों पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला था। उन दिनों का हिन्दी का ऐसा कोई प्रमुख साहित्यकार या कवि नही था, जो इसमे न लिखता हो। यहाँ पर यह उल्लेख कर देना भी अप्रासगिक न होगा कि भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का 'समाज-सशोधन' शीर्षक बिल्कुल पहला लेख 'भारतोदय' के सितम्बर, १६२० के अंक में 'राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय' के नाम से प्रकाशित हुआ था। उस अवसर पर उन्होने पडित पद्मसिंह शर्मा को जो पत्र लिखा था उससे उनकी शालीनता और विनम्रता का परिचय मिलता है। उन्होंने लिखा था—" 'सरस्वती' मे जो लेख देने की आज्ञा की गयी सो अनुल्लघनीय न होने पर भी लेखक के असामर्थ्योपहत होने से विलम्बसाध्य होगी।···प्रथम तो ऐसा विषय नही सूझता जिस पर हिन्दी-रसिकों का अनुराग हो। द्वितीयतः हिन्दी-लेख मे भी सामर्थ्य नहीं। आप कुछ विषय-निर्देश करे तो कुछ यत्न हो। 'समाज-संशोधन' वाला लेख आपको इतना पसन्द होगा, यह मुझे कभी धारणा नही थी, यदि उधर 'भारतोदय' कृतार्थ हुआ तो इधर मैं भी कृतार्थ हुआ।" राजेन्द्र बाबू का वह लेख स्त्रियों की शिक्षा और सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में था। पडित पद्मसिंह शर्मा ने जहाँ पत्रकारिता के क्षेत्र में नये मानदण्ड स्थापित किये, वहाँ 'भारतोदय' के माध्यम से उन्होंने जो अनेक लेखक बनाये थे राजेन्द्र बाबू भी उन्हीं में से एक थे। शर्मा जी द्वारा दिए गए इस प्रोत्साहन का उल्लेख उन्होंने सार्वजनिक रूप से सन् १६५६ मे उस समय किया था जब वे गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के 'स्वर्ण जयन्ती समारोह' में सम्मि-लित होने वहाँ गये थे। उन्होंने तब न केवल पद्मसिंह शर्मा के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित किया था, अपितु 'गुरुकुल' को भी अपनी 'मातृ संस्था' मानते हुए यह उद्गार प्रकट किए थे, "इस संस्था के अनन्य सूत्रधार पंडित पद्मसिंह शर्मा ने ही मेरा हिन्दी का सबसे पहला लेख यहाँ के मासिक मुखपत्र 'भारतोदय' में प्रकाशित किया था, अत: इस नाते यह शिक्षण-संस्था मेरी भी है और मैं इस भूमि में आकर अपने को धन्य अनुभव कर

रहा हूं।" कविताकामिनीकान्त नाथूराम शंकर शर्मा-जैसे उत्कृष्ट कवि को हिन्दी-जगत् के समक्ष प्रस्तुत करना पद्मसिंह शर्मा-जैसे गुण-ग्राहक सम्पादक का ही काम था। आचार्य पद्मसिंह शर्मा के सम्पादन में 'भारतोदय' इतना सुन्दर निकलता था कि सम्पादकाचार्य अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने अपने 'समाचार पत्रों का इतिहास' नामक ग्रन्थ में यह लिखकर उसकी प्रशंसा की थी, "मासिक पत्रों में भाषा और विचारों की दृष्टि से ज्वालापुर के गुरुकुल महाविद्यालय का 'भारतोदय' सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है।" पंडित पद्मसिंह शर्मा के बाद आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने भी इसका सम्पादन किया था। उनके समय में भी वे इसके संयुक्त-सम्पादक रहे थे। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय तथ्य है कि सुप्रसिद्ध आर्य कवि श्री नाथूराम-शंकर शर्मा के सुपुत्र श्री हरिशंकर शर्मा ने भी 'भारतोदय' का कुछ दिन तक सम्पादन किया था। महाविद्यालय के स्नातक श्री प्रेमचन्द्र शास्त्री काव्यतीर्थ ने उन दिनों इसका सम्पादन किया था जब यह मुरादाबाद के 'शर्मा मशीन प्रिंटिंग प्रेस' में मुद्रित होता था। इसके बाद यह सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् श्री भीमसेन शर्मा (आगरा वाले) के सुपुत्र डॉ० हरिदत्त शास्त्री के सम्पादन में संस्कृत और हिन्दी में प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ था, जो आजकल केवल संस्कृत में निकल रहा है।

इस प्रकार जहाँ आर्यसमाज के लिए कार्य-क्षेत्र तैयार करने का पुनीत कार्य यह सभी पत्र कर रहे थे वहाँ गम्भीर सैद्धान्तिक लेखों के द्वारा वैदिक धर्म के महत्त्व को बढ़ाने और वेदों के अनुशीलन को निरन्तर गतिशील बनाने के लिए मेरठ के सामवेद-भाष्यकार श्री तुलसीराम स्वामी का पत्र 'वेदप्रकाश' (मासिक) अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य कर रहा था। पहले यह साप्ताहिक रूप में कानपुर से सन् १८८४ में श्री राधाकृष्ण गुप्त के सम्पादन में प्रकाशित होता था। मेरठ के 'वेदप्रकाश' के कुल १८० अंक प्रकाशित हुए थे, जिनकी पृष्ठ संख्या ३८७७ है। 'वेदप्रकाश' में यज्ञ, शास्त्रार्थ, मृतक दाह, मृतक श्राद्ध, वेदार्थ, विधवा-विवाह, क्षमा, दया, प्रायश्चित्त, खान-पान, छुआछूत, कर्मकाण्ड, उपासना, भूत-प्रेत, पुराण, तन्त्र तथा भगवत-खण्डन आदि लगभग २०० विषयों पर शोध-सामग्री से परिपूर्ण अत्यन्त प्रामाणिक और गम्भीर लेख प्रकाशित हुए थे। ये लेख आर्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए बड़े ही उपयोगी हैं। विरोधियों के प्रश्नों के उत्तर देने तथा सम्पादकीय टिप्पणियों द्वारा आर्यसमाज को उपयोगी दिशा-निर्देश देने आदि में इसके सम्पादक श्री तुलसीराम स्वामी बड़ी रुचि लेते थे। आर्यसमाज में साहित्यिक चेतना उत्पन्न करना जहाँ 'भारतोदय' का लक्ष्य था वहाँ 'वेदप्रकाश' का उद्देश्य उसमें बौद्धिक तथा वैदिक भावना बढ़ाना था। हर्ष का विषय है कि आजकल भी 'वेदप्रकाश' प्रख्यात आर्य प्रकाशक गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली की ओर से प्रकाशित हो रहा है और इसके आदरणीय सम्पादक श्री स्वामी जगदीश्वरानन्द(जगदीशचन्द्र विद्यार्थी) हैं। इस प्रसंग में गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति श्री बलभद्रकुमार हूजा के पिता श्री गोवर्धन बी० ए० द्वारा सम्पादित और सन् १९१५ में दिल्ली से प्रकाशित 'प्रह्लाद' साप्ताहिक का नाम भी विशेष महत्त्व रखता है।

प्रख्यात आर्य पत्रकार श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्मा के सम्पादकत्व में 'विकास' नामक जो साप्ताहिक पत्र सहारनपुर से प्रकाशित हुआ था उससे भी विशेषतः पश्चिमोत्तर भारत और सामान्यतः समस्त देश में 'आर्य विचार-धारा' के प्रचार एवं प्रसार में उल्लेखनीय सहयोग मिला था। अजमेर में सन् १९३३ में सम्पन्न हुई 'दयानन्द-निर्वाण अर्ध शताब्दी' के अवसर पर प्रकाशित उसका 'आर्यसमाज अंक' आज भी अपनी विशिष्टता के लिए याद किया जाता है। इस विशेषांक का सम्पादन राज्यरत्न आत्माराम अमृतसरी ने किया था। श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्मा बाद में नागपुर चले गए और उन्होंने मध्यप्रदेश को अपनी कर्मभूमि बनाया। कई वर्ष तक वे मध्यप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री रहे और उसकी ओर से प्रकाशित होने वाले 'आर्य सेवक' का सफल सम्पादन भी किया था। इन्होंने वहाँ से स्वतन्त्र रूप से 'आलोक' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया था और आजकल 'भारत गो सेवक समाज' के पत्र 'गोधन' का सम्पादन कर रहे हैं। कई वर्ष तक शर्मा जी ने 'माहेश्वरी' साप्ताहिक और 'आर्यकुमार' का भी सम्पादन किया था। 'आर्यकुमार'

का प्रारम्भ उस समय हुआ था जबकि आर्यसमाज के पुराने कर्मठ नेता डॉ० केशवदेव शास्त्री ने अपने घनघोर प्रयत्न से सन् १९०९ में 'आर्यकुमार परिषद्' की स्थापना करके उसका पहला अधिवेशन सहारनपुर में किया था। इस अधिवेशन की अध्यक्षता लाला लाजपतराय ने की थी। डॉ० केशवदेव शास्त्री ही उसके आदि-सम्पादक थे। पहले यह पत्र साप्ताहिक रूप में प्रकाशित होता था, कुछ दिन तक द्वैमासिक भी रहा था, और बाद में मासिक हो गया था। मेरठ के श्री विश्वम्भरसहाय 'प्रेमी' और दिल्ली के डॉक्टर युद्धवीर सिंह ने भी कई वर्ष तक 'आर्यकुमार' का सम्पादन किया था। सन् १९१९ में भी फतहपुर (उत्तर प्रदेश) से 'आर्यकुमार' नामक एक और पत्र प्रकाशित हुआ था और इसका सम्पादन श्री मथुराप्रसाद करते थे।

आर्यसमाज की पत्रकारिता के इतिहास में डॉक्टर केशवदेव शास्त्री का नाम विशेष महत्त्व रखता है। उन्होंने आर्य युवकों में वैदिक धर्म के प्रति आस्था जगाकर उनका नैतिक चरित्र उठाने की दृष्टि से सन् १९१० में 'नवजीवन' नामक एक और मासिक पत्र का सम्पादन-प्रकाशन काशी से किया था। वास्तव में शास्त्री जी ने इसका उपयोग धर्मपाल बी० ए० और सुनीति देवी (गुजरानवाला गुरुकुल के हैडमास्टर श्री सुखदयाल एम० ए० की बहन) के विवाह-सम्बन्ध के प्रचार-साफल्य और तत्सम्बन्धी आन्दोलन में बढ़-चढ़कर किया था। इस विवाह-समारोह में देश-विदेश के लगभग ५०० से अधिक आर्य-परिवार सम्मिलित हुए थे। डॉ० केशवदेव शास्त्री के सहसा अमरीका चले जाने के कारण जब इसका प्रकाशन स्टार प्रेस प्रयाग की ओर से होने लगा था तब इसका सम्पादन श्री चन्द्रशेखर वाजपेयी किया करते थे। किन्तु यह उनसे चल नहीं सका और फिर बन्द हो गया। बाद में यह पत्र श्री द्वारकाप्रसाद 'सेवक' के सम्पादन में सन् १९१५ में इन्दौर से कई वर्ष तक सफलतापूर्वक प्रकाशित हुआ। सेवक जी बड़े ही कर्मठ और अध्यवसायी पत्रकार थे। उन्होंने अजमेर से भी 'वैदिक सन्देश' नामक एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया था। इसमें बड़े क्रान्तिकारी लेख प्रकाशित होते थे। राज्यरत्न मास्टर आत्माराम अमृतसरी के सम्पादन में सन् १९१९ में कोल्हापुर से प्रकाशित 'वैदिक मार्तण्ड' नामक द्विमासिक पत्र भी अपने समय में अत्यन्त उल्लेखनीय था। किसी समय प्रख्यात आर्य नेता श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय के सम्पादन में प्रकाशित 'वेदोदय' नामक मासिक पत्र भी इलाहाबाद से बड़े ठाट-बाट से निकला करता था। बाद में उपाध्याय जी के सुयोग्य पुत्र श्री विश्वप्रकाश के निरीक्षण में यह सन् १९३४ तक बराबर प्रकाशित होता रहा और फिर आर्थिक क्षति के कारण इसे स्थगित कर देना पड़ा। इस पत्र में उपाध्याय जी के अतिरिक्त अनेक आर्य विद्वानों के बड़े गम्भीर लेख प्रकाशित हुआ करते थे। दिल्ली के मासिक 'श्रद्धानन्द' और 'शुद्धि समाचार' भी अच्छी सामग्री देते थे। इन दोनों पत्रों का सम्पादन स्वामी चिदानन्द संन्यासी किया करते थे। काशी के 'श्री सनातन धर्म' नामक पत्र के प्रत्युत्तर में प्रख्यात पत्रकार श्री राधामोहन गोकुलजी ने कलकत्ता से सन् १९०९ में 'सत्य सनातन धर्म' नामक पत्र निकाला था। गोकुलजी ने नागपुर के 'प्रणवीर' साप्ताहिक और आगरा के 'वैभव' नामक दैनिक का भी सम्पादन किया था।

उन दिनों आर्य सिद्धान्तों को व्यापक रूप से जनता के समक्ष प्रस्तुत करने की दिशा में जो अनेक आर्य पत्रकार अपना योगदान दे रहे थे उनमें प्रख्यात वैदिक विद्वान् श्रीपाद दामोदर सातवलेकर की सेवाएँ सर्वथा अविस्मरणीय हैं। उन्होंने 'स्वाध्याय मंडल औंध (सतारा)' से 'वैदिक धर्म' नामक मासिक पत्र के द्वारा आर्य जगत् की बहुत सेवा की थी। उनके द्वारा किये गए वेद-भाष्यों और आर्य-साहित्य-सम्बन्धी टिप्पणियों को पढ़ने के लिए लोग लालायित रहा करते थे। यह उल्लेखनीय है कि अनेक विघ्न-बाधाओं से जूझते हुए 'वैदिक धर्म' उसी धूम-धाम से निकला तथा सातवलेकर जी के निधन के बाद भी कई वर्ष तक उनके सुपुत्र श्री वसन्त श्रीपाद सातवलेकर ने उसे निर्विघ्न रूप से प्रकाशित किया। यह खेद का विषय है कि दिसम्बर १९७५ के अंक में अपनी 'विनम्र निवेदन' शीर्षक पंक्तियों में इसके संचालकों ने उसे बन्द करने की घोषणा इस प्रकार की थी—"आगामी वर्ष से 'वैदिक धर्म' का प्रकाशन प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण बन्द करना पड़ रहा है, इसलिए हम दुःखित हैं।" निरन्तर ५६ वर्ष तक प्रकाशित होने के बाद 'आर्यसमाज स्थापना शताब्दी'

के दिनों में इसका बन्द होना निश्चय ही एक भारी आघात है। इसी प्रकार की सामग्री से परिपूर्ण अजमेर के 'वेद संस्थान' की पत्रिका 'सविता' भी अपनी उल्लेखनीय विशेषता रखती है। इसका सम्पादन स्वामी विद्यानन्द 'विदेह' के कनिष्ठ पुत्र श्री अभयदेव शर्मा करते हैं और इसका प्रकाशन अब भी नियमित रूप से हो रहा है। रामलाल कपूर ट्रस्ट, वाराणसी की ओर से प्रकाशित होने वाली 'वेद वाणी' नामक पत्रिका का भी अपना उल्लेखनीय स्थान रहा है। इसका सम्पादन पहले श्री ब्रह्मदत्त 'जिज्ञासु' किया करते थे और अब यह पत्रिका श्री युधिष्ठिर मीमांसक के सम्पादन मे सोनीपत (हरियाणा) से प्रकाशित होती है, जहाँ पर ट्रस्ट का कार्यालय वाराणसी से स्थानान्तरित हो गया है। श्री गुरुदत्त वैद्य के निरीक्षण मे प्रकाशित 'अखिल भारतीय शाश्वत संस्कृति परिषद्' की मासिक पत्रिका 'शाश्वत वाणी' में भी अच्छी सैद्धान्तिक सामग्री रहती है। इसका सम्पादन श्री अशोक कौशिक करते हैं। श्री राजपाल शास्त्री का दिल्ली से प्रकाशित 'मधुर लोक' और श्री ईश्वरीप्रसाद 'प्रेम' का 'तपोभूमि' भी अच्छे मासिक पत्र हैं।

इन पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त मेरे सम्पादन में सन् १९३७-३८ में सहारनपुर से प्रकाशित होने वाला साप्ताहिक 'आर्य' भी अपनी अल्पकालीन जीवन-यात्रा में आर्य जगत् में पर्याप्त समादृत हुआ था। इसके संचालक और आदिसम्पादक श्री शीतलप्रसाद विद्यार्थी थे, जिन्होंने सन् १९२४ मे श्री प्रियरत्न आर्ष (बाद में स्वामी ब्रह्ममुनि) के सहयोग से 'शान्ति' नामक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित की थी। इस पत्रिका मे वैदिक वाङ्मय और आर्यसमाज से सम्बन्धित प्रचुर प्रेरक सामग्री रहा करती थी। अजमेर से सन् १९३८-३९ मे श्री दत्तात्रेय बाब्ले के सम्पादन में प्रकाशित 'अजय' (मासिक) और 'विजय' (साप्ताहिक) का भी आर्यजगत् में अत्यन्त उल्लेखनीय स्थान रहा था। ऐसी ही सामग्री से परिपूर्ण 'आर्य सन्देश' नामक एक साप्ताहिक पत्र आगरा से स्वामी परमानन्द के संरक्षण में सन् १९३९ मे प्रकाशित हुआ था, जो ६-७ मास ही जीवित रह सका। इसका सम्पादन श्री हरिशंकर शर्मा किया करते थे। मैं भी इसी पत्र मे सहकारी सम्पादक रहा था। वास्तव में पं० हरिशंकर शर्मा के निरीक्षण में इस पत्र से ही मैंने पत्रकारिता की विधिवत् दीक्षा ली थी। गुरुवर पद्मसिंह शर्मा के पवित्र सान्निध्य और आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ के आचार्यत्व मे 'पत्रकारिता' की जो वर्णमाला मैंने अपने शिक्षण-काल में गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर में सीखी थी उसका अभ्यास सहारनपुर में किया और श्री हरिशंकर शर्मा के पुण्य पुनीत निरीक्षण में मैं वहाँ विधिवत् पत्रकार बना। श्री शर्मा जी ने 'आर्यमित्र' से त्यागपत्र देकर उसका सम्पादन करने से पूर्व 'निराला' और 'प्रभाकर' नामक पत्रों का सम्पादन भी किया था। कुछ दिन तक वे आगरा के गयाप्रसाद एण्ड सन्स प्रकाशक की ओर से संचालित एवं प्रकाशित 'साधना' नामक पत्रिका के सम्पादक भी रहे थे। उन्होंने आगरा से प्रकाशित आध्यात्मिक मासिक 'कर्मयोग' का भी सम्पादन किया था।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली की ओर से डॉ० केशवदेव शास्त्री के सम्पादन मे सन् १९२७ मे प्रकाशित 'सार्वदेशिक' मासिक हिन्दी के उन पत्रों में था, जिसके पाठक भारत के अतिरिक्त विदेशो मे भी थे। 'सार्वदेशिक' के एक सम्पादक प्रो० सुधाकर एम० ए० को उनकी 'क्रियात्मक मनोविज्ञान' नामक पुस्तक पर अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी प्राप्त हुआ था। श्री रघुनाथप्रसाद पाठक 'सार्वदेशिक' के सहकारी संपादक थे। इन दोनों महानुभावों ने इसे पौष्टिक सामग्री और प्रेरक विचारों से परिपूर्ण करके सर्वांगीण बनाया था। अब यह साप्ताहिक रूप मे अत्यन्त साधारण कलेवर मे प्रकाशित होता है। इसी शृंखला मे गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी का मुख पत्र 'गुरुकुल पत्रिका' भी है। पहले यह 'गुरुकुल' नाम से साप्ताहिक रूप में प्रकाशित होता था और अब मासिक है तथा संस्कृत में प्रकाशित होता है। कुछ दिन तक यह गुरुकुल समाचार' नाम से भी प्रकाशित हुआ था। गुरुकुल कांगड़ी के स्नातको के संगठन 'स्नातक मण्डल' की ओर से प्रकाशित 'अलंकार' का नाम भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। पहले यह पत्र श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के सम्पादन में सन् १९२४ में निकला था और बाद मे यह श्री देवशर्मा विद्या-

लंकार के सम्पादन में सन् १६३४ में प्रकाशित हुआ था। यहाँ गुरुकुल के ही स्नातक श्री विश्वनाथ विद्यालंकार और श्री चन्द्रमणि विद्यालकार के सम्पादन में सन् १६२१ मे प्रकाशित 'वैदिक आदर्श' नामक मासिक का नाम भी उल्लेखनीय है। सन् १६५३ मे श्री जे० पी० चौधरी काव्यतीर्थ के सम्पादन में प्रकाशित पत्रिका 'पाखण्ड खण्डिनी पताका' का भी अपनी सामग्री के कारण विशिष्ट महत्त्व था।

इन पत्रों के अतिरिक्त और भी बहुत-से ऐसे पत्र हैं, जिन्होंने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के साथ-साथ हिंदी के प्रचार और प्रसार में बहुत योग दिया। ऐसे पत्रों में 'शंकर' (मुरादाबाद), 'दिवाकर' (आगरा), 'वेद पथ' (ज्वालापुर), 'न्याय' (अजमेर), 'संजय' तथा 'दयानन्द सन्देश' (दिल्ली) और 'आर्य संसार' (कलकत्ता) के नाम विशेष परिगणनीय हैं। इनमें से 'शंकर' का सम्पादन पं० बदरीदत्त जोशी और आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने, 'दिवाकर' का सम्पादन सर्वश्री मधुसूदन चतुर्वेदी, श्रीशचन्द्र शुक्ल, विष्णुदत्त कपूर और हरिदत्त शास्त्री ने 'न्याय' का सम्पादन श्री विश्वदेव शर्मा ने, 'संजय' का सम्पादन श्री भद्रसेन गुप्त ने, 'दयानन्द सन्देश' का सम्पादन आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री (आजकल सच्चिदानन्द योगी) ने और 'आर्य संसार' का सम्पादन श्री रमाकान्त उपाध्याय ने किया था। 'दिवाकर' ने अपने विशेषांकों के कारण किसी समय हिन्दी जगत् मे बडी धूम मचाई थी। इसके 'वेदांक' और 'शिक्षांक' अपनी महत्त्वपूर्ण, सुसम्पादित और सुपुष्ट सामग्री के कारण आज भी याद किये जाते हैं। 'वेदांक' का सम्पादन आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने किया था। आचार्य जी ने ही 'शंकर' (मुरादाबाद) के 'दयानन्द जन्म शताब्दी अंक' का सम्पादन किया था। 'संजय' का 'महाभारत अंक' और 'दयानन्द सन्देश' का 'कर्मवीर अंक' तथा 'असिधारा अंक' सर्वथा उपादेय सामग्री से परिपूर्ण थे। इन दोनों के संपादक गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के स्नातक हैं। हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश) से प्रकाशित होने वाली अस्तंगत 'कल्पना' और 'अजन्ता' के सम्पादक डॉ० आर्येन्द्र शर्मा और वशीधर विद्यालंकार भी आर्यसमाज की ही विभूति हैं। इनमे से पहले गुरुकुल, बदायूँ के स्नातक हैं और दूसरे गुरुकुल काँगडी के। अजमेर का साप्ताहिक 'न्याय' श्री विश्वदेव शर्मा के सम्पादन मे २ अक्टूबर, १६६६ मे दैनिक हो गया है और उसके प्रथम अक का विमोचन तथा उद्घाटन मैंने ही किया था। 'न्याय' अब भी बड़ी शान से प्रकाशित हो रहा है।

आर्यसमाज के क्षेत्र में कार्य करने वाले पत्रकारों ने जहाँ वैदिक धर्म के प्रचार, राष्ट्रीय जागरण और समाज-सुधार की दिशा मे अपनी प्रतिभा का परिचय दिया, वहाँ स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में भी वे पीछे नही रहे। इसी पावन उद्देश्य को सामने रखकर जहाँ लाला देवराज ने जालन्धर में 'कन्या महाविद्यालय' की स्थापना की वहाँ उन्होंने अपने विद्यालय की ओर से 'पांचाल पण्डिता' नामक पत्रिका भी प्रकाशित की थी। पहले वह आधी अंग्रेजी में और आधी हिन्दी में प्रकाशित होती थी, किन्तु बाद में इसे पूर्णतः हिन्दी-पत्रिका ही बना दिया गया था। फिर इसमें अन्तिम चार पृष्ठ छोटी बालिकाओं के लिए भी बढ़ा दिए गये और उसका नाम 'सुकुमारी' रख दिया गया। इस प्रकार इस पत्र ने जहां नारी-जागरण की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था वहाँ महिलाओं में लेखन की अभिरुचि भी उत्पन्न की थी। 'पांचाल पण्डिता' से पूर्व लाहौर से 'भारत भगिनी' (१८८८) नामक पत्रिका वहाँ के बैरिस्टर श्री रामरोशनलाल जी की धर्मपत्नी श्रीमती हरदेवी जी कई वर्षों से निकाल रही थीं। श्री हरदेवी जी सुप्रसिद्ध एग्जीक्यूटिव इंजीनियर श्री रामकन्हैयालाल जी की सुपुत्री थी। जिनका पुनर्विवाह सुप्रसिद्ध आर्य प्रचारक श्री अलखधारी जी के प्रयत्न से उक्त बैरिस्टर महोदय के साथ संपन्न हुआ था। इसी शृंखला में कन्या गुरुकुल, कनखल (हरिद्वार) की ओर से सन् १६३८ में प्रकाशित 'उषा' का नाम भी स्मरणीय है। इसकी सम्पादिका श्रीमती शकुन्तला 'जलविंद' थीं। इसी नाम की एक पत्रिका सन् १६१३ में गुरुकुल काँगड़ी से भी प्रकाशित हुई थी, जो १६२० तक सफलतापूर्वक चली थी। 'आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा' की ओर से भी 'आर्य सन्देश' नामक मासिक हिन्दी और गुजराती में निकलता था, जिसका सम्पादन श्री राजेन्द्र पण्डित किया करते थे। 'जात पात तोड़क मंडल' के श्री सन्तराम बी० ए० ने कन्या महा-

विद्यालय जालन्धर से 'भारती' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन सन् १९२० में किया था और वहाँ से ही सन् १९२२ में 'जलविद सखा' पत्रिका भी प्रकाशित हुई थी। इन्हीं श्री सन्तराम जी ने सन् १९१४ मे 'जात पाततोडक मंडल' की ओर से 'उषा' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया था और उन्हीं दिनों में 'आर्य प्रभा' नामक एक और मासिक पत्रिका को भी जन्म दिया था, जो सन् १९१८ में साप्ताहिक हो गई थी। उनके द्वारा सम्पादित 'युगान्तर' नामक मासिक का नाम भी हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में अपना उल्लेखनीय स्थान रखता है। सन् १९२६ में श्री दीनानाथ सिद्धान्तालंकार के सम्पादन में सर गंगाराम ट्रस्ट सोसाइटी, लाहौर की ओर से प्रकाशित 'विधवा-बन्धु' (मासिक) भी अपने समय का अच्छा पत्र था।

'विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान' की ओर से सुप्रसिद्ध आर्य विद्वान् श्री विश्वबन्धु शास्त्री के साधु आश्रम, होशियारपुर से प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका 'विश्व-ज्योति' का नाम भी अपनी शोध-सामग्री के कारण चिरस्मरणीय रहेगा। यह अब भी निरन्तर प्रकाशित हो रही है। इसके विशेषांक हिन्दी-साहित्य की अतुल निधि हैं। 'अमृत धारा' के आविष्कारक वैद्य ठाकुरदत्तजी भी आर्यसमाजी थे। वे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के १९४१ के दिसम्बर मास में सम्पन्न हुए अबोहर-अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष थे। उन्होने भी सन् १९१० में 'देशोपकारक' नामक एक पाक्षिक पत्र प्रकाशित किया था। लाहौर से प्रकाशित होने वाली 'खरी बात' मासिक पत्रिका के सम्पादक श्री दुर्गादास भास्कर भी आर्यसमाजी थे। हिन्दी भवन, लाहौर की ओर से प्रकाशित 'भारती' पत्रिका की भी किसी समय हिन्दी-जगत् मे बडी धूम थी। इसका सम्पादन श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' और हरिकृष्ण 'प्रेमी' करते थे। वहाँ से 'कमल' नाम से बालको का एक मासिक पत्र भी प्रकाशित हुआ था, जिसका सम्पादन श्री सन्तराम 'विचित्र' किया करते थे। इससे पूर्व 'विचित्र' जी ने अलमोड़ा (उत्तर प्रदेश) से 'नटखट' नाम से एक अन्य बालोपयोगी मासिक पत्र भी सम्पादित किया था। 'विचित्र' जी अपने जीवन के प्रारम्भ में आर्यसमाज की अनेक गतिविधियों में बढ़-चढ़कर भाग लिया करते थे और उन दिनो वे 'विचित्र' उपनाम के स्थान पर 'आर्य पथिक' लिखा करते थे। हिन्दी भवन लाहौर के संचालक श्री देवचन्द्र नारंग प्रख्यात इतिहासवेत्ता श्री जयचन्द्र विद्यालंकार के छोटे भाई थे और भारत-विभाजन से पूर्व लाहौर में आततायियों द्वारा कत्ल कर दिए गये थे।

यदि यहाँ श्री खुशहालचन्द 'खुरसन्द' (बाद में आनन्द स्वामी) के लाहौर से सन् १९२९ में प्रकाशित 'दैनिक हिन्दी मिलाप' और कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले श्री मिहिरचन्द्र धीमान के 'जागृति' (कलकत्ता) का उल्लेख न किया गया तो यह विवरण अधूरा ही रह जायगा। इन दोनो पत्रो ने अपनी-अपनी सीमाओं के अनुरूप आर्य जगत् की उल्लेखनीय सेवाएँ की हैं। 'हिन्दी मिलाप' को चलाने मे यद्यपि इसके संचालकों को पर्याप्त आर्थिक हानि उठानी पड़ी है, किन्तु अब भी यह जालन्धर और हैदराबाद से बराबर प्रकाशित हो रहा है। भारत-विभाजन के एकदम बाद यह कुछ वर्ष तक दिल्ली से भी प्रकाशित होता रहा था और इसका सम्पादन श्री लेखराम किया करते थे। अगस्त-क्रांति के दिनों में जब मैं सन् १९४३ में लाहौर में गिरफ़्तार करके नजरबन्द किया गया था तब मैं भी 'दैनिक हिन्दी मिलाप' में सहकारी सम्पादक था। उन दिनों भी इसके सम्पादक श्री लेखराम ही थे, जो मेरे साथ फिरोजपुर जेल में नजरबन्द कर दिए गए थे। 'जागृति' पहले साप्ताहिक रूप में प्रकाशित होता था, परन्तु बाद में वह दैनिक हो गया था। जिन दिनों यह साप्ताहिक था तब मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव भी अपने देहान्त से पूर्व कई वर्ष तक इसका सम्पादन करते रहे थे। उनके बाद इसके सम्पादन का भार श्री जगदीशचन्द्र 'हिमकर' ने सँभाला था। इसी क्रम में पंजाब की सुप्रसिद्ध समाज-सेविका श्रीमती शन्नो देवी की दैनिक 'शक्ति' का उल्लेख भी अत्यन्त आवश्यक एवं अनिवार्य है। 'शक्ति' के माध्यम से शन्नोदेवीजी ने हिन्दी-प्रचार के कार्य के साथ-साथ वहाँ के हिन्दू समाज मे फैले हुए जात-पात के विष को ही सर्वथा निर्मूल नहीं किया, बल्कि वहाँ की जनता में समाज-सुधार की भावनाएँ भी मजबूत की। 'शक्ति' का सम्पादन श्री मोहनसिंह सेंगर किया

करते थे। पंजाब की जनता में हिन्दी के प्रति निष्ठा जगाने और उसमें विशुद्ध भारतीयता का सन्देश प्रचारित करने की पुनीत भावना से प्रेरित होकर श्री भीमसेन विद्यालंकार ने भी 'हिन्दी सन्देश' नामक मासिक पत्र निकाला था। उन्हीं दिनों उन्होंने शहीदे-धर्म महाशय राजपाल की पुण्य स्मृति में राजपाल एंड संस, लाहौर की ओर से प्रकाशित 'राजपाल' नामक मासिक पत्र का भी सम्पादन किया था। बाद मे इसका नाम बदलकर 'बलिदान' कर दिया गया था। इसका सम्पादन कुछ दिन तक श्री सत्यकाम विद्यालंकार ने भी किया था। पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय की शहादत के बाद श्री अमरनाथ विद्यालंकार के सम्पादन मे प्रकाशित 'पंजाब केसरी' भी अपने समय का उल्लेखनीय साप्ताहिक था। इसी क्रम में महाशय कृष्ण के सुपुत्र श्री वीरेन्द्र के 'वीर प्रताप' तथा के० नरेन्द्र के 'वीर अर्जुन' का नाम भी लिया जा सकता है। सुप्रसिद्ध हिन्दू-नेता भाई परमानन्द द्वारा संचालित और जालन्धर से श्री धर्मवीर एम० ए० के सम्पादन में प्रकाशित 'आकाश-वाणी' का नाम भी स्मरणीय है। नई दिल्ली से सन् १९३८-३९ में भाई परमानन्द ने 'हिन्दू' (साप्ताहिक) भी प्रकाशित किया था। इसके सम्पादक श्री हरिश्चन्द्र विद्यालंकार थे। इसके उपरान्त पंजाब के सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता लाला जगत नारायण और उनके सुपुत्र श्री रमेशचन्द्र ने जालन्धर के 'पंजाब केसरी' तथा 'हिन्द समाचार' दैनिक अत्यन्त सफलतापूर्वक प्रकाशित किये। यह अत्यन्त सन्ताप का विषय है कि पंजाब मे साम्प्रदायिक सौमनस्य स्थापित करने के सराहनीय प्रयास में पिता-पुत्र दोनों ही पंजाब के उग्रवादियों द्वारा शहीद हो गए।

यदि इस प्रसंग में बिहार की अमर विभूति और प्रख्यात हिन्दी-प्रेमी स्वामी भवानीदयाल सन्यासी द्वारा प्रकाशित पत्रों का उल्लेख न किया गया तो भारी भूल होगी। वे अकेले ही हिन्दी के ऐसे अनन्य सेवक थे जिन्होंने भारत से बाहर दक्षिण अफ्रीका के डरबन नगर से 'धर्मवीर' नामक एक साप्ताहिक पत्र सन् १९१७ मे प्रकाशित किया था और उसके द्वारा प्रवासी भारतीयों की सेवा करने के साथ-साथ वैदिक सिद्धांतों और आर्य भाषा हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया था। यह पत्र आर्य पथिक पं० लेखराम की पुण्य स्मृति में प्रकाशित किया गया था। उन्होंने केवल हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से 'हिन्दी' नामक एक मासिक पत्रिका भी वहाँ से प्रकाशित की थी। जब वे बिहार में थे तब उन्होंने बिहार प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्य-भार ही नहीं सँभाला, बल्कि उसकी ओर से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र 'आर्यावर्त' के सम्पादन में भी सहयोग दिया था। जिन दिनों वे लगभग ७-८ वर्ष भारत में रहे थे उन्होंने सबसे पहले बिहार प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से अपनी पितृभूमि सहसराम मे एक वैदिक पाठशाला भी खोली थी। कानपुर में हुई 'अखिल भारतीय कांग्रेस' की अध्यक्षा श्रीमती सरोजिनी नायडू को अपने अध्यक्षीय भाषण का श्रीगणेश हिन्दी में करने की प्रेरणा भी आपने ही दी थी। फलस्वरूप श्रीमती नायडू ने अपने भाषण का प्रारम्भ हिन्दी मे करके बाद में अंग्रेजी का भाषण पढा था। नेपाल से उन्होंने 'हिन्दी' का जो 'दीपावली अंक' प्रकाशित किया था उस विशेषांक के लिए अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कानपुर-अधिवेशन मे ५०० रुपये का पुरस्कार देकर आपकी हिन्दी-सेवाओं का सम्मान किया गया था। यह पत्रिका उन्होने अपनी स्वर्गीय सहधर्मिणी श्रीमती जगरानी देवी की प्रेरणा से प्रकाशित की थी। कदाचित् यह बात बहुत कम लोग जानते होंगे कि स्वामी भवानीदयाल का जन्म दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ था। बिहार तो उनके पूर्वजों की जन्मभूमि रहा था। 'हिन्दी' के प्रकाशन में उन्हें सर्वश्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मणनारायण गर्दे और मूलचन्द्र अग्रवाल से भी पर्याप्त सहयोग मिला था। सन् १९२५ में जब वे दक्षिण अफ्रका छोड़कर भारत मे आए थे तो यहाँ के स्वाधीनता-आन्दोलन में भी उन्होंने बढ़-चढ़कर भाग लिया था। जब वे डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के साथ हजारी बाग जेल में थे तो उन्होंने जेल में भी एक हस्तलिखित पत्रिका निकाली थी। उस पत्रिका के 'कृष्णांक', 'दिवाली अंक' और 'सत्याग्रह अंक' अपनी विशेष सामग्री के लिए आज भी याद किये जाते हैं। लगभग १२०० पृष्ठ की सामग्री के ये सभी विशेषांक बाद में 'बिहार विद्यापीठ' को दे दिए गए थे। सन् १९३१ में वे अखिल भारतीय हिन्दी सम्पादक सम्मेलन के अध्यक्ष बनाये गए थे और उसी वर्ष देवघर (बिहार) में हुए 'बिहार

प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के दशम अधिवेशन की अध्यक्षता भी उन्होंने की थी।

आर्यसमाज के अनेक विद्वानों, सुधारकों तथा साहित्यकारों ने जहाँ अपने अनेक मासिक और साप्ताहिक पत्रों के माध्यम से हिन्दी-पत्रकारिता को एक नवीनतम आलोक प्रदान किया वहाँ 'दैनिक पत्रकारिता' को आधुनिकतम रूप में प्रतिष्ठित और सुनियोजित करने में भी वे पीछे नही रहे। उन्होने जहाँ इसका साहित्यिक रूप निखारा वहाँ इसे एक 'राष्ट्रीय अभिव्यक्ति' भी प्रदान की। इस क्षेत्र में गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय के स्नातकों की सेवाएँ सर्वथा अभिनन्दनीय एवं स्तुत्य कही जा सकती हैं। स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने 'सद्धर्म प्रचारक' के द्वारा गुरुकुल के स्नातकों मे दैनिक की पत्रकारिता का जो रूप प्रतिष्ठित किया था उसी का प्रयोग उसके सुपुत्र प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपने 'सत्यवादी' और 'विजय' नामक दैनिक पत्रों में किया। 'विजय' दैनिक के सम्पादन में इन्द्रजी के बड़े भाई हरिश्चन्द्र वेदालंकार का भी बहुत बड़ा सहयोग था। कुछ दिन बाद सन् १९२३ मे इन्द्रजी के सम्पादकत्व में दिल्ली से दैनिक 'अर्जुन' का विधिवत् प्रकाशन हुआ। 'अर्जुन' ने अपने समय मे सामान्यत: आर्य जगत् और विशेषत: सारे देश की जो उल्लेखनीय सेवा की वह सब पर भलीभाँति प्रकट है। प्रो० इन्द्र ने अपने सम्पादन-काल मे इसके माध्यम से जहाँ देश मे राष्ट्रीय जागरण किया वहाँ देश को अनेक उच्चकोटि के पत्रकार भी प्रदान किये। आज हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र मे गुरुकुल काँगड़ी के जितने भी स्नातक कार्य कर रहे हैं उन सबका क्रियात्मक प्रशिक्षण प्रो० इन्द्र के ही निरीक्षण में 'अर्जुन' के द्वारा सम्पन्न हुआ था। प्रो० इन्द्र जहाँ उच्चकोटि के पत्रकार, लेखक और वक्ता थे, वहाँ वे वर्षों तक 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' के प्रधान भी रहे थे। उन्ही दिनो आपने तीन खण्डो मे 'आर्यसमाज का इतिहास' भी लिखा था। इस 'अर्जुन' का नाम ही बाद में बदलकर 'वीर अर्जुन' हो गया था। श्री लेखराम बी० ए० और इन्द्रजी के सुपुत्र श्री जयन्त वाचस्पति ने भी बहुत दिन तक 'वीर अर्जुन' साप्ताहिक का सम्पादन किया था। आर्थिक विषयों की एकमात्र हिन्दी पत्रिका 'सम्पदा' के यशस्वी सम्पादक श्री कृष्णचन्द्र विद्यालंकार साप्ताहिक 'वीर अर्जुन' के आदिसम्पादक थे। अगस्त-क्रांति के अमर शहीद श्री रमेशचन्द्र आर्य ने भी 'वीर अर्जुन' में कार्य किया था। इस प्रसंग मे यह भी उल्लेखनीय है कि भारत-विभाजन के उपरान्त जब 'वीर अर्जुन' की आर्थिक स्थिति खराब हो गई तो इन्द्रजी ने उसे बन्द करके 'जनसत्ता' दैनिक का सम्पादन सँभाल लिया था। यही 'वीर अर्जुन' बाद मे कुछ वर्ष तक आर्यसमाज के पुराने नेता महाशय कृष्ण के उद्योग से दिल्ली से दैनिक रूप में प्रकाशित होता रहा था। आजकल यह सान्ध्य दैनिक के रूप मे निकल रहा है। महाशय कृष्ण ने लाहौर से भी एक बार सन् १९३६ मे 'प्रभात' नाम से एक दैनिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया था, किन्तु वह कुछ ही दिन मे बन्द हो गया था। इसका सम्पादन कानपुर के युवा पत्रकार श्री छैलबिहारी दीक्षित 'कंटक' ने किया था।

गुरुकुल काँगड़ी के पुराने स्नातकों में पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रो० इन्द्र के बाद श्री सत्यदेव विद्यालंकार का नाम विशेष रूप मे उल्लेखनीय है। आज हिन्दी मे जितने भी उल्लेखनीय दैनिक पत्र हैं उनमें से प्रायः अधिकांश की आधार-शिला रखने में उनका प्रमुख हाथ रहा था। उन्होंने जहाँ दैनिक 'हिन्दुस्तान' का प्रारम्भ किया वहाँ 'नवभारत टाइम्स' के आदिसम्पादक भी वे ही रहे थे। दैनिक 'अमर भारत' और 'विश्वमित्र' के नई दिल्ली-संस्करण भी उन्ही के सम्पादन में प्रकाशित हुए थे। उनके बाद श्री सत्यकाम विद्यालंकार का नाम आता है। श्री सत्यकामजी ने दिल्ली के 'नवयुग' नामक दैनिक का सम्पादन करने के साथ-साथ अनेक और भी पत्रों का सम्पादन किया था। ऐसे पत्रों मे ला० देशबन्धु गुप्ता के 'तेज' (उर्दू) की ओर से प्रकाशित होने वाला 'विजय' साप्ताहिक उल्लेखनीय है। साप्ताहिक 'धर्मयुग' के सम्पादक के रूप में उन्होंने जो प्रतिष्ठा अर्जित की थी उसका उदात्त परिष्कार उनके द्वारा सम्पादित 'नवनीत' में देखने को मिला था। गुरुकुल के एक और स्नातक श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार द्वारा सम्पादित 'आजकल' तथा 'विश्व दर्शन' नामक मासिक भी अपनी विशिष्टता के लिए विख्यात हैं। उन्होंने कुछ समय तक प्रख्यात कहानी-पत्रिका 'सारिका'

का सम्पादन भी किया था। यहाँ गुरुकुल कांगड़ी से सन् १६२१ में प्रकाशित और सर्वश्री विश्वनाथ विद्यालंकार, चन्द्रमणि विद्यालकार तथा देवराज सिद्धान्तालंकार द्वारा सम्पादित 'वैदिक सन्देश' का नाम भी स्मरणीय है। इसी प्रकार श्री विश्वनाथ विद्यालकार के सम्पादन में आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर की ओर से सन् १६३३ मे प्रकाशित 'वैदिक विज्ञान' (मासिक) का नाम अपनी विशिष्ट सामग्री के कारण अत्यन्त महत्त्व रखता है। श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति के सम्पादन मे नागपुर से प्रकाशित मासिक 'प्रतिभा' भी अपनी विशिष्ट सामग्री और साज-सज्जा के लिए स्मरणीय है। गुरुकुल कांगडी के एक और स्नातक श्री प्रताप विद्यालंकार ने मिर्जापुर से जो 'अभियान' नामक साहित्यिक मासिक पत्र निकाला था वह अपनी विशेषता के लिए आज भी याद किया जाता है।

इन पत्रों और पत्रकारो के अतिरिक्त गुरुकुल कांगडी के जिन स्नातको ने पत्रकारिता के माध्यम से जनता की सेवा की उनमे सर्वश्री अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार, रामगोपाल विद्यालंकार, दीनानाथ सिद्धान्तालंकार, हरिश्चन्द्र विद्यालकार, युधिष्ठिर विद्यालकार, यज्ञदत्त विद्यालंकार, आनन्दस्वरूप विद्यालंकार, वेदव्रत विद्यालंकार, शिवकुमार विद्यालकार, क्षितीशकुमार वेदालंकार, ब्रह्मदत्त विद्यालकार, यशपाल वेदालकार, सच्चिदानन्द विद्यालंकार, आनन्द विद्यालकार, सतीश दत्तात्रेय विद्यालकार और कृष्णचन्द्र मेहता विद्यालकार आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। 'दैनिक हिन्दुस्तान' से सेवा-निवृत्ति के उपरान्त श्री क्षितीश वेदालंकार आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के पत्र 'आर्य जगत्' का सम्पादन जिस निष्ठा और तत्परता से कर रहे हैं वह सर्वथा स्तुत्य कहा जा सकता है। श्री विद्यासागर विद्यालंकार भी दिल्ली से 'प्रकर' नामक साहित्यिक पत्र का प्रकाशन अत्यन्त सफलता से कर रहे है। झाँसी और कानपुर से प्रकाशित होने वाला दैनिक 'जागरण' भी आर्य-परिवार की ही देन है। इसके संचालक श्री पूर्णचन्द्र गुप्त आर्यसमाज के अच्छे कार्यकर्ता हैं। कुछ दिन तक जागरण प्रकाशन की ओर से 'कंचन प्रभा' नामक एक साहित्यिक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित हुई थी। इनके अतिरिक्त और भी ऐसे बहुत-से महानुभाव हैं, जिन्होने आर्यसमाजी क्षेत्र से अलग रहकर भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नयन एवं पत्रकारिता के उत्कर्ष में अपना उल्लेखनीय सहयोग दिया था। ऐसे महानुभावो में सर्वश्री मूलचन्द्र अग्रवाल और मातासेवक पाठक (विश्वमित्र), श्रीराम शर्मा (विशाल भारत), रामशंकर त्रिपाठी (लोकमान्य) तथा 'विद्यार्थी' एवं 'खिलौना' के सम्पादक रामजीलाल शर्मा (हिन्दी प्रेस, प्रयाग के सचालक) के नाम विशेष रूप से स्मरणीय हैं। इनमे से श्री रामजीलाल शर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मन्त्री रहे थे और प्रयाग जाने से पूर्व वे अजमेर के 'वैदिक मन्त्रालय' के व्यवस्थापक भी रहे थे। यहाँ सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड, दिल्ली द्वारा प्रकाशित और श्री ब्रह्मदत्त स्नातक द्वारा सम्पादित 'पुण्यभूमि' (साप्ताहिक) का उल्लेख अत्यावश्यक है। पिछले दिनो दिल्ली से अभिविनय भारथी के सम्पादन में 'वेदोद्धारिणी' नामक जो त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होनी प्रारम्भ हुई है वह भी शोध तथा अनुसन्धान की प्रचुर सामग्री से परिपूर्ण होती है। इस प्रसग मे गुरुकुल, इन्द्रप्रस्थ से प्रकाशित पाक्षिक 'मन्त्र-द्रष्टा' का नाम भी उल्लेखनीय है। इस पत्र का सम्पादन स्वामी शक्तिवेश करते है।

'धर्मयुग' के यशस्वी सम्पादक डॉ० धर्मवीर भारती आर्य माता की सुयोग्य सन्तान है। उनकी पत्रकारिता में जो प्रखरता, गम्भीरता और निर्भीकता है, उसे आर्यसमाज की ही देन माना जाना चाहिए। 'नवभारत टाइम्स' के भूतपूर्व सम्पादक तथा हिन्दी के मूर्धन्य पत्रकार श्री अक्षयकुमार जैन को उनके आर्यसमाजी पितामह से सदाचार और धार्मिक प्रगतिशीलता के संस्कार विरासत मे मिले हैं। इनके पितामह प्रख्यात आर्यकवि श्री नाथूराम शकर शर्मा के शिष्य थे। 'नवभारत टाइम्स' के युवा सहसम्पादक डॉ० वेदप्रताप वैदिक इन्दौर के कट्टर आर्यसमाजी परिवार की ही देन हैं। 'नवनीत' के वर्तमान सम्पादक श्री नारायणदत्त की प्रारम्भिक शिक्षा भी गुरुकुल कांगडी मे ही हुई है और उन पर आर्यसमाज की गहरी छाप है।

देश के अन्य भू-भागों की भाँति आर्यसमाज का विस्तार बिदेशों मे भी प्रचुर परिमाण मे हुआ है।

जहाँ-जहाँ भी आर्यसमाज के कार्यकर्ता गये, यह स्वाभाविक ही था कि उन्होंने वहाँ-वहाँ ही अपनी भाव-धारा तथा सिद्धान्तों के प्रचार तथा प्रसार के लिए पत्र-पत्रिकाओं का सहारा लिया। यदि यहाँ ऐसे पत्रों और पत्र-कारों का उल्लेख न किया गया तो यह विवरण अधूरा ही रह जायगा। उत्तर प्रदेश के कालाकाँकर राज्य के राजा रामपालसिंह ने सर्वप्रथम लन्दन से सन् १८८३ में 'हिन्दोस्थान' नामक त्रैमासिक पत्र का प्रकाशन हिन्दी में किया था, जो वहाँ से लगभग दो वर्ष तक बड़ी सफलतापूर्वक प्रकाशित हुआ था। आरम्भ में यह पत्र हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी में निकला था, किन्तु बाद मे यह केवल हिन्दी में ही प्रकाशित होने लगा था। स्वदेश लौटने पर इसे उन्होंने दैनिक रूप मे प्रकाशित किया था जिसका उल्लेख यथास्थान हो चुका है। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह में महात्मा गांधी जी के अनन्य सहयोगी स्वामी भवानीदयाल संन्यासी की पत्रकारिता के क्षेत्र में की गई सेवाओं का उल्लेख भी हम पहले कर चुके हैं।

इसी प्रकार सुरिनाम से 'प्रकाश' साप्ताहिक का प्रकाशन हुआ और त्रिनिदाद से 'ज्योति' नामक मासिक पत्र निकला। फीजी के उत्साही आर्यों ने भी इस दिशा मे उल्लेखनीय कार्य किया और 'वैदिक संदेश' नामक एक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया। बाद मे 'फीजी समाचार', 'जय फीजी', 'फीजी सन्देश', और 'जागृति' नामक पत्रों का प्रकाशन भी वहाँ के आर्यजनों के उत्साह से हुआ। मारीशस में वहाँ की आर्य सभा का पत्र 'आर्योदय' अब भी यथाविधि प्रकाशित हो रहा है। सन् १९०८ मे वहाँ से डॉ० मणिलाल ने 'हिन्दुस्तानी' नामक पत्र प्रकाशित किया था, जो काफी दिन तक आर्यसमाज के विचारो के प्रसार का माध्यम रहा। मारीशस की हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास मे पं० रामअवध और किष्टो पं० काशीनाथ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पं० काशीनाथ ने वहाँ से 'आर्य पत्रिका' तथा 'आर्यवीर' का सम्पादन किया था और पं० रामअवध ने 'मारीशस मित्र' नामक पत्र का प्रकाशन किया था। इस सन्दर्भ मे श्री ब्रजनाथ 'माधव' वाजपेयी का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है, जो मूलतः भारतवंशी मारीशियन थे और अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे पटना आ गए थे और यहाँ 'हिन्दुस्तान समाचार' और 'आर्यावर्त' में कार्य करते थे। मारीशस की पत्रकारिता के क्षेत्र में उनकी देन अनन्य हैं।

उक्त देशों के अतिरिक्त ब्रिटिश गयाना, डच गयाना, पूर्वी अफ्रीका, केनिया, युगाण्डा, जंजीबार, टंगेनिका, बर्मा, पोर्तुगीज, पूर्वी अफ्रीका, स्याम (थाईलैण्ड), मलाया, सुमात्रा, जावा, ईरान और लन्दन आदि अनेक देशों में आर्यसमाज का क्रान्तिकारी आन्दोलन अनेक दशकों से पहुँच चुका है और इसके अनेक कार्य-कर्त्ताओं तथा नेताओं ने समय-समय पर वहाँ जाकर अपनी भाव-धारा का प्रसार किया है। इस प्रसंग में बर्मा से श्री रामलाल के सम्पादन में प्रकाशित होने वाली 'आर्य युवक जागृति' पत्रिका का नाम विशेष उल्लेख-योग्य है। प्रायः इन सभी देशों मे आर्यसमाज के माध्यम से अनेक शिक्षा-संस्थाएँ और प्रचार का हिन्दी को प्रतिष्ठित करने मे संलग्न हैं। यहाँ तक कि सीलोन मे भी आर्यसमाज के क्रान्तिकारी आन्दोलन का उद्घोष पहुँच चुका है। अमरीका में तो प्रख्यात आर्य नेता डॉ० केशवदेव शास्त्री और स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने अपनी ओजस्वी वक्तृताओं और लेखों से वहाँ की जनता में वैदिक विचारधारा का जो प्रचार किया था वह इतिहास मे स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। उक्त दोनों ही महानुभाव हिन्दी के सुलेखक तथा पत्रकार थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द द्वारा संस्थापित आर्यसमाज ने हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में अनन्य और अभूतपूर्व योगदान दिया है। अन्त मे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्यसमाज के माध्यम से हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता की जो सेवा हुई है, वह इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके उल्लेख के बिना साहित्य और पत्रकारिता का इतिहास ही अधूरा रह जाता है। वास्तव में आर्यसमाज ऐसा शानदार भट्टा है, जिसने पिछले सौ वर्षों म हिन्दी-पत्रकारिता के भवन को अगणित चट्टानें, ईंटें और स्वर्णिम कलश-कँगूरे प्रदान किये हैं।

भारतीय नवजागरण और स्वामी श्रद्धानन्द

विष्णु प्रभाकर

वयोवृद्ध साहित्य साधक एवं कालजयी रचनाकार

दो शब्द

रैम्जे मैकडानल्ड ने कहा था कि वर्तमान काल का कोई कलाकार यदि भगवान ईसा की मूर्ति बनाने के लिए कोई जीवित माडल लेना चाहे तो मैं इस भव्य मूर्ति की ओर इशारा करूंगा। यदि कोई मध्यकालीन चित्रकार सेंट पीटर के चित्र के लिए नमूना मांगे, तो मैं उसे इस जीवित मूर्ति के दर्शन करने की प्रेरणा करूंगा। अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के पुनीत व्यक्तित्व और सार्वभौम जीवनदर्शन के प्रति इससे अच्छी श्रद्धांजलि क्या हो सकेगी ? .

स्वामीजी महाराज पंजाब के परम्परागत धार्मिक आस्था सम्पन्न परिवार में जन्मे, विलासिता और धन-सम्पन्न वातावरण में पले तथा पाश्चात्य संस्कृति और अफसरी के परिवेश में बड़े हुए। उनकी शिक्षा वाराणसी के सरकारी स्कूल तथा इलाहाबाद के म्योर सेन्ट्रल कालेज में हुई। काशी और प्रयाग में रहकर हिन्दू-धर्म के ह्रासोन्मुख रूप को उन्होंने निकट से देखा। यदि १८७९ में बरेली में, उन्हें महर्षि दयानन्द न मिलते तो उनका जीवन किस ओर जाता, इसका पता उनकी आत्मकथा 'कल्याण-मार्ग का पथिक' से लग जाता है। महर्षि दयानन्द के सम्पर्क ने उनका काया-कल्प ही कर दिया। पारस के परस से कुधातु भी कंचन हो गई। स्वामी श्रद्धानन्दजी ने लिखा है—"मैंने बड़े-बड़े वक्ताओं के व्याख्यान सुने हैं परन्तु जो ओज महर्षि की वाणी में था, वह अन्य कहीं नहीं पाया। उनके भाषणों से श्रोताओं को जो प्रकाश मिलता है वैसा प्रकाश किसी अन्य वक्ता की वाणी से नहीं मिला।" महर्षि दयानन्द के उपदेश की दिव्य ज्योति ने उनकी चेतना के दीप को प्रज्ज्वलित कर दिया। यही कारण है कि भगवान दयानन्द के मन्तव्यों, आदर्शों और आकांक्षाओं के व्याख्याकार के रूप में ही नहीं, अपितु उनके क्रियात्मक प्रयोगकर्ता के रूप में भी स्वामी श्रद्धानन्द के योग-दान को भारतीय इतिहास विस्मृत नहीं कर सकता।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम, शुद्धि आन्दोलन, जनजागरण, नारी मुक्ति आन्दोलन, दलितोद्धार, पाखण्ड खण्डन, हिन्दी-प्रचार, समाज-संगठन, पत्रकारिता तथा सत्साहित्य लेखन के क्षेत्र में उन्होंने जो कार्य किया, उसके आधार पर उन्हें आधुनिक पंजाब का निर्माता कहा जाता है पर भारतीय शिक्षा के जिस रूप की अवतारणा उन्होंने 'गुरुकुल' के रूप में की, उससे वह समग्र भारतीय अस्मिता के प्रतीक बन गए। प्राचीन ऋषियों की आश्रम प्रणाली का पुनरुद्धार कर भारतीय तथा भारतीयेतर विचारों के श्रेष्ठ अंश के ग्रहण तथा असार के त्याग द्वारा उन्होंने ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली को जन्म दिया जिसमें परम्परा और आधुनिकता का सुन्दर समन्वय था। वेद, संस्कृत, दर्शन, प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति, आर्यभाषा, आयुर्वेद, योग, शारीरिक शिक्षा एवं वेदांगों के साथ भौतिक विज्ञान, गणित, रसायन शास्त्र, प्राणि विज्ञान, मनोविज्ञान तथा कृषि विज्ञान जैसे आधुनिक विषयों के पठन-पाठन को उन्होंने गुरुकुलीय शिक्षा का अंग

बना दिया। श्री गोपाल कृष्ण गोखले की सदिच्छा से प्रेरित होकर स्वामीजी ने यह भी विचार किया था कि प्रत्येक नगर के पास और प्रत्येक पाँच ग्रामों के समूह के मध्य स्थान में वह एक-एक प्राथमिक हिन्दी माध्यम वाली पाठशालाएँ खुलवाएँगे जहाँ चार वर्ष की पाठावधि होगी तथा जहाँ हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत भाषा ज्ञान के साथ प्रत्येक बालक को वैदिक धर्म का ज्ञान भी कराया जाएगा। यही बालक फिर गुरुकुल में प्रविष्ट होंगे। समान शिक्षा, समान लालन-पालन, समान व्यवहार और समान रहन-सहन के आधार पर गुरुकुल में राजा और रंक के बच्चे एक साथ पढ़ेंगे। वे राष्ट्र के लिए समर्पित, सेवाभावी देशभक्त, उच्च आदर्श सम्पन्न तथा उत्तरदायी नागरिक पैदा करना चाहते थे। नवोदय विद्यालयों का पहला स्वप्न पराधीन भारत में स्वामी जी ने ही देखा था। गुरुकुल एक आन्दोलन था, ऐसा आन्दोलन जिसने महामना मालवीय तथा महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को असाधारण रूप से प्रभावित किया। देशबन्धु एण्ड्रयूज जिसकी गतिविधियों से आन्दोलित हुए। महात्मा गांधी ने जिसे पूर्णतः राष्ट्रीय संस्था स्वीकार किया। लाला लाजपतराय ने तो यहाँ तक कह दिया था—"स्वामी श्रद्धानन्द ने जिस वृक्ष को लगाया है, उसको पानी देना तुम्हारा काम है।" मैं काका कालेलकर की यह श्रद्धांजलि कभी भूलता नहीं हूँ—"सचमुच श्रद्धानन्द राष्ट्रमूर्ति थे। ऐसा समय जरूर आएगा कि जब उनके द्वेषी और विरोधी भी स्वीकार करेंगे कि यह भारतवर्ष का आधुनिक संन्यासी मित्र की नजर से ही सभी की तरफ देखता था।"

मैं समझता हूँ, अब वह समय आ गया है, जब हमें स्वामीजी के प्रदेय का आधुनिक संदर्भों में मूल्यांकन करना है। इस कार्य के लिए तथा नई पीढ़ी के उद्‌बोधन और मार्गदर्शन के लिए हम स्वामीजी की स्मृति मे एक राष्ट्रीय स्तर की व्याख्यानमाला का आयोजन करने जा रहे हैं। इसमें साहित्य, संस्कृति, दर्शन, विज्ञान तथा समाजसेवा पर विश्रुत विद्वानों के व्याख्यानों का सिलसिला शुरू होगा। प्रसन्नता का विषय है कि इस योजना के अन्तर्गत हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार तथा गांधीवादी विचारक श्री विष्णु प्रभाकर व्याख्यान के लिए हमारे बीच उपस्थित हैं।

४ मार्च, १९८७

रामचन्द्र शर्मा
आई० ए० एस० (से० नि०)
कुलपति

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सम्मान्य कुलपति महोदय, प्राध्यापकवृन्द तथा अन्य साहित्य-प्रेमी स्नेही जनो!

सबसे पहले मैं विश्वविद्यालय के कुलपति सम्मान्य श्रीरामचन्द्र शर्मा तथा 'श्रद्धानन्द राष्ट्रीय प्रसार व्याख्यान माला' के संयोजक मित्रवर डाक्टर विष्णुदत्त 'राकेश' का हार्दिक आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे एक ऐसे राष्ट्रीय शिक्षण संस्थान में भाषण देने के लिए आमंत्रित किया जिसकी स्थापना स्वयं उस व्यक्ति ने की थी जो आज मेरे व्याख्यान का विषय है।

मैं आज क्या हूँ, मैं स्वयं नहीं जानता। जानने की विशेष चिन्ता भी नही है। जो हूँ, सो हूँ पर जो हूँ उसके निर्माण में किस-किसका योगदान रहा है इसका लेखा-जोखा लेता हूँ तो सबसे पहले और सबसे ऊपर 'आर्यसमाज' का नाम दृष्टिपथ में आता है। मैं आज आर्यसमाज में 'नहीं' हूँ, पर आर्यसमाज तो मेरे रक्त-मांस में इस तरह रच-बस गया है कि मुक्ति पाना चाहूँ तो भी न पा सकूँ।

मुझमे आज जो कुछ भी, जितना कुछ भी, शुभ और सुन्दर है वह मेरी अपनी कमाई नही है। वह तो मुझे आधुनिक भारत के दो युग-निर्माताओं की कृपा से सहज ही प्राप्त हो गया है। वे युग पुरुष हैं स्वामी

दयानन्द और महात्मा गांधी। उन दोनों की पावन छाया मेरी सदा रक्षा करती रही है और करती भी रहेगी।

स्वामी दयानन्द के बाद आर्यसमाज के जिस दूसरे व्यक्ति ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया वह स्वामी श्रद्धानन्द ही आज मेरे व्याख्यान का विषय हैं। जिन व्यक्तियों ने अनायास ही मुझे उनकी चरित्र रूपी गंगा में डुबकियाँ लगाने का अवसर प्रदान किया उनके प्रति आभार प्रकट करना मात्र शिष्टाचार होगा। मन की भावना को प्रकट करने वाली भाषा का तो अभी आविष्कार ही नहीं हुआ है।

इस भाषण में जो विचार प्रकट हुए हैं वे नितान्त मेरे हैं। प्रार्थना है कि उनके पीछे कोई गूढार्थ खोजने की चेष्टा आप न करें। हर व्यक्ति को देखने का एक ही कोण नहीं होता। अनेक होते हैं। उन अनेको में मेरा भी 'एक' है, न इससे अधिक, न इससे कम।

तो इस क्षमा याचना के साथ अनुमति चाहता हूँ अपना भाषण शुरू करने की—

'विशाल शरीर मे विशाल आत्मा' स्वामी श्रद्धानन्द इस सत्य के मूर्तिमान स्वरूप थे। महात्मा गांधी के शब्दों में, "वे अपने विश्वास का पालन करते थे। उन विश्वासों के लिए उन्हें कष्ट झेलने पड़े। भय के सामने उन्होंने कभी सिर नहीं झुकाया। उनसे बढ़कर बहादुर आदमी मैंने संसार में दूसरा नहीं देखा। मरने का उन्हें डर नहीं था क्योंकि वे सच्चे आस्तिक और ईश्वर भक्त थे। मैं साक्षी हूँ कि देश के लिए अपना शरीर भेंट कर देने की उन्होंने प्रतिज्ञा की थी। वे अनाथ बन्धु थे। अछूतों के लिए जितना उन्होंने किया उससे अधिक हिन्दुस्तान मे किसी दूसरे व्यक्ति ने नहीं किया…"

उनके मृत्यु का वरण कर लेने के बाद गांधी जी ने लिखा था, "मृत्यु किसी समय भी सुखदायक होती है। उस वीर के लिए दुगुनी सुखदायक होती है जो अपने ध्येय और सत्य के लिए प्राणों का विसर्जन करता है। इसलिए मैं उनकी मृत्यु पर शोक नहीं मना सकता। उनसे और उनके अनुयायियों से मुझे एक प्रकार से ईर्ष्या होती है क्योंकि यद्यपि श्रद्धानन्द जी मर गए हैं तथापि वे जीवित हैं। वे उससे भी अधिक सच्चे अर्थ मे जीवित हैं जब वे अपनी विशाल देह के साथ हमारे बीच मे विचरण करते थे। जिस कुल मे उनका जन्म हुआ और जिस देश के साथ उनका सम्बन्ध था वे उनकी इस प्रकार की शानदार मृत्यु पर बधाई के पात्र हैं। वे वीर के समान जिए और वीर के समान मरे…"

गांधी जी मे मनुष्य को पहचानने की अद्भुत क्षमता थी। अनेक मतभेदो के बावजूद उनका यह मूल्यांकन इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने स्वामीजी को मात्र साहसी और वीर पुरुष ही नहीं कहा है बल्कि भय को जीतने वाला कहा है और जो भय को जीत लेता है वह घृणा को भी जीत लेता है। वह सच-मुच पुरुषों में पुरुष और नरों में नर होता है अर्थात् वह नारायण का सखा नर होता है।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू अनेक नेताओं के कटु आलोचक रहे हैं। वे अपनी भावनाओं को छिपाना नहीं जानते थे। अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी' मे स्वामी श्रद्धानन्द का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने उनका जो शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है वह किसी भी शब्दशिल्पी के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकता है। वह लिखते हैं—"विशुद्ध शारीरिक साहस का अथवा किसी भी शुभकार्य के लिए शारीरिक कष्ट सहन करने एवं उस कार्य के लिए मृत्यु तक की परवाह न करने वाले गुणो का मैं सदा प्रशंसक रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि हम सभी व्यक्ति ऐसे अद्भुत साहस करते ही हैं। स्वामी श्रद्धानन्द मे इस प्रकार का निर्भीकता-पूर्ण साहस आश्चर्यजनक मात्रा में विद्यमान था। वृद्धावस्था में भी उनकी उन्नत सीधी आकृति, संन्यासी के वेश में भव्य मूर्ति, दीर्घकाया, शाहाना सूरत, अन्तर्भेदी दीप्त नयन और कभी-कभी दूसरों की कमजोरियो पर चेहरे पर उभर आने वाली झुँझलाहट या गुस्से की छाया का गुजरना—मैं इस जीवन्त मूर्ति को कैसे भूल सकता हूँ। प्रायः यह तसवीर मेरी आँखों के सामने आ खड़ी होती है।"

इस शब्द-चित्र में नेहरू जी ने भी जिस एक गुण को विशेष रूप से रेखांकित किया है वह निर्भीकता

ही है। और कवि तो क्रान्तद्रष्टा होता है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर स्वामी जी के अन्तर में झाँकते हुए न केवल उनकी निर्भीकता को वरण करते हैं बल्कि सत्य के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा को भी पहचान लेते हैं, "श्रद्धानन्द जी की भारत को देन उनकी सत्य में अगाध श्रद्धा है। श्रद्धानन्द यह नाम ही उनकी उस भावना का परिचायक है। वे नित्य प्रति श्रद्धावान थे और उसी में आनन्द मनाते थे। उनके लिए सत्य और जीवन एक हो गए थे। सत्य ही जीवन था और जीवन ही सत्य था। उनकी मृत्यु उनके निर्भीक और अनथक प्रयत्नों के अमर चित्रों को आलोकित करती गई एक प्रकाश किरण की तरह हमारे सामने आती है।"

विश्व-कवि की तरह ही भारत-कोकिला सरोजिनी नायडू अपनी अप्रतिम काव्यमयी भाषा में अपने 'अनुराग के इस आराध्य देवता' की मूर्ति का रेखांकन इस प्रकार करती हैं, "मैं सदैव अनुभव करती हूँ कि स्वामी श्रद्धानन्द भारत के वीर काल की एक दिव्य विभूति थे। अपने भव्य और उन्नत व्यक्तित्व के द्वारा वे अपने साथियों मे देवता की तरह विचरण करते थे। वह एक बड़े शिक्षा केन्द्र गुरुकुल काँगड़ी के (संस्थापक) मुख्याधिष्ठाता भी रहे। यद्यपि उन्होंने कभी किसी बड़े विश्वविद्यालय मे शिक्षा प्राप्त नही की थी तो भी वे अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक जो शहादत से आलोकित हो उठा था, साहस और कर्मयोग की अनुपम मूर्ति रहे और भारतीय जीवन के धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र मे और राष्ट्र सुधार के कार्यों मे इन गुणों का सुन्दर और सटीक परिचय देते रहे। मानव समाज की सेवा के सम्बन्ध में उनके भावों का मैं बहुत आदर करती हूँ।"

देश में ही नहीं देश के बाहर भी 'कल्याणमार्ग के इस पथिक' की कर्त्तव्यनिष्ठा, मानव मात्र के प्रति प्रेम, सत्य के प्रति अगाध निष्ठा और आत्मत्याग और कष्ट सहन करने की अद्‌भुत क्षमता की तीव्र ज्योति जगमगा उठी थी। भारत भक्त प्रेममूर्ति सी० एफ० एंड्रयूज उनकी 'स्वच्छ और निर्मल मैत्री' पर सदा गर्व करते रहे। उनकी मृत्यु पर उन्होंने कहा था, "उनकी पुण्य-स्मृति का सम्मान करने का एकमात्र मार्ग यही है कि हम उन निर्धनों को जिन्हें वे अपने अन्तरतम से प्यार करते थे अपना प्रभु समझें।"

और ग्रेट ब्रिटेन के मजदूर दल के नेता तथा एक समय के प्रधानमंत्री रेम्जे मैकडानल्ड उनके रूप पर, जो अन्तर के आलोक से आलोकित था, मुग्ध होकर कह उठे थे—"वर्तमान काल का कोई कलाकार यदि ईसा की मूर्ति बनाने के लिए कोई जीवित माडल सामने रखना चाहे तो मैं इस भव्य मूर्ति की ओर संकेत करूँगा। यदि कोई मध्यकालीन चित्रकार सेंट पीटर के चित्र के लिए नमूना माँगेगा तो मैं उसे इस जीवित मूर्ति के दर्शन करने की प्रेरणा दूंगा।"

ऊपर हमने दो राष्ट्र पुरुषों, दो सर्जकों और दो भारत भक्त विदेशियों के द्वारा किया गया उनका बोलता मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। इस मूल्यांकन मे जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है वे मात्र शब्द नहीं हैं बल्कि 'अर्थ' का समन्वित रूप हैं। अर्थ पहले होता है, शब्द मात्र उसे आकार देते हैं। इसी कारण सम्भवत: शब्द को ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म ही स्रष्टा है और शब्द भी स्रष्टा है। लेकिन शब्द किसी नयी वस्तु का सृजन नही करता बल्कि जो अर्थ पहले से मौजूद है उसे ही रूपायित करता है। इसे यों कहना और भी सार्थक होगा कि स्वामी श्रद्धानन्द ने जो जीवन जिया था उसी को उपरोक्त महापुरुषों ने शब्दों में रूपायित किया है। अनादि-काल से कवि शब्दों के माध्यम से जीने की इसी कला को नाना रूपों में रेखांकित करता आया है या कहें पुन: सर्जित करता आया है।

लेकिन क्या यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि जो व्यक्ति जीवन को इतनी ऊँचाइयों पर प्रतिष्ठित कर सका, वह प्रारम्भ में वही सब कुछ करता था जो छोटे-मोटे विलासी जमींदार और रईस करते रहे हैं। तब उस व्यक्ति का नाम था मुंशीराम और मांस-मदिरा और नारी, कुछ भी नहीं छूटा था उससे। लेकिन पतन के उस मोहक मार्ग पर आगे बढ़ते हुए भी उसमें ऐसा कुछ था जो एक आवारा व्यक्ति को अन्तत: मसीहा बना देता है। अपराजेय कथा-शिल्पी शरत् ने पाप की कौन-सी गली में पैर नहीं रखा? कौन-सा

कुकर्म नहीं किया ? पर फिर भी वह गर्व से यह कह सके, "मेरा जीवन अन्ततः मानो एक उपन्यास ही है। इस उपन्यास में सब कुछ किया है पर छोटा काम कभी नहीं किया है। जब मरूँगा निर्मल खाता छोड़ जाऊँगा। उसके बीच स्याही का दाग कहीं भी नहीं होगा।"[१]

यह छोटा काम क्या है, इसकी व्याख्या इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी महत्त्वपूर्ण यह बात है कि इस प्रकार का दावा करने वालों में वह कौन-सी विशेषता होती है जो उन्हें 'कल्याण मार्ग का पथिक' बना देती है और भीतर की इन्सानियत को नष्ट नहीं होने देती।

ऐसे मनुष्यों के भीतर एक कुरेदना होती है, एक जिज्ञासा होती है कि जो है, उससे आगे कुछ और है। उससे इतर भी कुछ और है। उनकी चिन्तन की प्रक्रिया और तलाश निरन्तर प्रवहमान रहती है। 'नेति-नेति' न इति, न इति, इतना ही नहीं, इतना ही नहीं, और भी है। यहीं तक नहीं, यहीं तक नहीं—और आगे भी है। यहीं नहीं है, कुछ और भी है।

वैज्ञानिक युग में सत्य से बढ़कर सत्य की तलाश का महत्त्व होता है। जो महाप्राण हैं वे अन्धी-गलियों में विचरण करते हुए भी तलाश का दिया जलाए रहते हैं। यह दिया ही उन्हें अपने सही मार्ग को खोज लेने में मदद करता है। आवारा या पथभ्रष्ट व्यक्ति नितान्त गुणहीन नहीं होता, केवल दिशाहीन होता है। ऊर्जा उसमें होती है बल्कि कुछ अधिक ही होती है और जब इस ऊर्जा को दिशा मिल जाती है तो वह मसीहा ही बनता है।

स्वामी श्रद्धानन्द आर्यसमाज के प्रथम पंक्ति के नेताओं में अन्यतम थे। पर यह योग्यता उन्हें विरासत में नहीं मिली थी। इस विश्वास को उन्होंने स्वयं अर्जित किया था। जो विरासत में मिलता है उसका सही-सही मूल्य हम नहीं आँक सकते, पर जो हम स्वयं अर्जित करते हैं वह हमारा वास्तविक मूलधन होता है। उस मूलधन को प्राप्त करने की योग्यता भी होनी चाहिए। उसी योग्यता का नाम है तलाश। इसी तलाश ने कहाँ-कहाँ नहीं भटकाया मुंशीराम को। विरासत में उन्हें विलासिता के साथ-साथ धर्म में अटूट आस्था भी मिली थी। जिन दिनों वह अपने पिताजी के साथ बनारस में रह रहे थे, उन दिनों सारी विलासिता के बावजूद वह नित्यप्रति विश्वनाथ के दर्शन करने जाया करते थे। एक दिन क्या हुआ कि एक पुलिस कांस्टेबिल ने उन्हें अन्दर जाने से रोक दिया, कहा—"अभी रीवा की महारानी दर्शन कर रही हैं। उनके बाद आप जा सकेंगे।"

उस क्षण मुंशीराम के मन में यह प्रश्न उभरा, "विश्वनाथ तो विश्व के स्वामी हैं। उनकी दृष्टि में सभी समान हैं फिर उन्हीं के दरबार में रीवां की महारानी के साथ यह पक्षपात क्यों ?" यही प्रश्न आगे चल-कर उत्कट तलाश में परिणत हो गया। तलाश की इस प्रक्रिया में वह ईसाई धर्म की ओर आकर्षित हुए। और वह आकर्षण इस सीमा तक बढ़ा कि वह बपतिस्मा लेने को तैयार हो गए। इसी इरादे से एक दिन वह ईसाई धर्माध्यक्ष के पास पहुँचे। लेकिन वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि वे तो एक नन के प्रणयपाश में आबद्ध हैं। मन पर फिर आघात हुआ। सोचने लगे कि अगर धर्माध्यक्ष भी वही कुछ करते हैं जो करने पर हम विलासी कहलाते हैं तो, हममें और उनमें अन्तर क्या है ?

प्रश्नाकुलता की इसी स्थिति में उन्होंने मन्दिरों में व्यभिचार के अड्डों को पनपते देखा। उन्होंने देखा कि जब कोई नारी माँ नहीं बन सकती तो, कोई दूसरी नारी उसे सन्तान प्राप्त कराने के लिए इन तथाकथित धर्माध्यक्षों के पास ले जाती हैं और वे धर्मपिशाच समाज में धर्मप्राण महापुरुषों के रूप में पूजे जाते हैं।

एक बार तीर्थाटन करते हुए वे मथुरा पहुँचे। मन्दिर में दर्शन के समय उन्होंने एक युवती की चीख

---

१. 'आवारा मसीहा', पृ० १११

सुनी। दृष्टि उठाकर उस ओर देखा तो पाया कि एक गुसाईं महाशय एक युवती का हाथ पकड़कर भीतर खींचने की चेष्टा कर रहे हैं। वे तुरन्त वहाँ पहुँचे। उन्हें देख कर गुसाईं महाशय बोले, "यह बालिका भीड़ में घबरा गयी है। मैं इसे शान्त करने की चेष्टा कर रहा हूँ।"

युवती ने तुरन्त प्रतिवाद किया, "यह झूठ बोलता है। मैं साधु समझ कर इसके पैर छू रही थी कि इसने मुझे दबोच लिया।"

मुशीराम जी ने उस युवती को उसके परिवार के पास पहुँचा दिया। पर उनका मन और भी उद्वेलित हो उठा। कैसा है यह धर्म? कैसे हैं यह धर्म के संरक्षक, संवाहक?...लेकिन अभी ऐसी घटनाओं का अन्त नहीं आया था। उस दिन उनकी पीड़ा का पार नहीं रहा जिस दिन उन्होंने देखा कि एक राजा साहब देवी के प्रतीक के रूप में एक निर्वसना युवती की उपासना कर रहे हैं।

ऐसी घटनाओं ने मुशीराम को नास्तिक बना दिया। लेकिन अचानक कुरेदना की इस अवधि में एक ऐसी घटना घटी जिसने उनके जीवन की धारा को बदल दिया। उनके पिता श्री नानकचन्द जी शहर कोतवाल के पद पर काम कर रहे थे। जिस समय वह बरेली में कार्यरत थे, उसी समय स्वामी दयानन्द सरस्वती अपनी प्रचार-यात्रा के दौरान वहाँ आए। वह धार्मिक भ्रष्टाचार पर तीव्र आक्रमण करते थे। उनके आक्रमण से तिलमिलाकर कुछ धर्मान्ध व्यक्ति उनकी सभाओं में विघ्न डालते थे। बरेली में ऐसा न हो, यह देखने का भार श्री नानकचन्द को सौंपा गया। नानकचन्द ने स्वामी दयानन्द का व्याख्यान सुना। वह सनातन धर्म के अनुयायी थे, फिर भी वह उनके व्याख्यान से बहुत प्रभावित हुए। घर लौटकर उन्होंने अपने नास्तिक बेटे से कहा, "एक दण्डी स्वामी इस शहर में पधारे हैं। वे योगी भी हैं और प्रखर विद्वान भी। उनका भाषण सुनकर तुम्हारे संशय जरूर दूर हो जाएँगे। कल मेरे साथ चलना।"

और अगले दिन मुंशीराम पिता के साथ स्वामी दयानन्द का व्याख्यान सुनने के लिए गये। वहाँ क्या हुआ उसका वर्णन स्वयं उन्होंने इस प्रकार किया है, "दूसरे दिन बेगम बाग की कोठी मे पिताजी के साथ पहुँचा। वहाँ व्याख्यान हो रहा था। उस दिव्य आदित्य मूर्ति को देखकर कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई। और जब पादरी स्कॉट और दो-तीन अन्य योरोपियनों को उत्सुकता से बैठे देखा तो श्रद्धा और भी बढ़ी। अभी दस मिनट भी वक्तृता नहीं सुनी थी कि मन में विचार किया यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्ति-युक्त बातें करता है। व्याख्यान परमात्मा के निज नाम 'ओ३म्' पर था। वह पहले दिन का आत्मिक आह्लाद मैं कभी भूल नहीं सकता। एक नास्तिक को आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था।"

मुशीराम के जीवन मे यह एक ऐसा मोड़ था, जिसके उस ओर प्रकाश-ही-प्रकाश बिखरा पड़ा था। इसलिए शीघ्र ही वह स्थिति आ गयी कि प्रतिदिन स्वामीजी के साथ होने वाले प्रश्नोत्तर सुनने के लिए वह उनके प्रत्येक व्याख्यान में उपस्थित रहने लगे। वे अपनी शंकाओं का निवारण भी करवाते थे। उन्ही के शब्दों मे, "यद्यपि आचार्य दयानन्द के उपदेशों ने मुझे मोहित कर लिया था तथापि मैं मन में सोचा करता था कि यदि ईश्वर और वेद के ढकोसले को पंडित दयानन्द स्वामी तिलांजलि दे दें तो फिर कोई भी विद्वान उनकी अपूर्व युक्ति और तर्कना शक्ति का सामना करने वाला न रहे। मुझे अपने नास्तिकपन का उन दिनों अभिमान था, इतना कि एक दिन ईश्वर के अस्तित्व पर आक्षेप कर डाले पर पाँच मिनट के प्रश्नोत्तर मे ऐसा घिर गया कि जिह्वा पर मुहर लग गयी। मैंने कहा, "महाराज! आपकी तर्कना शक्ति बड़ी तीक्ष्ण है। आपने मुझे चुप तो कर दिया परन्तु यह विश्वास नही दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती (अस्तित्व) है।"

दूसरी बार फिर तैयारी करके गया परन्तु परिणाम पूर्ववत् ही निकला। तीसरी बार फिर पूरी तैयारी करके गया परन्तु मेरे तर्कों को फिर पछाड़ मिली। मैंने फिर अन्तिम उत्तर यही दिया, "महाराज, आपकी तर्कना शक्ति बड़ी प्रबल है। आपने मुझे चुप तो करा दिया परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि

परमेश्वर की कोई हस्ती है।"

महाराज पहले हँसे, फिर गम्भीर स्वर मे कहा, "देखो। तुमने प्रश्न किये, मैंने उत्तर दिये—यह युक्ति की बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर करा दूंगा। तुम्हारा परमेश्वर पर विश्वास उस समय होगा जब वह प्रभु स्वयं तुम्हे विश्वासी बना देंगे।"

कैसा सहज, विनम्र और तर्कसगत उत्तर दिया स्वामीजी ने। उसे प्रभु की ज्योति कहें या अन्तर की ज्योति कहें या स्वत स्फूर्त ज्योति कहें; जब वह भासमान होती है तभी मनुष्य का अन्तर और बाह्य आलोकित होता है।

मुशीराम बहुत भटके लेकिन अब जैसे उन्हे दिशा मिल गयी थी। आवारा को मसीहा बना देने वाली दिशा। उसकी दिशा के कारण विलासी और नास्तिक मुशीराम ने महात्मा मुंशीराम और फिर हुतात्मा श्रद्धानन्द का विरुद पाकर वह ख्याति अर्जित की जिसका वर्णन पीछे हो चुका है। वर्षों बाद सन् १९२५ मे महर्षि दयानन्द के प्रति आभार प्रकट करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा—"ऋषिवर, तुम्हे भौतिक शरीर त्यागे ४१ वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय पटल पर ज्यों की त्यो अंकित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओ की काया पलट दी है, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है···परन्तु अपने विषय मे मैं कह सकता हूँ कि तुम्हारे सहवास ने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा जीवन-लाभ करने के योग्य बनाया।"

स्वामी दयानन्द के ग्रन्थो के स्वाध्याय से कैसे धीरे-धीरे उनका मन सत्य के आलोक से आलोकित होता गया यह लम्बी कहानी है पर इस कुरेदना के बीज तो बचपन से स्वय उनके अन्तर मे मौजूद थे। एक दिन वह स्कूल नही गये। पिताजी ने पूछा, तो कह दिया, "आज छुट्टी है।" लेकिन बाद मे उन्हें पता लगा कि बालक मुशीराम ने झूठ बोला है। स्कूल मे छुट्टी नही थी। पिताजी को आत्मिक ग्लानि का पार नही था। पुत्र ने पिताजी की वेदना को रूप लेते देखा तो अन्तर मे सघर्ष मच उठा। अन्त मे उन्होने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और फिर कभी झूठ न बोलने की प्रतिज्ञा की।

इसी तरह जब शराब पीने के कारण बहुत कर्ज चढ गया तो उनकी पतिपरायणा पत्नी ने अपने हाथ के कडे बेच देने मे सकोच नही किया। कोई उपदेश नही, प्रतारणा का एक शब्द नही, मुशीराम का हृदय आत्म-ग्लानि से टीस उठा। उन्होंने अपने पतन की कहानी सुनाते हुए अपना हृदय खोलकर रख दिया और क्षमा कर देने की प्रार्थना की लेकिन उस देवी ने यही कहा, "आप मेरे स्वामी हैं, यह सब सुनाकर मुझे आप क्यो चढ़ाते है। मुझे तो यह शिक्षा मिली है कि मैं नित्य आपकी सेवा करूँ।"

उस रात दोनो पति-पत्नी बिना भोजन किए ही सो गये। उस दिन उनके मन पर जो प्रभाव पड़ा, उसकी गूँज उनके इन शब्दो मे सुनी जा सकती है, "पौराणिक युग मे जिस प्रकार आर्य महिलाओं ने सतीत्व का पालन किया, उसी के प्रताप से भारत भूमि रसातल को नही पहुँची और उसमे अब तक पुनरुत्थान की शक्ति विद्यमान है। यही मेरा निज का अनुभव है।"

बडे प्रयत्नों के बाद उनके पिता उनकी नियुक्ति नायब तहसीलदार के पद पर कराने में सफल हो गये थे। इसी अवधि मे एक बार सेना ने बरेली के पास पडाव डाला। उसे रसद पहुँचाने का दायित्व नायब तहसीलदार के नाते उन पर था। उन्होंने प्रबन्ध किया भी पर, गोरे तो सामान लेकर उसका मूल्य चुकाने में विश्वास नही करते थे। कुछ सैनिक एक अण्डे वाले के अण्डे बिना मूल्य दिये ही उठा ले गये। मुंशीराम जो को पता लगा तो वे कर्नल के पास पहुँचे पर वह तो उल्टा उन्ही को गुस्ताख कहने लगा। मुंशीराम तो फौलाद के बने हुए थे, अन्याय कैसे सह सकते थे—बोले, "मैं यह अपमान नही सह सकता। मैं अपने आदमियों को ले जा रहा हूँ। आप जो कर सकते हों कर ले।"

और वे देखते-देखते घोड़े पर सवार होकर आँखों से ओझल हो गये। शिकायत कमिश्नर के पास पहुँची। उसने आदेश दिया कि मुंशीराम कर्नल से माफी माँगे। क्षण-भर के लिए अन्तर में संघर्ष का तुमुलनाद उठा पर दूसरे ही क्षण वे कमरे से बाहर आये और नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

परेशान पिता ने उन्हें वकील बनाने का निश्चय किया। वकालत की परीक्षा तो वे अनेक कारणों से न पास कर सके पर मुख्तार अवश्य बन गये। तब पता लगा कि शीघ्र ही यह नियम बनने वाला है कि जो व्यक्ति बी० ए० पास न होगा वह वकालत की परीक्षा मे न बैठ सकेगा। इसलिए उन्होंने फिर वकालत की परीक्षा में बैठने का निश्चय किया। परिश्रम भी खूब किया पर एक परचे में दो अंक से रह गए। किसी ने सुझाया कि रजिस्ट्रार को रिश्वत दो, पास हो जाओगे पर वे नहीं माने। इस तरह वे वकील नहीं ही बन सके, मुख्तार ही रहे।

यह उनके भौतिक जीवन में होने वाले संघर्ष की एक झलक मात्र है लेकिन वे तो किसी और जीवन के लिए बने थे। स्वामी दयानन्द के प्रभाव मे आकर वे आर्यसमाज की ओर झुक रहे थे। निरन्तर स्वाध्याय करते थे। 'सत्यार्थप्रकाश' भी पढ़ा। जब उनके मन में उठने वाली सभी शंकाओं का समाधान हो गया तभी वे आर्यसमाज के सदस्य बने। अपने पहले ही भाषण में उन्होंने कहा था, "हमारे विचार और कर्म मे एकरूपता होनी चाहिए। जो वैदिक धर्म के सिद्धान्तों के अनुरूप अपना जीवन नही जी सकता, उसे उपदेश देने का अधिकार नहीं है। भाड़े के टट्टुओं से धर्म का प्रचार नही हो सकता। इस पवित्र काम के लिए निस्वार्थ और त्यागी पुरुषों की आवश्यकता है।"

उनका यह भाषण सुनकर आर्यसमाज के वयोवृद्ध नेता लाला साईंदास ने कहा था, "आर्य समाज में एक नयी स्पिरिट का प्रवेश हुआ है, देखें वह इसे तारती है या डुबोती है।" इतिहास साक्षी है, स्वामी श्रद्धानन्द जीवन-भर अपने उस पहले व्याख्यान को ही सार्थक करते रहे। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज को सही रूप देने में, पुष्पित और पल्लवित करने मे जिन व्यक्तियों का योगदान कसौटी पर कसा जाकर कंचन प्रमाणित हुआ है, उनमें स्वामी श्रद्धानन्द का नाम इतिहास के पन्नों पर स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ है।

एक बार आर्यसमाज का सदस्य बनकर फिर उन्होंने पीछे मुड़कर नही देखा। आगे और आगे ही बढ़ते गये। कैसा संघर्ष करना पड़ा उन्हें, आज तो इसकी कल्पना करना भी कठिन है। घर और बाहर विरोध ही विरोध था। घर का विरोध तो बहुत शीघ्र समाप्त हो गया। प्रारम्भ मे उन्हें कई बार अपने पिताजी से टकराना पड़ा। उस दिन वे लाहौर जा रहे थे। पिताजी ने आदेश दिया, "जाओ बेटा ! ठाकुर जी को माथा टेक आओ।"

बेटे के सामने प्रश्न था कि क्या वह पिताजी की आज्ञा मानकर अपने सिद्धान्त की उपेक्षा करे या सिद्धान्त पर दृढ़ रह पिताजी की अवहेलना करे। कई क्षण एक तुमुलनाद घुमड़ता रहा अन्तर में। अन्त में वे बोले, "पिताजी, सांसारिक व्यवहार में आप जो कहेंगे मैं वही करूँगा, पर जिन सिद्धान्तो को मैंने स्वीकार किया है उनके विरुद्ध कुछ न कर सकूँगा।"

पिताजी का क्रोध भड़क उठा, बोले, "क्या तुम ठाकुर जी को निरा पत्थर समझते हो।"

शान्त मन मुंशीराम ने उत्तर दिया, "पिताजी ! परम प्रभु के बाद आप ही मेरे लिए पूज्य हैं, पर क्या आप चाहेंगे कि आपकी सन्तान मक्कार हो।"

पिता हतप्रभ से बोले, "नही तो। मैं ऐसा कभी नही चाहूँगा।"

उन्होंने कहा, "जिन मूर्तियों में मेरा विश्वास नहीं, उनके आगे सिर झुकाना क्या मक्कारी नही होगी।"

उस स्पष्ट उत्तर ने पिताजी को और भी परेशान कर दिया। कह उठे, "आज मुझे विश्वास हो गया

कि मरने के बाद कोई मुझे पानी भी न देगा।"

फिर एक क्षण रुके, बोले, "अच्छा ! अब जाओ, देर हो जाएगी।"

लेकिन ये ही पिताजी एक दिन इतने बदल गये कि जब वे जालन्धर आये तो मुंशीराम साप्ताहिक सत्संग में गये हुए थे। उनके आने का समाचार पाकर तुरन्त सेवा में उपस्थित हुए। पिताजी ने पूछा, "क्या सत्संग समाप्त हो गया।" पुत्र ने उत्तर दिया, "केवल भजन आरती रह गयी थी। आपके आने का समाचार पाकर जल्दी चला आया।"

पिताजी ने बड़े प्रेम से कहा, "क्या जल्दी थी। समाज का अधिवेशन समाप्त करके ही आना चाहिए था।"

मुंशीराम चकित थे। हुआ यह कि आते समय वे 'सत्यार्थप्रकाश' और 'पंच महायज्ञविधि' पिताजी के कमरे में छोड आए थे। पिताजी ने उन्हें देखा। अपने एक मित्र से उन्हें पढ़वा कर सुना। इतने प्रभावित हुए कि बोले, "हम तो अविद्या में पडे रहे। निरर्थक क्रिया-कर्म करते रहे। हमारा मोक्ष कैसे होगा। अब हम वैदिक साधना करेंगे।"

पुत्र ने पिता की जीवनधारा बदल दी थी। यहां तक कि मृत्यु शैया पर भी उन्होने 'ईशोपनिषद्' और वैदिक हवन कराने की इच्छा प्रकट की थी। घर मे ही नही, समाज मे भी वे सारे विरोधो के बावजूद सफलता की सीढियाँ चढ़ते जा रहे थे। लाला साईंदास की अन्तर्वेधी दृष्टि ने जिस ऊर्जा को पहचान लिया था वह निर्जीव ऊर्जा नही थी। वह सजीव शक्ति थी जिसे दिशा की खोज नही करनी पडती बल्कि दिशा स्वयं चलकर उसके पास आती है। इसलिए मुंशीराम जहाँ भी गये नवजागरण का सन्देश लेकर गये। शब्दो के द्वारा नही बल्कि अर्थ अर्थात् कर्म के द्वारा। उस क्षण से वे सदा दूसरो के लिए ही जिए।

उन दिनों शास्त्रार्थ खूब होते थे और वे संस्कृत मे ही होते थे। और प्राय. वे व्यक्ति ही शास्त्रार्थ करते थे जो जन्म से ब्राह्मण होते थे। लेकिन मुंशीराम ने निश्चय किया कि वे स्वय शास्त्रार्थ करेंगे। उन्होने वेदों का अध्ययन किया। धर्मशास्त्र पढ़े और अपनी विवेक बुद्धि के द्वारा सत्य अर्थ को जान लिया।

अब उन्होने आर्यसमाज के सिद्धान्तो के प्रचार के साथ-साथ पडितो को चुनौती देनी आरम्भ कर दी। समाज मे खलबली मच गयी पर वे विचलित नही हुए। वे अपनी दृष्टि खुली रखते थे। जो शुभ और शुद्ध होता, उसे ग्रहण करने मे उन्होने कभी आनाकानी नही की। यही कारण था कि आर्यसमाज के तत्कालीन नेता पं० गुरुदत्त और आर्य मुसाफिर प० लेखराम से उन्हें बहुत सहयोग मिला। पं० गुरुदत्त तो उनके पथ-प्रदर्शक ही थे पर शीघ्र ही ये दोनो महानुभाव यह ससार छोड़कर चले गये। मुंशीराम जी की वेदना का पार न था पर वे नाना रूपों मे नाना प्रकार से आर्यसमाज का प्रचार करते रहे। सडक पर खड़े होकर भाषण दिया, घर-घर जाकर चंदा माँगा। वे रूढ़ियों पर प्रबल प्रहार करते थे। जन्म के स्थान पर उन्होने गुणकर्म के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया। वे अपने विश्वासो को जीने मे विश्वास करते थे। उन्होने अपने विचारों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए 'सद्धर्म प्रचारक' नामक पत्रिका भी उर्दू मे निकालनी शुरू की।

इन सब बातों के कारण उन्हें लोग उग्र क्रान्तिकारी कहने लगे थे। जालन्धर के आर्यसमाजी इसी कारण 'एक्स्ट्रीम रैडिकल पार्टी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। लेकिन जब किसी समाज की शक्ति बढ जाती है, पग-पग पर सफलता उसके चरण चूमने लगती है, वह नये प्रकाश, नई ज्योति से भासमान होने लगता है तब उसे बाहरी खतरों से उतना डर नही रहता जितना अन्दर के खतरों से। किसी भी समाज की प्रगति और अगति का कारण उसके अपने भीतर छिपा रहता है। आर्यसमाज के साथ भी यही हुआ।

उसकी चर्चा करने से पूर्व उनके पारिवारिक जीवन की एक झलक देख लेना भी आवश्यक है। वे तीव्र गतिसे आगे बढ़ रहे थे। काम करने की अद्भुत क्षमता थी उनमे। उन्हें जालन्धर आर्यसमाज का प्रधान चुना

गया और शीघ्र ही वह महात्मा मुंशीराम के नाम से विख्यात हो गये। इसी समय उनकी पत्नी का देहावसान हो गया। उनका अन्तिम संदेश था, "मेरे अपराध क्षमा करना। आपको तो मुझसे अधिक पढ़ी-लिखी और रूपवती सेविका मिल जाएगी पर इन बच्चों को न भूलना।"

मुंशीराम अपनी पत्नी को पहचानते थे, जानते थे कि दुर्दिनों में उसी ने उनकी रक्षा की थी। उन्होंने निश्चय किया, वे दूसरा विवाह नहीं करेंगे। पिता के साथ वे बच्चों की माँ भी बनेंगे। बाद में उनके बड़े भाई ने उन्हें बच्चों की चिन्ता से मुक्त कर दिया और इस प्रकार सब बन्धनों से मुक्त होकर उन्होंने अपने जीवन को पूर्ण रूप से समाज की सेवा में अर्पित कर दिया।

भारतीय नव जागरण में स्वामी श्रद्धानन्दजी की क्या भूमिका रही है, इसका आकलन करने से पूर्व उन्नीसवीं सदी के भारत पर एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा। यह सदी भारतीय मेधा की सबसे बड़ी पहचान है। वहाँ मात्र प्रश्न ही नहीं गूँजते बल्कि उन प्रश्नों को उठाने वाले कर्म की तूफानी लहरों से जूझते भी दिखाई देते हैं। तमस के विरुद्ध बेलाग लड़ाई लड़ने और आत्म-बलिदान करने की अद्‌भुत क्षमता दिखाई देती है उनमें।

भले ही अपने स्वरूप में सामन्ती रहा हो पर सन् १८५७ का स्वाधीनता-संग्राम न केवल नये भारत के निर्माण का प्रतीक है बल्कि उस जागृति का भी प्रतीक है, जो अपने ही भीतर पनप रही अन्धकार की शक्तियों से जूझने की राह दिखाती है। अंग्रेजों ने अमानुषिक अत्याचार द्वारा हमारे स्वाधीनता संग्राम को दबा जरूर दिया, परन्तु उसी के कारण जहाँ एक ओर 'एक देश' की प्राचीन कल्पना फिर से रूप लेती दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर यह अनुभूति भी तीव्र होती है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता से पहले हम अपने ही अन्दर पनप रहे नाना रूप अन्ध-विश्वासों, सामाजिक कुरीतियों और अविद्या के अधकार से मुक्ति पानी होगी। एक के बाद एक उभरने वाले सुधार आन्दोलन इसी अनुभूति का परिणाम हैं। ये आन्दोलन हमें अपने उज्ज्वल भूत और विकृत होते वर्तमान की समझ ही नहीं देते, बल्कि एक गरिमामय भविष्य बनाने की प्रेरणा भी देते है।

सन् १८५७ की क्रांति से पूर्व सन् १८२८ ई० मे नव जागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय ने जिस ब्रह्मसमाज की स्थापना की थी, वह पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित था। उसने सती-प्रथा, बाल-विवाह जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था आदि सामाजिक कुरीतियो का घोर विरोध किया और स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह आदि का प्रबल समर्थन किया। बम्बई में इसी समाज के आधार पर प्रार्थना समाज की नीव पड़ी। उसके नेताओ मे प्रमुख थे डॉ० भंडारकर और न्यायमूर्ति रानाडे। इसके अतिरिक्त शेष उत्तर भारत मे जिस आन्दोलन का व्यापक प्रभाव हुआ, वह आर्यसमाज के झण्डे के नीचे आरम्भ हुआ था। इस समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ मे की थी। स्वामीजी जन्म से गुजराती थे और राजा राममोहन राय के विपरीत प्राच्य सभ्यता के उपासक थे। वे संस्कृत के पंडित थे। उन्होंने वेदों के आधार पर बाल विवाह, अनमेल विवाह, अशिक्षा, छूतछात, मूर्ति-पूजा और जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रबल विरोध किया और विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, स्त्री शिक्षा, कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था तथा विदेश-यात्रा का पूर्ण समर्थन किया।

मुंशीराम ने खूब देख-परख कर अपने को इसी उभरती हुई शक्ति के प्रति समर्पित कर दिया था और यह समर्पण सम्पूर्ण था। लेकिन जैसा हमने कहा है कि निरन्तर विकसित होती हुई शक्तियो को बाहरी संकटों से उतना डर नहीं होता जितना आन्तरिक संकटों से। यह संकट पहले मतभेद के रूप मे उभरता है। मतभेद जब तक रचनात्मक रूप में रहते है, वे किसी भी समाज की शक्ति ही बनते हैं लेकिन जाने-अनजाने ऐसा भी होने लगता है कि उन मतभेदों के साथ व्यक्ति का अहम् जुड़ जाता है, तब वे ही मतभेद जो प्रगति

का मार्ग प्रशस्त कर सकते थे, घुन बनकर समाज को अन्दर ही अन्दर कमजोर करने लगते है।

दुर्भाग्य से आर्यसमाज के साथ भी कमोबेश ऐसा ही हुआ। वह शीघ्र ही दो दलो मे बँट गया। इतिहास साक्षी है कि दोनों दलो के अग्रणी नेताओं ने उन मतभेदो को रचनात्मक रूप देने की पूरी कोशिश की, इसलिए जहाँ एक ओर पंजाब केसरी लाला लाजपतराय के संरक्षण मे दयानन्द एग्लो वैदिक शिक्षा संस्थाओं का उदय हुआ वही दूसरी ओर स्वामी श्रद्धानन्द के प्रयत्नों से गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ने जन्म लिया। पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने, जिन्होने अपने पिता महात्मा मुंशीराम को बहुत पास से देखा था और मतभेद होने पर अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखने का साहस भी दिखाया था, उन्होने अपनी पुस्तक 'मेरे पिता' मे लिखा है, "पिताजी के जीवन मे क्रान्ति के बीज बहुत काल से बोये जा चुके थे। बरेली मे ऋषि दयानन्द के दर्शनों से क्रान्ति का जो बीज बोया गया, वह धीरे-धीरे अकुरित होकर पल्लवित हो रहा था। उस घटना चक्र ने, जिसकी अंतिम सामाजिक घटना, आर्य पथिक पं० लेखराम जी की मृत्यु के बाद आर्यसमाज का महात्मा और कालिज पार्टियो मे घरु संघर्ष का फिर फूट पड़ना था और अन्तिम पारिवारिक घटना डॉ० गुरुदत्तजी का विवाह था, पिताजी के जीवन को एकदम नई धारा मे डाल दिया। क्रांति का प्रवाह तीव्र हो गया जिसकी टक्कर से घर-गिरस्थी की रिवाजी दीवारें धकाधक गिरने लगी।'[1]

उन्होने परिजनो के तीव्र विरोध करने पर भी डॉ० गुरुदत्त का विवाह एक विधवा श्रीमती सुमित्रा देवी से कराया था। इन्द्रजी के शब्दो मे कहूँगा, "उस समय विधवा विवाह हिन्दुओं के लिए ही नही, आर्य-समाजियो के लिए भी एक नयी और साहसिक चीज थी। नयी और साहसिक चीज को कर डालना पिताजी का स्वभाव था।"[2]

इसी स्वभाव ने ही तो एक समय ऐश्वर्य और विलास मे डूबे रहने वाले लाला मुंशीराम को अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द बना दिया। लाला मुंशीराम से अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द बनने तक की यह रोमाच यात्रा मनुष्य के अजेय विश्वासों और संकल्पो की विजय यात्रा है। उन्होने एक दिन प्रतिज्ञा की कि जब तक गुरुकुल बनाने के लिए तीस हजार रुपये इकट्ठा न कर लूँगा तब तक घर मे पैर न रखूंगा। यद्यपि उस समय इतनी बडी राशि इकट्ठा करना, वह भी गुरुकुल के लिए, असम्भव जैसा था पर मुंशीरामजी ने ६ महीने के भीतर ही उस राशि की सीमा को पार कर लिया।

कालेज दल के मित्र देश मे प्रचलित शिक्षा-पद्धति के सहारे आगे बढना चाहते थे परन्तु महात्मा दल के मित्रो का विश्वास था कि हम प्राचीन वैदिक शिक्षा प्रणाली को अपनाकर स्वामी दयानन्द के सपनो के भारत का निर्माण कर सकते हैं। यह संघर्ष मांस खाने या न खाने के समर्थन या विरोध के संघर्ष से कही तीव्र और उग्र था और दूरगामी भी। इसके पक्ष-विपक्ष मे प्रचार करने से कितना लाभ, कितनी हानि हुई यह खतिया कर देखने की बात अभी रहने दें। अभी तो हम यही जानना चाहते हैं कि भारत के नवजागरण में स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्थापित गुरुकुल काँगडी का कितना योगदान रहा है या रहा भी है।

मुंशी अमनसिंह द्वारा दी गयी लगभग ७०० बीघे जमीन पर सन् १९०२ मे कैसे गुरुकुल की नीव पडी यह सभी जानते हैं पर प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति के शब्दों मे हम उसके प्रारम्भिक रूप की एक झलक अवश्य देना चाहते हैं। इन्द्रजी गुरुकुल मे प्रवेश पाने वाले पहले दल में थे। वे लोग प्रशिक्षण के रूप मे अभी गुजरांवाला मे पढ रहे थे। वहाँ से वे हरिद्वार आये। भयंकर जंगल पार करके उस भूमि तक पहुँचने मे उन्हें साढे नौ घण्टे लगे। वैसे यह फासला कुल चार मील का था। कल्पना की जा सकती है कि कैसा मार्ग रहा होगा वह। जब वे वहाँ पहुँचे तो रात घिर आई थी। आकाश मे चाँदनी के धवल प्रकाश मे जो सुन्दर दृश्य उन्होंने देखा

---

१. अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द : मेरे पिता—इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ० ४८-४९

२. वही, पृष्ठ ४७

था उसे वे कभी न भूल सके, "घने जंगल के बीचोबीच कोई दो बीघे का मैदान साफ किया गया था। उसमें एक ओर फूस के छप्परों की एक लम्बी पंक्ति थी जो छात्रों के रहने का आश्रय स्थान था। उसके साथ समकोण बनाती हुई दूसरी छप्परों की पंक्ति में भोजन भंडार था। उनके बीच के कोने में एक स्विस काटेज लगा हुआ था जो प्रधानजी का दफ्तर भी था और रहने का स्थान भी। उन छप्परों से कुछ दूर दो छप्पर डालकर गोशाला बनाई गयी थी। यह फूस के छप्परों का डेरा उस खिली चाँदनी में अद्‌भुत शोभा दिखा रहा था। हमें उस समय ऐसा अनुभव हुआ कि हम सचमुच स्वर्ग के किसी टुकड़े पर पहुँच गये हैं। यह गुरुकुल का प्रारम्भिक रूप था।"[1]

उस प्रारम्भिक जंगली रूप से वर्तमान शहरी रूप तक पहुँचने में कितना समय लगा, कैसे-कैसे कड़वे और मीठे अनुभव हुए, गुरुजनों और ब्रह्मचारियों की कैसी-कैसी क्रांतियाँ हुईं, यह अद्‌भुत कहानी कितनी रोमांचक हो सकती है, इसकी कल्पना करना भी आज असम्भव जैसा है। सत्य सदा कल्पना से अधिक चकित कर देने वाला होता है। क्या कोई इस बात पर विश्वास करेगा कि जब गुरुकुल मे कडवे तेल के स्थान पर मिट्टी के तेल के प्रयोग का प्रस्ताव आया तो उसके विरुद्ध तीव्र आन्दोलन शुरू हो गया था पर प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति के शब्दों में, "ब्रह्मचारियों मे प्रधान जी के प्रति बहुत श्रद्धा का भाव बना हुआ था। इसका परिणाम यह हुआ कि जब प्रधान जी की आज्ञा से मिस्तरी मग्घर सिंह कमरों में बडी लालटेन लटकाने के लिए आया तो कोई अप्रिय घटना नहीं हुई और चुपके से मिट्टी के तेल के रूप मे पाश्चात्य सभ्यता ने पूर्वी सभ्यता के दुर्ग में प्रवेश किया।"

इस तरह के परिवर्तन हर क्षेत्र में आते चले गये। कुछ परिवर्तन ऐसे हुए जिनको लेकर प्रारम्भिक साधकों में मतभेद हो गये और कुछ सहयोगियो ने गुरुकुल छोड दिया, कुछ ने उस पार जाकर महाविद्यालय, ज्वालापुर की स्थापना की। इन सबका विश्लेषण करना यहाँ अप्रासंगिक है पर सब मतभेदो के बावजूद गुरुकुल के प्रति आकर्षण बढ रहा था और वार्षिकोत्सव पर उपस्थिति सन् १६०२ मे तीन हजार से बढ कर सन् १६१२ में पिछत्तर हजार तक पहुँच गयी थी। नाना क्षेत्रों के अनेकों प्रसिद्ध व्यक्ति भी समय-समय पर गुरुकुल आते थे। कैसी कठिन परिस्थितियों में काम करना पडता था उन दिनों, इसका एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। उन दिनों गंगा पर बने नावों के कच्चे पुलों को पार करके ही गुरुकुल पहुँचा जा सकता था। किसी-किसी वर्ष तो ठीक उत्सव के दिनों मे अधिक वर्षा हो जाने के कारण गगा मे जल बढ़ जाता था और पुल टूट जाता था। तब प्रधान जी कंधे पर पीला दुपट्टा डालकर और लम्बी लाठी हाथ मे लेकर ब्रह्मचारियो मे आते थे और कहते थे कि चलो पुल बनायेंगे।

और सचमुच ब्रह्मचारी, उनके अधिष्ठाता और कारीगर सब मिलकर कुछ ही घण्टों में पुल तैयार कर देते थे। एक बार पुल बनने में कुछ देर हो गयी और दर्शक कनखल की ओर किनारे पर जमा होने लगे, तब इन्द्रजी के शब्दों में, "प्रधान जी ने उसी समय खाने का बहुत-सा सामान गुरुकुल से मँगवाकर तनेड़ों पर परली पार भेज दिया और कहला भेजा कि आप लोग वापिस न जाएँ। हम सब पुल पूरा होने पर ही खाना खायेंगे। इस पर जो यात्री तैरना जानते थे, गंगा में कूद पड़े और पुल बनाने में हमारी सहायता करने लगे। जहाँ तक याद है, दिन के दो बजे तक पुल पूरा हो गया और गुरुकुलवासी यात्रियों को साथ लेकर गुरुकुल की ओर रवाना हो गये।"[2]

यह एक झलक मात्र है उन प्रारम्भिक कठिनाइयों की जिनसे मुंशीराम को जूझना पड़ा था। जो नये पथ का निर्माण करते हैं उन्हें तपना ही पड़ता है। बिना तपे तो प्रभु भी वरदान नहीं देते पर यह तपना शरीर

---

१ अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द : मेरे पिता इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृष्ठ ५५

२. वही, पृष्ठ ६०

सुखाना नहीं है, पराई पीर में तपना है। शब्द को पकड़ना नहीं है, अर्थ को जीना है। लाला मुंशीराम से स्वामी श्रद्धानन्द तक पहुँचने की यह यात्रा पराई पीर में तपने और शब्द के अर्थ को रूपायित करने की ही यात्रा है।

स्वामी दयानन्द ने पहचान लिया था कि अन्दर के तमस और बाहर के झंझावातों से जूझने के लिए सबसे पहले शिक्षा की परम आवश्यकता है, इसीलिए प्रचार के साथ-साथ वैदिक पाठशालाएँ स्थापित करने का भी प्रयत्न किया था उन्होंने और उनके बाद उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने इस क्षेत्र में जो काम किया उसे सभी ने एक स्वर में अभूतपूर्व कहा है। एक समय तो सारे भारत में दयानन्द एंग्लो-वैदिक स्कूल-कालेजों, गुरुकुलों और कन्या महाविद्यालयों का जाल बिछ गया था।

उनकी सफलता-असफलता और औचित्य-अनौचित्य पर विचार करना यहाँ अप्रासंगिक है। इतना जान लेना पर्याप्त है कि अतीत संस्कृति का अपूर्व भंडार है। उसको नकार कर न तो वर्तमान का निर्माण किया जा सकता है, न भविष्य की कल्पना की जा सकती है। महात्मा मुंशीराम पुरातन शिक्षा-पद्धति को अपना कर पुरातन का मात्र अमूर्त गुणगान ही नहीं करना चाहते थे बल्कि जो नवीन है उसमें समोकर उसे ठोस व्यवहारिक भूमि पर परख देखना चाहते थे। वह कितने सफल हुए, हुए भी या नहीं, यह प्रश्न भी यहाँ कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि विजय मंजिल तक पहुँच जाने का नाम नहीं है। उसकी कसौटी तो उद्देश्य को पाने के लिए किये जाने वाला अनवरत संघर्ष है। महान वही व्यक्ति होता है जो विचार को कर्म में रूपांतरित करने का लक्ष्य सामने रखता है। महात्मा गांधी से किसी ने पूछा था—"आप महान क्यों हैं?"

महात्मा जी ने उत्तर दिया था कि वे महान नहीं हैं लेकिन अगर महान होने का अर्थ है कि उनके विचार उनके कर्म से दस कदम पीछे रहते हैं तो सम्भवतः वह महान हो सकते हैं।

महात्मा मुंशीराम को इसी अर्थ में महान कहा जा सकता है। भारत के सामाजिक और राजनीतिक नव-जागरण में अकेले गुरुकुल कांगड़ी का जो योगदान रहा है, उसका तटस्थ मूल्यांकन यदि किया जाए तो उसके परिणाम पर कोई भी देश गर्व कर सकता है।

हिन्दी ही देश की राष्ट्रभाषा है, इस तथ्य को पिछली शताब्दी में ही देश के सभी मनीषियों ने स्वीकार कर लिया था और इनमें प्रायः वे महानुभाव थे जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। स्वामी दयानन्द की मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। स्वामी श्रद्धानन्द की मातृभाषा भी हिन्दी नहीं थी पर उनके नेतृत्व में और उनकी प्रेरणा से हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए आर्यसमाज और गुरुकुल कांगड़ी ने जो कुछ किया, उसकी प्रशंसा सभी ने की है।

स्वामी जी के कारण ही सबसे पहले आर्यसमाज ने यह आवाज उठाई कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ होनी चाहिए। महात्मा मुंशीराम ने इस सम्बन्ध में गुरुकुल कांगड़ी के माध्यम से अनेक क्रियात्मक परीक्षण किए। यहाँ के स्नातकों ने वैज्ञानिक विषयों पर मौलिक ग्रंथ लिखे। पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया। यहीं पर सबसे पहले इस शताब्दी के प्रथम चरण में, हिन्दी के माध्यम द्वारा वैज्ञानिक विषयों की उच्च शिक्षा देना आरम्भ किया गया और हिन्दी में विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों के अभाव को भी दूर करने का सफल प्रयत्न किया। महात्मा मुंशीराम के अनुरोध पर जिन दो व्यक्तियों ने आज से ८० वर्ष पहले (१९०८ में) रसायन शास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, विद्युत शास्त्र, भौतिकी और रसायन विज्ञान जैसे विषयों की पाठ्य-पुस्तकें तैयार की, वे थे सर्वश्री महेशचरण सिन्हा (१८८२-१९४२) और गोवर्धन-शास्त्री (१८९१-१९२७)। बाद में तो गुरुकुल के स्नातकों सहित अनेक विद्वान इस क्षेत्र में आये। विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में अनुवादों द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने वाले विद्वानों में भी गुरुकुल के स्नातक प्रमुख रहे हैं। पर प्रारम्भ में यह काम करना निश्चय ही बहुत कठिन रहा होगा। आज भी अच्छी पाठ्यपुस्तकों का अभाव खटकता रहता है तो आज से अस्सी वर्ष पहले स्थिति क्या रही होगी, पर महात्मा मुंशीराम तो सच्चे अर्थों में कर्मयोगी थे।

उन्होंने यह प्रमाणित करके कि हिन्दी के माध्यम से किसी भी विषय में उच्च से उच्च शिक्षा दी जा सकती है, बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के अधिकारियों को चकित कर दिया। तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान श्री सेडलर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था, "मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।"

यही सब देखकर महात्मा गांधी ने महामना पंडित मदन मोहन मालवीय से कहा था, "गंगा के किनारे हरिद्वार के जंगलों में गुरुकुल खोलकर जब स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा दे सकते हैं तो वाराणसी की गंगा के किनारे बैठकर आप इन बच्चों को टेम्स का पानी क्यों पिला रहे हैं?"

हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं को विशेषकर जीवनी, आत्मकथा, यात्रा वृतान्त आदि को तो गुरुकुल के स्नातकों ने पुष्ट किया ही है, उन्होंने शिकार और वन भ्रमण की रोमांचक यात्रा कथाएँ भी प्रस्तुत की हैं। लेकिन राष्ट्र में नवचेतना जगाने की दृष्टि से दो क्षेत्रों में उनका योगदान बहुत ही सराहनीय रहा है, एक अनुसंधान के क्षेत्र में, दूसरा पत्रकारिता के क्षेत्र में। किसी भी जाति या धर्म की स्वास्थ्य रक्षा के लिए निरन्तर खोज करते रहना बहुत आवश्यक है। प्रारम्भिक वर्षों में गुरुकुल कांगड़ी में भारत के इतिहास को तथा वैदिक देवताओं और ऋषियों को लेकर काफी काम हुआ। अनेक उच्च कोटि के ग्रंथ प्रकाशित हुए। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति उनके निष्कर्षों तथा स्थापनाओं से सहमत हो, पर ऐसा कार्य चिन्तन को धार ही नहीं देता बल्कि कट्टर सिद्धान्तवादी होने से भी बचाता है। इसीलिए कभी-कभी तीव्र मतभेद भी उभरे पर जैसा हम कह आये हैं मतभेद के पीछे दुर्भावना न हो तो वह स्वास्थ्यकर ही होता है।

अनुसन्धान के क्षेत्र की तरह पत्रकारिता के क्षेत्र में भी गुरुकुल के स्नातकों ने अभूतपूर्व जागरूकता और विवेक बुद्धि का परिचय दिया है। प्रारम्भ में प्रचार कार्य के लिए, स्वयं स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से साप्ताहिक और मासिक पत्रिकाओं का जो सिलसिला आरम्भ हुआ था, वह अन्ततः व्यापक राष्ट्रीय चेतना में कैसे परिवर्तित हो गया, उसका विस्तृत विवेचन बन्धुवर क्षेमचन्द्र सुमन ने दो वर्ष पूर्व यहीं पर 'महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी व्याख्यान-माला' के अन्तर्गत दिये व्याख्यान में किया था। वह जिस निष्कर्ष पर पहुँचे उससे हम भी सहमत हैं कि "आर्यसमाज के माध्यम से हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता की जो सेवा हुई वह इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके उल्लेख के बिना साहित्य और पत्रकारिता का इतिहास अधूरा ही रह जाता है।"

हम इस बात से भी सहमत हैं कि यदि महात्मा मुंशीराम गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना न करते तो हिन्दी पत्रकारिता का जो रूप हम आज देख रहे हैं वैसा सम्भवतः नहीं ही होता। गुरुकुल के स्नातकों ने इस क्षेत्र में जो योगदान दिया, वह हर दृष्टि से प्रशंसनीय और अभिनन्दनीय है। महात्मा मुंशीराम ने 'सद्धर्म प्रचारक' नाम का एक साप्ताहिक पत्र उर्दू में निकाला था। इसका पहला अंक १६ फरवरी १८८४ को प्रकाशित हुआ था। कई वर्ष वह उर्दू में ही निकलता रहा पर एक दिन अचानक किसी ने उन पर व्यंग्य करते हुए कहा, "स्वामी दयानन्द के शिष्य बनते हो और पत्रिका उर्दू में निकालते हो।"

इस व्यंग्य से महात्मा मुंशीराम के अन्तर में जैसे तुमुलनाद मच उठा। और अन्ततः उन्होंने १ मार्च, १९०७ से सद्धर्म प्रचारक की भाषा हिन्दी कर दी। मित्रों ने बहुत समझाया कि पत्रिका पहले ही घाटे में चल रही है, अब हिन्दी में उसे कौन पढ़ेगा। पंजाब में तो हिन्दी केवल स्त्रियाँ ही पढ़ती हैं। उनका उत्तर था, "देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। स्वामी दयानन्द जब गुजराती होते हुए हिन्दी में ग्रन्थ लिख सकते हैं तो हम उनके अनुयायी थोड़ा-सा त्याग भी नहीं कर सकते। हमारे लिए तो हिन्दी का पढ़ना-पढ़ाना अनिवार्य है। और सचमुच इस निश्चय का सुखद परिणाम हुआ। केवल उस पत्र को पढ़ने के लिए ही बहुत-से लोगों ने हिन्दी सीखी।

---

१. दयानन्द और हिन्दी पत्रकारिता—८ फरवरी, १९८५

महात्मा मुंशीराम स्वयं ही आदर्श स्थापित करके नहीं रह गये बल्कि उन्होंने अपने दोनों पुत्रों सर्वश्री हरिश्चन्द्र वेदालंकार और इन्द्र विद्यावाचस्पति को भी इसी मार्ग का पथिक बना दिया। उन्होंने सन् १६१८ में 'श्रद्धा' नाम से एक और साप्ताहिक निकाला था। कुछ दिन तक 'सद्धर्म प्रचारक' दैनिक के रूप मे भी निकलता रहा। उन्हीं की प्रेरणा से प्रो० इन्द्र ने न केवल 'सद्धर्म प्रचारक' का सम्पादन किया, न केवल दिल्ली से दैनिक 'विजय' प्रकाशित किया, बल्कि कालांतर मे 'अर्जुन', 'नवराष्ट्र' और 'जनसत्ता' जैसे सशक्त साप्ताहिक और दैनिक पत्र निकाल कर हिन्दी पत्रकारिता की जो नींव डाली थी (सुमन जी के शब्दों मे), "उसी पर आज हिन्दी पत्रकारिता का यह भव्य भवन खड़ा है।" इन्द्र जी के सम्पादकीय अपने सन्तुलित और सारगर्भित चिन्तन के लिए बहुत लोकप्रिय हुए।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति उनकी ऐसी अनन्य सक्रिय भक्ति देखकर ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सन् १६१३ में उन्हें भागलपुर, बिहार में होने वाले अपने चौथे वार्षिक अधिवेशन का अध्यक्ष मनोनीत किया था। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने घोषणा की थी—"पर भाषा मे विचार उठने से जहाँ सभ्यता विदेशी होगी, वहाँ राष्ट्र भी भारतीय न रहेगा। भाषा ही तो जातियों के जीवन का साधन होती है। बिना एक राष्ट्र-भाषा के प्रचार के राष्ट्र संगठित होना वैसा ही दुष्कर है जैसे बिना जल के मीन का जीवन।"

उन्होंने उर्दू भाषी होते हुए भी अपनी आत्मकथा 'कल्याणमार्ग का पथिक' हिन्दी में लिखी।[1] इसमे उन्होने अपनी जीवन-गाथा का और उसमे आने वाले उतार-चढ़ावो का, बड़ी बेबाकी से चित्रण किया है। भारत मे उस समय वैसा साहस केवल महात्मा गांधी ही दिखा सके थे।

अठारह वर्ष गुरुकुल के आचार्य पद पर सुशोभित रह कर जहाँ एक ओर उन्होंने ब्रह्मचर्य प्रधान राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का पुनरुद्धार किया, छात्रों में राष्ट्रीयता और निर्भीकता के भाव जागृत किये और राष्ट्रभाषा को समृद्ध किया, वहाँ अनेक विदेशियो को भी आकर्षित किया। कुछ व्यक्ति यहाँ हिन्दी पढ़ने के लिए आते थे। कुछ यहाँ हो रहे प्रयोगों से आकर्षित होकर आते थे और यहाँ के वातावरण पर मुग्ध हो जाते थे। प्रो० इन्द्र ने अपने पिता की जीवनी मे ऐसे अनेक प्रसंगो का रोचक वर्णन किया है। उनके शब्दों में, "१६०६-१० के लगभग दिल्ली के सेण्ट स्टीफन्स कालेज से गुरुकुल के सम्बन्ध ऐसे हो गये थे जैसे दो बहनो के होते हैं। दीनबन्धु सी० एफ० एंड्रयूज और प्रिंसिपल रुद्र का पिताजी से स्नेह हो गया था। इसे अकारण स्नेह का नाम ही देना चाहिए, क्योंकि न तो उसमे किसी का कुछ स्वार्थ था और न ही धर्म अथवा संस्कृति की समानता थी। केवल प्रवृत्तियों की समानता के कारण ही यह स्नेह पैदा हुआ था।"[2]

लेकिन एक और वर्ग था जो वहाँ यह जानने के लिए आता था कि यहाँ विदेशी शासन को उखाड़ने का कौनसा षड्यन्त्र चल रहा है। गुप्तचर विभाग अजीब-अजीब खबरे सरकार को देता था। जैसे वहाँ ऐसे चित्र लटके हुए हैं जिनमें दिखाया गया है कि गोरो के आने से पहले भारत क्या था और उनके आने के बाद क्या हो गया। उसने लाला लाजपत राय, सर अजीत सिंह और भाई परमानन्द को आर्यसमाज के साथ जोड़ कर उसे बागी संस्था मान लिया। इस सम्बन्ध में १६१४ ई० मे मजदूर दल के एक नेता श्री रैम्जे मैकडा-नल्ड ने, जो बाद मे इग्लैण्ड के प्रधान मंत्री भी बने, लिखा था, "इस उन्नतिशील धार्मिक संस्था आर्यसमाज के सम्बन्ध मे जितने भी सन्देह किए जाते हैं, वे सब इस गुरुकुल पर लाद दिए गये हैं। पुलिस के अफसरो ने इसके सम्बन्ध में गुप्त रिपोर्ट दी है और अधिकांश एंग्लो इंडियन लोगों ने इसकी निन्दा की है। अध्यापको मे एक भी अंग्रेज नहीं है। अंग्रेजी साहित्य की पढ़ाई और उच्च शिक्षा के लिए पंजाब यूनीवर्सिटी द्वारा नियुक्त पुस्तकें यहाँ काम में नहीं लाई जाती। विद्यार्थियो को विद्यालय से उसकी अपनी उपाधियाँ दी जाती हैं।

---

१. ज्ञानमण्डल, काशी, १६२४

२. वही, पृष्ठ ६०

सचमुच यह सरकार की अवज्ञा है। घबराए हुए सरकारी अधिकारी के मुंह से उसके लिए पहली बात यही निकलेगी कि यह स्पष्ट राजद्रोह है। परन्तु गुरुकुल के विषय में यह अन्तिम राय नहीं हो सकती। मैकाले के बाद भारत में शिक्षा के क्षेत्र में यह पहला प्रशस्त प्रयत्न किया गया है। मैकाले के प्रयत्नों के परिणामों से प्रायः सभी भारतवासी असंतुष्ट हैं। किन्तु जहां तक मुझे मालूम है, गुरुकुल के संस्थापकों के सिवा किसी और ने इस असन्तोष को कार्यरूप में परिणत करते हुए शिक्षा के क्षेत्र में नया परीक्षण नहीं किया।"

दि न्यू स्टेट्समैन ने तो यहाँ तक लिख दिया था, "आध्यात्मिकता एवं नैतिकता से प्रायः शून्य, प्रतिभाहीन ब्रिटिश अधिकारी एकाएक घबरा जाते हैं। वे नहीं समझ सकते कि ये लोग क्या कर रहे हैं। इसलिए वे इसमें राजद्रोह का सन्देह करने के आदी हो गए हैं।"

सन्देह की यह नींव बहुत पहले पड़ चुकी थी। जालंधर में मुंशीराम जी सवेरे घूमने जाया करते थे। वहाँ के डिप्टी कमिश्नर कर्नल हार्कोर्ट भी जाते थे। दोनों में खूब बातें होती थीं। लेकिन जब कर्नल को पता लगा कि मुंशीराम आर्यसमाजी हैं तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। बोले—"आप और आर्यसमाजी। आप तो बड़े धार्मिक आदमी हैं। आप आर्यसमाजी नहीं हो सकते।" उन्होंने उत्तर दिया कि वे आर्यसमाजी ही नहीं प्रत्युत स्थानीय आर्यसमाज के प्रधान भी हैं। तब साहब बोले, "परन्तु लाहौर आर्यसमाज तो एक पोलिटिकल संस्था है। जालंधर आर्यसमाज चाहे न हो।" तब मुंशीराम ने कर्नल साहब को आर्यसमाज के मन्तव्य तथा उद्देश्य समझाये और बतलाया कि वे लोग आर्य तथा श्रेष्ठ पुरुष बनना चाहते हैं। इसका परिणाम यह हो सकता है कि श्रेष्ठों पर उनसे गिरे हुए पुरुष राज न कर सकें। इस पर साहब बड़े उदार भाव से बोले, "फिर हमारे यहाँ ठहरने का उचित हेतु न रहेगा।"[1]

इस घटना से पता लगता है कि शुरू से ही गोरे हाकिम आर्यसमाज को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। तब गुरुकुल पर उनकी कोपदृष्टि पड़ना स्वाभाविक था। एक समय तो स्थिति बहुत भयंकर हो गयी थी। शंकाओं के घेरे में घिरे गुरुकुल को गोरी सरकार ने किसी गहरे षड्यन्त्र का केन्द्र मान लिया था और उस पर आक्रमण करने की तैयारी कर ही रही थी कि महात्मा मुंशीराम ने स्वयं शेर की गुफा में पहुँच कर उनसे बात करने का निश्चय किया। प्रो० इन्द्र ने लिखा है, "उस दिन की बातचीत में जो बीजपात हुआ वह कुछ वर्षों में भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड द्वारा गुरुकुल काँगड़ी की तीर्थ यात्रा के रूप में फलीभूत हुआ। वायसराय के गुरुकुल आगमन को शायद कुछ लोग सरकारी अफसर द्वारा एक शिक्षण संस्था के निरीक्षण का रूप दे, परन्तु जिन लोगों ने उस घटना को आदि से अन्त तक देखा था, उन्हें यह विश्वास हो गया है कि वायसराय का गुरुकुल आगमन केवल सरकारी दौरे का हिस्सा नहीं था प्रत्युत उसमें कुछ प्रयोजन और भावुकता का अंश भी था।"[2]

भावुकता का एक कारण महात्मा मुंशीराम का भव्य व्यक्तित्व भी था जो अनायास ही उनके बड़े से बड़े विरोधी को भी उनके प्रति स्नेह और आदर से भर देता था। पं० जवाहरलाल नेहरू के मूल्यांकन में उसकी गन्ध है। उस समय के संयुक्त प्रान्त के गवर्नर लार्ड मेस्टन, मजदूर नेता रेम्जे मैकाडोनल्ड, दीनबन्धु सी० एफ० एंड्रयूज तथा प्रसिद्ध अमेरिकी पत्रकार श्री फैल्प्स आदि कुछ प्रसिद्ध व्यक्ति उनके व्यक्तित्व के आकर्षण से खिंचकर ही उनके हो रहे थे।

वायसराय के गुरुकुल आगमन से जहाँ एक ओर कोहरे के बादल छट गये, दूसरी ओर उग्रवादियों ने इस यात्रा को सन्देह की दृष्टि से देखा। आगे हम देखेंगे कि कैसे स्वामी श्रद्धानन्द भारत के स्वाधीनता संग्राम में कूद पड़े थे। वह खुशामदी कैसे हो सकते थे। वह तो बस यही चाहते थे कि गुरुकुल एक स्वतन्त्र

---

१. कल्याण मार्ग का पथिक, पृष्ठ १०० (सार्वदेशिक का विशेषांक १४-१२-६५)

२. अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द, मेरे पिता, पृष्ठ १२३

शिक्षा संस्थान बना रहे। उसे न दायें जाना है, न बायें। उसे तो भारतवासियों के अन्तर में हीन भावना का जो अन्धकार पूंजीभूत हो उठा है उसे दूर करना है। बिना स्वयं शक्तिशाली हुए शत्रु से कैसे लोहा लिया जा सकता है। सच्चा जननायक हर कदम बहुत सोच-समझ कर उठाता है, भावुकता के वशीभूत नहीं होता। इसी कारण जब सरकार ने आर्थिक सहायता देने का प्रस्ताव रखा तो उसी दृढ़ता से उन्होंने उसे एकदम अस्वीकार कर दिया। दूसरी बार सोचा तक नहीं। उनके भव्य और आकर्षक व्यक्तित्व के पीछे दृढ़ विश्वास की एक ऐसी दीवार थी जिसे भेद पाना किसी के लिए सम्भव नहीं था।

उन्होंने शिक्षा को लोकप्रिय बनाने का क्षेत्र केवल पुरुषों तक ही सीमित नहीं रखा था। आर्य कन्या पाठशालाओं और गुरुकुलों को भी उन्होंने समान महत्त्व दिया। इन आर्य कन्या पाठशालाओं के द्वारा ही तो हिन्दी ने घरों में प्रवेश पाया था। कन्या महाविद्यालय, जालन्धर की नींव कैसे पड़ी, इसकी चर्चा करते हुए अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है, "कुछ स्वस्थ होने पर इसी मास में (अक्तूबर, १८८८) एक नये काम की बुनियाद डाली गयी जिसने मेरे चिरकाल के विचार को क्रिया में परिणित कर दिया।"[1]

इसी वर्ष उनका सम्बन्ध भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से हुआ। और यहाँ से शुरू होकर यह सम्बन्ध कैसे सन् १९१९ में असहयोग आन्दोलन में कूद पड़ने तक पहुँच गया, इसकी कहानी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म और विकास की कहानी है। महात्मा गांधी ने उनके सम्बन्ध सन् १९१७ में विधिवत संन्यास ग्रहण करने और स्वामी श्रद्धानन्द नाम धारण करने से पूर्व ही घनिष्ठ हो चुके थे। निमित्त बने थे दीनबन्धु सी० एफ० एन्ड्रयूज। गुरुकुल की चर्चा करते हुए उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी को लिखा था, "जिस भारत को मैं जानता था, जिस भारत को मैं प्रेम करता था, जो भारत मेरे सपनों में था, वह मुझे यहाँ देखने को मिला।"

तब न तो मुंशीराम जी महात्मा बने थे और न गांधी जी। बाद में दोनों ने एक दूसरे को महात्मा कहकर पुकारा और फिर वह शब्द सदा के लिए उनसे जुड़ गया। २१ अक्तूबर, १९१४ के पत्र में गांधी जी ने उन्हें 'प्रिय महात्मा जी' कहकर सम्बोधित करते हुए लिखा, "आप मुझे 'महात्मा जी' लिखने के लिए क्षमा करेंगे। मैं और एण्ड्रयूज साहब आपकी चर्चा करते हुए आपके लिए इसी शब्द का प्रयोग करते हैं, उन्होंने मुझे आपकी संस्था गुरुकुल देखने के लिए अधीर बना दिया है···।"

६ माह बाद गांधी जी गुरुकुल आये तब ८ अप्रैल, १९१५ को उन्हें जो मानपत्र दिया गया उसमें उन्हें 'महात्मा' नाम से सम्बोधित किया गया था। स्वामी श्रद्धानन्द और आर्यसमाज स्वाधीनता संग्राम से इतने सहज भाव से जुड़ गये, यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। स्वामी दयानन्द ने अपने 'सत्यार्थप्रकाश' में बहुत पहले लिख दिया था—"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है।" इन शब्दों के पीछे जो भावना है, उसी की नींव पर तो भारत का स्वाधीनता संग्राम पुष्पित-पल्लवित होकर परवान चढ़ा। उसके असंख्य बलिदानी, हिंसक और अहिंसक दोनों प्रकार के सैनिकों में आर्यसमाज की भट्ठी से तपकर निकले सैनिकों की संख्या किसी भी दृष्टि से नगण्य नहीं है।

स्वामी जी का कांग्रेस से सम्बन्ध बहुत पहले हो चुका था। वे गांधी जी के दक्षिण अफ्रीका में किये गये आन्दोलन से भी परिचित थे। श्री गोखले की अपील पर गुरुकुल के विद्यार्थियों ने घी-दूध छोड़ कर और मजदूरी करके उन दिनों पन्द्रह सौ रुपए गांधी जी के लिए भेजे थे। पर वे क्रियात्मक राजनीति में गांधी जी के सत्याग्रह शुरू करने पर ही कूदे।

रोलेट एक्ट के विरोध में ३० मार्च, १९१९ को गांधी जी ने पूर्ण हड़ताल करने का आह्वान किया। दिल्ली में उस दिन सचमुच पूर्ण हड़ताल रही लेकिन रेलवे स्टेशन के एक ठेकेदार ने दुकान बंद करने से इन्कार कर दिया। इस पर भीड़ और पुलिस में कुछ कहा-सुनी हो गयी। उसके बाद पुलिस ने दो स्वयंसेवकों

१. कल्याण मार्ग का पथिक, पृष्ठ १०९

को गिरफ्तार कर लिया। भीड़ में उत्तेजना फैल गयी। गोली चलने और लोगों के मरने तथा घायल होने के समाचार आने लगे। स्वामी जी फिर भी सबको शान्त रहने को कहते रहे। बीस-पच्चीस हजार की भीड़ बड़े संयत भाव से सभा करने के बाद लौट चली। वे चाँदनी चौक में घण्टाघर के पास पहुँचे ही थे कि अचानक कहीं गोली चल गई। लोग विक्षुब्ध हो उठे। उसके बाद वहाँ जो कुछ हुआ उसका वर्णन प्रो० इन्द्र के शब्दों में जो स्वयं वहाँ मौजूद थे, करना उचित होगा, "लोग नारे लगाने में व्यस्त थे और तेजी से आगे बढ़ते जा रहे थे। सिपाही भीड़ को अपनी ओर आता देखकर घबरा गये और तीन-चार कदम पीछे हटकर अपनी बन्दूकों को ऐसे ढंग से सँभालने लगे जैसे गोली छोड़ने के समय सँभालते हैं···इतने में एक बन्दूक चल गयी। सरकार का बयान था कि गोली भूल से चल गयी पर लोग विक्षुब्ध हो गये। स्वामी जी ने लोगों को वहीं ठहरने का आदेश दिया और स्वयं आगे बढ़कर सिपाहियों के ठीक सामने जाकर खड़े हो गये, पूछा, "तुमने गोली क्यों चलाई ?"

इस प्रश्न पर कोई उत्तर न देकर कई सिपाहियों ने अपनी बन्दूकों की सगीनें स्वामी जी की ओर बढ़ाते हुए कहा, "हट जाओ, नहीं तो हम छेद देंगे।"

स्वामी जी एक कदम और बढ़ गये। अब संगीन की नोक स्वामी जी की छाती को छू रही थी। स्वामी जी ने बड़े ऊँचे स्वर में कहा, "मार दो।"

यह दृश्य शायद मिनट-भर रहा होगा। इतने में एक अंग्रेज अफसर घोड़ा भगाते हुए वहाँ आया। उसके आने पर सिपाहियों ने बन्दूकें नीची कर लीं। स्वामी जी ने अफसर से पूछा, "गोली क्यों चलाई गयी ?"

अफसर ने बहुत अस्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया, "गोली भूल से चल गयी थी।"

यह कहकर उसने सिपाहियों को पीछे हटकर भीड़ के लिए रास्ता छोड़ने का हुक्म दे दिया। सिपाही पीछे हट गए और जनता ने अपना कोलाहल पूर्ण प्रयास जारी रखा ···[1]

इस घटना के दूरगामी परिणाम हुए। उस दिन हिन्दू और मुसलमान दोनों का रक्त बहा था। 'हम' शब्द में 'ह' से हिन्दू और 'म' से मुसलमान कहने का रिवाज उसी समय से चला है। शहीदों के अन्तिम संस्कार के समय जो दृश्य दिल्ली में देखने को आए, वे अद्भुत थे। चार अप्रैल को दोपहर की नमाज के बाद जामा मस्जिद मे मुसलमानों का एक विशाल जलसा हो रहा था तभी मौलाना अब्दुल्ला चूड़ीवाले ने आवाज दी, "स्वामी श्रद्धानन्द जी की तकरीर भी होनी चाहिए।"

तुरन्त कुछ नौजवान नया बाजार जाकर स्वामी जी को लिवा लाये और स्वामी श्रद्धानन्द ने 'अल्ला हो अकबर' के नारों के बीच वेद मन्त्रों का पाठ करते हुए भाषण दिया। हम नहीं जानते, उससे पहले कभी ऐसा हुआ हो। यही नहीं ६ अप्रैल को फतेहपुरी मस्जिद मे भी उनका भाषण हुआ।

और जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड के बाद जब कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में हुआ, स्वागताध्यक्ष के रूप में उसका सारा भार उन्होंने ही उठाया। यहाँ भी वह नवजागरण का संदेश लेकर आये। पहली बार उन्होंने ही कांग्रेस के मंच से ठेठ मुहावरेदार हिन्दी में भाषण दिया। पहली बार कांग्रेस का ध्यान अस्पृश्यता निवारण और दलितोद्धार की ओर खींचा। एक ओर गांधी जी की अहिंसा का पूर्ण समर्थन करते हुए कहा, "ओडायर और डायर, जानसन और ओबरायन ये सब हमारे ही तो भाई हैं। एक ही पिता की तो सन्तान हैं। उनके अन्दर क्रोध और असाधुता के जो भाव हैं, वे ही हमारे शत्रु हैं।" दूसरी ओर उन्होंने यह चेतावनी भी दी, "यदि जाति को स्वतन्त्र देखना चाहते हो तो स्वयं सदाचार की मूर्ति बनकर अपनी सन्तान के सदाचार की बुनियाद रखो। जब सदाचारी ब्रह्मचारी शिक्षक हों और शिक्षा पद्धति राष्ट्रीय हो तभी जाति

१. अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द, मेरे पिता, पृ० १२३

की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले नौजवान निकलेंगे। नहीं तो इसी तरह आपकी सन्तान विदेशी विचारों और विदेशी सभ्यता की गुलाम बनी रहेगी...।"

उनके कार्य और प्रभाव की चर्चा करते हुए श्री नटराजन ने अपने पत्र 'इंडियन सोशल रिफार्मर' में लिखा था, "भारत की पवित्रता के स्रोत एवं काषाय वस्त्रों के वेश में वह विशाल तेजस्वी तथा प्रभावशाली मूर्ति जिसके चेहरे पर शक्ति और तेज चमक रहा था, साधारण से साधारण दर्शक की भी स्वयं सेवा करते हुए और महान संगठन के छोटे-छोटे कार्य का भी स्वयं निरीक्षण करते हुए यहां-वहां सभी जगह व्याप्त दीख पड़ती थी।"

वे सिक्खों के गुरु के बाग के सत्याग्रह में भाग लेकर जेल भी गये लेकिन जब चौरी-चौरा काण्ड के बाद गांधी जी ने अपना असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया तब उनका मन टूट गया, लेकिन मतभेद का कारण केवल इतना ही नहीं था। गांधी जी ने आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें कही थीं जिनके कारण आर्यसमाजी उत्तेजित हो उठे थे। स्वामी जी के मन को भी ठेस लगी और गांधी जी से उनका मतभेद हो गया। गांधी जी ने इस मतभेद की चर्चा करते हुए लिखा था, "उस मतभेद से मुझ पर उनका बाल-सुलभ स्वभाव प्रकट हुआ। परिणाम का विचार किए बिना उन्हें जैसा मालूम था उन्होंने सच्ची बात कह दी। वे अति साहसी थे। समय बीतने के साथ-साथ हम दोनों के स्वभाव का जो अन्तर था, उसे मैं देखता गया, किन्तु उससे तो उनकी आत्मा की शुद्धता ही सिद्ध हुई।"

कांग्रेस की साम्प्रदायिक नीति से वह असहमत थे परन्तु किसी साम्प्रदायिक संस्था की ओर से चुनाव लड़कर कांग्रेस का विरोध करने की नीति का भी समर्थन उन्होंने नहीं किया। एक समय आया जब गांधी जी ने अस्पृश्यता मिटाने के लिए प्राणों की बाजी लगा दी, परन्तु जब स्वामी श्रद्धानन्द ने अस्पृश्यता मिटाने के लिए प्रस्ताव पेश किया था तब कांग्रेस के नेताओं ने उनका उपहास उड़ाया था। दुखी होकर उन्होंने अलग से दलितोद्धार सभा की स्थापना की और अपना काम शुरू कर दिया। गांधी जी के ही शब्दों में, "वह इसमें आधा-साधा सुधार नहीं चाहते थे। अगर उनकी चलती तो बात की बात में हिन्दू धर्म से अस्पृश्यता को निकाल बाहर करते। हरेक मन्दिर को, हरेक कुएं को बराबरी के हक के साथ अछूतों के लिए खोल देते और इसका फल भुगत लेते।"

फल भुगत लेने की तैयारी के कारण ही उनका मुसलमान मित्रों से मतभेद शुरू हो गया। शुद्धि आन्दोलन के समय तो विवाद और वितण्डा का कोई अन्त ही नहीं रहा। सत्याग्रह आन्दोलन के एकाएक स्थगित हो जाने के कारण देश का जन-मानस क्षुब्ध हो उठा और फिर निराशा से भर गया। और उसका अंत हुआ हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों में। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के लिए केवल किसी एक घटना या किसी एक व्यक्ति को दोषी ठहराना इतिहास के साथ अन्याय करना होगा। मुस्लिम और ईसाई मित्र विश्वास करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को उनके धर्म में दीक्षित किया जा सकता है। वे ऐसा करते भी थे। क्यों कर पाते थे, इसके बारे में बहुत से लोग बहुत-सी बातें कहते हैं, उसका विश्लेषण करना न तो यहां सम्भव है, न वांछित ही। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि एक वर्ग की दृष्टि में उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप स्वामी दयानन्द ने घोषणा की कि प्रत्येक व्यक्ति आर्य हो सकता है। स्वामी श्रद्धानन्द इसी मान्यता को कार्यान्वित कर रहे थे। जब मौलाना मुहम्मद अली ने कांग्रेस के मंच से अछूतों को बाँटने का प्रस्ताव रखा तो इस मान्यता के प्रति उनका विश्वास और भी दृढ़ हो गया। और अन्ततः इसी मान्यता की वेदी पर उन्हें अपने प्राणों का विसर्जन करना पड़ा। गांधी जी ने इस विसर्जन को 'महिमामय मृत्यु' कहकर सम्मानित किया। और एक समय के उनके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी लाला लाजपतराय कह उठे थे, "आज स्वामी श्रद्धानन्द ने मुझे पराजित कर दिया।"

इस बलिदान के बहुत से लोगों ने बहुत से अर्थ लगाये हैं पर प्रश्न यहाँ यह उठता है कि क्या स्वामी श्रद्धानंद जी मुस्लिम विरोधी थे। क्या यह मात्र एक संयोग ही है कि जिस मजहब के पैरोकार ने उनके प्राण

लिए उसी मजहब के एक दूसरे पैरोकार ने उन्हें मृत्यु के मुँह से निकाला था और गोली लगने पर सबसे पहले उसी को प्राण रक्षा के लिए बुलाया गया था। और क्या यह भी संयोग ही है कि जब उनका बलिदान हुआ तब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन गोहाटी में हो रहा था। उसकी सफलता की कामना करते हुए उन्होंने अपनी रोग-शैया से जो संदेश भेजा था वह इस प्रकार था, "भारत की स्वतन्त्रता हिन्दू-मुस्लिम एकता, भाई-चारे पर निर्भर करती है।" उनकी शहादत का समाचार पाकर स्वयं महात्मा गांधी ने यह शोक प्रस्ताव रखा था :

"अखिल भारतीय कांग्रेस का यह अधिवेशन स्वामी श्रद्धानन्द जी की कायरतापूर्ण और कष्टपूर्ण हत्या पर क्षोभ प्रकट करता है। भारत माता के देशभक्त और वीर सपूत की दुखद मृत्यु से ऐसी क्षति हुई है जिसकी पूर्ति होना संभव नहीं है।"

"उनका जीवन और जीवन की विशिष्टताएँ अपने देश और धर्म की सेवा पर अर्पित रहीं। उन्होंने निर्भीकता और दृढ़ता के साथ सदैव असहायों, पतितों और दीन-दुखियों को सहारा दिया।" (१६२६)

वह प्रतिवर्ष ईद के अवसर पर जो संदेश देते थे, वे इस संबंध में उनके सोच और चिन्तन के प्रतीक हैं। सन् १६२५ में उन्होंने अपने संदेश में हिन्दुओं से कहा था, "परमात्मा तो सारे संसार का पिता है, यदि तुम्हें इस बात पर विश्वास है तो प्राणी मात्र को मित्र की दृष्टि से देखना चाहिए और मनुष्य मात्र को भाई समझना चाहिए। क्या इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज से तीन दिन तक अमल से दोगे। आज मुसलमान स्त्री पुरुष, बाल, वृद्ध, युवा, नये कपड़े पहनकर अद्वितीय ब्रह्म के आगे अपनी श्रद्धा की भेंट धरने जा रहे हैं। क्या वह श्रद्धा उनके अन्दर घर कर गई है। यदि ऐसा होगा तो वे अपने त्यौहारों पर हिन्दुओं का दिल दुखाने की कोई बात नहीं करेंगे।"

हिन्दू-मुस्लिम एकता के पुराने दिनों की याद करते हुए उन्होंने एक बार कहा था, "परस्पर मनो-मालिन्य की इतनी दुर्घटनाएँ घट जाने के बाद भी वह अद्भुत दृश्य मेरी आँखों के सामने आज भी वैसा ही बना हुआ है और मैं इसी आशा पर जिन्दा हूँ कि आपस के संदेह की सब घटनाएँ छिन्न-भिन्न हो जाएँगी। धर्म और सत्य का सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश के साथ फिर उदय होगा और फिर वैसे स्वर्णिम दृश्य देखने में आयेंगे।"

हिन्दू संगठन का मतलब उनके लिए मुस्लिम-विरोध नहीं था, बल्कि हिन्दुओं के अपने अन्तर के कलुष को धोना था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था, "हिंदुओं की तुलनात्मक दृष्टि से अवनति का मुख्य कारण बाल-विवाह और बाल-विधवाओं का पुनर्विवाह न होना है। हिन्दू-मुसलमानों के बीच दंगों और द्वेष का कारण हिन्दू बाल-विधवाओं की समस्या है···इस संघर्ष से बचने का सर्वोत्तम मार्ग यह है कि हम अपनी स्त्रियों और बच्चों की रक्षा और देखभाल का प्रबन्ध स्वयं करें।"

और यह भी कि "यदि हिन्दू जाति को नाश से बचाना है तो वर्तमान जाति भेद की प्रथा जिसने हिन्दुओं को हजारों जाति-उपजातियों में बाँट रखा है, अन्त कर देना चाहिए।"

स्वामी जी से कुछ बातों को लेकर मतभेद हो सकता है पर उनका सबसे बड़ा शत्रु भी उन पर यह दोष नहीं लगा सकता कि वे छद्म ओढ़ते थे। आर्यसमाज की वेदी पर से अपने पहले भाषण में उन्होंने कहा था, "हम सबके कर्त्तव्य और मन्तव्य एक होने चाहिए।" जीवन के अन्तिम क्षण तक अपने इसी आदेश का वह स्वयं पालन करते रहे। वे तो बच्चे की तरह सरल प्राण थे। घृणा और द्वेष उन्हें छू तक न गये थे। संघर्ष केवल कुछ मूल्यों को लेकर था। उनका मूल्यांकन उनको उनके काल से जोड़कर ही किया जा सकता है। श्रद्धा, गहरी धार्मिक भावना और त्यागमय जीवन से ओत-प्रोत, स्पष्टवादी और अति साहसी, जिस काम को हाथ में लेते, उसी के हो रहते। लिजलिजापन उन्हें जरा भी प्रिय नहीं था। अपने दोष निःसंकोच भाव से खोलकर रख देते थे। दूसरे के दोषों से परेशान हो उठते। अत्याचार का विरोध करना उनका सहज स्वभाव

था। बहुत जल्दी वे अगली पंक्ति में इसलिए आ जाते थे कि उनका अन्तर्मन बाहरी कार्यों से तनिक भी भिन्न नहीं था। अपने विश्वास को जीना जानते थे और दूसरे के विश्वास की रक्षा करते थे।

सन् १९२६ के चुनाव में वे लाला लाजपतराय की नेशलिस्ट पार्टी का समर्थन कर रहे थे। उनके पुत्र प्रो० इन्द्र कांग्रेस के समर्थक थे। जब लाला जी ने इन्द्र जी का हठ तोड़ने के लिए उन्हें स्वामी जी के सामने पेश किया तो उन्होंने यही कहा, "मैंने इसे विचार और कर्म की पूरी स्वतंत्रता दे रखी है।"

उनके ये ही गुण उनकी महानता की कसौटी थे। कभी-कभी उनकी दृढ़ता, उनकी उदारता को ढक भी लेती थी और कूटनीति से अनभिज्ञ उनका सहज विश्वासी मन गलतफहमी पैदा करने का कारण हो जाता था। जब उन्होंने आर्यसमाज में आने का निश्चय कर लिया तब उन्होंने अपने स्नेही पिता तक की चिन्ता नहीं की थी। आर्यसमाज के सिद्धान्तों में उन्हें इतना विश्वास था कि युवावस्था में पत्नी की मृत्यु हो जाने पर भी उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया और समय आने पर अपनी संतान का विवाह, जाति-पाँति के बन्धनों को तोड़कर किया। अपने ही गुरुकुल में उन्हें बार-बार अपने सहयोगियों से संघर्ष करना पड़ा। हर तूफान को उन्होंने हँसते-हँसते अपनी वज्र जैसी छाती पर सहा, लेकिन टस से मस नहीं हुए।

अपनी अस्मिता की पहचान में भटक रहे इस युग में उनका मूल्यांकन इसी दृष्टि से किया जा सकता है कि हम मानसिक दासता से मुक्ति पाकर जिस मार्ग को सही समझते हैं, उसी को सबके प्रति द्वेष रहित होकर और पूर्वाग्रह से मुक्त कर सहज भाव से ग्रहण करें और फिर अधूरापन हमारे मार्ग की बाधा न बने।

यही होगा हमारा उनके प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता का ज्ञापन।

अन्त में एक बार फिर मैं कुलपति श्री रामचन्द्र शर्मा और हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो० विष्णुदत्त राकेश के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ कि उन्होंने मुझे इतने दिन तक एक महान् पावन चरित्र के साथ रहने का सुअवसर दिया। ऐसे पावन चरित्रों की पावन छाया में ही तो हमें प्राणदायिनी वायु प्राप्त होती है।

उनकी पावन स्मृति को मेरे शत-शत प्रणाम!

उजाले अपनी यादों के हमारे साथ रहने दो,
न जाने जिन्दगी की किस गली में शाम हो जाए।

पुनश्च

अत्यन्त व्यस्तता के बीच मैंने यह भाषण लिखा। लिख चुका तो जैसे मुक्ति की साँस ली। लेकिन साँस है तो मुक्ति कैसी। साँस तो निरन्तरता की प्रतीक है। जीवन की अर्थात् काल की निरन्तरता की प्रतीक। कल, आज और फिर कल, जीवन, मृत्यु और फिर जीवन, यही तो निरन्तरता है।

यही स्मृति है। स्मृति हमें तरल करती है। हमारी संवेदना को जगाती है। हमें पवित्र करती है लेकिन हमारे चिन्तन को भी धार देती है। चिन्तन के अभाव में स्मृति मात्र 'आरती उतारना' है 'मन मैला और तन को धोना' है। मन का मैल तो चिन्तन से ही उतरता है। राष्ट्रकवि की 'भारत-भारती' का आधार यही चिन्तन है—

हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी॥

इतिहास हम क्यों पढ़ते हैं क्योंकि वह हमें कल और आज के सही संदर्भ बताता है। हमें वह दृष्टि देता है जिससे हममें कल की गयी गलतियों को पहचानने की समझ पैदा होती है। वही समझ आत्ममंथन की प्रेरणा बनती है। जो जाति आत्ममंथन नहीं करती, उसे जिन्दा रहने का कोई अधिकार नहीं है।

इसी इतिहास का एक और नाम है स्मृति। आज के अन्धकार में स्मृति का प्रकाश तभी हमारा पथ आलोकित कर सकता है जब हम आत्ममंथन करें। जैसा हमने देखा है कि स्वामी श्रद्धानन्द जी की महानता का आधार सफलता नहीं रही है बल्कि वह संघर्ष रहा है, वह कर्मठता, वह अडिगता, वह मानवीय अनुभव रहा है जिसने उन्हें अंधकार से आच्छादित संसार में प्रकाश का पथ निर्माण करने की शक्ति दी थी।

निरन्तरता, स्मृति, इतिहास, इनमें एक और शब्द जोड़ दें गति। कोश में इन सब शब्दों के अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं पर जीवन की पाठशाला में जिस कोश का उपयोग होता है, उसमें इन सब शब्दों का एक ही अर्थ है। और यह अर्थ संपूर्ण मानवीय अनुभव और संघर्ष से उपजता है।

अभी गति की बात कही हमने और जहां गति है वहाँ परिवर्तन नियम है। इसलिए हमारा निवेदन है कि स्वामी श्रद्धानन्द जी की स्मृति हमारा पथ तभी आलोकित कर सकेगी जब हम अपने भीतर यह जायजा लेने की मानसिकता पैदा कर लेंगे कि आज के निरन्तर परिवर्तितहोते युग में वे मूल्य, जिनके लिए वे जिये और मरे, आज कितने सार्थक हैं ? नहीं हैं तो क्यों नहीं हैं ? हो सकते हैं तो कैसे हो सकते हैं ?

आइये, हम इन प्रश्नों से जूझें। प्रश्न है तो तलाश है। वैदिक ऋषियों ने जिस 'नेति नेति' का उद्घोष किया था, वह यही 'तलाश' है। आज के वैज्ञानिक युग में भी 'सत्य की तलाश', 'सत्य की मंजिल' से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसी तलाश की प्रेरणा भारतीय नव-जागरण के प्रतीक स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धा का ज्ञापन होगी—

तलाशे तलब में, वह लज्जत मिली है,
दुआ कर रहा हूँ कि मंजिल न आये।

आध्यात्मिकता की खोज में

श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

[१]

मेरा जन्म ५ मार्च १८९८ में हुआ। अब जब मैं यह लिख रहा हूँ, २२ नवम्बर १९८७ दीवाली का दिन है। इस समय मैं ९० वर्ष मे चल रहा हूँ। इस आयु तक पहुँचने मे संसार नदी के अनेक भँवरो तथा प्रवाहो को पार कर चुका हूँ। जिस शरीर ने साथ दिया वह धीरे-धीरे साथ छोडता चला जा रहा है। इस आयु मे मैं प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ कि शरीर एक साधन है, स्वस्थ व्यक्ति को अनुभव नही होता कि उसका शरीर है। जब अनुभव होने लगे कि उसके पास आँखे हैं, कान हैं, टाँगे है, तब समझ लो कि वह जानने लगा कि ये सब साधन थे किसी सत्ता के, जो इन्हे इस्तेमाल कर रही थी। इनकी तरफ कब ध्यान जाता है? तब, जब इनमे कोई रोग आ बैठता है। रोग के आते ही मनुष्य जानने लगता है कि मैं अलग हूँ, ये अलग हैं, ये मेरे साधन हैं। अगर मैं शरीर ही हूँ, इससे अलग नही हूँ, तो मुझे इनका हर समय भान क्यो नही होता?

जब से मैंने कैटरेक्ट का ऑपरेशन करवाया है तब से मुझे यह अनुभूति हर समय बनी रहती है कि मैं एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व हूँ और जिन अंगों का मैं उपयोग करता हूँ, वे मेरे साधन हैं। वैसे तो विचारात्मक दृष्टि से हर कोई यह जानता है और मानता है, परन्तु इस बात की प्रत्यक्ष अनुभूति वृद्धावस्था मे ही होती है—जब ये साधन निर्बल हो जाते हैं या काम करना छोड़ देते है। जो बात वृद्धावस्था मे मनुष्य के अंगो की होती है, वही उसके मस्तिष्क के सम्बन्ध में होती है। ऐसा समय आ जाता है जब मनुष्य ने परिश्रम से जो मकान या महल बनाया है या जो साजो-सामान जमा किया है, बैंक मे लाखो-करोड़ो ईमानदारी या बेईमानी से जोड़े हैं, वह सब छोड़कर चल देने की तैयारी हो जाती है और मनुष्य यह प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है कि इन सबको जो अपना 'मैं' माने बैठा था वह 'मैं' नही था।

मैं इस अवस्था मे पहुँच गया हूँ जब मुझे सब-कुछ बेगाना दीखने लगा है। इतना ही नही, जिन रिश्तेदारो को हम जीवन-भर अपना समझते रहे, इस अवस्था मे यह अनुभव होने लगता है कि कोई अपना नही है। उपनिषदो में लिखा है कि याज्ञवल्क्य को यह अनुभूति हुई थी और वह धन-सम्पत्ति, पुत्र-कलत्र को छोड़कर चल दिया था। मैं समझता हूँ कि यह उसका वृद्धावस्था का अनुभव था जो बरबस हर व्यक्ति के जीवन मे आना आवश्यक है। चाहे न चाहे, यह स्थिति तो आनी ही आनी है।

संसार का कुछ अपना नही, जिगरी दोस्त, रिश्तेदार अपने नही—ऐसा अनुभव कुछ व्यक्तियो को यौवनावस्था मे, कुछ को वृद्धावस्था मे हो जाता है। बुद्ध को बिल्कुल यौवन मे यह अनुभूति हो गई, बाकी सबको—सेठ हो, राजा हो, करोड़पति हो, रंक हो—सबको यह अनुभूति वृद्धावस्था मे आती ही है। कोई इससे बच नही सकता। अगर सबको ऐसी अनुभूति आना लाज़मी है, तो मेरे भीतर कौन है जो इन सबसे अलग है, परन्तु अलग होते हुए भी—इन सबसे अलग उसका अस्तित्व है—यह अनुभव नहीं होता। इन सबमें रमे रहना भौतिकतावाद है, इन सबसे अलग होकर अपने-आपको पृथक् अनुभव करना अध्यात्मवाद

है। लोग झूठे ही अपने को अध्यात्मवादी कहते हैं। असली अध्यात्मवाद तब आता है जब वृद्धावस्था सिर पर चढ़ बैठती है और मनुष्य प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है कि बीवी-बच्चे, दोस्त-रिश्तेदार, भाई-बहन—सब हाथ से निकलते जा रहे हैं। इन्हीं को हम अपना समझते थे। ये अपने नहीं थे। सारा जीवन काम-चलाऊ था।

शास्त्रों में मनुष्य के लिए तीन एषणाएँ लिखी गई हैं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा। यूरोप में दो प्रसिद्ध वैज्ञानिक हुए हैं—मैगडूगल तथा फ्रॉयड। ये लोग भी अनेक एषणाओं को मानते हैं। परन्तु तत्त्वतः इनकी बतलाई एषणाएँ भी उक्त तीन में ही समा जाती है। फ्रॉयड जिसे 'सेक्स इन्स्टिक्ट' कहता है, उसे हमारे शास्त्र सुसंस्कृत शब्दों में पुत्रैषणा कहते हैं। वित्तैषणा को वर्तमान मनोवैज्ञानिक 'एक्विज़िटिव इंस्टिक्ट' का नाम देते है। लोकैषणा को 'सुपीरियोरिटी' या 'इनफ़िरियोरिटी' का नाम दिया जाता है। मैं देखता हूँ कि मैं अपने जीवन मे पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा तीनों को प्राप्त कर चुका हूँ। मेरा आज्ञा-कारी पुत्र है। धन की मुझे कोई चाह नहीं रही। साथ ही ज़रूरत के लिए किसी वस्तु की कमी नहीं रही। सम्मान भी जितना मिलना चाहिए था, मिला, अब और सम्मान की चाह नहीं। परन्तु ये सब चीज़ें तो भौतिक हैं। अब अगर कोई खोज रह गई है तो वह अध्यात्मिकता की है। इस खोज मे मैं जहाँ-जहाँ भटका और जिन-जिनसे उसकी कुछ झलक मिली, उनका उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ। आध्यात्मिकता की खोज मे मैं जहाँ-जहाँ कुछ पाने के लिए गया, चाहे कुछ मिला चाहे न मिला, उनका संक्षिप्त विवरण निम्न है :

१. ऋषि दयानन्द आर्यसमाज

मेरा जन्म १८९८ में हुआ, ऋषि दयानन्द की मृत्यु १८८३ में हुई। इस बीच १५ साल का अन्तर रहा। जिस समय मेरा जन्म हुआ उस समय तक ऋषि दयानन्द की विचारधारा भारत में सर्वत्र व्याप्त हो चुकी थी। ऋषि दयानन्द ने भारत की दुर्गति के रोग की नब्ज़ पहचान ली थी और जान लिया था कि देश हर क्षेत्र मे रूढ़िवाद का शिकार हो गया है। उन्होंने देखा कि धर्म-कर्म में, वेदो के अर्थ करने मे, सामाजिक-रचना में—हर क्षेत्र में देश रूढ़ियों से ग्रस्त है। उन्होंने इस रूढ़िता पर ऐसी चोट की जो उन जैसा ऋषि ही कर सकता था। ऐसे वातावरण में मेरी गुरुकुल में शिक्षा हुई। मैं ऐसे वातावरण मे पला जो आर्य-समाज के विचारों से व्याप्त था। जैसे मछली पानी मे ही जीवन बिताती है वैसे मेरे जीवन के लिए आर्य-समाज की विचारधारा बन गई। अगर कहा जाए कि मेरे सम्पूर्ण जीवन पर आर्यसमाज छाया रहा तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। ऋषि दयानन्द के जीवन में तो आध्यात्मिकता थी, परन्तु धीरे-धीरे जिन लोगो के कंधों पर ऋषि के कार्य का भार आ गया, उन्होंने उसे केवल समाज-सुधार और शिक्षा-प्रचार या धर्म-परिवर्तन तक सीमित कर दिया। मैं भी अपने कार्य-क्षेत्र में इतने तक सीमित रहा। देश की अवस्था को देखते हुए ये सब बातें ज़रूरी थीं और हाल की सती होने की घटना को देखकर शायद अब भी ज़रूरी हैं, परन्तु क्रमशः आर्यसमाज भी एक मठ का-सा रूप धारण कर गया है। जगह-जगह समाजों में सम्पत्ति जुटने लगी, कब्ज़े की भावना का उदय हुआ, मन्त्री, प्रधान बनने के झगड़े उठ खड़े हुए, जो एक बार प्रधान बन गया वह सदा प्रधान बने रहना चाहने लगा। ऐसी अवस्था में आध्यात्मिकता की ओर किसका ध्यान आ सकता था? मैं आध्यात्मिकता की अन्यत्र खोज करने लगा। मैं कई तथाकथित आध्यात्मिकतावादियों के सम्पर्क मे आया। परन्तु मुझे कहीं कुछ न मिला। ऐसा लगा कि आध्यात्मिकतावाद भी एक बिज़िनेस का रूप धारण कर गया है। परन्तु कई लोगों के सम्पर्क मे आने से यह भी निश्चय हो गया है कि जैसे भौतिक-वाद की सत्ता है, वैसे ही आध्यात्मिकतावाद की भी सत्ता है।

२. महर्षि महेश योगी

जिन दिनों मैं दुबारा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का कुलपति नियुक्त होकर आया, उन दिनों ऋषिकेश में महेश योगी का नाम बहुत सुनने में आया। आध्यात्मिकता की मेरी रुचि सुनकर उन्होंने अपने भक्त प्रो० सदाशिव भगत तथा गुरुकुल के योग-शिक्षक द्वारा अपने आश्रम में आने का निमंत्रण भेजा। मैं वहां गया, तीन दिन ठहरा। मेरे ठहरने का पूरा प्रबन्ध किया गया। एक दिन दीक्षा देने का दिन आया। मैं गया तो मुझे 'ओं खं ब्रह्म'—इस मंत्र के जाप की दीक्षा दी गई। मैं इससे प्रभावित नहीं हुआ और गुरुकुल वापस चला आया। एक सज्जन थे—तिवारी। उन्होंने मुझे हालैंड आने को निमंत्रित किया था। १९८२ में मैं वहां गया। उन्हीं के यहां ठहरा। उनकी पत्नी ने मुझे कहा कि उनके सारे परिवार ने, प्रत्येक ने सौ-सौ डालर देकर महर्षि महेश योगी से मंत्र जपने की दीक्षा ली है, और वह मंत्र है 'सामि'। मैंने कहा कि 'सामि' कोई मंत्र नहीं है, 'सोऽहमस्मि' है। परन्तु इससे क्या, वे लोग सामि-सामि जपा करते थे और वह भी हजारों रुपया देकर। यह सब तमाशा देखकर मुझे निश्चय हो गया कि इस भौतिकवाद के युग में आध्यात्मवाद भी भौतिकवाद बनता जा रहा है।

३. भगवान रजनीश

आध्यात्मिकता की तलाश में मैं प्रति वर्ष रजनीश के आश्रम में पूना जाया करता था। मेरा भतीजा अजय लखनपाल रजनीश का भक्त हो गया था। वह हर समय मुझसे कहा करता था कि रजनीश 'रियलाइज्ड सोल' है। मैं उत्तर दिया करता था कि 'रियलाइज्ड सोल' वही हो सकता है जो प्रत्यक्ष अनुभव कर ले कि शरीर अलग है, आत्मा अलग है। ऐसा व्यक्ति विरला ही होता है। जो व्यक्ति हँसते-हँसते देश-भक्ति के रंग में सूली पर चढ़ जाते हैं या धर्म के नाम पर बलिदान हो जाते हैं, वही 'रियलाइज्ड सोल' कहे जा सकते है। एक दिन अजय ने रजनीश के व्याख्यान के समय यह प्रश्न कर दिया कि मेरे चाचा पं० सत्यव्रत जी तो कहते हैं कि 'रियलाइज्ड सोल' कोई नहीं है। इस पर रजनीश ने उस दिन मुझ पर ही एक पूरा व्याख्यान दे डाला। उन्होंने कहा कि वे मुझे जानते हैं। उन्होंने मेरी लिखी उपनिषदों की व्याख्या पढ़ी है, वे विद्वान् अवश्य है, परन्तु 'रियलाइज्ड' नहीं है, अन्यथा उन्होंने उपनिषदों की व्याख्या क्यों लिखी। रजनीश पर लिखते हुए मुझे उनसे मिलने का एक दूसरा प्रसंग भी याद आ रहा है। मैं समय लेकर उनसे मिलने गया और कहा कि मैंने अध्यात्मशास्त्र के ग्रंथों में कुंडली-जागरण की बात अनेक स्थानों पर पढ़ी है। मैंने सुना है कि योगी लोग स्पर्श से कुंडली जगा देते हैं। मैं चाहता हूँ कि आप मेरी कुंडली जगा दें।

मेरी इस माँग पर उन्होंने इतना ही कहा कि आप प्रातः ४ बजे चौपाटी चले जाएँ। वहाँ मेरे कई भक्त कुंडली-जागरण की क्रिया कर रहे होंगे। उस क्रिया में आप भी शामिल हो जाएँ। यह तब की बात है जब वे बम्बई रहा करते थे। उन दिनों मैं खार में रहता था। मैं ३ बजे उठकर रेलगाड़ी पकड़कर चौपाटी जा पहुँचा। वहाँ समुद्र के किनारे एक वृक्ष था। रजनीश के भक्त हाथ में थैला लिये आते और एक समूह बनाकर खड़े हो जाते और सब मिलकर 'हू-हू' करने लगते। यह 'हू-हू' शब्द ज़ोर पकड़ता जाता और घंटा-भर 'हू-हू' का शोर मचाकर चले जाते। मैंने देखा कि कई अजनबी लोग भी इस हू-हू की मंडली में शामिल होकर 'हू-हू' करने लगते। शायद उन पर भी कुछ मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ जाता होगा। क्योंकि जब कई लोग भागने लगते हैं या हँसने लगते हैं तो दूसरे लोग भी उनकी देखा-देखी वैसा ही करने लगते हैं। परन्तु मुझे इस 'हू-हू' में किसी प्रकार की आध्यात्मिकता नहीं दीखी।

'कुंडली-जागरण' कोई आध्यात्मिक या यौगिक-प्रक्रिया है—यह मैंने अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों में पढ़ा है। इसी की धुन में मैं बम्बई के एक योगी के पास जाया करता था जो मद्रासी थे। कोचीन के प्रसिद्ध चित्रकार राजा रवि वर्मा के वंशज थे। उनका नाम त्रिविक्रम था। वे कहते थे कि माथे पर स्पर्श

करके अपनी आध्यात्मिक-शक्ति द्वारा वे दूसरों की कुंडली जगा देते हैं। जब मैं बम्बई में रहता था, तब उनके पास भी जाया करता था। उन्हें जब पता चला कि मैं पार्लियामेंट का सदस्य हूँ तब उनकी मुझमें दिलचस्पी बढ़ गई। उन्होंने कुंडली-जागरण पर एक पुस्तक लिखी थी। उन्होंने मुझसे चाहा कि मैं उस पुस्तक की भूमिका लिख दूं। मैंने भूमिका लिख दी और वह छप भी गई। एक दिन वे मुझे अपने कमरे में ले गए और मुझे रुपये ३०००/- का चैक इस भूमिका लिखने पर भेंट किया। मैंने उनके सामने ही वह चैक फाड़कर फेंक दिया और कहा कि मैं कुंडली-जागरण के लिए आया हूँ, पैसा कमाने नहीं आया। मेरे अनेक बार उनके पास जाने पर वे मेरी कुंडली नहीं जगा सके और इसे ढोंग समझकर मैंने उनके पास जाना छोड़ दिया। फिर भी अनेक योग-पिपासु उनके पास आते रहे, जिनमें एक बम्बई के मुख्य मंत्री श्री बी० जी० खेर के पुत्र भी थे।

आध्यात्मिकता में कुंडली-जागरण का क्या स्थान है और इसका क्या रूप है—यह मैं अब तक नहीं जान पाया हूँ। कुंडली के विषय में कहा जाता है कि शरीर में आठ चक्र हैं—कुंडलिनी, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्र तथा सहस्रार। मूलाधार में कुंडलिनी सर्पिणी के तीन लपेट लेकर स्थित है। मूलाधार में ध्यान करके वहां ज़ोर का धक्का दिया जाए तो कुंडलिनी खुल जाती है और ऊपर को चढ़ने लगती है और भिन्न-भिन्न चक्रों से होती हुई सहस्रार-चक्र तक पहुँच जाती है। यहीं आत्मा तथा परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं। यह बात कहाँ तक ठीक है, यह मैं नहीं जानता, परन्तु इसका मुझे कोई अनुभव नहीं हुआ यद्यपि प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता श्री खुशहालचन्द, जो आगे जाकर आनन्द स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए—वे तथा उनके दामाद इसे मानते थे। उनके दामाद श्री नारायण दास कपूर ने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है—'योगी की डायरी'। उसके पृष्ठ २७ में वे लिखते हैं, "पूज्य महात्मा आनन्द स्वामी जी ने अपनी पुस्तक 'प्रभु-भक्ति' में कुंडलिनी-जागरण का एक तरीका लिखा है। उसके आधार पर मैंने रेचक-प्राणायाम करके नीचे से गुदा को सिकोड़कर और पेट के अन्दर के भाग से मेरुदंड के अग्रभाग मूलाधार के चक्र पर ज़ोर-ज़ोर से तीन-चार धक्के लगाये और ध्यान भी उसी भाग पर किया, तो उसी समय मेरे प्राण, सुषुम्ना नाड़ी में से जो कि रीढ़ की हड्डी के अग्रभाग और इडा और पिंगला नाड़ी के साथ सब चक्रों में से जाती हुई ब्रह्मरंध्र (सहस्रार) में पहुँचती है, वहाँ दाखिल हो गए। पहले प्राण स्वाधिष्ठान-चक्र में आकर रुके। वहाँ पर ध्यान लगाया तो ऊपर उठकर नाभि-चक्र में जाकर रुक गए। वहाँ पर फिर ध्यान लगाया तो प्राण हृदय देश में चले गए। इस प्रक्रिया में मूलाधार-चक्र, स्वाधिष्ठान-चक्र, नाभि-चक्र तथा हृदय-चक्र में उजाला हो गया।

महात्मा आनन्द स्वामी जी तथा राजयोगाचार्य श्री नारायण दास कपूर भूतपूर्व ब्रह्मचारी श्री व्यासदेव जी से कुंडलिनी-योग सीखते रहे। इन स्वामी जी का नाम योगेश्वरानन्द था। मैं इनके सम्पर्क में नहीं आया, परन्तु श्री आनन्द स्वामी जी जो आर्यसमाज के नेता थे—इनकी इन बातों को पढ़कर मन दुविधा में रहा और मैं इनकी बातों से यह भी नहीं समझ सका कि अध्यात्म-विद्या क्या है और कुंडलिनी क्या है? जगह-जगह भटकने पर भी मैं कुंडलिनी-योग के रहस्य को न पा सका। अगर कुंडलिनी को जगाने से भीतर प्रकाश को ही देखना है तो आँखें खोलकर सूर्य के प्रकाश को देख लेने में और भीतर प्रकाश को देखने में क्या भेद है।

जगह-जगह भटकने पर भी मुझे अध्यात्म को खोजने की प्यास बनी रही। भौतिक तो मैं देख चुका था, उससे जो पा सकता था, पा चुका था। अब अध्यात्म को जगह-जगह ढूंढ़ता रहा। परन्तु वह कहीं नहीं मिला। अध्यात्म कुछ है, उसकी झलक ज़रूर मिलती रही। परन्तु उसका क्या रूप है यह कहीं पता नहीं चला। इस ढूंढ़ में अन्य दो व्यक्तियों का सम्पर्क हुआ जिससे यह निश्चय तो हो गया कि अध्यात्म है, परन्तु यह क्या है, यह ढूंढ़ अभी तक चल ही रही है। जिन दो व्यक्तियों के सम्पर्क से अध्यात्म की सत्ता का

निश्चय हो गया— वे दो व्यक्ति हैं—श्री जे० कृष्णमूर्ति तथा श्रीमती शकुन्तला देवी । आगे दो शब्द इन्ही दो के विषय में लिखूँगा ।

४. कृष्णमूर्ति

श्री कृष्णमूर्ति इस युग के महान् दार्शनिक माने जाते हैं यद्यपि १६८६ में उनका देहान्त हो चुका है तथापि उनकी महत्त्वशालिता में किसी को संदेह नही है। एनी बीसेन्ट तथा लेडबीटर उसे इस युग का मसीहा मानते थे, ईसा या बुद्ध से कम नही। कृष्णमूर्ति का अध्ययन ऑक्सफोर्ड मे हुआ। मनोविज्ञान के वे अद्वितीय ज्ञाता थे और आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च कोटि के विद्वान् माने जाते थे। पाश्चात्य शिक्षा-शास्त्री जॉन लॉक का कथन था कि बच्चो का मन एक कोरी स्लेट के समान है जिस पर संसार के आते-जाते संस्कार लिखे जाते हैं। जिस परिस्थिति में मनुष्य रहता है वही से आने वाले विचारो का वह हो जाता है। इसी प्रकार रूस का पावलोव नाम का एक मनोवैज्ञानिक (१८४६-१६३६) हुआ जिसने जॉन लॉक के विचारो को क्रियात्मक रूप देते हुए परीक्षणों द्वारा सिद्ध किया कि हमारा सारा ज्ञान परिस्थिति से सम्बद्ध रहता है। उसने कुत्ते पर प्रशिक्षण किए। वह कुत्ते के सामने भोजन रख देता था और जब कुत्ता भोजन के लिए आता था तब उसी समय एक घंटी बजा देता था। भोजन को देखकर कुत्ते के मुख से लार टपकना तो स्वाभाविक ही था; परन्तु कालान्तर मे जब भोजन सामने न होता था केवल घंटी बजाई जाती थी, तब भी उसके मुख मे सैलाइवा आ जाता था। इससे पावलोव इस परिणाम पर पहुँचा कि हमारा सारा ज्ञान बाह्य परिस्थिति से सम्बद्ध है, उससे जुड़ा हुआ है। कृष्णमूर्ति की विचारधारा का आधार यही दो विचार रहे, जिन्हें वह भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट किया करता था। पावलोव ने अपने विचारो का नाम 'सम्बद्ध विचार' ('कंडीशंड थौट') कहा था। कृष्णमूर्ति का कहना था कि हमारा सारा जीवन बाह्य-परिस्थितियों के आधार पर बना हुआ है—'कंडीशड'—है। हम मुस्लिम-घराने में पैदा हों तो 'कुरान' पढ़ सकते हैं; हिन्दू घराने मे पैदा हो तो 'गीता' या पुराण पढ सकते हैं। आज जो मुसलमान है वह अगर किसी हिन्दू के घर मे पैदा हो जाता तो वह 'कुरान' न पढकर 'गीता' पढ़ता, जो अपने को हिन्दू कहता है अगर वह मुसलमान के घर मे पैदा हो जाता तो वह 'गीता' न पढकर 'कुरान' पढ़ता। उसका कथन था कि हम सब परिस्थिति से बँधे हुए हैं। 'कंडीशंड'—हैं। हमे अपने को 'कुरान', 'गीता', 'बाइबिल', पुराण आदि से अलग होकर स्वतन्त्र रूप से सोचना चाहिए। मन को खाली करो, तब सच्चाई भीतर से प्रकट होती है। बाहर के आवरण को हटाकर भीतर से जो उभरेगा वही सत्य होगा। क्योंकि वह स्वतंत्र होगा, किसी विचारधारा से बँधा नही होगा। कृष्णमूर्ति का कहना था कि कुंडलिनी-जागरण आदि कुछ नही होता, कुडलिनी-जागरण से ब्रह्मज्ञान या आत्म-ज्ञान नहीं होता। जिन ग्रंथों के आधार पर तुम्हारा ज्ञान बना है उन्हे फेंक दो, अपने भीतर से जो प्रकट होगा वही सत्य होगा।

मैं कृष्णमूर्ति के ग्रंथों का अध्ययन करता रहा, उनके व्याख्यान दिल्ली तथा बम्बई मे सुनता रहा। परन्तु मुझे समझ में नही आया कि अगर ज्ञान वेदों से, 'गीता' से, उपनिषदो से या धर्म-ग्रंथो से नही मिलता, तो भीतर से कहाँ से आएगा। राक्षस को यदि अहिंसा के तत्त्व को न समझाया जाए, तो वह हिंसा कैसे छोड़ेगा, लुटेरे को यदि लूट-पाट से न रोका जाए तो लूट-पाट कैसे रुकेगी। कृष्णमूर्ति बम्बई मे व्याख्यान दे रहे थे, मैं भी वहाँ उपस्थित था। उनकी हर बात में 'कंडीशंड' की रट थी और मेरे पल्ले कुछ नही पड़ रहा था। परन्तु जनता उनकी बात को सुन-सुनकर झूम रही थी। मेरा मन करने लगा कि जब हजारों लोग इस व्यक्ति पर मस्त होकर झूम रहे हैं तब इनका कथन इन सबके हृदय को अवश्य छू रहा होगा। इससे मेरे मन में कहीं का एक श्लोक स्मरण हो आया। वह श्लोक था—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' —जिस बात को मैं अपने लिए न चाहूँ उस बात को दूसरों के लिए न करूँ। कृष्णमूर्ति का व्याख्यान समाप्त

हुआ, मैं उठ खड़ा हुआ और मैंने कहना शुरू किया कि "आपकी यह बात तो ठीक है कि हमारा सारा ज्ञान 'कंडीशंड' है, उधार लिया हुआ है। मैं भी सोच रहा हूँ कि ज्ञान उधार लिया ही होता है, परन्तु क्या ऐसा ज्ञान भी है जो उधार लिया न हो। यह शंका मेरे मन मे ही नहीं, आपके सब श्रोताओं के मन मे उठी होगी, यद्यपि वे कुछ कहना नहीं चाहते।"

मैंने कहना शुरू किया—"इस शंका का समाधान यह प्रतीत होता है कि जब हम बाहर से अपने ज्ञान को हटा देते हैं तब भीतर से यह ज्ञान उपजता है कि मैं दूसरे पर अत्याचार न करूँ, क्योंकि मैं चाहता हूँ कि दूसरे मुझ पर अत्याचार न करें; दूसरों से झूठ न बोलूं क्योंकि मैं चाहता हूँ कि मुझसे कोई झूठ न बोले; मैं दूसरों की बहू-बेटी को न छेड़ूं क्योंकि मैं चाहता हूँ कि दूसरे मेरी स्त्री से या बहन-बेटी से छेड़-छाड़ न करें; मैं दूसरों की वस्तुओं की छीना-झपटी न करूँ क्योंकि मैं चाहता हूँ कि दूसरे मेरी वस्तुओं की छीना-झपटी न करें। यह भीतर से अपनी आवाज़ शिक्षित-अशिक्षित, सभ्य-असभ्य, पठित-अपठित, कंडीशंड-नान-कंडीशंड सबके भीतर की आवाज़ है।" मैंने कृष्णमूर्ति तथा उपस्थित महानुभावों को सम्बोधित करते हुए कहा कि "इन्हीं अर्थों मे वक्ता के इस कथन को समझा जा सकता है, जबकि वे कहते हैं कि बाहर से आने वाले ज्ञान को भूल जाओ, भीतर की अन्तरात्मा से जो ज्ञान उठता है, उसी को सत्य समझो।"

कृष्णमूर्ति ने जो कुछ कहा उससे मुझे इस बात की झलक तो मिली कि हमारे भीतर कोई अध्यात्म-शक्ति है, परन्तु इससे अधिक उनसे कुछ न मिला। इसी विचार का परिचय मुझे जगत्-विख्यात, कम्प्यूटर से भी आगे बढ़ी हुई शकुन्तला देवी से मिला।

५. शकुन्तला देवी

कई साल बीत गए, बम्बई में आध्यात्मिक-जागृति का एक सेमिनार हो रहा था। मैं भी उसमे शामिल हुआ। मुझे मालूम हुआ कि 'जीवित-कम्प्यूटर' नाम से विख्यात शकुन्तला देवी भी उस सेमिनार मे शामिल हुई हैं। मैं उनसे मिला और मैंने उनसे पूछा कि "आप इतनी बड़ी-बड़ी गणित की राशियों का जो करोड़ो मे, अरबों में और खरबों मे होती हैं, जिनके हल मे कभी-कभी कम्प्यूटर भी गलती कर जाते हैं, या फेल हो जाते हैं, सेकेण्डों में कैसे हल कर लेती हैं? क्या आप किसी प्रोसेस से हल करती है या आध्यात्मिक-शक्ति से वह हल आपके सामने आ जाता है?" उन्होंने उत्तर दिया कि "मैं नही जानती—वह हल मैं कैसे कर लेती हूँ। मेरे सामने यह हल स्वयं आ जाता है और उसके लिए मुझे कोई प्रक्रिया नहीं करनी पड़ती।" शकुन्तला देवी के यह कहने पर कि उसे किसी प्रक्रिया मे से नही गुजरना पडता, प्रश्न का उत्तर अपने-आप उसके सामने आ जाता है, मैं सोचने लगा कि ईश्वरीय ज्ञान भी जिन ऋषियो को मिला, क्या यह नही हो सकता कि वे मंत्र भी अपने-आप उन ऋषियो के सामने अनायास उपस्थित हो गए हों।

ये शकुन्तला देवी वही देवी हैं जो मद्रास से जनता पार्टी द्वारा श्रीमती इन्दिरा गांधी के मुकाबले खड़ी की गई थी। जब श्रीमती इन्दिरा गांधी फिर से प्रधान मंत्री बनीं, तब शकुन्तला देवी अपनी एक घरेलू समस्या का इन्हीं से हल चाहती थीं।

श्री कृष्णमूर्ति की इस बात को सुनकर कि आध्यात्मिक-शक्ति भीतर है, और भीतर देखें तो जंगली से जंगली व्यक्ति की आत्मा में भी अहिंसा, सत्य, आतंक, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की भावना मौजूद होती है, जो कि सत्य है; और श्रीमती शकुन्तला देवी की कम्प्यूटर से भी बढ़ी-चढ़ी शक्ति को देखकर मैं इस निश्चय पर तो पहुँच गया कि भौतिक से ऊपर कोई आध्यात्मिक शक्ति है जो कहीं-कहीं भिन्न-भिन्न रूपों में अपने को प्रकट करती है। परन्तु मैं उसकी खोज में जीवन-भर भटकता रहा और अब भी उनकी खोज कर रहा हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि वही शक्ति संसार का संचालन करती है और वही शक्ति हमे सुख देने के लिए

कष्ट में से गुजारती है और हमें दुःख देने वालों को कल्पित सुख में से गुजरते हुए दुःख में धकेल देती है। यही कारण है कि कृष्ण ने अर्जुन को कहा था :

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ,
ततो युद्धाय युज्यस्व जयाय कृतनिश्चयः।

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय—इन सबको एक समान समझकर विजय-प्राप्ति का संकल्प मन में लेकर युद्ध के लिए तैयार हो जा।

[२]

पिछला मैटर जहाँ बैठकर मैं लिख रहा था, वहाँ एक टेबल पर मैंने उसे रख दिया ताकि अगले दिन उसे पूरा करूँ। अगले दिन मैंने देखा कि लेख वहाँ नहीं है। नौकरानी से पूछा कि "क्या तूने मेरा लेख इस स्थान पर पड़ा देखा है?" वह बोली—"हाँ, नीली स्याही से लिखे ४-५ कागज यहां पड़े थे। मैंने समझा यह कूड़ा है, मैंने उन्हें कूड़े मे फेंक दिया है और जमादारनी घर के कूड़े मे उन्हे डालकर ले गई है।"

उस समय मुझे स्मरण आया कि एक अंग्रेज ने पुस्तक लिखकर उसका मैन्यूस्क्रिप्ट घर में कहीं रख दिया था। उसके पास एक कुत्ता था जिसका नाम विलियम था। कुत्ते ने उस मैन्यूस्क्रिप्ट को फाड़कर उसे दाँतों से चबा डाला। लेखक ने जब देखा कि उसकी सालों की मेहनत को कुत्ते ने कुचल डाला तो वह गुस्से मे तो नहीं आया, विलियम को लक्ष्य रखकर उसे बोला—"विलियम, तू नहीं जानता कि तूने मेरा कितना नुकसान कर दिया है।" मेरे लेख की भी यही हालत हुई। मैंने नौकरानी को बुलाकर कहा—"तू नहीं जानती कि तूने मेरा कितना नुकसान कर दिया है।" परन्तु मैं हारने वाला नहीं था। पुस्तक खाई जाती तो दूसरी बात थी, परन्तु यहाँ तो मूल लेख ही नष्ट हुआ था। मैंने सोचा, मैं फिर दोबारा उसे लिख डालूं। यह सोचकर मैं उसी लेख को दोबारा लिखने बैठा।

मैं पिछले दस-बारह साल से नित्यप्रति प्रातःकाल २५ गुलबन्दी बादामों की गिरिया मिक्सी मे पिसवाकर उनमे एक कप पानी डालकर उन्हें पिया करता हूँ। अब तक मनो बादाम ले चुका हूँगा। मैं श्री मनोहर विद्यालंकार को टेलीफोन कर देता हूँ कि खारीबावली से आधा किलो बादाम की गिरियाँ खरीदकर, पं० सत्यदेव जी (कागजी) विद्यालंकार जो ग्रेटर कैलाश में मेरे निकट रहते है, भेज दें। वे भेज देते हैं और सत्यदेव जी ये बादाम मुझे दे जाते हैं। पिछले दिनों की बात है कि सत्यदेव जी बादाम लेकर मेरे घर पर आए और कहने लगे कि आपका 'आध्यात्मिकता की खोज' वाला लेख पढ़ा था, बड़ा दिलचस्प था, परन्तु आप उसमें विमला देवी का उल्लेख करना छोड़ गए। विमला देवी एक आई० ए० एस० की पत्नी हैं। प्रायः विलायत में रहती हैं। कभी-कभी भारत आती हैं और कैम्प लगाकर भक्तों की कुडलिनी का जागरण करती हैं। अन्य भक्तों की तरह मैं भी कुडलिनी जगवाने के लिए उनके यहाँ गया था, उसी की याद भी सत्यदेव जी ने कराई थी।

विमला देवी की शरण में

जिन दिनों की बात मैं लिख रहा हूँ उन दिनों आत्माराम एण्ड संस के मालिक रामलाल पुरी तथा मेरे मित्र श्री रामनाथ पुष्करणाजी जीवित थे। अब इन दोनों को दिवंगत हुए कई वर्ष बीत गए। उन दिनों

जब विमला देवी भारत आई थीं, तब अखबारों में इश्तिहार छपा था कि अमुक स्थान पर वे कुंडलिनी-जागरण का कैम्प लगाएँगी। मैं तो कुडलिनी-जागरण के सदा पीछे ही पड़ा रहा हूँ। इसलिए पत्रों में यह समाचार पढ़कर मैं भी पुरी तथा पुष्करणा को साथ लेकर उनके कैम्प गया। वहाँ वे बैठी थी और उनके सामने अध्यात्म के प्रेमी भक्त अपनी कुंडलिनी जगाने के लिए बैठे थे। विमला देवी के भक्त प्रत्येक भक्त की पीठ पर हाथ फेरते थे, परन्तु मैं नहीं जानता कि उनके पीठ पर हाथ फेरने से उनकी कुडलिनी जाग जाती थी या नहीं। मैं विमला देवी के ठीक सामने बैठ गया। मैंने कहा कि मैं अपनी कुंडली जगवाने आया हूँ। वे बोलीं—"क्या पहले भी किसी को गुरु समझकर गए हो?" मैंने कहा, "गुरु समझकर तो नही, परंतु कुडलिनी जगवाने के लिए गया हूँ।" पूछने लगी—"किसके पास गए हो?" मैंने कहा—"रजनीश के पास।" अपने एक शिष्य को बुलाकर उन्होंने कहा—"इन सज्जन को बाहर ले जाकर कहो कि जमीन पर रजनीश लिखें और उस लेख पर सौ बार जूते का प्रहार करें।" यद्यपि यह माँग बेबुनियाद तथा फिजूल-सी थी, तो भी मैं उस शिष्य के साथ बाहर गया, जमीन पर अपनी अँगुली से 'रजनीश' लिखा और उस पर सौ बार गिनकर जूते की चोट की। यह उपहासास्पद क्रिया करके मैं फिर विमला देवी के पास आ बैठा। मैंने कहा कि "आपकी आज्ञा का मैंने पालन कर दिया है। अब मेरी कुडलिनी आप जगाइये।" वे बोलीं—"तुम्हारी कुंडलिनी जाग गई।" मैंने कहा कि "आपके कहने मात्र से तो मेरी कुंडलिनी जाग नही गई। अब क्या करूँ?" वे बोली—"अब जाओ, तुम्हारी कुंडलिनी जाग गई है।" मैं और पुष्करणा समझ गए कि यह सब पाखंड है। हम उठे और वहाँ से कोरे-के-कोरे घर चले आए।

जब हम विमला देवी जी से मिलने आए थे तो पुष्करणा ने अपना पुराना, फटा जूता पहना हुआ था। कैम्प के भीतर जाने से पहले वह जूता उन्होंने एक तरफ झाडी में छिपाकर रख दिया था ताकि लौटते हुए जूता ढूँढना न पड़े। जब लौटे तो उनका जूता गायब था। परन्तु उसकी जगह उसी रंग का, उसी मेक का, उसी साइज़ का एक नया जूता पडा हुआ था। कोई भक्त भूल से अपने जूते की जगह पुष्करणा का जूता ले गया था। पुष्करणा ने वह नया जूता पहना और खुशी-खुशी घर लौट आए। मैंने पुष्करणा को कहा कि "मेरी कुंडलिनी तो नहीं जगी, तुम्हारी जग गई, क्योंकि तुम्हें फटे जूते की जगह नया जूता मिल गया।"

इस विमला देवी के विषय में मैंने रजनीश के एक ग्रंथ में पढ़ा था कि वे दोनो एक बार बम्बई मे स्वामी मुक्तानन्द जी के आश्रम के पास से होकर गुज़र रहे थे। स्वामी मुक्तानन्द जी को जब पता लगा कि ये दोनों वहाँ से गुज़र रहे हैं तब उन्होंने चेलों को भेजकर इन्हें अपने यहाँ कुछ देर ठहरने का निमंत्रण दिया। ये दोनों वहाँ पहुँचे। इतने में एक हाथी का बच्चा गेंदे के फूलों की माला सूंड में लिये वहाँ आया और उसने स्वामी मुक्तानन्द जी के गले में वह माला पहना दी। यह वहाँ का रोज का कृत्य था। वह हाथी का बच्चा भी पालतू था और भक्तों पर प्रभाव डालने के लिए प्रतिदिन यह नाटक रचा जाता था। रजनीश ने उस ग्रंथ में लिखा है कि जब वे तथा विमला देवी वहाँ से लौटे तो विमला जी ने रजनीश से कहा कि "ऐसा खेल तो हम लोग भी कर सकते हैं।" किस ग्रंथ में यह लिखा है, मुझे स्मरण नहीं। परन्तु मुझे यह याद है कि इस घटना को मैंने श्री रजनीश के किसी ग्रंथ में पढ़ा है। सत्यदेव जी ने विमला देवी की जो बात याद दिलवाई थी उसे प्रकरण-संगत होने के कारण मैंने यहाँ लिख दिया है।

अध्यात्म केवल पाखंड नहीं

मेरे यह सब-कुछ लिखने का वह अर्थ नहीं है कि आध्यात्मिकता के विषय में जो कुछ कहा जाता है वह सब पाखंड है। आध्यात्मिकता की चर्चा करते हुए मैं यह लिखना चाहता हूँ कि आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में बहुत कुछ पाखंड होते हुए भी 'आध्यात्मिकता' तथा 'अध्यात्मवाद' मे बहुत भारी सच्चाई भी है।

इस सम्बन्ध मे मेरे पास जो पत्र आए हैं उनमे एक सज्जन लिखते हैं कि दुःख का विषय है कि आप नब्बे वर्ष के हो गए हैं। आपकी कुंडलिनी जागृत नही हो सकती। कोई समय था जब लोग युगों तक जीया करते थे। आप सब कुछ छोड़कर ब्रह्म-चक्र का ध्यान करो। आपको वहाँ ब्रह्म के दर्शन हो जाएँगे। साथ यह भी लिखा है कि कार्ड मे लिख रहा हूँ, कार्ड छोटा है, बहुत-कुछ नही लिख सकता। अधिक जानकारी चाहो तो पत्र-व्यवहार करो। इस सज्जन ने न अपना नाम लिखा है, न पता लिखा, इसलिए इनसे पत्र-व्यवहार का कोई रास्ता नही है। यह सोचकर कि ये भी कोई पाखंडी सज्जन है, इनका पत्र फाड़कर मैंने फेंक दिया।

एक दूसरे सज्जन लिखते हैं कि उन्होने एक ग्रंथ लिखा है, वह ग्रंथ मैं पढ़ूँ। मैं इनका ग्रंथ क्यों पढ़ूँ। ग्रंथ तो मैंने भी कम-से-कम चालीस लिखे है, परन्तु दुःख की बात तो यह है कि इतना कुछ लिखकर भी मैं कोरे-का-कोरा हूँ और कुडलिनी-जागरण के विषय मे मेरी जिज्ञासा वैसी-की-वैसी बनी हुई है।

एक पत्र मुझे श्री हरिश्चन्द्र विद्यालकार का बान्द्रा (बम्बई) से आया है। इस पत्र मे कुछ सार प्रतीत होता है। वे लिखते हैं :

"गुरुवर्य श्री सत्यव्रत जी, सादर नमस्कार। आपके आध्यात्मिकता की खोज के सिलसिले मे मैं आपको 'विपश्यना' नामक पत्रिका का जुलाई का अंक भिजवा रहा हूँ। यदि आपको पसन्द आए तो इस पद्धति के केन्द्र इगतपुरी मे हो आइए। 'विपश्यना' पद्धति के संचालक श्री सत्यनारायण गोयनका हैं। ध्यान की यह पद्धति ब्रह्म देश से भारत आई है। मैंने अनेक शिविरों मे भाग लिया है" ···इत्यादि।

इस पत्र के आने के बाद मोतीलाल बनारसीदास द्वारा बंगलो रोड, दिल्ली से प्रकाशित 'विपश्यना' नामक पत्रिका मुझे प्राप्त हुई। मैंने उसे पढ़ा। उसकी मुख्य बात निम्न उदाहरण से स्पष्ट है :

विपश्यना ध्यान पद्धति

'विपश्यना' पत्रिका में श्री नृसिंह देव अरोड़ा लिखते हैं : "ध्यान-योग मे 'विपश्यना' ध्यान-पद्धति का सर्वोपरि महत्त्व है। इससे हमारी प्रसुप्त चेतना के अनंत केन्द्र सक्रिय हो जाते हैं। सभी प्रकार के रोग व क्लेश इस पद्धति से ठीक हो जाते हैं और जीवन मे संतोष व समता का उदय होता है। यहाँ तक कि शराब, अफीम, चरस, हशीश, हेरोईन आदि नशीले पदार्थों से भी छुटकारा मिल जाता है।

"योग-विज्ञान के अनुसार तनावो की जड पूर्व-संस्कारो मे होती है। आजकल के वातावरण मे मनुष्य अपने को असुरक्षित मानकर सशंकित रहता है। इस प्रकार उसमे तनाव की स्थिति बनी रहती है। फिर वही तनाव शरीर की नस-नाडियों मे तथा मानसिक भावनाओ व कुंठाओं में प्रकट होते है जो तीव्र होने पर भिन्न-भिन्न प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक रोगों तथा अन्य समस्याओ के रूप मे अवतरित होते रहते हैं। इस प्रकार संसार के प्राणी सुखी नही हैं। यहाँ तक कि अमरीका जैसे वैभवशाली व साधन-सम्पन्न देशों मे सारी लौकिक सुख-सुविधा होते हुए भी वहाँ के लोग उद्विग्न, अतृप्त, उत्तेजित व तनाव-खिंचाव से युक्त जीवन जीते हैं।

"विपश्यना का अर्थ है—शरीर को तटस्थ अन्तर्मन से देखना। विपश्यना का अर्थ है—साक्षी-भाव से, द्रष्टा-भाव से अपने को देखना। शुद्ध साँस के नैसर्गिक आवागमन के प्रति सजग रहता हुआ साधक अपने मन को वश मे रखने का अभ्यास करता है। मन को वश में करने के साथ उसे निर्मल करने का भी काम शुरू होता है, क्योंकि साँस का मन से और मन का विकारों से गहरा सम्बन्ध है। विपश्यना द्वारा अपने आपको साक्षी-भाव से देखने से जैसे-जैसे मानव विकारों से मुक्त होने लगता है, वैसे-वैसे उसे सद्गुणों से भरना सहज हो जाता है। मैत्री, सद्भावना, प्यार, सहनशीलता, करुणा आदि निर्मल मन के नैसर्गिक गुण हैं। इस प्रकार शारीरिक स्तर पर वे सारे रोग, जिनका मन से सम्बन्ध है, बिना किसी डाक्टरी इलाज के

अपने-आप मात्र देखते-देखते दूर हो जाते हैं। अर्थात् साधक धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगता है। दूज का चाँद जिस प्रकार से बढ़ता है और पूर्णिमा का चांद प्राणीमात्र को शीतलता देता है, इसी प्रकार विपश्यना साधना का क्रम है।"

यह तो मैंने 'विपश्यना'-पत्रिका का उद्धरण दिया, परन्तु अगर गहराई से सोचा जाए तो दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली तो यह कि यह कोई नवीन पद्धति नहीं है। दूसरी यह कि यह अत्यन्त कठिन है। इतनी कठिन कि विरला व्यक्ति ही यह पद्धति कर सकता है।

जो लोग 'गीता' की विचारधारा का या 'यजुर्वेद' का अध्ययन करते हैं उनके लिए निष्काम-भाव तथा 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' —ये शब्द अपरिचित नहीं हैं। द्रष्टा-दृश्य भाव, निष्काम भाव तथा त्यागपूर्वक भोग —इन तीनों का एक ही अर्थ है। 'विपश्यना पद्धति' में क्या होता है? मनुष्य अपने आत्मभाव को शरीर से अलग होकर देखता है, वह शरीर से हटकर अपने को शरीर से अलग देखने लगता है। वह देखता है कि जो कष्ट हो रहा है वह एक ऐसे पदार्थ को हो रहा है जो मैं नहीं हूँ, मैं उससे अलग हूँ। मैं द्रष्टा हूँ, देखने वाला हूँ; यह शरीर दृश्य है; मुझसे अलग दीख रहा है। निष्काम-कर्म का भी यही अर्थ है। जब मैं कोई काम करता हूँ तब यह समझकर करता हूँ कि मैं और काम—ये दोनों अलग-अलग नहीं है, एक ही हैं। इसलिए जब मैं सफल नहीं होता तब दुःखी होता हूँ। अगर यह समझकर मैं काम करूँ कि यदि मैं असफल हुआ तो मैं असफल नहीं हुआ हूँ, यह शरीर असफल हुआ; अगर कोई कष्ट हुआ तो मुझ आत्मा को कष्ट नहीं हुआ बल्कि इस शरीर को कष्ट हुआ। त्यागपूर्वक भोग का भी यही अर्थ है। संसार को मैं भोगूँ, परन्तु भोगता हुआ भी उसके सुख तथा दुःख से जुदा रहूँ, उसमें डूब न जाऊँ। इस दृष्टि से 'विपश्यना' 'निष्काम कर्म' 'त्यागपूर्वक भोग'—इन तीनों का तत्त्वतः एक ही अर्थ है। इन तीनों में 'विपश्यना' सबसे कठिन है, बाकी दोनों पद्धतियाँ इतनी कठिन नहीं हैं। विपश्यना कठिन तथा अव्यावहारिक है, बाकी दोनों व्यावहारिक हैं।

'विपश्यना' के विषय में साधकों के अनुभव पढ़कर मैं आश्चर्य में पड़ गया। कहते हैं कि इस पद्धति से शारीरिक रोग दूर हो सकते हैं। परन्तु जोधपुर की श्रीमती नर्मदा देवी 'विपश्यना' पत्रिका में लिखती हैं कि सर्वप्रथम १९८० में अक्तूबर माह में जयपुर के शिविर में मैं सम्मिलित हुई थी। तब से निरन्तर दिन में एक बार साधना करती रही। सनातनी परिवार में जन्मी, आर्यसमाज के सम्पर्क में आकर गायत्री जप तथा हवन करने लगी। किसी उपाय से कुछ न बना, तो 'विपश्यना' के शिविरों में जाने लगी। विपश्यना करने पर शारीरिक-स्तर पर बहुत थकान अनुभव करने लगी। लगभग मूर्छित जैसी अवस्था। मीलों की यात्रा के बाद पाँवों की जो हालत होती है। एक डग भी आगे नहीं बढ़ा जाता है। मानसिक-स्तर पर हर समय झनझनी-सी मालूम देने लगती है। पत्रिका में साधकों के जो अनुभव दिए हैं उनसे तो पता चलता है कि इन पद्धतियों से रोग दूर होने की बजाय बढ़ जाते हैं। श्री हरिश्चन्द्र विद्यालंकार ने, जिन्होंने मुझे पत्र लिखा था, यह भी लिखा है कि वे पिछले ३-४ साल से प्रोस्टेट-ग्रंथि के कैंसर से ग्रस्त हैं। इसका मतलब यह हुआ कि 'विपश्यना-पद्धति' से उनका शारीरिक रोग नहीं गया। इस दृष्टि से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि विपश्यना कोई नवीन पद्धति नहीं है। न इससे किसी साधक का कोई शारीरिक कष्ट दूर होता है। अगर मनुष्य अपने भीतर द्रष्टा-भाव उत्पन्न कर सके, तो वह कष्टों में रहता हुआ भी कष्टों को झेल सकता है। रोग झेलने का अर्थ उसका दूर हो जाना नहीं है।

आध्यात्मिकता का अर्थ

तो फिर, आध्यात्मिकता क्या है? आध्यात्मिकता तो इसी भावना का नाम है कि मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं। परन्तु आत्मा और शरीर इतने मिले-जुले हैं कि इन्हें अलग-अलग समझना बहुत कठिन है।

समझना हो भी सके, तो भी इस प्रकार अनुभव करना तो कठिन ही नहीं, असम्भव-सा है। फिर भी मैं यह कहने से नहीं चूकूंगा कि 'यथार्थ आध्यात्मिकता' इसी का नाम है। इसे चाहे विपश्यना कहें या निष्कामता कहें या भोक्तृ-भोग्यता कहें। ये भिन्न-भिन्न नाम हैं, परन्तु 'यथार्थ-आध्यात्मिकता' इसी का नाम है, भले ही यह कितनी ही कठिन हो।

आध्यात्मिकता कठिन है, परन्तु असम्भव नहीं है। इसके अनेक उदाहरण इतिहास मे पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ :

कोई समय था जब यूरोप में रोमन कैथोलिक धर्म का सर्वत्र प्रभाव था। उसके विरोध मे लूथर ने ईसाइयत मे प्रोटेस्टेंट-धर्म को जन्म दिया। प्रारम्भिक दिनो मे रोमन कैथोलिकों द्वारा प्रोटेस्टेंटों पर अत्याचार होते थे। इस समय इंक्वीजीशन की स्थापना हुई जिसमे जो व्यक्ति प्रोटेस्टेंट घोषित होता था उसे सूली पर चढा दिया जाता था। ऐसा ही एक दृष्टांत इंग्लैंड मे लैटिमर नामक पादरी का है। वह प्रोटेस्टेंट था, उसे जीते-जी आग में जला दिया गया था। जलते-जलते उसने घोषणा की कि उसकी जलती लपटों से जो ज्वालाएँ निकलेंगी वे रोमन कैथोलिको के धर्म को भस्म कर देंगी। हुआ ऐसा ही। इंग्लैंड का राजा आज अपने को प्रोटेस्टेंट कहता है। लैटिमर ने जलते-जलते जो घोषणा की, उसे आध्यात्मिक कहा जा सकता है।

विज्ञान के क्षेत्र मे भी एक ऐसा दृष्टात ब्रूनो का है। उसका कहना था कि सूर्य पृथ्वी के गिर्द नही घूमता, पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमती है। यह सिद्धान्त ईसाइयत के खिलाफ था। ईसाई कहते थे कि पृथ्वी चपटी है, वैज्ञानिक कहते थे कि पृथ्वी गोल है। इस विवाद मे ब्रूनो को आग मे जला दिया गया। वह खुशी-खुशी आग की लपटों मे भस्म हो गया, परन्तु उसने अपने सत्य सिद्धान्त को नही छोड़ा। उसके दृष्टात से सिद्ध होता है कि वह शरीर तथा आत्मा के भेद को देखता था, जिसे विपश्यना कहा जा सकता है। यही अध्यात्मवाद है। शरीर में रहते हुए अपने को शरीर से अलग अनुभव करना ही आध्यात्मिकता है।

देश की स्वतन्त्रता के लिए जो लोग हँसते-हँसते सूली पर चढ़कर अपने प्राणो को त्याग देते हैं उन्हे भौतिकवादी न कहकर अध्यात्मवादी कहना होगा। भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद को कौन भौतिकवादी कह सकता है? ऋषि दयानन्द मृत्यु शैया पर पड़े हुए थे परन्तु मुख पर शान्ति विराज रही थी। ऐसे लोगो को विपश्यना की साधना की आवश्यकता नही पड़ती, वे जन्म से ही अध्यात्मवादी कहे जा सकते हैं। परन्तु कितने ऐसे व्यक्ति है जो शरीर तथा आत्मा के इस भेद को समझते हो। समझते ही नही, जानते हों। जानते ही नही, अनुभव करते हों।

मानसिक संतुलन

ऐसा अनुभव रामायण मे रामचन्द्र जी के जीवन मे मिलता है। इस स्थिति का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है—

> प्रोक्तः राज्याभिषेकाय प्रस्तुतश्च वनाय च ।
> न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥

जब पहले रामचन्द्र जी को बुलाकर कहा गया कि कल तुम्हारा राजतिलक होगा और अगले दिन कहा गया कि राजतिलक होने की जगह तुम्हें १४ वर्ष वन मे रहना होगा—इन दोनो स्थितियो मे न पहली स्थिति मे उन्हें हर्ष हुआ और न दूसरी स्थिति मे उनके मुँह पर विषाद की शिकन पड़ी। इसे अध्यात्मवाद कहते हैं।

जैसा मैं पहले लिख चुका हूँ, अध्यात्मवाद तो इसी का नाम है, परन्तु यह कितना कठिन है—यह

भी क्या हर कोई जानता है। परन्तु इतिहास इसका साक्षी है कि कठिन होता हुआ भी यह संभव है।

इसी भावना को व्यक्त करते हुए गीता में कहा है—"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ, ततो युद्धाय युज्यस्व जयाय कृतनिश्चयः।" उद्देश्य तो वही होना चाहिए जो हम चाहते हैं, परन्तु उद्देश्य सिद्ध न हो, तो हताश नहीं होना चाहिए। इसी को योग-दर्शन में कहा है—"समत्वं योग उच्यते।" आध्यात्मिकता मानसिक समता का नाम है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य कर्म ही न करे, क्योंकि गीता में फल के प्रति आसक्ति से मना किया गया है कर्म करने से नहीं। कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है—"कार्यते ह्यवशः कर्म स्वभावप्रकृतैर्गुणैः।" कर्म नहीं करूँगा, यह कहकर बैठ जाने वाला भी कर्म किए बगैर रह नहीं सकता। परन्तु कर्म करते हुए भी सफलता-असफलता, हर्ष-विषाद के प्रति समभाव रखना ही विपश्यना है, यही आध्यात्मिकता है। मैं आध्यात्मिकता की खोज में यहीं तक पहुँचा हूँ, इससे आगे नहीं पहुँच सका। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए बीच में अनेक रास्ते मिले। अनेक ऐसे व्यक्ति मिले जो गुरु बने हुए थे, जिज्ञासुओं से घिरे थे, परन्तु उनको उलट-पलटकर देखा, वे सब पाखंडी थे और पाखंडी ही नहीं थे, अपने को सत्य मार्ग के अनुगामी समझते थे, ईमानदार होते हुए भी भ्रम में पड़े हुए थे।

मैंने यह लेख कई दिन हुए लिखा था परन्तु मेरी वृद्धा-सेविका ने वह लेख कूड़ा समझकर कूड़े में फेंक दिया। परन्तु मैं चाहता था कि यह विचार सर्वसाधारण तक पहुँचे और कम-से-कम जो अपने को धर्म तथा अध्यात्म का ठेकेदार समझकर जनता की आँखों में धूल झोंकते हैं, उन तक पहुँचे। इसीलिए मुझे यह लेख दोबारा लिखना पड़ा।

[३]

'विपश्यना' एक शुद्ध आध्यात्मिक पद्धति है, परन्तु मनुष्य केवल आत्मा नहीं है, मनुष्य अन्ततोगत्वा शरीर तथा आत्मा—इन दोनों का मेल है, इसमें सन्देह नहीं कि 'विपश्यना' का उद्‌भव योग-दर्शन के उस प्रकरण से हुआ जहाँ 'तदा द्रष्टुः स्वरूपऽवस्थानम्' कहा गया है। परन्तु आध्यात्मिकता शुद्ध आत्मा तक अपने को सीमित रखना है—यह बात मुझे जँची नहीं। आध्यात्मिकता की खोज में मैं उस पद्धति की तलाश में था जिसमे शरीर, मन तथा आत्मा को तथ्य माना जाता था। इस खोज में मैंने 'प्राणायाम' को भौतिक तथा आध्यात्मिक—इन दोनों का समान्वय देखा। 'प्राणायाम' के सिद्धांत पर पहुँचकर मैं समझ पाया कि मैं शुद्ध आध्यात्मिकता की मंजिल पर पहुँच गया, क्योंकि आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता को नकारा नहीं गया। प्राणायाम तक मैं कैसे पहुँचा—इसकी चर्चा करना आवश्यक समझता हूँ क्योंकि प्राणायाम में भौतिक तथा आध्यात्मिक का समन्वय है।

कुछ दिन हुए एक अमरीकी महिला मेरी अंग्रेजी की पुस्तक 'From Old age to Youth through Yoga' लिये हुए मेरा घर ढूँढ़ते हुए मेरे स्थान पर पहुँची। कहने लगी कि आपकी पुस्तक का, यूरोप तथा अमरीका में प्रचार होना चाहिए। वे सात साल से भारत में आनन्दमयी माँ के आश्रम में रहती थी जिन यूरोपियनों अमरीकनों तथा भारतीयों के संपर्क में वह आयी थी, वे सब योग का नाम लेते थे। परन्तु योग क्या है वे नहीं जानते थे। वे इतना ही समझते थे कि कुछ आसन कर लेने का नाम योग है। कहने लगी कि आपने प्रथम बार इस बात पर इस पुस्तक में प्रकाश डाला है कि विविध प्रकार के आसन तो योग का एक छोटा-सा अंग हैं। भारत में भी जहाँ योग के विषय में अधिक जानकारी होनी चाहिए थी, दूरदर्शन के माध्यम से योग के नाम से जो प्रसारण होता था या है, वह योग का नहीं, सिर्फ आसनों का प्रदर्शन होता है, जिसे योग के बजाय

व्यायाम या जिमनास्टिक कहा जा सकता है।

इस अमरीकी महिला ने बहुत ठीक कहा। आजकल जोकोई दो-चार आसन कर लेते हैं वे कहते फिरते हैं कि वे 'योगा' करते हैं। उन्हें यह भी मालूम नहीं कि शुद्ध शब्द 'योग' है, 'योगा' नहीं, परन्तु सब 'योगा' कहते हैं। 'योगा' बोलना एक फैशन हो गया है। जब मैं हालैंड गया तब वहाँ मैंने देखा—एक भारतीय सज्जन जो भारत में पुलिस इन्स्पेक्टर थे, वहाँ 'योगा-टीचर' बने हुए थे—सिखाते थे केवल आसन, या याद करा देते थे कोई गलत-सलत मन्त्र। जिनके यहाँ ठहरा हुआ था उनकी पत्नी ने बतलाया कि एक महात्मा योगी आये थे जिन्होंने सारे परिवार से ५०० डालर लेकर उनमें से हर-एक को गुप्त मन्त्र दिया था—'सामि'। मैंने उन्हें कहा—'सामि' नहीं 'सोऽहमस्मि' दिया होगा। परन्तु परिवार के सब लोग 'सामि-सामि' जपा करते थे। यूरोप में योग के नाम पर यह सब सौदेबाज़ी चल रही है।

तो फिर योग क्या है, और उसमें आसनों का क्या स्थान है? 'योग' का वर्णन पतंजलि मुनि ने करते हुए कहा है—*यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये आठ योग के अंग हैं। 'यम'* का वर्णन करते हुए कहा है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। 'नियम' का वर्णन करते हुए कहा है—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान—ये चार नियम हैं। इस प्रकार नौ प्रक्रियाएँ मिलकर 'योग' बनता है जिसमें आसन का स्थान एक बटा नौ है, जिसे आज योग समझा जाता है। इस तरह से आसन तो योग का केवल थोड़ा-सा हिस्सा है। अगर योग के सम्पूर्ण रूप को लिया जाय, तो योग मुख्य रूप में आध्यामिक है, और क्योंकि इसमें आसनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसलिए वह गौण रूप में आधिभौतिक है। मैंने अपने ग्रन्थ में योग को 'अध्यात्म-प्रधान आधिभौतिक' (Spirituo-physiological) प्रक्रिया कहा है।

आसनों में चार मुख्य आसन हैं—पद्मासन, सिद्ध-पद्मासन, शवासन तथा योग-मुद्रा-आसन। पद्मासन का प्रभाव आर्थराइटिस पर पड़ता है, सिद्ध-पद्मासन का प्रभाव प्रोस्टेट ग्लेंड पर पड़ता है, शवासन का प्रभाव ब्लड-प्रेशर पर पड़ता है, योग-मुद्रा-आसन का प्रभाव शरीर के भीतरी अंगों पर पड़ता है। इनमें डा० के० के० दाते ने, जिनका २२ अप्रैल १९८३ को बम्बई में देहान्त हो गया, शवासन पर अनेक परीक्षण किये और शवासन का यूरोप में सर्वत्र प्रचार किया। डा० दाते भारत के उन विश्वविख्यात चिकित्सकों में थे जिन्हें प्रायः प्रतिमास यूरोप की किसी-न-किसी मैडिकल कान्फ्रेन्स में अध्यक्ष पद के लिए या व्याख्याता के तौर पर बुलाया जाता था। डा० दाते हृदय-रोग के विशेषज्ञ थे, और क्योंकि ब्लड-प्रेशर का हृदय के साथ विशेष संबंध है, इसलिए उन्होंने शवासन को, जो हृदय को शान्त रखता है, अपने अध्ययन तथा परीक्षणों का मुख्य केन्द्र बनाया था। उनके परीक्षणों से सिद्ध हुआ कि शवासन से ब्लड-प्रेशर नीचे आ जाता है, और जो रोगी ब्लड-प्रेशर के लिए एडेलफ़ेन आदि की गोलियाँ लेते हैं शवासन के लगातार करते रहने के बाद वे छूट जाती हैं या इनकी मात्रा कम हो जाती है। वे स्वयं प्रतिदिन १५-२० मिनट तक शवासन किया करते थे, परन्तु वे शवासन को सिर्फ भौतिक व्यायाम नहीं मानते थे। जैसा मैंने पहले लिखा वे इसे अध्यात्म-प्रधान आधिभौतिक आसन मानते थे।

डा० दाते का कथन था कि शवासन का अभिप्राय सिर्फ़ मुर्दे की तरह लेट जाना नहीं है। शवासन का अभिप्राय इस तरह लेट जाना है, जिसमें व्यक्ति के मन में किसी तरह का तनाव या टेन्शन न रहे। ब्लड-प्रेशर या हृदय के रोगों का मुख्य कारण जीवन में हमें परेशान करने वाले तनाव हैं। शवासन करते हुए व्यक्ति को कुछ समय के लिए सब तनावों, सब परेशानियों की छुट्टी कर देनी चाहिए। तनावों का कारण क्या है? अगर विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि उनमें कहीं-न-कहीं हिंसा, असत्य, स्तेय (चोरी), अब्रह्मचर्य (सेक्स), या परिग्रह (लालच) की मनोदशा पायी जायगी। हम किसी से प्रेम करते हैं, किसी से द्वेष; हम कहीं झूठ बोलकर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं; किसी का माल हड़पना चाहते हैं; सेक्स की

दृष्टि से परेशान हैं; अपने पास सब कुछ होते हुए भी और अधिक की चाहना करते हैं और जो कुछ है उसे समेटना चाहते हैं—यही सब कुछ हमारी अशान्ति के कारण हैं। इसी से ब्लड प्रेशर बढ़ता है। डा० दाते का कथन था कि शवासन करते हुए हमें अत्यन्त शान्त-मुद्रा में मुर्दे की तरह पड़ जाना चाहिए, सब विचारों से मुक्त हो जाना चाहिए। यही पतंजलि मुनि का योग है, जो शवासन में व्यक्त होता है।

आजकल लोग जब कोई आसन करते हैं तो समझते हैं कि वे योग कर रहे हैं। जैसा हमने कहा, आसन तो योग का थोड़ा-सा हिस्सा है, बहुत थोड़ा-सा हिस्सा। इतने छोटे-से हिस्से को योग कह देना और समझ लेना कि हम योग कर रहे हैं—'योग' शब्द का दुरुपयोग है। योग भिन्न-भिन्न प्रकार के आसन कर लेना ही नहीं है, इन आसनों के साथ आध्यात्मिकता की पुट मिली हो तभी ये आसन योग के अंग बनते हैं, अन्यथा ये निरे शारीरिक व्यायाम रह जाते हैं। शारीरिक व्यायाम भी लाभप्रद हैं, परन्तु जिस व्यायाम के साथ आध्यात्मिकता मिली हुई हो वही 'योग' कहला सकता है।

जैसे आसन आधिभौतिक, अर्थात् शारीरिक प्रक्रिया है, आध्यात्मिकता के साथ मिलकर यह योग बन जाता है, वैसे प्राणायाम भी आधिभौतिक, अर्थात् शारीरिक प्रक्रिया है, यह भी आध्यात्मिकता की पुट पाकर योग बन जाता है।

प्राणायाम का भौतिक स्वरूप

पहले हमें यह समझना होगा कि प्राणायाम की भौतिक प्रक्रिया क्या है।

भौतिक प्राणायाम के तीन अंग हैं— जिन्हें पूरक, कुम्भक तथा रेचक कहा जाता है। पूरक का अर्थ है—फेफड़ों को शुद्ध वायु से भरना, 'कुम्भक' का अर्थ है—फेफड़ों में भरी शुद्ध वायु को रोकना, 'रेचक' का अर्थ है—आवश्यकतानुसार रोक लेने के बाद अशुद्ध वायु को बाहर निकाल देना।

यह सब कोई जानता है कि हमारा जीवन प्राण-वायु पर निर्भर है। शुद्ध बाह्य-पर्यावरण में जो वायु है, उसमें आक्सीजन होता है। जब हम 'पूरक' करते हैं, तब आक्सीजन-युक्त वायु को फेफडों में भरते हैं। फेफड़े मधु-मक्खी के छत्तों की तरह भिन्न-भिन्न कोष्ठकों से बने हुए हैं। जब हम फेफडों को शुद्ध-वायु से भरते हैं, तब आक्सीजन-युक्त शुद्ध वायु इन कोष्ठकों में भर जाती है। इन कोष्ठकों की बाह्य-परतों में कार्बन-डाय-आक्साइड हृदय से आकर शिराओं में भरा रहता है। रेचक द्वारा फेफड़ों के इन छत्तों में भरी अशुद्ध वायु (कार्बन-डाय-आक्साइड) बाहर निकाल दी जाती है और पूरक द्वारा शुद्ध-वायु का आक्सीजन भीतर खींच लिया जाता है और 'कुम्भक' द्वारा उसे भीतर रोका जाता है। इस प्रक्रिया के लिए हमें शुद्ध वायु को कुछ देर फेफडों में रोकना पड़ता है। इस रोकने को 'कुम्भक' कहते हैं। इसके बाद कार्बन-डाय-आक्साइड को बाहर फेंक देते हैं। कार्बन-डाय-आक्साइड-युक्त वायु को बाहर फेंक देने को 'रेचक' कहते हैं। शुद्ध वायु को फेफड़ों में उतनी देर तक ही रोकना चाहिए जितनी देर तक आसानी से रोका जा सके, इसमें बल-प्रयोग नहीं करना चाहिए।

यह प्राणायाम की भौतिक-प्रक्रिया है सिर्फ 'भौतिक'। यह भौतिक-प्रक्रिया हमारे सोते समय, व्यायाम करते समय, दौड़ते समय अनायास होती रहती है, प्राणायाम की भौतिक-विधि प्राण के आने-जाने को नियम-बद्ध कर देना मात्र है। जब इस नियमबद्ध प्राण के आदान-प्रदान में आध्यात्मिकता को जोड़ दिया जाय, तब भौतिक-प्राणायाम 'योग' बन जाता है। भौतिक-प्राणायाम के साथ आध्यात्मिकता को कैसे जोड़ा जाय?

प्राणायाम का आध्यात्मिक रूप

यह प्रत्येक के अनुभव की बात है कि जब हम कोई शारीरिक श्रम कर रहे होते हैं तब मन में विचार

नहीं चल रहे होते । उदाहरणार्थ, दौड़ते समय मनुष्य दौड़ने में इतना तल्लीन होता है कि दुकान में क्या करेगा या दिन कैसे बितायेगा—यह सब-कुछ नहीं सोच सकता । सोचने-विचारने या मानसिक-क्रिया करने के लिए शारीरिक क्रिया को छोड़ना पड़ता है । हम दौड़ते भी जायें और दार्शनिक-विवेचन भी करते जायें—ये दो बातें नहीं हो सकतीं । धीरे-धीरे टहलते हुए बातें होती हैं, दौड़ते हुए बातें नहीं होती । हम देख चुके है कि योग का ध्येय यम, नियम, आसन, प्राणायाम के बाद प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं । प्राणायाम के बाद मनुष्य प्रत्याहार, धारणा, ध्यान की तरफ चल पड़ता है । जब मनुष्य 'पूरक' प्राणायाम करता है, तब पूरे जोर से साँस को भीतर भरता है, एक तरफ से भरपूर शारीरिक-क्रिया करता है । 'पूरक' की शारीरिक-क्रिया में मनुष्य सोच-विचार नहीं कर सकता, उसकी इन्द्रियों का बाह्य-जगत् से प्रत्याहार हो जाता है, बाह्य-जगत् से हट कर वे एक बिन्दु में केन्द्रित हो जाती हैं, भिन्न-भिन्न मार्गों में नहीं भटक सकती । उनकी धारणा भिन्न-भिन्न मार्गों में न भटक कर एक बिन्दु में समा जाने के लिए सिमट जाती हैं । इसी को योग-दर्शन में 'प्रत्याहार', 'धारणा' तथा 'ध्यान' कहा गया है । 'पूरक' प्राणायाम में भरपूर प्रयत्न से साँस भीतर को खींचा जाता है, फेफड़ों को प्राणवायु से भरा जाता है— फेफड़ों को भरना भौतिक क्रिया है, परन्तु उस प्रक्रिया में कुछ विचार न कर सकना, मन का एक बिन्दु पर केन्द्रित हो स्वतः अपने में सिमट आना, भिन्न-भिन्न विचारों में भटक न सकना, इस प्रकार 'प्रत्याहार' से 'धारणा' तथा 'ध्यान' की स्थिति में बिना प्रयत्न के आ जाना आध्यात्मिक-प्रक्रिया है । फेफड़ों में भरपूर प्राण-वायु भरने के साथ प्राणायाम का आध्यात्मिक स्वरूप प्रारम्भ होता है । जब फेफड़ों में प्राण-वायु भरा जा रहा था, तब हम कोई विचार नहीं कर सकते थे, जब साँस भरा जा चुका, तब हम मन को किसी विचार पर लगा सकते हैं । प्राणायाम की यह अवस्था 'कुम्भक' की अवस्था है । कुम्भक प्राणायाम आधे या एक मिनट का हो सकता है । इस समय हम जिस केन्द्र पर मन को टिकाना चाहें, टिका सकते हैं । मन में मंत्र जपने की यही अवस्था है । प्राणायाम की कुम्भक अवस्था में गायत्री का जप किया जा सकता है, मृत्युञ्जय महामन्त्र का जप किया जा सकता है । जिन मंत्रों की योगी लोग दीक्षा देते हैं उनमें से किसी मंत्र का जप किया जा सकता है । कोई 'सोऽहम्' की, कोई 'तत्त्वमसि' की, कोई किसी अन्य संक्षिप्त मन्त्र की दीक्षा देते हैं । परन्तु इन मंत्रों पर ध्यान करना कुम्भक-प्राणायाम के समय ही सुलभ होता है । अगर एक कुम्भक में चार गायत्री का पाठ हुआ तो दस कुम्भक में चालीस बार गायत्री का सहज पाठ हो जाता है ।

मंत्र में अपने-आप कोई शक्ति नहीं है । मंत्र-पाठ करना तभी सफल होता है जब व्यक्ति को उसके अर्थ का ज्ञान हो । मंत्र पाठ का अर्थ है—अपने को निर्देश देना, अपने को अपनी धारणा में दृढ़ करना । इस प्रकार कुम्भक प्राणायाम के बाद प्राणायाम की तीसरी अवस्था आती है जिसे 'रेचक' कहा जाता है । जैसे पूरक में मन विचारों के ऊहापोह में नहीं पड़ता, वैसे रेचक में भी मन किसी विचार के ऊहा-पोह में नहीं पड़ता । पूरक तथा रेचक का काम प्रत्याहार है, मन को इन्द्रियों के विषयों से अपहृत करना है, कुम्भक का काम मन को ध्यान तथा समाधि में डाल देना है । *यही प्राणायाम का आध्यात्मिक रूप है ।*

इस प्रकार हमने देखा कि आसन तथा प्राणायाम—ये दोनों स्वयं में पूर्ण रूप से 'योग' नहीं हैं, भौतिक-प्रक्रियाएँ हैं, परन्तु आध्यात्मिक संसर्ग से ये दोनों 'योग' बन जाते हैं । आसन तथा प्राणायाम को इन्हीं अर्थों में जो जानते हैं उन्हीं के लिए कहा जा सकता है कि वे 'योग' करते हैं, अन्यथा इन अर्थों को जाने बिना जो योग करते हैं वे योग नहीं करते, 'योगा' करते हैं, जो 'योग' नहीं है, सिर्फ शारीरिक व्यायाम है । लाभ दोनों से है, परन्तु एक से सिर्फ शारीरिक लाभ होता है, दूसरे से शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक लाभ होता है ।

मैं आध्यात्मिकता की खोज में जगह-जगह भटका हूँ । इस सारे भटकनों का परिणाम यही है कि जो

आध्यात्मिकता स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म आत्मा—इन दोनों को सामने रख कर चलती है वही आध्यात्मिकता है, जो शरीर को छोड़ कर चलती है, वह आध्यात्मिकता नहीं है। क्योंकि 'प्राणायाम' में शरीर तथा आत्मा दोनों का मेल है, इसलिए प्राणायामपरक जीवन ही आध्यात्मिक जीवन है, जिसमें यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा, अपरिग्रह) तथा नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान) दोनों समान रूप से मिल जाते हैं।

मेरी बरमा-यात्रा

[डा० सत्यव्रतजी सिद्धान्तालंकार तथा प्रो० विश्वनाथजी विद्यालंकार गुरुकुल विश्वविद्यालय के लिए धन-संग्रहार्थ बरमा गये थे। उसका विवरण डाक्टर सत्यव्रतजी ने 'माधुरी' में दिया था। वह १९२८ की माधुरी में छपा है। उस को हम यहाँ दे रहे हैं।]

[१]

हम लोग २७ को प्रात काल कलकत्ते के हावड़ा स्टेशन पर पहुँच गए। हावडा-स्टेशन के इर्द-गिर्द मोटरों, लारियो, बसो, गाड़ियो और रिक्शाओ की भरमार थी। हमे एक दिन कलकत्ते मे ठहरना था, इसलिए एक मोटर में सामान रखकर आर्यसमाज जा पहुँचे। दिन-भर घूमने-फिरने मे सर्फ किया। सायकाल समाज-मन्दिर मे वसन्तोत्सव मनाया जाने वाला था। बंगाली लोग इस उत्सव को 'सरस्वती-पूजा' के नाम से मनाते हैं। आर्यसमाज में मुझे बोलने के लिए कहा गया। मैंने भी अपने विचार प्रकट किए। यह अंग-अंग मे जीवन का संचार कर देने वाली ऋतु है, इसलिए भारत मे यह दिन मनाया जाता रहा है। किन्तु वसन्तोत्सव भारतीयो का घर में बैठकर मनाने का नही, अपितु बाहर जंगल-बगीचो में जाकर मनाने का त्यौहार है। इस दिन यदि कलकत्ते के आर्यसमाजी लोग बाहर जाकर पिकनिक करें, वही सब लोग हवन आदि करे और फिर इस दिन के महत्त्व पर व्याख्यानादि हो, तो जहाँ यह त्यौहार सजीवता से मनाया जाय, वहाँ बंगाली लोगों मे कुछ प्रचार भी हो जाय। प्राचीन भारत की शिक्षा के केन्द्र शहर नही, जंगल हुआ करते थे। सम्भवतः इसीलिए वसन्तोत्सव, जो जंगल में मनाया जाना चाहिए, बंगाल मे 'सरवस्ती-पूजा' के उत्सव रूप मे मनाया जाता है। इसके अनन्तर मैंने आर्यसमाज द्वारा की हुई सरस्वती-पूजा का जिक्र किया। सरवस्ती-पूजा का अर्थ पत्थर की एक मूर्ति बनाकर उस पर फूल-पत्ती चढ़ा देना नही है। जब ५ प्रतिशत इस विशाल देश में पढ़ने-लिखने वाले हो, तो सरस्वती की मूर्ति बनाकर पूजा करना सरस्वती देवी का उपहास करना है। वास्तविक सरवस्ती-पूजा तभी होगी, जब भारत का एक-एक बच्चा—चाहे पुरुष हो या स्त्री—पठितो की संख्या मे गिना जाने लगेगा।

बड़े शहरो में आतिथ्य-सत्कार कम होता है। अतिथि का अर्थ है, जिसके आने की तिथि का पता न हो परन्तु आजकल आतिथ्य-सत्कार तब होता है, जब आने की तिथि का महीनों पहले निश्चय हो चुकता है। हमने अपने आने की कोई सूचना ही न दी थी, और ऐसी अवस्था मे हमारा जैसा आतिथ्य-सत्कार होना था, वैसा ही हुआ। अगले दिन प्रात.काल हम लोग कलकत्ते से बरमा जाने के लिए चिटगाग के रास्ते चल दिए। वैसे तो कलकत्ते से रंगून जाने के लिए रास्ता सीधा ही है, परन्तु हम लोग अराकान होते हुए जाना चाहते थे। इसलिए बडे रास्ते से चल दिए। जिस गाड़ी पर हम चढ़े, वह स्यालदा-स्टेशन से आसाम के लिए चलती थी। इस प्रकरण में उन यात्रियों को, जो पहले कभी कलकत्ते नहीं आये, स्मरण रखना चाहिए कि 'कलकत्ता' नाम का कोई स्टेशन नहीं है। एक 'हावडा' स्टेशन है, और दूसरा 'स्यालदा'। स्यालदा-स्टेशन से आसाम के लिए गाड़ी जाती है। इसी लाइन पर पोरादाह स्टेशन से दार्जिलिंग के लिए गाड़ी बदलनी पड़ती है। हम लोग ६½ बजे कलकत्ते से चलकर ११ बजे ग्वालंदो घाट

आ पहुँचे। हमारे पास सीधा चिटगांग का टिकट था—जहाज के लिए अलग टिकट लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी। ग्वालंदो से हमें स्टीमर मिला। यह बहुत बड़ा स्टीमर न था, पर बहुत छोटा भी न था। स्टीमर में इतनी भीड़ थी कि बैठने को जगह तक न थी। इंटर-क्लास में १५ आदमियों की जगह थी, परन्तु उसमें ४० से ज्यादा भर रहे थे। हम डेक पर गए, परन्तु वहाँ भी कन्धे-से-कन्धा भिड़ाना पड़ा। जहाज का आधा हिस्सा कुलियों ने घेर रखा था। कुली लोग बड़े मजे से बैठे थे। कोई शरीफ आदमी जगह ढूंढ़ता-ढूंढ़ता उधर जा निकलता, तो वह धक्के मारकर और गाली देकर निकाल दिया जाता था। पूछने पर मालूम हुआ कि आसाम के चाय के खेतों मे काम करने के लिए भारत के भिन्न-भिन्न स्थान से कुलियों को ढूंढ़-ढूंढ़कर लाया जाता है। उन्हे बड़े-बड़े प्रलोभन दिए जाते है : कपड़ा, भोजन, किराया सब कुछ देकर लाया जाता और टी-प्लांटरों के हवाले कर दिया जाता है। जब वे लोग घर से इतनी दूर पहुँच जाते है, तो फिर उनका मालिक ईश्वर ही होता है। इस समय इन लोगों को आराम से रखने के लिए कुछ चपरासी, कुछ मुंशी साथ जा रहे थे। वे उनके लिए शरीफ मुसाफिरों को धक्के देने में भी संकोच नहीं करते थे। मैं बैठा-बैठा इस दृश्य को देखकर असली भारत का चित्र अपनी आँखों के सामने लाने का प्रयत्न कर रहा था। ये लोग पशुओं से किस प्रकार भिन्न है ? क्या इन्हें अपनी अवस्था से सन्तोष न था ? सन्तोष तो क्या, ये लोग गुलामी के टुकड़े खाने के लिए क्या उत्सुकता से न जा रहे थे ? हम मनुष्यता को कितना कुचल रहे हैं ! इन भावो ने थोड़ी देर मे पलटा खाया। कुछ लोग पशु के समान जीवन बिता रहे है, यह ठीक है; परन्तु क्या कई अंशो मे हम भी पशु के तुल्य नही ? मुझे अपने चारों तरफ ऐसे प्राणी दिखाई देने लगे, जो मुझे शायद मनुष्यता के दायरे मे गिनने से हिचकिचाते हो। कई अवसरो पर मै कइयो को मनुष्य समझने से शायद इन्कार कर देता हूँ। क्या संसार का यही नियम है ? इन संकल्प-विकल्पों मे मैं गोते लगा ही रहा था कि इतने में किसी ने मुझे बतलाया कि सर जगदीश चन्द्र बसु भी इसी स्टीमर से जा रहे हैं। आप उनसे मिलना चाहें, तो मिल लीजिएगा। मैं एकदम उठकर उनसे मिलने के लिए चल दिया। वसु महोदय वृद्ध हैं, उनका स्वास्थ्य कुछ ठीक न था। परन्तु मैंने जाते ही चर्चा छेड़ दी कि वनस्पति मे यदि जीवन है, तो शास्त्रों के अनुसार उसका भक्षण भी निषिद्ध ठहरना चाहिए। इतने में उनके डॉक्टर महोदय उठकर आए, और बड़े अदब से कहने लगे कि वसु महोदय का स्वास्थ्य खराब है; यदि हम बातचीत न करें, तो अच्छा हो। परन्तु एक बार प्रश्न उठने पर वसु महोदय को सन्तोष कहाँ ? वह कहने लगे, और हम उन्हे रोकते रहे; परन्तु साथ-ही-साथ वह जो कुछ बोलते गए, उसे सुनते भी रहे। उन्होंने कहा कि संसार मे अहिंसा का नियम नही चल सकता। विश्व मे सर्वत्र जिसका दाँव चलता है, छोटे को मार गिराता है। हमारी जाति में यही विचार हमें कमजोर बना रहे हैं। वनस्पति में ऐसा ही जीवन है, जैसा अन्य प्राणियों में। उन्होने कहा कि यूरोप के अनेक वैज्ञानिको के सम्मुख मैंने वनस्पत्ति-जीवन के निदर्शक कई ऐसे रूप रखे, जिन्हें वे लोग इतर प्राणि-जगत् से पृथक् नही कर सके। हाँ, वनस्पति तथा पशु-जगत् मे कल्पना (Imagination) का भेद अवश्य है। पशुओं में कल्पना होती है, वनस्पतियों में नही। वसु महोदय से गुरुकुल के विषय मे भी कुछ बातचीत हुई। परन्तु आपका स्वास्थ्य अच्छा न था, इसलिए उन्हें नमस्कार कर हम लोग फिर आसाम जाने वाले कुलियों के सम्मुख आकर बैठ गए और जब तक जहाज अगले घाट चाँदपुर आकर नही लगा, तब तक उन्ही की तरफ देखते रहे। उस समय जो-जो भाव हृदय मे उठे थे, उन्हीं की चर्चा करते रहे। ८ बजे सायंकाल को हम लोग चाँदपुर जा पहुँचे।

[२]

हम लोग स्टीमर द्वारा पद्मा-नदी पार करके चाँदपुर पहुँचे थे। रास्ते में जिस किसी से भी नदी का नाम पूछते, तो वह 'पद्दा' कहता। नक्शे मे 'पद्मा' लिखा था। हम 'पद्दा' सुनकर उनसे पूछते – क्या

'पद्मा' तो उत्तर मिलता, नहीं पद्दा ! अन्त में यही तब पाया कि 'पद्मा' को ही ये लोग 'पद्दा' कहते हैं। इस तरफ आकर गंगा का नाम पद्मा हो जाता है। चाँदपुर पहुँचते ही पहले भोजन की चिन्ता हुई। रसगुल्लों के सिवा खाने लायक कुछ न मिला। नमकीन चीज का तो नामोनिशान न था, मानो ये लोग नमक के शत्रु हैं। एक पूड़ी बेचने वाला मिला। पूड़ियाँ क्या थीं बारीक कागज से भी पतली, पेट में बैठ जाने वाली कोई बला थी। साथ खाने को न तो अचार, न तरकारी, खाना ही हो, तो रसगुल्लों से खाओ। अजीब परेशानी थी। स्टेशन के आगे-पीछे सर्वत्र ढूंढ मारा, किन्तु नमक कहीं देखने को नसीब न हुआ। इधर यात्रा करने वालों को अन्य सामान के अतिरिक्त पिसा हुआ नमक तथा मिर्च अवश्य साथ बाँध लाना चाहिए। जब कुछ न मिला तो वही मैदे की पूड़ी और रसगुल्ले खाकर सन्तोष किया। कुछ सन्तरे चूसे, और राम का नाम लेते हुए सो गए। हमारी गाड़ी लवशम होती हुई चिटगाग को चल दी। लवशम से गोहाटी के लिए गाड़ी बदलनी पड़ती है और वहाँ से गाड़ी सीधे आसाम को चली जाती है। हम ऊपर आसाम की तरफ न जाकर नीचे की ओर जा रहे थे।

२१ जनवरी को प्रातःकाल नींद खुली, तो देखा गाड़ी सीताकुण्ड स्टेशन पर खड़ी है। इधर स्टेशनो तथा शहरों के नाम अत्यन्त संस्कृतमय हैं। आसाम मे नामरूप, कामरूप, सुन्दरबन, मणिपुर, गौरीग्राम आदि ऐसे नाम हैं, जो यात्री का ध्यान एकदम आकर्षित कर लेते है। इन्ही नामो मे से लक्ष्मण तथा सीताकुण्ड है। इनका लक्ष्मण तथा सीता से कोई सम्बन्ध जान पडता है। सोचते-ही-सोचते चिटगाग-स्टेशन पर आ पहुँचा। रेलगाडी मे हमें यही तक यात्रा करनी थी। स्टेशन से बाहर निकलते ही हमे एक 'गाइड' (निदर्शक) मिल गया। उसने हमें स्टेशन के नजदीक के एक हिन्दू-होटल मे ला ठहराया। यह होटल भी एक अजीब चीज थी। अन्दर घुसते ही मच्छी की बू से नाक मे कपड़ा देना पडा। हमने पूछा कि क्या ठहरने की कोई ऐसी जगह नही, जहाँ मच्छी न बनती हो ? सारे बगाली यह बात सुनकर हँस पडे। बोले— "बगाली मच्छी जरूर खायेगा। तुम मच्छी नही खा सकता, बंगाली मच्छी खा सकता है !" हमने कहा, "ठीक है, तभी बंगाली बहुत जोरावर है !" खैर,ज्यो-त्यो दो दिन गुजारने ही थे। हम उसी होटल मे ठहर गए। होटल का स्वामी एक उच्च कुलीन ब्राह्मण था, और बैठा-बैठा मजे मे मछली पकड़ने का जाल बुन रहा था। हमने उससे कहा कि हमारे लिए अलग जगह पर साफ बर्तनो मे शुद्ध वनस्पति का भोजन तैयार किया जाय। वह बोला—"अलग जगह कहाँ से लायेगा। हाँ, बर्तन जरूर साफ करके भोजन बना दिया जायेगा।" भोजन भी क्या था, चावल उबाल कर रख दिए थे। हमने चावलों पर ही सन्तोष किया। परन्तु साथ ही मछली मांस-घी से जो उग्र गंध आ रही थी, उससे ग्रास भीतर ले जाने को जी नही करता था। जैसे-तैसे पेट मे कुछ डालकर उठ खडे हुए। विशुद्ध शाकाहारी के लिए विदेश-यात्रा करने मे भोजन की बड़ी अड़चन पड़ती है। अक्सर हमे जो यात्री मिले, वे बड़े मजे मे सब कुछ उड़ा जाने वाले ही थे। इस प्रकार के व्यक्ति को यात्रा मे कोई कठिनाई नही उठानी पडती। घृणा का भाव घर छोड़कर चलने मे ही यात्रा मे मजा आता है। शाकाहारी से यह सब कुछ नही हो सकता। मुझे मास से इतनी नफरत है, यह मुझे इस यात्रा में ही पता चला। पहले कभी मास के इतने निकट होने का अवसर नही आया था। अब चारों तरफ मास-ही-मांस की गन्ध के मारे बार-बार घर लौट जाने को जी करता था। इस प्रकार के संसार मे फिरना सहज काम नहीं है। प्रातःकाल भोजन के बाद फिर उस होटल मे भोजन करने का साहस न रहा। सायंकाल दूध के साथ डबल रोटी खाकर गुजारा किया। अगले दिन होटल वाले से रोटी बनाने के लिए कहा। रोटियाँ क्या थी, बस, आटे को सेंक दिया था। घी बिना लगाए—आठ सूखी-सड़ी रोटियों के आठ आने देने पड़े, और चूँकि आठ आने दिए थे, इसलिए खाना ही पड़ा। इस होटल में लगभग ५० आदमी भोजन करते हैं। जिस दिन हमने रोटी बनवाई, उसी दिन जहाज पर चढ़ना था। हमने होटल वाले से कहा कि "हमारे बैठने की जगह पर ही हमें भोजन परोस दो; क्योकि चौके मे मत्स्या-

हारी लोग भोजन कर रहे थे।" होटल के स्वामी ने कहा कि "आपके चौके में दो ब्राह्मण भोजन कर रहे हैं, वे कायस्थों के चौके में नहीं बैठ सकते; नहीं तो हम उन्हें दूसरे चौके में बैठाकर आपको भोजन करा देते। चौके से बाहर बैठने की जगह भोजन कराने से सब लोग बुरा मानेंगे, इससे धर्म नष्ट हो जायगा। आप लोग तो चले जायेंगे, परन्तु पीछे इसका फल मुझे भुगतना पड़ेगा।" हिन्दू-धर्म की इस सूक्ष्म 'फ़िलॉसफ़ी' को हम तो नही समझ सके; परन्तु आश्चर्य इस बात का रहा कि हम उन बंगालियों में से किसी को समझा भी न सके कि धर्म अलग-अलग चौके में बैठने से नहीं, प्रत्युत उन वस्तुओं से सम्बन्ध रखता है, जिन्हें हम खाते हैं। वे हमारी बात पर हँसते थे, और हम उनकी बात पर। उस समय मालूम पड़ा कि मनुष्य पर बुद्धि का उतना प्रभाव नही होता, जितना आदत का, समाज का और रीति-रिवाजो का।

जहाज का टिकट लेने चले, तो एक और मजेदार बात हुई। इस समय दो कंपनियो के जहाज चिटगांग से रंगून जाते हैं। एक तो बंगाल-कम्पनी है, और दूसरी विश्वविख्यात बी० आई० एस० एन० कम्पनी। दोनों मे कशमकश चल रही है। पहले चिटगांग से रगून का डेक का किराया १४ रु० था, परन्तु अब बी० आई० एस० एन० कम्पनी ने ६ रु० कर दिया है। बगाल-कम्पनी के जहाज पीछे आए है, और उन्हीं का व्यवसाय तोडने के लिए बी० आई० कम्पनी ने किराया इतना कम किया है। बंगाल कम्पनी का चिटगांग से रंगून का किराया १२ रु० है, जिसमें वे भोजन भी डेकवालो को साथ ही देते है। किराया अधिक होने पर भी बंगालियों की अधिक संख्या बंगाल-कम्पनी के जहाजो पर ही जाती है। बी० आई० कम्पनी का एक आदमी ढोल बजा-बजाकर यात्रियों को बतलाता फिरता है कि किराया सिर्फ ६ रु० कर दिया गया है, उनके ३० से ज्यादा एजेन्ट फिरते है, जिन्हे ४० रुपये मासिक वेतन के अतिरिक्त कमीशन दिया जाता है। फिर भी रंगून जाने वाले यात्री प्रायः १२ रुपये देकर बंगाल-कम्पनी से जाते है। हम लोगों के साथ हजार से ज्यादा यात्री चढ़े होंगे। हमे आश्चर्य हुआ कि इतने यात्री यदि इस कम्पनी के जहाज से रंगून जाते हैं, तो इन्हें आशातीत सफलता हो रही है। परन्तु आगे चलकर मालूम हुआ कि उनमें से रंगून जाने वाले बहुत थोड़े हैं। तीन-चौथाई के लगभग ऐसे स्थानो मे जाने वाले है, जहाँ बंगाल-कम्पनी के जहाज नही जाते, जहाँ का उन्हे पास नही मिला। बंगाल-कम्पनी का जहाज चिटगांग से सीधा रंगून जाता है, परन्तु बी० आई० कम्पनी का जहाज अक्याब, कैप्रू, सैंडवे होता हुआ जाता है। यदि बंगाल-कम्पनी को भी इन स्थानो पर जाने का पास मिल जाय, तो शायद बी० आई० कम्पनी के जहाजो से जाने वाले यात्रियों की संख्या बहुत कम हो जाय। बंगाल-कम्पनी का किराया ज्यादा होने पर भी यात्री लोग उसी के जहाज से क्यो जाते हैं, इसका हमने पता लगाना शुरू किया। कुछ बंगाली कहने लगे कि वह देशी कम्पनी है, हमे अपने देश के व्यवसाय को प्रोत्साहित करना चाहिए। हम लोग देशी कम्पनी के होते हुए विदेशी कम्पनी के जहाज से क्यों जायँ, हम किराया अधिक देने के लिए तैयार है, परन्तु देशी जहाज की मौजूदगी मे विदेशी जहाज से न जायेंगे। इन विचारों को सुनकर हमे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। हम बंगाल की तारीफ करने लगे। जहाज के एक प्रामाणिक व्यक्ति से अभी मुझे पता चला है कि बंगाली कम्पनी के जहाज से हजार आदमी तक जाते हैं। परन्तु इस कम्पनी से २०० के लगभग व्यक्ति रंगून जा रहे हैं। यदि बंगाली लोग देश-भक्ति के विचार से ऐसा करते है, तो भारत के दिन अवश्य अच्छे हैं। वह अवस्था भी तब, जबकि यात्री प्राय. निम्न श्रेणी के होते है। उन बंगालियों से ये बातें हो ही रही थी कि बी० आई० कम्पनी का एक एजेन्ट आ पहुँचा। वह उन बंगालियों को अपनी कम्पनी के जहाज से जाने की प्रेरणा करने लगा। इतने मे एक बंगाली बोल उठा यदि जहाज वाले रंगून मे जाकर हमारे कान काट डाले, तो! यह सुनकर इसका रहस्य हमने एजेन्ट से पूछा। उसने बतलाया कि पहले बी० आई० कम्पनी के लोग यात्रियों पर बड़ा अत्यचार करते थे। एक ही कम्पनी थी, मनमाना किराया वसूल करते और मनमानी चलाते थे। खलासी लोग और जहाज के कर्मचारी जैसा चाहते, वैसा

सलूक यात्रियों से करते थे। उन्हें मारने-पीटने से भी नहीं रुकते थे। अब वैसा नही रहा। पहले 'साला' कहे बिना बात न करते थे, अब बाबा कहते हैं। अपनी कम्पनी की तारीफ मे इश्तिहार बाँटते है। परन्तु पुराने पापों का फल कम्पनी अब भुगत रही है। लोग डर के मारे इस कम्पनी के जहाज पर नही आते, यह सुनकर बडा रंज हुआ। यदि बंगाली लोग बी० आई० कम्पनी के जहाजों से इसीलिए जाते कि यह विदेशी है, तब तो तारीफ की बात थी परन्तु अब पता चला कि वे इसलिए नही जाते कि वे कम्पनी वालों से डरते हैं। इतने ही में एक लड़का बोल उठा था, यदि कान काट डालें, तो ! बंगालियों के चरित्र मे इन दो विरुद्ध धाराओं को देखकर हमे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। अपनी कमजोरी को देश-भक्ति के नाम से छिपाना अच्छा नही !

यद्यपि चिटगांग से रंगून का किराया सिर्फ ६ रुपये है, तथापि बीच के शहरों का किराया बहुत ज्यादा है। चिटगाग से अक्याब का ५ रुपये, कैप्यू का ६ रुपये और चाँदा (सँडवे) का १२ रुपये है। हम लोग चाँदा उतरकर रगून जाना चाहते थे, इसलिए हमे चिटगांग से रंगून का किराया ६ रु० के स्थान मे २२ रुपये देना पडा। बी० आई० कम्पनी का यह घोर अन्याय तथा अत्याचार है। यदि और कोई कारण नहीं तो केवल यह कारण ही इस कम्पनी का बॉयकाट करने के लिए पर्याप्त है। इस प्रकरण में यह लिख देना भी असंगत न होगा कि हम लोग सँडवे के लिए जिस जहाज से उतरे थे, फिर उसी पर तीन घण्टे के बाद चढ गए थे। क्योंकि जिन सज्जन से हम वहाँ पर मिलना चाहते थे, वह उसी समय दूसरे जहाज से किसी दूसरी जगह जा रहे थे। उनकी अनुपस्थिति में हमारा सँडवे उतरना व्यर्थ था। परन्तु हम सँडवे तक का टिकट ले चुके थे, इसलिए हमें रंगून का नया टिकट लेना पड़ा। जहाज वालो को ऐसे अवसर पर अवश्य रियायत करनी चाहिए थी, परन्तु उन्होने किसी तरह की रियायत नही की।

[३]

चिटगांग से ३०वी को सायंकाल हम लोग चकदीना जहाज पर रंगून के लिए रवाना हुए। यात्रियों की संख्या परेशान कर रही थी। मालूम पड़ता था कि बैठने को स्थान न मिलेगा। यात्रियो की पंक्ति आती ही जाती थी। परन्तु न जाने कहाँ खपती जाती थी। १२ बजे से ३ बजे तक लगातार यात्री जहाज पर चढ़ते रहे। ३½ बजे जहाज छूटा, तो देखा कि हरएक यात्री मजे मे बिस्तर बिछाकर लेटा हुआ है। हमारा जहाज डेढ़ हजार यात्रियो को लेकर चिटगाग से चल दिया।

वैसे तो मैं पहले भी समुद्र-यात्रा कर चुका हूँ, कि और बरमा से दूर की यात्रा कर चुका हूँ। परन्तु जहाज के यात्री को प्रत्येक यात्रा में नए-नए व्यक्तियों से मिलना होता है, और हर बार उसे नए-नए अनुभव प्राप्त होते है। जहाज के चलने पर जब मैंने चारों तरफ नजर फेरी, तो तरह-तरह के यात्रियो से अपने को घिरा हुआ पाया। कोई बरमी बोलता था, कोई बँगला और कोई-कोई तो ऐसी भाषा बोलते थे, जिसका नाम भी हमे मालूम न हो सका। इन लोगो के साथ पाँच दिन और रात काटने थे। इन्ही के साथ उठना-बैठना, हँसना और बातचीत करना था। इसीलिए जहाज की यात्रा में भिन्न-भिन्न लोगों का जो परिचय प्राप्त होता है, वह दूसरी यात्रा में नही।

हम लोग हरिद्वार से आ रहे थे, इसलिए सर्दी का सब सामान साथ लाए थे। गरम कोट, कंबल और रजाई ! पर जहाज पर तो खाली ठण्डे कुर्ते मे भी पसीना आ रहा था। इधर सर्दी नही होती। सारे जहाज पर हमे छोड़कर और किसी यात्री के पास कोई गरम कपडा न था। इन दिनो समुद्र भी अत्यन्त शान्त रहता है। प्रशान्त सागर पर जहाज ऐसा तैरता है, जैसे तालाब में बतख। बिना पंख फड़फड़ाए सरोवर मे जिस प्रकार बतख आगे बढ़ती चली जाती है, ठीक उसी प्रकार हमारा जहाज समुद्र की छाती पर मानो उड़ता-सा चला जा रहा था। समुद्र को इस प्रकार हारा हुआ देखकर मेरे पास बैठा

हुआ एक यात्री चिल्ला उठा—"देखो, मनुष्य की शक्ति ! जहाज क्या जा रहा है, मानो मनुष्य प्रकृति को पछाड़ रहा है।" मैंने कहा—"नहीं, प्रकृति चुप बैठी हुई मनुष्य को अपना लाड़ला पुत्र समझकर उसे इस प्रकार चले जाने की इजाजत दे रही है। समुद्र कुपित हो जाय, तो अभी इस जहाज जैसे सैकड़ों जहाजों को मुँह फाड़कर अपने अन्दर कर ले। मनुष्य प्रकृति पर विजय क्या पाएगा, प्रकृति को समझ लेने की भी उसमें शक्ति नहीं है।" चिटगांग से जहाज चला, परन्तु आधा घण्टे तक वह नदी में चलता रहा। आधा घण्टे के बाद हम नदी से निकलकर समुद्र में प्रविष्ट हुए। यह नदी और समुद्र का मेल सांत और अनन्त का मेल था। नदी किस व्यग्रता से समुद्र में लीन होने को उमड़ी चली जा रही थी, और समुद्र किस गम्भीरता से उसे अपनी छाती खोलकर जगह दे रहा था—नदी खत्म हो रही थी, पर समुद्र अविचल था। ये दृश्य अल्पशक्ति जीवात्मा के सामने एक अपूर्व जगत् का पर्दा खोल देते हैं। उसी जगत् की झाँकियाँ देखते-देखते हम नदी से बहुत दूर निकल आए। सात की सीमाएँ अनंत में लीन होने लगीं, और चारों तरफ से 'तू-ही-तू' के नजारे दिखाई देने लगे। क्या सचमुच सांत को छोड़कर अनन्त की झाँकी दिखाई देती है ? इस पर दार्शनिक लोग विचार करें। इतना तो मैं कह सकता हूँ कि नदी और जमीन की परिधियों को छोड़कर, आसमान और समुद्र की सीमा-रहित सीमाओं के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मुझे इस समय नहीं दिखलाई दे रहा है। मैं इस समय अपने चारों तरफ नजर दौड़ाता हूँ, तो मुझे एक विशाल वृत्त दिखलाई पड़ता है, जो आसमान और समुद्र के मेल से उत्पन्न होता है। इसके केन्द्र में मैं बैठा हूँ। इतना बड़ा वृत्त—और ऐसा पूर्ण वृत्त—मानवीय हाथों से खींचा जाना असम्भव है। संसार के सबसे बड़े आश्चर्यों में यह भी एक परिगणन करने योग्य आश्चर्य है। जहाज पर पहली बार यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिए यह वृत्त ही पर्याप्त आमोद तथा आश्चर्य का साधन है।

प्रकृति से आँख फेरकर मैंने जहाज पर अपने सहयात्रियों की तरफ आँख उठाई। यात्री अधिकांश मुसलमान थे। ये प्राय: बंगाल के रहने वाले थे। सब बँगला बोलते थे। बंगाली में संस्कृत के शब्द प्राचुर्य से हैं, अतः इनके मुख से संस्कृत के शब्द सुनकर चित्त को जो आनन्द आता था, वह कभी-कभी आया है। रात को बंगाली मुसलमान भाई गोविन्द के गीत मधुर स्वर में गाते कैसे प्यारे मालूम पड़ते थे। बंगाल के मुसलमान पंजाब के मुसमलानों से भिन्न हैं। यहाँ के मुसलमान बंगाल में खपते से दिखाई देते हैं। उनके मुखों से ऐसी विशुद्ध बंगला निकलती है, उसमें इतने संस्कृत के शब्द होते हैं कि इन्हें मुसलमान कहने को ही जी नहीं करता। कइयों की शक्लें बिल्कुल चट्टोपाध्यायों की-सी हैं। पूछने पर मालूम पड़ता है कि वे मुंशी मुहम्मदअली हैं। यदि हिन्दुओं में जात-पाँत का रोग न होता, तो ये कभी के हिन्दुओं से निकलकर भी, फिर उनमें खप गए होते। दुःख इसी बात का है कि बंगाली ब्राह्मणों के पेट में मच्छी-मांस खप सकता है, परन्तु अपना ही आदमी, सिर्फ दूसरी जात का होने के कारण, उनके धर्म में नहीं खप सकता।

मुसलमान चाहे ऊँची जाति के हों चाहे नीच जाति के, अपने धर्म के बड़े पक्के दिखलाई देते हैं। जिस समय हम लोग गोलन्दो से चाँदपुर जहाज में जा रहे थे, तो एक मौलवी भी आसाम की किसी मस्जिद में वाज़ करने के लिए जा रहा था। उसे जब देखा, उठते-बैठते देखा। एक नमाज़ खत्म न होने पाती कि दूसरी का वक्त आ पहुँचता। सूर्यास्त होते समय मैंने उससे पूछा कि "यह सूर्य कहाँ जा रहा है ?" वह तुरन्त बोल उठा—"कीचड में।" मैंने कहा—"ऐसी बेढंगी बात !" कहने लगा—"कुरान में ऐसा ही लिखा है।" जो दूसरे मुसलमान उसके पास बैठे थे, झट बहस के लिए तैयार हो गए। इस समय इस जहाज पर भी जब किसी मुसलमान की तरफ नजर उठती है, तो वह घुटने पकड़े खड़ा हुआ दिखाई देता है। किसी हिन्दू को परमात्मा को ध्यान करते नहीं देखा। शायद वे मूर्ति के बिना पूजा कर ही नहीं सकते, इसलिए जहाज पर ध्यान-उपासना करने से बेचारे लाचार रहते हैं !

जहाज पर एक बड़ी बुरी बात देखी। वैसे तो जहाज की हवा अत्यन्त पवित्र होनी चाहिए;

क्योंकि समुद्र से हर घड़ी नई-से-नई हवा आती रहती है। परन्तु बंगाली लोग मच्छी खा-खाकर पास बैठने वालों के नाक में दम कर देते हैं। मुसलमानो का रहन-सहन तो प्राय. हमसे भिन्न होता ही है। उनके तो बिस्तर में भुनी हुई मुर्गी और उबले हुए अण्डे बँधे रहते हैं। जहाँ-तहाँ बैठकर ये ऐसा खाने लगते है, जैसे हलवा-पूडी उड़ा रहे हों। इस बदबू के मारे मैं तो पाँचों दिन परेशान रहा। इधर लोग मछली ज्यादा खाते है। मछली को सुखाकर उसे कूट लेते है, कूटने से वह कूटे हुए चावलों जैसी हो जाती है। इस प्रकार मछली देखकर भेद नही किया जा सकता कि कुटे हुए चावल हैं, या मछली। बस, उसमे गुड मिलाकर ऐसे खाते है, जैसे मुरमुरे। इस तरह जहाज पर होटल भी मुसलमान का है। वह रोज हमारे देखते-देखते तीन-चार मुर्गे हलाल करता है, उन्हे पकाता और बदबू से जहाज को भर देता है और चूँकि हम समुद्र-यात्रा कर रहे है, इसलिए हमे सब कुछ अपनी आँखो देखना पडता है। इसका यह अभिप्राय नही कि समुद्र-यात्रा पाप है। हम जहाज पर न चढेंगे, तो क्या ये हजरत मुर्गियाँ मारना बन्द कर देंगे? वह सब तो दुनिया मे होता ही है।

अभी मैं बैठा हुआ लिख रहा था कि एक बंगाली बाबू आए। आप पूछने लगे—"आप क्या खाते हो!" मैंने कहा—'कुछ फल लाये थे, उन्ही पर गुजारा चल रहा है।" बोले—"ब्राह्मण होकर जहाज पर खाते हो! देखो, हमने चार दिन से कुछ नही खाया।" मैंने कहा—"तब तो आप पूजने योग्य हैं। परन्तु यह तो बतलाइए कि अपने लाये हुए फल खाने मे क्या हर्ज है?" आप बोले—"जात तो नष्ट हो जाती है।" मैंने पूछा—"क्या आप मछली खाते हैं?" कहने लगे, "हाँ!" बस, एक तरफ तो ऐसे महानुभाव दिखाई देते हैं, जो सब कुछ खा-पी लेंगे, पर जहाज पर दूसरे लोगो के निकट बैठे होने के कारण जात के खोये जाने के भय से कुछ न खायेंगे। और दूसरी तरफ ऐसे लोग हैं, जो जिन्दा-मुर्दा, सभी कुछ निगल जायेंगे। क्या मनुष्य मध्य-मार्ग पर चलना जानता ही नही? जिस तरफ वह चलने लगता है, उसी तरफ सीमा का उल्लंघन कर देता है?

हमने सैंडवे का टिकट लिया था, इसलिए पहली फरवरी को जहाज के वहाँ पहुँचने पर उतर पडे। उतरने पर मालूम हुआ कि जिन सज्जन से हम मिलना चाहते थे, वह दूसरी जगह जा रहे है। इसलिए भोजन-स्नान आदि करके फिर २ बजे के लगभग अपने जहाज पर आ चढे। हमें ६ रु० के स्थान मे २२ रु० चिटगाँग से रंगून तक के देने पडे थे, इसकी चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूँ।

हमारे साथ जो यात्री है, उन्हें पजाब वगैरह का कुछ ज्ञान नही है। वे लाहौर, आगरा, दिल्ली और करांची को एक ही जगह समझते हैं। यदि हम किसी से कहे कि हम लाहौर से आ रहे है, तो वे एकदम दिल्ली, आगरा, करांची, रावलपिंडी का नाम ले पडते हैं। हम भी कह देते हैं—"हाँ, हाँ।" आखिर हमे भी तो इनके शहरों का उतना ही ज्ञान है, जितना इन्हे हमारे शहरो का। हममे से कितने ऐसे है, जिन्हें बंगाल की खाड़ी का ही ठीक-ठीक बोध हो। हम समझते हैं, वह खाड़ी है। परन्तु वह खाडी कितनी बडी बला है, इसका ज्ञान थोडों को है। ६०० मील से ज्यादा दूरी चिटगाग से रंगून तक की है, और बरसात के दिनों में कई ऐसे स्थान हैं, जहाँ जहाज जाने का साहस ही नही कर सकता। ३० जनवरी को ३ बजे हम लोग चले थे, और ३ फरवरी को प्रातःकाल रंगून पहुँचेंगे—इतनी बड़ी बंगाल की खाडी है, इसका कम-से-कम मुझे तो पहले ज्ञान न था।

जहाज में दूसरे दर्जे के यात्रियों को कोई कष्ट नहीं होता। रेल से यह यात्रा उनके लिए ज्यादा मजेदार रहती है। रेलगाड़ी हर १५-२० मिनट बाद ठहरती रहती है। जहाज चलता है, तो दिनों तक ठहरने का नाम भी नही लेता। हवा भी हर समय ताजी मिलती है। दूसरे दर्जे के यात्रियों का टट्टी आदि का प्रबन्ध भी आदर्श रहता है। डेक के यात्रियों को टट्टी की कुछ तकलीफ अवश्य होती है। परन्तु जो लोग म्युनिसिपैलिटियों की टट्टियों का अनुभव कर चुके हों, उनके लिए तीसरे दर्जे की टट्टी भी कोई बुरी

नही रहती। हर १५वें मिनट बाद समुद्र का पानी ऊपर चढ़कर टट्टी को स्वयं साफ करता रहता है। हाँ, डेक के यात्री ही इतने गन्दे रहते हैं कि सफाई की सब सुविधाएँ होने पर भी चारों तरफ की परिस्थिति को गन्दा करने से बाज नही आते। अभी, जब कि मैं यह लिख रहा हूँ, हमारा जहाज काले पानी से गुजर रहा है। यह अंडमान का काला पानी नही है। यह तो कलकत्ते से सीधा रंगून जाने के रास्ते मे पड़ता है। यह पानी अन्य जल के समान हरा या नीला नही दिखाई देता। यह बिल्कुल काला दिखाई देता है। संभवतः इस कालेपन का कारण पानी की गहराई है।

३ फरवरी को प्रातःकाल हमारा जहाज रंगून आ लगा। खुफिया पुलिस की तेज नजरों ने हमें झट नाम तथा पता लिखने योग्य समझा। उन्हें अपना पूरा-पूरा पता देकर हम लोग रंगून आर्यसमाज-मन्दिर में जा ठहरे।

[४]

बरमा मे जहाँ अन्य बहुत-सी वस्तुएँ है, वहाँ भारत मे सबसे बड़ी चाँदी तथा शीशे की खान, जो नमटू में है, देखने योग्य है। नमटू शान-स्टेट में है। हम लोग नमटू जाने के लिए 'लाशो' से दूसरे स्टेशन 'नाम्यो' उतरे। 'नाम्यो' से नमटू कुल ३२ मील है। 'नाम्यो' उतरते ही हम लोगों को डॉक्टर के सामने पेश होना पड़ा। उसने नाड़ी पर हाथ लगाकर एक पास 'नमटू' जाने का दे दिया। 'नाम्यो' से 'नमटू' के लिए जो गाडी जाती है, वह उन गाडियों की तरह की नही है, जिनमे हम लोग साधारणतः आते-जाते रहते हैं। इस गाड़ी की पटरी हमारी गाडियो से आधी है। डब्बे मालगाड़ी के खुले डब्बों की तरह के हैं। यात्री लोग उन्हीं पर लदे जाते हैं। उन्हे जो टिकट दिया जाता है, उस पर 'पार्सल टिकट' छपा होता है। इस गाड़ी में केवल एक डब्बा अलग से लगा होता है। इसका किराया ज्यादा होता है। प्रायः सफेदपोश यात्री इसी डब्बे में चढ़ना चाहते हैं। परन्तु जो पहले पहुँच जाएँ, उन्ही को जगह मिलती है। हम लोग भी पहले ही पहुँचे थे, इसलिए उसी डब्बे में जा बैठे। इतने में पुलिस के तीन सिपाही पुलिस इंस्पेक्टर का सामान उस डब्बे में चढ़ाने और हमारा सामान उठा-उठाकर फेंकने लगे। उनसे शरीफाना तरीके से ऐसा काम न करने को कहा, तो वे हमारे साथ के एक महाशय को धक्का देकर गुर्राने लगे। वह महाशय अच्छे हट्टे-कट्टे थे। उनसे पुलिस का यह बर्ताव न सहा गया। धक्के के जवाब मे उन्होने मुक्का रसीद किया। धक्कम-धक्का होने लगा। एक तरफ तीन सिपाही, दूसरी तरफ यह अकेले। इन्होंने किसी के नाक में दिया, किसी के पेट मे बस, अकेले तीनो की कमर तोड़ दी। यह कहने पर कि वह डब्बा इंस्पेक्टर के लिए 'रिजर्व्ड' है, हम लोग बिना छतवाली ट्रालियों पर आ बैठे। गाडी चल दी। ३२ मील का तो रास्ता, परन्तु गाड़ी १ घण्टे में कुल ६ मील चली! इंजन का धुआँ और कोयला सीधा सिर पर आकर पड़ता था। कम्पनी आजकल मेहरबानी करके इंजन में कोयला जलाती है, पहले तो लकड़ी जलाती थी। लकड़ी के जलने से शोले उड़-उड़कर यात्रियो के कपड़ों को जला ही नही, परन्तु उनमे छेद भी कर देते थे। यदि रास्ते में लकड़ी खत्म हो जाती थी, तो ड्राइवर यात्रियों को गाडी से उतारकर जंगल से लकडी इकट्ठा करने के लिए हुक्म देता था; और जब तक लकडी काफी इकट्ठी न हो जाती थी, तब तक गाड़ी आगे न चलती थी! पहाड पर गाड़ी का रास्ता खूब घुमाव से जाता है। ऐसे फूल थे, जो किसी भी बगीचे की शोभा को बढ़ा सकते है। वृक्षो का तो कहना ही क्या? यदि यह हरियाली न होती, तो जिस दिक्कत से यह यात्रा समाप्त होती, उसे सोचते ही अब भी दिल घबरा उठता है। आखिर प्रातःकाल के चले हुए हम लोग रात को ६ बजे नमटू के टाइगर-कैंप नामक पड़ाव पर जा पहुँचे। मजे की बात यह थी कि नमटू तक तो रेल का किराया देना पड़ा, उससे आगे सब मुफ्त। नमटू से गाड़ी जहाँ से चलती थी, १० मिनट बाद उसी के नीचे से गुजरती थी। गार्ड के पास न तो सीटी, न झण्डी और न उसके ढंग के कपड़े। रास्ते में

दोनों तरफ जंगल की हरियाली बगीचों को मात करती थी। ऐसे हम लोग मुफ्त टाइगर-कैंप तक आए। जिस कम्पनी की तरफ से रेल चलती है, उसने नमटू से टाइगर-कैंप और 'बाडविन' आने-जाने का कुछ किराया नहीं रखा; क्योंकि इन स्थानों पर रहने वाले सभी कम्पनी के ही नौकर हैं।

हम लोग टाइगर-कैंप में श्रीयुत के० राय के यहाँ ठहरे। आप बड़े भारी ठेकेदार हैं। अगले दिन प्रातःकाल आपने हमे खान दिखाई। नमटू की खान का चालू काम लगभग १२ मील के घेरे में है। चाँदी की चट्टान बाडविन मे है। वहाँ से पत्थर टाइगर-कैंप को लाया जाता है, और यहाँ से फिर गाड़ियो मे लाद-लादकर नमटू पहुँचाया जाता है। यही पत्थर से चाँदी का परिशोध होता है। यहाँ पर १० हजार से ज्यादा कुली काम कर रहे है। रात-दिन २४ घण्टे खुदाई का काम जारी रहता है। आठ-आठ घण्टे तक कुलियों की बारी बँधी हुई हैं। ४० हजार टन पत्थर रोज निकलता है, और भूगर्भ-वेत्ताओ का कथन है कि इस कदर निकलते रहने पर भी इन पहाड़ों मे इतना माल है, जो सैकड़ो सालों तक समाप्त नही होगा। इस काम मे पहले दो कम्पनियाँ फेल हो चुकी है, परन्तु अब जिस कम्पनी के हाथ मे यह काम है, वह नफे पर काम कर रही है। इनका १ लाख का रोज का खर्च है, और २ लाख की रोज की आमदनी। कम्पनी का नाम 'दि बर्मा कारपोरेशन लिमिटेड' है। अंग्रेजी-कम्पनी होने के कारण ज्यादातर बड़े-बड़े ओहदो पर अंग्रेज ही है। यहाँ जो हिन्दुस्तानी बड़े ओहदो पर काम कर रहे है, उनकी ज्यादा से ज्यादा तनख्वाह ५०० रु० है। यहाँ के जनरल मैनेजर को १० हजार प्रतिमास वेतन मिलता है। पहले यहाँ की मेहनत-मजदूरी बिल्कुल चीनी लोगो के हाथ मे थी; क्योंकि चीन यहाँ से ३-४ दिन का रास्ता है। अब ६० फीसदी हिन्दुस्तानी मजदूर है। इसमे जहाँ राजनीतिक विचार काम कर रहे है, वही एक यह भी विचार काम कर रहा है कि यदि चीनी लोग हड़ताल कर दे, तो हिन्दुस्तानी मजदूरो से काम चलता रहता है। इसी प्रकार यदि हिन्दुस्तानी लोग हड़ताल कर दे, तो चीनी लोग काम चला देते है। कम्पनी वाले इस प्रकार मजदूरी का काम अपने शिकंजे में कसे रखते है।

बाडविन की पहाड़ी, जहाँ आजकल खुदाई हो रही है, बिल्कुल रुड-मुंड है। कहते है, खाने अक्सर ऐसे ही पहाडो मे होती है। इसी पहाड़ी मे अनेक स्थानो पर चीनी लोगों की खोदी हुई सुरगे है, जिससे मालूम होता है कि वे लोग इन पहाड़ो मे से चाँदी निकालते रहे है। जगह-जगह चीनियो की बनाई हुई भट्ठियाँ मिलती है, जिससे वे पत्थर से शुद्ध चाँदी निकालते थे। जो 'फेक' वे लोग पीछे छोड़ गए है, उसमे रत्ती-भर भी चाँदी नही है इससे अनुमान होता है कि चीनियो को ऐसे तरीके मालूम होगे, जिनसे वे मशीनरी में भारी खर्च किए बिना ही इतना ऊँचे प्रतिशतक चाँदी निकाल सके। कई जगह पहाड़ खोदते-खोदते पहाड़ में से चीनियो की खोदी हुई सुरगें निकली है, जिनसे संकेत पाकर उसी रास्ते से खुदाई की गई है, और आगे चलकर चाँदी की भारी चट्टानें निकली है। चीनियो की खोदी हुई कई ऐसी सुरंगे मिलती है, जिनमे से आदमी का गुजरना कठिन मालूम होता है; परन्तु फिर भी वे लोग इन्ही सुरगो मे से चाँदी निकालते रहे। इन बातो को देखकर अंग्रेज लोग भी आश्चर्य करते है।

बाडविन की पहाड़ी पर एक बड़ा भारी लिफ्ट लगा है, जिसमे से ३२ आदमी इकट्ठे नीचे जाते है। कुली इसी के जरिए नीचे पहुँचाए जाते हैं। सौ-सौ फीट के नीचे काम चल रहा है। ऊपर से सौ फीट नीचे जाकर चारो तरफ सुरंगे फटती हैं। सौ फीट और नीचे जाकर फिर चारो तरफ खोदा जा रहा है। इस प्रकार नौ सौ फीट नीचे तक खुदाई हो रही है। बाडविन मे ६ सौ फीट नीचे जाकर वहाँ से एक सुरग निकाली गई है, जो ४ मील तक चली गई है, और आकर टाइटर कैंप में निकलती है। यह सुरंग ससार मे सबसे बड़ी खान की सुरंग है। सौ फीट वाले धरातल की सुरंगो मे जो खुदाई हो रही है, उसका पत्थर नल के रास्ते ६ सौ फीट की गहराई वाली सुरंग मे गिराया जाता और वहाँ से ४ मील वाली सुरंग के रास्ते बिजली की ट्रालियो द्वारा टाइगर-कैंप पहुँचाया जाता है, इसी प्रकार दो-सौ, तीन-सौ, चार-सौ और

पाँच सौ फीट की गहराई का माल भी ६ सौ वाली सुरंग में गिराकर लम्बी सुरंग के रास्ते टाइगर-कैंप लाया जाता है। ६ सौ से नीचे भी ७,८ और ९ सौ फीट पर काम हो रहा है। उनका माल लिफ्टों के जरिए ६ सौ फीट गहराई वाली सुरंग मे लाकर टाइगर-कैंप वाली सुरंग में निकाला जाता है। माल के निकलने का रास्ता टाइगर-कैंप की सुरंग ही है, चाहे ऊपर का माल हो चाहे नीचे का। इसलिए यह सुरंग बड़ी आवश्यक है। इसके बनाने में ३ करोड़ रुपये खर्च हुए हैं। जिस समय इस सुरंग का सर्वे हुआ, तो इसकी खुशी में ही लाखों रुपये खर्च कर दिए गए।

हम लोग बाडविन में लिफ्ट के द्वारा नीचे पहुँचे। ऐसा मालूम हुआ, मानों पाताल-लोक में आ गए। अन्दर बाकायदा लम्बी सुरंग बनी हुई है। सुरंग ऐसी ही है, जैसी रेलगाड़ियो की हुआ करती है— उनसे जरा छोटी थी। ऊपर बिजली के लैंप रोशन हो रहे थे। बिल्कुल दिन हो रहा था। माल को बाहर ले जाने के लिए ट्रालियाँ खडी हुई थी। सुरंग के दाएँ-बाएँ और सुरंगें फटती थीं। जहाँ से माल निकाल लिया था, वहाँ मिट्टी भरी जा रही थी, ताकि कहीं ऐसा न हो कि खोखला हो जाने से पहाड़ गिर जाय। इस प्रकार परमात्मा के चाँदी के पहाड़ के गर्भ मे से तत्त्व-तत्त्व निकालकर उसकी जगह पहाड के बाहर की मिट्टी भरने मे हजारो मजदूर लगे हुए थे। हम चढ़ते-चढ़ते उस स्थान पर भी पहुँचे, जहाँ खुदाई हो रही थी। बडा सकटमय दृश्य था, परन्तु प्राणो को संकट मे डालकर हजारों कुली सिर्फ १ रु० या १।। रु० रोज़ पर मानो मृत्यु से जूझ रहे थे। इस दृश्य को देखकर जहाँ एक और मनुष्य की प्रकृति-विजय पर विस्मय हुआ, वही दूसरी तरफ रोटी के दो टुकड़ो के लिए अपने जीवन को संकट मे डालने वालो पर तरस भी आया।

यहाँ से हम लोग ट्रालियो पर बैठ गए, और वे टाइगर-कैंप की तरफ भागने लगी। लगभग ३५ मिनट मे हम सुरंग से बाहर आए। इन ट्रालियो मे सुरंग का माल भरा रहता है, ज्यो-ज्यो ये भरती जाती है बिजली की ट्राम से बाहर आती-जाती हैं। ६-७ ट्रालियाँ इकट्ठी होती है। उनका सामान उलटाना भी साधारण काम नही। परन्तु इस मेहनत को बचाने के लिए वहाँ बडा अच्छा उपाय सोचा गया है। ट्रालियाँ आकर एक गोलाकार लम्बे चक्के मे फँस जाती है। मशीन दबाने से यह चक्का घूमकर ट्रालियो को उल्टा कर देता है, और सारा माल नीचे गिर जाता है। फिर मशीन दबाने से ट्रालियाँ सीधी हो जाती है। एक आदमी ५ मिनट में सब ट्रालियो को खाली कर वापस भेज देता है। नीचे सारा माल मशीन के द्वारा भिन्न-भिन्न कोठों मे भरा जाता है। एक कोठे के नीचे छेद रहता है। गाड़ी को उस छेद के नीचे लाकर खड़ा कर देते है, छेद को खोल देते है, और वैगन मे माल भर जाता है। इस प्रकार वैगनो में कच्चा माल भरकर उन्हे इंजन नमटू ले जाता है, जहाँ शुद्ध चाँदी निकाली जाती है। इस खान में सारा काम इस प्रकार किया गया है, जिससे करोड़ो की मेहनत बच जाती है। एक-एक चीज को देखकर मनुष्य के दिमाग पर आश्चर्य होता है! जब मनुष्य मनुष्य के दिमाग की थाह नही पा सकता, तो परमात्मा के चमत्कारों मे दखल देना किसी अक्लमन्द का काम नही हो सकता।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

मेरी हालैंड यात्रा

श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

दिल्ली से एम्सटर्डम तक

१९८१ के मध्य मे हालैंड के श्री रामवरन दिल्ली मे मेरे मकान पर आये। कहने लगे कि आपकी वैदिक-विषयो पर लिखी पुस्तकें हालैंड मे बहुत पढी जाती हैं। मैंने कहा, "मेरी पुस्तकें अधिकतः हिन्दी मे हैं। हालैंड मे डच भाषा बोली जाती है, वहाँ मेरी पुस्तको को कौन पढेगा? उन्होने कहा, "आपकी लिखी 'संस्कार चंद्रिका', 'उपनिषद भाष्य' तथा 'गीता-भाष्य' की अनेक प्रतियाँ तो मैं स्वय मँगवा चुका हूँ।" तीन महीने बाद उनका पत्र आया कि हालैंड के लोगो का विचार है कि आपको हालैंड बुलाया जाय। साथ मे यहाँ जो फोटो उन्होने मेरा लिया था, उसकी भी प्रति भेज दी।

फिर एक दिन अचानक एक सज्जन आये और कहने लगे कि मैं हालैंड से आया हूँ और आपके दर्शन के लिए लालायित रहा हूँ। मैंने कहा, "हाँ, आप पहले भी आये थे, आपका हालैंड से पत्र भी आया था।" वे बोले, "नही, मैं रामवरन नही, हूँ, रामवरन जी का तो देहान्त हो गया, मैं बलदेव प्रसाद तिवारी हूँ। मैं आपकी पुस्तको का अध्ययन करता रहता हूँ। आपकी जन्म-तिथि आपके ग्रंथो के पीछे लिखी देखकर मै सोचा करता था कि इस आयु के व्यक्ति के मैं दर्शन भी कर सकूँगा या नही।"

यह दिसम्बर १९८१ की बात है। मार्च १९८२ के अंतिम दिनों मे ऋषि बलदेव प्रसाद तिवारी का पत्र आया कि हम लोगो ने निश्चय कर लिया है कि मई के अंतिम दिनो मे आपको बुलाकर आपके मुखारविंद से वेदो की व्याख्या सुनें। साथ मे वहाँ की सरकार द्वारा प्रमाणित एक पत्र भेजा जिसमे गारंटी दी गई थी कि मेरे हालैंड निवास का सम्पूर्ण भार वे लोग वहन करेंगे। इस पत्र द्वारा मुझे हालैंड आने का वीसा मिल सकता था।

मैं असमंजस में पड़ गया। जिस बात को मैं अब तक भ्रम समझ रहा था, वह यथार्थ रूप धारण करती हुई नजर आने लगी। मैं पहले भी विदेश जा चुका था, परन्तु इतनी दूर इकला कभी नही गया था। युवावस्था मे मैं पं० विश्वनाथ जी के साथ बर्मा गया था, प्रो० रामदेव जी के साथ अफ्रीका गया था और १९७८ मे आर्य-समाजियों के एक बड़े दल के साथ विश्व आर्य सम्मेलन की अध्यक्षता करने नैरोबी गया था परन्तु अब ८५ वर्ष की अवस्था में अकेले जाना होगा और ऐसे लोगो के बीच जाना होगा जिनसे मेरा कुछ भी परिचय नही। अप्रैल के अन्त मे एयर इंडिया के आफिस से सूचना मिली कि २३ अप्रैल को आपका दिल्ली से एमस्टर्डम आने-जाने का १५,५३७ रुपया किराया जमा कर दिया गया है।

इतना कुछ हो चुकने के बाद मेरा पीछे हटना मुश्किल था। टिकट तो आ गया था, परन्तु उसका उपयोग तभी हो सकता था जब वीसा मिल जाय। वीसा लेने के लिए भी दौड़-धूप करनी पड़ती है। श्री ओम-दत्त जोशी ने यह सारी दौड़-धूप की। अन्ततः मुझे वीसा मिल गया।

मेरी सीट एयर इण्डिया में हालैंड जाने के लिए १५ मई के लिए बुक हो चुकी थी, किन्तु मुझे बम्बई में १३ को ही बुखार हो गया और पेट चलने लगा। कारण यह था कि जहाज में मैंने जो खाना खाया उसमें एक अपचनीय फल भी था जिसने पेट में दर्द कर दिया। बुखार न उतरने और पेट ठीक न होने तक मैं यात्रा नहीं कर सकता था। निश्चय हुआ कि १५ मई की सीट कैंसिल की जाय और तब तक आगे की न सोची जाय जब तक पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ नहीं हो जाता। १६-१७ तक मैं ठीक हो गया और २२ मई की सीट बुक करा ली गई। एमस्टर्डम टेलीफोन से सूचना दे दी गई और मैं २२ मई को प्रातःकाल बम्बई से ७ बजे चलकर हालैंड जाने वाली एयर इण्डिया के विमान मे सवार हो गया।

विलासी जीवन से घृणा

जिस जहाज में मैं यात्रा कर रहा था उसमें मेरी सीट के साथ दो और सीटें थी जिनमे एक डच दम्पति यात्रा कर रहे थे। वे मेरे साथ बम्बई से ही चढ़े थे। वे डच भाषा बोलते थे, परन्तु अंग्रेजी भी अच्छी जानते थे। वे नेपाल गए थे। वहाँ कई महीने ठहर कर अपने देश हालैंड जा रहे थे। नेपाल मे ये दो साल मे एक बार अवश्य जाते हैं और वहाँ शहर मे न रहकर एक गाँव मे झोपड़ी मे रहते हैं, ताकि वहाँ के लोग निर्धनता का कैसा जीवन व्यतीत करते हैं, उसका प्रत्यक्ष अनुभव कर सके। नेपाल के धनी-मानी व्यक्ति अपने गाँव मे उन्हे ले गये थे। तब से वे शहर में न रहकर गाँव मे रहा करते हैं। वे युवा थे। युवक डच अंग्रेज था, युवती यहूदी थी। दोनों का प्रेम-विवाह हुआ था। हालैंड मे भी वे शहर के किसी मकान मे न रहकर बोट मे रहते थे, वह बोट उन्होंने खरीद रखा था। जब वे चाहते, उसे दूसरे स्थान पर ले जा सकते थे।

उनके इस विचित्र जीवन को सुनकर मुझे जिज्ञासा हुई कि वे ऐसा जीवन क्यो व्यतीत कर रहे हैं। उन्होने कहा, "हमे यूरोप के विलासमय जीवन से घृणा है। हम प्रकृति के संसर्ग मे रहना चाहते हैं।" पत्नी तो पाश्चात्य विलासी जीवन की बड़ी भारी आलोचक थी। पति का नाम पैंज और पत्नी का नाम योक सेगल था। मैंने कहा, "सेगल तो भारत के सहगल या सिघल से मिलता-जुलता है।" बात उन्हें बहुत पसन्द आयी। उन्होंने मेरा पता लिख लिया। मैंने उनका हालैंड मे बोट का पता लिख लिया। पत्नी ने एक बात कही जो बडे मार्के की थी। वह बोली, यूरोप का विकास (Development) नही है, Devilopmemt है अर्थात् यह विकास नही शैतानियत है।

नेपाली बच्चे गोद लिये

उसी हवाई जहाज मे एक और दृश्य देखने को मिला। सामने की दो सीटों पर एक अंग्रेज दम्पति बैठे हुए थे, जिनके पास तीन या चार बरस के दो बच्चे थे। वे बच्चे गोरे नही थे। लगभग श्रीकृष्ण भगवान के रंग से मिलते-जुलते थे। उक्त दम्पति युवा नही वृद्ध थे और इन बच्चो से बहुत प्यार करते थे। वृद्धा तो कभी एक बच्चे को कभी दूसरे बच्चे को गोद में लेकर प्यार करती, कपड़े सँवारती। उन्हे माँ का-सा प्यार देती। मुझे आश्चर्य हुआ कि ये दो बच्चे इनके साथ कैसे जा रहे हैं, इनके माता-पिता कहाँ हैं, क्या किसी दूसरी सीट पर बैठे हैं तो उन्होंने इन बच्चों को अकेला क्यों छोड़ रखा है। वे बहुत ऊधम मचा रहे थे, कभी सीट पर चढ़ते, कभी उतरते, कभी इधर कभी उधर भागते, चिल्लाते-हँसते और शरारत करते थे। मैंने पैंज और योक सेगल से पूछा, ये किसके बच्चे हैं, उन गोरों के तो हो नही सकते जिनके साथ ये जा रहे हैं। सेगल युगल ने मुझे बतलाया कि ये वृद्ध पति-पत्नी डच हैं, और दो वर्ष से नेपाल में इस इच्छा से रह रहे थे कि वहाँ कुछ बच्चो को गोद ले लें। इस दम्पति ने जीवन में बच्चों का सुख नहीं पाया, बच्चे पाने की तलाश मे ही ये नेपाल गये थे। वहाँ सरकार द्वारा ये दो बच्चे इन्हें मिले, जो अनाथ हैं। इनकी बाकायदा रजिस्ट्री कराई गई और अब इन दो बच्चो को लेकर ये अपने देश जा रहे हैं।

सन्तान के लिए तरसते हैं

हालैंड यद्यपि बहुत समृद्ध देश है, तो भी वहाँ बच्चे बहुत कम होते हैं। होते हैं तो एक-दो। शायद यह प्रकृति का अपना खेल है। जितनी अधिक समद्धि उतने कम बच्चे, जितनी अधिक गरीबी उतने अधिक बच्चे। तभी स्विटजरलैंड जैसे समृद्ध देश मे पिछले पचास साल से जनसंख्या उतनी की उतनी है और भारत जैसे गरीब देश में विभाजन से पहले सम्पूर्ण देश की जनसंख्या अगर ३३ करोड़ थी तो विभाजन के बाद सिर्फ भारत की जनसंख्या ६४ करोड़ हो गई है, पाकिस्तान की जनसंख्या तो इससे अलग है। इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि प्रकृति का संदेश है कि न तो सीमातीत अधिक समृद्धि व्यक्ति, देश तथा जाति के हित मे है, न सीमातीत गरीब व्यक्ति, देश तथा जाति के हित में है। जिन देशो मे अधिक समृद्धि है, उन देशों के नागरिक सन्तान के लिए तरसते हैं, जिन देशो में अधिक गरीबी है उन देशों के नागरिक सन्तान अधिक होने के कारण दुःखी हैं।

मैंने पैज तथा योक सेगल दम्पती को बतलाया कि भारतीय संस्कृति में जीवन को चार भागो मे बाँटा गया था। ये चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। इस व्यवस्था के अनुसार सन्तान उत्पन्न करने का आश्रम सिर्फ गृहस्थ आश्रम है, सारी उम्र सन्तान उत्पन्न करते जाना वैदिक संस्कृति का विधान नहीं। उन्होने तो यूरोप में देखा था कि सेक्स-लाइफ पर कोई नियन्त्रण ही नही है, इसलिए उन्हें यह जानकर आश्चर्य तथा प्रसन्नता हुई कि संसार मे एक ऐसी भी संस्कृति है जो सैक्स-लाइफ पर नियंत्रण रखती है। इस समय यूरोप का या कहें कि पाश्चात्य संस्कृति का, सारा वातावरण जन्म से मृत्यु तक सैक्स-ही-सैक्स है, इसके सिवाय भी जीवन का कोई उद्देश्य हो सकता है, इसकी वे कल्पना तक नही करते। सैक्स को जीवन के सिर्फ एक-चौथाई हिस्से तक सीमित कर देना यह बात सेगल दम्पती के लिए नयी थी।

ठीक ३ बजे दोपहर हमारा जहाज एक्सटर्डम आ पहुँचा। विमान एयर पोर्ट से सटकर ऐसा लगा कि जहाज से यात्री बिना नीचे उतरे सीधे विमान-भवन मे जा पहुँचे। एम्सटर्डम का एयर पोर्ट संसार का बड़ा एयर पोर्ट माना जाता है। उतरने पर लगभग एक फर्लांग तक अपना हैंड बैग लेकर चलना होता है। आप दस कदम चलकर ऐसे रास्ते पर जा पहुँचते हैं जो अपने आप चलता है, आपको चलने की जरूरत नहीं होती। इसे एक्सलेटर कहते हैं। एक फर्लांग का रास्ता अपने-आप तय हो जाता है। इस रास्ते को पार कर जहाँ पहुँचे वहाँ यात्रियों का सामान आ पहुँचा। वही पर ट्रालियों का ढेर था जिसमे से एक ट्राली लेकर उस पर सामान रख कर आप कस्टम के आफिस मे सामान ले जाते हैं। अन्य यात्रियों को वह सब मालूम था, इसलिए मिनटों मे कस्टम का आफिस खाली हो गया। मैं अपरिचित था, इसलिए दायें-बायें झाँकने लगा। इतने मे एक कस्टम आफिसर आकर मुझे मेरे सामान के साथ अपने साथ ले गया, और बक्सा खोलकर उसकी जाँच करने लगा कि कही गाँजा आदि मादक द्रव्य तो मेरे बक्से मे नही हैं। मेरे बक्से में होमियोपैथी की कुछ औषधियाँ थी। उन शीशियों को वह बड़े ध्यान से देख रहा था और समझ नही पा रहा था कि ये छोटी-छोटी गोलियाँ क्या हैं। इतने मे प्रोफेसर तेजपाल सुखपाल कस्टम के भीतर आ गये जिन्हें देखकर आफिसर ने मेरी छुट्टी कर दी। श्री सुखपाल पहले इस हवाई अड्डे पर काम कर चुके थे। पेज और योक सेगल मेरे साथ थे। वे मुझे कहने लगे कि बाहर अनेक व्यक्ति आपका स्वागत करने के लिए प्रतीक्षा मे खड़े हैं।

कस्टमे से निकल जब मैं बाहर आया तो २०-२५ भारतीयों को मालाएँ लिये मेरी इन्तजार मे खड़े देखा। मालाएँ गले मे पडी, भिन्न-भिन्न पोजो मे फोटो लिये गए और मैं भारतीय-संस्कृति के इन प्रेमियों के साथ हालैंड में ऋषि बलदेव प्रसाद तिवारी के मकान में जा पहुँचा, जहाँ मुझे इस प्रवास के दिनो मे रहना था।

[२]
घरों में नौकर का नाम नहीं

मैं यहाँ जिस मकान में ठहरा हूँ, वह सामान्यतया अन्य मकानों का भी प्रतीक है। कम से कम भूमि का अधिक से अधिक उपयोग, इसकी विशेषता है। रहने के ६ कमरे हैं। इनके अतिरिक्त एक स्टोर, रसोईघर, शौचालय, स्नानागार और बैठकखाने का भी प्रबन्ध है। देखने में छोटा लगता है, लेकिन एक पूरे परिवार के लिए इसमें सब व्यवस्था है। भूमिगत कमरे भी हैं जो बाहर से नहीं दीखते। उनके लिए नीचे जाने वाली सीढ़ियाँ हैं। छत टाइलों की है। हालैण्ड ही नहीं, सारे यूरोप में सपाट छत देखने को मुश्किल से मिलेगी। छतों का ढलान ऐसा है कि बर्फ या वर्षा का पानी तुरन्त नीचे सरक जाय।

दूसरी विशेषता यह देखी कि दीवारों पर सफेदी से पुताई न होकर एक खास प्रकार का कलामय कागज चिपकाया गया है जिससे हर साल मकान में पोताई या रंगाई की जरूरत नहीं पड़ती। एक बार धुलाई हो जाने पर फिर पहले जैसी चमक आ जाती है। हालैंड में मैंने और भी जो मकान देखे, सब में यही बात थी।

तीसरी बात यह देखी कि हर कमरे का फर्श एक दीवार से लेकर दूसरी दीवार तक गलीचे से ढका था। गलीचा महँगा ही हो, यह जरूरी नहीं। सस्ते से भी काम चल जाता है। प्रतिदिन गलीचे वाले इन फर्शों की सफाई वैकुअम क्लीनर से घर के निवासी खुद करते हैं। झाड़ू-बुहारी की आवश्यकता नहीं होती। उनका प्रयोग इतना आसान है कि फुर्सत होने पर घर के बच्चे भी उसको इस्तेमाल कर सकते हैं। उसके साथ लगी ढोलकीनुमा पेटी में सब कूड़ा जमा हो जाता है जिसे इकट्ठा करके प्लास्टिक के बड़े थैले में डालकर घर के बाहर रख देते हैं। उन थैलों को सरकारी गाड़ी हफ्ते में दो बार आकर ले जाती है। उस कूड़े-कचरे का खाद बनाया जाता है जो बाद में किसानों को बेच दिया जाता है। सिर्फ शहरों ही नहीं, गाँवों तक में भी यही व्यवस्था है। किसी घर में कोई मेहतर या मेहतरानी नहीं है। शौचालय तक की सफाई का काम भी स्वयं ही करना होता है। परेशानी कुछ नहीं होती। बटन दबाया, सब फ्लश हो गया। फिर कैमिकल छिड़क दिया, जिससे दुर्गन्ध भी नहीं रहती। मेहतर की जरूरत ही नहीं।

किसी घर में कोई नौकर नहीं। रसोई बनाने का काम भी स्वयं ही करना होगा। हर घर में गीजर में गैस की आग जलती रहती है। टूटी फेरते ही आग तेज हो जाती है और उस पर कोई भी चीज पकाई जा सकती है। मक्खन, दही, दूध तरह-तरह के अचार, मुरब्बे, चटनी लोग बाजार से खरीद लाते हैं। बर्तन माँजने की भी जरूरत नहीं होती। गीजर के गरम पानी भरे कुंड में उन्हें डाल दो और स्पंज से साफ करके एक तरफ रख दो। मैंने किसी घर में कोई नौकर नहीं देखा। केवल यहाँ के भारतीय ही नहीं, सब गोरे डच लोग भी अपना काम स्वयं करते हैं। धनी देशों के लोग तो अपना सब काम स्वयं करें और भारत जैसे गरीब देश के लोग सफाई करने, भोजन बनाने, बर्तन माँजने और कपड़े आदि धोने के लिए नौकरों पर आश्रित रहें, यह कितनी विडम्बना है!

दो समस्याएँ

मेरे सामने दो समस्याएँ मुख्य थीं। पहली समस्या भोजन की थी। तिवारी परिवार के लोग, जिनके यहाँ मैं ठहरा था, चावल खाने के आदी थे, जबकि मैं रोटी खाने का आदी था। तिवारी जी की पत्नी को रोटी बनानी आती नहीं थी। आखिर मैंने ही उनको परोंठा बनाना सिखाया। इसके अलावा भारत में मेरी आदत दोनों समय दही खाने की थी। पर यहाँ कोई दही जानता नहीं था। बाद में पता लगा कि दही को यूरोप में 'योगर्ट' कहते हैं। यूरोप में दीर्घ जीवन के सम्बन्ध में लिखी गई पुस्तकों में योगर्ट की बहुत प्रशंसा है। असल में

वह दही की ही प्रशंसा है। दही में दूध के तो सब गुण हैं ही, साथ ही वह सुपच है, जबकि दूध दुष्पच है। तिवारी परिवार हालैंड के अन्य परिवारों की तरह शाम को सात बजे भोजन कर लेता था। मैं भारत मे रात को नौ बजे भोजन करने का आदी था। तिवारी परिवार के साथ मैं भी शाम को सात बजे ही भोजन करने लगा। मेरी दूसरी समस्या सोने की थी। मैं भोजन करने के घंटे-भर बाद सोने का अभ्यस्त था। परन्तु हालैंड मे तो रात के ९-१० बजे तक सूरज की धूप चमकती रहती है। मैं भोजन के बाद कमरे के पर्दे गिराकर चारो तरफ से अँधेरा करके सो जाता था, जबकि बाहर लडके शोरगुल मचाते हुए फुटबाल खेल रहे होते थे।

श्री तिवारी ने मुझे हालैंड इसलिए बुलाया था कि २४ मई को उनका जन्मदिन था और वे उस अवसर पर मेरा आशीर्वाद चाहते थे। मुझे यह बात असमंजस मे डालने वाली थी। सिर्फ इतने से काम के लिए इतना भारी व्यय किया जाय। परन्तु तिवारी जी ने बताया कि वे बरसो से मेरे ग्रन्थ पढ़ते रहे हैं और भारत से उन्हे मँगवाकर अपने मित्रों को बाँटते रहे है। इसलिए केवल तिवारी जी ही नही, बल्कि उनके अन्य सब साथियो की भी यह प्रबल इच्छा थी कि वैदिक सस्कृति के ऐसे व्याख्याकार को बुलाकर उसके प्रवचन करवाये जायें। तिवारी जी का जन्म-दिवस तो एक निमित्त मात्र था। मैंने अनेक घरो मे अपनी 'गीता भाष्य' और 'उपनिषद भाष्य' तथा 'संस्कार चन्द्रिका' देखी। मैंने ऐसे लोग भी देखे जिन्होने संस्कृत न जानते हुए भी 'चरक संहिता' और 'महाभाष्य' जैसे ग्रंथ खरीद कर अपने घर मे रखे हुए थे। केवल इसलिए कि उनको भारतीय संस्कृति से प्रेम था और वे इन ग्रंथो को अपने देश की विभूति तथा भारतीय संस्कृति की धरोहर मानते है।

वैदिक विमान-विद्या की खोज

हालैंड में आकर डच नागरिकता प्राप्त करने वाले भारतीय संस्कृति के दीवाने ये कौन लोग हैं? किसी जमाने में हालैंड भी बडा शक्तिशाली देश था और जिस तरह अंग्रेजो ने भारत मे अपना औपनिवेशिक शासन स्थापित किया था वैसे ही सुरीनाम भी डच लोगो के हाथ मे था। वहां की भूमि बहुत उपजाऊ थी। जब सस्ते मजदूरों की जरूरत महसूस हुई तो सुरीनाम के खेतो मे काम करने के लिए भारत के गरीब इलाको से मजदूर भर्ती करके भेजे जाने लगे। इन मजदूरो के साथ ५ साल का एग्रीमेंट होता था और ये गिरमिटिए कहलाते थे। 'एग्रीमेटिया' मे ही बिगडकर गिरमिटिया शब्द बना है। मौरीशस, फिजी, गुयाना आदि देशो मे भी इसी प्रकार भारतीय मजदूर ले जाये गये थे। धीरे-धीरे ये मजदूर उन्ही इलाको मे बस गये, वही उनकी वंश-वृद्धि होती रही और अपने श्रम के बल पर वे धीरे-धीरे समृद्धि की ओर बढने लगे। सुरीनाम केइन भारतीयो के रिस्तेदार भारत मे मौजूद थे। समय-समय पर भारत से आर्यसमाज और सनातन धर्म के उपदेशक वहाँ जाते रहे, जिससे उनकी धार्मिक और सांस्कृतिक विरासत कायम रही। सुरीनाम एक प्रकार से 'छोटा भारत' बन गया। आर्यसमाज की विचारधारा के प्रचार मे श्री मेहता जैमिनी तथा पं० अयोध्या प्रसाद वैदिक मिशन का विशेष हाथ रहा।

सन् १९४७ में भारत के स्वतंत्र होंने के बाद संसार मे सर्वत्र उपनिवेशवादी शक्तियाँ लड़खडाने लगी। जैसे अंग्रेज भारत से हट गये वैसे ही डच लोग भी इंडोनेशिया से हट गये और उन्होने सुरीनाम को भी १९७० में आजाद कर दिया। उसके बाद वहाँ सैनिक नीग्रो शासन स्थापित होने पर जो अव्यवस्था उत्पन्न हुई, उसके कारण ८०,००० भारतीय सुरीनाम से हालैंड मे आकर बस गये। छः साल के बाद इन भारतीयों को डच नागरिकता प्राप्त हुई और उनके वही अधिकार हो गये जो डच लोगों के थे। धीरे-धीरे उच्च शिक्षा प्राप्त करके ये भारतीय दफ्तरों और कारखानों में ऊँचे-ऊँचे पदो पर भी पहुँच गये। परन्तु भारतीय संस्कृति और अपनी धार्मिक आस्थाओं के प्रति उन भारतीयो के अनुराग में कोई कमी नही आई। उसी का यह परिणाम था कि हालैंड के इन भारतीयों ने जब यह समाचार पढा कि 'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' नामक पुस्तक पर मुझे राजा जी का पुरस्कार दिया गया है और भारत के राष्ट्रपति की ओर से संस्कृत के विद्वान् के

रूप में मुझे सम्मानित किया गया है तो उनके मन में मुझे हालैंड बुलाकर मेरे व्याख्यान करवाने की लालसा उत्पन्न हुई।

२४ मई को ऋषि बलदेव प्रसाद तिवारी का जन्मदिन था। इस उपलक्ष्य मे उन्होंने अपने घर पर बृहद यज्ञ का आयोजन किया। इस अवसर पर भारतीय संस्कृति के प्रेमियो की उनके घर पर काफी भीड़ रही। यज्ञ के प्रति लोगो का उत्साह दर्शनीय था। यज्ञ के पश्चात् मेरा समयानुकूल प्रवचन हुआ। तभी मेरे सार्वजनिक भाषणो का कार्यक्रम तय हुआ।

हालैंड में अभी तक आर्यसमाज का अपना कोई भवन नही है, इसलिए एक बड़ा हाल किराये पर लिया गया और वहाँ ५ और ६ जून को सार्वजनिक भाषणो की व्यवस्था की गई। भाषणो की सूचना पत्रों तथा रेडियो द्वारा जनता तक पहुँचायी गई। हाल का किराया एक हजार रुपये के लगभग था। भाषण क्योंकि रात्रि में होने थे, इसलिए वहाँ के रिवाज के अनुसार श्रोताओ के लिए भोजन की व्यवस्था भी की गई। भोजन मे गाय के शुद्ध घी का प्रयोग किया गया था और पूरी आदि के अलावा हलुवा विशेष रूप से तैयार किया गया था। डेढ घण्टे तक उपनिषदो की विचारधारा पर मेरा व्याख्यान हुआ जिसे खचाखच भरे हाल में श्रोताओ ने बडी शान्ति से सुना। रात्रि के १२ बजे हम लोग अपने निवास-स्थान पर पहुँचे। यही सिलसिला ६ जून को भी रहा। उस दिन भी डेढ घण्टे तक व्याख्यान और सभास्थान पर ही भोजन की व्यवस्था रही।

ये व्याख्यान एमस्टर्डम मे हुए। उसके बाद रोटरडम के निवासी भारतीयो की माँग आयी। वहाँ ११ और १२ जून को व्याख्यान हुए जिनमे मन तथा आत्मा के विषय मे वर्तमान मनोविज्ञान के साथ वैदिक विचारधारा के वैज्ञानिक सम्बन्ध पर प्रकाश डाला। रोटरडम मे मैं श्री जीवनदर्शन के निवास-स्थान पर रहा। वे सज्जन वेद मंत्रों का बहुत शुद्ध उच्चारण करते है। रोटरडम मे ही मुझे श्रीमती इन्दु श्रीवास्तव और उनके पति मिले। श्रीमती इन्दु वहाँ की युनिवर्सिटी मे हिन्दी तथा सस्कृत पढाती हैं और श्रीमती सुशीला देवी जौहरी [जिनके लेखों से 'आर्य जगत्' के पाठक सुपरिचित हैं।—स०] की सुपुत्री हैं। श्रीमती सुशीला देवी जौहरी को मैं नाम से जानता था क्योकि वे मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल की प्रयाग मे सहपाठिनी थी।

इसके बाद हेग मे भी, जिसे यहाँ के लोग डनहाग कहते हैं, मेरे व्याख्यान हुए जिसमे कुछ डच अंग्रेज भी उपस्थित थे। व्याख्यान के अन्त मे एक अंग्रेज डच ने मुझे कहा कि वे कुछ घण्टे मुझसे वार्तालाप करना चाहते हैं।

जब मैं श्री तिवारी जी के सुपुत्र श्री केशव के यहाँ ठहरा हुआ था तब ये अंग्रेज सज्जन पुस्तको का भारी बैग लेकर मुझसे मिलने आये। इनके बैग मे 'सत्यार्थ प्रकाश' सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित 'बृहद् विमान शास्त्र' तथा बंगलौर के श्री सुब्बाराय शास्त्री द्वारा अनूदित 'यत्र सर्वस्व' नामक ग्रंथ भी थे। सार्वदेशिक सभा ने जो ग्रंथ छापा है वही ग्रंथ श्री सुब्बाराय शास्त्री ने भी छापा था। दोनो का स्रोत वह हस्तलिखित ग्रंथ है जो महर्षि भारद्वाज द्वारा प्रणीत बताया जाता है और जिसे बड़ौदा के आनरेरी डायरेक्टर आफ इण्टरनेशनल अकादमी आफ संस्कृत रिसर्च, श्री जी० आर० जोसयर ने ढूंढ निकाला था और सन् १९५२ में प्रकाशित किया था। डच सज्जन के पास कुछ ऐसे डिजाइन भी थे जो इन ग्रंथों के आधार पर विमान की आकृति के रूप मे बनाये गये थे। ये सज्जन चारों वेदो का अंग्रेजी अनुवाद प्राप्त करना चाहते थे और जो सामग्री उनके पास थी उसके आधार पर वैदिक विमान-विद्या की तह तक पहुँचना चाहते थे। उन्होने मुझे 'सत्यार्थ प्रकाश' के ११वें समुल्लास का वह स्थल भी दिखाया जहाँ 'भोज प्रबन्ध' का निम्न श्लोक उद्धृत है—

घट्यैकया क्रोशदशैकमश्व:
सुकृत्रिमो गच्छति चारुगत्या।
वायु ददाति व्यजनं सुपुष्कलं
बिना मनुष्येण चलत्यजस्रम् ॥

(—एक ऐसा कृत्रिम घोड़ा तैयार किया गया जो एक घडी (लगभग २४ मिनट) मे ११ कोस अर्थात् बाईस मील सुन्दर गति से चलता था। हवा फेंकने वाला एक ऐसा पंखा भी तैयार किया गया जो बिना मनुष्य के निरन्तर चलता रहता।)

विदेश मे वेद के प्रति गम्भीर रुचि का यह एक उदाहरण है। यदि इन सज्जन के परिश्रम से किसी दिन वैदिक विमान-विद्या का उद्धार हो सके तो यह हम सबके लिए ही बड़े गौरव की बात होगी। मैं इन सज्जन का पता नीचे दे रहा हूँ। जिन विद्वानो की इस विषय मे रुचि हो, वे उन सज्जन से पत्र-व्यवहार कर सकते हैं और उन्हे सहयोग दे सकते हैं। उसका पता यह है—J. N. VAN WEERG, MARKT-WEC. 2525 J. H. DENHAAG, NEDERLAND.

[३]

जहाँ दूध और घी की नदियाँ बहती हैं

एमस्टर्डम के पास एक गाँव है हाफडौर्प। वहाँ श्री तेजपाल सुखलाल रहते है जो यूनिवर्सिटी मे पढ़ाते हैं। श्री सुखलाल मुझे उस गाँव के एक डच किसान के पास ले गये जिसके पास तीस-चालीस गायें थी। लगभग ६५ वर्ष की उम्र के उस किसान के पास जितनी जमीन थी, उसमे उसने चारा बो रखा था। मीलो लम्बी जमीन मे दिन-भर वे गायें चरती-विचरती थीं। शाम को ५ बजे के लगभग गायों के थनो मे इतना दूध उतर आता था कि उनके लिए चलना भी मुश्किल हो जाता था। दूध निकलवाने के लिए बेचैन-सी होकर वे गायें ठीक समय पर शेड मे पहुँच जाती थी, जहाँ मशीन से उनका दूध निकाला जाता था। चारो थनो पर चार कप से लगा दिये जाते और मशीन का स्विच आन कर दिया जाता। शैड के एक तरफ अल्यु-मीनियम की खूब बडी टंकी थी, जिसमे नली के द्वारा दूध आकर जमा होता रहता। एक-एक गौ ४०-४५ लीटर दूध देती थी। टकी मे बिजली से एक मथानी चलती रहती थी जिससे कि मक्खन दूध के अन्दर ही घुला रहे और जमकर ऊपर न आ जाय। इस टंकी मे इस प्रकार मनो दूध इकट्ठा हो जाता था। दूध वालों की एक यूनियन बनी हुई है जो किसानो का दूध इकट्ठा करके ट्रक द्वारा शहर ले जाकर दुकानदारो को निश्चित भाव पर बेच देती है।

इस किसान के पास बड़े-बड़े ट्रक हैं। ५-६ लाख की लागत की एक इतनी बड़ी ट्रकनुमा मशीन उसके पास थी जिससे वह खेत को बोना, चारा काटना और उनके गट्ठर बनाकर ढेर लगा देने का काम लेता था। सारा काम वह किसान स्वयं करता था। उसके पास कोई नौकर नही, एक भतीजा था जो उसका वारिस था। यह किसान और उसका भतीजा सिर्फ दो जने ही यंत्रो की सहायता से गोपालन और दुग्ध-वितरण सम्बन्धी सारा काम सँभालते थे। उस किसान से बात होने पर मैंने उससे पूछा कि तुम्हारे पास कितना धन है तो उसने प्रसन्नतापूर्वक अपने दोनो हाथ पूरी चौडाई तक फैला दिये। मैंने पूछा—मिलियन? उसने कहा—मिलियन नही, मिलियन्स, बल्कि कहिये—बिलियन्स। अर्थात् लाखो नही करोड़ो और सब इसी गोपालन की बदौलत।

वह किसान अपने गाँव से बाहर भी नहीं जाता। उसका मकान किसी शहरी अमीर से कम नहीं था। टेलीफोन, फ्रिज, टेलीविजन आदि आधुनिक जीवन के सब साधन उसके पास मौजूद थे। विस्तृत चरागाहों में चरती हुई उसकी गायो को दूर से देखना एक नयनाभिराम दृश्य था। मैंने इस किसान के साथी और उसके भतीजे तथा उसकी मशीनो के साथ खड़े होकर अपनी तस्वीर खिचवायी। मैं मन ही मन अपने देश के किसानों की तुलना इस किसान से करने लगा। हमारे देश में गोरक्षा का आंदोलन होता है पर हमारे लोग दूध भैंस का पीते हैं। वहाँ भैंस का नाम नहीं। कोई भैंस को जानता ही नहीं। गोमाता की रक्षा का असली उदाहरण देखने का मौका यही मिला और तब मुझे लगा कि हम भारतवासी पाखंडी हैं—जो केवल गोरक्षा का नारा लगाते हैं और गोरक्षा के लिए क्रियात्मक रूप से कुछ नही करते। इस पाखंड मे जनता और सरकार दोनो शामिल हैं।

नहरों का देश

हालैंड नहरों का देश है। वहाँ के लोग कहा करते हैं कि औरों को जमीन परमात्मा ने दी है, परन्तु हालैंड वालो ने जमीन समुद्र से छीनी है। ये अपने श्रम और कौशल से समुद्र को सुखा कर जमीन निकालते जा रहे हैं। उस जमीन पर चरागाह तो बनते ही है, रहने के योग्य मकान भी बनते हैं। सारे देश मे नहरों का ऐसा जाल बिछा है, कि बड़ी नहरों मे से छोटी-छोटी नहरें निकालकर आवश्यकता के समय, जब सूखा पड़ा हो, खेतो को पानी से भर देते हैं। नहरो का तल खेतों से ऊंचा होता है, इसलिए खेतो की सिंचाई मे कोई परेशानी नही होती और देश में अनाज की या चारे की कभी कमी नही रहती।

मानवीय मूल्य

एक दिन मैं तिवारी के पुत्र श्री जगदीश के परिवार के साथ घर लौट रहा था। रास्ते मे एक जगह कार से उतरे। लड़की ने मोटर मे चाबी लगा दी। जब लौटकर आये तो देखा कि चाबी भीतर टूट गई है। घर वहाँ से अभी १५-२० मील दूर था, और मोटर खुल नही रही थी। पास ही एक किसान का घर था। लड़की उस किसान के पास मदद माँगने गई। उसी समय किसान की गाय ब्याई थी। हालैंड का नियम है कि गाय के ब्याने पर उसकी देखभाल के लिए वैटरनरी सर्जन (पशु चिकित्सक) को फोन करके बुलाया जा सकता है। तब तक डाक्टर भी पहुँच गया था। लड़की की विवशता देखकर किसान के दोस्त ने कहा—"चिन्ता की कोई बात नही, मैं अपनी गाड़ी से आपको आपके घर पहुँचा देता हूँ।" और वह तुरन्त अपनी कार लेकर सेवा के लिए हाजिर हो गया। घर पहुँचने पर जब मैंने उसे धन्यवाद दिया तो उसने बड़ी नम्रता से कहा—"धन्य-वाद कैसा, यह तो मेरा नैतिक कर्तव्य था।" तब मैंने अनुभव किया कि यहाँ के किसान जहाँ समृद्धि मे किसी से कम नही हैं, वहाँ नैतिकता के मानवीय मूल्यो से भी ओत-प्रोत हैं।

यहाँ की गायो का दूध क्या, निरा मक्खन होता है। मक्खन की अधिकता के कारण खालिस दूध को पचाना भी मुश्किल होता है, इसलिए दुकानो पर पोलीथीन की थैलियो मे दो प्रकार का दूध मिलता है—फुल मिल्क और हाफ मिल्क। हाफ मिल्क मे भी इतना मक्खन होता है जितना हमारे यहाँ के भैंस के गाढ़े से गाढ़े दूध मे हो सकता है। यहाँ दही भी बना बनाया डब्बों में बिकता है। पहले कह चुका हूँ कि दही को यहाँ 'योगर्ट' कहते हैं। और मैं भोजन मे दोनों समय दही लेने का आदी। मुझे लगा कि दही और दूध का असली आनन्द लेना हो तो हालैंड आना चाहिए। हालैंड मे इतना दूध और मक्खन देखकर यदि मैं कहूँ कि वहाँ दूध-घी की नदियाँ बहती हैं, तो उसे अत्युक्ति नही कहा जा सकता। गोरक्षा का क्रियात्मक रूप देखना हो तो वह यूरोप में जाकर देखना चाहिए।

[४]

जहाँ कोई बेरोजगार और बेकार नहीं

हालैण्ड ऐसा देश है, जिसमे भारतीय दृष्टिकोण से किसी को गरीब नही कहा जा सकता। इसलिए वहाँ गरीबी हटाओ का नारा भी उपहासास्पद है। मैंने यहाँ सभी को मोटरों मे चलते देखा। कुछ लोग साइकिलों पर भी देखे, और बाजार मे पैदल चलने वाले लोगो की भी कमी नही, परन्तु बडी सडको पर एक भी व्यक्ति को पैदल चलते नही देखा। हरेक के पास अपनी बढिया मोटरगाडी है। क्योकि यहाँ स्त्रियाँ भी काम करती हैं, इसलिए साधारण परिवारों में भी पति की गाडी अलग है, पत्नी की गाड़ी अलग और कही-कही बेटे-बेटियो की गाडी अलग। वृद्धावस्था मे भी इतनी पैशन मिलती है कि किसी को आर्थिक तंगी का सामना नही करना पडता। एक तरफ हमारा देश है, जहाँ आजादी के बाद से हम जोर-शोर से 'गरीबी हटाओ' का नारा लगा रहे है, पर गरीबी हमारे देश का दामन नही छोड़ती। हालैण्ड मे क्या जादू है कि वहाँ एक भी गरीब नजर नही आता। अपने देश के नीति-निर्माताओ को हालैण्ड की अर्थव्यवस्था को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

सन्तान होने पर सहायता

इस देश में विवाहित युगल के प्रथम सन्तान होने के तीन महीने बाद दम्पति को २८४ गिल्डर (लगभग ३००० रुपये) वार्षिक मिलना शुरू हो जाता है। रजिस्ट्रार के आफिस मे सन्तान की रजिस्ट्री करानी पड़ती है, उसके बाद हर तीन महीने बाद, अर्थात् साल मे चार बार, २८४ गिल्डर की राशि मिलती जाती है। दूसरी सन्तान होने पर पहली सन्तान का २८४ गिल्डर तो मिलता ही है, दूसरी सतान के नाम का ४६१ गिल्डर और मिलने लगता है। कुल मिलाकर यह राशि ८६४० रुपये बनती है। (गिल्डर की कीमत भारतीय तीन या साढे तीन रुपये के लगभग है।)

तीसरी सतान के होने पर हर तीसरे महीने उक्त दोनो राशियों के अलावा ४६० गिल्डर और मिलने लगते हैं। इसी प्रकार चौथी और पाँचवी संतान पर ५५७ गिल्डर, छठी संतान होने पर ६६१ गिल्डर, सातवी संतान होने पर ६१४ गिल्डर, आठवीं संतान होने पर ६७७ गिल्डर, प्रति तीन माह बाद मिलते रहेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि अगर किसी की दस संतानें हों तो उसे प्रति तीसरे महीने १६,६०४ गिल्डर अर्थात् ५८,८१२ रुपये मिलेगे। सब किसी की दस संतानें नही होती। और केवल हालैंड मे ही नही, बल्कि यूरोप के अन्य देशों मे भी किसी की दो या तीन से अधिक संतानें नही होतीं। परन्तु सरकार की ओर से यह व्यवस्था है कि नई संतान होने पर उसके भरण-पोषण के लिए माता-पिता को अतिरिक्त राशि मिलनी प्रारम्भ हो जाती है। यह राशि तब तक मिलती रहती है, जब तक संतान की आयु २६ वर्ष की नहीं हो जाती। उस उम्र के बाद प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती है कि वह किसी न किसी काम पर लग जाएगा परन्तु यदि कोई २६ वर्ष की आयु से पहले ही, मान लो १६-१७ वर्ष की आयु मे ही, काम पर लग जाय तो उसके माता-पिता को यह राशि मिलनी बन्द हो जाएगी। सरकार की यह व्यवस्था किसी वर्ग विशेष के लिए नही, परन्तु हरेक व्यक्ति के लिए है। चाहे वह व्यापारी हो या औद्योगिक कर्मचारी हो। आधारभूत सिद्धान्त यह है कि यहाँ के किसी नागरिक को सन्तान के पीछे धन के अभाव से पीड़ित नहीं होना चाहिए।

न्यूनतम वेतन

अगला प्रश्न यह है कि वहाँ काम पर लगे हुए लोगों का न्यूनतम वेतन क्या है। यह वेतन आयु के अनुसार दिया जाता है। उदाहरण के लिए, १५ वर्ष की आयु वाले व्यक्ति को ७४५.२० गिल्डर (२,२३५ रुपये)

प्रतिमास मिलेंगे। आयु के हिसाब से दिये जाने वाले मासिक वेतन का क्रम इस प्रकार है—

१५ वर्ष	७४५.२०	गिल्डर
१६ ,,	८८४.८०	,,
१७ ,,	१०२४.६०	,,
१८ ,,	११६४.३०	,,
१९ ,,	१३०४.००	,,
२० ,,	१४४३.७०	,,
२१ ,,	१५८३.५०	,,
२२ ,,	१७२३.३०	,,

इस प्रकार २२ वर्ष की आयु के व्यक्ति को, भले ही वह कोई भी काम करता हो, कम से कम १७२३.३० गिल्डर (अर्थात् भारतीय रुपये के हिसाब से लगभग ५५००) रुपये प्रतिमास मिलता है। २२ वर्ष की आयु के बाद वेतन-क्रम की राशि वही रहती है। काम के लिहाज से निश्चित वेतन की यह न्यूनतम राशि है। हरेक को इससे अधिक ही मिलेगा, कम नहीं। इसके अतिरिक्त प्रतिवर्ष कर्मचारियों को अपनी आय के साढ़े सात प्रतिशत घूमने-फिरने के लिए अलग मिलता है।

बेकारी का इलाज

क्या हालैंड में कोई बेकार नहीं है ? इसका उत्तर है—नहीं। जिन स्थितियों में मनुष्य बेकार हो सकता है, वे स्थितियाँ हालैंड में भी हैं। पर वहाँ उनका उचित समाधान मौजूद है।

कोई कम्पनी दिवालिया हो जाय तो उसमें इतना नुकसान हो कि मालिक कम्पनी को बन्द कर दे या कोई कर्मचारी कम्पनी के मालिक का किसी कारण से कोप-भाजन होकर काम से हटा दिया जाय, तो उसकी आजीविका कैसे चलेगी ? कोई व्यक्ति इतना बीमार हो जाय कि वह काम कर ही न सके तो उसका गुजारा कैसे होगा ? कोई व्यक्ति ऐसा भी हो सकता है जो किसी भी व्यवसाय के योग्य न हो और कहीं भी न खप सकता हो, उस का क्या होगा ? कुछ ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जो योग्य तो हैं, किन्तु उनकी योग्यता के लायक कोई काम उनको नहीं मिल पाता तो उनका गुजारा कैसे होगा ?

इन स्थितियों का समाधान करने के लिए वहाँ की पार्लियामेंट ने कुछ फंड बनाये हैं ? जिनके माध्यम से भिन्न-भिन्न प्रकार से बेकार हुए लोगों की सहायता की जाती है। इस प्रकार के उन्नीस फंड हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं: Aow, Aww, Akw, Aaw, Awry, Zw, Wao, Zfw, Ww, Abw, Rww, Rz, Roz, Ko, Rvo, Wuv, Wwv, Wsw इनमें डब्लू का अर्थ है अधिक नियम (लॉ) जिसे पार्लियामेंट ने पास किया है।

इन फंडों में राशि कहाँ से आती है ? कर्मचारियों के वेतन में से अनुपाततः २४.४२ प्रतिशत पैसा कटकर फंड में जमा होता है और जिस कम्पनी में कर्मचारी काम करता है वह कम्पनी भी अपनी ओर से २५.७ प्रतिशत पैसा जमा करवाती है। यही रुपया भिन्न-भिन्न फंडों में जमा होता रहता है जो बीमारी, बेकारी आदि के समय दिया जाता है। वृद्ध व्यक्तियों को पैंशन भी इन्हीं फंडों में से दी जाती है। हालैंड में कई प्रकार के व्यवसाय हैं, जैसे कपड़ा, कृषि, फर्नीचर, चमड़े का व्यवसाय, शीशे का व्यवसाय, रासायनिक द्रव्य, ब्रैडमेकर, दुग्ध वितरण और बूचड़खाना आदि। इनमें से किसी भी व्यवसाय में लगी हरेक कम्पनी को अपने कर्मचारियों के वेतन का २५.७ प्रतिशत भाग अपनी ओर से सरकारी फंड में जमा करना होता है। यह व्यवस्था बहुत कुछ भारत में प्राविडेण्ड फंड (भविष्य निधि) जैसी है। [पर यहाँ कर्मचारी के वेतन का ८.३३ भाग, और ८.३३ भाग

कंपनी का सरकारी कोष मे जमा करवाना पड़ता है, जो कर्मचारी के रिटायर होने पर एकमुश्त उसे दे दिया जाता है—सं०]

यदि कोई कम्पनी दिवालिया हो जाय या घाटे के कारण बन्द हो जाय और कर्मचारी बेकार हो जाएँ, तो उसे जब तक अन्यत्र काम नही मिलता, तब तक अपने वेतन का ८० प्रतिशत सरकारी फंड से मिलता रहेगा। छ: मास के बाद उस फंड से पैसा मिलना बन्द हो जाएगा और दूसरे फंड से उसे आर्थिक सहायता मिलती रहेगी, जो कि वेतन का ७५ प्रतिशत होगी। यह सहायता उसको ६५ वर्ष की आयु तक मिलती रहेगी। ६५ वर्ष की आयु के बाद उस व्यक्ति को आजीवन उस फड से पेंशन मिलती रहेगी जो फंड बुढापे मे पेंशन देने के लिए ही नियत है। बुढापे की इस पेंशन मे किसी के साथ भेदभाव नही किया जाता। सब के साथ एक-सा व्यवहार होता है। भले ही कोई व्यापारी लाखो रुपया कमा रहा हो, परन्तु ६५ वर्ष का हो जाने पर उसे यह पेंशन मिलेगी, बशर्ते कि वह लेना चाहे। इसके अलावा हरेक पेंशनर को वर्ष मे एक बार १२२७.६१ गिल्डर(लगभग पौने चार हजार रुपये) और मिलता है जो घूमने-फिरने और सैर-सपाटे के लिए होता है। इसलिए यहाँ के वृद्ध व्यक्ति संसार मे जहाँ-तहाँ भ्रमण करते पाये जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति उच्छृंखलतावश काम से निकाल दिया गया हो तो उसे २२ वर्ष की अवस्था के बाद प्रति व्यक्ति को मिलने वाला कम से कम १७२३.३० गिल्डर (लगभग साढे पाँच हजार रुपया) तब तक मिलता रहेगा, जब तक उसे कोई काम न मिल जाय। ६५ वर्ष की आयु के बाद वह पेंशन का अधिकारी तो होगा ही।

इसी प्रकार अगर कोई व्यक्ति रोगग्रस्त हो गया हो तो आगे काम करने की असमर्थता का डाक्टरी सर्टिफिकेट पेश करने पर, इसी काम के लिए निर्धारित अन्य फंड से उसे अपने वेतन का ८० प्रतिशत मिलता रहेगा। जो व्यक्ति सर्वथा अयोग्य है और कोई भी काम करने मे असमर्थ है, उसकी सहायता के लिए अलग फड है, जिससे उसको प्रतिमास न्यूनतम वेतन वाली आर्थिक सहायता मिलती रहेगी। जो व्यक्ति योग्य तो है परन्तु कोई काम न मिलने के कारण बेकार है, तो इसमें उसका दोष नही, बल्कि सरकार अपने आप को जिम्मेवार समझती है और ऐसे लोगो की सहायता के लिए उसने अपनी ओर से अलग फंड बना रखा है। उस फंड से योग्य किन्तु बेकार व्यक्ति को १४०० गिल्डर अर्थात् ४५०० रुपये प्रतिमास मिलता रहेगा।

आयकर की दर

ऊपर जिन फंडो का उल्लेख किया है, वे अधिकतर तो कर्मचारियों और कम्पनियों द्वारा दी गई राशियों से ही निर्मित हैं किन्तु इनके अलावा सरकार टैक्स भी वसूल करती है, जिनका पैसा इन मदो मे काम आता है। सन् १९८१ के अनुसार यहाँ सरकारी टैक्स निम्न प्रकार था—

(१) अगर पुरुष विवाहित है तो उसे ११००० गिल्डर (लगभग ३५,००० रु०) वार्षिक आय पर कोई टैक्स नही देना पड़ता और अगर स्त्री विवाहित है और काम करती है तो उसे २२७८ गिल्डर वार्षिक आय पर इन्कमटैक्स नही देना पडता। पति और पत्नी की आय इन्कमटैक्स के लिए जोड़ी नही जाती।

(२) अगर पुरुष अथवा स्त्री अविवाहित है और आयु ३५ वर्ष से अधिक है तो उन्हे ८८७१ गिल्डर की वार्षिक आय तक आयकर नही देना पड़ता। अगर आयु ३५ वर्ष से कम है तो ६५०६ गिल्डर की आय तक इन्कमटैक्स नही देना पड़ता।

उक्त राशियों से अधिक आय होने पर आयकर की दर इस प्रकार की है कि उससे हालैण्ड की सारी अर्थव्यवस्था की कमी पूरी हो जाती है। इसका विवरण देने की आवश्यकता नही। इतने वर्णन से ही पाठको के सामने स्पष्ट हो जायेगा कि हालैंड की सरकार ने अपने यहाँ सामाजिक सुरक्षा को किस प्रकार ऐसा रूप दिया है कि वहाँ साम्यवादी विचारधारा को पनपने की गुंजाइश ही नही रहती।

इंग्लैंड में मेरे दस दिन

हालैंड में रहते-रहते मैंने सोचा कि कुछ दिन निकाल कर इंग्लैंड भी हो आऊँ। हालैंड के उपनिवेशवाद के शिकार सुरीनामी भारतीय थे। उन्हीं की संतान ने अब हालैंड में आकर अपने परिश्रम से जिस तरह सम्मान और समृद्धि का जीवन बिताना शुरू किया है, उसको देखकर मन मे प्रसन्नता होती थी। इंग्लैंड के उपनिवेशवाद के शिकार हम लोग हुए थे, इसलिए इंग्लैंड को देखने की उत्सुकता भी बहुत थी।

मैं चौदह जून को लन्दन के लिए हवाई जहाज से रवाना हुआ। एमस्टर्डम का हवाई अड्डा खूब बड़ा और कई मंजिल का है। विदेशों से आने वालों के लिए निचली मंजिल है और विदेश जाने वालो के लिए ऊपर की मंजिल है। मोटर सीधे मंजिल के अन्दर तक पहुँचती है। कस्टम मे चैक कराकर मुझे लन्दन जाने वाले विमान के लिए एक फर्लांग लम्बे रास्ते से होकर गुजरना था। हालैंड के भाइयों ने बाहर से ही, क्योकि कस्टम के अन्दर वे नही आ सकते थे, हाथ हिला-हिलाकर बड़े प्रेम से विदा दी। आगे किधर जाना होगा, जब यह पता नही लगा तो मैं लन्दन जाने वाले एक और यात्री के पीछे हो लिया। हम एक्सलेटर पर खड़े हुए और फर्लांग-भर लम्बा रास्ता मिनटों मे पार। एक्सलेटर से उतरते समय मैंने अतिरिक्त सावधानी बरतने की गरज से छलांग लगा दी जबकि मुझे वैसा नहीं करना चाहिए था और सीधे स्वाभाविक रूप से आगे कदम रख देना ही काफी था। फलस्वरूप मैं गिर पड़ा और मेरे कंधे पर लटका सामान भी तितर-बितर हो गया। एक सज्जन मेरे बचाव के लिए आगे बढे। मेरे सिर पर गांधी टोपी देखकर पूछा कि "क्या आप हिन्दुस्तानी हैं?" मैंने कहा, "हाँ।" वे बोले—"मैं पाकिस्तानी हूँ, इन्टरनेशल खेलों का एनाउन्सर हूँ। नाम है—मुहम्मद मुजाहिद बरी, एम० ए०, एम० काम०, एल० एल० बी०। नेशनल हाकी का कमेन्टेटर भी हूँ। मैं भी लन्दन जा रहा हूँ। आप को कही कष्ट नहीं होने दूंगा।" ये सज्जन मेरे लिए सचमुच ही बहुत सहायक सिद्ध हुए।

लन्दन का हीथ्रो हवाई अड्डा भी खूब बड़ा है। मेरे भाई के दामाद श्री नरेन्द्र पुंज और उनकी पत्नी गीता मुझे लेने आये हुए थे। मेरे पास वीसा था नही। तब श्री मुहम्मद बरी ने वीसा वाले अफसरो को बताया कि इनके पास एमस्टर्डम से लन्दन का वापसी का टिकट है। ये एक यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर और पार्लियामेंट मेम्बर भी रहे हैं। यह सुनते ही तुरन्त अफसर ने मेरे पासपोर्ट पर छः मास का वीसा स्वीकृत करने की मुहर लगा दी।

लन्दन आर्यसमाज

लन्दन पहुँचते ही मेरी सबसे पहली उत्सुकता वहाँ के आर्यसमाज मन्दिर को देखने की थी। मैंने श्री पं० सत्यदेव भारद्वाज की, जो अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन लन्दन के अध्यक्ष थे और जिनकी एक बड़ी फैक्टरी लन्दन में है, पुत्रवधू को फोन करके आर्यसमाज का फोन नम्बर पूछा। अगले दिन आर्यसमाज, लन्दन के प्रधान श्री सुरेन्द्र भारद्वाज और पुरोहित श्री गिरीश चन्द्र खोसला आदि मुझे लेने आ पहुँचे।

२० जून को मैंने लन्दन का आर्यसमाज मंदिर देखा—जिसका नाम वन्देमातरम् भवन है और जो एक गिरजेको खरीदकर आर्यसमाज मंदिर बनाया गया है। हाल खूब अच्छा है, काफी बड़ा है। ढाई सौ-तीन सौ आदमी तक बैठ सकते हैं। हाल के साथ ही पुरोहित के लिए एक उत्तम कक्ष बना है, जिसमे शौचालय आदि की अलग से व्यवस्था है। हाल मे एक तरफ अलमारियाँ रखी थी जो पुस्तकों से भरी थी। एक अलमारी मे लन्दन के अन्तर्राष्ट्रीय महासम्मेलन के अवसर पर 'आर्य जगत्' के संपादक श्री क्षितीश वेदालंकार द्वारा संपादित और बहुप्रशंसित स्मारिका की प्रतियाँ रखी थी। उस अवसर के लिए मैंने भी अंग्रेजी में पुस्तक लिखी थी,

जिसका नाम था Glimpses of the Vedas, उसकी तीन सौ प्रतियाँ प्रकाशक ने लन्दन भिजवायी थी। पूछ-ताछ करने पर पता लगा कि उस पुस्तक का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के अवसर पर बाकायदा विमोचन भी हुआ था, लेकिन उसके बाद वे प्रतियाँ कहाँ गईं, कुछ पता नही लगा। आर्यसमाज को केवल ५ प्रतियाँ मिली थी। यह सब जानकर मुझे दुख हुआ। आर्यसमाज के साथ ही उसके पीछे काफी जमीन खाली पडी है, जिसमे आर्य समाज की गतिविधियों के विस्तार की काफी गुँजाइश है। समाज के प्रधान द्वारा मेरे स्वागत के बाद मेरा व्याख्यान हुआ।

हाइड पार्क

जिस देश ने भारत पर लगभग तीन सौ साल तक राज्य किया और जिसके शासन के विरुद्ध हमने सत्याग्रह की लम्बी लडाई लड़ी, उस देश के मुख्य स्थानो को देखने की भी बड़ी इच्छा थी। एक दिन हम हाइड पार्क गये। इंग्लैंड में वाणी की स्वतन्त्रता का प्रतीक है हाइडपार्क। वहाँ हरेक को अपनी बात कहने का अधिकार है। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर छोटे-मोटे मजमे लगे हुए थे और भाषणबाजी चल रही थी। एक मजमे मे एक फिलस्तीनी यहूदियों के विरुद्ध खूब गला फाड-फाडकर बोल रहा था। भीड़ मे से एक बुढिया जो लंगडी थी और बैसाखी के सहारे खडी थी, आगे बढी और भाषणकर्ता की तरफ मुक्का तानकर बोली—You are a liar (तुम झूठे हो)। इससे पता लग गया कि सचमुच ही इस पार्क मे हरेक को अपने विचार प्रकट करने की पूरी स्वतन्त्रता है। कभी स्वर्गीय श्रीकृष्ण मेनन भी इसी पार्क मे खडे होकर भारत की आजादी के समर्थन मे भाषण दिया करते थे। तभी से वे नेहरू जी की नजरो मे चढ़े और अन्त मे भारत के रक्षामंत्री पद तक पहुँचे।

हाइड पार्क के पास ही एक रीजेंट पार्क है। यह भी बहुत बडा है। इसका निर्माण १६३५ में हुआ जब भारत मे आजादी की लड़ाई चल रही थी। मुझे तो ऐसा लगा कि इंग्लैंड के बहुत से भवनों और उद्यानों का निर्माण भारत से आये धन से ही हुआ है। इंगलैण्ड और हालैण्ड दोनों उपनिवेशवादी देश रहे हैं और दोनो के विकास का मुख्य आधार उपनिवेशों से आया धन ही है।

मैं विन्डसर कैसल देखने गया जो लन्दन से २५-३० मील दूर है। इसका निर्माण सन् १८३५ मे हुआ था, जब अंग्रेज भारत पर राज्य करते थे। किले का निर्माण इस ढंग से हुआ है कि उसके ऊपने चढने पर आस-पास के लन्दन का काफी बड़ा भाग दिख जाता है। इसी किले के अन्दर कोहेनूर हीरा रखा हुआ है जिस पर खूब सख्त पहरा है। उसे देखने के लिए अलग से टिकट लेकर जाना पडता है। इसी हीरे के साथ ही ब्रिटिश साम्राज्य के वैभव के प्रतीक अन्य हीरे-जवाहरात और सोने-चाँदी के बहुमूल्य आभूषण रखे हुए हैं। इस किले में पहरा देने वालों की पोशाक अभी तक वही है जो विक्टोरिया के जमाने में हुआ करती थी—लाल वर्दी और सिर पर लाल ऊंचा-सा टोप। उनके साथ खड़े होकर लोग फोटो खिचवाते हैं। वह पहरेदार भी अपनी शानदार वर्दी मे ऐसे निश्चल रहता है जैसे कि कोई बुत हो।

साउथहाल-भारतीयों की बस्ती

इसके बाद में साउथ हाल देखने गया, जहाँ ज्यादातर भारतीयों की आबादी है। मैंने सुना था कि वहाँ गंदगी है, परन्तु देखने पर ऐसा कुछ नही लगा। मकान वैसे ही थे जैसे अंग्रेज गोरो के होते हैं और रहने वाले भी वैसे ही अपटुडेट। सलवार पहने हुए स्त्रियाँ और पगड़ी धारण किये हुए सिख भी वहाँ अच्छी संख्या मे दिखाई दिये। साउथ हाल के बाजार में प्रत्येक हिन्दुस्तानी वस्तु सुलभ थी और रहन-सहन तथा रंग-ढंग मे भी कुछ हिन्दुस्तानी झलक थी।

इंग्लैंड और हालैंड दोनों जगह मैंने एक बात देखी। मई के महीने मे जब गरमी होती है और धूप निकलती है तो वे कपड़े उतारकर पार्कों या खाली सड़कों पर दौड़ लगाते देखे जाते हैं। मीलों दौड़ते हैं। कई

मछलियाँ ऐसी देखी जो २५-३० के ग्रुप में सवेरे दौड़ना शुरू करती हैं और शाम को वापस लौटती हैं। इस प्रकार महीने भर यह प्रोग्राम चलता है। वहाँ के बच्चों के स्वास्थ्य का यह रहस्य है।

बकिंघम पैलेस

१६ जून को बकिंघम पैलेस देखा। अन्दर तो जा नहीं सकते थे। बाहर चौक पर खूब भीड़ खड़ी थी। पूछने पर पता चला कि इस समय रानी के अंगरक्षकों का परिवर्तन होता है। एक ग्रुप ड्यूटी समाप्त करके जाता है, नया ग्रुप ड्यूटी पर आता है। उन अंगरक्षकों की वेशभूषा देखने लायक होती है। उसी दृश्य को देखने के लिए भीड़ थी। अपने देश मे राष्ट्रपति के अंगरक्षकों की फौज भी इसी की नकल पर रखी गई लगती है।

पैलेस के पास ही कोबेट बाजार है। यह एक ऐसी मंडी है, जहाँ लोग चिल्ला चिल्ला कर अपना सामान बेचते हैं, जैसे अपने यहाँ कबाड़ी बाजार में हुआ करता है। मैंने रैमी म्यूर की पुस्तक LANDS AND THE FIRST EMPIRE' में पढ़ा कि 'स्टर्लिंग' शब्द का अर्थ है—शुद्ध, खरा, जिसमें खोट न हो। पहले कभी भारत से जो सामान जाता था, उसे पूर्व (ईस्ट) से आने के कारण 'ईस्टर्लिंग' कहा जाता था। वह सामान इतना खरा होता था कि उसी 'ईस्टर्लिंग' शब्द से बिगड़ कर जो 'स्टर्लिंग' शब्द बना उसका अर्थ भी बिल्कुल शुद्ध या खरा हो गया। किसी जमाने में भारत से आने वाले सामान के साथ यह खरेपन की तारीफ जुड़ी रहती थी। आज विधि की विडम्बना है कि इंग्लैण्ड तथा हालैण्ड से आने वाला सामान तो खरा और बिना मिलावट का होता है जबकि भारत से आने वाला माल बिना मिलावट के नही होता। जो लोग दूध तक मे पानी मिलाते हैं, वे किसी और चीज में मिलावट करने से कैसे रह जायेंगे।

एशियाइयों का विरोध

आजकल इंग्लैण्ड मे छात्रों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया है, जिसे 'स्किन हैड्स' कहते हैं। यह वर्ग एशियाई लोगों के इंग्लैण्ड में आव्रजन के विरुद्ध है। वहाँ बसे एशियाई लोगों को वह डरा-धमका कर तथा आतंकित करके वहाँ से निकाल देना चाहता है। उन्हें डर है कि व्यापार मे कुशल तथा शरीर से परिश्रमी होने के कारण ये लोग एक दिन अंग्रेजों को बेकार कर देंगे। २१ जून को जब मैं वहाँ था तब ऐसे छात्रों पर मुकदमा चल रहा था, जिन्होंने दूध की बोतलों में पेट्रोल भर के एशियाई लोगो पर हमला किया था। ये लड़के कराटा और जूडो में भी निपुण थे। अदालत में उन्होने कहा कि हमने जो कुछ किया वह केवल आत्मरक्षा के लिए था। पुलिस ने भी छात्रों का पक्ष लिया और उनके द्वारा एशियाई लोगो पर किसी प्रकार के आक्रमण की घटना से अनभिज्ञता प्रकट की। फलस्वरूप सब छात्र छोड़ दिये गये।

इस समय जो भारतीय या पाकिस्तानी इंग्लैण्ड में रह रहे हैं, उनकी दूसरी पीढ़ी वहीं उत्पन्न हुई है। अंग्रेजी बच्चों के साथ ही उन्होने शिक्षा पाई है। वे अपने आपको भारतीय इंग्लिशमैन या पाकिस्तानी इंग्लिशमैन कहते हैं। ब्रिटेन को अपनी मातृभूमि कहते हैं। वे किसी भी तरह इंग्लैण्ड पर अंग्रेजों से कम अपना अधिकार नही समझते। सारा संघर्ष इस दूसरी पीढ़ी के एशियाई नौजवानों तथा ब्रिटिश नौजवानों के बीच चल रहा है। हालैण्ड में मैंने इस प्रकार का कोई संघर्ष नही देखा।

सेक्स से विरक्ति

यहाँ मैंने एक बात और देखी। उसका उल्लेख करना चाहूँगा। 'टाइम्स' अखबार में एक टिप्पणी छपी थी कि स्कूलो मे पढ़ने वाले बच्चों के अभिभावकों ने सामूहिक रूप से हैडमास्टरों से निवेदन किया है कि हमारे बच्चों को सैक्स के सम्बन्ध में जो शिक्षा दी जाती है, वह हमसे पूछकर दी जानी चाहिए, ताकि हमें पता रहे कि उन्हें क्या बताया जा रहा है—हम नहीं चाहते कि हमारे बच्चों को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे उनका

चरित्र भ्रष्ट होने की आशंका हो। मुझे यह बात समझदारी की लगी। आज का युग सेक्स के विचारों से इतना भर गया है कि माता-पिता के लिए अपनी संतान के चरित्र के विषय में चिन्तित हो उठना स्वाभाविक है। मैंने इंग्लैण्ड में मोटरों के पीछे लिखा हुआ देखा है Rugby is Better than sex—अर्थात् सैक्स की अपेक्षा फुटबाल खेलना बेहतर है। इसका अभिप्राय यह है कि कामवासना की पूर्ति के चक्कर में पड़ के अपना स्वास्थ्य नष्ट करने के बजाय खेल के मैदान में दौड़-धूप करना ज्यादा अच्छा है, जिससे तन्दुरुस्ती बनी रहे। इंग्लैण्ड में ऐसे संगठन बन रहे हैं जो भारतीय संस्कृति के अनुसार ब्रह्मचर्य को अपनी सन्तान का जीवन-लक्ष्य बनाना चाहते हैं। यह भी कितने आदर्श की बात है कि हम भारतवासी अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं को भूलकर पश्चिम के जीवन-मूल्यों के पीछे अन्धे होकर भाग रहे हैं और उधर पश्चिम के लोग हमारे प्राचीन जीवन-मूल्यों की ओर खिंचते चले आ रहे हैं।

आर्यसमाज, नैरोबी की हीरक-जयन्ती तथा आर्य-प्रतिनिधि-सभा, ईस्ट-अफ्रीका की स्वर्ण-जयन्ती-समारोह पर आयोजित

अन्तर्राष्ट्रीय आर्य-महासम्मेलन में विद्यामार्तण्ड डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का अध्यक्षीय-भाषण

आर्य बन्धुओ तथा बहिनो !

आर्यसमाज, नैरोबी की हीरक-जयन्ती तथा आर्य-प्रतिनिधि-सभा, ईस्ट-अफ्रीका की स्वर्ण-जयन्ती के इस शुभ अवसर पर एकत्रित आप भाई-बहनों को मैं उन आर्य-बन्धुओं का नमस्कार भेंट कर रहा हूँ जो कारणवश शरीर से हमारे इस समारोह में भाग लेने के लिए उपस्थित नहीं हो सके, परन्तु जिनकी आत्मा हमारे साथ है।

नैरोबी के भाई-बहिनो ! मैं १६२४ में आचार्य रामदेव जी के साथ दो मास के लिए इस देश मे आया था। तब से आज आधी शताब्दी का समय बीत गया। उस समय आर्यसमाज, नैरोबी अपनी शैशवा-वस्था में था। उस समय के कुछ आर्य-बन्धुओं के नाम मुझे आज तक स्मरण हैं। श्री बद्रीनाथ जी और श्री मथुरादास जी उस समय के आर्यसमाज के स्तम्भ थे। सेठ नानजी कालिदास ने अपने जीवन-काल मे अफ्रीका मे आर्यसमाज के पौधे को जी-जान से सींचा। आज इसका जो भव्य रूप दीख रहा है उसमें आप सब लोगों का हाथ है—इसलिए आप सभी बधाई के पात्र हैं। इस अवसर पर मैं विशेष तौर पर एक व्यक्ति को बधाई देना चाहता हूँ, जिन्होंने इस देश में आकर गुरुकुल का नाम उज्ज्वल किया और स्नातक होते हुए जन-सामान्य के इस भ्रम को तोड़ दिया कि गुरुकुल के स्नातक दुनिया की दृष्टि से असफल होते हैं, और अगर सफल होते हैं तो आर्यसमाज को भूल जाते हैं। उस व्यक्ति का नाम सत्यदेव भारद्वाज है। वे गुरुकुल विश्व-विद्यालय के वेदालंकार हैं, मेरे शिष्य रहे हैं, और उन्हें इस देश में फलता-फूलता और आर्यसमाज के कार्य में जुटे रहता देखकर मेरी छाती गर्व से फूल उठती है।

बन्धुओ ! आपका समाज अपने जीवन के ७५ वर्ष पूरे करने जा रहा है, मैं जीवन की इस पटड़ी पर आपके समाज से ५-६ वर्ष आगे दौड़ रहा हूँ—शायद यह देखकर आपने मुझे आयु की दृष्टि से इस सम्माननीय पद पर आसीन किया है, यद्यपि मुझसे अधिक योग्य व्यक्ति आपके पास मौजूद हैं। मैंने अपने जीवन-काल में वैदिक-संस्कृति तथा वैदिक-विचारधारा के स्पष्टीकरण में जो थोड़ा-बहुत कार्य किया है सभवत: वह भी आपके मेरे प्रति प्रेम का कारण हो सकता है। मैं आपके इस प्रेम के लिए आप सब का अत्यन्त आभारी हूँ। मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि वैदिक-विचारधारा का अध्ययन तथा उसका स्पष्टी-करण करना मेरे जीवन का मुख्य लक्ष्य रहा है और जब तक यह जीवन रहेगा तब तक यह लक्ष्य बना रहेगा।

आइये, हम देखें कि मानव-समाज के जीवन में जो चारों तरफ असन्तोष तथा अशान्ति फैल रही है– इस समस्या का हल करने में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वैदिक-विचारधारा का क्या स्थान है।

१. विश्व की समस्या

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय, तो विश्व की अशान्ति की समस्या को हल करने के लिए मानव ने अब तक चार रास्ते अपनाये हैं :

(क) पहला रास्ता जोर-जबर्दस्ती का, युद्ध से संसार को एक बना देने का है,

(ख) दूसरा रास्ता राज्य-शक्ति पर अधिकार प्राप्त कर आर्थिक या सामाजिक विषमता को मिटा-कर एकता स्थापित करने का है,

(ग) तीसरा रास्ता अर्ध-धार्मिक है जिसमे संसार में जबर्दस्ती एक धर्म स्थापित करके मानव-समाज में एकता को स्थापित किया जाय,

(घ) चौथा रास्ता प्रेम द्वारा मानव के मन को जीत कर विश्व में वैदिक संस्कृति की एकता स्थापित करना है।

आइये, इतिहास की पृष्ठ भूमि मे इन चारों पर विचार कर लें कि किस मार्ग पर चलने से हमे कहाँ तक सफलता मिली या मिल सकती है।

२. युद्ध द्वारा विश्व में एकता स्थापित करना

लड़ाई-झगड़ा मिटाने तथा शान्ति स्थापित करने की सब से पहली शर्त है 'एकता' स्थापित करना। इस एकता को लाने के लिए दुनिया के शक्तिशाली व्यक्तियो ने सैन्य-शक्ति का सहारा लेकर 'विषमता' को मिटाने का प्रयत्न किया। जैसे रास्ते से काँटे मिट जाये तो रास्ता साफ हो जाता है, उन काँटो को प्रेमालाप से नही हटाया जा सकता, उन्हें एकदम भस्म कर दिया जाता है, इसी प्रकार ससार में एकता स्थापित करने मे देश-देश की भिन्नता, देश-देश का स्वार्थ बाधक हो जाता है। सारे संसार मे जब एक ही देश होगा तो कौन किससे लड़ेगा, कौन किससे झगड़ेगा। इस तथ्य को लेकर, सदियाँ गुजर गईं, सिकन्दर अपनी सेनाओं को लेकर विश्व-विजय के लिए निकला था, इसी भावना को लेकर नैपोलियन दुनिया को जीतने निकला था, यही भावना हिटलर के मन मे थी। परिणाम क्या हुआ ? युद्ध से युद्ध बढ़ता गया, मानव एक न हो सका।

दूर की बात को छोड़ें, अपने जीवन-काल में हम क्या देखते हैं ? हमारे देखते-देखते १९१४ तथा १९३८ मे दो विश्व-युद्ध हो लिये। १९१४ के युद्ध के बाद यूरोप के राजनीतिज्ञों को समझ आ रहा था कि हिंसा तथा युद्ध से मानव-समाज मे एकता स्थापित नही हो सकती। ससार के बड़ेरो ने मिलकर 'लीग आफ नेशन्स' की स्थापना की और यह तय किया कि आगे से कोई युद्ध नही करेगा, परन्तु इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति तथा द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ के बीच के समय में सब देश युद्ध की तैयारी में ही लगे रहे और १९३८ में हिटलर ने युद्ध द्वारा दुनिया के सब देशों को एक करने का धावा बोल दिया। इस युद्ध के बाद भी दुनिया के सयाने मिल कर बैठे, उन्हें फिर दोबारा समझ पड़ गया कि हिंसा तथा युद्ध के द्वारा विश्व में एकता स्थापित नही हो सकती। उन्होंने 'लीग आफ नेशन्स' को असफल पाया और उसकी जगह 'युनाइटेड नेशन्स ऑर्गनिजेशन' की स्थापना की जिसमे सब मिल-बैठकर सोचें कि संसार मे अमिट एकता कैसे स्थापित की जा सकती है।

परन्तु इसका भी क्या फल निकला ? पाकिस्तान ने भारत पर तीन बार हमला किया। पहला १९४७ में यू० एन० ओ० के बनने के ठीक बाद, दूसरा १९६५ में, तीसरा १९७१ में। चायना ने १९६२ में भारत पर अकारण आक्रमण कर दिया। अन्य देशों में भी लगातार युद्ध होते रहे हैं। ईजिप्ट और इज्राइल, उत्तरी तथा दक्षिणी वीयतनाम, कम्बोडिया और लाओस—इन सब में यू० एन० ओ० के बावजूद युद्ध जारी रहे और जारी हैं। यू० एन० ओ० के बावजूद एटम बॉम्ब का ढेर बढ़ता जा रहा है। हम कान्फ्रेंसों में बैठकर शान्ति तथा एकता की चर्चा करते हैं, घर जाकर लड़ाई की तैयारी करते है। यू० एन० ओ० मे जो देश

शारीरिक-दृष्टि से जितने पास-पास बैठे होते हैं, मानसिक-दृष्टि से वे एक-दूसरे से उतने ही दूर होते हैं जितने उनके देश एक-दूसरे से दूर हैं।

शान्ति स्थापित करने की अनन्त कान्फ्रेंसों के होने पर भी आज के मानव-समाज के मानस-पटल पर भय का आतंक छाया हुआ है। कोई नहीं कह सकता कब एक धड़ाका हो जायेगा और हमारी आँखों के सामने हिरोशिमा और नागासाकी का दृश्य फिर से नाचने लगेगा।

३. कम्यूनिज्म द्वारा आर्थिक तथा सामाजिक विषमता दूर करके विश्व में एकता स्थापित करना

संसार में विषमता दूर कर एकता स्थापित करने का दूसरा रास्ता है—सामाजिक तथा आर्थिक ऊँच-नीच को मिटा देना। यह रास्ता कार्ल मार्क्स ने ढूंढ़ा। उसने कहा कि जिस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था चल रही है उसमें अमीर ज्यादा अमीर होते जा रहे हैं, गरीब ज्यादा गरीब होते जा रहे हैं। मनुष्य-मनुष्य में दूरी बढ़ती जा रही है। दुनिया के राज्य इस विषमता को कायम रखने में सहयोग दे रहे हैं क्योंकि उनका अस्तित्व भी इसी आधार पर टिका हुआ है। मानव-मानव को एक करने का एक ही तरीका है—धनी-निर्धन का वर्ग-संघर्ष हो, बड़े-बड़े पैमानों पर देशों का युद्ध होने के स्थान मे गली-कूचे में, घर-घर में लड़ाई हो। सामाजिक तथा आर्थिक विषमता को जबर्दस्ती मिटा दिया जाय और जन-समुदाय का राज्य हो जाय। इस बात को लेकर भी भिन्न-भिन्न देशों में संगठन बने। रशिया तथा चायना में तो राज ही पलट गये। अन्य देशों में भी वह लड़ाई जो फ़ौजों, तोपों, बन्दूकों से लड़ी जाती थी, काम रोको, घेरावो—कभी-कभी फैक्टरियों की आगजनी से लड़ी जा रही है। पहले देश देश का शत्रु था, आज अमीर-गरीब की शत्रुता उभर आयी है। सिकन्दर, नैपोलियन, हिटलर जिस हिंसा पर उतर आये थे वही हिंसा जन-जन में फैल गई है। रशिया तथा चायना जिस स्वर्ग की कल्पना कर रहे थे वह खंड-खंड हो गई है, और विश्व मे एकता का साम्राज्य स्थापित करने वाले ये दोनों देश भी एक-दूसरे के खून के प्यासे हो गये हैं। कारण क्या है? कारण यही है कि इन सब को हिंसा के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता ही नहीं दिखता जिससे विश्व में एकता स्थापित हो सके। एकता सभी चाहते हैं, परन्तु इनके हाथ में तोपें और तलवारें ही हैं।

बर्ट्रेण्ड रसल तो विश्व में अशान्ति देखकर, निराश होकर यहाँ तक कहने लगे थे कि अगर जोर-जबर्दस्ती, सेना और तोप बन्दूक के जोर पर ही विश्व में एकता स्थापित हो सकती है, तो इंग्लेंड तथा अमरीका को मिलकर ऐलान कर देना चाहिए कि हम अपने आप एक ऐसे सैन्य-राज की स्थापना करने लगे हैं जिसके भीतर हर देश को हर हालत में सम्मिलित होना होगा, जो नहीं होगा उसे सर्वथा मिटा दिया जायगा। अगर यह धमकी कामयाब हो जाय तो ठीक, नहीं तो उस देश की लल्लोपत्तो करने के स्थान में उस पर जबर्दस्ती कब्जा कर लिया जाय। बर्टेण्ड रसल का कहना था कि यह काम इंग्लैण्ड तथा अमरीका को अपने हाथ में लेना चाहिए, अगर वे ऐसा न करें, तो भले ही रशिया इस काम को अपने हाथ में ले—परन्तु संसार में अशांति को दूर सिर्फ एकता स्थापित करने से ही किया जा सकता है—दुनिया एक राज्य में रहे —सिविल हो, मिलिटरी हो—अंग्रेजों का हो, अमरीका का हो, रशिया का हो—किसी का ही, परन्तु एक का हो।

४. अर्ध-धार्मिक संस्थाओं द्वारा विश्व में एकता स्थापित करना

संसार में एकता स्थापित करने का तीसरा रास्ता ईसाइयत तथा इस्लाम ने अपनाया। ईसा ने अपने चेलों को विश्व-भ्रातृत्व का सन्देश लेकर संसार के कोने-कोने में भेज दिया। ईसाइयों को बहुत हद तक सफलता मिली, मानव मानव का भेद मिटा। परन्तु ज्यों-ज्यों ईसाइयत का प्रचार बढ़ा, चर्च की स्थापना हुई, त्यों-त्यों ईसाइयत पीछे हटती गई, चर्च आगे आता गया। चर्च के संगठन में ईसा की शिक्षाओं के स्थान पर चर्च के

अध्यक्ष पोप का हुक्म चलने लगा। चर्च धर्म के प्रचार का केन्द्र होने के स्थान पर भौतिक-शक्ति का केन्द्र हो गया। पोप का भी धार्मिकता के नाम पर एक दुनियावी राज्य हो गया। इसके विरुद्ध आवाज उठी। लूथर ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्टों का कुरुक्षेत्र छिड़ गया। दोनों आपस में लड़ मरे। इनकी आपस की लड़ाई ने इतना उग्र रूप धारण किया कि पोप ने जिलेटीन की स्थापना की। जो रोमन कैथोलिक-धर्म को नहीं मानता था, वह सूली पर लटका दिया जाता था। लैटीमर नाम के प्रोटेस्टेन्ट पादरी को रूई से लपेट कर आग की लपटों की भेंट कर दिया गया, क्योंकि पोप के हाथ में राज्य-सत्ता के-से अधिकार आ गए थे। राजाओं ने भी पोप की शरण ली थी, इसलिए ईसाइयत के विरुद्ध जिनके विचार पाये जाते थे उन्हें सहन नहीं किया जाता था। ब्रूनो कहता था कि सूर्य पृथ्वी के गिर्द नहीं घूमता, पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूमती है। उसे लट्ठों से बाँध कर जिन्दा जला दिया गया। गैलिलियो कहता था कि पृथ्वी चपटी नहीं है, गोल है। उससे पूछा गया कि अगर पृथ्वी गोल है, तो पृथ्वी के नीचे के लोगों के सिर नीचे होने चाहिए, पैर ऊपर। गैलिलियो को जेल में डाल दिया गया। जो ईसाइयत संसार में भ्रातृभाव का सन्देश लेकर उठी थी उसका अन्त हिंसा तथा असहनशीलता में जा पहुँचा।

इस्लाम का नारा भी भाई-भाई का था। सब खुदा के बन्दे हैं। परन्तु इस्लाम ने भी तलवार उठा ली। जहाँ ईसाइयत ने क्रूसेड से, जोर-जबर्दस्ती एकता लाने की कोशिश की, वहाँ इस्लाम ने भी जिहाद बोल कर मानव-समाज में एकता लाने का प्रयत्न किया। आज ईसाई देश ईसाई देशों से लड रहे हैं, मुसलमान देश मुस्लिम देशों से लड़ रहे हैं। ईसाइयत तथा इस्लाम ने ठीक रास्ता पकड़ा था, परन्तु रास्ते पर चलते-चलते भटक गये। भ्रातृभाव का नारा लगाकर ये चले थे, परन्तु रास्ते में ही भ्रातृभाव का नारा भूल कर लौकिक-साम्राज्य स्थापित करने लगे—ससार को एक बनाने का स्वप्न इनका भी स्वप्न होकर ही रह गया—क्रूसेड और जिहाद में ये अपना लक्ष्य छोड बैठे।

५. वैदिक संस्कृति तथा धर्म द्वारा विश्व-बन्धुत्व स्थापित करना

जैसा हमने कहा, संसार मे एकता स्थापित करने से ही मानव-समाज की मूल समस्या—शान्ति तथा सन्तोष—हल हो सकती है, परन्तु इस दिशा में अब तक जितने प्रयास हुए सब विफल हुए हैं। संसार मे सिर्फ एक ही देश है जिसने विश्व-बंधुत्व की दिशा में बाहु-बल के स्थान मे आत्म-बल का प्रयोग किया, सैन्य-बल के स्थान मे धर्म-बल का प्रयोग किया, दूसरों का खून बहाने के स्थान मे अपना बलिदान देने का मार्ग अपनाया। वह देश है—भारतवर्ष। भारत ही वह देश है जिसने अपने सैनिक अन्य देशों पर आक्रान्ता के रूप मे भेजने के स्थान में विश्व की आत्मा को जीतने के लिए अपने धर्म-गुरु भेजे। दो हजार वर्ष पहले भारत के सम्राट् अशोक ने विश्व को एकता के सूत्र में पिरोने के लिए शान्ति का सन्देश घर-घर पहुँचाने के उद्देश्य से जिस सन्देश को अपने शान्ति-दूतों के हाथ भेजा था उसमे कहा गया था—"अब तक मनुष्य मनुष्य का शत्रु रहा है। उसने मानव-समाज को भिन्न-भिन्न टुकडों में बाँट दिया है। ऐसी अवस्था हो गई है कि एक धरातल पर खड़े होकर हम एक स्वर में एक बात नही बोल सकते। इस मार्ग पर चलकर मानव को घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, कलह, युद्ध के सिवाय कुछ हाथ नहीं आया। समय आ गया है जब हमें जाति-भेद, देश-भेद को त्याग कर एक सूत्र में बँध जाना है। हमें स्मरण रखना होगा कि संपूर्ण विश्व हमारा देश है और संपूर्ण मानव-समाज हमारी जाति है।"

ईस्वी सन् से तीसरी शताब्दी पहले अशोक ने मानव-समाज को हिंसा का नही, अहिंसा का यह सन्देश सुनाया था। इस सन्देश में स्वार्थ तथा अहंकार नहीं, निःस्वार्थ तथा विनय निहित था। जिस प्रकार का महा-सम्मेलन आप यहाँ कर रहे हैं कुछ इसी प्रकार की महासभा का आयोजन अशोक ने मुग्गलिपुत्त तिष्य की अध्यक्षता में किया था जिसमें देश-विदेश से विद्वान् एकत्रित हुए थे। इस महासभा में विचार-विनिमय हुआ।

यह सोचा गया कि संसार को शक्ति-धाम बनाने के लिए क्या उपाय किये जाने चाहिए। इस महासभा का निर्णय था कि मनुष्य यह भूल गये हैं कि वे सब एक ही स्रष्टा की सन्तान हैं, भाई-भाई हैं। इस सन्देश को लेकर अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा को श्रीलंका भेजा। इसके बाद अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का सन्देश लेकर परिव्राजकों की टोलियों-पर-टोलियाँ संसार के कोने-कोने में घूमने लगीं। ये लोग आसाम, बर्मा, बाली, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, चीन, जापान, तिब्बत, पूर्वी एशिया, पश्चिमी एशिया, पूर्वी तुर्किस्तान, अफगानिस्तान—सब जगह पहुँचे। इनका सन्देश तलवार का नहीं आत्मा का सन्देश था, भाई-चारे का सन्देश था।

ह्वेन्त्सांग एक प्रसिद्ध चीनी यात्री हुआ है। वह ६३० ईस्वी में राजा हर्ष के समय भारत आया था। बारह वर्ष भारत में रहकर उसने यहाँ के बहुमूल्य ग्रंथों का संग्रह किया था जिन्हें वह अपने देश ले जा रहा था। चीन लौटते समय जब वह बंगाल की खाड़ी के समुद्र से गुजर रहा था तब उसके साथ जहाज में दो बौद्ध भिक्षु थे—ज्ञानगुप्त तथा त्यागराज। इस यात्रा में एक दिन भयंकर तूफान उमड़ पड़ा। जहाज के कप्तान ने आदेश दिया कि यात्रियों की जान बचाने के लिए जहाज के बोझ को हल्का करना होगा। जिस-जिसके पास जरूरत से ज्यादा बोझ हो, वे उसे समुद्र में फेंक दें। ह्वेन्त्सांग के पास सैकड़ों पुस्तकें थीं जिन्हें वह अपने देश ले जा रहा था। वह उन सब पुस्तकों को समुद्र के गर्भ में फेंकने ही वाला था कि ये दोनों भिक्षु बीच में पड़ गये। उन्होंने ह्वेन्त्सांग को कहा कि इन पुस्तकों को मत फेंको। इनमें जो ज्ञान भरा पड़ा है वह हजारों आत्माओं को जीवन का सन्देश दे सकता है। इसके बजाय कि इन पुस्तकों को समुद्र में फेंक कर जहाज का बोझ हल्का किया जाय, बेहतर होगा कि वे दोनों अपने को समुद्र के हवाले कर दें। ह्वेन्त्सांग इस बात को नकारने वाला ही था कि वे दोनों छलांग मार कर समुद्र की लहरों में विलीन हो गए। यह दृश्य देखकर ह्वेन्त्सांग विचारों में डूब गया। उसने उस भूमि को नमस्कार किया जिसने ऐसे नर-रत्नों को उत्पन्न किया था जो विश्व में शान्ति का सन्देश गुंजा देने के लिए जान पर भी खेल गए थे।

बुद्ध का सन्देश भारत के सन्त-महात्माओं का सन्देश था, ऋषि-मुनियों का सन्देश था, वह सन्देश जिसे मुनि पतंजलि ने योग-दर्शन में '*अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह*' का नाम दिया था। यह वेदों का सन्देश था जो सदियों से भारत में लुप्त हो चुका था, जिसे १९वीं शताब्दी में ऋषि दयानन्द ने फिर से पुनरुज्जीवित किया था। आर्यसमाज का उद्देश्य उसी सन्देश को विश्व के कोने-कोने में पहुँचाना है।

मनु ने लिखा था :

एतद् देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यांसर्वमानवाः।

भारत की सीख चरित्र का निर्माण करना था, भारत का सन्देश ऐसे युवकों का निर्माण करना था जो संसार के बड़े-से-बड़े प्रलोभनों के सामने भी न डिगें—'चरित्रं शिक्षेरन्' का यही अर्थ है। जब चरित्र वाले व्यक्ति देश में होंगे—ऐसे व्यक्ति जो यम-नियम की साधना में से गुजरे हों—वे सरकारी नौकरी करें, व्यापार करें, शासन करें, ऐसे व्यक्ति जिनके चरित्र पर कोई आँच नहीं आ सकती, तब किसी व्यक्ति, समाज, धर्म, या देश की कोई समस्या बनी नहीं रह सकती। आज हम अपने-अपने देशों की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति की ही बड़ी-बड़ी बातें हाँकते हैं, परन्तु हर समाज तथा हर देश के नवयुवक जो भावी पीढ़ी का निर्माण करने वाले हैं, स्पष्ट शब्दों में चरित्रहीन होते जा रहे हैं। वेदों का आदेश था—

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

वैदिक विचारधारा के अनुसार किसी भी समाज या देश का सबसे पहला काम देश की जनता को 'आर्य' बनाना है—'आर्य', अर्थात् शुद्ध-चरित्र का व्यक्ति। आज हमारे पास सब-कुछ है, धन है, सम्पत्ति है, मकान

हैं, मोटरें हैं, हवाई जहाज हैं, परन्तु हम सब अंनाये हैं, स्वार्थ में इतने गड़े हैं कि सब-कुछ होते हुए भी भाई भाई को नहीं देख सकता, देश देश को नहीं देख सकता। सब-कुछ पाकर हमने चरित्र को खो दिया है। यही कारण है कि वह प्रेम-भावना कहीं नहीं जो मानव-मात्र में एक-सी आत्मा को देख सके। संसार में वैदिक-संस्कृति ही एक संस्कृति थी जिसने मुक्त स्वर से यजुर्वेद (११-५) के शब्दों में उद्घोष किया था—

शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः— ऐ दुनिया के लोगो ! तुम सब अजर-अमर भगवान् की सन्तान हो, भाई-भाई हो, भाई-भाई की तरह ही एक-दूसरे के साथ व्यवहार करो।

ऋग्वेद (१०, १९२,२) में कहा है—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्
देवा: भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।

सम्पूर्ण मानव-समाज कदम-से-कदम मिलाकर चले, सब मिलकर विचार-विमर्श करें, एक-मन हो जायें। बुजुर्गों का कहना है कि मनुष्य से देवत्व प्राप्त करने का यही रास्ता कहा गया है। अथर्ववेद (३,३,६) में कहा है—

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।

तुम सब का खाना-पीना साथ-साथ हो, तुम सब इस प्रकार रहो मानो भगवान् ने तुम्हें एक-साथ जोड़ दिया है। जैसे रथ के पहिये में अरे एक नाभि-स्थल में जुड़े होते हैं, इसी प्रकार तुम्हारे समाज की रचना हो। यजुर्वेद (४०, ६) में कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।

जो सब प्राणियों को अपने समान तथा और अपने को सब प्राणियों के समान देखता है उसका मन शान्त हो जाता है, उसे कोई संशय जीवन में डाँवाडोल नहीं करता। अथर्ववेद (१९, ५१, १) में बड़ा अद्भुत वर्णन मिलता है—

अयुतोऽहम् अयुतो मे आत्मा अयुतं मे चक्षुः अयुतं मे श्रोत्रम्
अयुतो मे प्राणः अयुतो व्यानः अयुतोऽहम् सर्वः।

मैं एक नहीं हूँ सहस्रों हूँ, लाखों-करोड़ों व्यक्तियों में मैं अपने को ही देखता हूँ, ये विश्व की लाखों-करोड़ों आँखें, कान, जीवन मानो मेरा ही जीवन है, मैं मानव-समाज हूँ, मानव-समाज में हूँ। अथर्ववेद (१९, १५, ६) में इसी भाव को, बिना अलंकार की लाग-लपेट के, स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

'विश्वा आशा मम मित्रं भवन्तु'—मैं जिस दशा में देखूँ सब में मुझे मित्र-भाव ही दिखाई दे, पूर्व में, पश्चिम में, उत्तर में, दक्षिण में सब मित्र-ही-मित्र हों।

अथर्ववेद (३-३०) में एक सूक्त है जिसका नाम ही 'सांमनस्य सूक्त' है। 'सांमनस्य' का अर्थ है—एक मन हो जाना, समाज में समता उत्पन्न कर देना। यह सारा-का-सारा सूक्त मानवमात्र में प्रेम-भाव का स्रोत बहाने के लिए लिखा गया है। यहाँ ऐसे मानव-समाज की कल्पना की गई है जिसमें भगवान् का आदेश है कि समाज के हर व्यक्ति का हृदय समाज के हृदय के साथ, मन समाज के मन के साथ, द्वेष-भाव को छोड़

कर एक हो जाय—'सहृदयं सांमनस्यं अविद्वेषं करोमि वः' । इतना ही नहीं, यह भी स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया गया है कि भाई-भाई, भाई-बहन, मनुष्य-मनुष्य का जीवन ऐसा हो, वे एक-दूसरे से प्रेम में ऐसे बँधे जैसे गाय अपने बछड़े से प्यार करती है—'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वासारमुतस्वसा—अन्योऽन्यम् अभि-हर्यत वत्सं जातम् इव अघ्न्या ।'

अथर्ववेद (१२, १, ४५) में एक आदर्श मानव-समाज का वर्णन करते हुए कहा है :

जनं विभ्रती बहुधा विवाचसम् नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुः अनपस्फुरन्ती ।

जैसे एक गृहस्थी में भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुष भिन्न-भिन्न विचारों को रखते और भिन्न-भिन्न भाषाओं को बोलते हुए एकजुट होकर रहते हैं—'यथौकसम्'—इसी प्रकार सम्पूर्ण मानव-समाज को भिन्न-भिन्न विचारों तथा भिन्न-भिन्न भाषाओं के होते हुए भी एकता के सूत्र में बँधे रहना चाहिए। ऐसा होगा तो जैसे गौ अचल खड़ी रहकर दूध की सहस्रों धारायें दे डालती है, वैसे ही पृथ्वी माता धन-धान्य को सहस्रों रूपों में देकर मानव का कल्याण करेगी।(अथर्ववेद १२, १, ६०) में कहा है—सुजिष्यं पांत्रं निहितं गुहा यत् आविर्भोगेऽभवत् मातृमद्भ्यः :—पृथ्वी के गर्भ में जितनी सम्पत्ति छिपी पड़ी है वह उस प्रत्येक प्राणी के लिए है जिसने माता के पेट से जन्म लिया है—'मातृमद्भ्यः' ।

वेदों का यह एक नवीन तथा अद्भुत विचार है कि माता की हर सन्तान का यह जन्म-सिद्ध अधिकार है कि भूमि माता ने जो-कुछ उत्पन्न किया है, वह उसे भरपूर मिले।

अथर्ववेद (१२, १, १) में उन आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लेख है जो मानव-मात्र को एक सूत्र में बाँधे रख सकते हैं। वहाँ लिखा है—

'सत्यम् ऋतम् दीक्षा तपः ब्रह्म यज्ञः पृथिवी धारयन्ती'—विश्व में शान्ति रखने के ये छः सूत्र हैं—सचाई से काम लेना, ईश्वरीय अखंड नियमों का पालन करना, समाज-सेवा का व्रत लेना, विलासिता में न पड़कर तपस्यामय जीवन बिताना, विश्व का नियन्त्रण करने वाली दैवीय-शक्ति में विश्वास तथा दूसरों की भलाई में अपने स्वार्थ का उत्सर्ग। इसका यह अर्थ है कि झूठ, बेईमानी, ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन, विलासी-जीवन, दैवीय-शक्ति में अविश्वास और स्वार्थ समाज में अशान्ति तथा उपद्रव के कारण हैं। आज संसार में उथल-पुथल क्यों मची हुई है? क्या कारण है कि हम शान्ति-शान्ति चिल्लाते हैं और अशान्ति हमारे हाथ आती है? इसका कारण यही है कि हम सचाई की तो दुहाई देते हैं किन्तु झूठ हमारी रग-रग में बसा हुआ है, हम दूसरों के लिए कानून बनाते हैं किन्तु स्वयं उसी कानून का उल्लंघन करते हैं, हम दूसरों को समाज-सेवा का उपदेश देते हैं किन्तु जहाँ हमारा सवाल आता है वहाँ अपनी पेट-पूजा में लग जाते हैं, दूसरों से तपस्विता तथा त्याग के जीवन की आशा करते हैं किन्तु स्वयं विलासिता का जीवन बिताते हैं, हम ईश्वर में विश्वास की बात करते हैं किन्तु हमारा क्रियात्मक-जीवन नास्तिकता का नमूना है।

युनेस्को के विधान की भूमिका में कहा गया है : "क्योंकि युद्धों का श्रीगणेश मनुष्यों के मन में होता है, इसलिए विश्व-शान्ति की नींव भी मानव-मन में गाड़कर रख देने से संसार में शान्ति हो सकती है।" बिल्कुल ठीक। युनेस्को के विधान-निर्माताओं ने बीमारी को ठीक से पहचाना है। इसमें सन्देह नहीं कि युद्धों का सूत्रपात मानव-मन में होता है, निदान ठीक है परन्तु उसका उपचार कहाँ हुआ? राष्ट्र-संघ में सैकड़ों देशों के जो प्रतिनिधि आकर बैठते हैं, वे देखने को तो एक-दूसरे के निकट बैठे होते हैं, परन्तु उनके मन एक-दूसरे से इतने ही दूर होते हैं जितने उनके देश एक-दूसरे से दूर हैं। ऐसी अवस्था में वे जबान से शान्ति की बात कहें तथा मन से अशान्ति का काम करें, तो आश्चर्य ही क्या है?

वेदों को जो जानते हैं उन्हें मालूम है कि प्रतिदिन के यज्ञ में उन मंत्रों का पाठ किया जाता है जिनमें कम-से-कम २५ बार 'शान्ति'-शब्द को दोहराया गया है। एक मंत्र तो ऐसा होता है जिसकी टेक ही 'शान्ति' है। इसमें मानव-समाज की ही शान्ति की प्रार्थना नहीं की गई, जड़-जंगम सब जगह शान्ति-ही-शान्ति की कामना की गई है। वह मन्त्र है—

ओं द्यौः शान्तिः अन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिः आपः शान्तिः औषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिः विश्वेदेवाः शान्तिः ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

मानव-समाज के लिए अन्तरिक्ष में शान्ति हो, पृथ्वी में शान्ति हो, जलों में शान्ति हो, वनों की औषधियाँ तथा वनस्पतियाँ मानव को शान्ति प्रदान करें, हर प्राणी के अंग-प्रत्यंग में शान्ति हो, परमात्मा हमें ऐसे मार्ग पर चलायें कि सब जगह शान्ति-ही-शान्ति बरसे। सदियाँ बीत गईं जब उपनिषदों के ऋषियों ने हिमालय की चोटियों से मानव-समाज-कल्याण के लिए घोषणा की थी—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'— भेद-भाव मानव के लिए मृत्यु का मार्ग है। यजुर्वेद (४०-७) में लिखा है:

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत् विजानतः
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वं अनुपश्यतः।

वेदों का सन्देश यह है कि जो व्यक्ति दूसरों में अपने को और अपने को दूसरों में देखता है, जो यह समझ जाता है कि जैसा मैं अनुभव करता हूँ वैसा दूसरे भी अनुभव करते हैं, जब व्यक्ति या समाज सिर्फ अपने दृष्टिकोण से न देखकर दूसरे के दृष्टिकोण से भी देख लेता है तब उसकी सब समस्याओं का समाधान हो जाता है, उसे किसी बात की उलझन नहीं सताती।

६. उपसंहार

संयुक्त-राष्ट्र के विशाल भवनों में शान्ति तथा भ्रातृभाव के लच्छेदार भाषणों के बावजूद विश्व में शान्ति का वातावरण उत्पन्न नहीं हो रहा क्योंकि अशान्ति, लड़ाई-झगड़ा, युद्ध—ये युद्ध-भूमि में नहीं लड़े जाते, मनुष्य की मनोभूमि में लड़े जाते हैं। भारत के ऋषियों का कहना था कि वेदों का—'तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु'—का सन्देश विश्व के कोने-कोने में पहुँचाकर ही इस समस्या का हल निकल सकता है। आज के युग में जब वेदों तथा वैदिक-संस्कृति का हम नाम मात्र लेने लगे थे, वेद क्या कहते हैं—यह भूल गये थे, ऋषि दयानन्द ने फिर से उस सन्देश को जगाया। ऋषि दयानन्द ने घोषणा की कि मानव-समाज 'कृण्वन्तो विश्व-मार्यम्' के राह पर चल कर ही भौतिकवाद के ध्वंसकारी परिणाम से बच सकता है। इसी उद्देश्य से आर्य-समाज की स्थापना हुई। ऋषि दयानन्द के चरण-चिह्नों तथा उनके दिखाये वैदिक-मार्ग पर आर्यसमाज चल रहा है। ऋषियों का सन्देश जन-जन तक पहुँचाना आर्यसमाज का ध्येय है। आज हम जिस लक्ष्य को लेकर यहाँ एकत्रित हुए हैं वह लक्ष्य संसार के कोने-कोने में भारत के ऋषियों-महर्षियों की आवाज को पहुँचाना है। सदियों से जिस मार्ग पर विश्व चलता चला आ रहा है उस पर चलते-चलते अब यह थक चुका है, हाथ इसके कुछ नहीं आया।

दो हजार वर्ष पहले मानव-समाज की दूषित मनोवृत्ति को पलटने के लिए सम्राट् अशोक ने एक महासभा का आयोजन किया था। उस महासभा के बाद संसार के कोने-कोने में शान्ति के दूत यह सन्देश लेकर चल पड़े थे कि अब तक भौतिकवाद का शिकार होकर मनुष्य मनुष्य का शत्रु रहा है, इससे संसार में दुःख, अशान्ति, पीड़ा ही बढ़ी है, भौतिकवाद के इस रास्ते को छोड़ने में ही मानव का कल्याण निहित है। परमात्मा आशीर्वाद दें ताकि जिस अन्तर्राष्ट्रीय-आर्य-महासम्मेलन में आज हम सब एकत्रित हुए हैं, वह अशोक

की महासभा की तरह एक दूसरी महासभा का काम करे, और जो काम अशोक के शान्ति का सन्देश ले जाने वाले भिक्षुओं ने किया था, वह काम ऋषि दयानन्द के वैदिक-संस्कृति के सैनिक बनकर हम सब करें, और विश्व में इस संस्कृति की गूंज उस दृश्य को सामने लाकर खड़ा कर दे जिस दृश्य का आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द ने सपना लिया था।

डब्ल्यु ७७ ए, ग्रेटर कैलाश (१)
नई दिल्ली-११००४८ (भारत)

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

□□